LLEGES & LIBRARIES IN U. P.,
P., C. I., PUNJAB, MEWAR, BEHAR
BIKANER STATE.
माधुरी
म्पादक

संस्थापक

स्व० श्रीविष्णुनारायण भार्गव

अध्यक्ष

रा० ब० मुंशी रामकुमार भार्गव, मुंशी तेजकुमार भार्गव

संपादक

रूपनारायण पाण्डेय

एक अंक का मूल्य ॥।)

लेख-सूची

महात्माजी का चमत्कार

प्रेमवटी ने अपनी खूबी से सारी दुनिया में तहलका मचा दिया

कांग्रेस की राय

प्रेमवटी वास्तव में एक अद्वितीय औषधि है। पहले हमें इस औषधि पर इतना विश्वास न था, किन्तु जब हमने इसका स्वयं परीक्षण किया तब हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह औषधि विज्ञापन में दिये गये तमाम रोगों की केवल एकमात्र अचूक औषधि है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में यह कम्पनी इससे भी उत्तम औषधियों का निर्माण कर जनता को लाभ पहुँचायेगी।—कांग्रेस, देहली)

भारत के योगियों ने वनों और पर्वतों की कन्दराओं में रहकर वे चमत्कार दिखलाये हैं जिनसे बड़े-बड़े वैज्ञानिक और चिकित्सक हैरत में आ गये हैं। आधुनिक चिकित्सकों को जब कोई रोग की औषधि से सफलता नहीं मिलती तब वह उसे लाइलाज घोषित कर देते हैं। परन्तु महात्मा लोग जड़ी-बूटियों की सहायता से मुर्दे को भी जिला देने का दावा करते हैं। भाइयो, इसे ध्यान से पढ़ो तथा अपने इष्ट-मित्रों को सुनाओ। यह लेख जो लिखा गया है, कोई गप्प नहीं है बल्कि मेरे जीवन की चन्द घटनायें हैं जो आपके सम्मुख रखता हूँ। मेरा जन्म एक धनी परिवार में हुआ। अपने पिता का लाड़ला पुत्र होने के कारण मैं धन और व्यसन में घिरा रहता था, लेकिन फिर भी मैं सुखी नहीं था। कुसङ्गति में पड़कर मुझे जरियान और प्रमेह रोग हो गया। पहले तो एक दो साल मैंने लोकलाज के कारण अपना भेद छिपाये रखा, परन्तु रोग ने भयानक सूरत अख़्तियार कर ली। अब मैं घबरा उठा। संसार में चारों ओर अँधेरा मालूम होने लगा, तब मेरी आँखें खुलीं। इलाज शुरू किया गया। बड़े-बड़े डाक्टरों, हकीमों, वैद्यों के फ़ीसरूप में रुपये और क़ीमती दवाइयों के ख़रीदने में पानी की तरह रुपया बहाने लगा, फिर भी मैं निराश ही रहा। अब मैं घबरा उठा और चारों तरफ़ से अन्धकार दिखलाई देने लगा और सोचने लगा कि इस दुःखमय जीवन से मर जाना बेहतर है।

पर यह बीस साल पहले की बात है। अब आज मैं ख़ुश हूँ। आज उस परमात्मा की कृपा से आरोग्य हूँ और मेरे तीन स्वस्थ बच्चे भी हैं जो बिलकुल आरोग्य हैं।

हुआ क्या! मुझमें इतना परिवर्तन कैसे हो गया? यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि मैंने एक दवा सेवन की। जो दवा मैंने सेवन की, वह एक महान् त्यागी परोपकारी साधु की बनाई हुई थी जो समय काटने के लिए गाँव से कुछ दूर एक ईंट के खेड़े पर रम रहे थे। यह मेरा सौभाग्य था कि और लोगों के साथ मैं भी दर्शनों के लिए जा पहुँचा। दैवी शक्ति से मेरे दुःखी जीवन के पिछले अध्याय उनके हृदयपट पर खिंच गये और मेरी आँखों ने हृदय का सारा भेद अपने आप उस महान् पुरुष पर प्रकट कर दिया। मेरी कच्ची उम्र पर महात्मा को दया आई और उन्होंने मुझे कुछ जड़ी-बूटियाँ एकत्र करने की आज्ञा दी। मैंने वैसा ही किया और तब उनके सम्मुख ही मुझे उनके आदेश और निजी देख-रेख में 'प्रेमवटी' तैयार करनी पड़ी। यद्यपि मुझसे ४० दिन लगातार 'प्रेमवटी' का सेवन करने को कहा गया था, तथापि केवल बीस दिन के सेवन से ही मुझमें परिवर्तन हो गया। मेरी कमज़ोरी और तमाम गुप्त बीमारियाँ जड़ से दूर हो गईं। पीले और उदास मुख पर लाली दौड़ने लगी, आँखों में उन्माद झूमने लगा और हृदय में जवानी का जोश उमड़ आया। महात्माजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के साथ ही अपने वादे को पूरा करने के लिए दुःखीजनों के निमित्त पिछले बीस साल से लगातार मैं इस प्रयोग को मुफ़्त बाँट रहा हूँ। यह अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भी छप चुका है। मुझे हर्ष है कि इस अमृत-तुल्य प्रयोग ने सैकड़ों की प्राण-रक्षा की, हज़ारों को मौत के मुँह से निकाला और लाखों का इससे भला हुआ। महात्मा-प्रदत्त 'प्रेमवटी' का नुस्ख़ा इस प्रकार है। नोट कर लें—

शुद्ध त्रिफला ५ तोला, त्रिकुट चूर्ण ५ तोला, शुद्ध सूर्यतापी शिलाजीत ५ तोला, शुद्ध बङ्गभस्म ६ माशा, असली सूर्यछाप केसर ३ माशा, असली अकरकरा ६ माशा, असली नेपाली कस्तूरी ३ रत्ती। इन सब औषधियों को कूट-छानकर खरल में डालकर ऊपर से शीतलचीनी का तेल २० बूँद, सन्दल तेल २० बूँद, बिरोजे का तेल २० बूँद एक-एक करके मिलाये। उसके बाद ताजी ब्राह्मी बूटी के अर्क में १२ घण्टा घोटकर झरबेरी बेर के बराबर गोलियाँ बनावें और छाया में सुखा लें। एक-एक गोली सुबह शाम पाव भर गाय के दूध में एक तोला शक्कर मिलाकर सेवन करें। इसकी प्रशंसा हम अपने ही मुँह से नहीं करते, बल्कि बड़े-बड़े वैद्यों, डाक्टरों, हकीमों, सेठ-साहूकारों तथा रईसों, ज़मींदारों, सरकारी आफ़िसरों तक ने इसकी सराहना की है। वैद्यराज श्रीजमुनादत्त शर्मा, झोंकर का कहना है कि यह बूटी धातु का पतलापन, २० प्रकार के प्रमेह के लिए अक्सीर है।

'प्रेमवटी' में कोई हानिकारक चीज़ नहीं पड़ती और गुणकारी चीज़ें नुस्ख़े से ही प्रकट हैं। यह औषधि वीर्य का पतलापन, बीसों प्रकार के प्रमेह, पेशाब के साथ चूने की तरह वीर्य का जाना, पाख़ाने के समय धातु का जाना, स्वप्नदोष, सुस्ती, कमज़ोरी, नामर्दी, डाइब्टीज़, मधुमेह, सूज़ाक, जवानी में बुढ़ापे की-सी हालत हो जाना, असली ताक़त की कमी, स्मरणशक्ति कमज़ोर पड़ जाना तथा स्त्रियों के भी प्रदरसम्बन्धी रोग दूर करके अत्यन्त ताक़त देती है और नस-नस में नवजीवन का सञ्चार करती है। अन्त में उन भाइयों को, जिन्हें फ़ुरसत नहीं मिलती या शुद्ध औषधि प्राप्त नहीं कर सकते, यह प्रयोग स्वयं बनाकर दाम के दाम में भेजने की व्यवस्था की है। ४० दिन के लिए पूरी ख़ुराक विधिवत् ८० गोलियों का मूल्य ५॥=) रु० और २० दिन के लिए ४० गोलियों के दाम ३=) डाकख़र्च ॥।-)

पता—बाबू श्यामलालजी रईस, प्रेमवटी आफ़िस नं० (M. L.) धनकुट्टी, कानपुर

वर्ष २४ खंड २] तु० सं० ३२२ ; माघ, सं० २००२ वि० ; फ़रवरी, १६४६ [संख्या १ पूर्ण-संख्या २८२

माँझी से

पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र "निशंक"

होना नहीं भीत लहरों की गति देखते ही,
साहस के साथ शक्ति अपनी सँभालना;
आँधियों के वेग से न विचलित होना वीर,
सत्य, धैर्य, दृढ़ता का व्रत सदा पालना।
सकुशल जिससे पहुँच जायँ उस पार,
ऐसी कोई युक्ति माँझी! सोच के निकालना;
दो क्षणों की बाधा के बवंडर-से जीवन में,
देखो मँझधार में ही लंगर न डालना।

'प्रतिकूल होगा ही तुम्हारे अनुकूल सदा',
इस कल्पनामय विचार का सहारा कौन?
धारा के प्रवाह में बहा के नाव आँधियों में,
भ्रान्त बने, ऐसे कर्णधार का सहारा कौन?
पहुँच न पाई एक बार भी-जो उस पार,
उस क्षीण, करुण पुकार का सहारा कौन?
सबल भुजाओं में तुम्हारे जो नहीं है शक्ति,
बीच धार में तो पतवार का सहारा कौन?

संग्रहालय की ओर

Towards the Museum.

पं० कृपालुदत्त त्रिपाठी जी० डी० ए०

बात बहुत पुरानी सन् १९२३-२४ की होगी, जब मैं अपने जीवन में स्कूली परीक्षाओं के अलावा ड्राइंग की सर्वप्रथम परीक्षा देकर लौटा था। उस समय कक्षा में क्या, स्कूल भर में मैं ही पहला विद्यार्थी था, जो इस प्रकार अपने प्रतिदिन के पाठ्यक्रम के एक विशेष विषय को लेकर अपने अध्यापक के साथ ही परीक्षा पास करने की कोशिश करे। मुझे अभी तक याद है कि उस समय मेरे सहपाठी स्कूली परीक्षाओं में मेरे ९९ प्रतिशत नम्बर देखकर डाह करते तथा अध्यापकवर्ग होनहार समझ मेरी पीठ ठोंकते थे। खैर, यह बात आज म्यूज़ियम में खड़े-खड़े सहसा मेरे दिमाग़ में चक्कर काटने लगी, जब कि अलीगंज के महावीर के दर्शनार्थी टोली की टोली दर्शनों से लौटते समय वहाँ रुककर मूर्तियों एवं चित्रों को देखकर "इन सबमें देखने को क्या है, कितना फ़िज़ूल ख़र्च इन सब टूटी-फूटी मूर्तियों के ऊपर किया गया है" ऐसी टिप्पणी कर अपने स्वल्प ज्ञान का परिचय दे रहे थे। उस टोली में पढ़े-लिखों की संख्या भी कम नहीं थी, जैसा उनके पहनावे से स्पष्ट था। उनके वैसा कहने पर उनके संकुचित दृष्टिकोण तथा चित्र व शिल्पकला के ज्ञान की तुलना में मैंने अपने २० साल पहले ज्ञान से भी किसी प्रकार बढ़कर न पाया।

मेरी जन्मभूमि वृन्दावन में जहाँ मेरे पिता म्यूनिसिपल स्कूल में हेडमास्टर थे, वहाँ अनेक सुन्दर कलापूर्ण मन्दिरों में "शाहजी का मंदिर" नामक एक संगमरमर का लखनऊ के नवाबों के ख़ज़ानची शाह कुन्दनलाल फुन्दनलाल का मंदिर प्रसिद्ध है। उसके दालान तथा हाल (*जगमोहन) की दीवारों पर पच्चीकारी के काम के कई शिल्पचित्र सुरुचिपूर्ण बनाये गये हैं। यद्यपि उनमें मुग़लकाल की रुचि का ही वर्णन तथा दर्शन है, तो भी कला की दृष्टि से वे अच्छे कहे जा सकते हैं। उसके बाहर के दालान में एक चित्र है, जिसे देखकर मेरे शरीर में कभी आग-सी लग जाती थी और उस समय मैं बनाने तथा बनवानेवाले दोनों की ख़ूब ही भर्त्सना करता था; क्योंकि देव-मंदिर में उस प्रकार के चित्र मेरी उस उम्र की समझ में एकदम अश्लील थे। आज क़रीब एक युग बाद उसी दिशा में निरन्तर बढ़ते-बढ़ते मेरा दृष्टिकोण एक प्रकार से बदल गया है, और रेखाओं द्वारा भावाङ्कन का महत्त्व समझ में आते ही मुझे स्वयं मेरी उस समय की बुद्धि पर हँसी आती है और सोचता हूँ कि इन बेचारों का क्या दोष? यह तो कला के प्रचार की कमी है।

हाँ, तो वह शिल्पचित्र एक अच्छे बड़े आयताकार संगमरमर पर काली रेखाओं द्वारा निर्मित एक खड़ी हुई स्त्री का है, जो नहाकर अपने बालों को निचोड़ रही है। उसमें से टपकती हुई पानी की बूँदों को एक मोर—जो पास ही खड़ा है—निगलने का उपक्रम कर रहा है। कलाकार ने यद्यपि अश्लीलता से बचाने को काली गोल बूटियोंवाले वस्त्राच्छादन द्वारा व्यक्त किया है तो भी अंग-प्रत्यंगों की गढ़ाई कुशलतापूर्वक दर्शाये जाने से जनसाधारण उसे नग्न ही समझ आनन्द मनाता है। इतना ही नहीं, वहाँ के पंडों ने भोले भक्तों के समझाने को उस स्त्री को राधा तथा मयूर को कृष्ण के नाम से प्रसिद्ध कर रक्खा है और अपने पेशे के स्वाभाविक हथकंडे से वे मुझे भी वही राग सुनाने लगे, जिसे सुन मुझे उनकी बुद्धि की खोज पर तरस आया और मैं ही क्यों, प्रत्येक कलामर्मज्ञ को वैसा ही लगेगा।

भारतीय संस्कृति के अनुरूप हमारी धार्मिक अभिरुचि होने से चित्र व शिल्पकारी हमारे दैनिक जीवन के हर पहलू में कितना निकट सम्बन्ध रखती है—इसका ज्ञान होना प्रत्येक को आवश्यक है; पर हममें से कितने ऐसे हैं, जिन्होंने वस्तुतः इस पर विचार किया हो? हमें आज इसी विषय पर कुछ बातचीत करनी है।

साधारणतया चित्र व मूर्ति एक ऐसी मनोहर वस्तु है, जो आबाल-वृद्ध को समान रूप से प्रिय है। लेकिन इसके दोष व गुण को समझते हुए कि वे मन पर कैसा प्रभाव डालते हैं, किस शैली व किस श्रेणी के हैं, इस सबको समझने के लिए चित्रकला-निर्माण-सम्बन्धी ज्ञान होना ज़रूरी है, जिसके समझने

पर ही हम उसके अनुसार चित्र व मूर्ति की खरी परख कर सकते हैं।

ललित कला

जिन कलाओं का आधार मौलिकता तथा भावना होती है, वे ललित कलाओं में परिगणित की जाती हैं और ललित कला की उपादेयता तथा उपयोगिता के लिए साधना की आवश्यकता होती है; क्योंकि वैसी कलाओं में मस्तिष्क तथा हृदय का मनोरम संविधान होता है। चित्रकार शिल्पी जिस प्रतिभा द्वारा अपने विचारों को मूर्तरूप देना चाहता है, उसमें सुरम्यता लाने के हेतु हार्दिकता का भी समन्वय करना आवश्यक है। कला का मुख्य हेतु स्वानुभूति तथा फल परानुभूति है। ऐसे चित्र व मूर्ति का निर्माण बड़ा ही हृदयस्पर्शी है। आइए, इस पर विचार करें कि ऐसे कलाकार तथा चित्र की परिभाषा क्या होगी तथा इसकी आवश्यकता ही क्यों पड़ी।

चित्रकार, चित्र व मूर्ति की आवश्यकता

चित्रकार व शिल्पी ललित कला के उस साधक को कहेंगे जिसे रेखा, रंग व आकार की सहायता से अपनी अनुभूति को यथातथ व्यक्त करने की क्षमता हो। वह कलाकार हुआ और उसकी वह कृति ही चित्र व मूर्ति कहलाई। अपने मनोगत भावों को साकार-रूप में नेत्रेन्द्रिय के सम्मुख उपस्थित करके उसकी सन्तुष्टि करना ही चित्रकला का प्रधानतम उद्देश्य है। इसके अतिरिक्त सुन्दर को संचित करने की प्रवृत्ति मनुष्य में स्वभावतः है। उसके अनुसार सुन्दर प्रकृति दृश्य, सुन्दर वस्तु, सुन्दर रूप का अथवा उस परमसुन्दर का ध्यान करते-करते इनको शब्दों के साथ-साथ नेत्रों से प्रत्यक्ष देखने की स्वाभाविक इच्छा की पूर्ति के लिए ही चित्र-निर्माण का प्रारम्भ हुआ है।

अतः किसी भी संग्रहालय व अन्यत्र चित्र देखने के माने हैं कि वे हम पर कैसा प्रभाव डालते हैं तथा कौनसी पद्धति से तैयार किये गये हैं। इसके लिए हमारा सुधरा हुआ दृष्टिकोण यदि कलाकार के दृष्टिकोण का सामंजस्य पा जाय, तभी उस चित्र व मूर्ति का मूलहेतु पूर्णतया हमारी समझ में आने पर आनन्द आता है। कला की यह विशिष्ट पद्धति कोई विशेष कलाकार ही अपनी विशिष्ट प्रणाली द्वारा प्रारम्भ करता है। कभी-कभी ऐसी विशिष्ट पद्धतियाँ प्रतिद्वंद्विता-वश अथवा किसी स्कूल से भी चल पड़ती हैं। उसके बाद उस परम्परा पर काम करनेवाले उसे शैली के नाम से पुकारते हैं, जैसे हमारे यहाँ पहाड़ी, मुग़ल, राजपूत, बंगाल-स्कूल, काँगड़ा-स्कूल व बम्बई-स्कूल आदि।

शैलियों के तीन भेद

इस प्रकार इस शैली या परम्परा के पारखिया ने दो मुख्य भेद माने हैं, जिनमें पहली पूर्वी (भारतीय) तथा दूसरी पाश्चात्य (योरपीय)। इनके अलावा एक और नवीन शैली का आविष्कार अभी हाल ही में हुआ है, जो आधुनिक, नवीन या (मोडर्न) के नाम से पुकारी जाती है। इन्हीं उपर्युक्त शैलियों के आश्रय में कलाकार अपने-अपने चित्र व मूर्ति बनाते हैं। अतः यह जानना बहुत ही आवश्यक है कि उनमें क्या-क्या विशेषताएँ हैं, जिनका ज्ञान होने पर हम चित्रकार व उसके चित्र की परख करके आनन्द उठाते हुए उसका पद निर्धारित कर सकें।

पूर्वी आदर्श पद्धति

सबसे पहले पूर्वी शैली का वर्णन करते हुए उसकी विशेषताओं पर लक्ष्य देंगे। यह भारतीय आदर्श शैली भावना-प्रधान है। इस देश की संस्कृति के अनुसार यहाँ की अन्य कलाओं की तरह चित्र व मूर्ति-कला का निर्माण भी आध्यात्मिक दृष्टिकोण (आधार) पर किया जाता है। यही कारण है कि मुग़लकाल के चित्रों को छोड़ बाक़ी सब चित्रों व मूर्तियों में किसी व्यक्ति-विशेष की ओर लक्ष्य न देकर ध्यानानुसार देवताओं के चित्र व देव-प्रतिमाएँ ही अपनी-अपनी कल्पनाओं एवं मुद्राओं द्वारा व्यक्त की गई हैं। और, इसी शैली के आधार पर भावना के राज्य में विचरण करता हुआ कलाकार परम्परा से प्रयोग में आई हुई कल्पनाओं, अलंकारों व संकेतों द्वारा अपने आदर्श भाव व्यक्त करता है। भावना-प्रधान होने से ही उसकी चिर गिनी अतिशयोक्ति भी बिलकुल छोड़ी नहीं जाती। इतना ही नहीं, वह दोष भी नहीं मानी जाती, जिस प्रकार कविता में लय (rhythm) को क़ायम रखने के लिए शब्दों के तोड़-मरोड़ पर तथा उनके खिंचाव पर ध्यान नहीं दिया जाता।

इस शैली के अनुसार बारीक रेखाओं को उनके

प्रवाह में विना किसी प्रकार की अड़चन व दोष के प्रयोग कर विना विशेष प्रकाश व छाया (light and shade) के स्वाभाविक चित्र को ही देखता है। यही कारण है कि शैली का चित्रकार पर्यवेक्षण (perspective) दृष्टिकोण को नहीं मानता। तभी तो वह पेड़ की ऊँची से ऊँची डाल पर बैठे हुए पक्षी का रंग, आकार व आँख तक स्पष्ट बनाने में नहीं चूकता; क्योंकि (perspective) जैसा दृष्टिकोण तो बाहरी ठाट के लिए आवश्यक है, मन की आँख से देखने पर तो उसकी ज़रूरत होती ही नहीं। इसका मतलब यह भी नहीं कि वह इस विषय से बिलकुल अनभिज्ञ हो, वरन् वह तो प्रत्येक वस्तु को अच्छी तरह अध्ययन व आत्मसात् करते हुए अपने मन के अनुसार बाहरी ठाट को न देख अपनी कल्पना से उन सबको स्वरुचिपूर्ण ढालकर तत्त्व को रख बाक़ी आडम्बर को छुट्टी दे देता है। इस पद्धति में दर्शक को वास्तविक पदार्थ के दर्शन के स्थान पर उसके चित्रित आदर्श को देखने का भान बराबर होता रहता है। शब्दों में इसे काव्य कह सकते हैं।

पाश्चात्य वास्तविक पद्धति

पाश्चात्य पद्धति या शैली वास्तविकता को लिये हुए realistic प्रधान है। इसके अनुसार चित्रकार बाहरी ठाट-बाट का ज्यों का त्यों प्रदर्शन करते हुए उसके अन्तरंग को साधने की कोशिश करता है। इस परम्परा से बनाते समय पहले कलाकार टुकड़े-टुकड़े तथा ऐसी रेखाओं का आधार लेता है, जिनसे वस्तु का आभास भर होता रहे। इसके बाद रंग-मिश्रण के साथ-साथ प्रकाश और छाया (light and shade) और पर्यवेक्षण (perspective) दृष्टिकोण के अनुसार पूर्वभूमिका (forged) और पृष्ठभूमिका (background) के साथ-साथ वातावरण (atmosphere) का भी ध्यान रखते हुए एवं अन्य व्यावहारिक भास होनेवाली सब वस्तुओं शारीरक (anatomy) आदि को लक्ष्य में रखकर अपने चित्र की पूर्ति का प्रयत्न करता है। इस प्रकार के चित्र-निर्माण में कम से कम रंग व तूलिका का प्रयोग चित्र-निर्माता की कुशलता का परिचायक है। खुले हुए शब्दों में इस पद्धति से तैयार किया हुआ चित्र ठीक कैमरे के चित्र के समान माना गया है। जिस प्रकार कैमरे को विशिष्ट दूरी पर रखकर focussing केंद्रित करना पड़ता है, उसी प्रकार इसमें भी मुख्य स्थान पर प्रकाश डालते हुए उस भाग का विस्तृत विवेचन होता है और शेष को focus के अनुसार मध्यम प्रकाश (*mid-tone*) व क्षीण प्रकाश (darkest shade) में रखते हुए साधारणतया पूर्ण किया जाता है। इसके अभाव में चित्र ठीक कैमरे के चित्र के सदृश नहीं दिखाई देगा। इस शैली के अनुसार प्रकाश और छाया (light and shade) के प्रभाव पर रंगों का मिश्रण एक प्रकार से अनेक प्रकार का तथा अद्भुत मालूम होता है—यहाँ तक कि इस प्रकार के चित्रों को देखते समय दर्शक वास्तविक पदार्थ और उसके चित्र के भेद को भूल जाता है। यह दशा तभी होती है, जब दर्शक उसी दृष्टिकोण से उस चित्र का निरीक्षण करे, जिसके आधार पर चित्रकार ने उसका निर्माण किया है।

इस शैली के अनुसार काव्य में जो स्थान व्याकरण को प्राप्त है और जिस बन्धन के परे जाने में कवि अपने को असमर्थ पाता है, वही स्थान यहाँ शारीरक (anatomy) का है, जिसके कारण चित्रकार की कल्पना के पंख बँध जाते हैं और जो उसकी स्वतन्त्र उड़ान में बाधक होते हैं। इन्हीं कारणों से इस शैली को कला का गद्य-स्वरूप कह सकते हैं।

आधुनिक पद्धति

आधुनिक शैली स्वातंत्र्य-प्रधान है। रेखा, रंग व आकार—इनमें से किसी को भी विशिष्टता न देते हुए मनमानी करना ही इस पद्धति का आधार है। इस शैली का कलाकार किसी परम्परा को नहीं मानता। विचार व कल्पना को साररूप व्यक्त करने में बुद्धिवाद के साँचे में ढालने में परम्परा के बन्धन तोड़ते हुए बहुत ही सुगमतापूर्वक वास्तुकला का भी प्रयोग कर देना इस शैली की विशेषता है। इस शैली की कार्यप्रणाली अतिशयोक्तिपूर्ण कोण, सीधी रेखा, क्यूब, सिलेंडर आदि का प्रयोग व तद्रूप भड़कीले रंगों का उपयोग, प्रकाश और छाया; यहाँ तक कि बाल-चापल्य द्वारा चित्रगठन तक का आधारभूत प्रयोग करने में नहीं हिचकती। अंतस्तल के अनुरूप बाह्य दृष्ट को साररूप (स्थूल रूप व आकृति) द्वारा व्यक्त करना ही आधुनिक कला की मुख्य विशेषता है। इस शैली के कलाकार की तुलना हम उस धार्मिक स्वच्छन्दताप्रिय युवकमंडल से कर सकते हैं, जो परम्परागत रूढ़ियों का विरोध करते हुए भी

एकदम नये को भी अपनाने में अपने को असमर्थ पाते हुए सममार्ग का ही अवलम्बन करता है। इस प्रकार इसे अवसरवादमूलक मध्यरूप का मिश्रण कह सकते हैं।

शैली की कसौटी

उपर्युक्त तीनों पद्धतियों में विशेषता क्या है, यह बताया जा चुका है। इनसे पूर्ण परिचय प्राप्त होने पर कोई भी चित्र या मूर्ति सामने आने से उसको परखने का मार्ग सुगम होगा कि अमुक चित्र अमुक श्रेणी का है। वैसे तो तीनों ही शैलियाँ अपने-अपने स्थान पर श्रेष्ठ हैं; पर चित्र को देखकर कलाकार की अनुभूति से जिस सीमा तक दर्शक के मन में सहानुभूति होती है, उसी पर दर्शक की दृष्टि से चित्र व मूर्ति की श्रेणी निर्धारित होती है। शैलीविशेष का आश्रय लेने ही के कारण कोई चित्र सफल नहीं समझा जा सकता; क्योंकि शैली तो विचार एवं कल्पना को व्यक्त करने का साधन तथा परम्पराविशेष का प्रतीकमात्र है, जिसके आधार पर दर्शक चित्र के मूलहेतु तक पहुँचने में समर्थ होता है। यहीं तक शैली का महत्त्व है। अतः यह कहा जा सकता है कि शैली माध्यममात्र है, उद्देश्य नहीं; यह साधन है, साध्य नहीं।

चित्र में सौन्दर्य व असुन्दरता

चित्र में केवल मनोमोहकता अथवा सौन्दर्य ही का प्रदर्शन हो, ऐसी मान्यता कला में नहीं है। उसमें तो मन में उठनेवाले उद्वेगजनित सुख व दुःख को बढ़ाने की शक्ति रखनेवाला चित्र कुरूप अथवा असुन्दर होने पर भी श्रेष्ठ कला का माना जा सकता है। मनोभावों का प्रदर्शन ठीक प्रकार से करनेवाला चित्र पूर्ण होते ही कलाकार सफल हो जाता है। चित्रकला में शब्दों के जाल को छोड़कर मानवीय हृदय को स्पर्श करने का ही व्यापार होता है, और इसी लिए इसका निर्माण होता है। परन्तु प्रत्येक कला मानवीय व्यवहारों से सम्बद्ध होते हुए भी सार्वभौम चिरंतन सत्य के आधार पर चलकर ही देश एवं काल की संकीर्ण सीमाओं से उठकर अमर कृति होती है। और, इसी आदर्श को स्थिर रखने के लिए उसमें शिवं (कल्याणमय) एवं सुन्दरं स्वरूप की आवश्यकता होती है, जिसके अनुसार "कला कला के लिए" वाला सिद्धान्त निर्जीव-सा जँचता है।

चित्रों का वर्गीकरण

उपर्युक्त शैली आदि को समझने के बाद चित्रों का प्रकार जानना ज़रूरी है। वैसे तो चित्रों के अनेक प्रकार हो सकते हैं; पर साधारणतया चार ही प्रकार देखने में आते हैं, जिनमें पहला प्रतिमा चित्र (portrait), दूसरा प्राकृतिक दृश्य (land on Sea-scapes), तीसरा काल्पनिक विषयरचना (compositions) और चौथा व्यावसायिक (commercial)। इनमें पहले प्रतिमा चित्र की तैयारी पर विचार क[illegible]।

देखना यह है कि उपर्युक्त तीनों शैलियों में से किस पर ठीक चित्रित किया जा सकता है। पूर्वी पद्धति के चित्रकारों का विचार है कि पूर्व का मानवीय जीवन धार्मिक होने से अत्यन्त सादा है; क्योंकि पूर्व की संस्कृति व तत्त्व-ज्ञान स्वतंत्र है, जिसके अनुसार वह वस्तु के बाह्य रूप की ओर विशेष ध्यान न देकर उसकी स्वाभाविक चरित्रगत मनोवृत्ति को व्यंजित करने का प्रयत्न करता है। इसके लिए चित्रकार बाहरी रूपरेखा, आवरण आदि की ओर विशेष लक्ष्य न करके चित्र के व्यक्तित्व को अत्यन्त महत्त्वपूर्ण सूक्ष्म रेखाओं द्वारा स्पष्ट करता है। रूपरेखा, आवरण आदि को पूर्वी कलाकार गौण मानते हुए भी अपने आदर्श की पूर्ति का साधन बनाते हुए उसी के अनुरूप उनका उपयोग करता है। रंगों का चुनाव भी इस उद्देश्य से परे नहीं जाता। यद्यपि भौगोलिक परिस्थिति से सूर्य के प्रकाश की प्रखरता के कारण साधारणतया चटकीले रंगों का प्रयोग होना चाहिए, पर वैसा न करके बहुत ही हल्के तथा प्रकाश-छायारहित रंगों को ही अपने आदर्श से सामञ्जस्य लाने के हेतु, वह प्रयोग करता है। यह ठीक उसी प्रकार, जैसे गर्म देशवासी ठंडे देश को आदर्श मान उधर जाने में सुख का अनुभव करता है और शीत-प्रधान देश का प्राणी उष्ण प्रदेश में उतर सुख का अनुभव करता है। इस प्रकार यह कलाकार आदर्श को ही व्यक्तिचित्र में प्रस्तुत करता है।

इसके विपरीत पश्चिमी शैली के अनुसार चित्रकार अन्तःकरण का बाहरी रूप ही समझ सकता है; क्योंकि पाश्चात्य जीवन जड़वादी है, तथा पाश्चात्य संस्कृति व तत्त्वज्ञान देहवादी। इस कारण पाश्चात्य कलाकार परंपरागत रूढ़ियों को बन्धन मानते हुए प्रत्यक्ष भासित वस्तु को ज्यों का त्यों चित्रित करने को ध्यान में रखता है, जिसके लिए उसे किसी विशेष रेखा का अवलंबन नहीं करना पड़ता, वरन् प्रकाश और छाया

(light and shade) के अनुसार रंग, वेशभूषा, आवरण तथा वातावरण (atmosphere) उसके लिए मुख्य वस्तुएँ हो जाती हैं। वह वस्तु के वास्तविक रूप को रंगों के स्थापनविशेष के ही रूप में देखता है, (इसी कारण भौगोलिक परिस्थिति के विपरीत चटक रंगों का प्रयोग यहाँ अधिकतर देखा जाता है) अतः उसके अनुसार रंगों की उचित स्थापना, प्रकाश तथा छाया का ज्ञान चित्रकार का मुख्य ध्येय हो जाता है। यहाँ तक कि ये वस्तुएँ साधनमात्र न रहकर साध्य की श्रेणी तक पहुँच जाती हैं। इस प्रकार यह चित्रकार शारीरिक (anatomy) के ढाँचे पर भौतिक साधन हूबहू कैमरे द्वारा लिये हुए चित्र के समान ही चित्रित करने का प्रयत्न करता है।

उपर्युक्त दोनों शैलियों का विरोधी आधुनिक चित्रकार पूर्वी और पश्चिमी जीवन में सार क्या है, इसी बात को देखकर किसी भी परंपरा का आश्रयी नहीं होता। जातीय संस्कृति, भौगोलिक परिस्थिति तथा किसी भी तत्त्व-ज्ञान की उसे परवा नहीं होती। अपने स्वतंत्र बुद्धिवाद के अनुसार ही अपने विचारों को व्यक्त करना उसका उद्देश्य तथा उसकी अपनी शैली है, जिसके लिए वह कम-से-कम रेखाओं और कम-से-कम रंगों के प्रयोग से कुछ निश्चित प्रकार से तूलिका के प्रयोग द्वारा ही अपने विचारों को व्यक्त करता है। वह व्यक्ति का स्वभाववैशिष्ट्य लाने का प्रयत्न तो करता है, पर किसी शैलीविशेष का दास न बनते हुए। वस्तु का आकार तथा वास्तु कला का जड़त्व दिखाना उसे ज़रूरी है। केवल यही मानते हुए कि यह रूप है, ऐसा रंग है तथा ऐसा आकार है और उनका व्यक्तिविशेष के साथ क्या साम्य है—इसको दिखाना ही उसका प्रधान उद्देश्य होता है; शेष को महत्त्व न देते हुए ज्यों त्यों पूरा करके स्थान की पूर्ति भर कर देता है या कभी-कभी चित्र में भाव की झलक आते ही पृष्ठभूमिका आदि को वैसे ही छोड़ देता है। ऐसा करने में वह किसी भी पद्धति का अनुसरण कर लेता है। कभी-कभी उसके चित्रों से ऐसी प्रतीति तक होती है कि मानो वे किसी छोटे या नौसिखिये बालक की कृति हों। इस प्रकार यह चित्रकार न तो शुद्ध चित्र (सक्तांगुलिः सायक पुङ्ख एव चित्रार्पितारम्भ इवावतस्थे—रघुवंश) ही और न कैमरे के समान, वरन् उपर्युक्त दोनों से भिन्न अपनी एक अलग ही कृति तैयार करता है।

व्यक्तिचित्रों (portraits) ही की भाँति रंगों में न्यूनाधिक हेर-फेर के साथ अपनी-अपनी शैली (technic) द्वारा प्रत्येक पद्धति का कलाकार चित्रों के अन्य प्रकार, जैसे प्राकृतिक दृश्य तथा व्यावसायिक चित्र, तैयार करते हैं।

चित्र-परिचय

इनके अतिरिक्त काल्पनिक विषयरचना (compositions) में अन्य देशस्थ कलाकारों की अपेक्षा भारतीय कलाकार विशेष महत्त्व का स्थान रखता है। इसका मुख्य कारण यह है कि हमारे देश की संस्कृति धार्मिक है तथा विशुद्ध तत्त्व-ज्ञान (आध्यात्मिक) की खोज करते-करते हमारे पूर्वजों ने जो निष्कर्ष निकाला, वह अन्य देशों से निराला ही ठहरा। यहाँ मानवीय जीवन की प्रत्येक गति केवल उस महान् सत्य को लक्ष्य में रख आगे बढ़ने की है। अतः दैनिक जीवन के प्रातः उठने से रात्रि के विश्राम पर्यन्त प्रत्येक कार्य क्या कवियों क्या गायकों क्या नर्तकों और क्या चित्र व शिल्प आदि कलाकारों ने एक ही प्रकार से देवताओं के निमित्त ही किया है। अतएव प्रसंगानुसार कुछ एक चित्रों का विश्लेषण देना अनुचित न होगा। यथा—

शेषशायी विष्णु (पौराणिक काल में ईश्वर का प्रतीक) में शेष के पर्यङ्क पर आदिपुरुष अर्थात् विष्णु का लेटना इस बात का सूचक है कि वह इस सृष्टि को रचने के बाद अखिल ब्रह्माण्ड के शेष पर आनन्द से समय व्यतीत करते हुए उसका उपभोग कर रहा है; अथवा आत्मा ही आश्रय है जिसका, वह ईश परमात्मा स्वार्थरहित कल्पना का विस्तार कर इस प्रकार समाधिस्थ हो कालयापन कर रहा हो। यहाँ पर लक्ष्मी इनकी कामना का प्रतीक हो उनके चरण चाप रही हैं। या गीता के अनुसार निःस्वार्थ कामना के फलस्वरूप सिद्धि पैरों की दासी बन सेवा करती है।

शंकर भगवान्—जो वैदिक काल के ईश्वर के प्रतीक हैं; उनके साथ नागों का सम्बन्ध आत्मा का ब्रह्म से अटूट सम्बन्ध प्रकट करता है। यहाँ पर साँपों का केंचुली बदलना और आत्मा का बार-बार जन्म लेना एक ही अर्थ रखता है। शिव की जटाओं में चन्द्रमा और गंगा का अस्तित्व उनकी महत्ता का द्योतक है अर्थात् आकाश-स्थित चन्द्र और भागीरथी उनकी जटाओं का चुम्बन करते हैं।

ब्रह्म को वृद्ध, गम्भीर मुद्रा का तथा केवल सृष्टि-निर्माता ही कहा गया है। अतः अन्य चित्रों व मूर्तियों

से भिन्न उन्हें दाढ़ीसहित चतुर्मुख शान्त पद्मासन पर स्थित ही दर्शाया गया है और सृष्टिकर्ता होने ही के कारण उन्हें वेदज्ञान आदि का अधिकारी माना गया है। शासन व नाश के प्रतीकरूप उनके पास किसी भी शक्ति का प्रदर्शन नहीं किया गया।

इसी प्रकार चित्रों में प्रदर्शित प्रत्येक देवता के ध्यानानुसार वर्णन के साथ-साथ वाहन भी उनके विशिष्ट गुणों के अनुरूप ही हुआ करते हैं। जैसे "गरुड़" विष्णु का वाहन उनके अन्तर्यामी और मन के वेगशील होने का सूचक है। "नन्दी" धर्म का प्रतीक होने से ब्रह्म का आधार रहा, और काम का प्रतीक होने पर उनके अधीन होने का द्योतक है। सरस्वती का "हंस" इस बात का स्पष्ट ज्ञापक है कि जिस प्रकार सरस्वती देवी बुद्धि की अधिष्ठात्री होने के कारण हमें शुभ पदार्थों को ग्रहण एवं अशुभ पदार्थों को छोड़ने के लिए प्रेरित करती हैं, उसी प्रकार उनका वाहन "हंस" भी नीर-क्षीर-विवेक के लिए प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त देवताओं के अस्त्र, आभूषण आदि भी उनके ही अनुरूप गुणवाले हैं। विष्णु का पद्म वैभवदायक तथा चक्र रक्षा के लिए संहारकर्त्ता है। विस्तार-भय से इस पर अधिक न कहकर आभास-मात्र ही यहाँ दिया गया है। यह फिर कभी स्वतंत्र विषय हो सकता है।

अमूर्त भावों के चित्र

कुछ विशिष्ट प्रकार के चित्र व मूर्ति भी हमें देखने को मिलते हैं, जिन्हें अमूर्त भावों (abstract ideas) चित्रों की श्रेणी में रक्खा जा सकता है। ऐसा ही एक चित्र "छिन्नमस्ता" के नाम से प्रसिद्ध है। इसमें भावनाओं का बड़ा ही सूक्ष्म विवेचन किया गया है, जिसको समझने के लिए हमारा एतद्विषयक ज्ञान भी वैसा ही परिमार्जित होना आवश्यक है। इसमें सृष्टि की तीन महती प्रकृतियों—सात्त्विक, राजस और तामस—को तीन विशिष्ट रंगों क्रमशः पीले, लाल और काले द्वारा तीन नारी-मूर्तियों में दर्शाया गया है, जिसमें सात्त्विक (पीले रंग की) बीच में तथा राजस (लाल) और तामस (काली) उसके दक्षिण और वाम पार्श्व में आनन्द की मुद्रा में खड़ी हैं। बीच-वाली प्रकृति महान् ने अपने ही खड्ग से अपने मस्तक को काटकर अपने हाथ में ले रक्खा है। उस कटी हुई गर्दन से तीन महान् तत्त्वों का प्रादुर्भाव हुआ, जो तीन—पीले, लाल और काले—रंगों की रेखाओं से व्यक्त किया गया है। इनमें से बीच का सात्त्विक तत्त्व स्वयं हाथ में लिये हुए मस्तक के मुख में समाता हुआ दिखाया गया है, शेष दो तत्त्व पार्श्व के चित्र-रूप अपने-अपने मुख्य तत्त्वों में जा मिले हैं। कटे मस्तक द्वारा आत्मा में से अहंकार (अहं भाव) का पृथक्करण ज्ञात होता है, जिसके निकल जाने पर आध्यात्मिक विश्लेषण द्वारा सात्त्विक आनन्द का स्वयं ही उपभोग अपना मुख्य ध्येय हो जाता है। शेष से हमें कोई सम्पर्क नहीं। इस सात्त्विक मूर्ति के पैरों के नीचे एक युग्म (जोड़ा) रौंदा हुआ है, जो हमें अपनी काम-वासनाओं को उसी प्रकार दमन करने की ओर प्रेरित करता है। अहंकार को अपने से अलग करना वैसा ही कठिन है, जैसा अपने हाथ से अपना ही मस्तक काट देना। चित्रकार ने इस आध्यात्मिक अमूर्त अनूठे भाव को बड़ी ही कुशलता से व्यक्त किया है।

ऐसे ही अनेक चित्र तथा मूर्तियाँ हमारे यहाँ उपलभ्य हैं, जिनका पढ़ना वैसा ही कठिन है, जैसा कि उनका बनाना और यही भारतीय कलाकार की अद्भुत साधना है।

इस संपूर्ण विवेचन से आशा है कि जनसाधारण संग्रहालय एवं प्रदर्शिनियों में मूकवत् खड़े न रहकर कलाकार के आदर्श को समझने का यत्न करते हुए उनके परिश्रम को सफल करेंगे और इस दिशा में निर्दिष्ट ज्ञान रखनेवाले सज्जनों को इस पथ पर आगे बढ़ने को उत्तेजना मिलेगी।

क्रिसान-साहित्य की अकृत्रिम कृति—ग्राम-जीवन की अपूर्व झाँकी—"किसान-सतसई"

वेद-व्याख्याता, साहित्यवाचस्पति प्रो० किशोरीलाल गुप्त एम० ए०

खड़ीबोली के कृतविद्य कवि ठाकुर जगनसिंह सेंगर की व्रजभाषा में प्रगतिवादी रचना 'किसान-सतसई' को देखकर मुझे आश्चर्य अवश्य होता, यदि मैं यह न जाने होता कि सेंगरजी ने भारतीय किसान के जीवन को उसके निकटतम सम्पर्क में रहकर ही नहीं देखा, वरन् उसमें घुल-मिलकर स्वयं अनुभव भी किया है। तभी तो भाषा और छन्द की दृष्टि से असामयिक-सी होते हुए भी उनकी नूतन रचना किसान-सतसई में व्रजवासी किसानों के नित्य व्यवहार के घरेलू शब्दों एवं भावों के सफल सम्मिश्रण द्वारा समसामयिक प्रगतिवाद का नितान्त नूतन पुट सर्वत्र प्रस्फुटित हो रहा है। सतसई की भाषा उत्तरकालीन पंडिताऊ व्रजभाषा की भाँति बेतरह मँजी हुई नहीं है, वरन् कवि ने ग्रामीण व्रजवासियों के नित्य व्यावहारिक शब्दों को निस्संकोच ग्रहण कर अपनी रचना में अद्भुत लोच, स्वाभाविक प्रवाह और प्रसाद की सजीवता भर दी है। भाषा की अकृत्रिमता और इस सजीवता ने भावों को इतना स्पष्ट, मर्मस्पर्शी और हृदयग्राही बना दिया है कि रसोत्कर्ष अपनी पूर्ण परिपक्वावस्था पर पहुँच जाता है। कवि किसान के सुख-दुःख, पीड़ा-प्रसाद और वैभव-अभाव की वीथियों में होकर जब निकलता है, तब तदनुसार वह भी कहीं अत्यन्त सुखी और सुकुमार एवं कहीं अत्यधिक व्यग्र और उग्र रूप धारण कर लेता है। उसकी पूँजीवाद की तीव्र भर्त्सनाओं को पढ़कर कहीं-कहीं उसके कवि न होकर समालोचक और सुधारक होने का भ्रम होता है; परन्तु उसकी वे भावनाएँ जिस विचित्र ढंग से उसके हृदय से विकीर्ण होती हैं, उस ढंग पर वाह-वाह कहना और उसे कवि—प्रकृत कवि मानना पड़ता है। कवि समालोचक और सुधारक ही नहीं—बहुत कुछ, सब कुछ होता है।

सम्प्रति, सतसई के विभिन्न भावों से ओत-प्रोत ७७७ मर्मस्पर्शी दोहों में से कतिपय की बानगी दिखाकर हम अपने उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करने का प्रयत्न करते हैं। आइए, भारती-मन्दिर के इस गन्धोत्कट कुसुम-स्तवक की महक लीजिए और हमारे कथन पर विचार कीजिए। कवि के शब्दों में हम पहले आपको सम्मति देंगे कि—

> कासीफल - गंगाफलहु, पग-पग लहिय ललाम।
> ता बनबारीनाथ कहँ, करु कर जोरि प्रनाम॥

काशीफल, गंगाफल और वनवारीनाथ के सफल श्लेषालंकार और किसान की महिमा को समझकर किसान, और दोहाकार कवि का भी, स्वयमेव सिर झुक जाता है। किसान के वन और बारी में जाने पर काशी और गंगा ही नहीं, वरन् पग-पग पर स्थान-स्थान पर उनके दर्शन, मज्जन-पान और ध्यान का फल ही साक्षात् प्राप्त हो जाता है और भगवान् वनवारीनाथ का दर्शन।

नीचे के दोहे में कवि किसान की महिमा की एक झलक दिखाता है—

> मोटर-रेल-बिमान नभ, केहि बल दौर्यौ जाय।
> वह हरहारौ हार में, हल-कल रह्यौ घुमाय॥

वास्तव में यदि किसान अपनी हल-कल को घुमाना बन्द कर दे तो मोटर, रेल और वायुयान ही नहीं, संसार का कोई काम न चले। सब मामला चौपट हो जाय।

> भूप-छत्र कौ दण्ड दृढ़, सुभटनि कौ कोदण्ड।
> धुरी सुसासन-चक्र की, तुव पेनिया प्रचण्ड॥

और भी—

> बाहन, भूषन, बसन नहिं, बिद्या, बुद्धि न ज्ञान।
> बूँटी मृतसंजीवनी, देतु फकीर किसान॥

ऐसे मृत-संजीवनी बूटी देनेवाले अकिंचन फ़क़ीर से बढ़कर और कौन हो सकता है, तभी तो कवि ने अन्यत्र कहा है—

> श्रुति-पारग, धनधरनिपति, ज्ञानी-दानी भूरि।
> अज्ञ अकिंचन कृषक तुव, ज्ञान-दान-गति दूरि॥

वास्तव में ज्ञानी और दानी तो एक से अधिक एक पड़े हुए होंगे; परन्तु किसान के ज्ञान और दान की और ही बात है, वह सबसे अधिक अज्ञ और अकिंचन होने पर भी सर्वश्रेष्ठ और अत्यन्त उपयोगी एवं अनिवार्य आवश्यक वस्तुएँ पैदा कर देता है, जिन्हें खा-पहनकर

मानव-समाज जीता और सभ्य कहलाता है ; क्योंकि—

तू उगाय देतौ न जो, अन्न कपास, अलभ्य।
पसु-सम फिरते नगन नर, रहते रूख असभ्य॥

कवि की सार्थक शब्द योजना और तदनुसार भावों की उन्मुक्त दौड़ पर ध्यान दीजिए और देखिए—

नट मर्कट कौं लकुट लै, दैं बहु कला सिखाय।
सभ्य बनायौ जगत तें, कर पेनिया उठाय॥

निस्सन्देह यदि किसान एक दरिद्र नट है तो मनुष्य मर्कट से बढ़कर नहीं। उसके एक क्षुद्र लकड़ी—पैनिया के उठाने भर से सम्पूर्ण संसार सभ्य बन गया है, सो भी विना ताड़ना के। वाह, कलावन्त किसान और उसके कलाकार कवि, तुम दोनों महान् हो।

अब आइए, किसान की महिमा के प्रकरण को छोड़कर कुछ ऐसे दोहे देखें, जिनमें कवि की लेखनी विपाक्त माधुर्य में उभ-चुभ करती है। उसकी प्रतिभा भारतीय किसान के उत्पीड़न को न सहकर विकराल कालिका बन जाती है, जहाँ कवि की अन्तर्वर्त्तिनी अनुभूति उमड़कर किसान की दुःखानुभूति का हाहाकार बनकर मूर्त्तरूप में पाठकों के आगे आ खड़ी होती है, जहाँ हम यह निर्णय करने में भटक जाते हैं कि कवि कवि है अथवा सुधारक और प्रताड़क। देखिए, कवि किसान की पीड़ा से मर्माहत होकर अपने हृदय के फफोले किस प्रकार—किस कवित्वपूर्ण ढंग से फोड़ता है—

नाह, कराहत काह किमि, आह-दाह हिय माँह।
साह-राहु की राह में, परी चाह, बिन छाँह॥

स्त्री के पूछने के बहाने, पति-पत्नी-संवादरूप में, साहूकार के देखने-मात्र से दरिद्र किसान की जो दशा हो जाती है, उसका मार्मिक वर्णन कवि ने कितने अनुप्रास-पूर्ण ढंग से किया है। और भी—

ग्रास गहत आवत लख्यौ, औचक क्रूर पठान।
रह्यौ फटौ मुख, कर उठौ, भौंचक चहतु किसान॥

क़िस्त बाँटनेवाले ख़ान लोगों को देखकर ऋणी किसान की कातर करुण मुद्रा का सजीव वर्णन इस दोहे में एकदम साकार हो उठा है। भाव-वर्णन और ग्रहण करने के लिए कवि और पाठक की हार्दिक दुःखानुभूतियों में एक दूसरी से आगे निकल जाने के लिए दौड़-सी लग जाती है। दोनों दोहे साहित्य की अमूल्य निधि हैं। परन्तु किसान-सतसई में इनसे भी बढ़कर मणि-मुक्ता भरे पड़े हैं। 'जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ' के अनुसार पाठक इसमें से अनेक अनुपम रत्नों को ढूँढ़ कर निकालेंगे। यहाँ तो किनारे पर बैठे-बैठे, सरसरी दृष्टि से, जो कुछ दिखाई दे गया है, उसी में से थोड़ा-सा आभास पाठकों को कराया जा रहा है।

आइए, किसान की दयनीय दुरवस्था के और भी दो-चार दृश्यों पर आँसू बहाकर, मन बहला लीजिए।

किसान ज़मींदार के गुर्गों को यमदूतों से भी भयंकर समझता है। उसे तहसील के सिपाही या लगान वसूल करनेवालों से पाला पड़ने के बजाय मर जाना अधिक पसन्द है। देखिए—

राजदूत आवत समझि, तजे प्रथम ही प्रान।
फिरि पलभरि हँसि जो उठ्यौ, जमदूतन पहँचान॥

बीमार, मरणासन्न किसान को लेने के लिए आते हुए यमदूत दिखाई दिये, मगर वह उन्हें राजदूत—लगान वसूल करनेवाले समझ बैठा ; क्योंकि उसे तो हर समय उन्हीं का भय लगा रहता था। बस, फिर क्या था, दूर से देखते ही उसके प्राण निकल गये। परन्तु जब यमदूत पास आ खड़े हुए और उसे विश्वास हो गया कि यह चपरासी नहीं हैं, वरन् यमदूत हैं और लगान लेने नहीं, मुझे लेने आये हैं तो थोड़ी देर के लिए प्रसन्न होकर फिर जी पड़ा और तब शान्ति के साथ मर गया।

किसान बेगार देकर संध्यासमय लौट रहे हैं। आकाश में, चुगकर लौटे हुए पक्षियों के गोल पर दृष्टि जाती है और एक आह के साथ उनके मुख से निकल पड़ता है—

चले चुगौ चुगि चोंच लै, चहकि कीन्ह सिसु भेट।
हम बगदे बेगारि दै, खाली कर उर पेट॥

शब्द-चयन पर दृष्टि डालिए। संध्यासमय काम से लौटे हुए किसानों और आकाश-मार्ग से लौटते हुए पक्षियों का दृश्य मूर्तिमंत होकर सामने आ जाता है, परन्तु वह सुन्दर होते हुए भी कितना करुण और दर्द-भरा बन रहा है। दिनभर भूखे रखकर काम कराने के पश्चात् जान पड़ता है, बेचारे बेगारियों के हाथ पर थूका भी नहीं गया। अपना हाथ और पेट तो ख़ाली है ही, बच्चों की चिन्ता ने हृदय को भी खोखला कर दिया है, मथ डाला है, वह भी टूट रहा है। हाय री बेगार! क़ानूनन् नाजायज़ होते हुए भी, तुझे कितने लाचार आज भी बजाते रहते और उफ़ नहीं करते हैं ; क्योंकि क़ानून और कचहरियाँ भी तो बड़ों के भाग्य की हैं, अकिंचन और असहायों को वहाँ कौन पूछता है? तभी तो कवि खिन्न होकर कहता है—

बचे न खेत किसान के, हार्‌यौ करि दरबार।
कोठी-बँगलनि देखिए, कितने खिदमतगार॥

कवि के सत्य और सजीव शब्दों में ऐसे बहुत-से बिगड़े हुए काश्तकार आज रईसों की ख़िदमत और पहरेदारी कर रहे हैं। ऐसे बहुत-से अभागे प्रति नगर में मिल सकते हैं। एक अन्य स्थान पर कवि कहता है—और बहुत ही खीझकर कहता है—

साह-पटैल-पिट्यो कृषक, करन चलौ दरबार।
स्वान सिकारिनु सौं चिथ्यौ, जनु मृग वृक-कान्तार॥

आह! साहूकार और ज़मींदार का सताया हुआ नासमझ किसान कचहरी में दावा करने गया, मानो शिकारी कुत्तों से चिथा हुआ हरिण भागकर भूखे भेड़ियों की बनी में, बचने के लिए जा पहुँचा हो, जहाँ बचने की लेशमात्र आशा नहीं है।

कचहरी को भेड़ियों की बनी क्यों बताया? इसके समाधान के लिए एक और दोहा देखिए—

जातु कचहरी नियत दिन, पैरोकार लिवाय।
हाकिम लख्यौ न कबहु दग, लौटतु गाँठि कटाय॥

कोई मुक़दमा लग गया है। तारीख़ पर तारीख़ पड़ रही है। हर तारीख़ पर पैरोकार (ब्लेज-बैरिस्टर) को साथ लेकर किसान को जाना पड़ता है। मगर न तो अभी तक पेशी हुई, न कमरे में घुसकर हाकिम ही के दर्शन कर सका। बाहर से बाहर ही जो कुछ घर से ले जाता है, उसे यार लोग, पैरोकार, पटवारी, पेशकार मुहर्रिर आदि, छीन लेते हैं। दरिद्र अनुभव-शून्य किसान को कचहरी कितनी कठिन और मुक़दमा कितना महँगा पड़ता है! तभी तो नीचे के दोहे में कवि हताश होकर लिखता है—

करतु बयानु किसानु, भरि नयन भरे दरबार।
'ये हल-बैल पटैल के, हौं मजूरु सरकार॥'
आपुहि इस्तीफा दयौ, कृषक कचहरी जाय।
जनु भटक्यौ मरु-भूमि कौ, सोयौ गोर बनाय॥

नित्य-नित्य के झंझटों से दुखियाकर किसान ने ज़मीन से, जिसे ज़मींदार छुड़ाना चाहता था, स्वयं कचहरी जाकर इस्तीफ़ा दे दिया। कवि उत्प्रेक्षा करता है, मानो अफ़्रीका के मरुस्थल में भटकता हुआ क्षुत्पिपासाकुल पथिक दुःख से छुटकारा पाने के लिए ग़ोर बनाकर सो गया हो, जिसे बाद में रेत ढककर चिर-समाधिस्थ कर देता है। अफ़्रीका के रेगिस्तान में न जाने ऐसे कितने साहसी यात्री समाधि ले चुके हैं, न जाने कितने अभागे किसान अपने और अपने परिवार के सर्वोत्तम सहारे, जीवनदायिनी ज़मीन को छोड़ चुके हैं। इस दोहे में कवि की आत्मा के साथ मिलकर न-जाने कितनों की दुखिया आत्माएँ बिलख रही हैं।

कवि ज़मींदारों और साहूकारों के उत्पीड़न से अत्यंत खिन्न और खीझा हुआ है और इसलिए इस एक ही भाव को उसने अनेक स्थानों पर अनेक प्रकार से व्यक्त किया है। हृदय की पुकार ही सच्ची कविता है, मानस के हाहाकार में ही सच्ची कवित्व-तरंगें उठती हैं, ऐसी कि जो मर्यादा के कूल-किनारों को तोड़-फोड़कर भाव-सरिता का नूतन पथ बना देती हैं। सेंगरजी की काव्य-साधना भी कुछ ऐसी ही समर्थ जान पड़ती है। उपर्युक्त भाव पर ही कवि की दूसरी उक्ति सुनिए—

साह-त्रास ठाढ़ी फसलि, करि ठाकुर कें आड़।
निरभय भयौ दवारि-डर, जनु धँसि भभकत भाड़॥

कहीं साहूकार लोग क़ुर्क़ न करा लें, इस डर से खड़ी हुई फ़सल ज़मींदार के आड़ कर दी—'बै' लिख दी। इस पर कवि कहता है, मानो दावाग्नि से डरा हुआ मनुष्य भभकते हुए भाड़ में धँसकर निश्चिंत हो गया हो। सभी जानते हैं कि धधकते भाड़ से कोई जीवित नहीं निकल सकता। इसी तरह सैकड़ों किसान एक की डिगरी के डर से दूसरों को अपनी सारी फ़सल दे बैठते हैं, यही नहीं, कभी-कभी तो खेतों से भी सदा के लिए हाथ धो बैठते हैं। प्रमाणों की कमी न होगी।

एक दोहा और लीजिए—

मुँह बाये विषधर पर्‌यौ, धस्यौ वहै बिल माँहिं।
कागनु खोंटे भेक लौं, कृषक अनेक नसाहिं॥

कौए मेढक को खोंट मार रहे थे, बेचारा उनसे बचने के लिए एक बिल में जा कूदा। परन्तु वाह रे दुर्भाग्य! वहाँ पहले ही से मुँह फाड़े हुए अजगर पड़ा हुआ था। मेढक जाते ही हड़प हो गया। इसी प्रकार न जाने कितने किसान मामूली कष्टों से बचने के लिए प्राणान्तक कष्टों में पड़ जाते हैं।

स्थानाभाव के कारण इस दिशा से हटकर आइए, अब किसान की अकिंचनता, अभाव और असमर्थता के दूसरे दृश्य देखिए—और, देखिए कि सर्वद्रष्टा कवि की अन्तर्दृष्टि कहाँ-कहाँ जाती है?—

पोखरि तेरी कीच में, जीवन-संबुल-हीन।
कितने भये कबीर से, कृषक-कुमार बिलीन॥
खात-पियत खेलत-पढ़त, बनते पीन प्रबीन।
बीनत बन लकरी फिरें, ते सिसु दीन-मलीन॥

दूध दुहन की धुनि सुनत, खरे कटोरी लाय।
लाल रहे ललकत इहाँ, लाला चले तुलाय॥
माखन की डेरी खुलीं, सुनि पुलकी पुर-तीय।
गोरस छीजतु सिसु-सदन, बिकैं भलौ पय पीय॥

हा! जिस देश में गोरस की गलियों में कीच होती रहती थी, उस देश की आज यह दशा! दूध दुहने का शब्द सुनकर बच्चे कटोरी लेकर आ खड़े होते हैं कि कुछ हमें मिल जाय। परन्तु सबका सब लालाजी को तोल दिया जाता है, वे बेचारे अपना-सा मुँह लिये टिपियाते रह जाते हैं।

स्त्रियाँ-माताएँ कहती हैं कि बाल-बच्चों का घर है, यहाँ रखने से दूध-दही-घी कुछ न कुछ छीजता ही है, अतः हे पतिदेव, दूध को सीधा बेच देने ही में कल्याण है। इसी लिए मक्खन की डेरी पास ही कहीं खुली सुनकर ग्राम-बालाएँ प्रसन्न हो रही हैं। आज सबको पैसा प्यारा है, पुत्र नहीं।

मा, बाप और बच्चा—तीनों रेल की लाइन के पास आक की ठोंढियाँ—बोंड़ियाँ तोड़ रहे हैं। कविहृदय-विदारक दुर्घटना और साथ ही मर्मभेदक दृश्य देखता है—

चुनत लैंन ढिंग, ट्रेन ने, पूत पछारौ आय।
बिखरी बौंड़ी बगल सों, बीनि भजे पितु-माय॥

देवि दरिद्रते! लड़का—आँखों का तारा, जीवन का एकमात्र सहारा, प्राणप्यारा पुत्र क्षणमात्र में रेल से कट मरा। मगर मा-बाप को सब कुछ देख-जानकर भी उधर ध्यान देने का अवसर नहीं, वे उससे भी आवश्यक उसकी बिखरी हुई बौंड़ियों को बीनकर भाग जाते हैं; क्योंकि उन्हें भय है कि अब गाड़ी खड़ी होगी, साहब लोग उतरेंगे—न जाने क्या और आपत्ति आ जाय। इसलिए हृदय को वज्रादपि कठोर बनाकर बच्चे की ओर ध्यान नहीं देते, परन्तु रोटियों की आधार उन चन्द बोंड़ियों को कैसे छोड़ दें? मृत पुत्र को उठाने के बजाय उन्हें उठा ले जाना आवश्यक है।

और भी—

चुकतो ब्याजु लगानु जौ, होतौ जौ न-अकाल।
दुहतौ दुहिता तोहि क्यों, घर बूढ़े के घाल॥

अकाल पड़ गया है, परन्तु साहूकार का छमाही ब्याज और ज़मींदार के लगान की अदायगी नहीं रुक सकती। कुछ भी चारा न देख पुत्री को दुहना पड़ा। रुपये लेकर उसे बुड्ढे के साथ ब्याह दिया। लाचारी ऐसी ही होती है।

अर्थाभाव का दूसरा हृदय दहलानेवाला दृश्य देखिए—

किसान का लड़का ज़मींदार या साहूकार के यहाँ गुलाम—दास बनकर रहता था, कार्याधिक्य और खाने-पीने की असुविधा के कारण बीमार हो गया। बीमार का वहाँ क्या काम? बाप के घर भेज दिया गया। वहाँ भी खान-पान और औषधोपचार के अभाव में दशा बिगड़ती गई। अन्त में क्षय हो गया, लड़का दिन पर दिन घुलने लगा। एक दिन वैद्य के पास किसान गया भी, उसने अपनी फ़ीस और दवा के दाम माँगे। किसान बोला—

होतौ रुपया फीस कौ, अरु औषधि-हित दामु।
घुलतौ सुतु कविराज क्यों, बनि बचपनहिं गुलामु॥

हा! यदि रुपये ही पास होते तो बेटे को बचपन ही में गुलाम बनकर इस प्रकार न घुलना पड़ता। पैसे के अभाव और आवश्यकता ने तो उसे बन्धक रखने के लिए बाध्य किया ही था; क्योंकि नियम ऐसा है कि—

टूक खाय, उतरतु पहिरि, करतु ब्याजु में कामु।
जौलौं मूलु न देहि पितु, तौलौं पूतु गुलामु॥

जब तक पिता लिये हुए मूलधन को अदा नहीं करता, तब तक उसका लड़का ऋणदाता के यहाँ काम करता है। खाने को उसे बचा-खुचा भोजन और पहनने को उतरे हुए—फटे-पुराने कपड़े मिलते रहते हैं। न जाने ऐसे कितने ऋण-दास नारकीय जीवन व्यतीत करते और क्षयादिक प्राणान्तक रोगों के शिकार हो जाते हैं।

किसान को चूसने और पीसनेवाले समाज को कवि ने जहाँ जी भरकर परन्तु उत्कृष्ट कवित्व-शैली द्वारा, खरी-खोटी सुनाई है, वहाँ वह किसान-हितैषियों के प्रति अकृतज्ञ भी नहीं है। परन्तु कवि की दृष्टि में ऐसे सज्जन बहुत ही कम हैं और वे विस्तृत कृषक-समाज का हित कर सकने में सर्वथा असमर्थ हैं। यथा—

कृषक-हितू कहुँ-कहुँ सुने, कोउ पटैल नृप साह।
बिन जलधर हरतन लखे, सुनासेप छिति-दाह॥

इस प्रकार कृषकपीड़कों के विस्तार और उसके हिसाब से कृषक-हितैषियों की कमी को जानते हुए भी, कवि की दृष्टि में जो दो-एक ज़मींदार और साहूकार कृषक-हितैषी हैं, उनके प्रति व्यक्तिगत रूप से भी, श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने में कवि ने संकोच नहीं किया। जैसा कि निम्न दो दोहों से प्रकट है—

अनेक भूरि भोगी भखहिं, भूमि-भार-धर एक ।
एक पटैल किसान-हितु, खैंचहिं खाल अनेक ॥

जिस प्रकार मेंढकों को खानेवाले तो बहुत-से सर्प हैं, परन्तु पृथ्वी का भार उठानेवाले एक शेषनाग ही हैं, उसी प्रकार किसानों की खाल खींचनेवाले तो अनेक पटैल—ज़मींदार हैं, परन्तु किसानों के हितैषी एकमात्र सरदार बल्लभभाई पटैल ही हैं।

सरदार बी० जे० पटैल की भाँति ही एक दोहे में बिड़ला-बंधुओं और अपने निकटवर्ती शिक्षा-प्रसार-समिति के संस्थापक सेठ बाबूलालजी प्राग आइस मिल्स के मालिक का नाम भी कवि ने अपनी अमर-रचना में श्रद्धापूर्वक दिया है और उक्त सज्जनों को धनवानों का पथ-प्रदर्शक बताया है, जो अक्षरशः सत्य है। कवि का और उसके साथ समस्त ग्राम-सुधारकों का विचार है कि विना शिक्षा-प्रसार के ग्रामीण किसानों का उद्धार नहीं हो सकता। इसलिए ग्राम-पाठशालाओं के लिए मुक्तहस्तता के साथ धन देनेवाले उक्त दो प्रधान धनिकों—साहूकारों को भी धन्यवाद देना कवि नहीं भूला—

गाम-गाम तुव दान-बल, पढ़हिं कृषक-कुल-बाल ।
धनिकनि के पथ-दीप धनि, बिड़ला बाबूलाल ॥

बिड़ला-बन्धुओं का ग्राम-शिक्षा-सम्बन्धी महान् आयोजन—गाँवों में मिडिल स्कूलों की स्थापना की स्कीम—देश भर में चालू है। इधर अलीगढ़ प्रान्त और उसके आसपास सेठ बाबूलाल सिंघल के आदर्श दान और उद्योग द्वारा बहुत-से गाँवों में लोअर प्राइमरी पाठशालाएँ चल रही हैं। इस दिशा में, सेठ सिंहल हज़ार-बारह सौ रुपया मासिक व्यय कर रहे हैं। दूसरे धनिकों के सहयोग से आपकी आयोजित शिक्षा-प्रसार-समिति का कार्य बढ़ता जा रहा है। उपर्युक्त दोहे में कवि ने इन दोनों आदर्श सेठ-साहूकारों के प्रति कृतज्ञता प्रकट करना, किसानों के नाते, अपना कर्तव्य समझा है। वह कहता है—जिनके दान के बल से गाँव-गाँव में किसानों के छोटे-छोटे बच्चे पढ़ रहे हैं, ऐसे धनियों को एक आदर्श मार्ग दिखाने के लिए दीपक के समान देदीप्यमान श्रीबिड़ला-बंधु और सेठ बाबूलालजी धन्य हैं।

वस्तुतः आजकल धनवानों, रईसों और सेठ-साहूकारों का रुपया जहाँ पार्टियों, ख़िताबों और चुनावों के लिए निरर्थक कार्यों में पानी की तरह बेतरह बहता है, वहाँ यदि उसका रुख़ उपर्युक्त दो सज्जनों के धन की भाँति ग्राम-सुधार और ग्राम-पाठशालाओं की ओर फिर जाय तो भारतीय किसानों के माथे से निरक्षरता का कलंक पुछ जाय और उसके साथ समस्त देश सुख-सौभाग्य के सुदिन देखने लगे। ईश्वर धन के साथ उसके सदुपयोग की सुबुद्धि भी दिया करे, हमारी यही प्रार्थना है।

सेंगरजी किसान-कवि होते हुए भी प्रस्तुत सतसई में सर्वत्र बड़े ही काव्य-कौतुकी दिखाई दे रहे हैं। विविध भाँति से ध्वनि और व्यंग्य के नाना विध आलम्बन द्वारा वे अपने प्रत्येक दोहे को अद्भुत चमत्कार से ओत-प्रोत कर देते हैं। पीछे पाठक देख चुके हैं, किसान-मात्र की दयनीय दुरवस्था के कितने सफल चित्र कवि खींच चुका है। पुस्तक में एक पूरा शतक कृषक-वधूटियों का आश्रय लेकर कवि ने लिखा है। नायिका-भेद के प्रेमियों को उसमें स्वकीया, परकीया, अभिसारिका, प्रवत्स्यत्प्रेयसी, नवोढ़ा, प्रौढ़ा प्रभृति सब मिल सकती हैं। परन्तु उनमें बिहारी तथा रीतिकालीन कवियों के नायिक-नायकाओं-जैसा संभोग-संश्लेप, कामोन्माद और विलास-वैभव कहाँ? वह स्वतन्त्र भारत के स्वच्छन्द कवियों का वाग्विलास था। आज के परतन्त्र भारत के पीड़ित-वर्ग का किसान-कवि और उसके अपने नायक-नायिकाओं को वह सुख, सुविधा और स्वातंत्र्य कहाँ? आज तो हर ओर से, हरएक को अभाव आवश्यकताएँ हड़पने को दौड़ रही हैं। उन्हीं के शिकंजे में जकड़ा हुआ आज का कवि समया-नुकूल नायक-नायिकाओं का सर्जन कर सकता है। सेंगरजी की समर्थ लेखनी ने इस ओर सफलतापूर्वक प्रसार पाया है। पाठकों को यह ज्ञात रहना चाहिए कि कवि ने न तो रीति के अनुसार नायिका-भेद लिखा है, न उसे इस विषय पर लिखना अभीष्ट है। केवल उसके काव्योपवन में कुछ वैसे मिलते-जुलते कुसुम खिल गये हैं, जो अपनी सामयिकता के सौरभ से समस्त ग्रन्थ को महका रहे हैं।

अस्तु, आजकल की एक प्रोषितभर्तृका का दृष्टांत सेंगरजी की सतसई में देखिए—

पिया दूरि दुर्भिक्ष-दुख, धन्धौ लयौ टटोल ।
घूँसा से उर में लगत, बालहि बायस-बोल ॥

लीजिए, ज़माना बिलकुल ही पलट गया। कहाँ तो रीतिकालीन कवियों का कामपीड़िता प्रोषितपतिकाएँ पति के परदेश से आने की सम्भावना-सूचक कौए की बोली सुनकर अत्यन्त प्रसन्न होती थीं और उसे भाँति-

भाँति से खीर-पूए खिलाने एवं चञ्चु-चरण सोने से मढ़वाने का वादा करती थीं। परन्तु यहाँ उलटी बात है। पति ने अकाल के मारे परदेश—नहीं-नहीं दूर जाकर (क्योंकि पहले का परदेश आजकल परदेश नहीं रहा, उसे दूर ही कहना ठीक होगा, और कवि ने वैसा ही कहा है) कहीं धन्धा ढूँढ़ लिया है। घर स्त्री-बच्चे हैं। कौए की बोली से यह सोचती है कि कहीं पति की नौकरी छूट गई और वह लौट आये तब क्या बीतेगी? बस, इसी सोच के कारण पति के आगमन-सूचक कौए की बोली घूँसे की भाँति पत्नी की छाती में लगती है। उसे वह लेशमात्र नहीं सुहाती। उसे पति का आगमन अभीष्ट नहीं, उसे तो अपना और बच्चों का पेट भरने के लिए रुपया का मनीआर्डर मिलना चाहिए। परदेश के बजाय दूर और बरछी-भाले के बजाय घूँसे के प्रयोग ने भाव में नूतनता और सजीवता भर दी है।

साह-ग्राह मग मिलतु जब, जाति कलेऊ दैन।
बीछी-बरछी-सी लगै, तीछी-तिरछी सैन॥

कृषक-पत्नी कलेवा देने जाती है, रास्ते में साहूकार-रूप ग्राह—उसका सर्वस्व हड़पने में समर्थ गुण्डा मिलता है, इसलिए उससे कुछ कह तो नहीं सकती, मगर उसकी तीक्ष्ण और तिरछी काम-चेष्टा से भरी हुई कुदृष्टि उस कुल-वधू के हृदय में बिच्छू के डंक और भाले की नोक की भाँति कसकती है।

पहले दोहे में जिस प्रकार शब्द का घूँसे की तरह लगना उपयुक्त था, उसी भाँति यहाँ कुदृष्टि का बीछी-बरछी की भाँति लगना विहित प्रयोग है। फिर, बीछी-बरछी और तीछी-तिरछी के शब्दानुप्रास की छटा भी दर्शनीय है।

नई नवोढ़ा और मुग्धाओं का स्वरूप आपको निम्न दोहों में मिलेगा—

चकई, तू जिय धीर धरि, लखि चकवा तरु-डार।
सारस-सौ जल में ठड़ौ, मो पियु बम्बा पार॥
हरु हाँकतु पियु हार में, रागतु राग रसाल।
सुनि तरफति घर रात भरि, सफरी-सी नव-बाल॥
जेठ जरावा की जरनि, दिन भर हाँकी दाय।
सोवत बररा ही बही, बलि बरसौंही बाय॥

नीचे का दोहा श्लेष और यमकालंकारयुक्त है। कृषक-कुमारों में छोटे की नववधू अपनी किसी सहेली से कहती है कि जेठ जरावा (जलनेवाले पति के बड़े भाई अथवा जलानेवाले जेठ महीने) की जरनि (ईर्ष्या और ताप) ने मेरा कंत दिन भर दाँय चलाता रहा (जेठ महीने में खलिहानों में दाँय चलाई और बरसाई की जाती है)। रात में जब मैं बरसौंही (अपने पति के सम्मुख) सोने को उद्यत हुई, तभी निगोड़ी बरसौंही (बरसाई करने के योग्य) हवा चलने लगी। इसलिए पति लाचार बरसाई करने के लिए उठ गया और मैं पति-परिरम्भण-सुख से वञ्चित रह गई।

आइए, इनसे भी अधिक अभाव, अकिंचनता और परवशता के विकट पाश में फँसी हुई नायिकाओं के दर्शन कीजिए—

आवति हुइ है खीचरी, कहति जरी-जरी सास।
बोली गोली-सी सहति, भरि-भरि बहू उसास॥

पीहर की दरिद्रता से बहू बखूबी परिचित है, इधर सास खीचरी न आने पर ताने मारती है। बेचारी बहू बेबसी की गहरी साँस ले-लेकर उस बोली को गोलियों की भाँति चुपचाप सह रही है। बेचारी करे तो क्या करे?

रूप-सरिस होते गुनहु, करतौ सब घर चैनु।
सती सुत-बधू गरति गुनि, घाघ ससुर के बैन॥

केवल घाघ शब्द ने दोहे के समस्त अर्थ को चमका दिया है। नववधुओं में रूप के समान ही गुणों का होना सभी को वाञ्छित है। उनका अभाव सब सम्बन्धियों को बुरा मालूम होता है। परन्तु यहाँ पर घाघ—पुराना खुर्राट ससुर जिन गुणों के द्वारा बहू से कमाई कराना चाहता है, वास्तव में उन गुणों के न होने से वधू साक्षात् गृह-लक्ष्मी है। परन्तु बुड्ढे को ऐसी गृह-लक्ष्मी की आवश्यकता नहीं, जो अपने रूप का सौदा करके पुराणपुरुष की वधू चञ्चला लक्ष्मी को घर न ला सके। सदैव परिताप, पीड़न, लज्जाहीन एवं अपमान को पीकर जीवन बितानेवाले ससुर की सद्-वृत्तियाँ सदा के लिए नष्ट हो गई हैं और अब वह दुष्प्रवृत्तियों का दास बन गया है। वह जानता है कि अंत में होगा तो वही, मगर चढ़ती अवस्था में इच्छा से ही उस कल्याण-मार्ग को ग्रहण कर लेना बुद्धिमानी है।

दूती की धमकी रही, रोय रोय पियहि सुनाय।
सुनि गुनि चितवतु आँखि भर, सकतु न धीर बँधाय॥

हाय री लाचारी, अवश्यम्भावी भयंकर पतन रुकने-वाला नहीं, न चाहने पर भी बचने का उपाय नहीं—

देस अकाल, बिदेस पिय, सुत अजान, पितु दीन।
साह पातकी घातकी, तिय-गति थल जनु मीन॥
बुरौ मोह पति-पूत कौ, बुरी पेट की आगि।
बुरौ प्रपञ्च पटैल कौ, बची को अबला भागि

पिता उबारौ ब्याहु करि, पियु साहहि दै देह।
धनि कुल-कन्या कुल-वधू, कृषक अकिंचन गेह॥

उपर्युक्त दोहों में यदि अश्लीलता जान पड़े तो उसके मर्म को समझिए, और समझकर आँसू बहाइए—इस बात पर कि कवि इस कटु सत्यानुभव को छिपा न सका, वह उसके प्रच्छन्न अन्तस्तल से बरबस फूट पड़ा है। इन बातों के लिखने के लिए कवि की विवशता भी 'थल जनु मीन' की भाँति छटपटा उठी है। किसान—विशेषकर ग्रामीण श्रमिकों के अभाव और अकिंचनता को पनपानेवाला आजकल का प्रचंड पूँजीवाद ही कवि के इस कटु कथन का उत्तरदायी है।

करति पीसनौ, दरति खुदि, दारिद खल पै जाय।
मानति अति बड़भाग निज, फटकनु छिलुकनु पाय॥
गोभी के पत्ता छूटत, कुटतु हलिनु-हित त्यार।
भाँजी बनति कुटम्ब कूँ, बेचत फूल बजार॥
रह्यो न घर भुस-नाज, उठि भोरहि बरहे जाय।
लावतु कटिया पसुन हित, कछु तित बेचहि खाय॥
छिनतु धान खलियानही, सीत सहाय न कोउ।
सकरकंद दुख-द्वंदहर, बीवा भरि पिय बोउ॥
पैदरि ही पीहर पिया, चले चलौ चुपचाप।
इक्का जानि कमीन कौ, भजि न जाहिं मा-बाप॥
रोजा कहौं जु बखत सौं, अखत्यारहुँ मुख धोय।
नाहिं तौ हाजीजी इहाँ, रोजहि रोजा होय॥
मिलति न रोटी पेट भरि, उपवासहि दिनु जाय।
करि दाने की हुड़क जनि, गैया बैल रँभाय॥

कितनी सीधी सच्ची प्रसादपूर्ण एवं हृदय हिलानेवाली सूक्तियाँ हैं। ऐसे सैकड़ों दोहे हैं, जिनसे किसान की हृदय-द्रावक दरिद्रता और दयनीय दुरवस्था का दृश्य स्पष्ट झलकता है। कवि ने सर्वत्र हृदय निकालकर रख दिया है। और भी अभाव, अकिंचनता के दृश्य देखिए—और देखिए कि कवि को किसान के जीवन का कितना स्पष्ट अनुभव है—

पुरु खेरत खन बैल दुहुँ, गहे सिपाहिनु आय।
धाय छुड़ाये धन्य धन, हँसुली हाथ हलाय॥

ऐसी सत्य घटनाएँ कृषक-जीवन में आये दिन होती रहती हैं। लगान अथवा तक़ावी वसूल करने के लिए सिपाही आते हैं। किसान पैर चला रहे हैं। स्त्री पानी लगा रही है। ज्यों ही पुर खेरा गया, त्यों ही अवसर उचित समझकर सिपाहियों ने बढ़कर बैलों को आगे से पकड़ लिया। अब न आगे जाने देते हैं, न पीछे हटने देते हैं। पुर कुएँ में लटक रहा है, बैल बेले पर जुते हुए खड़े हैं। किसान कहता है, इस पुर को निकाल लेने दो, सिपाही कहते हैं, पहले रुपये दे दो। सती पत्नी ने यह दृश्य दूर से देखा और तत्काल अपने गले से चाँदी की हँसली उतारकर हाथ में ली और वहीं से हिलाकर सिपाहियों को संकेत करती दौड़ी आई कि तुम्हारे रुपियों का प्रबंध हो सकता है। हमारे पास गहना है, इसे कहीं गिरवी रखकर तुम्हारे रुपये ला दिये जायँगे।

मारै फसलि किसान की, जिमींदार फल खाहिं।
अली मेंड के आम की, छाँहहु सीतल नाहिं॥

ठीक है, जिस शीतलता से हृदय जलता हो, वह किस काम की। यह तो आग है, दोज़ख़ है।

धरति कान पै हाथ सुनि, 'आम लेहु' धुनि कान।
दिखरावहु जनि बाल की, सो सूरति भगवान॥

देखिए, दो पंक्तियों में कवि कितना ग़ज़ब ढा गया! कितनी हृदय-विदारक बात कह गया! मतलब समझिए और सिर धुनिए—आषाढ़ का महीना है, खेत और घर में कुछ नहीं है। ऐसे असमय में आम बेचनेवाले ने आकर 'आम ले लो, आम' आवाज़ लगाई। उसे सुनकर कृषक-पत्नी ने दौड़कर ब[illegible] के कानों पर हाथ रख लिये, जिससे वह सुन न ले और आमों के लिए मचल न पड़े। इस आकस्मिक क्रिया से बच्चा भी हैरान रह गया। मा तो हैरान थी ही। कवि कहता है कि हे भगवान्, बाल (स्त्री-बच्चे) की उस समय की कातर-करुण और विषण्ण सूरत किसी को कभी न देखनी पड़े।

यों तो सर्वत्र कवि की विशुद्ध कला-कृति अत्युच्च है, उसमें अनल्प कल्पनाओं की अनूठी उड़ान है, अलंकारों की सुमधुर झनकार है और है सेंगरजी को सच्चा कलाकार सिद्ध करने की प्रचुर सामग्री, तथापि कुछ कला कला के लिए जैसे भावबोधक नमूने और भी लीजिए—

को तू 'पसुपति' पाहि सिव, 'हलधर' 'बलि बलराम'।
'सीताप्रिय', 'राघव जयति', नहिं किसान, हुश् बाम॥

किसान किसी सम्पन्न परन्तु भक्त के यहाँ गया है। विना देखेभाले दोनों में प्रश्नोत्तर होता है—

तू कौन है? 'मैं पशुपति हूँ'। पूछनेवाला शिव समझकर 'हे शंकर, रक्षा करो' कहता है। इस पर किसान बोला, 'अजी, मैं हलधर हूँ।' प्रश्नकर्त्ता ने इस बार उसे बलराम समझा और 'हे बलदेव, आपको प्रणाम है।' कहा। तब किसान बोला, 'मैं तो सीताप्रिय हूँ।'

अब की बार उसे राम समझकर सम्पन्न भक्त उनकी जय बोलने लगा। मगर जब अन्त में किसान ने बताया कि 'साहब, मैं तो किसान हूँ' तब सुनते ही झिड़की मिली—'अबे पाजी हट, दूर हो।'

कैसा कलात्मक प्रश्नोत्तर है। इससे किसान के प्रति भक्त सेठ-साहूकारों का अनादर स्पष्ट झलक जाता है। परन्तु किसान के प्रति यह घृणा विद्वानों और देवों के हृदय में नहीं है। निम्नांकित दोहों से ऐसा ही प्रतीत होता है। पहले विद्वान् गुरु-शिष्य के संवाद-रूप में इसका प्रमाण लीजिए—

विधि जो उपजावतु सबहि, हरि जो पालत तात।
पूछतु शिष्य किसान को ? सो कछु औरहि बात॥

गुरु शिष्य को शब्दार्थ बताते हुए कहते हैं—कि विधि वह है जो सब कुछ पैदा करता है और हरि—विष्णु वह है जो सबको पालते हैं। यह सुनकर शिष्य का ध्यान किसान की ओर गया और उसने पूछा, गुरुजी महाराज, किसान कौन होता है ? गुरु ने उत्तर दिया—वह तो कुछ और ही बात है। ब्रह्मा, विष्णु से भी महान् है, तुम्हारे कोर्स से ऊपर की पढ़ाई है। 'सो कछु औरहि बात।' कहकर कवि ने समझनेवालों को बहुत कुछ समझा दिया। किसान का महत्त्व ब्रह्मा, विष्णु से भी बढ़ा दिया। विद्वान् आचार्यों की भाँति देवतागण भी किसान को एक महान् और दिव्य पुरुष समझते हैं। देखिए न—

झगरत इन्द्र कुबेर कहि, जग-पालन मम काम।
नारद पहुँचे कृषक बनि, दुहुँ उठि कीन्ह प्रनाम॥

हमें तो कवि के कहने के ढंग पर गर्व है। हर बात को वह काव्य के प्रधान अंग व्यंग्य द्वारा ऐसी विचित्रता से चित्रित करता है कि पढ़कर वाह-वाह करता हुआ पाठक का सहृदय हृदय लोट-पोट हो जाता है।

नारद के किसान का रूप धरकर पास पहुँचते ही, देवराज इन्द्र और उनका भंडारी कुबेर, जो अपने-अपने को संसार का पालनेवाला कह-कहकर लड़ रहे थे, अपनी अहम्मन्यता को भूल गये और उठकर किसान को प्रणाम करने लगे, जिससे स्पष्ट है कि उन्होंने किसान को ही संसार का सच्चा पालक मान लिया ; क्योंकि—

गरजि-गरजि घन घोषणा, करत गगन घन छाय।
कृषक स्वेद-कन धनि दये, हम जग-बंद्य बनाय॥

अथवा—

कर्षक आयौ सुनि समन, दण्डहि उठौ उठाय।
कृषकहि लखि सकुचौ दयौ, सादर स्वर्ग पठाय॥

इन्द्र और कुबेर की भाँति ही सूर्य और पवनदेव को भी अपनी महत्ता पर अभिमान हो गया था, एक बार वे भी विवाद करने लगे, तब बादलों ने उनका फ़ैसला इस प्रकार किया था—

बोलौ रवि हौं मित्र, हौं, कह्यौ पवन हौं प्रान।
गरजि उठे घन, कछु न कोउ बिनु भारती किसान॥

सत्य है, सूर्य का मित्रत्व, पवन का प्राणत्व और बादलों का जीवनतत्त्व—सब भारतीय किसान पर निर्भर है, जिसे बादल भली भाँति जानते हैं और न जाननेवालों को जनाते भी रहते हैं।

दोहा जैसे छोटे छंद में सेंगरजी ने भाव-विभोर होकर अगम्य भाव-गाम्भीर्य और आर्य-गौरव भरकर गागर में सागरवाली उक्ति को चरितार्थ कर दिखाया है। इस दिशा में, और साथ ही ध्वनि, व्यंग्य, अलंकार, कल्पना आदि सम्पूर्ण काव्य के गुणों में, आप संस्कृत और व्रजभाषा के प्रमुख कवियों में अपना विशिष्ट स्थान बना चुके हैं। साधारण ढंग से कही हुई उक्ति में भी आप 'अरथ अधिक आखर अलप' को प्रत्यक्ष कर दिखाते हैं। उदाहरणार्थ निम्न दोहे पर हमारे साथ विचार कीजिए—

बासव बरुन कुबेर बिधि, राम-राम सिव-स्याम।
मृत कृषकहि कहि स्वत्व निज, खैंचत निज-निज धाम॥

बात बहुत साधारण है। अर्थ स्पष्ट है। परन्तु कथित देवों का किसान पर अपना-अपना स्वत्व दिखाने पर जितना ही विचार करते हैं, उतनी ही दोहे की व्याख्या विस्तृत और विशद होती जाती है। यथा, इन्द्र ने कहा—मैं जो जल-वृष्टि करता हूँ, उसका सर्वोत्तम उपयोग किसान ही करता है। वह अपनी खेती को उससे जोत-बोकर और निरन्तर फूलने-फलने योग्य बनाता है, जिससे संसार का पालन होता है। अन्यथा संसार में झाड़-झंखाड़ और सघन जंगलों के सिवा क्या हो सकता था ? इसलिए किसान मेरी प्रतिष्ठा का प्रतीक है। उसे आदर देना मेरा कर्त्तव्य और धर्म है। अतः मुझे उसे स्वर्ग तक ले जाने का अधिकार है।

इन्द्र का वक्तव्य सुनकर वरुण देवता बोले—भाई, तुम जो कुछ जल बरसाते हो, वह आता कहाँ से है ? मेरे ही जल-भण्डार समुद्र से तो। तब तुम तो महज़ हम दोनों का परस्पर सम्बन्ध दृढ़ करनेवाले—मध्यस्थ हुए। न कि तुम्हारा किसान से सीधा सम्बन्ध हो गया। जल के नाते तो उससे मेरा भाईचारा है। अतः उसे मेरे लोक जाना चाहिए। कुबेर ने कहा—अरे

भाइयो, तुम बहुत भूल रहे हो। संसार की स्थिति का मूलकारण और सबका सार है, अन्न-वस्त्र। और उसका त्रिलोकी का भंडारी हूँ, मैं। किसान मर्त्यलोक में मेरा प्रतिनिधि है। तब वह मेरे निवासस्थान को जाने का स्पष्ट अधिकारी है। यह सुनकर प्रजापति ब्रह्मा ने कहा—अरे पागलो! ब्रह्माण्ड भर में मैं और किसान दो ही तो सर्वश्रेष्ठ उत्पादक हैं। तुम्हारे हाथ यदि एक क्षुद्र उपादान एक छोटा-सा साधन जल आ गया तो क्या तुम इन पंचतत्त्वों द्वारा संजीवनी बूटी पैदा करनेवाले को अपने लोक में ले जाने के अधिकारी हो गये? ले जाओ अपने बादलों और समुद्र को, वह सगर-पुत्र अपने बाहुबल से कुआ खोदकर पृथ्वी के पेट से पानी निकालेगा और इसे उर्वरा बनावेगा। उत्पादन के नाते यदि किसान कहीं जाने का अधिकारी है तो वह मेरा ही ब्रह्मलोक है। इस पर भगवान् राम बोले—बाबा, संसार जानता है, सीता मेरी धर्मपत्नी है और वही इस किसान के घर में निवास करती है। तब किसान मेरा लक्ष्मण के समान प्यारा भाई हुआ। जहाँ राम होंगे, वहीं साध्वी सीता रहेगी और जहाँ सीता रहेगी वहीं उसका प्रिय किसान रहेगा—घर में भी, वन में भी। स्वयं सेंगरजी ने—

'सीतहि लै बन-बन फिरत, धनि-धनि राम किसान'

कहकर मेरा और किसान का बन्धुत्व अक्षुण्ण कर दिया है। फिर मेरे साकेतलोक को छोड़कर अन्यत्र जाना न तो किसान के लिए सुखकर है, न न्याय-संगत। अतः इसे मेरे साथ जाने दो। इस पर बलराम बोले—तुम्हारी सीता समेत मैं और मेरा भाई किसान जीवन भर हल को कंधे पर रखे फिरते हैं और अब किसान को तुम ले जाओगे? हलधर के रहते हुए हलधर पर और किसका अधिकार हो सकता है। यदि आप सेंगरजी की सतसई से एक पंक्ति उद्धृत कर किसान पर अपना अधिकार जमाते हैं, तो मैं तो उसमें से बहुत-से प्रमाण दे सकता हूँ। मगर एक ही दोहा आपकी बात को मात देने के लिए पर्याप्त है। सुनिए—

काँधे हलधर हलधरनि, हलधर आगे कीन।
हलधर हलधर-बंधु कहि, काँधे हल धर दीन॥

अब या तो आप लोग किसान के नित्यकर्म से मेरी इस व्यापक नामावली को उड़ा दीजिए, या फिर किसान को मुझे ले जाने दीजिए। भला, जो हलधर, हलधर-बंधु कहकर मुझे याद करता हो, उसे अपना भाई समझते हुए मैं कैसे छोड़ सकता हूँ!

हलधर की बातें सुनकर उनके अनुज श्रीकृष्ण भगवान् कहने लगे—अरे भैया, इस दोहे से तो तुमने किसान पर मेरा स्वत्व भी स्वयं स्वीकार कर लिया। हलधर-बंधु कहकर उसने अपने हलधर भाई को नहीं, वरन् हलधर के भाई मुझ श्रीकृष्ण को याद किया है, और फिर तुम्हारे सूखी लकड़ी हल से क्या? जब तक उसे खींचनेवाले गायों के पुत्र, बैल न हों। और गायों का पालक संसार में मुझसे और किसान से बढ़कर कौन है? मैंने गउओं के पालने के कारण ही गोपाल नाम पाया है, फिर गोपाल के रहते गोपाल को और कोई कैसे ले जा सकता है! यद्यपि सेंगरजी की सतसई से अधिक प्रमाण देकर मैं आप लोगों का समय नष्ट नहीं करूँगा, तथापि कृषक-पत्नी की—

'बलि बदरौटी धूप तें, पिया कियौ घनस्याम।'

इस उक्ति को जानकर आपको किसान के संबंध में कुछ न कहना चाहिए। गोपाल को गोलोक छोड़कर कहीं सुख-शान्ति न मिलेगी। सबसे बाद में भोले बाबा शंकर ने कहा—'भाई, चाहे जितना बक लो, किसान तो मुझे छोड़कर और किसी के लोक को जायगा ही नहीं। यदि तुम सबके पास किसान की आत्मीयता-विषयक दस प्रमाण हैं, तो मेरे पास सहस्रों हैं।' स्वयं सेंगरजी की सतसई भी ऐसे सबूतों से भरी पड़ी है। देखिए न—

पसु पालतु, नागौ रहतु, सेवतु निसा मसान।
औढरदानि किसान सिव, तजतु न पाछिल बान॥

इससे स्पष्ट है कि किसान मेरा प्रतिनिधि या भाई ही नहीं, मेरा प्रतिरूप—मेरा दूसरा स्वरूप है—मुझमें और उसमें कुछ भेद ही नहीं है। फिर न जाने आप लोग किस लिए उसे अपने साथ ले जाना चाहते हैं। अरे किसान का और मेरा स्वरूप, स्वभाव, खान-पान, रहन-सहन और नाम-काम सभी कुछ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भाव से मिलते हैं, एक हैं। मेरी और उसकी इतनी समता है—ऐसी एकरूपता है कि मेरी धर्मपत्नी को भी बहुधा भ्रम हो जाता है, वह किसान को अपना पति भी समझ बैठती है। देखो न—

नगन, धूर्जटी, गजबसन, पसुपति, सूली स्थानु।
उमा उतारति आरती, स्वामी समझि किसानु॥

किसान और मेरे साम्य का क्या ठिकाना है। दोहे से भी नहीं मालूम होता कि मेरी धर्मपत्नी किसान को शिव समझकर उसकी आरती उतार रही है अथवा मुझे किसान समझकर मेरी। मुझमें भ्रम भरा हुआ है।

कितना ग़ज़ब है। और, क्यों न हो ? किसान मेरी भाँति ही नग्न—दिगम्बर रहता है, मेरी भाँति ही उसकी जटाएँ धूमिल—धूल से भरी रहती हैं, मेरी ही भाँति वह गज-वसन (गज़ भर कपड़ा) फतूरी या अँगोछी ही पहने रहता है। पशु तो उसके पास रहते ही हैं। हाँ, यदि मैं एक त्रिशूल धारण करता हूँ तो वह खुरपा-फार-कुदार-फावड़ा-हँसिया आदि लिये रहता है। उसके पैरों में भी तीन नहीं, सैकड़ों शूल चुभे रहते हैं और हृदय में तो न जाने कितना शूल—दर्द छिपाये हुए हैं। मैं यह भी समझता हूँ कि मेरे और किसान के सिवा सभ्य संसार में, और आप लोगों में भी, कोई स्थाणु (ठूँठ) कहलाना पसन्द न करेगा। जब मेरी और किसान की इतनी एकरूपता है और मेरी स्त्री भी भ्रम-वश कभी मेरी और कभी उसकी पूजा करती है अथवा श्रद्धा, तो कोई कारण नहीं कि किसान भाई कैलास को छोड़कर अन्य किसी भी लोक में जाना पसन्द करें या ले जाया जाय।

उपर्युक्त विवेचना से पाठक समझ गये होंगे कि इस सतसई की रचना में सेंगरजी साहित्यिकता और काव्य-कला में कितनी उच्चकोटि की उड़ान भरते हैं। आपकी कला-कृति को समझने के लिए कवि-कल्पना के साथ-साथ दौड़ने के लिए, पाठक के हृदय में गहरी काव्यानुभूति की आवश्यकता है। आगे कुछ कलात्मक दोहे देकर हम इस प्रसंग को समाप्त करते हैं और आशा करते हैं कि सेंगरजी की यह अमूल्य रचना अति शीघ्र प्रकाशित होकर साहित्य-जगत् में अपना विशिष्ट स्थान बनायेगी। कुछ उच्चकोटि के कलात्मक दोहे और देखिए—

कृपक-केसरी बाहुबल, करि करनी सद खाय।
जग झूठौ बीसौ बचौ, पाय खाय इतराय ॥
प्रकृति-नटी है ऋतुमती, पहुँची पास सचाय।
हरी भई, फूली-फली, बीजु खेत में पाय ॥
बार-वधू अरु कृपक कौ, जीवन झौंके खाय।
जो बन सुरसरि कौ बिमल, बिलसतु जगतु सिहाय ॥
खार उदधि, सुररूख जड़, पसु सुर-गौ, ससि छीन।
बालक बिधि बुधि अपक मैं, कीन्हे कृपक अधीन ॥
लोल पवन, महि उर्वरा, प्रकृति ऋतुमती बाल।
कृपक-तपोधन-वन निरखि, बिधि बिरची घनमाल ॥
गोद गगन, पलना पवन, पय प्यावत पुरुहूत।
सिर धरि बसुधा धाय धनि, पालति सस्य-सपूत ॥
नव रस, तिय रति रम सकहिं, अरसिक क्लीब न जान।
कृषि षट्रस नहिं जान जो, को अस जीव जहान ॥
धान-छरन, पय-दुहन-धुनि, पीसन-सुर श्रुति आनि।
तार सँभारति बार बहु, बानी बीनापानि ॥
कूटति धान किसान-तिय, रीझौ निरखि लबार।
उचकत कुच लखि बढ़तु पग, लौटतु मुसल निहार ॥

अभी कहा गया है कि सतसई के सभी दोहे विशुद्ध कला-कृति से ओत-प्रोत हैं। समूची सतसई इसका नमूना है। उसका प्रत्येक दोहा मुक्त और अपने में पूर्ण है और अपना-अपना पृथक् चमत्कार रखता है। उपयोगितावाद और यथार्थवाद की दृष्टि से भी सतसई हिन्दी-साहित्य की एक अमूल्य निधि है। इसकी तुलना संस्कृत और हिन्दी ब्रजभाषा के उच्चकोटि के साहित्य-ग्रन्थों—विशेषकर सप्तशतियों या सतसइयों—से करने पर यह किसी प्रकार हीन सिद्ध न होगी। परन्तु अप्रकाशित होने और सरसरी दृष्टि से देखने पर, मेरी दृष्टि में जो कुछ जम गया, उसी पर थोड़ा-सा प्रकाश डालने का प्रयत्न कर सका हूँ। प्रकाशित होने पर कोई अधिकारी इसका अध्ययन कर तुलनात्मक लेख लिखेंगे और मेरा विश्वास है कि तब इस ग्रंथ के रत्न साहित्यिकों की दृष्टि को अपने प्रकाशन और प्रसन्नता से जगमगा देंगे। मैं सेंगरजी को भारतीय किसान-साहित्य के इस बेजोड़ वाग्वैभव की अद्भुत देन के लिए हिन्दी-साहित्य-जगत् की ओर से बधाई देता हूँ और निकट भविष्य में किसी अच्छी प्रकाशन-संस्था द्वारा पुस्तक के सटीक अथवा सटिप्पण प्रकाशित होने की प्रतीक्षा करता हूँ। *

---

* निःसंदेह कृषकसतसई बहुत उच्चकोटि की कविता है और इसका शीघ्र प्रकाशन परमावश्यक है।

—संपादक माधुरी

पैलेस्टाइन में यहूदी-प्रवेश

श्रीयुत युगलकिशोर गुप्त एम्० ए०, बी० एल्०

जब २ नवम्बर, १९१७ को ब्रिटेन के तत्कालीन परराष्ट्र-सचिव मि० बालफ़ोर ने ब्रिटिश ज़ायनिस्ट (यहूदी) संघ के सभापति लार्ड राथसचाइल्ड को एक पत्र द्वारा पैलेस्टाइन में एक यहूदी राष्ट्रीय गृह (Jewish National Home) की स्थापना का वचन निम्नलिखित शब्दों में दिया था तो उन्होंने स्वप्न में भी नहीं सोचा होगा कि निकट भविष्य में पैलेस्टाइन की समस्या ब्रिटेन के गले में चक्की के पाट के समान असहनीय हो जायगी—

His Majesty's Government view with favour the establishment in Palestine of a national home for the Jewish people, and will use their best endeavours to facilitate the achievement of this object, it being clearly understood that nothing shall be done which may prejudice the civil and religious rights of the existing non-Jewish communities in Palestine or the rights and political status enjoyed by Jews in any other country.

[ब्रिटिश सम्राट् की सरकार पैलेस्टाइन में यहूदी जाति के लिए एक राष्ट्रीय गृह की स्थापना को समर्थनात्मक दृष्टि से देखती है और इस उद्देश्य की प्राप्ति को सुविधा प्रदान करने की पूर्ण चेष्टा करेगी। परन्तु यह स्पष्ट रहे कि कोई भी ऐसी बात नहीं की जायगी, जिससे पैलेस्टाइन की वर्तमान ग़ैर-यहूदी जनता के नागरिक या धार्मिक अधिकारों पर या किसी अन्य देश में यहूदियों को जो अधिकार या राजनीतिक सत्ता प्राप्त हो, उन्हें आघात पहुँचे।]

मि० बालफ़ोर ने यह घोषणा यहूदी रसायनशास्त्री डा० चायन वाइज़मान द्वारा कृत्रिम एसिटोन (जो विस्फोटक बनाने के लिए अत्यंत आवश्यक पदार्थ है) का आविष्कार करने के पुरस्कारस्वरूप की थी; क्योंकि इस आविष्कार ने ब्रिटेन को जर्मनी के परास्त करने में अत्यन्त सहायता की थी। चूँकि इस घोषणा में मानवता की पुकार छिपी थी, इसलिए मित्रराष्ट्रों ने इस घोषणा का समर्थन किया और २४ जुलाई, १९२२ को जिनेवा के अन्तरराष्ट्रीय संघ ने पैलेस्टाइन का शासनादेश ब्रिटेन को प्रदान किया।

यदि आप बालफ़ोर की घोषणा का विश्लेषण करें तो आप देखेंगे कि उसमें यहूदियों के लिए 'राष्ट्रीय गृह' की स्थापना का समर्थन किया गया है। ये शब्द उस समय व्यवहार किये गये थे, जब प्रत्येक राष्ट्र को अपना शासन स्थापित करने का प्रोत्साहन दिया जा रहा था। संयुक्त-राष्ट्र अमेरिका के प्रेसिडेंट विलसन के प्रस्ताव के अनुसार ही आस्ट्रिया, पोलैंड, चेकोस्लोवेकिया, यूगोस्लेविया, रूमानिया, बलगारिया इत्यादि नये-नये देश योरप के नक़्शे पर दृष्टिगोचर हुए। ऐसी दशा में, इस घोषणा से यह ध्वनि निकल सकती थी कि ब्रिटेन चाहता था कि पैलेस्टाइन में यहूदियों का राष्ट्रीय गृह समय पाकर एक स्वतंत्र देश का रूप ग्रहण कर ले। शायद ब्रिटेन की सामरिक आवश्यकताओं और इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए अन्तरराष्ट्रीय संघ ने शासनादेश ब्रिटेन को प्रदान किया। परन्तु राष्ट्रीय गृह का क्षेत्र पूरा पैलेस्टाइन होगा, इसकी कल्पना नहीं की गई थी, नहीं तो पैलेस्टाइन में यहूदी जाति के लिए एक "राष्ट्रीय गृह" के स्थान में "पैलेस्टाइन को यहूदी जाति के लिए राष्ट्रीय गृह" शब्दों का प्रयोग किया जाता। इसकी पुष्टि आगे के शब्दों से भी होती है। उनमें यह आश्वासन दिया गया है कि पैलेस्टाइन में उस समय जो ग़ैर-यहूदी जनता आबाद थी, उसके नागरिक या धार्मिक अधिकारों पर आघात न पहुँचे। इसमें मार्के की यह बात है कि उस समय पैलेस्टाइन में स्थित ईसाई तथा मुसलमान अरबों के राजनीतिक अधिकारों का ज़िक्र तक नहीं किया गया था। इसका यह तात्पर्य हो सकता है कि ब्रिटेन ने तथा अन्य मित्र-राष्ट्रों ने, जिन्होंने बालफ़ोर की घोषणा का समर्थन किया, कभी यह नहीं सोचा था कि निकट भविष्य में पैलेस्टाइन के अरबों की स्वतंत्र सत्ता स्थापित होगी। यदि यह बात न होती तो जहाँ अन्य देशों में बसे हुए यहूदियों के राजनीतिक अधिकारों की चर्चा है वहाँ अरबों के राजनीतिक अधिकारों की भी चर्चा अवश्य रहती। इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ ब्रिटेन तथा अन्य मित्र-राष्ट्रों की इच्छा

स्पष्ट थी कि पैलेस्टाइन में यहूदियों का एक राष्ट्रीय गृह बने, वहाँ उन्होंने यह कल्पना भी नहीं की थी कि पैलेस्टाइन अरबों का एक स्वाधीन देश होगा।

अरबों ने पैलेस्टाइन में अपनी स्वतंत्र सत्ता स्थापित करने के पक्ष में वह पत्र-व्यवहार पेश किया है, जो मिस्र के हाई कमिश्नर सर हेनरी मैकमहन ने मक्का के शरीफ़ हुसेन से सन् १९१५ में किया था। उस समय निकट पूर्व के समस्त अरब-प्रदेश तुर्कों के अधीन थे और तुर्क युद्ध में जर्मनों का साथ दे रहे थे। इसलिए तुर्कों के विरुद्ध ब्रिटेन को सहायता पहुँचाने के पुरस्कार-स्वरूप हुसेन ने उन समस्त अरब-प्रदेशों की स्वाधीनता का वचन माँगा था, जिनकी पश्चिमी सीमा पर भूमध्य-सागर और लालसागर थे। ऐसे प्रदेशों में अरब ख़ास, मेसोपोटामिया, पैलेस्टाइन और सीरिया भी शामिल थे। सर हेनरी ने यह शर्त तो क़बूल की, परन्तु उसमें दमिश्क, हम्स, हमा और अलप्पो नामक स्थानों के पश्चिमवर्ती ज़िलों को अपवाद रक्खा। अरबों ने ऐसा कोई पत्र नहीं पेश किया है, जिससे यह प्रमाणित हो कि ब्रिटेन को अपनी सैनिक सहायता प्रदान करने के पूर्व उन्होंने ब्रिटेन से यह अपवाद रद करवा लिया हो। न हुसेन ही और न उनके सुपुत्र फ़ैज़ल ने (जो सन् १९२१ में ईराक़ के बादशाह नियुक्त किये गये) इस शर्त के विरुद्ध कोई आपत्ति व्यक्त की। उसके विपरीत सन् १९१९ में ही फ़ैज़ल और यहूदी नेता, उपर्युक्त डा० वाइज़मान, ने पारस्परिक मित्रता की एक संधि पर हस्ताक्षर किये, जिसमें फ़ैज़ल ने यहूदियों का पैलेस्टाइन-प्रवेश इस शर्त पर स्वीकार किया कि अरबों को अन्य क्षेत्रों के बारे में जो वचन दिये गये हैं उनका पालन किया जाय। इसलिए यहूदियों का यह कथन कि पैलेस्टाइन में यहूदियों के राष्ट्रीय गृह की स्थापना अरबों की स्वीकृति से हुई थी, सर्वथा सत्य है; क्योंकि फ़ैज़ल वारसाई में अरब-प्रतिनिधि-मंडल का सर्वमान्य नेता था। परन्तु अरबों की ओर से यह कहा जा सकता है कि पैलेस्टाइन के अरब नेताओं ने सन् १९१९ में जो अमेरिका की एक जाँच-कमेटी आई थी उसके सामने इस स्वीकृति का प्रतिवाद किया था और सन् १९२१ में जो अरबों का शिष्टमंडल लंदन गया था, उसने भी अरबों द्वारा इस तथाकथित स्वीकृति का प्रतिवाद किया। तदुपरान्त अरबों के पक्ष में यह भी कहा जा सकता है कि वे पैलेस्टाइन में यहूदियों के राष्ट्रीय गृह की स्थापना के प्रस्ताव को सहन कर लेते, यदि अन्य प्रदेशों में उन्हें स्वाधीन सत्ता प्रदान की जाती। उस समय न तो किसी अरब-सरकार की स्थापना हुई, न किसी अरब-संघ की ही, वरन् कई पराधीन क्षेत्रों में अरब-प्रदेश विभक्त कर दिये गये। ईराक़, पैलेस्टाइन तथा ट्रांस जार्डन का शासनादेश ब्रिटेन को मिला और सीरिया का फ्रांस को। केवल हेजाज़ ही स्वतंत्र देश माना गया। इसलिए यदि अरब ब्रिटेन से विक्षुब्ध हैं तो कोई आश्चर्य नहीं।

पैलेस्टाइन की मुख्य समस्याएँ दो ही हैं—यहूदियों का प्रवेश और उनके द्वारा भूमि ख़रीदना। पहले हम यहूदियों के प्रवेश के प्रश्न को लेंगे। यद्यपि पैलेस्टाइन के शासनादेश (mandate) की शर्तें कहीं जाकर सन् १९२२ में तै हुईं, परन्तु यहूदियों का प्रवेश सीमा के खुलते ही आरंभ हो गया था। विभिन्न वर्षों में यहूदियों के प्रवेश के क्रम का कुछ आभास निम्नांकित आँकड़ों में होगा—

यहूदियों का प्रवेश

वर्ष	नये आगन्तुकों की संख्या	
१९२२	६०००	औसत
१९२३	६०००	
१९२४	६०००	
१९२५	३१००	
१९२६	३०००	औसत
१९२७	३०००	
१९२८	३०००	
१९२९	५२४९	
१९३१	४०७५	
१९३३	९५५३	
१९३४	४२३५९	
१९३५	६१८५४	

यह उन यहूदियों की संख्या है, जो ब्रिटेन की अनुमति से पैलेस्टाइन में दाख़िल हुए। सन् १९३३ से लेकर १९३९ तक, जब हिटलर का यहूदी-विरोधी आन्दोलन चरम सीमा पर था, हज़ारों यहूदी अवैध रूप से लुक-छिपकर पैलेस्टाइन में दाख़िल हुए। उपर्युक्त आँकड़ों से यह स्पष्ट है कि सन् १९२२ से लेकर १९३३ तक (केवल सन् १९२५ को छोड़कर) यहूदियों का पैलेस्टाइन-प्रवेश ऐसी संख्या में नहीं था, जिससे अरबों को कुछ आशंका होती, हालाँकि सन् १९२१ और १९२९ में अरबों ने इस प्रवेश के विरोध

में दंगे फ़साद किये। परन्तु जब से हिटलर जर्मनी में शासनारूढ़ हुआ और यहूदियों का जर्मनी में रहना असंभव-सा हो गया तब से पैलेस्टाइन में प्रवेश करनेवाले यहूदियों की संख्या में अभूतपूर्व वृद्धि होने लगी और अरबों के हृदय में यह डर समा गया कि वह दिन दूर नहीं, जब पैलेस्टाइन में यहूदी-बहुमत हो जायगा और संभव है कि वह एक यहूदी-राष्ट्र भी हो जाय। उसके फलस्वरूप सन् १९३३ में दंगे आरंभ हुए, जिनके शान्त होने पर पुनः १९३६ में दंगों का सूत्रपात हुआ, जो १९३९ तक चलते रहे। पाठकों को याद होगा कि इन दंगों का एक विशिष्ट लक्षण यह था कि अरब समझने लगे कि उनके शत्रु यहूदी ही नहीं, ब्रिटिश भी हैं। जब पैलेस्टाइन रणक्षेत्र होने के कारण मार्शल-ला के अन्तर्गत हुआ, तब कहीं जाकर ये दंगे रुके।

अब यह देखना है कि पैलेस्टाइन में उपर्युक्त संख्या में यहूदियों के प्रवेश से पैलेस्टाइन की जनसंख्या में अरबों तथा यहूदियों के अनुपात पर क्या प्रभाव पड़ा।

पैलेस्टाइन की जन-संख्या

वर्ष	मुसलमान	ईसाई	यहूदी	पूरी आबादी में यहूदियों का अनुपात
१९२२	५८९१७७	७१४६४	८३७९०	११ प्रतिशत
१९३६	८४८३४२	१०६४७४	३७०४८३	२८ प्रतिशत
१९३९	१००००००		४८००००	३२ प्रतिशत
१९४४	१२०००००		५५०,०००	३१.५ प्रतिशत

इस प्रकार हम देखते हैं कि जहाँ सन् १९२२ में यहूदियों की जन-संख्या कुल आबादी की केवल ११ प्रतिशत थी, वहाँ वह सन् १९३९ में ३२ प्रतिशत तक पहुँच गई और अरबों को उपर्युक्त आशंका होने लगी।

पैलेस्टाइन की दूसरी समस्या ज़मीन—बसने योग्य तथा कृषि उपयोगी दोनों—की है। पैलेस्टाइन में जो यहूदी प्रविष्ट हुए, उन्हें वहाँ की स्थायी जनता बनने के वास्ते प्रोत्साहन देने के लिए अपना मकान बनाना तथा अपने हाथों कृषि करना आवश्यक-सा था। आरंभ में तो केवल बंजर और रेतीले मैदान ही यहूदियों को मिले, परन्तु अन्य यहूदियों ने काफ़ी रुपये देकर कृषि उपयोगी ज़मीन भी ख़रीद ली। इस पर अरबों ने बहुत चिल्लपों मचाई। जाँच करने पर पता लगा कि केवल १००० अरब-घरानों ने अपनी ज़मीन बेची थी; क्योंकि उससे वे पर्याप्त अन्न नहीं उपजा सकते थे। उन्हीं अरबों ने फिर समुद्र-तट पर नारंगी के बग़ीचे ख़रीदकर अथाह धन कमाया। आमतौर पर यहूदी स्वयं अपने हाथों या मशीन द्वारा खेती करना चाहते हैं, इसलिए अरब-मज़दूरों को नहीं रखते, परन्तु अरबों को नौकरी देना बिलकुल निषिद्ध नहीं है। इस प्रकार अरबों की मज़दूरी की दर आसपास—विशेषतः मिस्र में—प्रचलित दर से चार गुनी है। सन् १९३२ तक सिंचाई का प्रबंध सुचारु रूप से नहीं हो सकता था, परन्तु उस साल एक यहूदी ने यारमूक और यर्दन नदी के संगम पर एक बहुत बड़ा बिजली का पावरहाउस बनाया जिससे सारे पैलेस्टाइन में बिजली सप्लाई की जाती है। यहाँ तक कि जो यहूदी अपना मकान बनने तक तम्बुओं में रहते हैं, वे बिजली की रोशनी का प्रयोग कर सकते हैं।

इन दोनों कारणों को लेकर अरबों में काफ़ी असन्तोष बढ़ा। पील-कमीशन ने तो पैलेस्टाइन के तीन भागों में विभाजन की सिफ़ारिश की। एक पूर्णरूपेण स्वाधीन यहूदी-राष्ट्र समुद्र-तट और उत्तर में होता, जिसके निवासी अधिकतर यहूदी होते। पैलेस्टाइन का बाक़ी अन्तरंग भाग स्वाधीन अरब-राष्ट्र होता, परन्तु यरुशलम और हायफ़ा ब्रिटेन के अधीन ही रहते और अरबों को समुद्र-तट तक पहुँचने के लिए याफ़ा बन्दरगाह के पास रास्ता मिलता। अरबों और यहूदियों दोनों ही ने इस प्रस्ताव को ठुकरा दिया और सन् १९३८ में यह प्रस्ताव छोड़ दिया गया। फ़रवरी १९३९ में लन्दन में एक कान्फ्रेंस हुई, परन्तु ब्रिटिश सरकार की तजवीज़ों को नामंज़ूर कर दिया गया। फिर १७ मई, १९३९ को ब्रिटेन में एक श्वेतपत्र (White Paper= जिसमें ब्रिटिश सरकार अपने प्रस्ताव पार्लामेंट के सम्मुख पेश करती है) प्रकाशित किया गया। उसमें ब्रिटिश सरकार ने यह स्पष्ट रूप से घोषणा की कि पैलेस्टाइन को एक यहूदी-सरकार बनाने की अब

उनकी नीति नहीं है। उसी प्रकार अरबों को भी एक स्वतंत्र राष्ट्र बनाने की अनुमति नहीं मिली, वरन् एक स्वतंत्र पैलेस्टाइन-सरकार की स्थापना का उद्देश्य प्रकट किया गया, जिसमें अरब और यहूदी दोनों इस प्रकार भाग लें कि दोनों के आवश्यक स्वार्थों की रक्षा हो सके। पैलेस्टाइन के इस स्वतंत्र राष्ट्र की स्थापना यदि सब कुछ ब्रिटेन के लिए सन्तोषजनक हो तो दस वर्ष के बाद (सन् १९४९ में) होगी। आगामी पाँच वर्षों में केवल ७५,००० यहूदियों को पैलेस्टाइन-प्रवेश की अनुमति मिलेगी और कुछ विशिष्ट क्षेत्रों को छोड़-कर यहूदियों को कहीं ज़मीन ख़रीदने की निषेधाज्ञा थी। हाँ, केवल बंजर और रेगिस्तान में विशेष अनुमति प्राप्त कर यहूदी ज़मीन ख़रीद सकते थे। ब्रिटिश सर-कार की यह इच्छा थी कि पैलेस्टाइन में यहूदी कुल जन-संख्या के केवल तृतीयांश रहें।

इस श्वेतपत्र से अरबों और यहूदियों, दोनों को निराशा हुई, और जिनेवा के अन्तरराष्ट्रीय संघ के अभिनिदेश कमीशन ने श्वेतपत्र के प्रस्तावों को ४ विपक्ष और ३ पक्ष में वोटों द्वारा अस्वीकृत कर दिया। युद्ध के कारण मामला वहीं रुक गया।

परन्तु अब युद्ध समाप्त होते ही योरप के प्रताड़ित यहूदियों को शरण प्रदान करने के लिए पैलेस्टाइन-प्रवेश आवश्यक हो गया है। प्रेसिडेंट ट्रूमन ने एक लाख यहूदियों के प्रवेश की तत्काल सुविधा चाही है। यहूदी-संस्थाएँ तो पैलेस्टाइन में यहूदियों के लिए निर्विरोध प्रवेश चाहती हैं और उधर अरब किसी नये यहूदी को आने देने के बिलकुल ख़िलाफ़ हैं। इधर कतिपय यहूदियों ने ब्रिटिश सरकार की सामरिक शक्तियों के होते हुए पैलेस्टाइन में प्रवेश करने का साहस किया है। पैलेस्टाइन में पहले बसे हुए यहूदी उनका हार्दिक स्वागत करते हैं और हर प्रकार की सुविधा देने को प्रस्तुत हैं—यहाँ तक कि अपनी जान भी क़ुर्बान करने को तैयार हैं। ऐसी विकट परिस्थिति में ब्रिटेन ने एक जाँच-कमीशन नियुक्त किया है, जिसमें ब्रिटिश तथा अमे-रिकन सरकार, दोनों के प्रतिनिधि बराबर संख्या में हैं। कमीशन को एक आरज़ी रिपोर्ट तात्कालिक समस्या को सुलझाने के लिए १२० रोज़ में देनी होगी और प्रश्न के स्थायी हल के लिए भी शीघ्रातिशीघ्र अपने प्रस्ताव पेश करने होंगे।

पैलेस्टाइन के प्रश्न को सब दृष्टि से देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि इस प्रश्न की ज़िम्मेदारी अन्तर-राष्ट्रीय संघ की तरह किसी अन्तरराष्ट्रीय संस्था—संयुक्तराष्ट्र-संघटन को अपने हाथ में लेनी होगी। केवल पैलेस्टाइन में ही सब यहूदियों को ठूँसना अरबों के प्रति अन्यायकर होगा। यहूदियों को पैलेस्टाइन में ही नहीं, बल्कि प्रत्येक देश में प्रवेश करने का अधिकार होना चाहिए और साथ ही उनके साथ कोई विद्वेषा-त्मक व्यवहार अवैध माना जायगा। जब तक ब्रिटिश सरकार पैलेस्टाइन में प्रवेश पर नियंत्रण रक्खेगी—मनोविज्ञान के नियमों के अनुसार यहूदी वहाँ प्रवेश करने की चेष्टा करेंगे और यदि अन्य देशों में उनके साथ सभ्यतापूर्वक व्यवहार किया जाय तो वे पैले-स्टाइन में बसने का ख़याल भी नहीं करेंगे; क्योंकि भावना की दृष्टि से पैलेस्टाइन आकर्षक अवश्य है, परन्तु इतना सुविधापूर्ण नहीं जितना अन्य देश।

क्या उसने सच कहा था ?

श्रीवचनसिंह बी० ए०, बी० टी०

'हम लोग हिन्दुस्तानियों की बहादुरी से बहुत खुश हैं।' जाँघ के घाव पर पट्टी बाँधते हुए सुनहले बालोंवाली युवती गोरी मेम ने बूटासिंह से कहा। उसकी बड़ी-बड़ी नीली आँखें बूटा पर शीतलता बरसा रही थीं।

'यह तुम लोगों की उदारता है, सिस्टर!'

'यदि तुम्हारी घरवाली भी इस मैदान में होती तो उसे अपने पति पर गर्व होता।'—वह दूसरे मरीज़ों का मनोरञ्जन करने चली गई।

बूटा को अपनी मा और पत्नी की याद आ गई। सचमुच आज मेरे वीरत्व को देख कृष्णा सोचती कि वह भी किसी की पत्नी है। उसकी छाती फूलकर दुगनी हो जाती। बुढ़िया मा भी कहती कि उसकी कोख से किसी का जन्म हुआ है। लड़कपन में साथियों से लड़ते देख मा बिगड़ जाती थी। उसी लड़ने-झगड़ने का फल है कि आज मैंने अकेले अपनी जान हथेली पर लेकर जर्मन दस्ते को खदेड़ दिया। फ्रांसीसी और अँगरेज मुँह ताकते रह गये। हिन्दुस्तान के बड़े-बड़े हाकिमों को मेरा सम्मान करना होगा। जब गाँव में तमग़ा लगाकर घूमूँगा, तब तालुक़ेदार साहब मेरा रोब मानेंगे। नीच क़ौमों को जो कुछ करने को कह दूँगा, घिघियाकर कर देंगे। उसे हँसी आ गई। फ़ील्ड अस्पताल के अन्य कटलों के चीत्कारों में उसका विचार खो गया।

डेन्यूब के दोनों ओर जर्मनों ने एक प्रबल मोर्चा स्थापित कर लिया था। इस पार कुछ दूरी पर मित्र-सैनिकों का भी शिविर पड़ा था। टैंक और विमानों के अभाव में किसी की भी हिम्मत न थी कि केवल संगीनों के बल पर उनसे भिड़ जाय। जर्मनों को उस पार न खदेड़ने का मतलब था, सारी फ़ौज का सर्वनाश अथवा गिरफ़्तारी। पास में पड़ी अँगरेज़ी और फ्रांसीसी फ़ौजों में साहस न था कि उनके सामने ऐसी परिस्थिति में भी डट जाते। सभी की आँखें भारतीय फ़ौज पर लगी हुई थीं। हिन्दुस्तानी फ़ौज के इस दस्ते में सभी जाति के लोग सम्मिलित थे। अन्ततः इसी टुकड़ी को जर्मनों के मोर्चे पर जाना पड़ा।

'हिन्दुस्तान की जय' के गगनभेदी नारे पास के सभी कैम्पों में गूँज उठे। लोगों को विश्वास हो गया कि जर्मनी दस्ता खदेड़ दिया गया और हिन्दुस्तानियों की जीत हुई। गोरे सिपाहियों को ईर्ष्या होने लगी। इन कालों की बहादुरी पर अपने शिविरों से बाहर होकर गोरे-भूरे सिपाहियों ने देखा, रक्त से नहाये हुए हिन्दुस्तानी सिपाही गीत गाते हुए चले आ रहे हैं। उनके मुँह से अचानक निकल गया, ग़ज़ब के बहादुर होते हैं ये हिन्दुस्तानी भी।

वास्तव में आज की विजय का श्रेय बूटासिंह को था। यदि उसने दिलेरी के साथ, प्राणों का मोह छोड़, शत्रु पर प्रहार न किया होता तो सभी लोग बन्दी हो जाते और आगे के सामरिक महत्व के स्थान पर जर्मनों का अधिकार हो जाता। 'सरदार बूटासिंह की जय' के दूसरे उच्च घोष से आकाश परिप्लावित हो गया। कुछ अँगरेज़ और फ्रांसीसी अफ़सरों और सिपाहियों ने आगे बढ़कर हिन्दुस्तानी सिपाहियों का स्वागत किया। फ्रांसीसी मित्र ब्रेमन ने बूटा को छाती से लगा लिया।

× × ×

पट्टे में गोली लग जाने से बूटासिंह शिविर-अस्पताल में भर्ती हो गया था। चारपाई पर लेटा-लेटा विचार-वीथियों में उलझा रहता। गोरी नर्स की बाँहों में मन न लगकर स्वदेश की शस्य श्यामला भूमि की ओर चला जाता था। कहाँ बंगाल-प्रान्त के भागीरथी कछार में बसा हुआ छोटा-सा हरा-भरा गाँव, कहाँ डेन्यूब की रणभूमि! उस गाँव के एक छोटे घर में उसकी मा और पत्नी रहती हैं। वे सोचती होंगी, बूटा लौटकर आवेगा। कभी-कभी उन्हें निराशा भी होती होगी। नहीं-नहीं मा और बहू ऐसा नहीं सोचतीं। वे अब भी बाट देखती होंगी। रुपया तो प्रत्येक महीने में चला जाता है, खाने-पहनने की कमी होगी ही नहीं। अब लड़ाई भी शीघ्र ही समाप्त हो जाती है और हम शीघ्र घर पहुँच जायँगे।

बूटासिंह!—किसी ने उसके विचारों में बाधा उपस्थित की।

'कौन है ?'—बूटा ने परदे की ओर देखते हुए कहा।

'देखिए कौन है ?' आगन्तुक ने कहा।

'अरे आइए मि० ब्रेमन! बैठिए।'

ब्रेमन सामने के स्टूल पर बैठ गया।

'कहिए' घाव की क्या हालत है ?'

'इसके पुरने में अभी थोड़ी कसर है, कुछ ही दिन में अच्छा हो जायगा।'

'तुम लोग हो बड़ी बहादुर क़ौम।'

'सब भगवान् की दया और आप लोगों की उदारता है।'

'मैं सच कहता हूँ, मेरी फ़ौज की नानी मरी जाती थी कि कहीं हम लोगों को मोर्चे पर न जाना पड़े। ये जर्मन बड़े लड़ाके हैं।'

'हाँ, उनकी बहादुरी में सन्देह नहीं। उनकी बहादुरी का अपमान करना वीरता का अपमान करना है।'

'किन्तु तुम लोग उनसे भी बहादुर हो, आज सभी को मालूम हो गया।'

'तब क्या हिन्दुस्तानियों को तुम लोग साग-पात समझ बैठे थे ?'—बूटा अकड़कर बैठ गया।

'वे इतने बहादुर क्यों हैं ? यही तो आश्चर्य है।' ब्रेमन ने कहा।

'आश्चर्य क्यों है ? वे वीरजाति की संतानें हैं। बाँस की जड़ से बाँस ही उत्पन्न होता है।'

—इस मुहावरे का अर्थ न समझते हुए भी ब्रेमन ने समन्वित अर्थ निकाल लिया।

'निस्सन्देह तुम वीर हो, किन्तु क्यों हो, समझ में नहीं आता।'

'क्यों समझ में नहीं आता ? अभी-अभी उसका प्रमाण उपस्थित कर आया हूँ। यदि अब भी समझ में नहीं आया तो फ्रांसीसियों की बुद्धि को क्या कहूँ ?'

'सारे राष्ट्र का अपमान नहीं कर सकते बूटासिंह'—ब्रेमन तिलमिला उठा।

'तब आगे क्यों नहीं बढ़े ?' बूटा ने व्यंग्य किया।

'ये भाड़े के टट्टू किस दिन काम आते !'

'ख़बरदार ब्रेमन ज़बान बन्द करो'—बूटा चिल्ला उठा।

'हम अपने राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए लड़ रहे हैं। जर्मनी अपने साम्राज्य-विस्तार के लिए अपना सर्वस्व होम कर रहा है। अँगरेज़ अपने साम्राज्य की सीमा सुदृढ़ देखना चाहते हैं। रूस को अपना सन्देशा दुनिया में पहुँचाना है। अमेरिका को हवाई अड्डों और वाणिज्य के लिए बाजारों की आवश्यकता है। जापानी अपनी साम्राज्य-लिप्सा की पूर्ति में युद्धलग्न हैं। और तुम हिन्दुस्तानी, बूटासिंह, बतलाते क्यों नहीं, तुम क्यों लड़ रहे हो ? अपनी छाती पर हाथ रखकर अपनी अन्तरात्मा से पूछो, तुम क्यों लड़ रहे हो। तुम लोगों के प्राणों से हम लोगों के प्राण अधिक मूल्यवान् थे, इसी लिए तुम लोग आगे झोंके गये। बोलो, यदि तुम्हारे तरकस में एक भी प्रत्युत्तर का तीर बाक़ी हो तो निकालो। स्वीकार करो, तुम भाड़े के टट्टू हो।' ब्रेमन का चेहरा क्रोध से लाल हो गया था।

बूटासिंह का हाथ बग़ल के कृपाण पर पहुँचा। वह ग़ुस्से से काँप उठा। घाव की पट्टी टूट गई, उसमें से रक्त बह चला। अब तक ब्रेमन निकल गया था। बूटासिंह ने दाँत पीसकर कहा—हमारी वीरता भी इनको सह्य नहीं। इनके लिए सात समुद्र पार करके, बीवी-बच्चे छोड़कर गोलियों की बौछारों में आ खड़े हुए हैं। इनको शर्म नहीं—कहते हैं, हम भाड़े के टट्टू हैं। वह अपने में काँपकर रह गया।

कुछ देर के बाद उसका ग़ुस्सा शान्त हो गया। अपने फ्रांसीसी मित्र की बातों को ठंडे दिमाग़ से विचार कर रहा था। सचमुच हम लोग किस आदर्श की रक्षा के लिए लड़ रहे हैं ? इससे हमारे राष्ट्र का क्या भला होगा ? राष्ट्रीय विचार लेकर तो हम जूझने भी नहीं आये हैं। ग़ुलामों का देश उनके मालिकों का देश होता है। ग़ुलामों को पहले उसके मालिकों से लड़ना है। यहाँ पर हम भूख से लड़ने आये हैं, ग़रीबी से लड़ने आये हैं। तो क्या हमारे अनेक युवकों के रणक्षेत्र में प्राण-विसर्जन से देश का कल्याण नहीं हुआ ? हुआ ! इसको तो हमारे देश में भी बहुत-से लोग लोकयुद्ध कहते हैं। यदि लोक के लिए हमने अपना रक्त बहाया तो क्या बुरा किया ? लेकिन ब्रेमन के कथनानुसार यह लोक-युद्ध था ही नहीं। यदि हमारे देश का दूसरा मालिक बन बैठता तो क्या होता ? हमारी स्थिति में कोई परिवर्तन न होता। हम जहाँ अब हैं, तब भी वहीं होते। तब व्यर्थ ही गोली का घाव क्यों सहा ? मा-पत्नी दोनों भूखों मर जातीं। तो हमारी क़ुर्बानी का ब्रिटिश सरकार सम्मान करेगी, हमारा रक्त-तर्पण व्यर्थ न जायगा। ब्रेमन का कहना झूठ है—बिलकुल झूठ। हम लोगों ने राष्ट्र को अधिक नृशंस शक्तियों के हाथ में जाने से बचा लिया।

× × ×

ज्यों ही जहाज़ पोर्टसईद से रवाना हुआ, बूटा का हृदय आनन्द से उछल पड़ा। समुद्र की तरंगों की तरह उसके हृदय में भी लहरों के उफान उठने लगे। उसका देश प्यारा भारतवर्ष शीघ्र ही दिखलाई पड़ेगा। उसकी शस्य-श्यामला भूमि बड़े सौभाग्य से मिल रही है। समुद्र की उठती-गिरती लहरों को चीरता हुआ उसका जहाज़ तेज़ी से आगे बढ़ रहा था। उसे अपनी तरुणी पत्नी की खिली हुई जवानी के साथ बूढ़ी मा का स्नेह भी याद आया। मा की गोद में बैठकर अपने जीवन का नया गीत गावेगा। रुपयों का बंडल कृष्णा को दे दूँगा, वह कितना प्रसन्न होगी। कुछ सारियाँ—उसे आसमानी रंग की सारी विशेष पसन्द है—ख़रीद दूँगा। कुछ सुनहरे गहने भी ख़रीदने पड़ेंगे। कृष्णा रानी कहा करूँगा। मा को तो अब सफ़ेद सारियों की ही आवश्यकता है। 'हिन्दुस्तान की जय' के निर्घोष से जहाज़ गूँज उठा। बूटा ने देखा, जहाज़ कराँची बन्दर को छू रहा था। उसने दोनों हाथ जोड़कर स्वदेश को बड़ी श्रद्धा से नमस्कार किया। बम्बई, मद्रास होता हुआ उसका जहाज़ डाइमंड हारवर पर आ लगा। ज़मीन पर पैर रखते ही मातृभूमि का रजकण मस्तक पर चढ़ाया।

कलकत्ता शहर के बाहर कुछ दूर पर ही उसका गाँव भी स्थित है। शहर में पहुँचते ही, उसकी सारी कल्पनाएँ काफ़ूर हो गईं, उसके सपने के भवन ढहकर चकनाचूर हो गये। उदास कलकत्ता एक विचित्र अवस्था में पड़ा-पड़ा कराह रहा था। कृत्रिम उपकरणों से सजा हुआ शहर भीतर से छटपटाता मालूम पड़ा।

शहर से बाहर कृत्रिम आवरण दूर होते ही उसे सारी स्थितियाँ स्पष्ट रूप से गोचर होने लगीं। मार्ग में स्थित गाँव भायँ-भायँ कर रहे थे। अनेक घरों में ताले बन्द थे और कितने तो यों ही खुले हुए श्रृगालों तथा अन्य वन्य पशुओं के लीला-स्थल बन गये थे। एक अप्रत्याशित आशङ्का से उसका हृदय काँप उठा। अपनी कुटिया के द्वार पर पहुँचते ही धकधकाते हुए हृदय से दरवाज़ा थपथपाया।

'भैया, मेरी बची-खुची लाज भी लूटने आये हो क्या?'—भीतर से एक दरिद्र वाणी आ रही थी।

बूटा की समझ में कुछ नहीं आया। उसे भ्रम हुआ कि कहीं वह दूसरे के द्वार पर तो नहीं खड़ा है। किन्तु यह उसका कोरा भ्रम था।

'अरे, खोल दो।'—बूटा ने फिर कहा।

'नहीं खोलूँगी। मुझे सारी न चाहिए।'—विवशता से दीन वाणी चीख़ रही थी।

'तुम भूल गईं क्या कृष्णा?'

'मुझे याद करने की आवश्यकता नहीं है। हमें अन्न-वस्त्र कुछ नहीं चाहिए।'

'अरी बूटा है, पागल!'

वह लजा गई। उसने अर्गला खोल दिया। उसने देखा, अत्यधिक स्थानों पर फटे बदबूदार गन्दे कपड़े में लिपटी हुई कंकाल कृष्णा को। 'मा कहाँ है?'—उसने चारों ओर दृष्टि घुमाई।

'भूख से तड़प-तड़पकर बंगाल के सहस्रों प्राणियों के साथ चल बसी।'

'भला, सब कितने आदमी मरे होंगे कृष्णा?'

'सुना जाता है, केवल पैंतीस लाख।'

'पैंतीस लाख!' उसके मुख से चीख़ निकल गई।

उसके मस्तिष्क में फिर विचारों के तूफ़ान उठने लगे। हम लोगों ने सोचा था कि हिन्दुस्तान की रक्षा अपने प्राणों को होम करके करेंगे। की भी। किन्तु उससे क्या हुआ? पूरब-पश्चिम किसी भी दिशा से शत्रुओं का भारत में प्रवेश हमारे कारण ही न हो सका। फिर भी इतने आदमी मर गये। जितने आदमी किसी युद्धरत देश में बम तथा अन्य भयानक शस्त्रों से नहीं मरे, उतने हमारे देश के केवल एक प्रांत में भूखों मर गये। महामारी-प्लेग इत्यादि बीमारियों की बात ही छोड़िए। हम लोगों ने देश की क्या यही रक्षा की?

क्या ब्रेमन ने ठीक कहा था? क्या उसने सच कहा था?

फिल्मस्टारोंकी तरह त्वचा की रक्षा कीजिये!
रमोला
रमोला कहती है कि उसकी त्वचा उसके लिये सबसे पहली बात है।
उसको वह लक्स टॉयलेट साबुन के रोज़ाना इस्तेमाल से बहुत ही
निर्मल और मुलायम रखती है। "मेरे सौंदर्य प्रसाधन की यह
सरल रीति है"—यह उसका कहना है, और साथ ही दावा है
कि इस शुद्ध और खुशबूदार साबुनके तेज फेनसे किसी भी
स्त्री की त्वचा मुलायम, सुकोमल और निर्मल हो सकती है!
LUX
TOILET SOAP
लक्स टॉयलेट साबुन
LEVER BROTHERS (INDIA) LIMITED
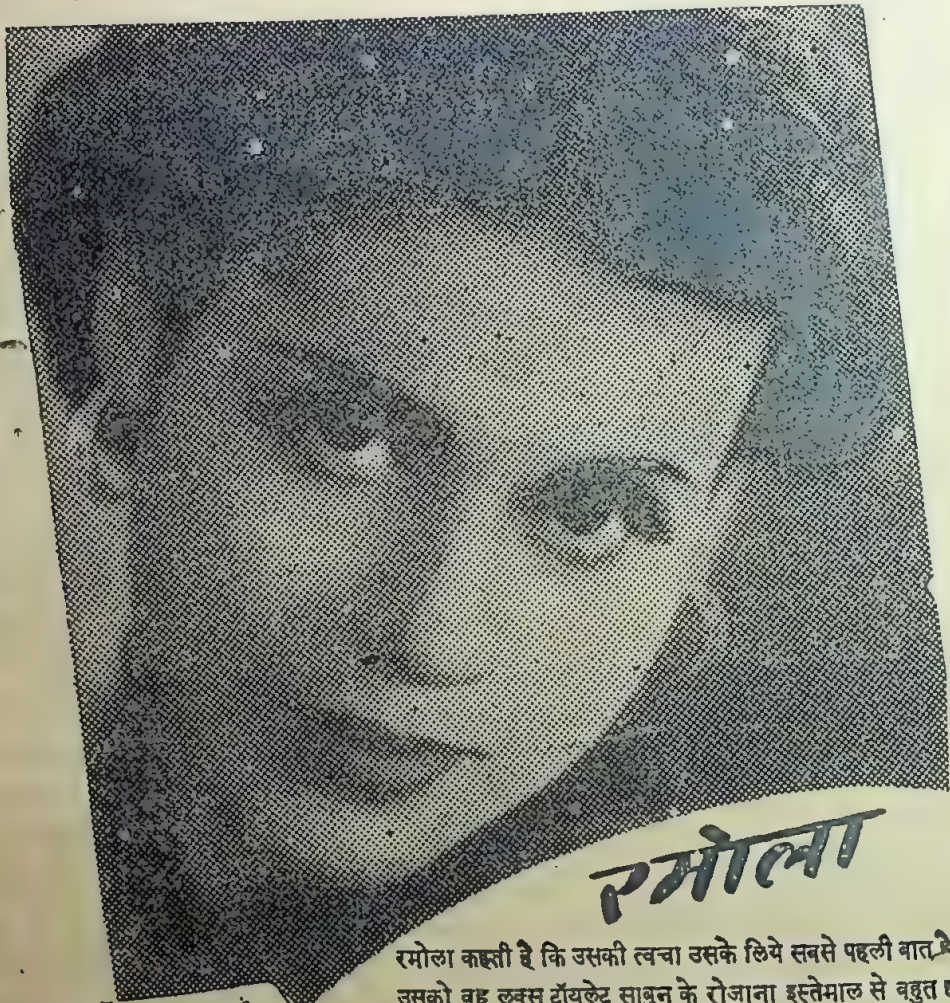
सीतापुरीय हिन्दी-साहित्य का इतिहास

त्रिवेदी पं० अखिलेश शर्मा साहित्यरत्न

पुण्य-क्षेत्र आर्यावर्त में अवध-मण्डलान्तर्गत सीतापुर ज़िले का इतिहास बहुत प्राचीन है। कलकल-निनादिनी, पुण्य-तोया गोमती गंगा इसी ज़िले को अपनी सुधा-धारा से अविरत सिंचित कर रही हैं। यह पवित्रतम भूमि नैमिषारण्यान्तर्गत है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह अत्यन्त प्राचीन तपोवन है। काठकसंहिता, कौषीतकी ब्राह्मण, जैमिनीय ब्राह्मण और छान्दोग्य उपनिषद् तक में नैमिष का वर्णन मिलता है। इसी पुनीत पृथ्वी पर विद्यानुरागी, तत्त्वान्वेषी, धर्मप्राण ८८ सहस्र ऋषियों का संघ एकत्र होकर गीर्वाणगिरा की आराधना दत्त-चित्त से करता रहा है; यहीं पर शौनकादि मुनियों ने विद्या, धर्म की चर्चा करके श्रीसूतजी से प्राचीनतम ऐतिहासिक ज्ञान उपलब्ध किया था। इसी पावन स्थल पर भगवान् बादरायण ने वेदों का सम्पादन करके व्यास की पदवी प्राप्त की थी तथा महाभारत, ब्रह्मसूत्र एवम् अष्टादश पुराणों का निर्माण किया था। यहीं पर महर्षि वैशम्पायन ने अखिल-विद्या-वारिधि भारत की कथा का गम्भीर अध्ययन किया था तथा विश्व को आध्यात्मिक-संदेश-दायिनी, कर्मयोग-शिक्षिका श्रीमद्भगवद्गीता की सुन्दर शिक्षा भी महामुनियों ने यहीं पर महर्षि से प्राप्त की थी। अतः यह निर्विवाद सिद्ध है कि संस्कृत-साहित्य की जैसी स्रोतस्विनी इस मेदिनी पर प्रवाहित हुई है, वैसी कदाचित् ही भारतवर्ष के किसी अन्य स्थान पर बही हो। साहित्य-वाटिका के लिए पुरातन काल से यह भूमि परम उर्वरा रही है। इसमें अणुमात्र संदेह नहीं है कि वैदिक काल से लेकर पौराणिक काल तक यह द्रव्य-यज्ञों और ज्ञान-यज्ञों का केन्द्र रही है।

धार्मिक जगत् में महाप्रभु वल्लभाचार्य का समय हिन्दी के लिए स्वर्ण-युग समझा जाता है। महात्मा सूरदास प्रभृति अष्टछाप के कवियों ने व्रजमण्डल में बैठकर व्रजभाषा की ऐसी रसीली तान छेड़ी, जिसकी सहज माधुरी से मुग्ध होकर आज भी मानव-समुदाय ब्रह्मानन्द का अनुभव करता है, परन्तु यह बात गुप्त नहीं है और प्राचीन इतिहासज्ञ इससे अनभिज्ञ नहीं हैं कि कविवर नरोत्तमदास-सरीखे सुकवि उस समय भी (सं० १५८२ वि०) अपनी 'सुदामाचरित' की रचना से इस वसुन्धरा को यशस्वी बना रहे थे। पं० नरोत्तमदासजी कान्यकुब्ज ब्राह्मण और सिधौली तहसील के समीपस्थ बाड़ी क़स्बे के निवासी थे। उनका समय सं० १५४० वि० से लेकर सं० १६०३ वि० तक माना जाता है। उनकी रचना में स्वाभाविकता और सादगी है। उनकी व्रजभाषा स्वच्छ, प्राञ्जल, मधुर तथा प्रसादपूर्ण है। उन्होंने सुदामा की दीनता और कृष्ण की मित्रता, निरभिमानता का सरस चित्रण किया है; इसके टक्कर की कविता अन्यत्र बिरल है। उनकी यही एक छोटी-सी पुस्तिका उनको महाकवि मानने और उनकी कीर्ति को अक्षुण्ण रखने के लिए बाध्य करती है। इसमें भाव-पक्ष के साथ-ही-साथ कला-पक्ष का भी सुन्दर समन्वय है।

भारतीय इतिहास में अकबर-काल ललित कलाओं के लिए प्रसिद्ध है। किन्तु गर्व की बात है कि उनके ख्यातनामा दरबारी कवि नरहरिजी इसी ज़िले के बाड़ी क़स्बे में जन्मे थे, जिन्होंने निम्नांकित छप्पय रचकर अकबर से गो-वध बन्द कराने का विधान बनवा दिया था। नरहरिजी सम्भवतः बन्दीजन महापात्र थे। उनके वंशज अब असनी ज़िला फ़तहपुर में रहते हैं—

> तृन जु दन्त तर धरत, तिनहिं मारत न सबल कोइ।
> हम निसिदिन तृन चरहिं, बैन उच्चरहिं दीन होइ॥
> हिन्दुहिं मधुर न देहिं, कटुक तुरकहिं न पियावहिं।
> पय बिसुद्ध अति स्रवहिं, बच्छ महि थम्भन जावहिं॥
> सुनु साह अकब्बर अरज यह, कहति गऊ जोरे करन।
> सो कौन चूक मोहिं मारियतु, मुए चाम सेवहिं चरन॥

पठित समाज में कदाचित् ही कोई ऐसा अभागा मनुष्य होगा, जो राजा टोडरमल के नाम से परिचित न हो। वह मुग़ल-सम्राट् अकबर के अर्थमंत्री और नवरत्नों में से थे। वह जाति के खत्री और इसी ज़िले के प्राचीन क़स्बा लहरपुर में सं० १५८० वि० में उत्पन्न होकर सं० १६४६ वि० को स्वर्गवासी हुए थे। उनके वंशज सम्प्रति लहरपुर में विद्यमान हैं। उन्होंने भूमि-सम्बन्धी अनेक नियम निर्धारित किये थे, जिनका प्रचलन आज भी है। वह राजनीतिक व्यक्ति होते हुए कवि भी थे।

इसके अनन्तर (सं० १८४० वि०) चौधरी उम-

रावसिंह तालुक़दार बिसवाँ में हुए। वह बड़े ही उदार, गुणग्राहक और स्वयं भी कवि थे। उन्होंने 'रसचन्द्रिका' ग्रन्थ की रचना की थी। वह सुकवि सुबंस शुक्ल के आश्रयदाता थे। सुबंसजी ने सं० १८६५ वि० को चौधरी साहब के नाम पर 'उमराव-कोश', उमरावशतक और उमराव-प्रकाश का निर्माण किया था। उमराव-सिंह का निधन अनुमानतः सं० १८८० वि० के आस-पास हुआ था। इसके पश्चात् अनुमानतः सं० १८८० वि० के लगभग पीरनगर में पं० ईश्वरीप्रसाद त्रिपाठी ने जन्म लेकर सं० १९१६ वि० में वाल्मीकीय रामायण का छन्दोबद्ध अनुवाद 'रामबिलास' नाम से प्रस्तुत किया। हमें रामबिलास देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ है। उसकी कविता अच्छी है। ठाकुर शिवसिंह सेंगर और मिश्रबन्धुओं ने भी अपने-अपने इतिहास-ग्रन्थों में आपकी कविता की प्रशंसा की है। इसी बीच सं० १८९० वि० में ठाकुर शंकरसिंह बर-गाँवाँ और ठा० गणेशबख्श रामपुरमथुरा प्रसिद्ध साहित्यसेवी हुए। श्रीशंकरसिंहजी ने संस्कृत के 'महिम्न-स्तोत्र' का व्रजभाषा के कवित्त-सवैया में अविकल अनु-वाद किया था, जिसमें उनको पूर्ण सफलता मिली है। यह अनुवाद हमारे पुस्तकालय में है। इसके सिवा उनके कुछ फुटकर छन्द भी हैं, जिनसे वे सत्कवि जान पड़ते हैं। गणेशबख्श यद्यपि अच्छे कवि न थे, परन्तु हिन्दी की उन्नति के लिए प्रयत्नशील अवश्य थे।

भारत-रत्न, कवीन्द्र, द्विज बलदेव के नाम से समस्त हिन्दी-संसार पूर्णतया अभिज्ञ है। आपका जन्म सं० १८९७ वि० कार्तिक कृष्ण १२ को दासापुर में पं० व्रजलाल अवस्थी के यहाँ हुआ था। उन्होंने काशी में निजानन्द सरस्वती से काव्य की शिक्षा ग्रहण करके सं० १९२६ वि० में रामपुरमथुरा के तालुक़दार ठा० रुद्रप्रतापसिंह के नाम पर 'प्रताप-विनोद' रीतिग्रन्थ की रचना की थी। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्रजी ने आपकी कविता पर मुग्ध होकर आपको भारत-रत्न की उपाधि से विभूषित किया था तथा महारानी विक्टोरिया की हीरक जुबिली के अवसर पर तत्कालीन वाइसराय ने आपको सुकवि होने का प्रमाण-पत्र प्रदान किया था, जो सम्प्रति उनके सुपुत्र चक्रधरजी के पास सुरक्षित है। बलदेवजी की प्रतिज्ञा थी, 'दीजिए समस्या तापै कवित्त बनाऊँ चट कलम रुकै तौ कर कलम कराइए'। अनेक स्थानों पर आपके इस आशु-कवित्व की परीक्षा ली गई, जिसमें भगवती की कृपा से आप सदैव ही उत्तीर्ण रहे। आपने अपनी विद्वत्ता और कविता ही के बल से कोई २२०० बीघे भूमि अर्जित की थी और राजा-महा-राजाओं के यहाँ से सम्मानपूर्वक भेंट और ख़िलअतें प्राप्त की थीं। आपने अन्योक्तिमहेश्वर, हीराजुबिली, चन्द्रकला, व्रजविहार, प्रेम-तरंग, प्रतापविनोद, शृंगार-सुधाकर, शृंगारसरोज, मुक्तमाल, बलदेवविचारार्क इत्यादि अनेक परमोपयोगी ग्रन्थ रचे। अब भी आपके कई अप्रकाशित ग्रन्थ पड़े हैं। आपकी कविता में तन्मयता विशेष रूप से पाई जाती है, जिसमें प्रेम की पीर मुख्य है। आप प्रबन्धकाव्य भी लिख सकते थे। उनका एक छन्द पढ़िए—

मति अति आपकी अबल अबला-सी लगै,
सागर-सनेह को न पैरि पार पावैगी।
खोलिए न जीह अरु लीजिए न नाम इत,
बलदेव व्रजराजजू की सुधि आवैगी॥
सुनतहिं प्रलय-पयोधि माहिं एक ऐसी,
कहर करनवारी लहर सिधावैगी।
राधे दृग-सलिल-प्रवाह माहिं आज ऊधो,
रावरे समेत ज्ञान-गाथा बहि जावैगी॥

बलदेवजी का देहावसान सं० १९७७ वि० को हुआ था। आपके सुपुत्र गंगाधर अवस्थी 'द्विज गंग' भी एक सत्कवि थे, जो सं० १९३२ वि० में जन्मे थे। उन्होंने 'प्रमदा-पारिजात', 'शृंगारचन्द्रिका' और 'महेश्वरभूषण' इत्यादि ग्रन्थ रचे थे। 'महेश्वरभूषण' अलंकारों का ग्रन्थ है। इसकी रचना सं० १९५२ वि० में हुई थी। इस पर कवि को श्रीमहेश्वरसिंह रामपुरमथुरा से पुरस्कार में १०००), एक गाँव तथा एक हाथी मिला था। वह गाँव अब भी द्विज गंग के सुपुत्र के अधिकार में है। खेद है, प्रमदापारिजात नायिकाभेद का ग्रन्थ अप्रकाशित ही पड़ा है। द्विज गंग की मृत्यु सं० १९६७ वि० को हुई थी।

सीतापुर-प्रान्त में गन्धौली गाँव का भी ऐतिहासिक महत्त्व है। महाराज नन्दकिशोरजी मिश्र 'लेखराज' ने इसमें निवास करके इसको अमर कर दिया। उन्होंने सं० १९०७ से १९३५ वि० तक रसरत्नाकर, राधिका-नखशिख, लघुभूषण और गंगाभरण, इन चार ग्रन्थों की रचना की थी। गंगाभरण उत्कृष्ट ग्रन्थ है। यह सं० १९३५ वि० में बना था। इसमें गंगाजी पर ही समस्त अलंकार घटाये गये हैं। काव्य-जगत् में इस शैली का ग्रन्थ केवल शिवराजभूषण ही है। लेखराजजी को ललित

कलाओं से भी प्रेम था। वे फ़ारसी के फ़ाज़िल, उर्दू के उस्ताद, संस्कृत के पंडित, हिन्दी के कवि, संगीत के ज्ञाता और चतुर चित्रकार थे। उनका जन्म वैशाख-कृष्ण ३० सं० १८८८ वि० और निधन शिवरात्रि सं० १९४९ वि० को हुआ था। उनके ग्रन्थों में केवल गंगाभरण ही मुद्रित है और शेष अलमारियों में बन्द दीमकों का खाद्य बन रहे हैं।

हर्ष का विषय है कि आपके दोनों पुत्र पं० लाल-विहारी मिश्र 'द्विजराज' एवम् युगलकिशोर मिश्र 'व्रज-राज' भी भारत के प्रतिष्ठित कवियों में गिने जा चुके हैं। प्राचीन ग्रन्थों का संग्रह भी आपके यहाँ अभूतपूर्व है। द्विजराजजी का जन्म सं० १९०९ वि० में हुआ था और सं० १९६३ वि० में वे गोलोकवासी हुए। आपने दुर्गाष्टक, कालिकाष्टक और कुछ फुटकर कविताएँ निर्माण की थीं। वे अपनी कविता में रसात्मकता लाने में समर्थ हुए हैं। उनका निम्नांकित छन्द कितना सुन्दर है—

सिर मौर है मोर के पंखनि को,
जेहि सों दिननाथ छले गये हैं।
दग लोने मृगान के मान दहैं,
दल नीरज नीर दले गये हैं॥
तन साँवरो अम्बर पीरो लसै,
मनौ दामिनी मेघ मले गये हैं।
गुन दै 'द्विजराज' गयन्दनि को,
यहि ओर ये कौन चले गये हैं॥

आपके कनिष्ठ भ्राता श्रीव्रजराज का जन्म सं० १९१७ वि० को हुआ था और सं० १९७४ वि० को वे परम-धाम गये थे। उनकी विद्वत्ता बहुत उच्च कोटि की थी। वे अगड़धत्त आलोचक भी थे। तत्कालीन कवि-समाज में वे गुरुवत् माने जाते थे। जोधपुर के कविराजा मुरारि-दान और काशी के महाकवि सेवक उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते थे। पूज्यपाद मिश्रबन्धु भी आपसे प्रभा-वित थे। आपने दशांग काव्य पर 'साहित्य-पारिजात' ग्रन्थ का प्रणयन प्रारम्भ किया था, परन्तु आकस्मिक मृत्यु हो जाने के कारण वह अपूर्ण ही रह गया। हमने साहित्य-पारिजात का अवलोकन किया है। वह बड़ा ही उपादेय ग्रन्थ बन रहा था। व्रजराजजी में मौलि-कता ख़ूब थी; उनकी भाषा भी मधुर है। उनका एक छन्द देखिए—

वारि चुके तन रूप कथा सुनि,
औ मन चित्रहु के लहिबे पर।
सापने मैं धन वारि दियो,
पहिराय छला छिगुनी गहिबे पर।
रोक्यो जु तैं व्रजराजहि वा दिन री,
मुख चूमन के चहिबे पर।
ना कहिबे पर वारे हैं प्रान,
कहा अब वारि हैं हाँ कहिबे पर॥

लेखराज-काल में ही राव मुनीश्वरबख्शसिंह, राजा महेश्वरबख्शसिंह मल्लापुर और रामपुरमथुरा में सिंहासनारूढ़ होकर हिन्दी के भण्डार को भरने में तन्मय हो रहे थे। ये दोनों नरेश स्वयं भी कवि, उदार और गुणग्राहक थे। महाकवि लछिराम अयोध्या-वासी ने उभय राजाओं के नाम पर 'मुनीश्वर-कल्पतरु', 'महेश्वर-विलास' रीतिग्रन्थों की रचना सं० १९४७ वि० में की थी। श्रीमहेश्वरबख्श के दरबार में श्याम-सुन्दर शुक्ल (असनी), मंगलदास (पैंतेपुर) और द्विज गंग आदि कवि आश्रित थे। श्याम कवि ने उनके नाम पर 'महेश्वरसुधाकर' ग्रन्थ सटीक लिखा था। महेश्वरजी ने स्वयं 'महेश्वर-चन्द्रिका' और 'महेश्वर-गो-गज-चिकित्सा' पुस्तकें प्रणीत की थीं। महेश्वर-गो-गज-चिकित्सा दोहा और चौपाइयों में है। आपका अधोलिखित छन्द अच्छा बन पड़ा है—

संक सहेट सिधाई सनेह सा,
जा छन देह बिदेह दरै लग्यो।
मन्द गती तजि मान महेस्वर,
पन्थ उतायलो पाँय परै लग्यो॥
भेंट भटू न भई ब्रजचन्द सों,
नैननि नीर को भार भरै लग्यो।
जात में मानौ बसन्त को बासर,
आवत में मग जेठ जरै लग्यो॥

प्रातःस्मरणीय भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के अभिन्न-हृदय मित्र स्व० सेठ सीताराम साहब ताल्लुक़दार कोटरा (राजा महेश्वरदयाल के प्रपितामह) स्वयं कवि और साहित्यसेवियों के परम भक्त थे।

सं० १९५० वि० में द्विजशुक्ल गजाधर पाताबोम्फ ने 'बलदेवकल्पतरु', 'जगदीशविनोद' और रघुवंशतिलक रच कर हिन्दी की सेवा की। शुक्लजी का रघुवंश का अनुवाद दोहा-चौपाइयों में है, जो ललित है। उसमें भी उनको यथेष्ट सफलता मिली है। इससे उनका लक्ष्य प्रबन्ध-काव्य की ओर भी लक्षित होता है। शुक्लजी यद्यपि उत्तम कवि न थे, परन्तु काव्य के पंडित और अच्छे अनुवादक अवश्य थे। इसके तीन ही वर्ष बाद सं०

१६६३ वि० में पं० रघुवीरप्रसाद पैंतेपुरी ने नैमिषारण्यमाहात्म्य दोहा-चौपाइयों में प्रस्तुत किया, जो पठनीय है। इसी समय सीतापुर के प्रसिद्ध साहित्यिक स्थान बिसवाँ से स्व० पं० देवीदत्त त्रिपाठी 'दत्त-द्विजेन्द्र' ने कविता-सम्बन्धी त्रैमासिक पत्र 'काव्य-सुधाधर' को जन्म दिया, जो कुछ ही वर्ष बाद मासिक हो गया था। स्व० नाथूराम शर्मा शंकर, कविराज लछिराम अयोध्या-सदृश महाकवि इसके लेखक थे। यह पत्र अपने समय के प्रमुख पत्रों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता था। स्व० त्रिपाठीजी ने इसका सम्पादन साहित्य-सेवा ही के विचार से किया था। वह इस पत्र का संचालन उस समय करते थे, जब प्रेस इत्यादि अल्प संख्या में थे। [illegible] बिसवाँ-जैसी बस्ती में, जहाँ प्रत्येक प्रकार की असुविधा हो, सचमुच यह बड़े साहस का काम था। यह उनकी सच्ची लगन ही का परिणाम था, जो काव्यसुधाधर लगभग छः वर्ष तक सुचारु रूप से चलता रहा।

दत्त द्विजेन्द्रजी का एक कविमण्डल भी था, जिसके वे प्रधान मंत्री थे। उसके सभासद् और लेखक ठा० अनिरुद्धसिंह जैपारपुर, ठा० रामेश्वरसिंह 'श्रीनिधि' परसेंडी, जंगलीजी, द्विज बलदेवजी, द्विजगंगजी, ठा० दुर्गासिंह 'आनंद' दिकोलिया, लाला बेनीमाधव गुप्त, पं० चन्द्रिकाप्रसाद सुकुल, पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा सुरेश, पं० रामदुलारे गुरुसन्त, पं० कालिकाप्रसाद मिश्र, मुं० हरदेवबख्श पीरनगर, पं० भगवानदीन मिश्र 'दीन' ख़ैराबाद, ठा० गजराजसिंह कैमहरा और ध्वजराज मिश्र गन्धौली इत्यादि महानुभाव थे। पं० देवीदत्तजी का जन्म सं० १६२८ वि० को हुआ था और वह अनुमानतः सं० १६६७ वि० में पंचत्व को प्राप्त हुए। आपकी कविता भी सरस होती थी और आपको आलोचना का भी ज्ञान था। तत्कालीन कवि-समाज में वे प्रतिष्ठा की दृष्टि से देखे जाते थे।

हमको अपने ज़िले की तहसील मिसरिख का भी ऐतिहासिक अभिमान है; क्योंकि यह शिवसिंहसरोज में अच्छा स्थान पा चुकी है। ठा० गजराजसिंह पँवार इसी तहसील मिसरिख के कैमहरा गाँव के रईस थे, जो सं० १६२२ वि० में जन्म लेकर सं० १६७२ वि० में बैकुण्ठवासी हुए थे। उन्होंने 'अजिरविहार' और 'घनश्याम घुनघुनियाँ' दो पुस्तकें सं० १६६८ वि० में लिखी थीं, जिनमें उनका भक्तहृदय बोल रहा है। आपकी ब्रजभाषा मधुर और परिमार्जित होती थी। आपने लीलापुरुषोत्तम भगवान् कृष्ण की बाल-लीलाओं का बड़ा ही हृदयहारी वर्णन किया है। आप फ़ारसी और रमल भी जानते थे। आपके सहोदर भ्राता बा० भारतसिंहजी भी कविता करते थे। गजराजजी के एक छन्द की बानगी लीजिए—

> नित नन्द के आँगन गोपन के गृह,
> 	दूध दही ढरकावहि को।
> खल मारन के हित चक्र धरे,
> 	भुज भारिन को फरकावहि को॥
> अति दीन दुखीन की देखि दसा,
> 	बल आपनो दै परकावहि को।
> गजराज गुनाह की गाठरिया,
> 	गिरिधारी बिना सरकावहि को॥

संसार में लोकैषणा और वित्तैषणावाले कवियों की अपेक्षा एकान्त साहित्यसेवी अधिक प्रशंसार्ह होते हैं; क्योंकि वे स्थायी साहित्य का सर्जन करते हैं। कविवर दीनजी ख़ैराबादी और ठा० रामेश्वरबख्श श्रीनिधि इसी कोटि के जीव थे। दीनजी नाम और यश के भूखे नहीं थे; वे बड़े ही स्वाभिमानी, निर्भीक प्रकृति के प्राणी थे। ब्रजभाषा पर उनका अच्छा अधिकार था। समस्यापूर्ति में इतने प्रवीण थे कि एक ही समस्या की पूर्ति शान्त, शृंगार और हास्यरस में कर देते थे। वे दीन होते हुए भी आगत कवियों का आतिथ्य जी खोलकर करते थे। सूमों के ऊपर आपकी उक्तियाँ चोखी हैं। प्रत्युत्पन्नमति इतने थे कि स्वर्गीय बा० जगन्नाथदास रत्नाकर के पूछने पर आपने अपना उपनाम अगस्त्य बताया था। आपने एक रामायण भी लिखी थी। शोक है, हिन्दी-संसार ने ऐसे कविरत्न को अब तक नहीं पहचाना और न उन्हें प्रकाश में लाने का किसी ने उद्योग ही किया। उनके कवित्तों का एक संग्रह भी न छप सका। दीनजी के छन्दों की पोथी ख़ैराबाद के पं० गोकरनदत्तजी चतुर्वेदी 'दत्त' के पास रहती थी; क्योंकि वे उनके पड़ोसी थे। परन्तु दत्तजी की आकस्मिक मृत्यु के साथ ही वह लुप्त हो गई। दीनजी का जन्म सं० १६११ वि० को हुआ था। सं० १६६१ वि० को ८० वर्ष की अवस्था में वे दिवंगत हुए। उनका निम्नांकित छन्द कितना बढ़िया है—

> मोतिन के गजरा पहिरावत,
> 	सौतिन के नित नेह सने रहैं।
> मान किये कछु लाभ नहा,
> 	दिन ही दिन होत अकाज घने रहैं॥

दीन कहै इतनो चहिए निज,
दासिन में लघु मोहिं गने रहैं ।
आनँदकन्द भरे छलछन्द,
हितू ब्रजचन्द अनन्द बने रहैं ॥

एकान्त साहित्य-सेवियों में श्रीजंगलीजी और बाबू बलदेवप्रसादजी टण्डन 'विशारद' ख़ैराबाद दो मूर्तियाँ और अवशिष्ट हैं। जंगलीजी का जन्म सं० १९१५ वि० को पैंतेपुर में हुआ था, परन्तु अब आप परसेंडी में निवास करते हैं। वृद्ध होते हुए भी आपकी वाणी में लोच है। आप एक कुशल काव्यमर्मज्ञ हैं और प्राचीन साहित्य का आपको ज्ञान है। आपकी भाषा में मार्दव है; शृंगारी कविता लिखने में पटु हैं। उनका नीचे लिखा हुआ छन्द द्रष्टव्य है—

सखिन ते देखति रही हौं निज आँखिन ते,
धोवति रही हौं कहौं भाखि न लबारी मैं।
कोऊ पट आजु लौं हिरानो न बिरानो दियो,
जिन्हैं जैव जैसो तैसो दियो सुकुमारी मैं ॥
श्वेत ही कंचुकी में आई अरुनाई कहै,
जंगलीजू दई चारु उज्ज्वल सँवारी मैं।
मान न हठीली रजकिनि यौं निवेदै खरी,
सिगरी बुझाओ समुझाय कहि हारी मैं ॥

श्रीविशारदजी ने सं० १९३२ वि० को खैराबादस्थ खत्री-परिवार में जन्म लिया है। आपने यूनीवर्सिटी तक की शिक्षा प्राप्त की है; घनाक्षरी लिखने में कमाल करते हैं। आपकी भाषा में स्वच्छता, सरसता और कोमलता है; कर्णकटु शब्द ढूँढ़ने से भी नहीं मिलेंगे; भावों में मौलिकता है। आपने आँखों की आकुलता का कितना मर्मस्पर्शी वर्णन किया है—

मीन जलहीन त्यों कमलिनी मलीन अति,
पंख ते रहित भ्रमरी हू कहीं जायँगी।
जालगत दीन खरी खीन हरिनी त्यों हाय,
खंजन खराब हाल जोरी ठहरायँगी ॥
कहत बिसारद चकोरी बिय भोर ही कीं,
सहज सुरीति सौं बिचार बीच आयँगी।
अँखियाँ अभागिनी ये रावरे दरस बिन,
देखिए उपाधियाँ न कौन-कौन पायँगी ॥

कहाँ तक कहें; हमारे ज़िले के एक-दो नहीं, अनेक प्राचीन साहित्यिकों ने हिन्दी-माता की सेवा करके उसकी श्रीवृद्धि की है, जिनकी नामावली इस छोटे-से लेख में आना असम्भव है, स्थालीपुलाक-न्याय से ऊपर कुछ दिग्दर्शन-मात्र करा दिया गया है।

अब यदि आधुनिक काल पर दृष्टि डाली जाय तो भी अन्य प्रान्तों की अपेक्षा आज भी यह प्रान्त हिन्दी-पूजा में अग्रणी है।

वर्तमान समय में श्रीलेखराजजी के पौत्र गन्धौली के स्वनामधन्य पंडितप्रवर कृष्णविहारीजी मिश्र बी० ए०, एल्-एल्० बी० इसी ज़िले के देदीप्यमान रत्न हैं, जो स्व० आचार्य रामचन्द्रजी शुक्ल के टक्कर के समालोचक, साहित्य-निष्णात हैं। आपकी साहित्य-सेवा और विद्वत्ता संसार-प्रसिद्ध है। आपके उद्योग से सीतापुर में सम्मेलन-परीक्षा का केन्द्र बन गया है। आपने गन्धौली से 'समालोचक' पत्र भी निकाला था। इसके अतिरिक्त 'आज' और 'माधुरी' का कई वर्षों तक सम्पादन कर चुके हैं। काव्य-मर्मज्ञता की क्षमता आपमें अद्वितीय है। प्राचीन साहित्य का जितना ज्ञान आपको है, उतना स्यात् ही किसी को हो। दशांग-काव्य पर आपका अध्ययन गम्भीर है; जिसका आभास आपके सम्पादित ग्रन्थों में मिलता है। आपके 'देव और विहारी' तथा 'मतिराम-ग्रन्थावली' दो प्रसिद्ध ग्रन्थ विश्वविद्यालयों में पाठ्य-ग्रन्थ हैं। इनके अतिरिक्त 'नटनागर-विनोद', 'मोहन-विनोद' और 'नवरस-तरंग' का भी आपने विवेचनापूर्ण सम्पादन किया है। मिश्रजी तुलनात्मक समालोचना करने में सिद्धहस्त हैं। आपके ज्येष्ठ पुत्र पं० ब्रजकिशोर मिश्र एम्० ए० भी हिन्दी के सुलेखक एवं विवेचक हैं। पं० कृष्णविहारी मिश्र का जन्म श्रावण-बदी ६ सं० १९४७ वि० को हुआ था।

हिन्दी के उद्भट विद्वान् पं० अनूप शर्मा एम्० ए०, एल्-टी०-जैसे सुकवि इसी ज़िले के नबीनगर गाँव में विद्यमान हैं, जिनके जोड़ का कवि भारतवर्ष में मिलना कठिन है। अनूपजी हिन्दी के इने-गिने कवियों में हैं। खड़ीबोली के साथ ही ब्रज-भाषा पर भी अखण्ड अधिकार है। आपके 'कुनाल', 'सिद्धार्थ', 'फेरि मिलिबो' और 'सुमनाञ्जलि' चार ग्रन्थ प्रकाशित हो चुके हैं। आपका घनाक्षरी छन्द पर अधिकार-सा हो गया है। वीररस के आप वर्तमान भूषण कहलाते हैं। प्रबन्धकाव्य लिखने में भी आपको सराहनीय सफलता मिली है। आपकी भाषा ओजस्विनी, प्रौढ़ और संस्कृतशब्द-मिश्रित होती है, परन्तु उसमें शब्दों का एक ऐसा घटाटोप रहता है कि भाव बेचारा विलीन हो जाता है, जिसके समझने में पाठक असमर्थ रहता है और, उसको संस्कृतकोशों के पन्ने उलटने

पड़ते हैं। आपकी कविता में हृदय नहीं, अपितु मस्तिष्क है। महाकवि आचार्य केशवदास का आप पर अत्यधिक प्रभाव है। प्रकृति-वर्णन आपकी अनूठा है। आपने विषयों का चुनाव भी नवीन किया है। आपका जन्म सं० १६५६ वि० में हुआ था।

बिसवाँ के ठा० त्रिभुवननाथसिंह 'सरोज', मास्टर उमादत्तजी सारस्वत और पं० रामसुख त्रि० 'रसाल' निस्स्वार्थ भाव से हिन्दी की आराधना में संलग्न हैं। सरोजजी ब्रज-भाषा में रत्नाकरजी के शिष्य हैं। आप खड़ीबोली के विरोधी हैं और जो कुछ लिखते हैं, वह परिश्रम के साथ सुन्दर लिखते हैं। आपने अपने भावों को बड़ी सुघरता से ब्रज-भाषा में स्वाभाविक रीति से व्यक्त किया है। आपने सं० १६८२ वि० में साहित्य-सेवा ही की दृष्टि से पं० अनूप शर्मा के साथ बिसवाँ से 'काव्यसुधाधर' का पुनः प्रकाशन प्रारम्भ किया था, किन्तु काव्यरसिकों के अभाव में वह दो ही बार दर्शन देकर अस्त हो गया।

सारस्वतजी ने मैट्रिक तक शिक्षा पाई है। आपकी प्रतिभा सर्वतोमुखी है। आप लेखक, कवि, सम्पादक, समालोचक और नाटककार हैं। सवैया छन्द लिखने में विशेषता प्राप्त है; प्रायः खड़ीबोली ही में लिखते हैं। आपकी कविता समझने के लिए कोश में सिर मारने की आवश्यकता नहीं है। आपने प्रकृति पर भी प्रेम प्रदर्शित किया है। आपकी कल्पना-प्रसू लेखनी प्रत्येक क्षेत्र में अच्छे जौहर दिखाती है। आपकी कविताओं का एक संग्रह 'किरण' नाम से हिन्दी-संसार के सम्मुख आ चुका है तथा 'कोकिल' (काव्य-संग्रह) और 'मिलन' नाटक अभी अप्रकाशित हैं। आपकी भाषा परिमार्जित है। आपकी 'विधवा' और 'शिशु' शीर्षक कविता में कमनीय कल्पना और हृदय की विशालता के अच्छे दर्शन होते हैं। रसालजी की कविता तो अच्छी है, परन्तु भाषा पर उनका अच्छा अधिकार नहीं है। सारस्वतजी का जन्म सं० १६६२ वि० और रसालजी का सं० १६६० वि० में हुआ था।

बिसवाँ ही में अब पं० केदारनाथ त्रिवेदी 'नवीन' स्थायी रूप से रहने लगे हैं। ये यहाँ के मिडिल स्कूल में सहायकाध्यापक हैं। घनाक्षरी डाटकर लिखते हैं, जो माधुर्य और प्रसाद से पूर्ण होती है। परन्तु आपकी भाषा में अभी मार्जन की आवश्यकता है; प्रायः साहित्यिक नियमों का उल्लंघन रहता है। नवीनजी के कनिष्ठ भ्राता प्रयागनारायण त्रिवेदी भी कविता करते हैं। नवीनजी का कविता पढ़ने का ढंग चित्ताकर्षक है। आपकी 'कुलीन' पुस्तक मुद्रित हो चुकी है। नवीनजी का जन्म सं० १६५२ वि० में हुआ था।

सीतापुर के रईस पं० सोमेश्वरदत्तजी शुक्ल बी० ए० और पं० ठाकुरप्रसाद शर्मा 'सुरेश' का भी नाम उल्लेखनीय है। शुक्लजी ने एक दर्जन से अधिक पुस्तकें लिखी हैं, जिनमें निबन्ध, नाटक, उपन्यास और यात्रा-सम्बन्धी भी हैं। इनके लेखों में प्रौढ़ता है और हिन्दी का निखरा हुआ रूप दृष्टिगोचर होता है। 'जर्मन-जासूस', 'विनोद-वैचित्र्य', 'नवीन सम्पत्ति-शास्त्र', 'प्रेम का चमत्कार' और 'भारतवर्ष का इतिहास' आदि आपकी पुस्तकें हैं। आपकी भाषा में सरसता कम है। सुरेशजी ब्रज-भाषा के विदग्ध कवि हैं। आपमें काव्य-संशोधन की अपूर्व योग्यता है।

बड़ागाँव के पं० रामसेवक पाण्डेय साहित्याचार्य भी प्रशंसा के पात्र हैं; क्योंकि उन्होंने संस्कृत-कवियों पर कई आलोचनात्मक निबन्ध 'माधुरी' और 'समालोचक' में प्रकाशित कराये थे। उनके साथ ही हम ब्रह्मौली के पं० कृष्णदत्त त्रिवेदी की भी चर्चा करना युक्तिसंगत समझते हैं। त्रिवेदीजी की घनाक्षरी छन्दों में 'नैमिषारण्य' पुस्तक छपी है और गणात्मक वृत्तों में उन्होंने 'कृष्ण-चरित-मानस' नामक महाकाव्य की रचना की है, जो शीघ्र ही हिन्दी-प्रेमियों के हाथों में पहुँचेगा। आप खड़ीबोली के कवि हैं।

कोरौना के रईस महाराज विश्वनाथजी त्रिवेदी के सुपुत्र पं० देवशंकरजी त्रिवेदी एम्० ए० को विस्मृत करना कृतघ्नता होगी। आपकी कविता प्रायः छायावादी-शैली की होती है, जिसमें वेदना की छाप है। आपके 'नलिनीदल' और 'अंकमालिका' दो संग्रह निकल चुके हैं। त्रिवेदीजी हँसमुख, मिलनसार और निरभिमान पुरुष हैं। आपने मिसरिख में राष्ट्र-भाषा-प्रचार-समिति स्थापित की है। आपका जन्म सं० १६६३ वि० को हुआ था।

उर्दू-भाषाक्रान्त महमूदाबाद-जैसे क़स्बे में बैठकर बाबू लछमणप्रसाद 'मित्र' मुनीम की भी हिन्दी-सेवा कुछ कम महत्त्व नहीं रखती है। मित्रजी नाटककार भी हैं। उनका 'बाण-शय्या' नाटक कई वर्ष हुए प्रकाश में आ चुका है। उसके लिखने में उनको सफलता मिली है। उन्होंने पात्रों का चरित्र-चित्रण उत्तमता से

कोलम्बिया
कल्यानीदास
जी. इ. २८६८ { आज चली उनकी गली-भजन
जिस देश में हो आ जाना- „
* होली रेकार्ड *
फ़हत जहाँ बिब्बो
जी. इ. ५०६२ { नहीं जाऊँगी मैं होरी-होली
राधा नन्दकुमार - „
राधारानी
जी इ २६५० { होली आई होली आई-होली
होली के एक दिन में- „
KAMARS.
* साज़ संगीत *
न्यू थियेटर्स आरकेस्ट्रा (पंकज मल्लिक)
जी. इ. २६००
बतर्ज़ "छुपो ना छुपो ना" (फ़िल्म "माई सिस्टर")
„ "ऐ कातिबे तक़दीर" („ „)
कोलम्बिया ग्राफ़ोफ़ोन कम्पनी लिमिटेड
डमडम, बम्बई, मद्रास, देहली, लाहौर ।

निश्चय उसने
लाइफ़बॉय की
आदत सीखी है!
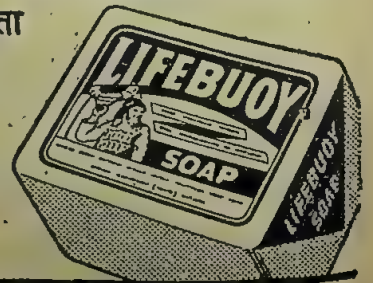
किया है। नाटक का गद्य भी अच्छा है, किन्तु पद्य-भाग विशेष रूप से मनोमोहक है। मित्रजी ऐतिहासिक घटनाएँ लिखने में सिद्धहस्त हैं, परन्तु उनकी भाषा में अत्यधिक उर्दू-शब्दों की भरमार खटकनेवाली बात है। इससे उनकी निर्बलता प्रकट होती है; फिर भी वे शुद्धता लाने का प्रयास करते हैं। अब उन्होंने अपनी प्रणाली-परिवर्तन की ओर ध्यान दिया है, जिसका प्रमाण उनकी 'सरलो की बिदा' और 'आदर्श आतिथ्य' आदि कतिपय कविताएँ हैं। मित्रजी उर्दू-बहरों में भी अपनी काव्य-छटा दिखलाते हैं। आपका जन्म सं० १९६३ वि० है।

मिडिल और ट्रेनिंग जैसे स्कूलों में रहते हुए भी पं० उमाप्रसादजी वाजपेयी 'सुजान' हिन्दी-पूजा से उपरत न रह सके। सुजानजी की दो पुस्तकें निकल चुकी हैं, जिनमें एक 'चूकनौथ-चरित' और दूसरी राग-रागनियों की है। आप जहाँ सुकवि हैं, वहाँ नाटक के सफल अभिनेता और कुशल गायक भी हैं। आपका कविता-पाठ सुनकर हिन्दीवालों की कौन कहे, अन्य भाषा-भाषी भी मन्त्रमुग्ध-से हो जाते हैं। आप हारमोनियम, बाँसुरी और तबला बजाने में भी पारंगत हैं। आप गीत-काव्य भी सरस लिखते हैं। आपकी कविता में अनुभूति के दर्शन होते हैं। 'किसान की बेटी' शीर्षक कविता में उनकी स्वाभाविकता परिलक्षित होती है। आप एक कलाकार हैं। आपकी कविता की भाषा भी सुधरी हुई है। खड़ीबोली के साथ ही ब्रज-भाषा भी लिख सकते हैं। आपका जन्म सं० १९६० वि० में हुआ था।

अलादादपुर (सिधौली) के पं० पुत्तूलाल शर्मा ने समालोचना-क्षेत्र में अपनी लेखनी संचालित की है और कुछ कविताएँ भी लिखी हैं। सुजौलिया के ठा० गदाधरसिंह और रायपुर के पं० कामताप्रसाद शुक्ल 'द्विजेन्दु' कोई नया प्रसंग न छेड़कर शृंगारी रचनाओं से ब्रजवाणी के शृंगार में तत्पर हैं। गदाधरजी की ब्रज-भाषा अच्छी नहीं है; उसमें अश्लीलता की छाया अधिक पड़ गई है। आपकी 'भामिनी-दुर्भाव' और 'साहित्य-दिवाकर' पुस्तकें प्रकाशित हैं। द्विजेन्दुजी की ब्रज-भाषा सजीव है; उनका पद-मैत्री और उक्ति-वैचित्र्य की ओर भी ध्यान आकृष्ट रहता है। पीरनगर के अवधेश श्रीवास्तव भक्ति और अछूतोद्धार-सम्बन्धी कविताओं के लिए लोकप्रिय हैं।

इधर कुछ वर्ष हुए, बनियामऊ इस्टेट के रईस ठा० लछमणसिंह 'मयंक', उनके भ्रातृपुत्र ठा० रघुराजसिंह 'चित्रभक्त', ठा० राजेन्द्रसिंह तालुक़दार टिकरा, गोकरनदत्त चौबे खैराबाद, बलदेवजी के सुपुत्र पद्मधर अवस्थी, लहरपुर के बाबू प्रसिद्धनारायण गौड़, अम्बरपुर के पं० बलभद्रप्रसाद दीक्षित पढ़ीस, भखरावाँ के पं० ईश्वरदीन द्विवेदी 'द्विजराज' और दरियापुर के पं० ब्रजेश त्रिपाठी के अचानक दिवंगत हो जाने से हमारे ज़िले को बड़ा धक्का पहुँचा है।

स्व० पढ़ीसजी अवधी के अच्छे कवि और सफल कहानी-लेखक, सादगी के अवतार थे। इंटर मीडियट तक उन्होंने शिक्षा पाई थी। राष्ट्र-भाषा के प्रचार के लिए ही उन्होंने रेडियो में नौकरी की थी। उनकी रचनाओं का संकलन 'चकल्लस' नाम से हो चुका है। उनकी कविताओं में ग्राम्य-जीवन की अच्छी झलक मिलती है। पं० ईश्वरदीनजी 'द्विजराज' पहले कविताएँ लिखते थे; फिर कहानियाँ भी लिखने लग गये थे। प्रसिद्धजी की रचनाएँ प्रायः राष्ट्रीय हैं।

स्व० ब्रजेशजी का ब्रज-भाषा, अवधी-भाषा और ग्राम्य-भाषा पर अबाध अधिकार था। उन्हें संगीत का भी बोध था। उनकी काव्य-कोकिल पुस्तक इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उन्होंने समयानुकूल नये प्रसंग भी छेड़े हैं; मज़दूरों और किसानों के झोपड़ों की ओर भी उन्होंने अपनी दृष्टि दौड़ाई है। वे सरलता, सादगी की मूर्त्ति; हिन्दी, हिन्दू और हिन्दुस्तान के दृढ़व्रती थे। सन् १९२१ के सत्याग्रह-आन्दोलन में जेल भी गये थे। वह गद्य-लेखक भी थे और उन्होंने 'कृषकबन्धु' पत्र भी निकाला था। उनकी 'काव्य-कोकिल', आपन्न-कथा और दुःख-गाथा, तीन पुस्तकें उनके जीवन-काल में प्रकाशित हो चुकी थीं। उनके ग्राम्यगीतों का संग्रह, 'विजया' (खण्डकाव्य) तथा कुछ फुटकर कविताएँ अप्रकाशित ही उनके पुत्र के पास पड़ी हैं। उनका निम्नांकित छन्द कितने मार्के का है। शोक है, ३४ वर्ष की अल्पायु ही में वे सं० १९८९ वि० को स्वर्गगामी हुए—

तुम हौ ब्रजेस त्यौं ब्रजेस हमहू हैं,
तुम जसुदा-पियारे हम बसुधा-पियारे हैं।
तुम ब्रज-नागरी के प्रेम-रंग-राचे फिरौ,
हम ब्रज-नागरी पै तन-मन वारे हैं॥
तुम अघासुर को पछारि जग लीन्ह्यो जस,
हमहू अघासुर को रहत पछारे हैं।

हम तुम यहाँ लौं रहे हैं एक से पै तुम,
माँगौ दधि-दान हम हाथ न पसारे हैं ॥

पं० सूर्यकान्तजी त्रिपाठी निराला की शैली पर लिखनेवालों में कुँअर चन्द्रप्रकाश एम्० ए० पैसिया भी धन्यवादार्ह हैं। आपकी 'शय्या' और 'मेघमाला' दो कृतियाँ देखने में आई हैं, जिनमें गीत-काव्य है और प्रायः अस्पष्ट भावनाएँ विद्यमान हैं। इनके अतिरिक्त हमारे ज़िले में ठा० महेश्वरसिंह तालुक़दार रीवान, पं० रामनारायण त्रिपाठी मित्र भेलावाँ, पं० गुरुसहाय दीक्षित द्विजदीन, ठा० लालसिंह प्रियराज, पं० अवधेश अवस्थी, युवराज गंगाप्रतापसिंह मल्लापुर-राज्य, चक्रधर अवस्थी, बाबू गिरिजादयाल 'गिरीश', पं० मधुसूदन दीक्षित, पं० द्विजवृन्द और पं० विश्वेश्वर-दयाल द्विजराज इत्यादि महानुभाव साहित्य-सेवी हैं, जिनसे भविष्य में बड़ी आशाएँ हैं। पं० मधुसूदनजी ने सन् १९३६ ई० में सीतापुर से 'दीनबन्धु' पत्र भी निकाला था और अब अवधेश अवस्थी 'सूत्रधार' का सम्पादन करते हैं। यह सब देखते हुए सीतापुर ज़िले में हिन्दी का भविष्य उज्ज्वल दिखाई देता है।

भाइयो!....
चर्म-स्वास्थ्य के लिये रैक्सॉना प्रयोग कीजिये

जल्दी में यह धारण मत न बनाइये कि रैक्सॉना केवल स्त्रियो के रंग को निखारने वाला एक नया साबुन है। चर्म स्वास्थ का महत्त्व जाननेवालों सब के लिए रैक्सॉना एक ज़रूरी टॉयलेट साबुन है। यह ऐसा ताज़गी और स्फूर्तिदायक साबुन है जिसे इस्तेमाल कर के पुरुषों को आनंन्द आता है। इस आकर्षक, हरे, और शीघ्र फेन देनेवाले साबुनका ये सबसे बड़ा लाभ है कि यह स्वास्थदायक और चर्म-किटाणुविनाशक 'कैडिल' से बनाया गया है। रैक्सॉना का शीघ्र बननेवाला ज्यादा फेन स्फूर्ति और स्वास्थदायक 'कैडिल' को शरीर के प्रत्येक रुओं में—जहाँसे सब चर्मरोग और दाग प्रायः शुरू होते हैं— पहुँचा देता है ऐसे आपकी सारी त्वचा किटाणुरहित, मुलायम, और साफ़ हो जाती है। अब आप जान सकते हैं कि नियमित रूप से रैक्सॉना का प्रयोग करने से आप निश्चित ही अपने चर्म को स्वास्थ और सुरक्षित रख सकते हैं। इसलिए इस हरे, और शीघ्र फेन देने वाले साबुन को इस्तेमाल करना शुरूकर दीजिए—और करते रहिए।

नोट—यह याद रखिए कि शारीरिक सौन्दर्य का एक मात्र आधार है चर्म-स्वास्थ। और एक पुरुष कोभी चर्म को आकर्षक बनाने का उतना ही अधिकार है जितना कि एक स्त्री को।

रैक्सॉना बच्चे के लिए आदर्श साबुन है। रैक्सॉना का कैडील शरीर के दर्दों को मिटता है और शरीर को सुखेपनसें बचाता है।

★ रैक्सॉना में मिलाया गया कैडिल किटाणु-विनाशक, स्वास्थ-दायक और ताजगी देनेवाले तेलों का मिश्रण है जोकि चर्म को स्वास्थरखने में बहुत गुणकारी सिद्ध हुआ है। साइंसदानों ने भी इसके गुणों के कारण इसकी सराहना की है।

रैक्सॉना मरहम प्रयोग कीजिये।

फुन्सी, फोड़े, ऐकजीमा, मुँहासे, आँख की कलौंस, झुर्रियां, ददौरे आदि सभी चर्म रोगों में रैक्सॉना मरहम लगाये। यद्यपि अभी सप्लाई कम है फिरभी बहुत से दूकानदारों के यहां यह तिकोने टिन मिल सकते हैं।

Rexona OINTMENT

RP. 28-23-40 HI

REXONA PROPRIETARY LIMITED

रहस्यमय प्रदेश—तिब्बत

श्रीमती आशादेवी

संसार की सर्वोच्च भूमि तिब्बत आज भी अव्यवस्थित एवं निषिद्ध भू-प्रदेश है । पृथ्वी की चोटी पर स्थित ४,६३,२०२ वर्गमील के क्षेत्र का वह हिमाच्छादित प्रदेश, बाह्य संसार की नज़रों में वैसा ही अगम्य तथा रहस्यमय बना हुआ है । एक लेखक ने तिब्बत को "अन्तर्राष्ट्रीय पहेली" बताया है ; क्योंकि आध्यात्मिक दृष्टि से वह जितना ही रहस्यपूर्ण है, राजनीतिक दृष्टि से वह उतना ही महत्त्वपूर्ण भी है।" यह स्थान समुद्र की सतह से बहुत ऊँचा और यहाँ का जलवायु अत्यन्त शीतल है । सातवीं शताब्दी से पूर्व तिब्बत के इतिहास की बहुत कम जानकारी प्राप्त है । यहाँ के सम्बन्ध में पाश्चात्य देश के यात्रियों ने अनेक बातें बताई हैं ।

किसी समय यह देश चीनी शासन के अन्तर्गत था, पर अब से ३२ वर्ष पूर्व चीन में जो राज्यक्रांति हुई थी, उस उथल-पुथल और अशांति के फलस्वरूप तिब्बत ने चीनी शासन से अपने को मुक्त कर अपने यहाँ स्वशासन स्थापित कर लिया । पर सैनिक दृष्टि से तिब्बत एक बहुत ही कमज़ोर देश है और यही उसकी मुख्य कठिनाई है । इसलिए अपने पड़ोसी देशों से जब तक वह मेल न रक्खे, तब तक वह अपनी राजनीतिक शांति एवं सुरक्षा के सम्बन्ध में निश्चिंत नहीं रह सकता ।

भारत की उत्तरी सीमा की रक्षा के लिए, ब्रिटेन सदैव से तिब्बत में दिलचस्पी लेता आया है । देश की उत्तरी सीमा पर तिब्बत के ऊँचे-ऊँचे पहाड़ १३०० मील तक फैले हुए हैं । अतएव एक मज़बूत अभेद्य दीवार की भाँति वे बाहरी आक्रमणों से इस देश की रक्षा करते हैं । तिब्बत के भीतर ब्रिटिश सैनिकों का प्रवेश 'ग्यान्सी' तक है । यह स्थान भारतीय सीमा से १५० मील दूर भारत-तिब्बत के बीच व्यापार की प्रमुख सड़क पर स्थित है । व्यापारिक रक्षा के लिए भारत-सरकार ने यहाँ एक छोटी-सी सेना रख छोड़ी है । यहीं तक टेलीफ़ोन और डाकसर्विस की व्यवस्था है, जो भारत-सरकार के नियंत्रण में है ।

सीमा से निकट होने के कारण, ज़ारयुग में रूस ने वहाँ राजनीतिक प्रभुता स्थापित करने का प्रयत्न किया था। पर बोल्शेविक-क्रांति के पश्चात् रूस तिब्बत की ओर से उदासीन हो गया । इसमें सन्देह है कि उसकी यह उदासीनता स्थायी होगी । इन्हीं कारणों से ब्रिटेन वहाँ किसी दूसरे राष्ट्र की प्रभुता न जमने देने के लिए सतर्क रहता है ।

दलाई लामा की प्रभुता

परम्परा बतलाती है कि तिब्बतियों की जाति वहाँ के प्रधान दयादेवता चेन-रे-सी से उत्पन्न हुई है। दलाई लामा तिब्बतवासियों के आध्यात्मिक एवं सांसारिक शासक हैं । यहाँ युगों से बौद्ध पुरोहितों का शासन चला आ रहा है । उनका प्रधान दलाई लामा कहा जाता है और बुद्धदेव के प्रतिनिधि के नाते, तिब्बतवासियों में वह सबसे बड़ी प्रतिष्ठा प्राप्त किये हुए हैं । उसकी आध्यात्मिक सत्ता लदाख, सिक्किम, भूटान, तुर्किस्तान, बेरूत, पूर्वी साइबेरिया तथा काल-मुक्स आदि दूर-दूर के देशों तक फैली हुई है। आधुनिक युग का वह सम्भवतः सबसे स्वेच्छाचारी एवं निरंकुश शासक है ।

लामा का निर्वाचन राज्य के तीन सर्वोच्च धर्मसंघों द्वारा होता है । लासा और लामे राजमंदिर के पुजारी निर्वाचन-कार्य में प्रमुख योग देते हैं । लामा की नाबालिगी में शासन का संचालन एक प्रतिनिधि-मंडल करता है । अठारह वर्ष की अवस्था में लामा को समस्त शासनाधिकार प्राप्त हो जाते हैं । लामा के अधिकार स्वतन्त्र हैं । शासन और प्रबन्ध के मामले में उनके निर्णय सर्वमान्य समझे जाते हैं ।

दलाई लामा के सलाह-मशविरे के लिए, एक पुरोहित मंत्रिमंडल होता है । पुरोहित मंत्रिमंडल इस बात से सशंक रहता है कि सेना में वृद्धि करने से देश में धार्मिक प्रभुत्व के बदले सैनिक प्रभुत्व स्थापित हो जायगा और उस समय उनकी प्रभुता और मर्यादा का अंत हो जायगा । इस समय भी तिब्बती सेना ५ हज़ार से अधिक सैनिक नहीं हैं । पर जब-जब युद्ध या कोई संकट देश के सम्मुख उपस्थित हुआ है, तब-तब

इन पुरोहितों ने देश तथा सैनिकों की सहायता के लिए स्वयं अस्त्र धारण किये हैं। संयोग से इन पुरोहितों की संख्या भी यथेष्ट है। यह सुनहरी पोशाक धारण करते हैं और सम्भवतः इनकी सुनहरी पोशाक के कारण इनकी सेना को 'स्वर्ण-सेना' कहा जाता है।

बौद्धधर्म का प्रचार

तिब्बत की प्राचीनतम पूजा-पद्धति को 'बान' अथवा प्रकृति-पूजा कहते हैं। यहाँ के लोग प्रकृति पर अधिक विश्वास करते हैं। बौद्धधर्म प्रचलित होने से पूर्व छठी शताब्दी तक वहाँ प्रेतपूजा की ही प्रधानता थी। ६४० ई० में वहाँ बौद्धधर्म राजधर्म के रूप में स्वीकृत हुआ। उसके लगभग एक शताब्दी उपरान्त राजा तिलोंग देत्सन ने भारत के विख्यात तांत्रिक पद्मसम्भव के सहयोग से वहाँ एक नवीन धर्म का प्रचार किया। आधुनिक लामाधर्म का श्रीगणेश इसी काल से होता है। ११वीं शताब्दी के आरम्भ में भारत और काश्मीर से बहुसंख्यक बौद्धभिक्षु यात्री तिब्बत पहुँचे। इनमें से बंगाल के दीपंकर नामक एक प्रसिद्ध बौद्धभिक्षु भी थे। उन्होंने बौद्धधर्म का वहाँ प्रचार किया और अतीश के नाम से आज भी वह वहाँ प्रसिद्ध हैं।

लामा को राज्य की ओर से अनेक संरक्षण एवं सुविधाएँ प्राप्त हैं। समाज में उनकी प्रतिष्ठा और मर्यादा बहुत ऊँची है। सच्चे बौद्धभिक्षु के नाते उन्हें लगभग २४३ प्रकार के नियमों का पालन करना पड़ता है। संघ का जीवन अनेक कठिन अनुशासनों से बँधा हुआ है। संघ के अनुयायियों को ब्रह्मचारी और आत्मनिग्रही होकर रहना पड़ता है। उनकी पोशाक निराली होती है। सिर पर वह एक हैट पहनते हैं, जो उनके मुड़े हुए सिर को भली भाँति ढके रहती है। इसके अतिरिक्त वह एक ढीली-ढाली लम्बी गाउन, एक कमरबन्द, ऊनी भगा, पैरों में पाजामा और बूट भी पहनते हैं। अन्य धार्मिक चिह्नों के साथ वह अपने पास एक माला भी रखते हैं। प्रचलित नियमानुसार हरएक परिवार का कम-से-कम एक व्यक्ति साधुजीवन में अवश्य प्रवेश करता है।

तिब्बत की स्त्रियाँ

तिब्बत की प्रजा रईस, व्यापारी, कृषक तथा पशु-पालक आदि चार मुख्य वर्गों में बँटी हुई है। उन परयुगों से बौद्धपुरोहितों का शासन होता चला आ रहा है। सामाजिक जीवन में स्त्रियों की मर्यादा बहुत ऊँची है। पर्दा तथा दूसरे बंधनों से वे पूर्ण मुक्त हैं। गृहस्थी तथा दूसरे कार्यों पर उनका बहुत बड़ा प्रभाव रहता है। पर शिक्षा का उनमें पूर्ण अभाव है। वे मूँगा-मोती तथा बहुमूल्य पत्थरों से जड़ित अनेक आभूषण धारण करती हैं। सिर के एक विशिष्ट पहनावे से विवाहिता अथवा कुमारी स्त्रियों का अन्तर जाना जाता है। विवाहिता स्त्रियाँ शिरोभूषण के पीछे मूँगे के दाने पर एक नीलम पिरोकर पहनती हैं।

वर-वधू का चुनाव पिता करता है। विवाह में वर से परामर्श लिया जाता है। पर वधू की रुचि का कोई विचार नहीं किया जाता। इस सम्बन्ध में उसे अपनी सम्मति देने का कोई अधिकार नहीं। विवाह निश्चित होने के समय ज्योतिषी को वर-वधू की जन्म-कुण्डली दिखलाई जाती है और ग्रहों के मेल पर उससे सम्मति माँगी जाती है। समाज में दहेज की प्रथा है, परन्तु भारत के विपरीत। अर्थात् वर-पक्ष को वधू के अभिभावकों को एक निश्चित रक़म देनी पड़ती है। यह रक़म विवाह के पूर्व ही तय कर ली जाती है। ज्योतिषी द्वारा निर्धारित तिथि पर वधू अपने पिता के घर से विदा होकर ससुराल जाती है। वैवाहिक क्रिया सम्पन्न होने के समय प्रार्थनाएँ होती हैं और वर-वधू की मंगलकामना तथा उनके सुखद भविष्य के लिए भारत की ही भाँति, गुरुजनों द्वारा उन्हें आशीर्वाद दिये जाते हैं। इसके अतिरिक्त उपहारों का भी आदान-प्रदान होता है। ज्योनारें होती हैं और खुशियाँ मनाई जाती हैं। समाज में बहुविवाह की भी प्रथा प्रचलित है। एक स्त्री अपने प्रथम पति के होते हुए कई पुरुषों से विवाह कर सकती है।

देश का खान-पान

तिब्बत के लोग मांसाहारी हैं। आश्चर्य है कि बौद्धधर्मावलम्बी होते हुए भी, वे मांसाहार क्यों करते हैं? उनका मुख्य भोजन याक (तिब्बत का बैल), भेड़ का मांस तथा जौ का आटा है। फल वहाँ बहुतायत से होते हैं। चावल इतना महँगा और अप्राप्य है कि वह केवल धनिकों के उपयोग में आता है। चाय जनता का साधारण पेय है। हरएक व्यक्ति आम-तौर पर प्रतिदिन ३० से ४० प्याले चाय पी जाता है। शराब पीने का भी रिवाज है और जौ से निकाली गई शराब वहाँ ख़ूब पी जाती है।

पहाड़ों की वजह से, तिब्बत को आज तक बाहरी

आक्रमण की कोई आशंका नहीं रही। जिन दुर्लंघ्य पहाड़ों ने उसकी सीमा को घेरकर उसे प्राकृतिक रक्षा-पंक्ति प्रदान की है, उन पर उसका बहुत विश्वास है। किन्तु कुछ वर्ष पूर्व, एक अमेरिकन वायुयान जब लासा के निकट जाकर टकरा गया, तो तिब्बतवासियों का इस ओर ध्यान आकृष्ट हुआ कि ऊँचे-ऊँचे पर्वतों से आच्छादित होने पर भी उनका देश हवाई आक्रमणों से सुरक्षित नहीं है।

तिब्बत की पूर्वी सीमा पर चीनियों ने अनेक सड़कें बना ली हैं। कई स्थानों पर अपने हवाई अड्डे भी क़ायम किये हैं। इन सब बातों से तिब्बत चीन की ओर से फिर सशंक हो उठा है।

तिब्बत की भाषा

तिब्बत की भाषा बरमी-भाषा से मिलती-जुलती है। समस्त देश के बोलचाल की भाषा तीन भागों में विभाजित है। लासा में बोली जानेवाली भाषा देश भर में समझी जाती है। तिब्बत के साहित्य का विकास बौद्ध-धर्म के प्रचार से आरम्भ होता है। लामों के धर्म-ग्रन्थ संस्कृत-ग्रंथों के अनुवाद हैं। कुछ ग्रंथ चीनी-भाषा से भी अनूदित हैं। १७वीं शताब्दी से पहले वहाँ मुद्रणकला के विषय में कोई जानकारी न थी। छापे के अक्षरों का प्रयोग वहाँ अब भी नहीं होता। लकड़ी के सख़्त तख़्ते पर अक्षर खोद दिये जाते हैं। फिर स्याही लगाकर वह तख़्ता काग़ज़ पर दबाकर छाप लिया जाता है।

विदेशी यात्री

देश की जन-संख्या अनुमानतः १२,००,००० और ६,०००,००० के बीच में है। विदेशियों को लासा में प्रवेश करने की अनुमति मुश्किल से प्राप्त होती है। यदि किसी को रियायतन् अनुमति मिल भी जाती है, तो वह राजधानी में बहुत थोड़े समय के लिए टिकने पाता है। सन् १३३० में कापर ओडोरिक नामक प्रथम योरपियन यात्री लासा पहुँचा। जार्ज बोगला पहले अँगरेज़ थे, जिन्होंने सन् १७७४ में तिब्बत का भ्रमण किया। सन् १८६३ के बाद कुछ भारतीय अन्वेषक भी भारत-सरकार द्वारा पैमाइश और जानकारी प्राप्त करने के लिए वहाँ भेजे गये। इनमें से पण्डित नरसिंह प्रथम भारतीय यात्री थे। इन्होंने मानसरोवर झील तक यात्रा की। उसके बाद सड़क के पूर्वी ओर ब्रह्मपुत्र नदी की समानान्तर यात्रा करते हुए जनवरी सन् १८६६ में यह लामा पहुँचे। १६ मास के पर्यटन के बाद वह भारत लौट आये। सन् १८७४ में उन्होंने तिब्बत की पुनः यात्रा की। उसके चार वर्ष उपरान्त पण्डित कृष्ण नामक दूसरे भारतीय यात्री ने तिब्बत की सैर की और लासा में एक वर्ष तक रहे। सन् १८७९ में दार्जलिंग के एक बंगाली शिक्षक वेष बदलकर गुप्त रीति से लासा पहुँचे और तिब्बत से संस्कृत-भाषा की अनेक महत्त्वपूर्ण पुस्तकें लेकर भारत लौटे। उनमें से कुछ पुस्तकें सम्पादित होकर प्रकाशित भी हो चुकी हैं। तिब्बतवालों को जब उन पुस्तकों की चोरी का हाल मालूम हुआ, तो वे बड़े कुपित हुए और उन्होंने विदेशियों पर देश में प्रवेश करने के लिए कड़े प्रतिबन्ध लगा दिये।

धर्म पर अटूट विश्वास

तिब्बत में गोरी जाति के लोगों की संख्या इतनी अल्प है कि बहुसंख्यक तिब्बती उनके आकार-प्रकार और रूप-रंग की कल्पना तक नहीं कर सकते। जब कभी कोई गोरी जाति का मनुष्य वहाँ किसी नगर में पहुँच जाता है, तो उसको देखने के लिए बहुसंख्यक लोगों की भाड़ इकट्ठा हो जाती है।

वहाँ की बौद्ध जनता अपने धर्म पर अटूट विश्वास रखती है और किसी दूसरे धर्म में दीक्षित होने की स्वप्न में भी कल्पना नहीं कर सकती। इसी कारण ख़ास तिब्बत के भीतर कोई ईसाई-धर्म-प्रचारक जाने की इच्छा नहीं रखता।

राजधानी लासा में मुसलमानों की दो मसजिदें हैं। वहाँ लद्दाख़ तथा चीनी तुर्किस्तान के मुसलमानों की आबादी भी है। चीनियों की संख्या भी प्रायः दो हज़ार के है। अधिकांश में नैपाली और लद्दाख़ व्यापारी ही रहते हैं। कुछ थोड़े से अँगरेज़ों ने राजधानी में छोटे-छोटे अस्पताल स्थापित कर रक्खे हैं, पर वहाँवाले इन अस्पतालों में उसी दशा में पहुँचते हैं, जब उनकी जड़ी-बूटियाँ असफल सिद्ध होती हैं। तन्त्र-मन्त्र, टटके-टोने का वहाँ बहुत प्रचार है। वहाँ का वायुमण्डल ही जैसे भूत-प्रेतों के चमत्कार से ओत-प्रोत है। तिब्बतवाले प्रायः दीर्घजीवी होते हैं। वे दूर से ही घटनाओं को जान लेने और मनःस्थिति के प्रभाव द्वारा रोगों को अच्छा कर देने की क्षमता रखते हैं।

साधारणतः विदेशी दवाइयों के विरुद्ध तिब्बत-

वालों के मन में अविश्वास का भाव पाया जाता है। उपदंश-रोग वहाँ आमतौर से प्रचलित है। चेचक की बीमारी वहाँ सबसे घातक मानी जाती है। इससे बचने के लिए अब लोग टीका लगवाने लगे हैं और स्वयं दलाई लामा भी टीका लगवाने में आपत्ति नहीं करते।

उद्योग-धन्धे

तिब्बतवालों को क्रय-विक्रय से बड़ा प्रेम है। सरकारी नौकर भी खुले आम व्यापार करते हैं। हरएक आदमी व्यापार को अपनी आमदनी बढ़ाने का उपयोगी साधन समझता है। पशु-पालन यहाँ सर्वसाधारण की जीविका है। देश का अधिकांश भाग ऊजड़ और जंगली है। लकड़ी का निर्यात सबसे बड़ी तादाद में होता है। इसके अतिरिक्त याक की पूँछ, जानवरों के बाल, कस्तूरी, पशमीना, सज्जीखार आदि वस्तुएँ भी बाहर भेजी जाती हैं।

यहाँ के हरएक परिवार में अपने-अपने उद्योग-धन्धे प्रचलित हैं। इन धन्धों में कपड़े बुनना, दरी और क़ालीन आदि बनाना मुख्य हैं। सोने-चाँदी के ज़ेवर, बर्तन और काग़ज़ बनाने के उद्योग भी प्रचलित हैं। लकड़ी में नक़्क़ाशी और खुदाई का काम भी अच्छा होता है। चित्रकला का भी प्रचार है और उसकी पृष्ठभूमि प्रायः धार्मिक होती है। कुछ समय से अस्त्र बनाने का काम भी शुरू हो गया है।

शिक्षा का अभाव

तिब्बत में स्कूलों की संख्या बहुत थोड़ी है। वह सब पुरोहितों के तत्वावधान में हैं। वहाँ बौद्ध-धर्म-सम्बन्धी केवल धार्मिक विषयों की शिक्षा दी जाती है। केवल चार छात्र एक बार वहाँ से उच्च शिक्षा के लिए इँगलैंड भेजे गये।

तिब्बतवाले रेल और मोटर के दर्शन से वंचित हैं। आधुनिक वैज्ञानिक आविष्कारों की उन्हें कोई जानकारी नहीं। तिब्बत की खानों में अपार सम्पत्ति भरी हुई है, पर खनिज पदार्थ निकालने की वहाँ मनाही है। तिब्बत के शासक समझते हैं कि यदि खानों से धातुओं के निकालने का काम शुरू किया गया तो विदेशी व्यापारियों की उस देश पर नज़र पड़े बिना न रहेगी और उस समय विदेशियों के प्रभुत्व से देश को मुक्त रखना असम्भव हो जायगा।

तिब्बत के मकान चौकोर और छोटे होते हैं। उनमें प्रवेश करने के लिए, केवल एक ही द्वार होता है। दीवारें मिट्टी और पत्थरों को जोड़कर बनाई जाती हैं। प्रत्येक महीने का आठवाँ, दसवाँ, पचीसवाँ तथा तीसवाँ दिन शुभ माना जाता है। साल की शुरुआत सन्त के जन्म-दिवस से होती है। पूर्णिमा और प्रतिपदा की गणना भी शुभ तिथियों में की जाती है। इन्हीं दिनों लोग मन्दिर में भेंट-पूजा चढ़ाते हैं और अपने इष्ट की साधना करते हैं। देवता की वेदी पर मक्खन का दिया जलाया जाता है। सबसे बड़ा पर्व वर्ष का नव दिवस होता है। यह लासा के मेले का दिन कहलाता है।

वर्त्तमान शासक

तिब्बत का वर्त्तमान शासक एक साधारण बालक दलाई लामा है। उसका जन्म एक अत्यन्त निर्धन तिब्बती परिवार में हुआ था। बौद्ध पुरोहितों ने उसे स्वर्गीय दलाई लामा के पुनर्जन्म के रूप में ग्रहण किया है। तिब्बतवासियों का विश्वास है कि दलाई लामा केवल एक है और वह बार-बार मरकर फिर नये रूप में जन्म लेता है। उसके पुनर्जन्म का पता विशेष आध्यात्मिक चिह्नों की जाँच के बाद लगाया जाता है। वास्तव में तिब्बत एक रहस्यमय प्रदेश है। उसकी हरएक बात निराली और अनोखी है। *

* एक अँगरेज़ी-लेख के आधार पर।

विराम-बिन्दु

श्रीयुत युगल

रामटहल ने एक बार फिर उस चित्र की ओर देखा। कुछ क्षण तक वह देखता रहा। न जाने क्यों यह चित्र उसे अधिक पसन्द आता है। दो वर्ष हुए उसने इसे एक चित्रकार के यहाँ से ख़रीद लिया था और सुन्दर फ्रेम में मढ़वाकर अपने सोने के कमरे के सामनेवाली खिड़की के ऊपर टाँग रक्खा था। चित्र को देखकर उसके हृदय की वेदना को थोड़ी शान्ति मिलती है या नहीं, इसे रामटहल आज तक भी नहीं समझ पाया है; पर उसके हृदय में भावों का एक संघर्ष-सा अवश्य चलने लगता है।

मसनद का सहारा लेकर वह पलँग पर अधलेटा पड़ा था। घड़ी की ओर देखकर उसने अस्फुट स्वर में कहा—'थोड़ी देर में बारह बज जायँगे।' उसने दवा की शीशियों की ओर घृणा की दृष्टि से देखा। दवा पीते-पीते तो वह आजिज़ हो गया है। आज महीनों से वह बीमार है। मर्ज़ विना पहचाने दवा हो रही है। दिल का दर्द भला दवा से कैसे छूटेगा? यह सोचकर रामटहल के सूखे होठों पर एक विकारहीन हँसी फैलकर रह गई। डाक्टर क्या ख़ाक दवा करेंगे? मुफ़्त में रुपया बर्बाद हो रहा है। रामटहल को यह अनुभव होता है कि उसका कहीं कुछ टूट-सा गया है। वह उखड़ा-उखड़ा-सा रहता है।

खिड़की पर नीला पर्दा पड़ा था। उससे छनकर हल्का प्रकाश कमरे में फैल रहा था। रामटहल का दुबला-पतला शरीर एक ही करवट सोये-सोये दुख रहा था। उसने करवट बदली; और उसकी नज़र चित्र पर जा पड़ी। हरी दूबों से भरा एक बड़ा मैदान है, जहाँ न कोई पेड़ है और न कोई दूसरा पौदा ही। आकाश जहाँ हरे मैदान को चूमता-सा लगता है, वहाँ कुछ हल्की लाली फैलकर रह गई है। शायद अस्ताचल जाते हुए सूर्य की छूटी हुई यह पिछली लाली है। थके हुए दो विहग बटोही, एक दूसरे से कुछ दूर-दूर पर, अपने पथ नाप रहे हैं—मानो पिछला अगले से अपने नीड़ में ठहरकर वह रात बिता लेने के लिए कह रहा हो।

रामटहल ने दरवाज़े के बाहर देखा, ललिता घुटने पर अधसिला कपड़ा रक्खे कुछ सोच रही है। सिर पर से आँचल खिसककर कन्धे पर आ गिरा है। इसका उसे जैसे कोई ध्यान ही नहीं है। रामटहल सोच उठा, ललिता कितनी सुन्दर है। उसके मन में इस समय कोई-न-कोई संघर्ष अवश्य चल रहा है। क्या सोच रही होगी वह? और दूसरे ही क्षण रामटहल की आकृति कुछ कठोर हो उठी।

उसने ललिता की ओर से दृष्टि हटाई, तो घड़ी पर जा पड़ी। बारह बजने में अब कुछ ही देर थी। दवा का समय हो गया था। वह सोचने लगा, यह जो है ललिता, वह उसकी ओर से कितनी उदासीन रहती है। दवा पिलाने का समय हो गया है और वह हैं कि बैठी-बैठी कपड़े सी रही है। सी तो नहीं रही, कुछ सोच रही है। न जाने क्या सोच रही है वह! उसे इसका तो ख़याल ही नहीं कि कौन मरता है, कौन जीता है।

न जाने कब रामटहल के हृदय में यह अविश्वास घुस गया था कि ललिता अपना पूरा प्रेम उसे नहीं दे पाती है। वह पढ़ी-लिखी औरत है। नई सभ्यता के वातावरण में तितली-सी पली है। रामटहल का जीवन तो इसी छोटी-सी बस्ती में कट रहा है। वह सूट-बूट में नहीं रहता। रोज़ दाढ़ी और मूछें साफ़ नहीं कराता। विशेष ठाट-बाट से रहना उसे पसन्द नहीं। पर उसने ललिता को कभी नहीं रोका कि वह सेंट, साबुन, पाउडर, क्रीम आदि का व्यवहार बन्द कर दे या सप्ताह में एक बार शहर जाकर सिनेमा न देखे। ललिता के जी में जो आता है, करती है। वह उसे रोकता नहीं।

और यह जो है उसका छोटा भाई विजन, जिसे उसने मा के मरने के बाद बचपन से ही पाला है और आज कालेज की ऊँची शिक्षा दिला रहा है, उसे शहर की हवा लग चुकी है। उसे धोती अच्छी नहीं लगती, कुर्ते बदन में ठीक नहीं जँचते। अँगरेज़ी पढ़ता है। अँगरेज़ी पोशाक नहीं पहनने पर अभद्रता जो होगी! इसलिए वह इन सब बातों पर ज़्यादा ध्यान रखता है। जीवन की रंगीनियों से वह खुलकर परिचित हो

लेना चाहता है। ललिता भी उसी के रंग में रँगी चली जा रही है। ललिता को तो गृहिणी के समान रहना चाहिए। उसका अपना पति है। विजन देवर ही है, तो क्या? दोनों का यौवन उद्गम से कुछ आगे बढ़कर लहरा रहा है। कोई क्या कहता होगा!'

कभी-कभी रामटहल के दिल में खटक उठता है कि ललिता आख़िर इतनी सुन्दर क्यों हुई? कृत्रिमता से अपनी सुन्दरता को वह और भी बढ़ाने की चेष्टा क्यों करती है? श्वेत कमल की छाती से लगकर सोये हुए दो भौंरों के समान आँखें, सुन्दर नाक, आरक्त अधर। फिर भी वह भौं क्यों बनाती है, होठों पर लिपस्टिक क्यों लगाती है, दो चोटियाँ क्यों काढ़ती है? एक चोटी से भी तो काम चल सकता था। और जब रामटहल को यह सब पसन्द नहीं, तो वह ऐसा क्यों करती है? विजन उसे तृषित आँखों से देखता है। रामटहल ने इसे कई बार अपनी आँखों से देखा है। पर जब ललिता को यह सब पसन्द है तो वह क्यों बोले? ललिता नासमझ नहीं है, जिसे समझाया जाय। उसे भी तो अपना भला-बुरा समझना चाहिए।

रामटहल ने एक दीर्घ साँस लेकर छोड़ दी। घड़ी ने बारह बजाये—टन्-टन्-टन्। बाहर बैठी ललिता जैसे सचेत हो गई। वह मन-ही-मन गिनने लगी—एक-दो-तीन....बारह! उसने अपने पाँव फैला दिये। फिर एक अँगड़ाई ली। जैसे वह अपने से ही कह उठी, बारह बज गये। शब्दों में टूटा हुआ उत्साह था। उसने झाँककर भीतर देखा। रामटहल चित्र की ओर आँखें गड़ाये देख रहा था। वह अपने ऊपर खीझ उठी। वह बैठी-बैठी क्या सोचा करती है? वह जानती है कि उसे यह सब नहीं सोचना चाहिए। पति के विषय के सिवा उसके सोचने के लिए और कुछ है भी? पर यह विजन! वह चाहती है कि विजन के विषय में वह कुछ भी न सोचे। ललिता को जैसे भूला हुआ कर्त्तव्य याद हो आया, दवा देने का समय हो गया। वह अधसिले कपड़ों को समेटकर उठी कि दवा दे दे, तब और कुछ करेगी। बैठक से आवाज़ आई—'भाभी! ज़रा इधर तो आना!'

ललिता भीतर न जा सकी। दरवाज़े पर से लौट आई। विजन इधर-उधर से घूमकर आया है। बारह बज गये हैं। उसने अब तक खाना नहीं खाया है। कितना बेपरवा रहा करता है विजन! इस तरह कैसे वह अपने स्वास्थ्य को ठीक रख सकेगा?

रामटहल ने देख लिया था कि ललिता दरवाज़े तक आकर लौट गई है। उसे अपने ऊपर खीझ हो आई। वह कह क्यों नहीं देता कि तुम दोनों का इस तरह का व्यवहार ठीक नहीं। देखो तो, दवा देने का समय भी टलता जा रहा है और वह है कि मेरी कुछ परवा ही नहीं करती! सोचने की बात है, आख़िर विजन से मिलना रामटहल को दवा पिलाने से अधिक आवश्यक तो नहीं था। और वह इसी विजन और ललिता के विषय में क्या-क्या सोचता रहा!

बैठक से दोनों की बातें करने की आवाज़ आ रही थी। विजन कह रहा था—'भाभी, तुम खिलाती हो, तो उसमें एक विशेष स्वाद मालूम पड़ता है।'

रामटहल कल्पना करने लगा, विजन ललिता की ओर तृषित नयनों से देख रहा होगा और ललिता हँस रही होगी! फिर विजन को 'एक विशेष स्वाद' क्यों नहीं मालूम पड़े! वह अपने ऊपर एक बार फिर क्रुद्ध हो उठा। ललिता उसकी विवाहिता स्त्री है। वह उस पर शासन क्यों नहीं करता? उसे निरंकुश रखने का ही तो यह सब नतीजा है। आज वह साफ़-साफ़ ललिता से कह देगा कि तुम्हारा यह आचरण ठीक नहीं। उसने पुकारा—'ललिता!'

बैठक से ललिता की आवाज़ आई—'आई!' रामटहल दरवाज़े की ओर प्रतीक्षा की दृष्टि से देखने लगा। बैठक में विजन बोला—'भाभी, थोड़ी दाल दे दो, तब जाना!' रामटहल सोचने लगा, ललिता पहले विजन को दाल देगी, तब यहाँ आवेगी। दाल देकर ज्यों ही ललिता चलने लगी, तो विजन तरकारी माँग बैठा, फिर भात। इस तरह ललिता के आने में कुछ देर हो गई। रामटहल सोच रहा था, ललिता अब उसकी अवहेलना भी करने लगी है। पहले वह उसकी ही बात सुन जाती, तो क्या हर्ज हो जाता? थोड़ी देर खाना न मिलने से विजन मर तो नहीं जाता। उसकी समझ में नहीं आता कि ललिता क्यों उससे किनारा काट जाना चाहती है। ललिता तो उसकी है। उसके लिए वह सब कुछ करने को तैयार है।

ललिता कमरे में आई। एक क्षण तक वह रामटहल की ओर देखती रही। फिर उसकी आँख घड़ी पर जा पड़ी। साढ़े बारह बज गये थे। उसे याद आया कि दवा तो उसने दी ही नहीं। अनजाने दाँतों-तले जीभ दब गई, जैसे उससे कोई बड़ा भारी अपराध हो गया हो। उसे अपने ऊपर क्रोध हो आया। उसे कर्त्तव्य का

तो कुछ ज्ञान ही नहीं रहता। बीमार पति की देख-भाल करनेवाला उसके सिवा इस घर में कौन है? उन्हें दवा देकर कोई काम करना चाहिए था। भला वे क्या सोचते होंगे? वह दवा ढालने के लिए टेबुल की ओर बढ़ी। उसे क्रोध आ रहा था रामटहल के ऊपर भी। वे ही क्यों उसकी ओर से उदासीन रहते हैं? वह पराई तो है नहीं—उनकी अपनी है। उनका तो उसके ऊपर अधिकार है। वे अपने अधिकार का प्रयोग क्यों नहीं करते? उसके सामने वे अपराधी-से क्यों रहते हैं? यह उसे अच्छा नहीं लगता। वह चाहती है कि रामटहल उससे अधिकार और शासन-भरे शब्दों में कहें, ललिता, तुम्हें यह करना पड़ेगा; वह क्यों नहीं किया? पर वे हैं कि यह सब कुछ नहीं कहते।

ललिता दवा लेकर रामटहल के सिरहाने खड़ी हो गई। रामटहल छत की ओर देख रहा था। ललिता सहमी-सी खड़ी थी। वह जानती थी कि उससे अपराध हो गया है। वह कुछ कहना चाहती थी; पर सोच में पड़ गई कि क्या कहे। फिर साहस करके बोली—'दवा नहीं पियोगे क्या?'

रामटहल ने अपने शब्दों को बहुत कोमल करते हुए कहा—'नहीं ललिता!' और अपने होठों पर मुस्कान लाने की चेष्टा की।

ललिता को रामटहल का यह कहना कुछ अच्छा नहीं लगा। वे क्यों उसके किये हुए अपमान को हँसकर पी जाते हैं? उसके सामने वे झुके-झुके-से क्यों रहते हैं? आख़िर इस दुराव का क्या मतलब है? उन्हें क्या कहा जाय? अनजाने ही वह सरोष बोल उठी—'तो दवा नहीं पियोगे?'

रामटहल ने ललिता की ओर से सिर घुमा लिया। ललिता कुछ क्षण तक खड़ी रही। उसके जी में आता था कि वह हाथवाली दवा की शीशी और गिलास दोनों को पटककर फोड़ दे। बोली—'अच्छा, न पियो!' और दवा की शीशी रखकर बाहर निकल गई। आँगनवाली देहरी पर वह खम्भे से टिककर कुछ क्षण ख़ड़ी रही। उसका मन चाहता था कि वह जी ख़ोलकर ख़ूब रोये। उसे लगा, जैसे परिस्थिति में बहुत कुछ तनाव आ गया है। रामटहल उससे कुछ पीछे छूट गया है। दोनों के बीच एक अस्पष्ट-सी दीवार खड़ी हो गई है। वह विचार करती है, इसमें अपराध किसका है—उसका या रामटहल का? यही तो वह नहीं विचार कर पाती है। शायद वह अपराधिनी नहीं है—रामटहल भी नहीं। फिर दूरी क्यों बढ़ती जा रही है?

वह भरी-भरी-सी कपड़ा सीने बैठ गई। इसी घर में जब उसने पहले-पहल क़दम रक्खा था, तो हृदय में कितने अरमान, कितनी अभिलाषाएँ संचित थीं। पति उसके मनोनुकूल मिले थे। उसने अपने स्वप्नों को साकार होते पाया था। वह फूली नहीं समाती थी। पर एकाएक उसके पति के स्वभाव में कैसे इतना परिवर्तन हो गया। यही वह नहीं समझ पाती। सुहाग की रात, जब ललिता फूलों की शय्या पर अलसाई हुई सोई पड़ी थी, तो उसके पति आये थे। वह उठकर उन्हें नमस्ते नहीं कह सकी थी। तब उन्होंने बनावटी क्रोध से ललिता को घर से बाहर निकल जाने को कहा था। और जब ललिता डरी-सी, सहमी-सी बाहर निकली जा रही थी, तो रामटहल ने उसे अपने भुजपाश में बाँधते हुए बड़े प्यार से कहा था—'तुम डर गईं ललिता? बड़ी भोली हो।' उसके बाद उन्होंने घर-गृहस्थी के विषय में कहा था कि अब उसके ही ऊपर घर का सारा भार है। उस दिन उसे गृहिणी का बोझ उठाते कितना सुख का अनुभव हो रहा था! और आज वे बनावटी क्रोध से भी ललिता के ऊपर अनुशासन नहीं करते। रामटहल का कोमल और क्षमापूर्ण दयनीय प्यार अब ललिता के लिए भार-सा हो गया है। कैसे उन दोनों के बीच इतनी नीरसता घुस गई है!

ललिता सोचती है कि उसके और उसके पति के बीच में रेखा खींच देनेवाली कोई-न-कोई वस्तु अवश्य है। पर वह है क्या? यही तो पता नहीं लग रहा है। वह सोचती है, दुनिया में कितनी जल्दी परिवर्तन हुआ करता है! आज से चार साल पहले वह अपने पति के प्यार के नीचे गद्गद थी। पति-गृह में आकर उसे स्नेह एक और आदमी का भी मिला। और वह है विजन! विजन के स्वभाव से उसका स्वभाव बहुत कुछ मिलता-जुलता है, इसलिए विजन को उसके निकट आने में कोई देर न लगी। जब वह पहले-पहल आई थी, तो इसी विजन ने धीरे से घूँघट हटाते हुए कहा था—'नमस्ते भाभी!' और खिलखिलाकर हँस पड़ा था। उसकी हँसी उसे बहुत अच्छी लगी थी। इसी समय रामटहल ने आकर कहा था—'यही है विजन, ललित! इसे सम्हालना भी तुम्हारा ही काम है।' ललिता उस समय लाज से गड़ गई थी। उस समय रामटहल के हृदय में उसके लिए

प्रेम उमड़ा उमड़ा पड़ता था। पर आजकल वे उससे क्यों उखड़े-उखड़े रहते हैं? कुछ भी हो, वे बहुत अच्छे हैं। उसे कितना प्यार किया करते हैं! अकारण ही उन पर वह अभी क्यों क्रोधित हो उठी? और वे हैं कि कुछ बोले नहीं। कितना उदार है उनका हृदय! वे दवा नहीं पियेंगे, तो किसका बिगड़ेगा? उसे क्रोधित नहीं होना चाहिए था। क्रोध करने की कोई बात भी तो नहीं थी। उन्होंने दवा पीना अस्वीकार कर दिया और वह बिगड़ उठी। छिः, कितनी छिछली है वह! वह उनसे अवश्य क्षमा माँगेगी।

वह उठकर धीरे-धीरे रामटहल की ओर चली। बैठक में से विजन ने पुकारा—'भाभी!'

ललिता बोली—'क्या है?'

'इधर आना तो।'

ललिता का करुण व्यक्तित्व हृदय की आर्द्रता से भींग उठा था। वह एक क्षण रुकी, फिर बैठक की ओर चली। बैठक में जाकर वह अवाक् रह गई। विजन बिस्तर की गठरी बाँध चुका था। शायद वह कहीं जाने की तैयारी कर रहा था। ललिता ने यह देख लिया था कि विजन ने कोई तसवीर बैठक की दीवार से हटाकर अपनी अटैची में रख ली है। वह स्तब्ध-सी क्षण भर विजन की ओर देखती रही। वह सोच रही थी कि विजन कहीं जा रहा है। उसे अभी रुपये की आवश्यकता है, इसलिए उसे बुलाया है। उसने सहज भाव से पूछा—'कहाँ जाओगे, विजन बाबू?'

विजन की आँखों में आँसू भरे थे। उसने एक बार ललिता की ओर देखा और कहा—'बहुत दूर जा रहा हूँ भाभी! जहाँ से फिर कभी नहीं लौटूँगा। अब जीवन भार-सा लग रहा है। मैं अब तक अपने ऊपर नियन्त्रण करता आया हूँ; पर देखता हूँ कि अब असफल हो जाऊँगा। असफलता के पास आने के पहले ही मैं दूर हो जाना चाहता हूँ। मैंने तुम्हें अन्तिम बार जी-भर देख लेने के लिए बुलाया है। मैं एक बात जानना चाहता हूँ, भाभी कि....'

विजन आगे कुछ नहीं कह सका। उसका गला रुद्ध हो गया था। ललिता साश्चर्य उसकी ओर देख रही थी। वह समझ नहीं पा रही थी कि विजन यह सब क्या कह रहा है। एकाएक उसे घर से विराग क्यों हो गया? इतनी जल्दी वह दार्शनिक कैसे बन गया? कैसा नियन्त्रण? कैसी असफलता? यही सब ललिता सोच रही थी। इक्केवाले ने बिस्तर की गठरी इक्के पर रख दी थी। विजन ने एक बार आँख उठाकर ललिता की ओर देखा। उसकी आँखों से आँसू ढलक पड़े। ललिता ने यह सब देखा। तो विजन रोता है! वह क्यों रोता है? अपने से ही वह पूछ उठी। विजन ने आँखें पोछकर एक बार ललिता की ओर देखा और अटैची उठाकर चलने लगा।

ललिता ने अटैची पकड़ ली। शासन-भरे स्वर में इक्केवाले से बोली—'सामान उतारकर रख दो! बाबू नहीं जायँगे।' और वह अटैची खोलकर देखने लगी। रूमाल, गंजी, तौलिया और यह तसवीर? यह तो ललिता की तसवीर है, जिसे विजन ने उसकी शादी के एक साल बाद खींचा था। उसके मन में तुरत ही बहुत तरह की भावनाएँ घूम गईं। उसने हतप्रभ-से खड़े हुए विजन की ओर ग़ौर से देखा और मुस्कुरा पड़ी। उसके स्वर में परिहास था—'तो मुझसे ही प्रेम का स्वाँग करते हो, विजन बाबू? यह तो लड़कपन है। यह नादानी कब सीखी?' और वह खुलकर हँस पड़ी—'तुम अब कहीं नहीं जा सकते।' यह कहकर उसने बिस्तर की गठरी और अटैची लेकर कमरे में बन्द कर दी और चाभी लेकर रामटहल के कमरे की ओर चली।

रामटहल का हृदय रो रहा था; पर वह आँसुओं को सम्हाले था। ललिता ने उसे दुबारा दवा पीने के लिए क्यों नहीं कहा? क्या वह दुबारा पूछने से भी गया? वह चित्र की ओर देखता यही सब सोच रहा था। ललिता ने कमरे में प्रवेश करते कहा—'देखो जी, एक बात तो तुम्हें मालूम नहीं? यह जो है विजन—तुम्हारा भाई—वह मुझसे प्रेम करता है! वह अभी भागा जा रहा था, इसलिए कि मैं उससे प्रेम नहीं करती!'

रामटहल ने जिज्ञासा की दृष्टि से ललिता की ओर देखा कि वह यह सब क्या कह रही है। ललिता खड़ी-खड़ी हँस रही थी। रामटहल को ललिता इस समय बड़ी अच्छी लगी। उसके मन में एक मधुर पीड़ा का धुआँ उठकर रह गया। उसने ललिता का हाथ अपने हाथ में लेकर दबा लिया। दोनों मुस्कुरा पड़े। रामटहल ने चित्र की ओर देखा। वह बोल उठा—'देखो, ललिता, वे दोनों ही विहग बटोही साथ चलनेवाले हैं। मैंने भ्रम से यह समझ रक्खा था कि दोनों एक दूसरे से दूर-दूर उड़ रहे हैं!'

ललिता मुस्कुरा पड़ी। दोनों ने अनुभव किया, जैसे आज उनके हृदयों में चलनेवाले संघर्षों को एक विराम-बिन्दु मिल गया है।

एकांकी

मृत्यु-पर्व

श्रीयुत कृष्ण बी० ए०

[वैसे तो प्रस्तुत एकांकी की कथा सिख-इतिहास के गौरवमय त्तणों से ही सम्बद्ध और उद्‌भूत है, पर मुझे इसके लिखने की स्फुरणा सीधे इतिहास से न प्राप्त होकर पंजाबी के एक विशिष्ट काव्य प्रेम-पंचायत से हुई है। इस काव्य में गुरु गोविन्दसिंहजी के उन पाँच प्रेमपरायण भक्तों का वर्णन है जिनकी आस्था थी कि—

दीन दुनिया दर कमन्दे, आँ परी रुख़सारे मा। हर दो आलम क़ीमते, यक तार मूए यार मा॥

मेरी इच्छा तो थी उन पाँचों ही शहीदों का इस क्षुद्र एकांकी में अंकन करने की, किन्तु विस्तार भय और इतिहासगत विरोध के कारण मन मारकर रह जाना पड़ा। इस एकांकी में मैं केवल कहलूरगढ़ के पर्वतीय राजा भीमचंद के मंत्री देवीदास और सैयद पीर बुद्धूशाह से सम्बद्ध घटनाओं को ग्रहण कर सका हूँ। इस कथानक का ऐतिहासिक समय १७६१ ई० सन् के लगभग निरूपित मिलता है। कथा के विषय में और कोई विशेष संकेत न देकर प्राक्कथन से विरति प्राप्त करता हूँ—लेखक।]

प्रथम दृश्य

(पर्वत-शृंखलाओं से सुरक्षित गढ़ कहलूर। एक लघु प्रकोष्ठ में भीमचंद देवीदास के साथ)

राजा भीमचंद—हूँ, सिख-गुरु का इतना साहस कि मेरी अवमानना करे! कहलूर का छत्रपति पर्वतों पर शासन करता है।

मन्त्री देवीदास—महाराज, सिख-गुरु ने तो केवल सम्प्रदाय धर्म की ही मर्यादा रक्खी।

राजा—यह मर्यादा नहीं, दम्भ है उसका। मेरी ही दी हुई वस्तु पर इतना गर्व! कुमार के विवाह में भूरा हाथी, पंचकला शस्त्र व्यवहार में नहीं लाये जा सकते, केवल गुरु ही उनके उपभोग का अधिकारी है।

मन्त्री—प्रभो, दान दाता के अधिकार को नष्ट कर देता है; क्षमा करें।

राजा—और गृहीता को अधिकार दे देता है कि दाता का अपमान करे! भीमचंद कहलूरिया अपमानित होना नहीं जानता! उसका सिर पहाड़ों पर नाचता है!

मन्त्री—देव, आपको भ्रम हुआ।

राजा—यह तुम कह रहे हो देवीदास! कहलूरिया का मन्त्री, क्या इतने पोच शब्द भी बोल सकता है? जानते हो शैल-शृंखला से टकराने का क्या परिणाम होता है?

मन्त्री—श्रीमन् ......

राजा—मन्त्री, आज मुग़ल-सम्राट् औरंगज़ेब गोविन्दसिंह के दमन के लिए कहलूरिया का मुखापेक्षी है। मुग़ल-वाहिनी मेरे संकेत की प्रतीक्षा कर रही है।

मन्त्री—शांत हो स्वामी!

राजा—शान्ति, वह विनाश के बाद आप आवेगी। बता सकते हो, आनंदपुर का क़िला गुरु की रक्षा कब तक कर सकता है। मुग़लों की तोपें उसकी प्राचीरों का भेदन न कर देंगी? कहलूरिया का हाथी उसके फाटक को चर्रा न देगा?

मन्त्री—तो क्या आप धर्मशत्रु तथा देशद्रोही मुग़लों के ही पृष्ठपोषक बनेंगे? स्वदेश को परतन्त्रता की ज़ंजीर से जकड़ने में सहयोग देंगे?

राजा—चुप रहो मंत्री, तुम्हारे शब्दों से उपदेश की गंध आती है। कहलूरिया की प्रतिहिंसा भीषण है। मुट्ठी पर सिख पतंगे से अधिक महत्त्व नहीं रखते। मैं विध्वंस का सर्जन करूँगा।

मन्त्री—महाराज, गुरु साहब को तो आशा थी कि बाईसधार के नरेशों का संगठन कर देश से मुग़लों को निष्कासित करने में सफल होंगे! आपकी वीरता पर उन्हें अभिमान है। उसका दुरुपयोग नहीं होना चाहिए।

राजा—और तुम, कहलूरिया के मन्त्री, उसी वीरता पर संदेह करते हो। बाईसधार का नृपमंडल कहलूरिया की हँसी के साथ हँसता है और क्रोध के साथ काँपता है। गुरु ने जिस पहाड़ पर पीठ लगाकर

विश्राम करना चाहा है, अब वही उसे चूर-चूर कर देना चाहता है।

मन्त्री—महाराज, क्रोध से अभिभूत हो रहे हैं!

राजा—सीमा का अतिक्रमण मत करो देवीदास। तुम कहलूरिया के सामने हो।

मन्त्री—मैं उनका मन्त्री हूँ।

राजा—पर इसी से तुम उसके सिर पर चढ़कर नहीं बोल सकते।

मन्त्री—क्षमा करें देव! मन्त्रीधर्म की कटुता ही मुझे परामर्श देने के लिए बाध्य कर रही है।

राजा—किंतु तुम्हारे शब्दों से तो गुरु के प्रति हितैषिता टपक रही है। गुरु का हितैषी मेरा शत्रु है। मन्त्री, अब तुम्हारी मंत्रणा भी मेरे लिए सन्देहास्पद है।

मन्त्री—महाराज, आत्माभिमानी कहलूरिया को दूसरों का अपमान नहीं करना चाहिए।

राजा—चुप रहो देवीदास! राजद्रोही का अपमान कैसा? शत्रु के गुप्तचर के साथ सद्भाव कैसा? तुम मेरे राज्य की नींव की पोली ईंट हो! पोली ईंट को निकाल फेंकना होगा।

मन्त्री—महाराज मुझे स्पष्ट भाषण के लिए बाध्य कर रहे हैं। आपने विनाश की ओर पैर बढ़ाया है। उसकी ज्वाला आपको भी सुरक्षित न रख सकेगी। मैं मन्त्री के नाते आपको संकटापन्न न होने दूँगा।

राजा—मन्त्री, तुम्हारे मुँह से गुरु बोल रहा है। तुमने मेरा अपमान किया है। कहलूरिया का अपमान कर तुम जीवित नहीं रह सकते। मन्त्री, तुम द्रोही हो; मैं तुम्हें बन्दी करता हूँ। सैनिक!

मन्त्री—सैनिक की कोई आवश्यकता नहीं। मैंने सत्यव्रत ग्रहण किया है। पूर्ति के लिए बलिदान को भी प्रस्तुत हूँ।

(मन्त्री का शस्त्र त्यागना और बंदी होना)

पटक्षेप

द्वितीय दृश्य

(मुग़लवाहिनी से आक्रान्त आनंदपुर के क़िले में गुरु गोविन्दसिंह, अजितसिंह, जुझारसिंह (गुरु-पुत्र) तथा कुछ सिख-वीर)

गुरु गोविन्दसिंह—कहलूरिया से कितनी आशा थी, पर सब व्यर्थ हुई। मन्त्री के साथ-साथ उसकी बुद्धि भी मर चुकी है। केवल अंधा बल शेष रह गया है।

सिख-सेनापति—गुरु साहब, आज सिखों की दृढ़ता ने शत्रुओं की आँखें खोल दी हैं! किन्तु अब तो अन्न-कोष भी समाप्त हो चला। अब क्या होगा?

अजितसिंह—आत्मसमर्पण और निकृष्ट पराजय के विपरीत सब कुछ।

जुझारसिंह—हाँ, पिताजी, सिख भूख से बेबसी की मौत नहीं मर सकता। उसे तो शत्रु दिखा दो। बस, वह निपट लेगा!

गुरु—वही अवसर समीप है। जुझार, चमकौर का युद्ध महान् बलि चाहता है। बोलो उसके लिए तत्पर हो।

अजित—पिताजी........

गुरु—उतावले मत हो! तुम भी वञ्चित न रहोगे। आज कृपाण की तृषा शान्त करने का अवसर आ गया है। रणसज्जा पूर्ण कर लो, घड़ी आ गई है।

सेनापति—हमारे रहते यह न हो सकेगा गुरु साहब! साहबज़ादों की ज़िन्दगी इतनी सस्ती नहीं! चमकौर-रणस्थल साहबज़ादों के रक्त की एक बूँद को भी न चाह सकेगा! फिर हम किसलिए?

गुरु—तुम सब देश के प्राण हो। सेनापति, इतना जान लो कि गुरु दूसरों के लालों की ही भेंट चढ़ाना नहीं जानता, कुछ अपना भी हार जाना जानता है। रण-यज्ञ की पूर्णाहुति मुझे अपने ही अंश से करनी होगी।

सेनापति—गुरु साहब, आज मुग़ल-दूत आया था। मुग़ल सन्धि के लिए उत्सुक हैं। वे दीर्घकालीन घेरे से घबरा उठे हैं। उन्होंने विश्वास दिलाया है कि क़िले का त्याग कर देने पर हमारा अनुधावन न करेंगे! तो इस अवसर का उपयोग क्यों न करें!

गुरु—इसके लिए हम प्रस्तुत हैं। पर वीर, तुम प्रपञ्च और कूटनीति से दूर हो। ये अभय के शब्द केवल प्रवञ्चना हैं। सिर पर झूलती तलवार इतनी सरलता से नहीं हट जाती।

सेनापति—तो अन्य उपाय!

जुझार—युद्ध और मृत्यु।

अजित—विजय या मृत्यु।

गुरु—केवल आत्मविश्वास।

सेनापति—पर इस विश्वास के लिए तो हमें बहुत कुछ खो देना भी पड़े तो आश्चर्य नहीं।

गुरु—सेनापति, वीर विश्वास करता है और वचनों के लिए मरना भी जानता है। मृत्यु वीर का

नहीं, अपितु वीर मृत्यु का वरण करता है। आओ, आज शत्रु को सिखों के हृदय की सरलता और वशालता का परिचय दे दें। कूच का का बजा दो, फाटक की अरगलाएँ हटा दो और खाई पर पुल डाल दो। सिख वीर मरेगा तो रणक्षेत्र में ही। बस, अब विलम्ब नहीं।

(प्रस्थान)

(समवेत स्वर में सतश्री अकाल, वाह गुरुजी का खालसा, वाह गुरुजी की फ़तह)।

पटक्षेप

तृतीय दृश्य

(चमकौर की रण-भूमि)

सिख-सैनिक—गुरु साहब, धोखा हुआ। मुग़लों ने दक्षिण और पश्चिम पार्श्व से आक्रमण कर दिया है। भयंकर युद्ध ठन चुका है। पर साहबज़ादे अजित—

गुरु—क्यों, रुक क्यों गये ! तुम यही कहना चाहते हो न कि साहबज़ादे ने वीरगति पाई। देखो, मेरी छाती फूल उठी है। अब मैं केवल सिखगुरु ही नहीं, शहीद का पिता भी हूँ। जाओ, युद्ध की व्यवस्था करो। यह तो आरंभमात्र है।

(सैनिक का प्रस्थान और क्षत-विक्षत जुझार का प्रवेश)

जुझार—मानवते, तुझे गर्व किस बात पर है ? क्या इन्हीं अमानुषी युद्धों पर, जहाँ अल्पसंख्यक आश्वस्त वीरों पर असंख्यक प्रवञ्चक आक्रमण कर दें ? शवों से क्षेत्र पाया; रक्त से भूमि रँग गई। सरसा का जल भी रक्ताभ हो उठा ! मुझे प्यास लगी है। पर पानी कहीं नहीं। आह, रक्त ! नहीं, पानी ! पानी !

गुरु—कौन जुझार ! तुम यहाँ ! क्या छिपने का स्थान खोज रहे हो ? युद्ध की विभीषिका से त्रस्त—

जुझार—नहीं पिताजी, युद्ध करता-करता इधर निकल आया। ओह, आज मैंने अधिकार और शक्ति के नाम पर मानवता और सरलता की हत्या होती देखी है। पिताजी, मानव की कितनी भीषण प्यास है ! रक्त से भी शांत नहीं होती। मैं भी प्यासा हूँ ! पर रक्त का नहीं ! मुझे जल चाहिए, दो घूँट जल, श्वेत जल !

गुरु—भयभीत सैनिक, प्यास के नाम पर तुम आत्म-रक्षा के लिए आश्रय खोज रहे हो। रण के खेल से घबराये सैनिक के लिए मृत्यु की गोद ही उत्तम है। तुम युद्ध छोड़कर पानी के लिए भाग खड़े हुए ! यह देखो, मेरे पास भी कटार है, रक्त की प्यासी कटार ! इसे ले सकते हो। प्यास बुझानी हो तो अपने भाई के पास जाकर बुझाना ! वह वहाँ पहुँच चुका है, जहाँ—

जुझार—क्या कहा पिताजी ! भैया, अब गुरुधाम सिधार गये ! मानव की क्षुधा-ज्वाला इतनी भीषण है ! उन्हें भी आत्मसात् कर लिया ! भैया, भैया !!

गुरु—जुझार, क्या भैया के नाम पर रोकर आँसुओं से ही अपनी तृषा शान्त कर लेना चाहते हो ? जान पड़ता है, तुमने जन्मभूमि के आँसू नहीं देखे, उसकी पिपासा का अनुभव नहीं किया। मा की प्यास मिटाने के लिए वक्ष का रक्त देना होगा ! उसने भी हमें अपना रक्त ही तो पिलाकर पोसा है। स्वतन्त्रता आँसुओं से नहीं, रक्त से अपना शृंगार करती है।

जुझार—पर पिताजी, क्या भैया का रक्त इतना सस्ता था कि चमकौर की मिट्टी उसे चाट ले और बस !

गुरु—जुझार, शहीद के रक्त से दिग्ध मृत्तिका भी स्वर्ण हो जाती है। चमकौर के क्षेत्र का चप्पा-चप्पा रक्त से रंजित हो जाना चाहिए ! वीर के मस्तक के लिए भी दो गौरव के स्थान हैं। या तो गर्जन के साथ संहार करता हुआ अकाली धड़ अथवा रक्त से आप्लावित रण-भूमि !

जुझार—अच्छा, जाता हूँ पिताजी ! भैया प्रतीक्षा कर रहे होंगे। पर प्यास ! ओ ! आया, अभी आया भैया ! जल प्रस्तुत रहे।

(वेग से प्रस्थान)

पटक्षेप

चतुर्थ दृश्य

(पर्वत-उपत्यका में भंगानी-क्षेत्र)

सैयद पीर बुद्धूशाह—गुरु साहब, इतना बड़ा वाक़या हो गया, पर जनाब ने ग़ुलाम को याद भी न फ़रमाया। कहाँ आनंदपुर का क़िला, कहाँ कीरतपुर, सुरसा नदी और चमकौर का रँगरेज़ मैदान ! सब शह दा सिखा के ख़ून से शराबोर हो गये। अब भंगानी की बारी है। इस बार मुझे महरूम न करें !

गुरु साहब—पीर साहब, आज आप विधर्मियों के हित के लिए अपने दो पुत्रों की बलि देना चाहते हैं !

पर क्या आप विचार कर चुके हैं कि आपके हृदय की धड़कन में एक पिता जाग रहा है ? जब पुत्रों को खोकर वह उनकी खोज करेगा, तब इस पर क्या बीतेगी ?

पीर—गुरु साहब, साहबज़ादे अजित और जुझार को अभी मैं भूला नहीं। उनका बाप भी एक इनसान है। उनका लड़ाई में जूझ जाना उस वालिद ने अपना फ़र्ज़ और उनका हक़ समझा। फिर मैं ही क्यों नाहक़ फ़र्ज़ से दूर रहूँ ?

गुरु—पीर साहब, गोविन्दसिंह ने तो दाह पैदा किया है। वह स्वयं तो इसमें जलेगा अवश्य, पर दूसरों की रक्षा ही अभीष्ट समझेगा। जाओ, पुत्रों को लेकर लौट जाओ, मा की गोद को सूनी न करो !

पीर—गुरु साहब, मुझे आपसे हसरत हो रही है। आप शहीदों के बाप हैं। मैं भी बनना चाहता हूँ। आप मुझे मौक़ा दें।

गुरु—पीर साहब, मैं इस युद्ध का अन्त देख रहा हूँ। यह संघर्ष अब किसी प्रयोजन से न होकर व्यर्थ ही हो रहा है। मेरे अधिकार में शत्रु का कोई प्रवेश नहीं और मेरे वन-वन भटकने से शत्रु की कोई हानि भी नहीं। फिर भी वह मुझे छेड़ रहा है। मैं उसके विनोद का स्वागत करता हूँ। बस, यही युद्ध का रहस्य है। जैसे ही इसकी निरर्थकता स्पष्ट हो जायगी, युद्ध विराम पा लेगा। मुग़ल-सेनाएँ प्रत्यावर्त्तन करेंगी और सिख बिखरी हुई, कुचली हुई शक्ति के पुनः संगठन में तत्पर हो जायँगे। पीर-ज़ादों को निरर्थकता की भेंट न चढ़ाओ।

पीर—गुरु साहब, जो शक्ल आपने नाचीज़ के सामने पेश की, वही इंशा अल्ला की निगाह अन्दाज़ कराई जाती, तब भी आप क़ुर्बानी से बाज़ न आते ! फिर आप बुद्धूशाह को क्यों गुमराह कर रहे हैं ?

गुरु—पीर साहब, तुम्हारे शब्दों में आशा, ओज और साहस है। मैं ऐसे ही शब्द सुनने के लिए आकुल था। अब उस दिन की प्रतीक्षा में हूँ, जब भारत के प्रत्येक माता-पिता ऐसे ही त्यागमय वचन कहेंगे। वह समय सन्निकट प्रतीत होता है। अंधकार भाग रहा है, प्रकाश आ रहा है, उषा मुस्कराना चाहती है। भारत के नौनिहालों से कह दो कि जागने का उपयुक्त अवसर आ गया।

पीर—गुरु साहब, आप धन्य हैं।

गुरु—नहीं, धन्य तो तुम्हारे-सदृश पिता हैं। शाह साहब आओ। पिता बनकर ही पुत्रों की बलि दें। स्वतन्त्रता का वरदान पाना सहज नहीं।

(नेपथ्य में 'सिखां दि जय' आदि नारे)

पटक्षेप

पंचम दृश्य

(सैयद पीर बुद्धूशाह का निवासस्थान)

सैयदनी—जंग ख़त्म हो गया ! लौट आये। पर मुझे बच्चे नहीं दीखते, कहाँ हैं वे ?

सैयद—अहा, क़ुर्बानी के कितने कम मौक़े आते हैं। यह भी एक सुनहरा मौक़ा था, जो ख़त्म हो चुका।

सैयदनी—कैसा सुनहरा मौक़ा ! मैं बच्चों को नहीं देख पा रही। मैं कुछ नहीं जानती, कहाँ है वे ? बोलो, बोलो।

सैयद—जब मा के सपूत मा के पैरों की ज़ंजीरें काटने के लिए जोश-ख़रोश के साथ उभरा करते हैं, तब ऐसे ही मौक़े आते हैं। हिन्दू ऐसे मौक़े को पर्व कहते हैं, मृत्यु-पर्व ! इस मृत्यु-पर्व पर शहीद होनेवाले बहादुर सिख तक़दीर के बुलन्द हैं।

सैयदनी—तुम्हारे लफ़्ज़ों से मुझे डर लग रहा है। तुम कोई ख़तरनाक बात कहना चाहते हो। नहीं, मैं न सुन सकूँगी। बताओ, मेरे पिसर कहाँ हैं ? चंगे तो हैं ?

सैयद—ओ ! एक नहीं, कई जंग हुए ! चमकौर और भंगानी की घाटी को इस पर नाज़ है। उन्होंने शहीदों को अपनी गोद में जगह दी है। उनके ख़ून ने उनके जिगर पर तलवार की क़लम से बहादुरी के क़िस्से लिखे हैं ! उन शहीदों ने मौत को जीत लिया है, उसके क़ायल नहीं हुए। वहाँ, उनके मन्दिर और मज़ारें बनेंगी।

सैयदनी—आह, चुप भी रहो ! क्या कह रहे हो ! मैं सुनना नहीं चाहती। हाँ, सुनना नहीं चाहती। मुझे तो—

सैयद—तू फ़िक्रमन्द न हो ! देख, तेरे पिसर की क़ुर्बानी ने ही मुझे इस तोहफ़े को हासिल कराया। ले, तू भी इसका दीदार कर ले। (गुरु साहब से चिह्नस्वरूप पाये कंघे को, जिसमें कपोलपाली के कुछ केश अभी तक उलझे हुए थे, बढ़ाना)

सैयदनी—यह क्या, एक कंघा और कुछ उलझे हुए बाल ! यह कैसा तोहफ़ा ! इन्हें बताते तो हो मेरे ताज ! तुम्हें क्या हो गया ? मैं कुछ नहीं जानती,

मुझे तो सिर्फ़ बता दो कि मेरे जिगर के टुकड़े ख़ैरियत से हैं।

सैयद—अब उनकी ख़ैरियत मत पूछो! वे हमारी फ़िक्र के बाहर जा चुके होंगे! आ चल, उन शहीदों की मज़ार बनावें।

सैयदनी—अरे, यह क्या किया तुमने! मेरे बेटों को मैदान में कटवा डाला! ख़ुद शहीदों के बाप बनकर आये! ओ शहीदों के वालिद, तुझे ऐसा कौनसा लालच था? क्या इन बालों का? लो, मेरा सिर हाज़िर है, नोच लो। नोच लो, जितनी भी ज़रूरत हो नोच लो! (पागलों की भाँति बालों को नोचते हुए मूर्च्छित होकर गिर पड़ना)।

सैयद—(शान्त भाव से, आकाश की ओर देखते हुए) आह पगली, तू क्या जाने इन बालों की क़ीमत! ये मेरे प्यार के रुख़सार के बाल हैं, परियों की मानिन्द ख़ूबसूरत रुख़सार के बाल! दीन दुनिया में क़मन्दे हैं! एक-एक बाल की क़ीमत दोनों आलम हैं। मेरी ख़ुशक़िस्मती जो इन्हें हासिल कर सका! रुककर, नहीं, नहीं मेरे बच्चे तुम्हारी मौत का यह सवाब है! तुम्हारी ही यह क़ीमत है, तुम्हारी ही यह इनायत है। (अश्रुपात)

यवनिका पतन

उसकी स्फूर्ति कायम रखनेकी जिम्मेवारी आप पर है!
DALDA VANASPATI
The DALDA COOK BOOK
Price Re.1/-
सबसे बढ़िया शक्तिदायी चीजें कौनसी हैं इसकी जानकारी हरएक बीबीको होनीही चाहिये। डाल्डा कुक बुक (अंग्रेजी) में आहार के बारेमें लाभकारी बातें और १६० से अधिक आहारोंका बयान किया गया है। आपके पास इसकी एक कापी होनीही चाहिये। Dept. B140 P. O. Box No. 353, Bombay के पते पर चार आने के पोस्टल स्टाम्प भेजिये।
माताओ, आप जब अपने परिवार का भोजन बनाती हैं तब आपके क्षेत्रमें कितनी भारी शक्ती होती है! क्या आपने कभी इसका ख्याल किया है? आपके बच्चोंको स्फूर्तीले, हट्टे-कट्टे बनाना या उन्हें नि:शक्त, हताश और नाकामयाब करना आपके बनाये हुए भोजन पर और उसके बनाने में जिन चीजोंका इस्तेमाल हुआ है उनपर अवलंबित है।
हरएक चीजकी "स्फूर्तिदायी शक्ति" अपनी ही ढंगकी होती है। चंद बहुत स्फूर्तिदायी होती हैं और कई नमकीन, मीठी चीजें खानेमें अच्छी लगती हैं लेकिन उनसे शक्ति नहीं बढती। इसीसे कई लोग, जो बहुत खाते हैं, हमेशा नि:शक्त और निकम्मे मालूम होते हैं। खानेकी सभी चीजें हम ज्यादा स्फूर्तिदायी बना सकते हैं। बस, उन्हें जीवनसत्व-परिपूर्ण डाल्डामें पकाइये। डाल्डामें प्रकृतिके बढिया "अन्नांश" मौजूद हैं।
भोजनको ज्यादा स्फूर्तिदायी बनानेमें डाल्डाकी मदद होती है—हमने यह दिखा दिया है।
पोषक-तत्व संपन्न डालडा स्फूर्ति के लिये
THE HINDUSTAN VANASPATI MANUFACTURING CO., LTD.
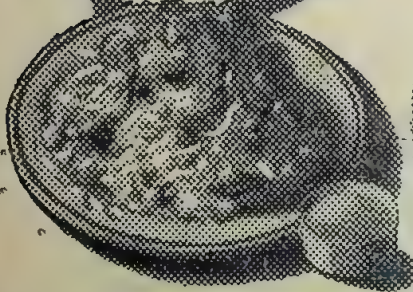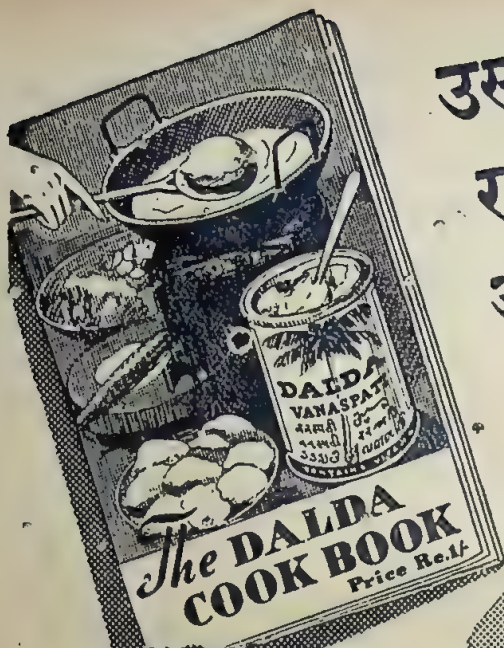
मैं न बन्धन चाहता हूँ

श्रीयुत "निशङ्क"

मैं विकल जब गिन रहा था नील अम्बर के सितारे,
रो रही थी शर्वरी भी मौन निज अंचल पसारे
चन्द्र हो परतन्त्र उससे मिल न पाया, दीन था वह,
मन्द द्युति थी, आज आश्रित था कला से हीन था वह,
पौ फटी, सहमे सितारे, और ऊषा मुसकराई।
वह पुजारिन मौन प्रिय की वन्दना भी कर न पाई।
कँप गई वह, गिर गये मोती, सभी बिखरे धरा पर—
रो पड़ा मैं भी किसी के हृदय की विगलित दशा पर
मैं नियति के भी नियम में मुक्त जीवन चाहता हूँ। मैं न बन्धन चाहता हूँ।

एक दिन उन्मन गया मैं वाटिका में शांति पाने
शून्य प्रांगण में प्रकृति के वेदना अपनी सुलाने
अर्धमुकुलित एक कलिका रूप-गन्ध लुटा रही थी
भ्रमर का मन छीनने को वह नया रँग ला रही थी
बिंध गया अलि उस कटीले रूप का बनकर पुजारी
एक मधुकण के लिए बनना पड़ा उसको भिखारी
सुमन की शय्या बनी क्षण में मधुप के हेतु कारा
खो सभी सुध-बुध हुआ वह रूप का बन्दी बिचारा
प्रेम के व्यापार में भी मुक्त यौवन चाहता हूँ। मैं न बन्धन चाहता हूँ।

बन्धनों से ही हमारी सभ्यता सीमित हुई है
बन्धनों से ही हमारी चेतना की इति हुई है
बन्धनों से ही हमारी जाति की यह गति हुई है
बन्धनों से ही हमारे देश की दुर्गति हुई है।
बन्धनों को तोड़ना ही क्यों न अपना ध्येय मानो
हो पराजित मौन जीवन को सदा तुम हेय मानो
चीरकर उर-पत्थरों का बह चलो, उमड़ो सरित-से
आज चमको बादलों में भी कड़ककर तुम तड़ित-से
वीर, तुममें केहरी-सी घोर गर्जन चाहता हूँ। मैं न बन्धन चाहता हूँ।

तुम अमर स्वच्छन्द हो फिर गति तुम्हारी मन्द क्यों है?
लुट रहा घर, देखते हो, किन्तु रसना बन्द क्यों है?
क्या न तुमको याद है राणा-शिवाजी की कहानी
क्या कसकती है न उर में भग्न फाँसी की निशानी
हो चुके जिसके लिए हैं आज अगणित शीश अर्पण
आज भी तो वीर तुमको दे रहे सादर निमन्त्रण
बन्दिनी मा भी तुम्हारी कह रही है अश्रु भरकर
"है यही अवसर, करो तुम मुक्त मुझको एक होकर"
साधना की पूर्ति के हित योग्य साधन चाहता हूँ। मैं न बन्धन चाहता हूँ।

सौंदर्य की
परम्परा कायम रख रही है

जवान लड़कियों के सभी महत्वपूर्ण मामलों में केवल उनकी मां ही उन्हें बहुमुल्य सलाह दे सकती है। इस रूपवती मां ने अपनी सुन्द्र बेटी को अपना बढया गुर दिया है कि पियर्स साबुन और स्वच्छ पानी की सहायता से त्वचा के सौन्दर्य को कायम रखा जा सकता है। यह शिक्षा इस मां ने अपनी मां से ली थी और अपने बचपन से ही इस पर अमल करती आई है। इसी कारण उसकी त्वचा आज भी उतनी ही प्यारी और सुन्दर है। इसकी बेटी भी उसी तरह अपनी त्वचा की प्रवाह करती है। इसलिये उसकी मां की तरह उसकी त्वचा भी बेदाग और सुन्दर रहेगी।

चालीस साल से हिन्दुस्तान की सुन्द्रयों ने पियर्स साबुन को ही इस्तेमाल किया है। स्वाभाविक खुशबू और रेशमी झाग के कारण यह साबुन साधारण साबुनों से कहीं बढ़चढ़ कर है।

पिअर्स साबुन

सौन्दर्य का सेवक

ZG. 39-172 HI

A. & F. PEARS, ISLEWORTH, ENGLAND

मेरी उदयपुर-यात्रा

श्रीमहेंद्रकुमार 'मानव' एम्० ए०

मुझे उदयपुर जाना था सो मैं पहुँच ही गया। अब आप यह न पूछिए कि कब पहुँचा, कैसे पहुँचा। वह एक अलग कहानी है। हाँ, जाड़े के दिन ज़रूर थे। उदयपुर के कई प्राकृतिक चित्र देखे थे—बड़े मोहक, बड़े सुन्दर। देखने की लालसा बहुत दिनों से लगी हुई थी। लोगों को कहते सुना था, उदयपुर राजपूताना का काश्मीर है; झीलों का नगर (the city of lakes) है।

मेरे मित्र मालदास-स्ट्रीट में रहते थे। मैं मन ही मन कल्पना कर रहा था—ख़ूब चौड़ी सड़क होगी, ऊँचे एक से मकानों या दूकानों की क़तारें खड़ी होंगी। वे बिजली के प्रकाश में नहा रही होंगी। डामर की सड़क होगी, जिस पर धूल का नामोनिशाँ न होगा इत्यादि। लेकिन जब स्टेशन से ताँगा रवाना हुआ, तभी से मोटरें धूल के बादल छोड़ती हुई निकलने लगीं, जिन्होंने हमको पूरी तरह ढक लिया। सड़क के गड्ढों ने ताँगे को ऐसा उकसाया कि हमारी पीठ चुर-मुर हो गई। मुझे अब भी आशा बनी हुई थी कि शायद शहर में अच्छी सड़कें होंगी। स्टेशन से शहर जाते समय रास्ते में भूपाल नोबुल्स हाई स्कूल, महाराणा-कालेज, फतेह-हाईस्कूल और फतेह-मेमोरियल आदि मिलते हैं। फतेह-मेमोरियल में ठहरने का अच्छा इन्तिज़ाम है। नल और बिजली का प्रबन्ध है। लेकिन फतेह-मेमोरियल में जगह पा लेना ट्रेन में जगह पा लेने से ज़्यादा मुश्किल है; क्योंकि ट्रेनों में तो जनता का राज्य है, वहाँ कोई सुनवाई नहीं होती। यहाँ तो मैनेजर साहब को बग़ैर कुछ दान-दक्षिणा चढ़ाये काम ही नहीं बनता। पास ही में सिनेमा हाउस है। फतेह-मेमोरियल में ही श्रीपन्नालाल स्टेट फ़ोटोग्राफ़र रहते हैं और लालचन्द फ़ोटोग्राफ़र की दूकान है। पास में ही गुप्ता आर्ट स्टूडियो भी है, जहाँ से उदयपुर के चित्र प्राप्त हो सकते हैं। सूरजपोल में घुसते ही सड़क पसरने के बजाय सिकुड़ने लगी और इतनी सँकरी हो गई कि दो ताँगों का एकसाथ गुज़रना नामुमकिन था। दुर्भाग्य से बग़ल की गली से, जिसमें हमारे ताँगे को जाना था, एक बैलगाड़ी के दर्शन हुए। बैलगाड़ी को बिलकुल उलटी दिशा में जाना था। मुठभेड़ हो गई। ख़ैर, बैलगाड़ी को दूसरी ओर की गली में ढकेला गया, तब ताँगा आगे बढ़ सका। जहाँ ताँगा जाकर रुका, वह गली क़रीबन् ३ फ़ीट चौड़ी थी। गली के दोनों छोरों से पेशाब की नदियाँ निकलकर बीच में मिलकर आगे बढ़ जाती थी। घर-घर से मोरियों का कीचड़ बह रहा था, जिसकी निशानी आप अपने कपड़ों पर भी लेते चलते हैं।

स्वरूपसागर

पहले दिन स्वरूपसागर में स्नान किया। पानी में काई के हरे-हरे कण मिले हुए थे। कोई घाट पर ही पाख़ाना फिर गया था, जिस पर दृष्टि पड़ते ही विरुचि होती थी। सब लोग आते थे और कपड़ा धो-नहाकर चले जाते थे। पाख़ाना जहाँ का तहाँ पड़ा था। एक मित्र ने कहा—'अगर गांधीजी नहाने आये होते तो पहले वे पाख़ाना साफ़ करते और फिर स्नान करते।' आगे जो प्रकृति का ख़ज़ाना देखने को मिलता था, उसकी तो स्वरूपसागर में सिर्फ़ झाँकी मिली थी।

दूसरे दिन फतेहसागर के लिए रवाना हुआ।

लक्ष्मीविलास

यह एक छोटी-सी टेकड़ी पर नया महल है। इसको अन्दर देखने के लिए स्टेट से इजाज़त लेनी पड़ती है। इसके चारों तरफ़ छोटा-सा बग़ीचा है, जिसमें कुछ विदेशी वृक्ष भी लगे हैं। महल के भीतर सब आधुनिक सुविधाएँ हैं।

मोती मगरी

इस पहाड़ी पर पुराने महलों के कुछ भग्नावशेष हैं। इस पर से बहुत ही रमणीय प्राकृतिक दृश्य नज़र आता है। नीचे फतेहसागर, उसके दूसरी ओर सहेलियों की बाड़ी, सामने पहाड़ी पर नीमच माता, विद्याभवन, दूर की पहाड़ियाँ आदि दिखलाई पड़ती हैं।

फतेहसागर

उदयपुर की बड़ी झीलों में से है। चारों ओर पहाड़ों से घिरी हुई है। जल बहुत स्वच्छ है। फ़ोटो लेने के लिए यह स्थान बड़ा उपयुक्त है। नीमच माता और मोती मगरी के बीच फतेहसागर के किनारे जो सड़क बनी हुई है, वह बड़ी ही सुहावनी लगती है और उस पर घूमने में बड़ा मज़ा आता है।

सहेलियों की बाड़ी

यह एक लम्बा-चौड़ा बग़ीचा है। फतेहसागर के दूसरी ओर है। बीच में महल बने हुए हैं। महल के आगे-पीछे सरोवरों की शोभा देखते ही बनती है। पीछे का सरोवर गोलाई लिये हुए अण्डाकार है। सबसे दूर के चार छोरों पर पत्थर के ४ हाथी खड़े हैं। बीच में फ़व्वारा लगा हुआ है। जब फ़व्वारे छूटते हैं, तब एक स्वर्गीय-दृश्य सामने उपस्थित होता है। महल के बग़ल में एक गोल चबूतरा है, जिस पर मूर्वी वग़ैरह का शूटिंग होता है। बग़ीचे में ज़मीन पर घास से शेर, हाथी वग़ैरह की शक्लें काटी गई हैं।

विद्याभवन

एक बहुत बड़ी संस्था है। इसके नये बने ट्रेनिंग कालेज की इमारत अपने नये स्टाइल में बड़ी ही सुन्दर लगती है। विद्याभवन के अन्तर्गत हाई स्कूल, ट्रेनिंग कालेज, माडल स्कूल, नर्सिंग स्कूल, टेक्निकल इंस्टीट्यूट, कई छात्रावास आदि हैं।

अब हम महलों की ओर चलते हैं—

राजमहल

ये शहर से ऊँचाई पर बने हुए हैं। इन पर से पूरे शहर का दृश्य दिखलाई पड़ता है। पहला महल सन् १६१६ ई० में महाराणा उदयसिंह ने बनवाया था। बाद के राणा उनकी संख्या में वृद्धि करते गये। गोल महल, मिंटो हाल, महल की छत पर बग़ीचा आदि देखने योग्य हैं। सोने के मुलम्मे से मढ़ी सूर्य भगवान् की मूर्ति बड़ी भव्य और प्रभावोत्पादक है। जब राजा साहब महलों में न हों, तब इन महलों को देखा जा सकता है।

जगदीश का मन्दिर

राजमहल के पास ही यह आलीशान मन्दिर खड़ा हुआ है, जिसकी सीढ़ियों की ओर ही नज़र उठाने से टोपी सिर से खिसक जाती है। भीतर मन्दिर में मन्दिर के सब भाग मौजूद हैं। इसकी नक़्क़ाशी देखने क़ाबिल है। इसको महाराणा जगतसिंह ने सन् १६२८ में बनवाना शुरू किया था।

पीचोला

मन्दिर के बग़ल से ही पीचोला को रास्ता गया है। यह एक बहुत बड़ा तालाब है। इसके एक किनारे पर राजमहल बने हुए हैं। इसके बीच में जगमन्दिर, जगनिवास और मोतीनिवास बने हुए हैं। दूसरी ओर पर्वत-श्रेणियाँ नज़र आती हैं। इसी तालाब पर पनिहारिनें पानी भरने आती हैं, जिनके गीत लोगों के दिलों को चुरा लेते थे; लेकिन आजकल उनका मधुर स्वर सुनाई नहीं पड़ता।

नाँवघाट से हम जगनिवास, जगमन्दिर के लिए रवाना होते हैं।

जगनिवास

यह और जगमन्दिर महाराणा जगतसिंह के बनवाये हुए हैं। यह पीचोला के बीच एक बहुत बड़ा महल है। इसकी आजकल मरम्मत हो रही है। इसका चन्द्र-प्रकाश-भवन तो बहुत ही वैभवपूर्ण और सुन्दर है। राजाओं के बड़े-बड़े चित्र क़रीब-क़रीब प्रत्येक महल में देखने को मिलते हैं। यहाँ पर एक ऐसा चित्र लगा हुआ है, जो सामने से देखने पर ऊँट-सा लगता है; लेकिन दाहनी-बाईं ओर से देखने पर शेर की भिन्न आकृतियाँ दिखाता है।

जगमन्दिर

महल जैसी सजावट नहीं है; क्योंकि मन्दिर है। इसको देखने के लिए भी ख़ास इजाज़त लेनी पड़ती है। कहा जाता है, सन् १७३४ में जगनिवास में शाहज़ादा ख़ुर्रम (शाहजहाँ) ने पनाह ली थी, जब वह दिल्ली से भागकर आया था।

ख़ास ओदी

हमारी नाव पीचोला के दूसरे किनारे पर आकर लग जाती है। यहाँ पर शाम को ४॥ बजे सुअरों को मक्के का दाना डाला जाता है। उस समय सैकड़ों की संख्या में सुअर जमा हो जाते हैं, जिनका दाने-दाने के लिए लड़ना-झगड़ना खाद्य प्राप्त करने का प्रयास देखते ही बनता है। सामने कालिका माता की पहाड़ी दिखती है।

सज्जननिवास बाग़

ये महल के पास ही हैं। गोला महल के आगे चलने पर हम समोर बाग़ में उतर आते हैं। यहाँ भी फ़व्वारा है। इस बाग़ से निकलकर हम सज्जननिवास बाग़ में घुस जाते हैं, जिसको गुलाब बाग़ भी कहते हैं। इस बाग़ में म्यूज़ियम, ज़ू, लाइब्रेरी, विक्टोरिया की मूर्ति आदि हैं। सज्जननिवास भी यहीं है, जिसके कारण इस बाग़ का नाम पड़ा है। म्यूज़ियम में सैकड़ों क़िस्म की पगड़ियों का प्रदर्शन किया गया है। महाराजों के चित्र हैं। पुराने हथियार वग़ैरह हैं। आज भी हम

उदयपुर में नाना प्रकार की पगड़ियाँ लोगों के सिरों पर देख सकते हैं। शहरों से तो पगड़ी का रिवाज उठ ही गया है। हमको अपनी भारतीय वेशभूषा की रक्षा करनी चाहिए, जो कि इतनी विविधता से भरी हुई है। ज़ू में भी भिन्न-भिन्न प्रकार के जानवरों को लाकर रक्खा गया है।

माछला मागरा

सज्जननिवास बाग़ से निकलकर हम माछला मागरा पर चढ़ जाते हैं। इस पर से शहर और प्रकृति की बड़ी ही मोहक सीनरी नज़र आती है। पास में दूरबीन हो तो और भी अच्छा है। इस पहाड़ी का आकार मछली-जैसा है, इसलिए इसका ऐसा नाम पड़ा है। इस पहाड़ पर से दिन में १२ बजे और रात को १० बजे तोप छूटती है। एक धूपघड़ी भी है। इस पहाड़ पर शिकार करने के लिए कई ओदियाँ बनी हैं। इसी की जड़ में दूधतलैया है।

सज्जनगढ़

उदयपुर से क़रीब ३ मील की दूरी पर है। ऊपर पहुँचने के लिए पहाड़ पर मोड़दार रास्ता बना हुआ है। इसको महाराणा सज्जनसिंह ने बनवाया था। यात्री को पहाड़ पर सीधा चढ़ने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए, नहीं तो वह मुसीबत में फँस सकता है। सड़क-सड़क जाना चाहिए। सड़क पर यात्रियों की सुविधा के लिए कुछ हिदायती पटिए (Caution board) लगा देना चाहिए। ऊपर से चारों तरफ़ का दृश्य बहुत ही चित्ताकर्षक दिखलाई पड़ता है। महल में राजाओं के बड़े-बड़े चित्र लगे हुए हैं। हल्दीघाटी की लड़ाई की भी एक पेंटिंग है। पीछे की ओर पर्वत-श्रेणियाँ फैली हुई हैं, जो सूरज की धूप में नहा रही थीं। उस दृश्य का वर्णन करने के लिए शब्द नहीं हैं। वह दृश्य तो गूँगे की मिठाई है। जो चखे, उसी को मज़ा मिल सकता है।

उदयपुर में महिला-मंडल, राजस्थान महिलामन्दिर, प्रजामंडल, विद्यापीठ, विद्याभवन आदि जैसी कई उपयोगी संस्थाएँ हैं।

उदयपुर के आसपास कई दर्शनीय स्थान हैं, जिनके नाम निम्नलिखित हैं—

चित्तौरगढ़, नाथद्वारा, काँकरौली, एकलिंगजी, नागदा, ऋषभदेव, जयसमुद्र, राजसमन्द, कुंभलगढ़, हल्दीघाटी, चारभुजा, भूपालसागर, चाँवले्सरजी, परसरामजी, मातृकुण्डिआ, उमेशरजी, कुकडेश्वर, जीर्ण, जोगिनिआ माता, अमरखजी, कमलानाथ, भिन्दिकी महादेव, भँवर, माताजी, भावुकबाड़ी, नन्देश्वर, राजनगर इत्यादि।

उदयपुर में कुछ मील की दूरी पर कई सागर हैं, जैसे उदयसागर, बड़ी का तालाब आदि।

उदयपुर परकोटे से घिरा हुआ है। चाँदपोल, सूरजपोल, हाथीपोल और देहली-दरवाज़ा आदि अभी तक बने हुए हैं। नई-नई इमारतें भी बनती जा रही हैं। लेकिन अधिकारियों को शहर की गन्दगी दूर करने का लगन से प्रयत्न करना चाहिए। लम्बा कुर्ता, जो घुटना से भी नीचा लटकता है, और पगड़ी यहाँ के पुरुषों के वेश की विशेषता है। स्त्रियाँ घाँघरा और ओढ़नी पहनती हैं। घूँघट का अधिक रिवाज है। बोली में 'स' की जगह 'ह' का प्रयोग किया जाता है, जैसे—'समझा' के लिए 'हमजा'; 'सुनो' के लिए 'हुनो' आदि।

प्रायश्चित्त

[एक ऐतिहासिक कहानी]

श्रीयुत के० एस्० वेंकट रामय्या विशारद

बारहवीं शताब्दी की बात है। एक सुन्दर सवेरा। बेलूर के मंदिर में लोगों की बड़ी भीड़ लगी है। मंदिर और सदर दरवाज़ा बंदनवारों से सुशोभित है। बाहर शहनाई बज रही है, ब्राह्मण वेद-पाठ कर रहे हैं। मंदिर के अहाते में बड़ी चहल-पहल है। आज इस नये मंदिर में भगवान् श्रीचन्नकेशव मूर्ति की स्थापना होनेवाली है, इसी लिए आज मंदिर में इतना कोलाहल है।

मंदिर के अहाते में एक छोटा-सा सुन्दर मंडप था, जो तोरण, केले के पौधे और पुष्पमालाओं से अलंकृत था। बीच में एक मनोमोहक शिलामूर्ति खड़ी थी। आज इसी की स्थापना है। बड़ी धूम-धाम से यह उत्सव मनाने की आयोजना थी। पुजारीगण इधर-उधर दौड़ रहे थे। किसी को साँस लेने की भी फ़ुरसत नहीं। कोई मूर्ति का अभिषेक कर रहा है तो कोई फूल चढ़ा रहा है। कोई यह कर रहा है तो कोई वह। भक्तजन भी अधिक संख्या में उपस्थित हैं। मंदिर का कोना-कोना लोगों से भर गया है।

इतनी चहल-पहल के बीच एक व्यक्ति मूर्ति से थोड़ी दूर पर खड़ा एकाग्रता से उसकी ओर देख रहा है। उसके मुख पर गंभीरता के साथ-साथ गर्व की लहरें उठ रही हैं। वह हैं इस मूर्ति के निर्माता महास्थपति जकणाचार्य।

महास्थपति जकणाचार्य का नाम लोक-विख्यात है। आज भी उनकी टक्कर का शिल्पी दुनिया में पैदा नहीं हुआ है। बेलूर और द्वारसमुद्र (हले बीड) के मंदिर आज भी उनका यशोगान कर रहे हैं। शिल्प-कौशल इन मंदिरों में पूर्णतया विकसित है।

भगवान् की मूर्ति बहुत सुन्दर थी, इसलिए महास्थपति स्वयं मुग्ध है और अपनी इस सफलता पर फूला न समा, वह एकटक मूर्ति की ओर देख रहा है।

मूर्ति-स्थापना का शुभ मुहूर्त आ गया। सब लोग किसी के आने की प्रतीक्षा में खड़े हैं। उसी समय सारा मंदिर "महाराजाधिराज वीर बल्लाल की जय" के नारे से गूँज उठा। राजा वीर बल्लाल अपने परिवार सहित पधारे और मूर्ति के सामने अलग एक जगह पर खड़े हो गये। महामंगलारती उतारी गई। मूर्ति गर्भ-मंदिर में यथास्थान पहुँचानी थी। मंदिर के महंतजी तीन-चार पुजारियों सहित वहाँ आये। महास्थपति तो वहीं खड़ा था। महंतजी ने इशारा किया और सब मिलकर मूर्ति को उठाने के लिए उसके पास गये कि "नहीं, यह मूर्ति स्थापना के योग्य नहीं, यह अशुद्ध है" की गंभीर आवाज़ से सारा मंदिर गूँज उठा। सब लोगों ने चकित होकर अपनी नज़र उधर दौड़ाई, जिधर से यह आवाज़ निकल रही थी। सोलह साल का एक सुन्दर बालक खड़े होकर मूर्ति को बड़े ध्यान से देख रहा है। उसके घुँघराले बाल कंधे और माथे पर लटके हुए हैं, जिससे उसका रूप और भी बढ़ा है; मुखमंडल बड़ा गंभीर है। राजा हैरान होकर इस लड़के की ओर देख रहे हैं। लड़के की गुस्ताख़ी पर उन्हें आश्चर्य भी हो रहा है।

अपमान की चोट खाकर महास्थपति तो तिलमिला उठा। तुरन्त उसने कहा, "कोई अगर साबित कर दे कि यह मूर्ति अशुद्ध है तो मैं अभी अपना दाहना हाथ काट डालूँगा।" लड़का उत्तेजित होकर बोल उठा, "मैं साबित करूँगा। मुझे एक हथौड़ा और एक बसूला दीजिए। मूर्ति के पेट में थोड़ा पानी है। बहुत संभव है कि थोड़ी रेत और एक छोटा मेंढक भी हो।"

राजा को विश्वास नहीं हुआ और जनता भी इस अनजान लड़के की बात पर इतनी जल्दी विश्वास नहीं कर सकी। राजा सचाई जानना चाहते थे, लेकिन इतनी सुन्दर मूर्ति का तोड़-फोड़ होना भी नहीं सह सकते थे। इसलिए उन्होंने कहा—"मूर्ति बहुत सुन्दर है। तुम इसे यों बरबाद नहीं कर सकते। बिना तोड़े ही दिखाना चाहिए।"

लड़का थोड़ी देर तक चुप रहा, फिर बोला—"अच्छा यही सही; थोड़ा चंदन मँगाइए।" राजाज्ञा हुई, पुजारी तुरंत चंदन घिसकर लाये। बालक ने मूर्ति

के सारे शरीर पर चंदन पोत दिया। थोड़ी देर तक मंदिर में सन्नाटा छा गया। सब लोग बड़ी उत्सुकता से मूर्ति की ओर देख रहे थे। धीरे-धीरे सारा चंदन सूख गया। लेकिन नाभि पर थोड़ा-सा गीलापन था। बालक जोश में आकर बोल उठा—"यहीं पर पानी है।" फिर बसूला नाभि पर रखकर हथौड़ा चलाया। ठन की आवाज़ के साथ एक छोटा-सा मेंढक मूर्ति के पेट से बाहर कूद पड़ा और साथ ही थोड़ा पानी भी छलक पड़ा।

सब चकित हो गये। महास्थपति यह सब ध्यान से देख रहा था। उसके मुँह पर अब वह गर्व नहीं था, बल्कि विषाद की रेखाएँ खिंच गई थीं। फिर भी लड़के की तीक्ष्ण बुद्धि पर उसको आश्चर्य हुआ। तुरन्त उसने उसे गले लगाया।

वह लड़का और कोई नहीं था। स्वयं जकणाचार्य का पुत्र डकणाचार्य था, उसके जनमते ही स्थपति ने घर छोड़ दिया था; क्योंकि एक ज्योतिषी ने उससे कहा था कि यह शिशु व्यभिचार से पैदा हुआ है। इन पुरानी बातों को यादकर स्थपति को बड़ा दुःख हुआ। "लेकिन अब पछताने से क्या होगा, जब चिड़ियाँ चुग गईं खेत।" तुरंत उसने अपना दाहना हाथ काट डाला और अपनी भूल का प्रायश्चित्त किया।

"अच्छी हिन्दी"

(आलोचना)

श्रीशान्तिकुमार

"अच्छी हिन्दी" (परिवर्द्धित संस्करण)—लेखक, श्रीरामचन्द्र वर्मा ; प्रकाशक, साहित्य-रत्नमाला-कार्यालय, बनारस; पृष्ठ-संख्या २७२ ; मूल्य २॥) ; छपाई-सफ़ाई सुन्दर ।

प्रस्तुत पुस्तक प्रसिद्ध और वयोवृद्ध साहित्य-सेवी श्रीरामचन्द्र वर्मा की प्रसिद्ध पुस्तक 'अच्छी हिन्दी' का दूसरा संस्करण है । पुस्तक की लोकप्रियता और उपयोगिता का अन्दाज़ा इसी बात से लगाया जा सकता है कि एक साल बाद ही पुस्तक का दूसरा संस्करण निकालना पड़ा । वास्तव में यह पुस्तक अपने ढंग की [illegible] ही है । 'अच्छी हिन्दी' एक प्रकार से 'किंग्स हिंदी' है । इसमें 'किंग्स इंगलिश' (King's English) की भाँति शुद्ध और अच्छी हिन्दी और उसके स्वरूप का विवेचन किया गया है । ऐसी पुस्तक की आवश्यकता प्रत्येक उन्नत भाषा को होती है, परन्तु हिन्दी को ऐसी पुस्तक की विशेष आवश्यकता थी । आजकल जैसी हिन्दी लिखी जा रही है और जिस प्रकार समाचारपत्रों, नये और पुराने लेखकों द्वारा उसका कलेवर दूषित हो रहा है, उसे देखकर प्रत्येक हिन्दी-प्रेमी का चिंतित होना स्वाभाविक है । हम हिन्दीवाले वर्माजी के अत्यन्त कृतज्ञ हैं कि उन्होंने इस पुस्तक को लिखकर एक बड़ी कमी की पूर्ति ही नहीं की है, वरन् हिन्दी को सर्वथा विकृत होने से बचाने के लिए एक ठोस प्रयत्न किया है । हमारी दशा यह हो गई है कि हमने हिन्दी की शुद्धता पर ध्यान देना ही छोड़ दिया है । हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन-जैसी संस्थाओं तक ने इस ओर ध्यान नहीं दिया है । वर्माजी की पुस्तक इस भयंकर प्रवृत्ति के विरुद्ध एक विद्रोह है । लेखक के ही शब्दों में, "मैं हिन्दीवालों को इस बात के लिए विवश करना चाहता हूँ कि वे अपनी भूलें देखें और सुधारें । वे समझें कि जिस प्रकार—'आती है उर्दू ज़बाँ आते-आते', उसी प्रकार हिन्दी भी लगातार प्रयत्नपूर्वक अध्ययन करने और सीखने पर ही कुछ समय में आती है ।" हिन्दी के नये और पुराने लेखक यह न समझें कि हिन्दी उनकी मातृभाषा है, इसलिए वे जैसी हिन्दी लिखेंगे, वैसी ही हिन्दी आदर्श हिन्दी होगी । स्वयम् अँगरेज़ों को शुद्ध अँगरेज़ी लिखना सीखने के लिए कठिन परिश्रम करना पड़ता है । किसी जाति की सभ्यता और संस्कृति का पता इस बात से भली भाँति लग सकता है कि उस जाति की भाषा कितनी सुलझी हुई सुन्दर और सुव्यवस्थित है और वह किस हद तक शुद्ध लिखी जाती है । यदि हम हिन्दीवाले अब भी नहीं चेतेंगे तो सभ्य जातियों के सम्मुख, बल्कि कहिए कि भारत की अन्य उन्नत भाषाओं के बोलनेवालों के सम्मुख भी उपहासास्पद बनेंगे, और यदि हिन्दी इसी गति से बिगड़ती गई तो कुछ समय बाद यह बतलाना भी कठिन हो जायगा कि 'हिन्दी' है किस भाषा का नाम । हिन्दी राष्ट्र-भाषा हो अथवा न हो, परन्तु उसका क्षेत्र अन्य सभी भारतीय भाषाओं की अपेक्षा भी अधिक विशाल है । अहिन्दी-प्रान्तों में भी हिन्दी का ज़ोरों से प्रचार हो रहा है । ऐसी अवस्था में हिन्दी के लेखकों का उत्तरदायित्व बहुत बढ़ जाता है । यदि वे शुद्ध हिन्दी लिखने के मामले में अपने कुछ भी उत्तरदायित्व का अनुभव करते हैं, तो उनके लिए 'अच्छी हिन्दी' पढ़ना और बार-बार पढ़ना अत्यावश्यक है । नये और पुराने लेखक सभी इससे लाभ उठा सकते हैं । हिन्दी के विद्यार्थियों के लिए यह विशेष रूप से उपयोगी है । हर्ष का विषय है कि "पहला संस्करण प्रकाशित होने के तीन महीनों के अन्दर ही यह पुस्तक पाँच-छः स्थानों में पाठ्य-पुस्तक के रूप में स्वीकृत हो गई, जिसमें एक इंटरमीडिएट बोर्ड और दो विश्व-विद्यालय भी हैं ।" परन्तु खेद है कि समाचारपत्रों ने इसका यथेष्ट आदर नहीं किया । वास्तव में हिन्दी के समाचारपत्रों की भाषा ही सबसे अधिक दूषित होती है और उनकी भाषा का प्रचार भी सबसे अधिक होता है । हिन्दीपत्रों के सम्पादकों के लिए इस पुस्तक का पढ़ना अनिवार्य होना चाहिए ।

पुस्तक की रूप-रेखा उसकी प्रकरण सूची से जानी जा सकती है । कुछ प्रकरण ये हैं—'उत्तम रचना', 'हिन्दी की प्रकृति', 'अर्थ, भाव और ध्वनि', 'वाक्य-

विन्यास', 'संज्ञाएँ और सर्वनाम', 'क्रियाएँ और मुहावरे', 'लिंग और वचन', 'छाया-कलुषित भाषा', 'समाचार-पत्रों की हिन्दी', 'अनुवाद की भूलें', 'फुटकर बातें' और 'हमारी आवश्यकताएँ'। पुस्तक की प्रस्तावना 'संसार' के प्रतिष्ठित संपादक श्रीबाबूराव विष्णु पराड़कर ने लिखी है, जिससे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है। प्रत्येक प्रकरण में हिन्दी के पत्रों और पुस्तकों की भाषा में होनेवाली भूलों का उदाहरण देकर विषय को स्पष्ट किया गया है। कहीं-कहीं भूलों का शुद्ध रूप नहीं दिया गया है, जिससे कठिनता होती है। आशा है, वर्माजी अगले संस्करण में इस त्रुटि को दूर कर देंगे, यद्यपि इस कारण पुस्तक का कलेवर कुछ बढ़ जायगा। 'फुटकर बातें' और 'हमारी आवश्यकताएँ' शीर्षक प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। इनमें हिज्जे, शब्दों के स्वरूप आदि उन बातों पर प्रकाश डाला गया है, जो विद्वानों के लिए विचारणीय हैं। लिपि के विषय में वर्माजी 'हमारी आवश्यकताएँ' शीर्षक प्रकरण में लिखते हैं—"हमें अपनी वर्ण-माला का तो पूरा-पूरा मोह होना चाहिए, पर अक्षरों के लिखे जानेवाले रूपों का मिथ्या मोह नहीं होना चाहिए।" यह बात छापेख़ाने तथा टाइपराइटर आदि की दृष्टि से रोमन अक्षरों की बनावट को देवनागरी अक्षरों की बनावट से अधिक उपयुक्त बताते हुए कही गई है। इसका अर्थ यह निकलता है कि या तो हम देवनागरी वर्ण-माला लिखने के लिए रोमन अक्षरों को ग्रहण कर लें या देवनागरी अक्षरों की बनावट की बिलकुल काया पलट दें जिससे वह रोमन अक्षरों की बनावट-जैसी सरल हो जाय। इससे अधिकांश लोग सहमत न होंगे, बनावट में कुछ मामूली हेरफेर करने की बात दूसरी है। हमें अपनी लिपि के लिखित रूप का भी पूरा मोह होना चाहिए। हम उसकी परम्परा नहीं त्याग सकते। जो भी हो, वर्माजी ने अपना फ़ैसला नहीं दिया है, वरन् उन्होंने हिन्दी के विद्वानों का ध्यान इस ओर आकर्षित किया है। और भी कितनी ही महत्त्वपूर्ण बातों की ओर उन्होंने ध्यान दिलाया है, जिनका निर्णय अब हो जाना चाहिए। हम वर्माजी से प्रार्थना करेंगे कि वे ही एक ऐसी विद्वन्मंडली का आयोजन करें, जो सब उलझे हुए मामलों पर विचार करके अपना 'अवार्ड' (award) दे और भाषा का स्वरूप स्थिर करने में सहायता करे तथा भाषा और लिपि की अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति करे।

अच्छी हिन्दी को एक और बला ने घेर लिया है। वह है 'हिन्दुस्तानी' की बला। अच्छी हिन्दी का अर्थ केवल व्याकरण-शुद्ध और मुहावरेदार हिन्दी नहीं है। अच्छी हिन्दी में शब्दावली का मामला भी शामिल है। हिन्दुस्तानी हिन्दी की शब्दावली विकृत करना चाहती है। अन्तर केवल इतना ही है कि हिन्दी के अन्य दोषों को तो सभी दोष मानते हैं, परन्तु हिन्दुस्तानीवाले दोष को स्वयम् हिन्दीवाले जानबूझकर अपनी भाषा में नाना प्रकार के सुन्दर नाम देकर लाना चाहते हैं। परन्तु वास्तव में हिन्दी-शब्दों के होते हुए विदेशी शब्दों का प्रयोग ऐसा ही है, जैसा अँगरेज़ी में अँगरेज़ी शब्दों को निकाल-निकालकर उनके स्थान में अन्य भाषाओं के शब्द भरना होगा। हिन्दुस्तानी-वाद के कारण हिन्दी में जो विकार आ रहा है, उस पर भी वर्माजी ने ध्यान दिया है। वर्माजी लिखते हैं—"किसी दूसरी भाषा से शब्द लेने में कोई बुराई नहीं। परन्तु वह शब्द-ग्रहण अनावश्यक नहीं होना चाहिए। यदि हम अपने घर के शब्दों का परित्याग करके और आँखें बन्द करके पराये शब्द लेते चलें तो यह कोई बुद्धिमत्ता की बात न होगी, प्रत्युत एक प्रकार की आत्महत्या होगी। परन्तु दुःख तो इस बात का है कि उर्दू का प्रभाव हम पर इतना अधिक पड़ा है कि हम 'सज़ा' और 'शुरू' को तो सहज समझते हैं और 'दण्ड' तथा 'आरम्भ' को कठिन। 'मुश्किल' तो हमारे लिए सहज होता है, पर 'कठिन' कठिन ही रह जाता है! हमें पृथ्वी की जगह 'ज़मीन', 'आकाश' की जगह 'आसमान' और 'अभ्यास' की जगह 'आदत' कहने की आदत पड़ गई है।" अब अत्यन्त दुःख इस बात का है कि भारतीय नेता और स्वयं हिन्दी-वाले उर्दू के इतने विदेशी प्रभाव से सन्तुष्ट न होकर बलपूर्वक और जान-बूझकर हिन्दी के और अधिक उर्दूकरण के लिए कटिबद्ध हैं। वर्माजी लिखते हैं—"हमारे बाप दादा अनेक पीढ़ियों से जो शब्द बोलते आये थे, उनकी जगह हमारे कुछ भाई अपनी भाषा में बलपूर्वक ऐसे शब्द भरना चाहते हैं जो हमारी प्रकृति के विरुद्ध होने के अतिरिक्त अन्य देशों में पूरी तरह से परित्यक्त और तिरस्कृत हो चुके हैं।" अच्छा होता यदि वर्माजी साफ़-साफ़ कह देते कि अच्छी हिन्दी और हिन्दुस्तानी में कोई सम्बन्ध नहीं है। जहाँ उन्होंने गांधीजी का यह वाक्य उद्धृत किया है कि—"यदि हम स्वतन्त्रता चाहते हों तो हमें अँगरेज़ी

में लिखना और बोलना छोड़ देना चाहिए", वहाँ यह भी जोड़ देते कि अपने शब्दों के बजाय विदेशी शब्दों का प्रयोग भी इतना ही बुरा है। हमें अपनी भाषा और उसकी परम्परा की रक्षा करने का पूरा अधिकार है। जो जाति ऐसा नहीं करती, वह मुर्दा है या मुर्दा हो जायगी।

वास्तव में शुद्ध भाषा का उदाहरण ही शुद्ध भाषा लिखना सिखाने का सबसे उत्तम साधन है। इसके लिए आवश्यकता है कि एक पत्र निकाला जाय, जिसका सम्पादन सुयोग्य लेखक करें और जिसमें भाषा-सम्बन्धी बातों और हिन्दी में होनेवाली भूलों की विवेचना के अतिरिक्त भाषा का आदर्श उपस्थित किया जाय। एक हिन्दी-समाचार एजेंसी की स्थापना हो, जो शुद्ध हिन्दी में समाचार भेजा करे। जब हमारा रेडियो पर अधिकार हो जायगा तो प्रसारित हिन्दी-समाचारों की भाषा के द्वारा भी हिन्दी-जगत् के सम्मुख शुद्ध और अच्छी हिन्दी का आदर्श रक्खा जा सकेगा।

एक बात और। भाषा की सुन्दरता पर जितना ध्यान हमें लिखते समय देना चाहिए, उतना ही ध्यान हमें बोलते समय भी देना चाहिए। शिक्षितों की बोल-चाल की भाषा बहुत बिगड़ रही है। उसमें अपने घरेलू शब्दों के स्थान में अँगरेज़ी और अरबी-फ़ारसी-शब्दों की भरमार है। जब तक बोलचाल की भाषा शुद्ध करने के लिए आन्दोलन नहीं किया जायगा, तब तक अच्छी हिन्दी की स्थायी प्रतिष्ठा नहीं होगी। जब अच्छी हिन्दी बोली भी जायगी, तभी हम अपनी भाषा की प्रकृति, मुहावरों आदि से परिचित रहेंगे और अनायास ही अच्छी हिन्दी लिख सकेंगे। भाषा-संस्कार-समिति की भाँति एक 'हिन्दी बोली समिति' की स्थापना होनी चाहिए, जिसका उद्देश्य जनता में अच्छी हिन्दी बोलने की प्रवृत्ति उत्पन्न करना हो।

वर्माजी ने जो कार्य हाथ में लिया है, उसको करने की उनमें योग्यता है—इसमें किसी को सन्देह नहीं हो सकता। श्रीटंडनजी के शब्दों में—"वर्माजी शब्दों की शक्ति के अनुभवी पारखी हैं। हिन्दी-शब्दों के प्रयोगों का उन्होंने गहरा अध्ययन किया है।" लेखक के अपने शब्दों में—"लगभग चालीस वर्षों तक हिन्दी की अल्प सेवा करने में मुझे भाषा के सम्बन्ध में जिन बातों का थोड़ा-बहुत ज्ञान हुआ है, उन्हीं का निचोड़ इस पुस्तक में दिया गया है।" वर्माजी भूमिका में लिखते हैं—"हिन्दी-शब्द-सागर का सम्पादन करते समय हम लोगों को हिन्दी-साहित्य के सभी मुख्य अंगों का सिंहावलोकन करना पड़ता था। उस समय भाषा-सम्बन्धी अनेक भूलें और विलक्षणताएँ हम लोगों के सामने आती थीं। एक बार हम लोगों का यह विचार भी हुआ था कि हिन्दी के आठ प्रतिष्ठित तथा मान्य दिवंगत लेखकों और आठ वैसे ही जीवित लेखकों की मुख्य-मुख्य रचनाएँ एकत्र की जायँ, और उनमें से भाषा के दोष निकालकर इस दृष्टि से हिन्दी-जगत् के सामने रक्खे जायँ कि लोग उस प्रकार के दोषों और भूलों से बचें। उस समय हम लोगों ने इस विषय का कुछ कार्य आरम्भ भी किया था और एक-दो पुस्तकों से भूलें चुनी भी थीं। परन्तु इसके थोड़े ही दिनों बाद शुक्लजी नागरी-प्रचारिणी सभा का कोष-विभाग छोड़कर हिन्दू-विश्वविद्यालय में चले गये और मैं वहाँ अकेला पड़ गया। अतः वह काम उस समय जहाँ का तहाँ रह गया। कोई चार वर्ष पूर्व यह काम मैंने नये सिरे से आरम्भ किया था और उसका फल इस पुस्तक के रूप में पाठकों के सम्मुख उपस्थित किया जा रहा है।"

यदि किसी सुयोग्य विद्वान् का वर्माजी से किसी बात पर मतभेद हो तो उन्हें वर्माजी को सूचित करना चाहिए। इससे यही सिद्ध होगा कि विषय कितना गम्भीर है। वर्माजी के शब्दों में—"भूलें सबसे होती हैं। सम्भव है, मुझसे भी इस पुस्तक में कुछ भूलें हुई हों। कुछ सिद्धान्त स्थिर करने में मैं भूल कर सकता हूँ। दूसरों की भूलें सुधारने में भी कोई भूल हो सकती है, अथवा और कई तरह की भूलों की सम्भावना है। परन्तु मेरा मूल उद्देश्य सद् है और मैं आशा करता हूँ कि विद्वान् लेखक, पाठक और समालोचक मेरे इस उद्देश्य पर ही ध्यान देंगे। यदि वे इसमें कहीं सुधार या परिवर्तन आदि की आवश्यकता समझें तो कृपया मुझे सूचना दें। मैं सबके विचारों से समुचित लाभ उठाने का प्रयत्न करूँगा।" सब हिन्दी-प्रेमियों को वर्माजी के कार्य में हाथ बटाना चाहिए, न कि रोड़े अटकाना। वर्माजी का उद्देश्य भूलें दिखाकर न भूल करनेवालों का उपहास करना है और न अपना पांडित्य दिखाना। उनका उद्देश्य हिन्दी के स्वरूप की रक्षा करना, उसे "विशुद्ध, स्थिर और कमनीय" करना है। इस परम आवश्यक और स्तुत्य कार्य में सबको वर्माजी को पूर्ण सहयोग देना चाहिए।

हिन्दी के अनेक बड़े-बड़े विद्वानों ने 'अच्छी हिन्दी' के प्रथम संस्करण पर जो सम्मतियाँ दी थीं और जिनमें से कुछ इस पुस्तक के अन्त में दी गई हैं, उनसे सिद्ध होता है कि विद्वानों ने इस प्रयत्न का विशेष आदर किया है। इन सम्मतियों को देखते हुए कुछ और कहने की आवश्यकता नहीं रह जाती। दूसरा संस्करण लेखक के ही शब्दों में—"संशोधित तो है ही, बहुत कुछ परिवर्द्धित भी है और कुछ-न-कुछ बातें तो सभी प्रकरणों में बढ़ी हैं। पहला संस्करण कम-से-कम मेरे लिए तो कुछ भी संतोषप्रद नहीं था। हाँ, यह दूसरा संस्करण मेरे लिए कुछ संतोषप्रद अवश्य हुआ है।" पृष्ठ-संख्या २०० से २७२ हो गई है।

प्रस्तुत पुस्तक वास्तव में शुद्ध भाषा की ओर लेखकों का ध्यान दिलाने का प्रथम प्रयास है। विषय इतना बड़ा है कि इस पर बड़े-बड़े पोथे लिखे जा सकते हैं। हमें आशा है, वर्माजी इस दिशा में बराबर प्रयत्न करते रहेंगे और 'अच्छी हिन्दी' के और भी परिवर्द्धित संस्करण हिन्दी-जगत् को भेंट करते रहेंगे।

अनुरागी के उद्गार

श्रीराजेन्द्रनाथ मिश्र "अनुरागी"

फल-त्याग में ध्यान दिया न सदा उसने धन-दान दिया न दिया।
तन में रहा घोर घमण्ड भरा अपकीर्ति के साथ जिया न जिया॥
मनमानी रहा करता मन में मनको तब हाथ लिया न लिया।
अनुरागी न राम से प्रेम किया तब साधु का वेष किया न किया॥ १॥

मनमन्दिर में मनमोहन जो न बसा तब ध्यान दिया न दिया।
तन द्वेष की ज्वाल रही जलती तो उशीर का लेप किया न किया॥
मधुप्रेम को जो छक के न पिया तब आसव और पिया न पिया।
प्रभुप्रीति में प्राण निछावर जो न किया तब जन्म लिया न लिया॥ २॥

मन राम का नाम रटा करता परवाह नहीं मुझको धनवान की।
मन में अभिमान को ठौर कहाँ? जब बान रही नहीं मान गुमान की॥
मदमस्त हुआ छक के अब तो मधु माधुरी माधव मोदनिधान की।
अब भोग की योग की कौन कहे बस चाह रही उर में भगवान की॥ ३॥

यदि मानो कहा तो कहूँ तुमसे हिय-दीप तो आज जगा तुम लेते।
अनुराग के रंग रँगे तो रँगे मन राम को भी तो रँगा तुम लेते॥
फिर साध रहे न कोई तुमको अनुरागी को अंग लगा तुम लेते।
ठग पाते नहीं ठग भी तुमको अपने को कभी जो ठगा तुम लेते॥ ४॥

प्रियप्रेम का राज्य है घूमो यहाँ अति आनँद मौज मनाते रहो।
बने प्रेम के ही मतवाले रहो शुचि प्रेमसुधा बरसाते रहो॥
मधु-लोभी बनो मधु पी अब तो मन माधव के गुण गाते रहो।
अनुरागी के प्रेम समाते रहो अनुराग से प्रेम को पाते रहो॥ ५॥

है बरबाद दिखाता कोई यहाँ पाता मुराद कोई मुँहमाँगी।
है रत कोई उपासना में यहाँ वासना में किसी की मति पागी॥
है रहा कोस कोई निज भाग्य को कोई बना है यहाँ बड़भागी।
मेला भरा हुआ विश्व का ये इसमें अनुरागी कोई है विरागी॥ ६॥

अनुराग के रंग से रंजित हो अनुराग के राग का रागी यहाँ।
प्रिय पावन प्रेम-पराग का है प्रिय पावन प्रेम-परागी यहाँ॥
किस त्याग के त्याग का त्यागी यहाँ बड़े भाग्य से है बड़भागी यहाँ।
जब से अनुराग की आग लगी किसी और की लाग न लागी यहाँ॥ ७॥

श्रुति-पंथ को त्याग करें मन की यम की दुख दारुण भीति नहीं।
बँध के विषयादि के बन्धनों में नर-जन्म की जानते नीति नहीं॥
भटकें नित मोह के जाल में ही अनुरागी कहे यह रीति नहीं।
मिलती नहीं शान्ति उन्हें जिनको प्रभु-प्रीति की होती प्रतीति नहीं॥ ८॥

यदि जीवन में सुख चाहते हो अरु मोक्ष का भी सुखलाभ चहो।
यदि चाहते हो कि प्रवञ्चकों से जग के चिरविघ्न सदा निबहो॥
भवसागर पार हुआ जो चहो अरु बैतरणी बिच नाहीं बहो।
सियराम कहो सियराम कहो सियराम कहो सियराम कहो॥ ९॥

भवफंदन के दुखद्वन्द्वन संग बलन्द जकन्दन खूब खसा।
बहु चन्दन बन्दन लेप अमन्दन काल के गालन ग्राह ग्रसा॥
अरविन्दन लोभ मिलिन्दन सो सुख मान सुछन्दन मोह फँसा।
यदि नंद के नन्दन आनँदकन्दन छन्दन गाय न राग रसा॥ १०॥

जब से प्रिय प्रेम किया तुमसे अनुराग के राग में रोना पड़ा।
नित प्रीति की रीति निभाते रहे पर आँसुओं से मुख धोना पड़ा॥
अब केवल शेष रहा जो यहाँ वह भी दुखभार है खेना पड़ा।
सब खो करके अनुरागी रहा मन जो अपना वह खोना पड़ा॥ ११॥

अनुरागी कहो दुख क्या तुमको इस भाँति जो भूले फिरा करते।
मतवाले बने भटका करते नित अश्रु से नैन भरा करते॥
फिर व्यर्थ में साधना साधते क्यों जब नाथ यों दुःख हरा करते।
प्रिय नाम ही एक सहायक है जिससे भवसिन्धु तरा करते॥ १२॥

करना यदि चाहते लीला यहाँ नटनागर आज दिखाइए तो।
ब्रजभूमि बनाना मेरे उर को मन राधा बना अपनाइए तो॥
नव नेह उमंग की ग्वालिनियाँ सज साज सभी फिर आइए तो।
अनुरागी रँगा अनुराग में है अब आकर रास रचाइए तो॥ १३॥

हियहार हुए किसी और के हैं हियहार हो नेह बढ़ाते नहीं।
मनमोहन मोहन रूप दिखा मनमोहन रूप दिखाते नहीं॥
अपनाते जो प्रेम के नाते रहे इस नाते हमें अपनाते नहीं।
कलपाते रहें कल पाते रहें कलपा के कभी कल पाते नहीं॥ १४॥

प्रिय-प्रेम की ले पिचकारी सखे अनुराग का रंग ही छोड़ना है।
अनुरागी पराग गुलाल के ले मलना, जग से मुख मोड़ना है॥
दृढ़ प्रीति के तार को है रँगना सब तारों को आज ही तोड़ना है।
नव नेही के नेह को पा करके शुचि डोर सनेही से जोड़ना है॥ १५॥

प्रिय देना दगा था तुम्हें यदि यों हमसे फिर प्रेम बढ़ाना न था।
अपना करके अनुरागी किया इस भाँति हमें कलपाना न था॥
बला ढाते रहे तुम और पै जो हम पै तुमको बला ढाना न था।
तुमको यदि पार लगाना न था मँझधार में तो भी डुबाना न था॥ १६॥

अनुरागी विरागी बने जब से प्रिय आके यहाँ इठलाते नहीं।
मिलना-जुलना सब भूल गये वह प्रीति की रीति निभाते नहीं॥
परछाईं बने सदा घूमते थे अब वे परछाईं छुआते नहीं।
अब जानें कहाँ वे रहा करते अपना तो पता भी बताते नहीं॥ १७॥

धनधान्य की होवे कमी न कभी अति आनँद से बड़भागी रहे।
विषयों में कभी फँस जाये नहीं प्रिय पावन प्रेम परागी रहे॥
कवि-काव्य-सुधा चखने के लिए अनुराग के राग का रागी रहे।
प्रभु प्रेम की ऐसी कृपा कुछ हो कवियों में सदा अनुरागी रहे॥ १८॥

प्रिय प्रेम-प्रसून की माला बना तुमको नित ही पहनाया करें।
अनुरागी सदा मतवाले बने गुणगान तुम्हारे ही गाया करें॥
नित भारती-गोद में मोद से ही नव ज्ञान के रास रचाया करें।
कवि-काव्य-कलाधर हो जग में प्रभुप्रेम का काव्य सुनाया करें॥ १९॥

जीवन-दान दे जीवन को जग में नव जीवन ज्योति जगावे।
प्रेम के प्यासे सुप्रेमियों को नित पावन प्रेम-पियूष पिलावे॥
भावुकों के हृदयों में स्वभाव से भावना भाव भले उपजावे।
प्राप्त उसे फल चार हुए अनुरागी जिसे प्रणयी अपनावे॥ २०॥

अनुरागी बना कहने को वृथा अनुराग-विराग को जाने न जो।
चितचोर करे चितचोरी सदा चितचोर को भी पहचाने न जो॥
पर-प्रानि की रीति का पाठ है क्या? इसको कुछ भी अनुमाने न जो।
वह प्रेमी कहाता नहीं जग में कुछ जानता प्रेम के माने न जो॥ २१॥

हम जानना चाहते हैं उसको पर भेद हमें हैं बताते नहीं।
बनते हैं अजान वे जान के भी इससे कुछ जान हैं पाते नहीं॥
यह जानते थे अनुरागी उन्हें वह बात कभी भी बनाते नहीं।
भ्रम दूर हुए सब जान गये जब प्रेम-सुधा बरसाते नहीं॥ २२॥

मन-मन्दिर में बिठला के तुम्हें मनमोहन मोद मनाया करें।
तव पूजन में अनुरागी सदा शुचि भाव-प्रसून चढ़ाया करें॥
प्रिय-प्रेम की वाटिका में प्रिय से नित प्रीति की रीति निभाया करें।
बस एक यही अभिलाषा रही मधु माधुरी आप पिलाया करें॥ २३॥

मनमोहन मूर्ति दिखा करके अनुरागी किसी को लुभाना न था।
मन को यदि मोहन मोह लिया उसको फिर तो यों दुखाना न था॥
दुखदान में पाते रहे सुख जो वृथा तो कुलधर्म छुड़ाना न था।
सब त्याग तुम्हारा हुआ जन जो अपनाके उसे यों भुलाना न था॥ २४॥

हृदयों में अनन्त उमंग लिये अनुराग के बाग लगा रहे हैं।
वसुधा अपने रँग में रँग के शुचि स्वाद-सुधा-सी बहा रहे हैं॥
जड़ता के असीम प्रभुत्व से ही जड़ता का प्रताप मिटा रहे हैं।
करने को कृतार्थ महीतल को अनुरागी वसन्त-से आ रहे हैं॥ २५॥

हम ठोकरें खाते सदा ही रहे हसते रहे वे बड़भागी बने।
फिर भी कुछ हैं दिखलाते दया अनुराग के राग के रागी बने॥
प्रिय-प्रेम-पियूष पिलाते रहे प्रिय पावन प्रेम-परागी बने।
पर भाग्य हमारा जगा जब से अनुरागी हमारे विरागी बने॥ २६॥
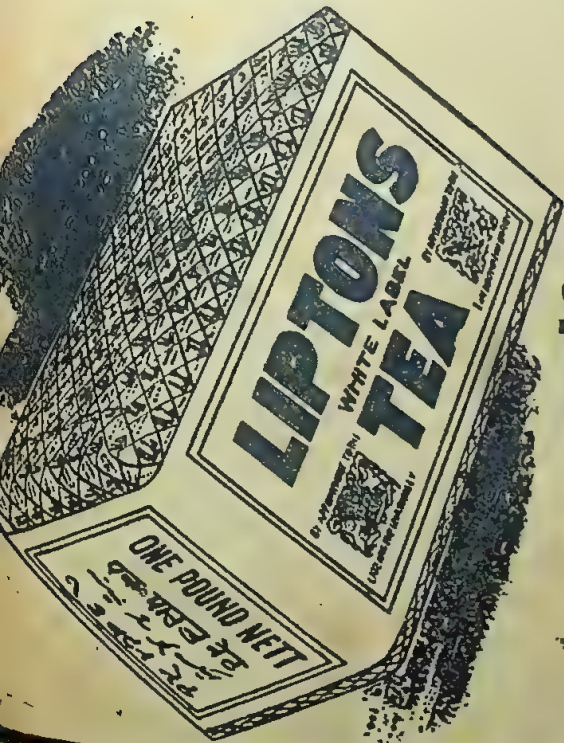
सबेरे से काम करते करते ग्यारह बजने आये इस समय एक प्याला चाय पीने से आपकी स्फूर्ति और एकाग्रता दुबाला हो जाती है। आप आफिस के बाबू हों या घर की गृहिणी, मजदूर हों या कलाकार, चाय आपको आनन्द व खुशी से भर देती है। जो चाय प्रेमी हैं, चाय के गुण-अवगुण समझते हैं, उनमें से भी बहुतों को इसका पूरा पूरा आनन्द नहीं मिलता क्योंकि अच्छी चाय बनाने के सरल नियमों पर वे ठीक ठीक ध्यान नहीं देते। जब भी आप दुखी, थके हुए, उदास या अकेले हों चाय पीजिये परन्तु ख्याल रखिये चाय ठीक से बने।

अच्छी चाय बनाने का तरीका

१ केतली में चाय न सिझाइये। सिझाने का बर्तन अलग रखिये।

२ सूखी चाय डालते वक्त वह बर्तन सूखा व गर्म रहे : इससे चाय का रंग व स्वाद ठीक बनता है।

३ हर प्याले के लिये एक चम्मच, और बर्तन के लिये एक चम्मच ताजी, सूखी चाय की पत्ती उसमें डालिये।

४ उसी वक्त का उदला हुआ पानी डालिये—पहले का उबला, कम या ज्यादा उबला पानी मत डालिये। बुदबुदा उठने पर ही पानी उबलता है, उसके पहले नहीं।

५ चाय को पाँच मिनट से कम न सिझाइये।

६ प्यालों में चाय डालकर तब उसमें दूध व चीनी मिलाइये।

इण्डियन टी मार्केट एक्सपैन्शन बोर्ड द्वारा प्रचारित

IK 24

तुम प्रेम करो न करो, हमसे इसका यहाँ कोइ सवाल नहीं।
इठलाओ कहीं बल खाओ कहीं इससे हम होते विहाल नहीं॥
मतवाले बनो मनिवाले बनो इससे मन में है मलाल नहीं।
यदि भूल भी जाओ हमें तुम तो मुखचन्द्र छिपाना कृपाल नहीं॥ २७॥

तुम चाहे कहो कुछ भी हमको पर स्नेह-सुधा सरसाते रहो।
अपनाते जो प्रेम के नाते रहे इस नाते हमें अपनाते रहो॥
कलपाते रहे कल पाते रहो कलपा करके कल पाते रहो।
प्रिय एक है माँग यही तुमसे मृदु माधुरी मूर्ति दिखाते रहो॥ २८॥

मृदु माधुरी पुण्य पराग-पगा अलि है मुख मोड़नेवाला नहीं।
जिसने नित प्रेम-पियूष पिया उसको अब छोड़नेवाला नहीं॥
अनुराग के रंग से रंजित हो दृढ़ नाग को तोड़नेवाला नहीं।
सदा ध्यान तुम्हारा धरा करता नित नेह को जोड़नेवाला नहीं॥ २९॥

प्रिय प्रेम का जाल बिछा करके किसी और का जाल बिछाओ नहीं।
अनुरागी से आँख लगा करके अब और से आँख लगाओ नहीं॥
उर घाव अभी हुए पूरे नहीं उनको फिर और बढ़ाओ नहीं।
अपना करके अपनाओ हमें तरसाओ नहीं कलपाओ नहीं॥ ३०॥

तुम साथी बनो न बनो तो भला हम तो मुखचन्द्र निहारा करें।
नित चारु विचार विचारा करें उर भाव मनोहर धारा करें॥
मन-मन्दिर में बिठला के तुम्हें हम आरती मंजु उतारा करें।
तुम चाहो न चाहो भले ही हमें हम तो तुम पै मन वारा करें॥ ३१॥

पहले नव प्रीति का पाठ पढ़ा अब प्रीति का पाठ पढ़ाते नहीं।
नित नूतन साज सजा करके नित नूतन साज सजाते नहीं॥
अनुरागी सदा अनुराग से हैं अनुराग के राग हैं गाते नहीं।
उनके मनोभाव न जान पड़ें इससे मनाभाव बताते नहीं॥ ३२॥

वह चित्त-प्रसून खिला करके अब चित्त-प्रसून खिलाते नहीं।
वह भाव अनोखे दिखा करके वह भाव अनोखे दिखाते नहीं॥
नित प्रीति की रीति बता करके फिर प्रीति की रीति बताते नहीं।
अनुरागी हुए अनुरागभरे अनुराग का बाग लगाते नहीं॥ ३३॥

कुछ का कुछ और विचार करें परमाणु विधायक के वश हो।
प्रकृती विकृती कृतकार्य हुई ऋषि कापिल शास्त्र मतोचित हो॥
अपरापर सत्य से वेद कहें रचता अनुरागी सुप्रेरक हो।
जब एक ही रूप अनन्त धरे जगती बिन दो के न क्यों फिर हो॥ ३४॥

सब जानते भेद तुम्हारा सखे अब दाल नहीं गलना है यहाँ।
जो हुआ सो हुआ अनुरागी तुम्हें निज हाथ सदा मलना है यहाँ॥
फँस जायँ कहीं जो प्रलोभनों में रहती नहीं वे ललना हैं यहाँ।
छलना हो न ध्यान लला! छलना जलना ही रहा जलना है यहाँ॥ ३५॥

हँसना हो तुम्हें जो अभीष्ट है तो अति आनँद से हँसते ही रहो।
फबती कसना है तुम्हें जँचता फबती फबती कसते ही रहो॥
यदि है कसने में भलाई कहीं अनुरागी मुझे कसते ही रहो।
बसना में यहाँ लसना है सदा बस के तो यहाँ लसते ही रहो॥ ३६॥

प्रिय-प्रेम के पंथ में आये जभी सब भूल गया अपनापन है।
बस एक है नाथ का ध्यान लगा अनुरागी प्रसन्न हुआ मन है॥
मिल जाती तभी चिर-शान्ति भी है जब होता समर्पण जीवन है।
मन मोहित है मनमोहन में मन मोह लिया मनमोहन है॥ ३७॥

जब से प्रिय ध्यान धरा उर में अति विह्वल हो उनमत्त बना।
मन माधव का गुण गाता रहा मनमोहन का सदा भक्त बना॥
अनुराग में है अनुरागी पगा पदपंकजों में अनुरक्त बना।
अभिलाषा यही अब है मन में मधु पाता रहूँ मधुमत्त बना॥ ३८॥

वह कारण ज्ञात नहीं हमको जिस कारण से नहीं आते यहाँ।
यदि भूल हुई तो क्षमा करना हम जान नहीं कुछ पाते यहाँ॥
अब पायें कहाँ अनुरागी उसे जो स्वरूप अनूप दिखाते यहाँ।
फिर आओ प्रभो! तुम आ करके बतलाओ सनेह के नाते यहाँ॥ ३९॥

कितना ही कहा उसने तुमसे पर ध्यान दिया न कभी तुमने।
मधु आसव-प्रेम पिलाता रहा कर मान पिया न कभी तुमने॥
नित ध्यान तुम्हारा धरा करता पहचान लिया न कभी तुमने।
इतनी ही प्रसन्नता क्या कम है अपमान किया न कभी तुमने॥ ४०॥

नव नेही के नेह को पा करके हिय-दीप सदैव सँवारा करें।
जल अश्रु का ले अनुरागी सदा पदपद्म तुम्हारे पखारा करें॥
फिर मानस-मन्दिर बिठला शुचि आरती खूब उतारा करें।
तुम आओ न आओ भले ही यहाँ हम बाट तुम्हारी निहारा करें॥ ४१॥

यदि जानते प्रेम में दुःख है तो कभी प्रेम के पंथ में आते नहीं।
फल प्राप्त हुए हमको जो यहाँ सपने में उन्हें लख पाते नहीं॥
पहले यह ज्ञात नहीं था हमें अपना करके अपनाते नहीं।
वह प्रेम बनावटी हैं करते वह प्रेम-पियूष पिलाते नहीं॥ ४२॥

दुख पै दुख देते सताते रहो मन से तुमको अपनाया करें।
मणिमाणिक आदि सजा करके हृदयासन पै बिठलाया करें॥
पदपद्म पखारने के मिस तो दृग-वारि सदैव बहाया करें।
तुम जानो न जानो भले ही हमें हम द्वार तुम्हारे ही आया करें॥ ४३॥

करते अपराध हैं नेत्र सदा पर जाता यहाँ मन है पकड़ा।
फिर मार है इंगितों की पड़ती जब प्रेम की बेड़ियों से जकड़ा॥
कर याद भी भूल तो जाती सभी अपने पर था जो कभी अकड़ा।
रहता कुछ ज्ञान नहीं उसको मधु पीने लगा तो हुआ छकड़ा॥ ४४॥

हम साधक साधना जानते क्या जब प्रेम के योग के योगी हुए।
प्रभु पावन प्रेम-प्रसाद मिले उनके अनुराग के रोगी हुए॥
कुछ योग-वियोग न जानते हैं नहीं हाँकते डींग की भोगी हुए।
प्रिय-दर्शन-लालसा है उनके ही वियोग में तो ये वियोगी हुए॥ ४५॥

अनुरागी हमें समझो अपना जो क तो सदा करते ही रहो।
मिलना अनुराग का आसव हो ये वियोग-व्यथा हरते ही रहो॥
सुख-शान्ति-लता लहराती रहे दुख-दारिद को दरते ही रहो।
प्रिय! पावन होती रहे कुटिया पद-अम्बुजों को धरते ही रहो॥ ४६॥

अनुराग के रंग को ले करके हम खेलने आये हैं होली यहाँ।
प्रिय प्रेम के रागसनी हुई है अनुरागियों की यह टोली यहाँ॥
अभी खेल न पाई है होली सखे कसती रहती यही बोली यहाँ।
कभी खाली न होगी पराग से ये अनुरागी गुलाल की झोली यहाँ॥४७॥

रहना तुम्हें संग हमारे जो है तब संग ही संग रहा करिए।
कहना जो कभी तुमको कुछ हो हमसे अनुरागी कहा करिए॥
बहना यदि प्रेम के सागर में प्रिय! साथ हमारे बहा करिए।
विपदाएँ सदा सहते रहते ये वियोग-व्यथा तो सहा करिए॥ ४८॥

अनुरागी कहो अनुराग यही अनुराग के रंग में जो न रँगा।
अब प्रेम-प्रभाव नहीं रहा क्या प्रिय पावन प्रेम में जो न पगा॥
ठगना उसका ठगना है नहीं कभी दूसरों से गया जो न ठगा।
प्रिय हाथ लगाने से लाभ ही क्या हित-साधन और के जो न लगा॥४९॥

यदि आना तुम्हें अनुरागी न था तुमको पहले कहना ही न था।
सब भेद ही खोलना जो था तुम्हें तुमको तो सखे रहना ही न था॥
यदि देना दगा था अभीष्ट तुम्हें तब हाथ तुम्हें गहना ही न था।
मँझधार में छोड़ना ही था प्रभो! तब दास को यों लहना ही न था॥५०॥

मन-मन्दिर में मनमोहन मूर्ति बसी तब और को ठौर कहाँ।
जब जीव-बसन्त में फूल चुका तब इन्द्रिय-आक में बौर कहाँ॥
शिव-सिन्धु में जीवन-सिन्धु मिला विषयों के रहे तब भौंर कहाँ।
मिल एक में एक जो एक हुआ तब एक को छोड़ के और कहाँ॥ ५१॥

निशीथ में

श्रीत्रिलोकीनाथ भार्गव बी० ए०

सामने दीवार में लगे शीशे में अपने आपको हर प्रकार से देखभाल लेने पर अनिल के हृदय की गुदगुदी दौड़कर होंठों पर मुस्कराहट के रूप में थिरक उठी। बड़ी मनोमोहक लग रही थी उसे अपनी ही छाया। जभी वह वहाँ से हटने का विचार करता, तभी मन जैसे भटककर केवल एक बात ही चुपके से उसके कानों में कहने लगता—'कहीं कुछ कमी न रह गई हो'—और वह फिर से पलटकर अपने को देखने लगता। जितना ही अपना फैल्ट हैट, अपना रेशमी सूट सँभालने की चेष्टा करता, अपूर्णता मानो अनेक छिपे कोनों से प्रकट होकर कहती—'ज़रा मुझे भी सँभाल लेना।'

तब जैसे—'अब सब कुछ ठीक है', यह निश्चय करके वह बाहर बरामदे में आकर आरामकुर्सी पर बैठ गया। फिर उठकर खड़े होने पर इधर-उधर टहलकर फिर से बैठ गया। पर जैसे मन नहीं लगा। क्यारियों के पास जा खड़ा हुआ। फूल उसे मुस्कराते दिखाई दिये—कलियाँ चटकती-सी। अपना हृदय टटोलकर देखने लगा वह! आज उसे सब कुछ अच्छा लग रहा था! बार-बार घड़ी की ओर देखा—बस, केवल यह समय ही धीरे-धीरे बीतता है।

थोड़ी ही देर के बाद तो उसे लड़की को देखने जाना है। ऊँचे ख़यालातों की उसकी मा बहुत दूर से चलकर उसे अपने साथ ही ले आई है! उसने कहा है—'दोनों एक दूसरे को देख लें, पसन्द कर लें, यही तो अच्छा है।' और अनिल—उसने भी सुना है, लड़की अत्यन्त सुन्दर है, सुशिक्षित है! तब क्या अच्छा नहीं है, वह बार-बार अपने से पूछने लगा, और मन ने उसी समय जगकर जैसे इसका उत्तर भी दे दिया—'अगर लड़की सचमुच सुन्दर हुई, तब तो यह शादी।' और अगर नहीं हुई, तब जैसे अनिल ने ही उत्तर दे दिया—दो टूटे-से शब्द धीमे से उन होंठों से बाहर आ गये—'नहीं होगी।'

तब थोड़ी ही देर के बाद वह चल पड़ा—अपने मित्र मधु के घर की ओर। यहीं पर तो उसे यौवन से भरे-पूरे उस सौंदर्य की सुनहरी प्रतिमा को देखना है। न-जाने आवेग का एक कैसा उच्छ्वास ऊपर की ओर तिरता चला आया। बड़ा सुखकर लगा उसे यह सब कुछ। जीवन के प्रथम प्रभात में एक सुन्दर बालिका के हृदय-तीर्थ की यात्रा करने में कितना नशा होता है, कितनी उन्माद—यह वह आज ही जान पाया। उसके चलते हुए पैरों में अपनेआप ही जैसे तेज़ी-सी आ गई—लेकिन इस ओर उसका ध्यान नहीं था। सुन्दर किन्तु निर्जन रास्ते पर वह अपनी ही विचारधारा में बहा-सा चला जा रहा था।—'कितना अच्छा हो यदि नश्वर जगती के दो नश्वर फूल एक दूसरे का हाथ पकड़े और मुस्कराते हुए—इन ऊँचे से दोनों ओर खड़े हुए पेड़ों की दूर तक फैली हुई घनी छाया में निःशब्द आगे बढ़ते चले जायँ—बिना किसी ओर देखे।'

एक जगह पर आकर वह जैसे रुक-सा गया। सामने ही एक ऊँचे से पेड़ के तने से एक लता चिपटी हुई थी। बिलकुल सूख गई थी, और सूखकर उसके झरे हुए कुछ फूल तो शायद कभी किसी समय आँधी के एक तीव्र झोंके में उड़ गये थे, और कुछ पेड़ के तले पड़े अपने बीते हुए समय की कहानी सुना रहे थे। बड़ा दुःख लगा, अनिल को यह सब देखकर।—'केवल इतनी-सी ही नारी की महत्ता शेष रह गई है।'

सामने ही मधु का घर दिखाई पड़ रहा था। धीरे-धीरे चलकर वह बरामदे के पासवाले कमरे में जाकर 'नमस्ते' करके बैठ गया। पुलक की अधिकता में जैसे शरीर के तार से टकराकर ठंडी हवा का झोंका एक कोने से दूसरे कोने तक मिलन की गत बजाता चला गया। मन के इस छिपे कोने के छिपे रहस्य को अन्तर्यामी के मित्रा और भी कोई अलक्ष्य रूप से जान सका या नहीं; यह जानने के लिए जब उसने चुपके से चारों ओर देखा, तब एक जगह आकर मधु पर आँखें टिक गईं। वैसे तो दुनिया जिस वस्तु को रूप-रंग के नाम से पुकारा करती है, वह मधु में अभाव रूप में वर्तमान थी पर और दिनों की अपेक्षा उसकी आज की सजधज निर्द्वन्द्व रूप से उसी सीमा की ओर जब अपने क़दम बढ़ाने लगी, तब उसका मन

अप्रकाश्य रूप से बार-बार यही कहकर चुनौती देने लगा—'यदि केवल कहीं एक बार ही तुम अपना मुख शीशे में देख पाते ? यह उत्सुकता का अंचल—जो आँखों में हिल रहा है—बार-बार उड़कर जैसे दरवाज़े तक जा पहुँचता है, पर तुरन्त ही नैराश्य से लौटकर तुम्हारे अपने शरीर के चारों ओर ही लिपट रहा है। यह सब क्या है ?' इसी में कहीं अपने को छिपाये मधु भी क्या सोच रहा था, यह तो अनिल न समझ सका। पर उसी समय ठीक एक ही समय पर, और न जाने किस एक ही भाव से दोनों ने एक-दूसरे की ओर देखा—दोनों ही मुस्करा दिये।

कुछ आहट सुनकर कमरे में बैठी बुआजी उठकर बाहर चली गईं। मधु और अनिल दोनों ही कमरे में चुपचाप बैठे थे। अनिल सोच रहा था—आज उसके अपने जीवन-आँगन में, दूर की अमराइयों से उड़कर और चलकर एक पक्षी थककर दाना-पानी लेने के लिए उतर पड़ा है। कहीं सचमुच अगर यह आँगन उसकी मधुर गूँज से मुखरित हो उठा तो उसके लिए वह अपने हृदय की खिड़की भी खोल देगा।

तभी बुआजी कमरे में लौट आईं। बोलीं, 'बेटा अनिल, जाओ, लड़की को चुपचाप देख आओ।' उसकी उत्सुकता का आँसू जैसे सजल हो उठा। उठकर धीरे-धीरे चलकर वह दूसरे कमरे में चला गया और दरवाज़े के पास आकर—!!

बीच में चौक था। यहीं से खड़े-खड़े देखा, चौक के उस तरफ़ के दरवाज़े की चौखट पर हलके गुलाबी रंग की रेशम की सारी पहने एक सत्रह या अठारह साल की लड़की नीची आँखें किये चुपचाप बैठी थी। कुशल चित्रकार ने जैसे लापरवाही से ही अपनी तूलिका उठाकर लाल रंग की कूँची फेर दी। अनिल के चेहरे पर मुस्कराहट बिखर पड़ी। उस छोटे-से आँगन के उस पार बैठी हुई 'किसी' का सौंदर्य ऐसे दिखाई देने लगा, मानो स्वर्ग की देवियों ने अपने दोनों हाथ ख़ाली करके अपना यौवन से भरा कौमार्य, मुख की मुस्कराहट और हृदय की ताज़गी एक पुष्प में भरकर, उसे एक चिकने से हरे पल्लव के दोने में सयत्न रखकर स्वर्गंगा की धारा में बहा दी हो। वही जैसे बहता चला आया है—इस ओर ! कितना अच्छा लगा, अनिल को यह सब सोचकर !

और, तभी जैसे उस पार बैठे हुए 'किसी' की दृष्टि अचानक ही इस ओर उठ आई। केवल एक क्षण के लिए ही अनिल की ओर देखा—फिर तुरन्त ही शरमाकर नीची आँखें करके अपनी सैंडिल का फ़ीता कसने लगी वह। उन हाथों की चूड़ियाँ धीमी-सी आवाज़ में खनक उठीं, जैसे अनिल के हृदय के समस्त तार भी इसी स्वर में बँधे थे। इसी झनकार के बीच, यहीं कहीं आसपास में 'ईमन' की पहली तान-सी बज उठी।

अपना फ़ीता कसते-कसते ही फिर 'किसी' ने चुपचाप ही इधर देखा। न-जाने कैसा एक मूक सन्देश-सा उड़ आया इस ओर ! अनिल भी मुस्करा उठा—और वह ! जैसे फ़ीता बँधता ही नहीं है, अपनी आँखें नीची करके, होठों के एक कोने को दबाकर मुस्कराती रही—बिना किसी ओर देखे।

बाहर आने पर मधु की मा ने पूछा—'अनिल बेटे, लड़की तो अच्छी है न—पसन्द आई वह तुम्हें ?'

'हाँ बुआजी—सचमुच बहुत अच्छी है'—कहकर अनिल ने मधु की ओर देखा। सुनकर वह भी मुस्करा दिया।

× × ×

औरतों की भारी भीड़ से घिरी नव-वधू के वेश में निर्मम काँकन जुआ खेलते समय अचानक ही चौंक-सी पड़ी, जैसे बजती हुई वायलिन का तार एकाएक टूट जाय। उस सामने लाल-पीले डोरे और हरी दूब से भरे मिट्टी के छोटे-से जलकुण्ड के पुलिन पर अँगूठी जीतने के लिए हाथ रक्खा ही था कि एक दूसरा-सा हाथ उसी के पास आकर स्थिर हो गया ! यह तो वे नहीं हैं, उसके मन ने पुकारकर कहा। उसकी आँखें सजल हो उठीं। अलक्ष्य में बैठे अन्तर्यामी के सिवा कोई भी इस बात को न जान सका कि कब और किस समय अदृश्य की लेखनी ने उसकी आँखों से अविरल जल की धारा बहाकर उसके सुन्दर से कपोलों पर कितना कुछ लिख दिया था।

सामने ही बैठी हुई स्त्रियों में से कुछ ने कहा—'बहू तो खेलने और अँगूठी जीतने की कुछ भी चेष्टा नहीं कर रही है।' निर्मम जैसे जग पड़ी, जैसे-तैसे अपने को सँभालकर, वह सब कुछ करके ऊपर भाग गई—और तब एकांत से उस कोने में उसकी आँखें फिर गीली हो पड़ीं !

कल आधी रात को विवाह-वेदी से उठकर जाने के बाद जब वह उल्लसित हृदय से ऊपर गई थी, तब उसे देखकर उसकी सखियों ने, न-जाने उसके स्वामी

के लिए कितना कुछ कहा था—'बिलकुल भी तो सुन्दर नहीं हैं—रंग बिलकुल काला है, आँखें बड़ी और होंठ मोटे से।' और भी न-जाने कितनी ही बातें कही थीं। निर्मम इस पर कैसे विश्वास कर लेती। वह स्वयं जाकर अपने देवता को देखकर जो आई है, तभी तो उनके इतना कहने पर निर्मम केवल उनकी हँसी ही समझी थी! यही कि वे इतने अच्छे हैं, तभी तो ये सब लोग जलन करते हैं। इसी लिए तो कल उनके इतना कहने-सुनने पर—तंग करने पर उसने गर्व से सिर ऊँचा उठा करके कहा था—'हमारे लिए तो ऐसे ही अच्छे हैं।'

—लेकिन आज उसी कल की बात को वह कैसे दुहरा सकेगी? नहा कह सकेगी। न-जाने हृदय के उस तल-देश से कौनसी व्यथा का भार ऊपर की ओर फेन की तरह तिर आया। आँसुओं में डूबे हुए उन्हीं उच्छ्वासों के बीच पुरुषजाति के प्रति उसके अपने हृदय में कितना असीम क्रोध उभर आया—इसे कोई भी न जान सका।

—तभी तो उस रोज़, जब प्रथम रात्रि के मिलन में मधु ने उसके गले में फूलों की माला डालते हुए कहा था—'मेरी निर्मम, आज मैं कितना सुखी हूँ—' तब न-जाने उसे कैसा अजीब-सा लगा था। केवल शून्य दृष्टि से ताकती हुई रह गई थी।

—किसी प्रकार साहस कर और म्लान हँसी हँसकर उसने ताक पर के फ़ोटो-फ़्रेम की ओर उँगली उठाकर पूछा—'और ये कौन हैं?'

—क्षण भर के लिए मधु का चेहरा जैसे निस्तेज-सा पड़ गया—'अनिल, इसे तुम नहीं जानतीं—इसी ने तो सबसे पहले तुम्हें देखा था। हम दोनों बहुत दिनों से साथ ही रहते आ रहे हैं। ऊँचे घराने का होते हुए भी वह हमारे परिवार में मेरी ही तरह घुल-मिल गया है, यह कवि है, लेखक है, सदा मुस्कराता रहता है—कभी उदास नहीं देखा इसे!'

—और निर्मम सब कुछ सुनती चुप-सी बैठी रही। उसने मन में कहा—'इन्हें ही नहीं पहचानूँगी तो और किसे जानूँगी, इन्हें कैसे और किस प्रकार भूल सकूँगी।'

—दूसरे दिन अनिल घर पर वर-वधू को बधाई देने आया। बुआजी और मधु देखते रह गये। कितना परिवर्तन हो गया था उसमें। उस बार मधु ने शादी में चलने के लिए कितना आग्रह किया था, तब अनिल 'मुझे किसी आवश्यक कार्य से बाहर जाना है—' कहकर टाल गया था, अभी थोड़े ही दिनों की तो बात है—इसी बीच में उसकी सदैव हँसती आँखों में यह इतनी अभिभूत उदासीनता कैसे भर गई!

—एक तश्तरी में कुछ मिठाइयाँ रखकर बुआजी ने सामने रख दीं! पूछने लगीं वे—'क्यों बेटे, इन दिनों बीमार थे क्या—बड़े थके से लग रहे हो!'

—'तबियत ठीक नहीं थी—' अनिल ने उत्तर दिया—'लेकिन अब आपके हाथ का खाना खाने पर फिर से मोटा हो जाऊँगा।'

—और बुआजी हँस पड़ीं—'अच्छा, अच्छा, वह तो देखा जायगा—पहले यह तश्तरी की मिठाई तो साफ़ कर जाओ।'

—'ऐसे नहीं, अगर वधू स्वयं अपने हाथों से मिठाई लेकर आयेगी—तब!' अनिल ने भी हँसकर कहा।

—और तब बुआजी पुकारने लगीं—'बहू, ओ बहू—' लेकिन निर्मम दूसरे कमरे में दरवाज़े की ओट में खड़ी रही। सुनकर भी नहीं आई वह!

अनिल ने मधु और बुआजी का मन रखने के लिए तश्तरी की दो-चार मिठाइयों को चखकर पानी पी लिया। कुछ देर और बातें करने के बाद वह अपने घर चला गया।

इसके बाद भी अनिल कभी-कभी मधु के घर आता रहा—लेकिन निर्मम कभी सामने नहीं आई!

—इसी ओट में रहकर निर्मम के अपने मन से भी अन्तर्द्वन्द्व चल रहे थे। न-जाने कैसी एक आँधी में वह उड़ी जा रही थी! एकान्त में चुपचाप ही रोकर अंचल से अपनी आँखों को सुखा डालती, उसके अपने हृदय में कितनी व्यथा भरी थी—इसे वह कैसे कहे. कहे भी तो किससे!

—तब एक दिन बुआजी पड़ोस में किसी काम से गई थीं। अनिल कुछ उत्तर न पाने पर लौटा जा रहा था। निर्मम ने अपने को सँभालकर पीछे से आकर कहा—'ज़रा ठहरिए तो।'

—वह ठहर गया—अवाक्-सा होकर उसकी ओर देखता रहा।

—निर्मम कहने लगी—'एक बात पूछती हूँ—जिस अधिकार को लेकर आप मुझे देखने आये थे, वहा अधिकार मैं भी लेकर आई थी। फिर मैंने आपका क्या बिगाड़ा, जो आपने मेरे साथ ही छल किया?'—उसकी आँखें भर आईं कहते-कहते!

—'छल नहीं'—अनिल ने उसकी आँखों में देखते कहा—'मेरा अधिकार! उस दिन वह जो कुछ भी था सब सच ही तो था—लेकिन.......!!'

—'इसी से तो—' निर्मम सहसा कठोर हो गई! लाल-लाल रक्त-सा दौड़ आया चेहरे पर!—'इसी से तो—यह आज मेरा भी जो कुछ है, वह भी सब सच हो गया। तुम लोग कब और किस समय कितनी बड़ी सच बात मुँह से निकाल देते हो, इसकी कल्पना तो शायद भगवान् भी नहीं कर सकते। केवल एक यही पूँजी तुम लोगों के पास शेष रह गई है—इसी के द्वारा तुम लोग मानवता का गला और भी दबाने के लिए रस्सी जुटाया करते हो। तुम लोग कितने क्रूर हो! कितने निर्दयी!! अब तुम जाओ।'

—अनिल का चेहरा पीला पड़ गया। आँखें छलछला आईं। एक क्षण को ऐसा लगा, जैसे उसे चक्कर आ जायगा—लेकिन तुरन्त ही सँभल गया—किसी तरह धीरे-धीरे वह उस घर से चला गया।

—और कठोर पत्थर की मूर्ति बनी निर्मम सब कुछ खड़ी देखती रही।

—इसके बाद दिन पर दिन बीतते गये। अनिल कभी दिखाई नहीं दिया। इधर मधु की बदली भी दूसरे एक बड़े शहर में हो गई। अपना पुराना घर छोड़कर निर्मम भी नये घर में चली गई।

—देश में राष्ट्रीय आंदोलन की लहरें एक कोने से दूसरे कोने तक फैलती-सी जा रही थीं। तभी लोगों ने कहा—देश में एक युगप्रवर्त्तक नया कवि, तम के आवरण को चीरकर प्रकाश लेकर आया है। उसके राष्ट्रीय गीत एक हृदय से निकलकर करोड़ों जनता के हृदय में समा जाते हैं! उनकी धमनियों में चंचल रक्त इधर से उधर दौड़ने लगता है। निर्मम ने भी वे कविताएँ पढ़ीं—केवल यही जान सकी कि अनिल ने अब देश-सेवा का व्रत ले लिया है।

अब भी वह फ़ोटो-फ़्रेम उसके कमरे में बीच के टेबिल पर खड़ा था। इस ओर मधु की तसवीर थी, और उस ओर अनिल की—और वह नित्य ही उस पर पुष्प चढ़ाया करती।

—रात्रि में स्वामी आकर पास बैठते। अपने पासवाली खिड़की खोल देते। तभी उनकी दृष्टि सामने की ओर टेबिल पर जा गिरती। कुछ देर अपलक नेत्रों से देखते रहते। फिर तुरन्त ही हँसकर निर्मम को चिढ़ाने लगते—'देखो, इस ओरवाली तसवीर के नीचे ज़रा से भी तो फूल नहीं हैं।'

—और निर्मम शान्तभाव से कहने लगती—'आपने तो खिड़की खोल दी—पूरब की ओर की ठंडी हवा के झोंके ने कमरे में घुसकर उथल-पुथल जो कर दी, इस ओर से कुछ फूल उड़ाकर उधर ले गई! बताइए मैं क्या करूँ?'

—'इधर से उड़ाकर उधर ले गई—' उसी समय जैसे ओट में बैठे 'किसी' ने एकबारगी ही कुछ छिपा हुआ प्रकट कर दिया। केवल एक पल के लिए। मधु के मस्तक पर केसर और कुंकुम की प्याली उलटकर बिखर-सी पड़ी। मीठी-मीठी सुगन्ध से मन भीग गया उसका।

—प्रकट में उसने कहा—'नहीं, नहीं—अगर इस ओर के सब फूल भी उड़कर उधर चले जायँ—तब भी वह मूल्य किसी प्रकार भी न चुक सकेगा—!'

—निर्मम की 'कुछ पूछती' आँखें अपने स्वामी की ओर उठ गईं।

—और तब रात्रि के उस प्रथम प्रहर में प्रथम बार मधु की आँखें सजल हो पड़ीं!—'अनिल तुम्हें अपने लिए ही देखने आया था—' उसने कहा—'लेकिन तुम हमारे घर आकर ठहरी थीं। मैंने तुम्हें देखा और अपने आपको खो बैठा—इसी से तो अनिल के उस रोज़—'लड़की सचमुच बहुत अच्छी है—' कहकर चलते समय न-जाने आँखों में कितना कुछ उड़ेलकर और शरीर के चारों ओर कैसा एक दीनता का चीर लपेटकर मैंने उससे कहा था—'अनिल बन्धु मेरे—जिस जीवन को लिये जा रहे हो, उसकी भीख मैं तुमसे माँगता हूँ।' और उत्तर में अनिल कुछ क्षण मेरी ओर देखते रहकर, केवल मुस्कराता हुआ चला गया था।

—निर्मम सब कुछ सुनती संज्ञाहीन-सी बैठी रही। आज पहली बार पश्चात्ताप के आँसू छलक पड़े। उसके अपने स्वाभिमान में कितना कुछ जलकर राख हो गया, यह वह आज ही जान पाई। यहाँ तक कि अपना कहने लायक़ भी कुछ शेष नहीं रहा।

—लेट गई वह। एक बार टेबिल के फ़ोटो-फ़्रेम की ओर देखकर आँखें बन्द कर लीं। उसके स्वामी—सोचने लगी वह—मनुष्य को अपने स्वार्थ, अपने सुख-चैन के लिए, दूसरे का छीनते समय ज़रा भी संकोच नहीं होता। यह व्यक्ति, जो पास ही बैठा कोई

किताब पढ़ रहा है, क्या कभी स्वप्न में भी इस बात को समझ सकेगा कि आज से बहुत दिन पहले उस प्रथम मिलन की बेला में अपना सब कुछ 'किसी' को अपना समझकर ही तो दे डाला है।

—और अनिल!—आज उसका मन आकुल होकर बार-बार यही कहने लगा—'हतभागिनी, तूने ऐसे प्यार को भी ठुकरा दिया। उस दिन क्या कुछ नहीं कहा था उनसे!'

—यही सब सोचते-सोचते वह सो जाती। नींद में मीठे सपनों के टुकड़े उड़-उड़कर आते। अनजान में ही अपना हाथ हृदय के पास ले जाती, अपना कुछ टटोलने सी लगती। न मिलने पर जग-सी पड़ती और उसी समय 'किसी' का पीला चेहरा, वे छलछलाई हुई आँखें—अपने स्वामी के शब्द—'यह कवि है, लेखक है—सदा मुस्कराता रहता है—कभी उदास नहीं देखा इसे—' याद आने पर आँखें भर-भर आतीं। उठकर बैठ जाती वह। नील पथ से एकाध टूटकर आते हुए तारे को, बाहर बहुत दूर तक बिखरे अँधेरे में देखती रहती।

—कभी चारों ओर फैले शून्यता के वितान से निकलकर छाया-चित्र पलकों से आकर टकराने लगते। वे मुँदने-सी लगतीं। और वह फिर सपनों में डूबने-उतरने लगती—'देखती कि गृहस्थ-जीवन के पेड़ से सूखकर झरे हुए दुःखरूपी पीले पत्तों से उसके घर का आँगन भर गया है। बुहारने लगती वह उन्हें—उसी समय हृदय की प्रत्येक धड़कन पर चुपके-चुपके पाँव रखता 'कोई' इधर से उधर जाने लगता! तुरन्त ही पुकार उठती वह—'ठहरो, लौट आओ—अब मैं तुमसे कुछ न कहूँगी—'

—उसी समय हवा का एक झोंका अपनी राह भूले प्रवासी की तरह निकल जाता और ऊपर से झरकर दो-चार गिरते हुए पत्ते उसके शरीर से आ टकराते—जैसे एक पल के लिए वास्तविकता का ध्यान हो आता!—वह उन्हें दूने उत्साह से बुहारने लगती! यहाँ तक कि थक जाती वह....

—और सपनों से गुँथी उस निशीथ में, निर्मम नींद के आवेग में अपने तकिये पर गिर पड़ती। उस निद्रित अवस्था में ही जैसे धीमे-धीमे वह कह उठती—'मेरे देवता, यह जो कुछ भी कर रही हूँ केवल तुम्हारे लिए ही तो—'

धर्म और विज्ञान का संघर्ष

श्रीयुत जी० सुन्दर रेड्डी

मनुष्य के अलावा इस संसार में जितने जंतु और जानवर, पशु और पक्षी पाये जाते हैं, वे सब प्रकृति के गुलाम हैं। उनका अस्तित्व है, लेकिन व्यक्तित्व नहीं। मस्तिष्क है, लेकिन विवेक नहीं। वे आँधी में घबराते हैं, वर्षा में भीगते हैं, गर्मी में तड़पते हैं और सर्दी में सिकुड़ते हैं। क़ुदरती ताक़तों के सामने वे अपनी रक्षा करने में असमर्थ हैं। वे लोहार की धौंकनी की तरह साँस तो लेते हैं, मगर ज़िंदगी के आसार एकदम ग़ायब हैं। जो कुछ प्रकृति ने उन्हें प्रदान किया है, वही उनके लिए सब कुछ है; किंतु अपनेआप वे कुछ भी नहीं कर सकते। हाँ, जंगली आदमी इनसे ज़रूर कुछ अच्छे हैं। लेकिन प्रकृति की जितनी शक्तियाँ हैं, जितनी विभूतियाँ हैं, उन सबको वे देवता समझते हैं और हाथ जोड़कर, सिर नवाकर उनकी पूजा करते हैं और विनम्रता के साथ प्रार्थना करते हैं कि वे उनके ऊपर प्रहार न करें; किंतु उनकी सहायक बनें। वे प्राकृतिक शक्तियाँ क्या हैं, जिनसे उन्हें चैन नहीं मिलता और वे प्राकृतिक विभूतियाँ क्या हैं, जिनके प्रभाव से उनका दिमाग़ चक्कर खाता है? इसका ज्ञान उन्हें नहीं रहता। क्या, क्यों और किसलिए का सवाल ही वहाँ पर पैदा नहीं होता। जो कुछ है सो है। मगर जो कुछ है सो क्या है? यह प्रश्न वहाँ पर पैदा नहीं होता। वे समझते हैं कि जो कुछ उनके सामने है, सब किसी काल्पनिक देवता का स्वरूपमात्र है। यहीं से धार्मिक भावना पैदा हो जाती है।

किंतु धीरे-धीरे सदियों के बाद प्राकृतिक शक्तियों के रहस्य को ज्ञान के द्वारा आदमी समझने लगता है और ज्ञान के बल पर उन प्राकृतिक शक्तियों के ऊपर विजय पाने लगता है। जिस तरह ज्ञान की अभिवृद्धि होती जाती है, उसी तरह मानव-समाज की बाह्य प्रकृति

पर विजय होती जाती है। इसका आधार है विज्ञान। यह सच है कि विजय अब तक पूरी नहीं हुई। लेकिन विज्ञान की उन्नति और उसके सदुपयोग से हमारी विजय पूरी होती जायगी।

आज बहुत-से लोगों का यह अभिप्राय है कि विज्ञान के उत्कर्ष से संस्कृति या सभ्यता जटिल होती जा रही है, धर्म दुनिया से ग़ायब होता जा रहा है और यह विज्ञान मानवता को विनाश की तरफ़ ले जा रहा है। लेकिन मेरी राय में सभ्यता या संस्कृति को जटिल बनानेवाला, धर्म को दुनिया से ग़ायब करनेवाला और मानवता को विनाश की तरफ़ ले जानेवाला विज्ञान नहीं, बल्कि मनुष्य के मनस्तत्त्व हैं। मनुष्य अब तक अपनी आंतरिक प्रकृति के और आंतरिक भावों के ग़ुलाम हैं। इसलिए ऐसा ही रहा है। विज्ञान का उपयोग सभ्यता, संस्कृति या धर्म को जटिल बनाने में न किया जावे, इसका ध्येय शुद्ध ज्ञानार्जन करना ही रहे तो सभ्यता, संस्कृति या धर्म के उत्कर्ष को कुछ भी व्याघात नहीं पहुँच सकता।

वास्तव में विज्ञान संस्कृति और धर्म की उन्नति और प्रसार में सहायक है। विज्ञान का ध्येय सत्य-शोधन है और सच्चे धर्म और संस्कृति का ध्येय मानव-जीवन को संगठित करके उसे कल्याण की तरफ़ ले जाना है। बग़ैर सत्यशोधन के मानवता का संगठन और उसका कल्याण बेबुनियादी होगा। जैसे एक राजनीतिज्ञ राजनीतिक चैतन्य के द्वारा राष्ट्र का पुनर्निर्माण करता है, उस राष्ट्र की फटी हुई दरारों को ठीक कर देता है; जैसे एक साहित्यकार या कलाकार मानवीय सुप्त भावनाओं को जगाकर उसमें भावों की जीवन-धारा का संचार कर देता है, वैसे ही एक वैज्ञानिक निगूढ़ प्राकृतिक रहस्यों का परिशोधन कर उसमें ज्ञान का दीपक जलाता है। तभी मानव-जीवन की ख़ूबियाँ प्रस्फुटित और प्रकाशमान होती हैं।

विज्ञान का क्षेत्र जितना विस्तृत है, उतना ही विस्तृत धर्म और संस्कृति का भी क्षेत्र है। धर्म और संस्कृति को एक संकुचित रूप में लेना या देखना और हमारा धर्म आपके धर्म से बिलकुल अलग है, हमारी जाति की संस्कृति आपकी जाति की संस्कृति से बिलकुल अलग है, यह सोचना ऐतिहासिक ज्ञान की कमी के अलावा और कुछ नहीं। वास्तव में संस्कृति या धर्म का उद्गम-स्थान एक है। उसकी आत्मा या रूह एक है। लेकिन विभिन्न वातावरण और परिस्थितियों ने उन्हें अपने-अपने साँचे में ढाल लिया है। एक ही आत्मा को मुख़्तलिफ़ सूरतें दी गई हैं, और वहाँ के वातावरण और परिस्थितियों के अनुसार उन्होंने अपनी उन्नति की है। जब एक जाति में शक्ति आ जाती है तो वह उन्नति की तरफ़ जाती है और जब उस जाति का मानसिक पतन हो जाता है तो हर दृष्टि से वह जाति पतित हो जाती है। तब उस जाति के व्यक्तित्व का विकास रुक जाता है। यही हालत धर्म और संस्कृति की भी है। मानवता के इतिहास में ऐसा भी हुआ है कि जब एक जाति पतित हो जाती है तो दूसरी ऐसी जाति से उसका मेल मिलाप होता है, जिसमें जीवन और स्फूर्ति है। इस मेल-मिलाप से उस पतित जाति में भी नवजीवन और स्फूर्ति का प्रादुर्भाव हो जाता है। धर्म और संस्कृति भी अन्य धर्म और संस्कृति के मेल मिलाप से नवीन जीवन को पाती हैं और अपनी परिस्थितियों के अनुसार विकसित होती हैं। जातियों का संगठन होता है और उन्नति के शिखर तक पहुँच जाती हैं। लेकिन जब उनमें जीवन का संचार कम हो जाता है, तब ख़तम हो जाती हैं। लेकिन मानवता कभी नहीं मरती। इसी तरह विभिन्न परिस्थितियों के अनुसार विभिन्न धर्मों और संस्कृतियों का प्रादुर्भाव होता है और अपनी-अपनी परिस्थितियों के अनुसार उनका विकास होता है। जब उनमें जीवन का संचार मंद पड़ जाता है और उनकी दृष्टि अतीत की कल्पनाओं में उलझी रहती है तो कुछ काल के गाल में लीन हो जाते हैं और कुछ नाममात्र के लिए रह जाते हैं। लेकिन धर्म और संस्कृति अमर हैं। चाहे हिंदूधर्म या संस्कृति का नाम-निशान न रहे। इस्लामी तहज़ीब या तमद्दुन दुनिया से ग़ायब हो जाय और ईसाई कलचर संसार से मिट जाय, लेकिन धर्म और संस्कृति अमर हैं। तब तक उनका जीवन रहेगा, जब तक ज़मीन और आसमान हैं और उनके बीच में इन्सान हैं।

हमारी संस्कृति आपकी संस्कृति से भिन्न है, हमारा मज़हब आपके मज़हब से अलग है, बिलकुल निराला है; हम लोगों में एकता स्वप्न के समान है, इसलिए हमें पाकिस्तान चाहिए—इस तरह समझना या कहना अज्ञान के अलावा और कुछ नहीं। जब धर्म और संस्कृति का उद्गमस्थान एक है, आत्मा एक है और गम्य स्थान एक है तो एकता की भावना वहाँ पर मौजूद है। आदमी सब एक हैं, समान हैं, रंग के

अलग होने से, भाषा और पोशाक के अलग होने से इस तरह समझना कि हमारी जाति अलग है, रक्त अलग है और संस्कृति अलग है, भ्रमपूर्ण है। ये विचार काल्पनिक सिद्धांतों के ऊपर हैं। दुनिया में आज कोई भी ख़ालिस जाति नहीं, ख़ालिस रक्त नहीं और ख़ालिस संस्कृति नहीं। मानवता के विकास के इतिहास के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि विभिन्न जातियों की, धर्मों की और संस्कृतियों की मिलावट से आज की दुनिया बनी है। इससे इनकार कर देना इसी पंगु तर्क की तरह होगा कि हमने अपने मा-बाप को अपनी आँखों से नहीं देखा है, हमारा जन्म कैसे हुआ है, हम नहीं जानते हैं, इसलिए हम आजकल के अपने मा-बाप को अपना मा-बाप नहीं समझते।

प्राचीन काल से इस धर्म और वैज्ञानिक विचारधारा के बीच में जो संघर्ष होता हुआ आ रहा है, उस पर हमें कुछ विचार करना चाहिए। धर्म और वैज्ञानिक विचारधारा के संघर्ष ने हमारे समाज के जीवन के विकास में जो काम किया है, उसे अक्सर हम भूल जाया करते हैं। लेकिन इसमें कुछ भी शक नहीं कि अगर दुनिया में इस धर्म और वैज्ञानिक विचारधारा का संघर्ष न होता तो आज की दुनिया, जिस शक्ल में हमारी आँखों के सामने है, कभी न रहती। प्राचीन काल से ही धर्म और वैज्ञानिक विचारधारा में ख़तरनाक दुश्मनी पाई जाती है। हिंदूधर्म, ईसाई-धर्म और इस्लामी मज़हब के इतिहास से यह स्पष्ट है कि धर्म और वैज्ञानिक विचारधारा का संघर्ष इनमें आज तक जारी है।

फ़्रांस की क्रांति के बाद यूरोप के सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्र में विज्ञान-विचारधारा का एक तूफ़ान आया था। रूस की क्रांति ने तो तमाम दुनिया में इस वैज्ञानिक दृष्टिकोण को और जाग्रत् किया। इस विचारधारा का उद्देश्य था कि सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और धार्मिक क्षेत्रों में वैज्ञानिक विचारधारा के विरुद्ध जो हो रहा है, वह ख़तम किया जाय। लिबरलिज़्म, डेमोक्रेसी, सोशलिज़्म, कम्यूनिज़्म और अनार्किज़्म की पैदाइश इसी लिए हुई थी कि समाज का काम तर्क की बुनियाद पर हो। समाज में जो अन्याय और अत्याचार हो रहे हैं, वे सब समाज में वैज्ञानिक विचारधारा की कमी के कारण हैं। जब समाज में वैज्ञानिक विचारधारा के अनुसार काम होगा तो सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक बुराइयाँ दूर हो जायँगी और समाज में सुख और शांति का साम्राज्य स्थापित हो जायगा।

अठारहवीं और उन्नीसवीं सदी में वालटेयर, डिडेराट, रूसो, मार्क्स और लेनिन ने अपने जीवन का उद्देश्य दुनिया के अँधेरे-से-अँधेरे कोने में वैज्ञानिक विचारधारा के प्रकाश को फैलाना बना लिया था। वैज्ञानिक विचारधारा के इन पैग़म्बरों ने अपनी लेखनी की शक्ति से तमाम दुनिया में इसका प्रचार किया और उनके अनुयायियों की संख्या भी दिन दुगनी और रात चौगुनी बढ़ गई।

जैसे विज्ञान की उन्नति होती गई, वैसे ही वैज्ञानिक विचारधारा की अहमियत भी बढ़ती गई। लेकिन आज दुनिया के कोने-कोने में इस वैज्ञानिक विचारधारा के विरुद्ध विद्रोह उठ खड़े हुए हैं। एक रंग, जाति और संस्कृति ऐसे ही कुछ अंधविश्वास, जिनके अस्तित्व का कोई तार्किक प्रमाण नहीं, दुनिया में फैलते जा रहे हैं। ऐसी राजनीतिक संस्थाएँ स्थापित हो गई हैं और हो रही हैं, जिनके क़ानून, उद्देश्य मनुष्य के तार्किक दृष्टिकोण के बिलकुल ख़िलाफ़ हैं। इन्हें बनानेवाले कहते हैं कि उनका विश्वास हृदय के उन भावों और भावनाओं से है, जिनका कोई प्रमाण नहीं है।

इस वैज्ञानिक विचारधारा के विरुद्ध जो सिद्धांत हम सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में देख रहे हैं, उन्हीं को हम नेशनलिज़्म, फ़ासिज़्म या इंपीरियलिज़्म कहते हैं। फ़्रांस और रूस की क्रांतियों ने जिस वैज्ञानिक विचारधारा को दुनिया में फैलाया था, उसे नेशनलिस्ट, फ़ासिस्ट और इंपीरियलिस्ट राज्यधर्म के नाम पर मिटाना चाहते हैं। इनका विश्वास ऐसे सिद्धांतों में है, जो तार्किक दृष्टिकोण से परे हैं। अपने राष्ट्र की उन्नति और स्वार्थ-सिद्धि जिसमें है, वही उनका धर्म है। अपने राज्य की उन्नति और अपने साम्राज्य को फैलाने के लिए जो धर्म सहायता नहीं देता, उनकी नज़र में वह धर्म नहीं है। इन राष्ट्रों की स्वार्थ-सिद्धि के ख़िलाफ़ दुनिया में कोई नवीन विचारधारा पैदा होती है तो उसका विरोध करना धर्म का प्रथम कर्तव्य हो जाता है; क्योंकि इस धर्म का अस्तित्व राष्ट्र पर निर्भर है। राष्ट्र की बागडोर धनिक-वर्ग के हाथ में है। इसी लिए उस धनिकवर्ग की विचाराधारा का प्रतिनिधि है धर्म। वैज्ञानिक विचार-

धारा के अनुसार तो सब आदमी बराबर हैं। काले या गोरे, अमीर या ग़रीब, ब्राह्मण या चमार सब। एक राष्ट्र का दूसरे राष्ट्र को दबाना अन्याय है, एक आदमी का दूसरे आदमी के परिश्रम को खाना अत्याचार है और एक मनुष्य का दूसरे मनुष्य को नीच समझना पाप है। किंतु नेशनलिज़्म उपर्युक्त सिद्धांत को कभी नहीं मानता, वह तो मानवता के बीच में दीवारें खड़ी करता है।

पुराने ज़माने में वैज्ञानिकों को भरोसा था कि प्रकृति का सारा काम नियमपूर्वक होता है। लेकिन बहुत-से जीवों में या जातियों में अचानक ऐसे परिवर्तन होते हैं और उनके जीवन में ऐसे इन्क़लाब होते हैं कि उन्हें देखकर मस्तिष्क तर्क से ख़ाली हो जाता है। कभी-कभी ऐसा मालूम पड़ता है कि प्रकृति कोई आदमी है। आदमी के हृदय में जैसे भाव उठते रहते हैं, वैसे ही प्रकृति के गर्भ में भी। आदमी जैसे कभी-कभी बिना कारण अपने मन को बदल लेता है, वैसे ही प्रकृति भी। यह सब कहने का अर्थ केवल इतना ही है कि प्रकृति में परिवर्तन या दुनिया का चाल-चलन जिन नियमों के अनुसार हो रहा है, उसमें तर्क की कोई जगह है कि नहीं—कहा नहीं जा सकता। तब हमें यह मानने के लिए मजबूर होना पड़ता है कि ऐसी कोई शक्ति है, जो सारी दुनिया पर अपना नियंत्रण रखती है। वह बहुत ही ऊँची और तार्किक शक्ति से परे है। हाँ, कुछ साला के पहले वैज्ञानिक विचारधारा ने ईश्वर को कान पकड़कर दुनिया से बाहर निकाल दिया था। वह आज फिर वापस आ रहे हैं। हमें संतोष इसलिए है कि यदि ईश्वर को इस दुनिया में फिर आना होगा तो वे उतने भद्दे और कुरूप न होंगे, जैसे पहले थे।

विश्व में तर्क-वितर्क से भाव का महत्त्व किसी अंश में कम नहीं। धर्म और संस्कृति के मूलतत्त्व भाव की भित्ति पर स्थित हैं। आज का विश्व भाव की प्रबलता से ही बना है। कुछ लोगों का तो यहाँ तक कहना है कि तार्किक शक्ति या वैज्ञानिक अनुसंधान का काम तो जो कुछ मौजूद है, उसी की नक़ल बंदर के समान करनी है। किसी चीज़ का वह स्वयं निर्माण नहीं कर सकता।

आज के सभी प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक एक आवाज़ से इस बात का विरोध करते हैं कि आदमी का सारा काम दिमाग़ के ज़रिये तय होता है। डा० फ्रायड ने यह अच्छी तरह बता दिया है कि हमारे मानसिक जीवन में कितने ही ऐसे काम होते हैं, जो तर्क से परे हैं। वे कैसे और क्यों हुए, बिलकुल पता नहीं चलता।

आज एक तरफ़ नेशनलिज़्म, फ़ासिज़्म और इंपीरियलिज़्म पुरानी विचारधारा के प्रतिनिधि हैं तो दूसरी तरफ़ नवीन विचारधारा का प्रतिनिधि कम्यूनिज़्म है। दोनों विचारधाराओं में संघर्षण जारी है। एक की तरफ़ धर्म है और दूसरे की तरफ़ न्याय। एक की तरफ़ धनिकवर्ग है और दूसरे की तरफ़ परिश्रम करनेवाला वर्ग। मेरे विचार के अनुसार इन दोनों विचारधाराओं का समन्वय है गांधीवाद। यह सच है कि गांधीजी की कुछ बातें वैज्ञानिक कसौटी पर खरी नहीं उतरती हैं। गांधीजी जब कहते हैं कि मैं जो कुछ काम करता हूँ, वह अपनी आंतरिक शक्ति की प्रेरणा से करता हूँ तो हम लोगों की तार्किक शक्ति पंगु हो जाती है। लेकिन लाखों और करोड़ों आदमी उनकी बातों में विश्वास करते हैं और उनके अनुयायी हैं। केवल इस देश के ही नहीं, वरन् सारे संसार के बहुत-से लोगों के लिए उनकी वाणी में आकर्षण है और वे समझते हैं कि आज उन्हीं की वाणी में दुनिया की सारी समस्याओं को हल करने की शक्ति है। किन्तु उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं के बहुत-से लोग गांधीवाद को नहीं मानते। ऐसा होना स्वाभाविक ही है; क्योंकि उपर्युक्त किसी भी विचारधारा को गांधीवाद नहीं मानता। उसमें सच्चे धर्म को समुचित स्थान है। सब आदमी बराबर हैं। उसके अनुसार एक राष्ट्र दूसरे को दबा नहीं सकता, एक आदमी दूसरे की मेहनत नहीं खा सकता और एक दूसरे को अपने से नीचा नहीं समझ सकता, इस तरह उपर्युक्त दोनों विचारधाराओं का समुचित समन्वय ही गांधीवाद है। धर्म धर्म के लिए नहीं, विज्ञान विज्ञान के लिए नहीं; दोनों मानव-समाज के कल्याण के लिए हैं। जिस धर्म से मानव-समाज की उन्नति, प्रगति नहीं होती, वह तो धर्म नहीं। लेकिन मानव-समाज के लिए वह ऐसा एक भयानक रोग है, जिससे उसका नाश हो जाना ज़रूरी है। जिस विज्ञान से मानव-समाज की आध्यात्मिक और भौतिक उन्नति नहीं होती, वह तो विज्ञान नहीं। लेकिन वह ऐसा एक विस्फोटक है, जिसके फट जाने से उसका खतम हो जाना आवश्यक है। इसलिए इन दोनों का उपयोग मानव-समाज के कल्याण के लिए ही होना चाहिए। यही हमें गांधीवाद सिखाता है।

विद्यापति-विरह *

(२)

[अक्तूबर, १९४५ की संख्या से आगे]

श्रीसरस वियोगी बी० ए०

भावात्मक शारीरिक

कवि-परिपाटी विरह में जहाँ आन्तरिक भावनाओं का आधिक्य मानती है, वहाँ शारीरिक परिवर्तनों में भी विश्वास करती है। दिन-दिन शरीर का कृश होना, मूर्च्छा का आना ये बाहरी प्रतीक हैं, जो विरह के कारण अंग पर अपना अधिकार स्थापित कर लेते हैं। राधा इनसे परे नहीं है। उसका शरीर भी शनैः-शनैः क्षीण होता जाता है। मुख पीला, तन कृश, मैली सारी में कृष्ण का पूर्वानुराग पाई हुई व्याकुल राधा वृन्दावन की वीथियों में घूमती है। कृष्ण से उसने जितना स्नेह किया था, आज वही स्नेह उसके जीवन का ग्राहक हो गया। पूर्व-स्मृतियाँ इस विरह को और भी कठिन तथा दुःसाध्य बना देती हैं। दूती कहती है—

माधव कत परबोधब राधा।
हा हरि ! हा हरि ! कहतहि बेरि बेरि
अब जीउ करब समाधा[1]॥
धरणी धरिय धनि जतनहि बैसत
पुनहि उठए नहिं पारा।
सहजहि बिरहिनि जग माँहा तापिन
वैरि मदन शरधारा॥
अरुण नयन-नोरे तीतल कलेवर
विलुलित दीघल केशा।
मंदिर बाहिर करहते संशय
सहचरिगण नहिं शेषा॥
आनि नलिनि केओ रमनि सुताओलि
केओ देइ मुख पर नीरे।
निसवद[2] पेखि केओ सास[3] निहारइ
केओ देइ मन्द समीरे॥
कि कहब खेद भेद जनि अन्तर
घन घन उतपत श्वाँस।
भनइ विद्यापति सेहो कलावति
जीवन बन्धन आश पास॥
(गी० ७८७)

हे माधव ! राधा को किस प्रकार समझाया जाय। वह बार-बार हा कृष्ण ! हा कृष्ण ! कहती हुई जीवन समाप्त कर रही है। बड़ी कठिनता से वह पृथ्वी पर बैठती है, परन्तु फिर उठते नहीं बनता। विरहिन को विरह स्वाभाविक ही जलाता है, उस पर कामदेव बाणों की वर्षा करते हैं। उसके नयन लाल हैं। आँसू से भीगी हुई देह है। बड़े-बड़े बाल बिखरे हुए हैं। मन्दिर बाहर उसकी सहचरियाँ दौड़ रही हैं। उन्हें राधा के जीवन के सम्बन्ध में सन्देह है। कोई कमलिनी के पत्ते लाकर उसे सुला रही है। कोई मुख पर पानी के छींटे दे रही है। कोई राधा को चुप हुआ देखकर उसकी साँस देख रही है। कोई पंखा झल रही है। उसकी साँस तेज़ चल रही है। जीवन मृत्यु के समीप ही है।

ऊपर की पंक्तियों में राधा का 'अरुण नयन, नोरे तीतल कलेवर, विलुलित दीघल केशा' में कितना सजीव चित्रण है ! विरह-व्याधि से राधा कितनी क्षीण हो गई है ! इसके अनेक सजीव उदाहरण विद्यापति की पदावली में हैं। सखियों को तो यहाँ तक भय है कि कहीं वह अपनी ही साँस से उड़ न जाय।

सखि जने आँचरे धइलि झपाइ।
अपनहिं साँसे जाइति उड़ि आइ॥
(गी० ७६३)

अर्थात्—सखियाँ आँचल के नीचे छिपा-छिपाकर राधा को रखती हैं, इसलिए कि कहीं वह अपनी ही साँस से अपने आप न उड़ जाय। इसी प्रकार अन्यत्र भी—

नील नलिन लए जब कर वाय।
हृदये रहु भय, उड़ि जनु जाय॥
(गी० ७७२)

---

* लेख के अन्तर्गत दिये हुए गीत के अंक तथा उद्धरण श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा संकलित तथा सम्पादित और इंडियन प्रेस, प्रयाग द्वारा मुद्रित विद्यापति-पदावली के हैं।

[1] समाप्त। [2] चुप। [3] श्वास।

'नीले कमल को लेकर जब हवा करती है, तब यह भय है कि कहीं राधा उड़ न जाय।'

× × ×

विरह में चन्द्र को वैरी और संयोग में सुखदायक कवि-परिपाटी आदिकाल से कहती रही है। विद्यापति की राधा भी चन्द्र के बढ़ने के साथ-साथ क्षीण होती जा रही है। कल पूनो होगी, पता नहीं राधा कैसे बचेगी?

जखन सुनल सखि हिम कर नाम।
तैखने मुरछि पड़ल सोइ ठाम॥
कालि पुनिम शशि कइसे जिउ धरति।
चान्द छटा धनि टुटहि पड़ति॥
(गी० ७७७)

जैसे ही चन्द्रमा का नाम सुनती है, राधा मूर्च्छा खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ती है। कल पूनों का चाँद है। राधा कैसे जियेगी, जब कि चन्द्र की छटा उस पर टूट पड़ेगी!

सखियाँ उपचार करती हैं, परन्तु 'आन ओषधि कर आन बेआधि' लाभ हो तो कहाँ से? वहाँ तो व्याधि ही दूसरी है। एक चतुर सखी कृष्ण का नाम लेती है। प्रिय का नाम सुनते ही विरहाकुला राधा उठ पड़ती है। कितनी सजीव पंक्तियाँ हैं—

केओ सखि ताकए निशासे।
केओ नलिनीदल कर बतासे॥
केओ बोल आएल हरी।
समरि उठलि चिर नाम सुमरी॥
(गी० ७४८)

'कोई सखी निःश्वास गिनती है। कोई कमलपत्रों से हवा करती है। कोई हरि का नाम लेती है, जिसे सुनकर राधा उठ पड़ती है।'

× × ×

राधा की इस अवस्था का पता दूती द्वारा श्रीकृष्ण को लगता है। दूती अपने काम में बड़ी ही निपुण है। विरहव्याकुला राधा के दूती ने अनेक सुन्दर-से-सुन्दर चित्र खींचे हैं।

दूती कहती है—

"माधव! तुम्हारी प्रेमिका को कामदेव नाम के सर्प ने डस लिया। आज अकस्मात् मन्दिर में बहार हुई। चारों ओर भौंरे गुंजारने लगे। राधा गिर पड़ी। 'न चेतए चिकुर, न चेतए चीर।' न उसे अपनी सुवासित वेणी का ध्यान रहा, न लहराते हुए अंचल का। कोई सखी गाने लगी। कोई चंदन घिस-घिसकर लगाने लगी। पर राधा मूर्च्छित की मूर्च्छित ही रही। साँप के काटे हुए को सोने नहीं दिया जाता, इसलिए चतुर सखियाँ राधा के कान में ज़ोर-ज़ोर से कान्ह! कान्ह! कहती हैं। कोई कोकिल को डाकिनी कहकर खदेड़ रही है। हे कृष्ण! तुम क्या रसभरी बातें कर रहे हो? तुम्हारी प्रेमिका को मदन-भुजंग ने डस लिया है।"

अकामिक मन्दिर भलि बहार।
चउदिस सुनलक भमर झंकार॥
मुरुछि खसल, महि न रहल थीर।
न चेतए चिकुर, न चेतए चीर॥
केओ सखि गावए, केओ करचार।
केओ चान्दन गदे[1], करय संभार॥
केओ गोल मतें कान तर जोलि।
केओ कोकिल खेद डाकिनी बोलि[2]॥
अरे! अरे! अरे! कान्हु कि रहसि वारि।
मदन भुअंगे डसु बालहि तोरि॥
(गी० ७५१)

ऐसे ही दो अन्य गीतों में दूती द्वारा माधव को भेजे हुए संदेशों में विद्यापति ने राधा के विरह का बड़ा ही उत्कृष्ट चित्रण किया है। वे गीत नीचे दिये जाते हैं—

माधव कठिन हृदय परवासी।
तुय पेअसि[3] मोयें देखलि वियोगिनि
अबहु पलटि घर जासी॥
हिम करि हेरि अवनत कर आनन
करु करुनापथ हेरी।
नयन कजरलए लिखए विधुन्तुद[4]
भए रह ताहेरि सेरी॥
दखिन पवन बहसे कइसे जुवति
सहकर कवलित अंगे।
गेल परान आँस दए राखय
दस नखे लिखए भुअंगे॥
मीन केतन भए शिव शिव शिव कए
धरनि लोटावए पेहा।
कर रे कमल लए, कुच सिरिफल दए
शिव पूजए निज देहा॥
परभृति के डरें पाअसें लए करे
कट पुकारे।
नरायन
(गी० ७६४)

---

१ घिसकर। २ ज़ोर से। ३ प्रेयसि। ४ राहु। ५ खीर
६ उपाय।

अर्थात्—हे माधव ! विदेश में रहनेवाले का हृदय बड़ा कठोर है । लौटकर घर जाओ । मैंने तुम्हारी प्रेयसी को वियोगिनी के रूप में देखा है । चन्द्र को देखकर वह अपना मुख नीचे कर लेती है । भीगी पलकों से तुम्हारा पथ देखती है । चन्द्रमा उसके हृदय को न शाले, इसलिए चन्द्र के वैरी राहु का नाम नेत्रों के काजल से लिखती है । वह उसी की शरण में है । दक्षिणी वायु बह रही है । युवती कैसे जीवित रहेगी ? वायु जीवनघातिनी है । अपने प्राणों को गया हुआ समझकर वह अपने नखों से सर्प का नाम लिख रही है, इस आशा से कि सर्प वायु को खा जायगा । कामदेव के भय से वह शिव ! शिव ! शिव ! कहकर पृथ्वी पर लोट रही है । अपने हाथरूपी कमल और कुचरूपी नारियल से सदेह शिव की पूजा कर रही है । कोयल के भय से खीर लेकर काग को बुला रही है । हे माधव, चलकर कोई उपाय करो ।

दूसरा गीत है—

अनुखन माधव माधव सुमरइत
सुन्दरि भेलि मधाइ ।
ओ निज भाव सोभावहि बिसरल
अपन गुण लुबधाइ ॥
माधव अपरुब तोहर सिनेह ।
अपन विरहे अपनु तनु जरजर
जिवइते भेलि सन्देह ॥
भोरहि सहचरि कातर दिठि हेरि
छलछल लोचन पानि ।
अनुखण राधा राधा रटतहि
आधा आधा बानि ॥
राधा सञो जब पुनतहि माधव
माधव सञो जब राधा ।
दारुण प्रेम तबहि नहिं टूटत
बाढ़त बिरहक बाधा ॥
दुहुँ दिश दारु दहने जैसे दगधइ
आकुल कीट परान ।
ऐसन बल्लभ हेरि सुधामुखी
कवि विद्यापति भान ॥

(गी० ७१२)

अर्थात्—माधव, तुम्हारा स्नेह अपूर्व है । सुन्दरी राधा प्रतिक्षण तुम्हारा स्मरण करते-करते माधव हो गई । अपने को माधव समझने लगी । अपने स्वभाव को भूल गई । अपने विरह से अपनेआप उसका शरीर जर्जर हो गया । उसका जीवन संदेह में है । सवेरे उठते ही सखियों को अधखुले नेत्रों से देखती हुई छल-छल नेत्रों से राधा-राधा कहती हुई उसकी जीभ खिया गई है । कभी राधा से माधव, कभी माधव से राधा—यही उसका जीवन है । दुःखदायी प्रेम का कहीं अन्त नहीं है । हाँ, विरह की व्याधि बढ़ती जाती है । राधा प्रेम की अग्नि में उसी प्रकार जलती है, जिस प्रकार दो ओर जलती हुई अग्नि में कीट के प्राण हों ।

× × ×

राधा की अवस्था गिरती गई । कृष्ण न आये । निराश होकर राधा ने प्रेमयज्ञ का निर्माण किया ।

लोचन नीर तटिनि निरमाने ।
करए कमलमुखि ताथिहि सनाने ॥
सरस मृणाल कएल जपमाली ।
अहनिस जप हरि नाम तोह्मारी ॥
बृन्दाबन कान्ह धनि तप करई ।
हृदय बेदि मदनानल बरई ॥
जिउ कर समिध, समर करे आगी ।
करति होम, वध होए वह भागी ॥
चिकुर बरहिरे, रुमरिकरे लेअइ ।
फल उपहार पयोधर देअइ ॥
भनइ विद्यापति सुनहु मुरारी ।
तुअ पथ हेरइते अछ बरनारी ॥

(गी० ७५२)

अर्थात्—नेत्रों से बहनेवाली नदी के तट पर कमलमुखी ने स्नान करना प्रारम्भ कर दिया । कमल-नाल की सुमरनी बनाई । निशदिन माधव का नाम जपती रही । दूती कहती है—हे कान्ह, वृन्दावन में राधा बड़ा तप कर रही है । उसका हृदय वेदी है । उसने अपने प्राणों की समिधा बनाई है । वह अब पूर्णाहुति देना ही चाहती है । तुम हत्या के भागी होगे । उसके केश कुश हैं । उसके कुच फल हैं, जिन्हें वह कामाग्नि में अर्पित कर रही है । हे माधव, राधा तुम्हारा पथ हेरती है ।

पर पाठक सोचते होंगे राधा मरी क्यों नहीं ? केवल कृष्ण से मिलने की भावना ही उसे जिला रही थी—

मरिब मरिब सखि निश्चय मरिब
कानु हेन गुणनिधि कारे दिय जाब ।

[मरूँगी । हे सखी, निश्चय मरूँगी, पर मैं तो यही सोचती हूँ कि प्यारे कृष्ण को किस पर छोड़ जाऊँ ।]

(क्रमशः)

कैशबुक के पन्ने

श्रीयुत रावी

[रोहित की कैशबुक के अब तक के २१० लेखों में से, सर्वप्रथम को छोड़, सबसे अधिक महत्त्व के ३१ स्थल चुनकर यहाँ दे रहा हूँ। छपाई की सुविधा के लिए मैंने यहाँ कैशबुक के पन्नों का रूप कुछ बदल दिया है। आयुतिथि में उसकी उम्र का व . महीना और दिन क्रमशः दिया हुआ है; रक़म के खाने में रुपया, आना, पाई की जगह वह अपने व्यवहारियों या व्यापारियों का विचारों, भावों और कर्मों का ऋणी या साहूकार है। ४ क एक भाव के बराबर है और ४ भाव एक विचार के। यहाँ मैंने सुविधा की दृष्टि से ही दी हुई रक़में दशमांश करके लिखी हैं, इससे तुलना में कोई अन्तर नहा पड़ता। रोहित का जीवन-प्रवाह उसकी कैशबुक के इन 'टीपनों' में स्पष्ट झलकता है और वह मार्मिक है। उसकी आयु के साथ उसके जीवन में आनेवाले भावों और विचारों का मिलान करने से दीखता है कि उसका जीवन भावुक और प्रवाहपूर्ण ही नहीं, विचारशील और किसी ऊँचे लक्ष्य के लिए नियंत्रित भी है। उसके प्रारम्भिक चौदह वर्ष के लेखे यानी घटनाएँ तो ठीक उन्हीं तिथियों के हैं, जो उसने दी हैं, लेकिन उन लेखों की भाषा तब की है, जब उसने लिखना सीख लिया था। १४ साल की आयु के बाद उसके जीवन में एक उतार-सा दीखता है, लेकिन वह सम्भवतः उतार नहीं है।

ऐसी कैशबुकों और डायरियों में मेरी विशेष दिलचस्पी है। आपने भी कुछ लोगों पर कुछ एहसान किये होंगे और कुछ के एहसान लिये होंगे। क्या आप भी रोहित की तरह का उनका कोई हिसाब-किताब रखते हैं।

—रावी]

आय — नाम और विवरण — व्यय

१—आय : आयुतिथि ४–२–११, महत्त्व-संख्या १२.

वि.भा.क.
३–४–४ मा

बारह दिन से मेरा बुख़ार नहीं उतर रहा। मेरी तीन दिन की अनुनय-विनय पर पसीजकर मा ने आज मुझे मोतीचूर के दो लड्डू खिला दिये हैं। तीन दिन हुए टोकरी भर लड्डू ट्रंक में लाकर रक्खे गये हैं। तभी से मेरा इन्हीं पर जी लगा था। इस पर पिताजी ने मा को बहुत डाँटा है। मा ने कहा—'मुझसे लड़के का मन नहीं तोड़ा जाता, उसे कहाँ तक तरसाऊँ। लड्डू नहीं नुक़सान करेंगे।'* पिताजी ने इस पर भी उन्हें बहुत डाँटा है और वह बहुत रोई हैं।

२—आय : आयुतिथि ४–८–१०, महत्त्व-संख्या १०.

४–४–१ पंचमा : कहार

मुझे विश्वास न था, लेकिन पंचमा को पूरा विश्वास था कि मैं अपने दरवाज़े से फेंककर अपना लकड़ी का गेंद दूर सामनेवाले पेड़ तक पहुँचा सकता हूँ। उसके हौसला दिलाने पर मैंने गेंद उधर फेंका और वह सचमुच उस पेड़ तक पहुँच गया। अपनी शक्ति के परिचय पर मेरे आनंद का ठिकाना न रहा और मैं पंचमा का बहुत कृतज्ञ हुआ।

८–४–०

शेष धन ८–४–०

* उस दिन से मेरा बुख़ार उतर गया था।

आय वि.भा.क.	नाम और विवरण	व्यय
८-४-०	पिछला शेष.	

३—आय : आयुतिथि ६-१-२२, महत्त्व-संख्या १५.

२-४-४ पिताजी

पिताजी ने मुझे कोठरी में बन्द करने की सज़ा दी थी। रोते-रोते मैं भूखा कोठरी में सो गया। किवाड़ खोलकर पिताजी ने मुझे छाती से लगाकर बहुत प्यार किया और मेरे भूखे सो जाने पर बहुत पछताये। मुझे आज मालूम हुआ कि पिताजी बुरे नहीं हैं और वह मेरी ज़िद पर ही मुझे सज़ा देते हैं और फिर भी बराबर प्यार करते रहते हैं।

४—आय : आयुतिथि ७-१-२६, महत्त्व-संख्या २२.

२-२-१ बहनजी

आज झूला झूलते समय बहनजी ने, जो मुझसे तीन साल बड़ी हैं, मेरी आँखें बन्द कराकर मुझे भगवान् के दर्शन कराये।*

५—आय : आयुतिथि ७-७-७, महत्त्व-संख्या २१.

२-२-२ ज़हीर : मित्र और सहपाठी

स्कूल जाते हुए आज ज़हीर ने एक पैसे की भुनी शकरकंद ख़रीदी है और उसमें से आधी मुझे दी है। मैंने मन में ज़हीर की बहुत तारीफ़ की है और तय किया है कि मैं भी अपने पैसों की चीज़ ज़हीर को और दूसरे दोस्तों को बाँटकर खाया करूँगा।

१—व्यय : आयुतिथि ७-१०-१२, महत्त्व-संख्या. १.

पंडित रामलाल ६-३-४

यह मुझे स्कूल में पढ़ाते हैं। यह मुझे बहुत मारते हैं। मैं इनसे बहुत डरता हूँ। कल इन्होंने एक दूसरे लड़के के क़सूर पर मुझे मारा था। आज से मैं स्कूल नहीं जाऊँगा और धूप में बैठ-बैठकर बुख़ार बुला लूँगा। पंडितजी पर आज मुझे बहुत ग़ुस्सा आ रहा है। वह मर जायँ तो अच्छा हो।

२—व्यय : आयुतिथि ७-११-१२, महत्त्व-संख्या ३.

रामशंकर : सहपाठी ४-४-२

यह बहुत बदमाश लड़का है। मेरी चीज़ें चुरा लेता है और झूठी शिकायतें करता है और पिटवाता है। आज मैंने भी उसकी स्लेट चुराकर अपने बस्ते में रख ली है।

६—आय : आयुतिथि ८-२-८, महत्त्व-संख्या २४.

२-१-३ नबीबख़्श : सहपाठी

यह मेरे दर्जे में है और मुझसे ६ साल बड़ा है। वह मेरी बड़ी सहायता करता है। मेरे लिए अक्सर सुखाये हुए बेर स्कूल में लाता है। दोपहर को जब मैं स्कूल से घर लौटता हूँ तो रास्ते में एक टूटा-फूटा भूत का घर पड़ता है। जब और कोई लड़का मेरे साथ नहीं होता तो बेचारा नबीबख़्श मुझे इस भूतघर के आगे तक पहुँचा जाता है। आज उसने ११-३-१

शेष धन ७-१-४

१६-०-०		१६-०-०

* बड़े होने पर मालूम हुआ कि वह भगवान् के दर्शन नहीं थे, बल्कि आँखें दबाने से हरएक को ऐसी रंग-बिरंगी रोशनी दिखाई दे जाती है।

आय वि.भा.क. | नाम और विवरण | व्यय

१६—०—० पिछला शेष

मुझे एक ऐसा मंत्र* बताया है, जिसे पढ़कर फूँक देने से भूत टूटी-फूटी दीवार के भीतर गड़ जाता है। मैं आज स्कूल से अकेला घर आया हूँ और भूत के घर के सामने खड़े होकर मैंने उस मंत्र को पढ़कर फूँक मारी है। भूत ज़रूर आज मर गया होगा। न भी मरा हो तो अब मुझको उसका बिलकुल डर नहीं है। दूसरे लड़कों के रास्ते में अगर कोई भूत पड़ते होंगे तो मैं अब उन लड़कों को भी उनके घर तक पहुँचा आया करूँगा। नबीबख़्श को मैं हमेशा अपना बड़ा भाई जैसा मानूँगा।

७—आय : आयुतिथि ८—११—८, महत्त्व-संख्या ७.

६—४—१ रम्भा : बछिया

यह बछिया मुझे बहुत प्यारी लगती है। वह है भी बेहद सुन्दर। मैं बहुत दिनों से उसके साथ खेलता आया हूँ। आज मैंने उसके गले में बाँहें डालकर उसे बहुत चूमा। वह मुझे बहुत देर तक अपनी बड़ी-बड़ी सुन्दर आँखों से देखती रही और मेरा मुँह अपनी जीभ से चाटती रहा।

३—व्यय : आयुतिथि ८—११—८, महत्त्व-संख्या ९.

भाभी ०—३—१

जब मैं रम्भा को प्यार कर रहा था तो भाभी ने मेरी बहुत हँसी उड़ाई और मुझे उससे छुड़ाकर घसीट ले गईं। उन्हें इसका बहुत पाप पड़ेगा। उन्हें ज़रा भी तमीज़ नहीं है।

८—आय : आयुतिथि १०—२—१२, महत्त्व-संख्या २५.

२—०—४ जमना : पड़ोसी, ड्राइवर

चार दिन से जमना के मोटरघर के सामने घंटों बैठकर ललचाई आँखों से उसका मोटर देखा करता था। आज उसने मुझे मोटर पर बिठाकर सारी बस्ती की सैर कराई। मुझे ऐसा लगा जैसे मैं हवा से भी ज़्यादा तेज़ उड़ रहा हूँ और जल्द ही बहुत बड़ा आदमी होनेवाला हूँ। मैंने सोचा—पिताजी और तहसीलदार साहब रास्ते में पैदल जाते हुए मिल जायँ तो बहुत अच्छा हो, मैं मोटर रुकवा दूँ और उनसे कहूँ—'आप लोग पैदल क्यों चलते हैं, आइए मेरी मोटर पर बैठ जाइए।'

९—आय : आयुतिथि १४—१—२८, महत्त्व-संख्या १३.

३—३—४ प्रेमा

इसके बराबर सुन्दर लड़की दुनिया में नहीं है। पिछले साल ठीक आज की ही तारीख़ में इसे मैंने पहले-पहल देखा था। तब से मुझे इस लड़की से प्रेम हो गया है। प्रेम के साथ-साथ और भी न जाने क्या हो गया है। मुझे उसकी याद कभी नहीं भूलती। खाना, खेलना और अच्छी-अच्छी कहानियाँ पढ़ना सभी कुछ मुझे नापसन्द हो गया है। मैंने ज़िद करना बिलकुल छोड़ दिया है। मुझे कोई भी बात अच्छी नहीं लगती। कभी-कभी रात-रात भर नींद नहीं आती। कभी तो अकेले में घंटों आँसू बहते रहते हैं। ०—३—१

शेष धन ३१—०—३

३१—३—४ | | ३१—३—४

* मंत्र यह है—दिखा दे या इलाही वह मदीना कैसी बस्ती है;
जहाँ पर रात-दिन मौला तेरी रहमत बरसती है।

आय वि.भा.क.	नाम और विवरण	व्यय

३१–०–३ पिछला शेष

जी चाहता है, वह मिल जाय तो उसे कसकर लिपटा लूँ और फिर कभी न छोड़ूँ और कुछ न करूँ। दुनिया में मुझे उसके सिवा और कुछ नहीं चाहिए। अब मुझसे जो कोई मेरी जो भी चीज़ चाहे ले जाय। मैं सिर्फ़ अपना कत्थई कोट किसी को नहीं दे सकता। वह अक्सर कत्थई रंग की सारी पहनती है और इसी लिए मैंने यह कत्थई रंग का कोट बनवाया है। पिताजी हर महीने दो-तीन दिन के लिए इस शहर में आते हैं और मामाजी के मकान में ठहरते हैं। मैं उनके साथ आता हूँ। मामाजी के मकान के सामने ही प्रेमा का घर है। ऊपर के कमरे से अक्सर उस मकान की छत पर और कभी-कभी नीचे सड़क पर मैं उसे देखता हूँ। कल रात दो महीने बाद मैं शहर में आया हूँ। मामी से मालूम हुआ कि उसे तीन दिन से बुख़ार आ रहा है। उसे अब की बार छत पर नहीं देख पाऊँगा, यह सोचकर मुझे रात भर नींद नहीं आई। लेकिन आज सवेरे आठ बजे ही वह उस छत पर आकर बैठ गई। गरमी और धूप बहुत थी। लेकिन वह मेरे ऊपरवाले कमरे की खिड़की के सामने अपनी छत पर बैठी ही रही। धूप और बुख़ार से उसका मुँह लाल हो रहा था, पसीना चू रहा था। लेकिन वह बैठी ही रही। उसे शायद मालूम है कि उसे देखना मुझे अच्छा लगता है। शायद उसे भी मुझे देखना अच्छा लगता है। लेकिन उसने मुझे आज ज़्यादा बार देखने की कोशिश नहीं की और मुझे ही अपने आपको जी भरकर देखने दिया। हम दोनों एक दूसरे को एकसाथ तो नहीं देख सकते। एकसाथ देखने में आँख से आँख मिल जाती है और झिझक मालूम होती है। उसने आज मुझ पर कितनी बड़ी दया की। इसमें आज उसे कितना कष्ट उठाना पड़ा। उसका वह बुख़ार धूप से लाल और इतना कोमल मुँह! उसकी मा जब उसे कुछ कहती हुई ले गई, तभी वह बहुत बे-मन से गई। ८ बजे की आई वह सवा ग्यारह बजे नीचे गई। मेरे लिए उसकी कृपा और त्याग की कोई हद नहीं है।

४—व्यय : आयुतिथि १४–२–०, महत्त्व-संख्या ६.

राहगीर ०–२–४

भागती हुई भैंस की चपेट से मकान के नीचे सड़क पर इस परदेसी राहगीर को गहरी चोट आ गई थी। वह बेहोश हो गया था और सिर से बहुत ख़ून बहा था। मैंने दौड़कर पड़ोस के अस्पताल से कम्पाउंडरों को बुलाकर इसे अस्पताल पहुँचाया और अस्पताल में दो घंटे उसके पास रहा। ये ढाई-तीन घंटे मैं ऊपर के कमरे की खिड़की पर बैठकर प्रेमा को देखने में लगा सकता था। प्रेमा ऊपर अपनी छत पर ही थी और अगर मैं इस घायल आदमी के लिए दौड़ न आता तो बराबर छत पर ही रहती। कम्पाउंडरों को लाने के लिए मैं गजराज को भेज सकता था और घायल की पट्टी बँध जाने के बाद मैं उसे अकेला छोड़कर या विनोद को उसके पास बिठाकर वापस आ सकता था। लेकिन दुखी की सेवा भी तो करनी ही चाहिए। मेरे हाथ रखने से उसे सिर में जितना आराम मिल रहा था, उतना और किसी से नहीं मिलता। वह मुझे बहुत अच्छा आदमी जान पड़ता था।

१०—आय : आयुतिथि १४–२–०, महत्त्व-संख्या १.

९–०–१ राहगीर

दो घंटे बिस्तर पर लेटने के बाद वह घायल राहगीर एकदम उठ खड़ा हुआ। वह

०–२–४

शेष धन ३६–३–०

४०–०–४

आय
वि.भा.क.

नाम और विवरण

व्यय

२१—३—० पिछला शेष

मुस्कराया, जैसे उसे कोई चोट ही न आई हो। उसने मुझे खींचकर सीने से लगा लिया। मुझे बहुत ही अच्छा लगा। थोड़ी देर को मैं सब कुछ उस सुख में भूल गया, लेकिन एकदम मुझे प्रेमा की याद आ गई। मेरी बन्द की हुई आँखों से आँसू बह चले। राहगीर ने मेरी ठोढ़ी उठाकर और सिर पर हाथ फेरकर सिर्फ़ दो शब्द कहे—'आँखें खोलो।' मैंने आँखें खोल दीं। प्रेमा का रंज मेरे मन से एकदम न जाने कहाँ चला गया। वह एक बार और मुस्कराया। वह अब की मुझे बहुत तन्दुरुस्त और कम उम्र का जान पड़ा। वह धीरे-धीरे अस्पताल के कमरे से बाहर हो गया। मैं उसके पीछे न जाने क्यों न जा सका। अस्पतालवालों ने उसकी बहुत खोज की, लेकिन वह नहीं मिला।

११—आय : आयुतिथि १४—२—१, महत्त्व-संख्या २.

८—४—१ प्रेमा

आज प्रेमा का शहर छोड़कर अपने घर आया हूँ। चलते समय वह कुछ दूर-दूर मेरे पीछे-पीछे ताँगे के अड्डे तक आई थी और जब मैं ताँगे पर बैठ गया था तो सड़क किनारे के अमरूद के बाग़ में एक अमरूद के पेड़ से लिपटकर फूट-फूटकर रोई थी। आज मुझे पक्का विश्वास हुआ कि वह मुझसे बेहद प्रेम करती है और इस प्रेम में वह घुल रही है। आज घर पहुँचकर वह शायद रोते-रोते मर जायगी। मर गई तो वह स्वर्ग में जायगी या नरक में। लेकिन मा-बाप की आज्ञा के बिना जो लड़कियाँ अपने मन में किसी ग़ैर लड़के से प्रेम करती हैं, वे मरने के बाद ज़रूर नरक में जाती होंगी। अगर वह नरक में गई तो....ओह! मैं यह नहीं होने दूँगा। लेकिन मैं कर भी क्या सकता हूँ। तो फिर मैं उसे अपने आपसे प्रेम नहीं करने दूँगा। मैं उसके सामने अब कभी नहीं जाऊँगा। मेरा मन कहता है, वह आज के रोने में मरेगी नहीं। ज़रूर पहले भी वह ऐसे कई बार रोई होगी। मैं उसके सामने नहीं जाऊँगा तो उसे दुःख नहीं लगेगा। फिर उसके मा-बाप उसका कहीं ब्याह कर देंगे। मैं भी बड़ा होकर किसी कम सुन्दर लड़की से ब्याह कर लूँगा। मेरा और प्रेमा का ब्याह नहीं हो सकता; क्योंकि वह मुझसे साल भर बड़ी है और उसकी बिरादरी भी दूसरी है। मेरे साथ ब्याह करना धर्म और मा-बापों के ख़िलाफ़ होगा। और कहीं ब्याह हो जाने पर वह पूजा-पाठ करके मेरे प्रेम के पाप को दूर कर लेगी। तब नरक का डर न रहेगा। जिसमें धर्म को और मा-बाप के दिलों को चोट लगे, ऐसा काम पाप नहीं तो और क्या होगा? अब तक मैंने अपने दुःख में प्रेमा के दुःख को सोचा ही नहीं। यह मेरी भूल थी। अब मैं उसे भूल जाऊँगा। लेकिन प्रेमा का दिल तो कमज़ोर होगा। फिर भी धीरे-धीरे सब ठीक हो जायगा।

१२—आय : आयुतिथि १४—८—२८, महत्त्व-संख्या १६.

२—४—२ भाई

भाई और चाचाजी के परिवारों के बीच एक हफ़्ते से लड़ाई होकर बोलचाल बन्द हो गया है। चाची-चाचा से न बोलना और उनके प्यार का उत्तर न देना मेरे लिए असम्भव है, हालाँकि एक महीने से, जब से पिताजी नहीं रहे, मैं भाई के हिस्से में आया हुआ हूँ। इस लड़ाई के विरोध में मैंने दो दिन से तीन फ़र्लांग दूर के जंगल में निराहार वनवास लिया हुआ है। आज भाई ने तपोवन में मुझे घेरकर कहा—'चल, घर चल, तेरी ख़ातिर

३१—१—३

शेष धन २१—१—३

आय	नाम और विवरण	व्यय

वि.भा.क.

२१-१-३ पिछला शेष

मैं चाची-चाचा के पैर छुऊँगा और माफ़ी माँगूँगा। मेरे आँसुओं से भाई की गोद और भाई के आँसुओं से मेरा सिर भीग गया।

१३—आय : आयुतिथि १५-२-११, महत्त्व-संख्या १६.

२-३-० भगवती : मित्र और सहपाठी

भगवती के बराबर मेरा कोई दोस्त नहीं है। मेरी उसकी जान-पहचान अभी आठ महीने की ही है। फिर भी मन बहुत मिल गया है। उसकी सलाह मुझे बहुत अच्छी लगती है। हम दोनों को दुनिया में बड़े काम करने हैं। आज हम दोनों ने बैठकर अपने जीवनों का उद्देश्य निश्चित किया है। वह जगदीशचन्द्र बोस से भी बड़ा साइंटिस्ट बनेगा और मैं दयानन्द सरस्वती से भी बड़ा उपदेशक।

१४—आय : आयुतिथि १५-४-२८, महत्त्व-संख्या ८.

६-३-२ जेम्स एलेन

जेम्स एलेन की एक पुस्तक आज समाप्त की है और दूसरी शुरू की है। मेरे जीवन के विकास में मेरे लिए जो पथ-प्रदर्शन अपनी पुस्तक द्वारा जेम्स एलेन ने किया है, उसके लिए आज पहली बार मुझे एक मरे हुए व्यक्ति का कृतज्ञ होना पड़ा है। मेरी श्रद्धा के दो फूल क्या उस स्वर्गवासी परोपकारी महापुरुष तक पहुँच सकेंगे !

१५—आय : आयुतिथि १६-८-२५ महत्त्व-संख्या ६.

७-२-० गोखार : एक पहाड़

गोखार से मुझे प्रेम हो गया है। इसकी चोटी पर पहुँचते ही मैं ऊँचे भावों और विचारों से भर जाता हूँ, जैसे इस चोटी के पास ही कहीं इनका स्रोत है। आज मैंने इस गिरि-शिखर की उस चट्टान को बाँहों में भरकर अनेक बार चूमा है और मुझे ऐसा लगा है कि गोखारगिरि की भी एक आत्मा है और यह विशाल पर्वत उस आत्मा का एक सुन्दर सुकुमार शरीर है, जो मेरी बाँहों में पूरा समा सकता है और मेरी आत्मा गोखार की आत्मा से बहुत बड़ी है।

५—व्यय : आयुतिथि १८-४-२२, महत्त्व-संख्या ४.

कलावती २-४-१

यह पड़ोस की एक ख़राब औरत है। बहुत लोग इसके यहाँ आते-जाते हैं। मुझे अक्सर यह हँसकर देखती है। आज उसने इशारे से मुझे बुलाया भी है। तब से मेरा मन बहुत ख़राब हो रहा है। ऐसे बुरे विचार को रोकना बहुत कठिन है।

१६—आय : आयुतिथि १६-८-८, महत्त्व-संख्या २०.

२-२-४ उमा

डेढ़ घंटे की परिचिता इस सुन्दरी नवयुवा बालिका के मीठे चुम्बनों का मुझे जीवन भर ऋण मानना चाहिए। उनमें मिली हुई मिठास और तृप्ति मेरी इस नई प्यास के लिए कुछ समय को काफ़ी होगी। क्या मैं उसके लिए कभी कुछ कर सकूँगा ?

२-४-१

शेष धन ६७-३-३

७०-२-४

७०-२-४

आय वि.भा.क. | नाम और विवरण | व्यय

६७-३-३ पिछला शेष

१७—आय : आयुतिथि २०-८-४, महत्त्व-संख्या २३.

२-२-० प्रोफ़ेसर झा

पिछली रात इस नये शहर में अपरिचित प्रोफ़ेसर झा के घर शरण लेनी पड़ी है। उन्होंने मुझे बातों में लगभग सारी रात जगाया है। आज सुबह चाय पर बैठे हुए उन्होंने मेरी पीठ पर हाथ रखकर कहा—'तुम्हारे पास साधन हैं, समाज के लिए तुम बहुत कुछ कर सकते हो, तुम्हें करना होगा। मैंने तुम्हें खोज निकाला है।' समाज के लिए अपनी उपयोगिता और कर्त्तव्य का ज्ञान और उसके लिए संचित अपने सामर्थ्य का परिचय और सक्रियता के लिए एक नई गति की प्रेरणा मुझे आज पहले-पहल प्रोफ़ेसर झा के शब्दों से मिली है।

१८—आय : आयुतिथि २१-४-१२, महत्त्व-संख्या १७.

२-३-४ दिवाकर : मित्र, डाक्टर

दिवाकर के हाथों आज मैंने एक कठिन रोग से पुनर्जीवन पाया है। आज मैंने उन्हें मेरी आत्मा और मन से ध्यान हटाकर मेरे शरीर पर ही अपना ध्यान और शक्ति एकाग्र करते देखा है। शरीर-चिकित्सक की सफलता और देवत्व का रहस्य आज मैंने डाक्टर दिवाकर की स्थिर आँखों में देखा है। इसके पहले उदासीनता के अवसरों पर मित्र दिवाकर से मैंने मित्रता के जो पाठ सीखे हैं, उनके लिए मेरी अगली मैत्री भावनाएँ सदैव ऋणी रहेंगी।

१९—आय : आयुतिथि २२-२-१०, महत्त्व-संख्या ९.

५-४-१ विश्वम्भरनाथ

यह एक सहृदय साहित्यप्रेमी धनिक हैं। पिछले सप्ताह से एक कठिन विपत्ति में फँस गया हूँ। कई जगह गया, किसी ने झूठ-मूठ को भी सहानुभूति नहा दिखाई। आज विश्वम्भरजी ने जिस सहानुभूति से मेरी कथा सुनी है और सहायता का जो वचन दिया है, उस 'वचनमात्र' के लिए मैं उनका अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। मेरी सहायता मेरे अपने बाहुबल की चीज़ होनी चाहिए, उनकी कोठी से निकलकर मुझे ऐसा लगा है। अगर विश्वम्भरजी अपने वचन का पालन न कर सके—जैसा कि उनके दो-एक परिचितों ने मुझे अभी बताया है—तो क्या मैं उनकी आज की कृपा से उऋण हो जाऊँगा ?—कभी नहीं !

२०—आय : आयुतिथि २२-५-१२, महत्त्व-संख्या १८.

२-३-३ माधवराव

मेरा इनका सम्पर्क अधिक नहीं है। मेरे एक रिश्तेदार के मित्र होने के नाते यह मेरे आदरणीय हैं और मुझ पर कुछ स्नेह रखते हैं। मेरे एक मित्र की दूकान में कल रात चोरी हो गई है। उनका हाथ पहले से ही तंग है। मेरे इन मित्र की चर्चा और उस पर मेरी चिन्ता की भनक माधवरावजी के कान में पड़ने पर उन्होंने पाँच सौ का एक चेक मेरे हाथ में देते हुए कहा—'यह उन्हें दे दीजिए, दूकान सम्हलने पर जब हो सकेगा अदा कर देंगे आपके मित्र जैसे मेरे मित्र।'

२१—आय : आयुतिथि २२-१०-५, महत्त्व-संख्या १४.

३-३-१ जगदीश

जगदीश एक बड़े मिल-मालिक का लड़का है। आज उसने मुझे घेरकर कहा—"मैं तुम्हें

८५-०-२

शेष धन ८५-०-२

आय | नाम और विवरण | व्यय

वि.भा.क.

८५-०-२ पिछला शेष

अपने नये कारख़ाने में साझीदार बनाऊँगा—तुम्हें यह मानना ही पड़ेगा, तुम पर मेरा विश्वास है।" जगदीश ने आज मेरा एक नया रूप और नया महत्त्व मुझे दिखाया है। मुझे अपनी ऊँची ईमानदारी और लौकिक व्यवहारकुशलता का ज्ञान आज जगदीश ने कराया है। जो महत्ता वह दूसरों में खोजता है, वह उसमें मौजूद है। आज उसने, मानो संसार भर की ओर से जो सम्मान मुझे दिया है, उसे मुझे जीवन भर निभाना होगा। दिवाकर से मैंने जो पाया है, जगदीश के हाथों उसे बढ़ाना होगा।

२२—आय : आयुतिथि २३-०-१, महत्त्व-संख्या ३.

८-२-१ मीनू भाई

कल सड़क पर मेरे एक साथी ने इनसे मेरा परिचय कराया था और उस दो मिनट के परिचय के बाद अपनी कार स्टार्ट करते हुए इन्होंने मुझसे कहा था—"हमारे घर में आना कभी, चाय पियोगे तो चाय भी पिलवायेंगे। कल शाम आ सकोगे?" मैंने स्वीकृति दे दी थी और आज उनकी कोठी पर पहुँचने पर उन्होंने 'आओ, भाई, तुम आ गये' कहकर मेरा स्वागत किया और अपनी एक आलमारी के दोनों पल्ले खोलते हुए कहा—"यह बहुत दिन से तुम्हारा इन्तज़ार कर रही है। जो किताब पसन्द आये, ले सकते हो।" उनके 'भाई' कहने में मुझे एक अपूर्व स्थायित्व जान पड़ा और लगा कि सचमुच वह और उनकी अलमारी न जाने कब से मेरा इन्तज़ार कर रही है। एक पुस्तक उनसे आज ले आया हूँ और अब तक उसे आधी पढ़ चुका हूँ। इस पुस्तक ने मुझे अपने जीवन को समझने और जीने के लिए एक नया और अमिट प्रकाश दिया है।

६—व्यय : आयुतिथि २३-३-२६, महत्त्व-संख्या २.

गोपीनाथ ५-४-२

ज़रा-सी बात पर चिढ़कर इसने अब बात-बात में मेरा अपमान और मेरे कामों में रुकावट डालना शुरू कर दिया है। मुझे हानि पहुँचाने के लिए यह स्वयं भी बड़े से बड़ा कष्ट सहने के लिए तैयार है। न जाने इसने मुझसे कहाँ का वैर निकाला है। पचास रुपये महीने की नौकरी पर इसने बाहर जाना इसी लिए नामंज़ूर कर दिया है कि बाहर पहुँचकर यह मुझे नुक़सान नहीं पहुँचा सकेगा। आज सुबह मेरे प्रशंसक मित्र उमाचरन के पिता ने मुझसे जो अनुचित प्रश्न किये हैं और उमाचरन ने मेरे पास आने-जाने की जो मजबूरी बताई है वह गोपीनाथ की ही ज़हरीली करतूत का नतीजा हो सकता है। उमाचरन का विछोह गोपीनाथ के पहुँचाये नुक़सानों में मेरा सबसे बड़ा नुक़सान है। आज सारे दिन मेरा दिल गोपीनाथ के लिए क्रोध में जलता रहा है।

२३—आय : आयुतिथि २३-३-२७, महत्त्व-संख्या ११.

४-०-० गोपीनाथ

गोपी बाबू के सम्पर्क ने मुझे अपने क्रोधी स्वभाव को पहचानने दिया है, मेरे क्रोध को उभारकर उसे क़ाबू में लाने का मुझे अवसर दिया है। उन पर जो-जो दोष मैंने लगाये हैं, उनमें से कुछ ग़लत भी हो सकते हैं। हो सकता है, उमाचरन या उसके पिता तक गोपी

५-४-२

९७-२-३ शेष धन ६१-३-१

७-२-३

आय वि.भा.क. | नाम और विवरण | व्यय

६१–३–१ पिछला शेष

बाबू की पहुँच ही न हो, अपना तबादला उन्होंने किसी और वजह से पसन्द न किया हो। अपनी मूर्खता अब मेरी समझ में आ रही है। अपने शब्दों या कामों से नहीं तो अपने कठोर विचारों से ज़रूर मैंने उनकी क्रोधाग्नि को भड़काया है। विचारों की क्रिया और प्रभाव के सम्बन्ध में तो मैं काफ़ी पढ़ और समझ चुका हूँ। गोपी बाबू ने सचमुच मुझे इस व्यायाम में डालकर मेरा बड़ा उपकार किया है। मैं अपने स्नेह और सहानुभूति के भावों से उन्हें शांत करने का प्रयत्न करूँगा। गोपी बाबू ने मेरे लिए नादान दुनिया का प्रतिनिधित्व किया है। मुझे गोपी बाबू के बहाने ऐसी दुनिया से बरतना सीखना चाहिए।

२४—आय : आयुतिथि २३–७–२३, महत्त्व-संख्या ५.

७–४–१ राय अमरनाथ

राय अमरनाथ कुछ दिनों से मेरे आदरणीय और मित्र हैं। आज उन्होंने बातों में कहा—"मैं तुम्हारा हर क़सूर माफ़ कर सकता हूँ। तुम्हारे मन में उठनेवाली हरएक भली-बुरी बात सुन सकता हूँ, तुम्हारे हर सवाल का जवाब देने को तैयार रह सकता हूँ। एक बार मैंने तुम्हें इसके 'योग' समझ लिया है और अब अगर मुझे तुम्हारी कोई भी कमी, कमज़ोरी या बुराई मुझे तुम्हारे लिए उस लिहाज़ से डिगा नहीं सकती, जिसे बनाये रखना मैं इंसानियत का अटल 'कर्त्तव्य' समझता हूँ। तुम्हारी कोई भी ख़राबी तुम्हारी ज़िन्दगी का 'इस्थाई' अंग नहीं हो सकती।" रायसाहब में मैंने आज एक ऐसा सुलझा हुआ और आदरणीय व्यक्ति पाया है, जिससे सहारा लेकर मैं समाज के मित्रता के प्रयोग करके कुछ आवश्यक पाठ तैयार कर सकता हूँ।

२५—आय : आयुतिथि २३–११–२६, महत्त्व-संख्या ४.

८–१–० घासवाला लड़का

बाग़ के बाहरी लान पर बैठा मैं विचारमग्न लिख रहा था। एक घास खोदनेवाले आठ साल के लड़के ने अपना घास का गट्ठर मेरे सामने पटककर कहा—'बाबू, ज़रा इसे देखे रहना, मैं अभी आता हूँ' और चला गया। दस मिनट बाद वह लौटा और अपना गट्ठर सम्हालते हुए मुस्कराकर बोला—"लो बाबू, अब ख़ूब सोचना और लिखना मैं यह चला" और वह उस खुले मैदान में दो-चार क़दम चलकर ही एकदम विलीन हो गया। मेरे सोचने और लिखने के लिए उसने मुझे एक नई विचारधारा दी है, जिसके बिना मेरा सोचना बिलकुल अधूरा था। उसके गट्ठर की तरह अब मुझे अपने सभी छोटे-बड़े, परिवार, पड़ोस और सड़क के कर्त्तव्यों की भी रखवाली करनी है और अपनी ऊँची विचारधाराओं और कर्त्तव्यों में उन्हें बाधक नहीं, बल्कि उनका ही एक आवश्यक विस्तार समझना है।

१०७–३–२ | शेष धन १०७–३–२

[नोट—इसी कैशबुक का आगे का एक पन्ना बतलाता है कि प्रेमा, राहगीर, गोखार, मीनू भाई, गोपीनाथ और घासवाला के साथ उसका लेन-देन पहले का भी है और रम्भा, राहगीर, रमा, जगदीश, जोलभाई और राय अमरनाथ के साथ उसका लेन-देन आगे भी चलेगा। इस नोट का ध्यान रखकर उन विवरणों को पढ़ने से वे कुछ और भी प्रकाश डालते हैं—रावी]

हमारे घरेलू उद्योग-धन्धे

श्रीयुत रामप्रसादसिंह 'शैलेन्द्र'

भारतवर्ष को यदि ग्रामीण उद्योग-धन्धों का देश कहा जाय तो इसमें कुछ अतिशयोक्ति न होगी। बहुत प्राचीन काल से वह अपने घरेलू उद्योगों के लिए प्रसिद्ध है और वे आज भी उसके घरेलू जीवन के आवश्यक अंग बने हुए हैं। औद्योगिक क्रान्ति के आगमन, रेलों के विस्तार, सस्ती विदेशी वस्तुओं की प्रतिद्वन्द्विता और भारतीय सरकार की उपेक्षापूर्ण नीति ने मिलकर प्राचीन धन्धों एवं हस्तकलाओं को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और स्वतंत्रता का उपभोग करनेवाले कुशल कारीगरों या कलाकारों को इस दयनीय व दुःखपूर्ण स्थिति में पहुँचा दिया कि आज उन्हें अपनी आजीविका उपार्जन के हेतु मिलमालिकों व पूँजीपतियों का मुँह ताकना पड़ रहा है।

ग्रामोद्योगों का महत्त्व

(१) परन्तु फिर भी भारतीय उद्योग-धन्धों का बड़ा ही रहस्यपूर्ण एवं असाधारण महत्त्व है। यद्यपि हमारे देश में अभी बड़े परिमाण अथवा पैमाने पर उत्पादन करनेवाले उद्योगों में कुल जनसंख्या के केवल १/१२ भाग को ही प्रश्रय तथा प्रोत्साहन प्राप्त हो रहा है, फिर भी लगभग ७० प्रतिशत लोग अब भी ग्रामों में रहकर कृषि एवं छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों द्वारा अपना जीवन-निर्वाह कर रहे हैं। इसलिए आर्थिक दृष्टि से भारत के घरेलू उद्योगों का काफ़ी महत्त्व है।

(२) घरेलू उद्योग खेतिहरों के पोषक धन्धे हैं। दूध तथा मक्खन का धन्धा, मुर्गी-पालन, मधुमक्खी-पालन, रेशम के कीड़े पालना, भेड़पालन, वस्त्रोत्पादन, पत्रोत्पत्ति, चमड़ा कमाना, तेल पेरना, रस्सियाँ, चटाइयाँ व डलियाँ बनाना तथा गुड़ व शक्कर तैयार करना आदि अन्य अनेक सहायक उद्योग हैं, जिनमें ग्रामीण लोग अतिरिक्त समय में अपनी अल्प आय की वृद्धि करने का भरसक प्रयास कर सकते हैं।

(३) अनेक हस्तकलाओं के कलात्मक मूल्य की उपेक्षा नहीं की जा सकती। भारतवर्ष के सम्बन्ध में कहा गया है कि 'वह अनेक सुन्दरतम तथा हस्तकलात्मक उद्योगों का उन्नायक है'। भारतीय कला की सर्व-श्रेष्ठता सदैव आदर्श रही है और पूर्वी तथा पश्चिमी कलाकारों को आज भी उससे पर्याप्त स्फूर्ति, प्रोत्साहन, जीवन एवं प्रेरणा की प्राप्ति हो रही है।

(४) इसके अतिरिक्त भारत के ग्रामीण उद्योगों का अत्यधिक नैतिक व सामाजिक मूल्य है। इनसे ग्रामीण कलाकार को आत्मसम्मान तथा सामाजिक एवं कलात्मक स्वतंत्रता की प्राप्ति होती है और वह व्यावसायिक नगरों के अत्यन्त अस्वच्छ व अस्वस्थ वायुमंडल से दूर रहकर अपनी पत्नी व बच्चों के बीच एक अद्वितीय पवित्र नैतिक वातावरण के आनन्द का उपभोग करता है।

घरेलू उद्योगों के आज तक जीवित रहने के कारण उपरिलिखित सामाजिक, आर्थिक तथा कलात्मक मूल्य के अतिरिक्त उनमें कुछ ऐसे अनोखे गुण हैं, जिनके कारण भारतीय छोटे-छोटे धन्धों का, बिलकुल प्रतिकूल परिस्थिति में रहते हुए भी, आज तक समूल नाश नहीं हो सका है और वे बड़े परिमाण में काम करनेवाले आधुनिक यंत्र-युग में अपनी स्थिति बनाये हुए हैं।

(१) कुछ उद्योग ऐसे हैं, जिनके द्वारा अल्प परिमाण में ही उत्पादन करना संभव है। उनके द्वारा बड़े परिमाण में उत्पादन या तो असम्भव है अथवा अनुपयोगी है। उदाहरणार्थ (अ) ऐसे धन्धे, जिनके द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं की माँग अत्यल्प अथवा स्थानीय होती है। (इ) वे धन्धे, जो अत्यन्त कलात्मक हैं और जिनके द्वारा अधिक वस्तुओं के उत्पादन की सम्भावना बिलकुल ही कम अथवा नहीं है। (उ) वे उद्योग, जिनसे खद्दर-सरीखी विशिष्ट वस्तुओं का निर्माण किया जाता है। ऐसे व्यवसाय जो जनरुचि पर आश्रित व अवलम्बित हैं, उनको कुछ विशेष हस्त-निर्मित वस्तुओं की अपेक्षा होती या रहती है। इस प्रकार हाथकती व बुनी हुई सारियों व धोतियों ने यंत्र-निर्मित सारियों व धोतियों का महत्त्व स्वदेशाभिमानी जनता की दृष्टि में बिलकुल ही घटा दिया है।

(२) हस्त-निर्मित वस्तुओं के प्रति ग्राहक का एक विशेष प्रकार का प्रेम व आकर्षण होता है, जिससे प्रेरित होकर वह यन्त्र द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं की अपेक्षा हस्त-निर्मित वस्तुओं के लिए अधिक मूल्य दे देता है अथवा दे देने को उद्यत रहता है। हस्त-निर्मित वस्तुओं के विक्रय-मूल्य में भी एक विशेष स्थायित्व रहता है, जिसके कारण ग्राहकवर्ग में उनके प्रति यंत्रोत्पादित वस्तुओं की अपेक्षा अधिक श्रद्धा होती है।

(३) अल्प परिमाण में उत्पन्न करनेवाले गृहोद्योगपतियों को श्रमिकों को भी अपेक्षाकृत कम ही

पारिश्रमिक देना पड़ता है और उत्पादन-सम्बन्धी अन्य व्यय भी कम ही करने पड़ते हैं। जिसके फल-स्वरूप उनकी वस्तुओं का विक्रय-मूल्य कम होता है। अन्तर्राष्ट्रीय प्रतिद्वंद्विता में भारत की सादी व सस्ती रहन-सहन एक बड़े उपयोगी अस्त्र का काम करती है। इसमें कुछ भी सन्देह नहीं कि योग्यता व व्यवस्था-शक्ति की कमी के कारण वर्त्तमान समय में इसका महत्त्व बहुत घट गया है तथा घटता जा रहा है।

(४) घरेलू धन्धों को अधिकांश लोग तभी अपनाते हैं, जब उन्हें अपने मुख्य धन्धों से अवकाश मिलता है और ये धन्धे कृषि के सहायक उद्योगों के रूप में ही अपनाये जाते हैं।

(५) स्वातंत्र्य-प्रेम भी एक प्रमुख कारण है, जिससे हमारे छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों की स्थिति आज भी किसी न किसी रूप में बनी हुई है। पुराने कलाकारों को, अपनी स्वतंत्रता खोकर बाहर जाने की अपेक्षा, अपने घरों में बैठकर काम करना अधिक रुचिकर प्रतीत होता है, यद्यपि उन्हें घर बैठे काम व परिश्रम करके उतने अधिक धन की प्राप्ति नहीं होती, जितने की बाहर जाकर कार्य करने में हो सकती है।

(६) जनता के अन्दर जो स्वदेशी भावना उत्पन्न या जाग्रत् हो गई है उसके वशीभूत होकर उसने घरेलू उद्योगों द्वारा निर्मित वस्तुओं को अपनाकर उनके प्रति अपने हार्दिक प्रेम का जो परिचय दिया है, उसने भी ग्रामीण उद्योग-धन्धों को जीवित रहने व रखने में पर्याप्त सहायता पहुँचाई है।

घरेलू उद्योग-धन्धों के लाभ व गुण

(१) इन धन्धों में लगे हुए लोगों को स्वतंत्रता से कार्य करने का अवसर मिलता है, अतएव अपने कार्य में आनेवाली अड़चनों एवं असुविधाओं को दूर करने में उन्हें अपनी बुद्धि का अधिकतम उपयोग करना पड़ता है। इस प्रकार कच्चे माल, कार्य करने की पद्धति, औज़ार, आवश्यक धन या पूँजी तथा बाज़ार-सम्बन्धी कठिनाइयों अथवा समस्याओं को उत्तम ढंग से सुलझाते रहने के कारण उनकी योग्यता और शक्ति की समुचित वृद्धि होती रहती है।

(२) घरेलू उद्योगों में कारीगरों या बुनकरों को नवीन-नवीन रंगों एवं डिज़ाइनों का जुटाव करना पड़ता है। इसलिए जब तक इस कार्य में उनका अभीष्ट सिद्ध नहीं होता, तब तक वे अपने कार्य की त्रुटियों एवं न्यूनताओं के दूरीकरण में अपनी आँखों व हाथों की शक्तियों का अधिकतम उपयोग करते रहते हैं। इससे उनकी कलात्मक बुद्धि अथवा कुशलता का पर्याप्त विकास होता है।

(३) यह कहने की आवश्यकता नहीं कि मानवीय विकास में चरित्र का सर्वोपरि स्थान व महत्त्व है; क्योंकि धन व स्वास्थ्य की क्षति की पूर्ति थोड़े प्रयास व साधन से सरलता से की जा सकती है। परन्तु आचरण का विकास बड़ी टेढ़ी खीर है। उत्तरदायित्व के अभाव में चरित्र के उत्थान की संभावना नहीं रह जाती और उत्तरदायित्व का सम्यक् निर्वाह मनुष्य अपनी स्वतंत्र बुद्धि के उपयोग द्वारा ही कर सकता है। ग्रामोद्योगों पर आश्रित रहकर जीवन-यापन करने-वालों को अपनी स्वतंत्र बुद्धि के अधिकतम उपयोग का पर्याप्त अवसर मिलता है, अतएव उन लोगों का आचरण अन्य लोगों की अपेक्षा दृढ़तर तथा श्रेष्ठतर बन जाता है।

(४) बुद्धि, कलात्मक प्रवृत्ति तथा चरित्र ही ऐसे प्रमुख गुण हैं, जिनसे मनुष्यत्व व पशुत्व का अन्तर मालूम होता है। ग्रामीण कलाकारों में ये गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान रहते हैं। इनके अभाव में सभ्यता एवं संस्कृति की स्थिति सम्भव नहीं है, अतएव यह स्पष्टतः कहा जा सकता है कि घरेलू धन्धों में लगे हुए हमारे कुशल कारीगरों ने भारतीय संस्कृति व सभ्यता की रक्षा व उन्नति करने में काफ़ी योग दिया है।

(५) घरेलू उद्योगों से शील, त्याग, परोपकार, सहानु-भूति तथा प्रेमादि मानवोचित गुणों की काफ़ी वृद्धि हुई है, अतएव ग्रामोद्योगों द्वारा लोगों के जीवन को सरस, सफल, सुखमय तथा शान्तिपूर्ण बनाने में अच्छी सहायता मिली है।

यद्यपि छोटे-छोटे उद्योग-धन्धों की भावी उन्नति अथवा उज्ज्वल भविष्य के सम्बन्ध में लोगों का मतैक्य नहीं है, फिर भी विश्व के अनेक भागों में चलनेवाले गृहोद्योगों की वर्त्तमान स्थिति पर दृष्टिपात करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे प्रत्येक देश के आर्थिक ढाँचे के आवश्यक एवं प्रमुख अंग हैं और बड़े परिमाण में उत्पादन करनेवाले कारख़ानों के साथ-साथ उनका भी विकास हो ही रहा है। संयुक्तराज्य अमेरिका, ग्रेट ब्रिटेन, जर्मनी और जापान-सरीखे समुन्नत राष्ट्रों में भी छोटे-छोटे उद्योग-धन्धे फूलते-फलते आये हैं।

इस प्रकार यह सिद्ध हो चुका कि बड़े परिमाण में उत्पादन करनेवाले कारख़ानों की वृद्धि एवं विकास का यह तात्पर्य नहीं है कि उससे छोटे-छोटे घरेलू धन्धा का

ह्रास या विनाश हो जाय। भारतवर्ष में मिलों से बनी हुई वस्तुओं के होते या रहते हुए भी हस्त-निर्मित वस्तुओं का पर्याप्त सम्मान व माँग है।

भारत में अल्प परिमाण में उत्पन्न करनेवाली आधुनिक प्रणाली या पद्धति की त्रुटियाँ ये हैं—

(१) सस्ते जीवन के कारण श्रम का अधूरा या अपूर्ण विभाजन और उसके स्टैण्डर्ड की कमी।

(२) जनता का ऋणग्रस्त होना तथा उसके पास पूँजी का अभाव।

(३) कलाकारों को उचित शिक्षण का न मिलना तथा उनकी अयोग्यता।

(४) तैयार की हुई वस्तुओं को बाज़ार में प्रस्तुत करने के लिए व्यापारिक संगठन की कमी।

(५) सबसे बड़ी त्रुटि है कलाकारों का प्राचीन अनुपयोगी परिपाटी अथवा परम्परा को छोड़ने के लिए तैयार न होना, उनके भीतर महत्वाकांक्षा की कमी और उन्नत जीवन को सराहने की क्षमता या योग्यता का अभाव।

इस प्रकार छोटे-छोटे उद्योगों को यहाँ प्राकृतिक लाभ उठाने का सौभाग्य तो प्राप्त है, परन्तु उनको अपनानेवाले तथा उनमें लगकर जीवन-निर्वाह करनेवाले लोगों का अब तक उत्थान नहीं हो सका है।

भारतीय गृहोद्योगों की उन्नति कैसे की जाय ?

(१) प्रारम्भिक एवं आवश्यक शिक्षा—अनिवार्य शिक्षा के हेतु देशव्यापी एवं सन्तोषजनक व्यवस्था की जानी चाहिए, जिससे लोग अज्ञानांधकार से निकल ज्ञान-प्रकाश का लाभ उठा सकें और अन्धविश्वास-रूपी विकराल दानव से अपनी रक्षा करने में समर्थ हो सकें। इस कार्य के लिए रात्रि-पाठशालाओं को खोलने तथा चलाने का अविलम्ब व अधिकाधिक आयोजन किया जाना चाहिए और इनके द्वारा दैनिक कार्यों में व्यस्त लोगों को शिक्षित बनाने का जीतोड़ प्रयास करते रहना चाहिए।

(२) कलात्मक शिक्षा—कलाकारों के बच्चों को उनके धन्धों से सम्बन्धित सम्यक् ज्ञान प्राप्त कराने के लिए समुचित शिक्षा का आयोजन होना चाहिए। व्याख्यानों, मैजिक लालटेनों और क्रियात्मक या प्रयोगात्मक प्रदर्शनों द्वारा उपयोगी व उपयुक्त शिक्षण दिया जाना चाहिए। उनको नूतनतम या आधुनिकतम औज़ारों और छोटे-छोटे वाष्प-यंत्रों के उपयोग का भी ज्ञान करा देना चाहिए। अधिकाधिक टेकनिकल पाठशालाओं और शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना होनी चाहिए।

अभी कुछ वर्ष पूर्व बिहार व उड़ीसा-प्रान्त को दस क्षेत्रों या हल्क़ों में बाँट दिया गया था। प्रत्येक क्षेत्र में एक कार्य-कर्ता इस हेतु नियुक्त कर दिया गया था कि वह उन्नत व नवीनतम औज़ारों का प्रदर्शन करता रहे। ये प्रदर्शन इंडस्ट्री इंस्टीट्यूट (उद्योग-शाला) के—जो प्रयोग करता है, कर्घे, रंग व अन्य आवश्यक साधनों को प्रस्तुत करने की व्यवस्था करता है और बुनकरों के लिए नूतन वस्त्रों व नवीन डिज़ाइनों का आविष्कार करता है—प्रबन्ध व निरीक्षण में किये जाते थे। इसी प्रकार रेशम के व्यवसाय का सप्रयोग प्रदर्शन भागलपूर सिल्क इंस्टीट्यूट द्वारा और कम्बल बनाने का क्रियात्मक प्रदर्शन प्रयोगार्थ खोले हुए गया के कम्बल के कारख़ाने द्वारा होते अथवा किये जाते रहे हैं। मध्य-प्रान्त में इंडस्ट्री-विभाग ने नूतन डिज़ाइन निकालने, प्रचलित करने तथा अन्य आवश्यक कार्यों की कलात्मक शिक्षा देने के निमित्त सुविधा व सहूलियत प्रस्तुत करने के लिए पर्याप्त परिश्रम किया है।

(३) आर्थिक सहायता—भारतवर्ष में पूँजी के अभाव में घरेलू धन्धों का पनपना कठिन हो रहा है। इन उद्योगों में लगे हुए तथा लगनेवाले लोगों को कम ब्याज पर आवश्यक अभीष्ट रक़में दिलाने की व्यवस्था के साथ ऐसा प्रबन्ध होना चाहिए, जिससे उनको इच्छित औज़ार अथवा पौदे मिल सकें। इस दिशा में सहकारिता-आन्दोलन ने काफ़ी काम किया है। उसके प्रयास से 'पीपुल्स बैंक' और 'आर्टिजंस सोसाइटी'-सरीखी अनेक संस्थाओं की स्थापना हो गई है और उनका सफल सञ्चालन भी सम्भव हो सका है। परन्तु अभी इस प्रकार की अन्य अनेक सहकारी समितियों की आवश्यकता है। इनके अतिरिक्त ग्रामीण कलाकारों, विशेषकर कर्घा चलानेवाले बुनकरों को राज्य से सहायता एवं प्रोत्साहन मिलने की महती आवश्यकता है।

(४) बाज़ार की व्यवस्था (क्रय, विक्रय की सहकारी पद्धति)—चूँकि बाज़ार की उचित व्यवस्था नहीं हो पाती, इसलिए कलाकारों अथवा कारीगरों को अपनी बनाई हुई वस्तुओं का उचित मूल्य नहीं मिल पाता। खेतिहरों से कच्चा माल क्रय करने और उससे निर्मित तैयार माल को सीधे बाज़ार में पहुँचाकर बेचने के लिए यदि सहकारी क्रय-विक्रय-समितियाँ बन जायँ तो इससे दीन-हीन कलाकारों का बड़ा लाभ

हो। दूसरी कठिनाई जो कारीगरों को अपने तैयार किये हुए माल को बेचने में पड़ती है, वह है अपने माल का पर्याप्त व प्रभावपूर्ण प्रचार करने में उनकी असमर्थता। प्रचार आधुनिक युग का महत्त्वपूर्ण प्रश्न है। अतएव कलाकारों को इसके अभाव में काफ़ी क्षति सहन करनी पड़ती है।

लखनऊ और लाहौर के कलाओं एवं धन्धों के व्यापारिक बाज़ार (आर्ट्स और क्रैफ्ट्स इम्पोरियम) की स्थापना का यही उद्देश्य है कि इनके द्वारा कलाकारों को उनकी बनाई या उत्पन्न की हुई वस्तुओं का उचित मूल्य दिलाने में सहायता पहुँचाई जाय और उनके माल को सीधे बाज़ार में पहुँचाने की सम्यक् व्यवस्था की जाय। परन्तु ऐसे अन्य अनेक देशव्यापी व्यापारिक बाज़ारों की आवश्यकता है; क्योंकि इनसे कलाकारों द्वारा उत्पादित वस्तुओं का पर्याप्त प्रचार हो सकेगा। यदि बड़े-बड़े व्यावसायिक केन्द्रों में समय-समय पर औद्योगिक प्रदर्शनियों का आयोजन होता रहे तो इससे भी इस दिशा में अभीष्ट सफलता की काफ़ी संभावना है। बम्बई स्वदेशी भंडार द्वारा स्वदेशी वस्तुओं को देश के भीतरी भागों तक पहुँचाने का जो प्रयत्न या परिश्रम किया गया है अथवा किया जा रहा है, वह भी कम महत्त्वपूर्ण नहीं है। जितने अधिक ऐसे भंडार खोले जायँगे, उतना ही अधिक ग्रामोद्योगों का विकास या उत्थान हो सकेगा। केन्द्रीय बैंकिंग जाँच-समिति ने लाइसेंस-प्राप्त दुकानों एवं सहकारी थोक डिपो की स्थापना पर काफ़ी ज़ोर दिया है। इस कमेटी की यह सम्मति है कि ग्रामोद्योगों द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं के एकत्रीकरण तथा विक्रय का कार्य इन दुकानों तथा सहकारी थोक डिपो से ही अच्छी प्रकार हो सकेगा। स्वदेशी उद्योग-धन्धों को प्रोत्साहन देने के निमित्त अभी कुछ समय पूर्व कलकत्ता कॉरपोरेशन द्वारा कॉमर्शियल म्यूज़ियम तथा बंगाल-सरकार के इंडस्ट्री-विभाग द्वारा औद्योगिक म्यूज़ियम खोले जा चुके हैं।

राजकीय संरक्षण तथा सहायता

पूर्वकाल में देशी राजाओं एवं शासकों के संरक्षण में स्वदेशी उद्योग-धन्धों तथा हस्तकलाओं को अपने प्रचार व प्रसार में पर्याप्त योग तथा प्रोत्साहन प्राप्त था। कुछ प्रान्तों में प्रान्तीय स्टोर क्रय-विभागों ने विशेषकर कांग्रेस शासन-काल में उक्त नीति को अपनाकर अपनी उदारता का परिचय दिया था। जहाँ तक सम्भव था, वहाँ तक उन्होंने स्थानीय कारीगरों की बनाई हुई वस्तुओं को क्रय कर उनके निर्माताओं को प्रोत्साहित करने का उद्योग किया।

ग्रामोद्योगों, विशेषकर कर्घे की बुनाई व रेशम के धन्धों के पुनरुत्थान के लिए अनेक प्रान्तों द्वारा जो स्टेट एड टु इंडस्ट्रीज़ ऐक्ट (क़ानून) बनाये तथा प्रचलित किये गये हैं, उनसे भी घरेलू उद्योगों को विकसित करने की उनकी रुचि अथवा आकांक्षा का अच्छा परिचय मिला है। सन् १९३४ से लेकर सन् १९३६ तक ग्रामोद्योगों के उत्थान के लिए प्रान्तीय सरकारों को ४,७५,००० रु० दिये गये थे। सन् १९३६ के प्रारम्भ में भारतीय सरकार ने घरेलू उद्योग-धन्धों की वृद्धि के लिए पाँच वर्ष के भीतर ५ लाख रुपया व्यय करने की अपनी इच्छा प्रकट की थी।

ग्रामोद्योगों के आदर्श एवं स्टैंडर्ड की उन्नति

घरेलू धन्धों की वास्तविक उन्नति के लिए अत्यावश्यक शर्त यह है कि इनमें लगकर जीवन-निर्वाह करनेवाले व्यक्तियों के कार्यों के स्टैंडर्ड को उन्नत किया जाय। बाह्य जगत् से कोई लगाव या सम्बन्ध न होने के कारण ग्रामीण कलाकारों को नूतनतम नमूनों अथवा डिज़ाइनों का कुछ भी पता या ज्ञान नहीं रहता। यदि उनके बनाये हुए माल को यंत्र-निर्मित माल के समकक्ष स्टैंडर्ड पर लाना है तो उनको नवीनतम डिज़ाइनों का परिचय देते रहना चाहिए।

भावी आशा

रचनात्मक प्रवृत्तिवाली अखिल भारतीय ग्रामोद्योग-संघ वर्धा, खादी प्रतिष्ठान सोदपुर तथा आदर्श सेवा-संघ पोहरी (ग्वालियर) आदि संस्थाओं द्वारा घरेलू उद्योगों को उन्नत एवं विकसित करने का जो अथक परिश्रम किया जा रहा है, उसकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। इस प्रयास में जो आशातीत सफलता मिल रही है, उसे देखकर हमारे अन्दर भावी उन्नति की ज्योति जगमगाने लगी है और हम यह आशा करने लगे हैं कि अब वह दिन दूर नहीं है जब हमारे ग्रामोद्योगों की यथेष्ट उन्नति हो जायगी और हम सत्य व अहिंसा पर आधारित अपने अद्वितीय सिद्धान्त का समस्त विश्व में प्रचार कर सकेंगे, जिससे प्रभावित होकर सारे राष्ट्र एकस्वर से कह उठेंगे कि 'अगर फिरदौस बर रूये ज़मीं अस्त, हमीं अस्तो हमीं अस्तो हमीं अस्त'। यदि पृथ्वी पर कहीं स्वर्ग की स्थिति है तो वह भारत में है, भारत में है और केवल भारत में ही है।

विभावना-विचार

कविराज श्रीरघुनन्दन शास्त्री, साहित्याचार्य, आयुर्वेदाचार्य, डी० आई० एम्० एस्०,
प्रोफ़ेसर, ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज, हरद्वार

'विभावना' के विषय में लगभग तीन-चार साल से विवाद चल रहा है। माधुरी के विज्ञ पाठकों से अपरिचित न होगा कि इस विषय में कितनी कलाबाज़ियाँ खाई जा रही हैं।

भिन्न-भिन्न समय में इस विषय में निम्नलिखित लेखकों के लेख निकले हैं—

मई १६९२ ई० में—श्रीरघुनन्दनप्रसाद चतुर्वेदी साहित्य-शास्त्री।

जुलाई १६४२ ई० में—विद्याभास्कर श्रीपरमानन्द शास्त्री, साहित्याचार्य।

अगस्त १६४२ में—सेठ श्रीकन्हैयालाल पोद्दार।

मई १६४५ में—सेठ श्रीकन्हैयालाल पोद्दार।

अगस्त १६६५ में—श्रीशिवरत्नजी शुक्ल 'सिरस'।

सितम्बर १६४५ में—वि० भा० श्रीयुत परमानन्द शास्त्री, साहित्याचार्य।

अक्तबर १६४५ में—सेठ श्रीकन्हैयालाल पोद्दार।

सर्वप्रथम चतुर्वेदीजी ने यह प्रश्न उठाया—'सहृदय पाठक ही बतलावें कि आपकी कुवलयानन्दकार की चौथी विभावना और रूपकातिशयोक्ति में क्या अन्तर है?' अथवा 'इस छन्द को हम जयदेवजी के चन्द्रालोक की रूपकातिशयोक्ति के उत्तरार्ध का अनुवाद कहें या अप्पय दीक्षित की रूपकातिशयोक्ति के उत्तरार्ध का, अथवा दीक्षितजी की विभावना का सिद्ध रूप? पाठक ही बतलावें कि आपके (सेठ क० ला० पोद्दार के) इस छन्द को हम किसका क्या कहें?'

स्थूल और सूक्ष्म दृष्टि से इन दो उद्धरणों के द्वारा चतुर्वेदीजी विभावना और रूपकातियोक्ति के विषय-विभाग के लिए प्रश्न करते प्रतीत होते हैं। अपनी सम्मति से वे ऐसे स्थलों में रूपकातिशयोक्ति को ही स्वीकरणीय कहते हैं। 'श्रीमान् के उक्त छन्द से विभावना के स्थान पर अतिशयोक्ति ही उद्भूत हो रही है।'

तदनन्तर प्रधानतया इसी प्रश्न के उत्तर में श्रद्धेय साहित्याचार्यजी का लेख निकला। इस विषय में जो-जो प्रश्न उठाये गये थे या उठाये जा सकते थे, सभी का बड़ी कुशलता तथा अधिकारिता से सर्वांगपूर्ण समाधान किया गया।

इसके अव्यवहित अनन्तर, अतएव इस लेख को न देखकर, श्रीपोद्दारजी का लेख निकला। वह लेख श्रीचतुर्वेदीजी के ही लेख की प्रत्यालोचना थी, परन्तु खेद है कि इस लेख में श्रीयुत पोद्दारजी काफ़ी लकीर पीटने पर भी, पर्याप्त शाखाचंक्रमण करने पर भी, चतुर्वेदीजी के प्रश्न का उत्तर नहीं दे पाये। सारे लेख में चतुर्वेदीजी के अनुसार साकूत अथवा साधिक्षेप शैली का अवलम्बन किया गया और केवल यही सिद्ध करना अभीष्ट समझा गया कि विभावना में अतिशयोक्ति अथवा रूपक अवश्य रहते हैं—'इन उपर्युक्त सभी उद्धरणों में यही कहा गया है कि विभावना-अलंकार की सिद्धि अतिशयोक्ति-अलंकार पर ही निर्भर है। कुछ आचार्य केवल अतिशयोक्ति को ही नहीं, रूपक को भी विभावना का उत्थापक बतलाते हैं।'

प्रश्न यह नहीं था, प्रश्न तो यह था कि विभावना और अतिशयोक्ति में अन्तर क्या है? इस विषय में 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इस न्याय के अनुसार निष्कर्ष रूप से केवल यह कहा है कि जहाँ एक से अधिक अलंकारों की स्थिति हो, वहाँ जिसका प्राधान्य हो, वह उस अलंकार के नाम से व्यवहृत होना चाहिए, अतएव विभावना-अलंकार में भी अतिशयोक्ति की स्थिति रहती है। वह प्रधान न रहकर विभावना की अंगभूत होकर रहती है और विभावना की प्रधानता रहती है, अतः इसी सिद्धान्त के अनुसार काव्यप्रकाश के विभावना के उदाहरणों में अतिशयोक्ति की स्थिति रहते हुए भी विभावना-अलंकार माना गया है।

यह सब कुछ तो 'आम्रान् पृष्टः कोविदारानाचष्टे' है। चतुर्वेदीजी कह ही रहे हैं कि अतिशयोक्ति विभावना के उदाहरण में रहती है। पोद्दारजी ने क्या नई बात कही है? बस, प्राधान्य का मानदण्ड केवल नाममात्र से निर्दिष्ट किया गया। इस प्रकार के कोरे मानदण्ड से काम कैसे चल सकता है? इन दोनों अलंकारों के विषय-विभाग को सिद्ध करने का कृपा करनी चाहिए थी, अथवा यह बतलाना था कि विभावना की प्रधानता क्यों रहती है? अतिशयोक्ति की ही प्रधानता क्यों नहीं रहती?

ऐसी परिस्थिति में इससे अधिक क्या कहा जा सकता है कि जिस प्रकार पोद्दारजी के कथनानुसार ११ कालम चतुर्वेदीजी ने निःसार लेख से भरे, उसी प्रकार कुछ कालमों पर उन्होंने स्वयं भी लीपापोती

की। पोद्दारजी जिन प्रश्नों के समाधान का उत्तरदायित्व अपने ऊपर नहीं समझते और जिन पर शंका-रूप से प्रश्न करने पर भली प्रकार किन्तु यथासाध्य चेष्टा की जा सकेगी, उन्हीं को यदि वे विशकलित करते तो पाठकों का अधिक लाभ होता।

इसके उपरान्त यह विषय तीन साल के लिए बन्द रहा। श्रीसाहित्याचार्यजी ने अपने लेख में विभावना का सांगोपांग विवेचन किया था। पोद्दारजी ऐसा न कर पाये थे। साहित्याचार्यजी का लेख पहला था, पोद्दारजी का बाद का; अब वे अपनी धाक कैसे जमावें? शायद यही प्रेरणा मई १९४२ में साकार-रूप धारण कर गई, 'क्या विभावना-अलंकार असंकीर्ण हो सकता है?' इस शीर्षक की कुछ पंक्तियों से पोद्दारजी ने फिर माधुरी को समलंकृत किया और श्रीसाहित्याचार्यजी पर साकूत प्रहार किया। इन पंक्तियों पर इस लेख में कुछ नहीं कहना है; क्योंकि श्रद्धेय साहित्याचार्यजी के द्वारा इनका विश्लेषण पर्याप्त हो चुका है। अब तो यह ज़रा भी चोदक्षम न रह पाई है। इनमें जो ढोल पीटा गया था और जिसके कारण इन्हें अग्रासन मिला था, उस ढोल की पोल ख़ूब खुल चुकी है।

इन पंक्तियों में पोद्दारजी ने पंडितराज का जामा पहना था, अतः रहस्य को न समझकर अन्धानुसरण किया गया था। यह काग़ज़ की नाव कितने क्षण चल सकती थी। अगस्त १९४२ में माधुरी में श्रीशुक्लजी का विरोध प्रकाशित हुआ। उसमें श्रीशुक्लजी ने सरलता से विभावना और अतिशयोक्ति के लक्षण और उदाहरण देकर स्पष्ट किया कि 'अतिशयोक्ति के कारण और कार्य से विभावना के कारण और कार्य भिन्न रूप से वर्णन किये गये हैं........तब विभावना में अतिशयोक्ति कहाँ से फूट पड़ेगी।'

इस पर पोद्दारजी ने श्रीशुक्लजी की बड़ी दयनीयता दिखाते हुए कहा—'इस प्रकार के विभावनों के उदाहरणों में रूपकातिशयोक्ति का भ्रम नहीं हो सकता; क्योंकि ऐसे उदाहरणों में अतिशयोक्ति का होना सहृदय काव्य-मर्मज्ञ विद्वान् ही समझ सकते हैं, श्रीशुक्लजी को विभावना के विषय में भ्रम उत्पन्न होना कोई आश्चर्यजनक नहीं।'

इन पंक्तियों में पोद्दारजी ने श्रीशुक्लजी को तो दयनीय बताया ही, पर 'काव्य-सर्वस्व' के लेखक श्रीपं० परमानन्दजी शास्त्री-जैसे साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् को भी वे एक साँस में ही दयनीय सिद्ध कर गये। सम्भवतः आज पोद्दारजी की वह पहली प्रेरणा सर्वथा सफल हुई दिखाई देती है। आख़िर पोद्दारजी ने साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् को भी दयनीय कर ही दिया। समर्थ के लिए भाई, सभी दयनीय हो जाते हैं।

हमें खेद है कि पोद्दारजी का यह लेख भी श्रद्धेय साहित्याचार्यजी के सितम्बर १९४२ के लेख को न देखकर ही लिखा गया है। यदि पोद्दारजी कहीं उस लेख को इस लेख के लिखने से पहले देख पाते तो क्या साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् दयनीय हो पाते!

पोद्दारजी समर्थ हैं; चाहे जिसे दयनीय बनावें, हमारा तो निवेदन यही है कि उन्होंने साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् को व्यर्थ में ही दूसरे के प्रसंग में भी क्यों खींच मारा, जिसे आप विपरीतलक्षणया निर्देश कर रहे हैं, सचमुच ही वह साहित्य का प्रकाण्ड विद्वान् है। उसे एक के स्थान पर अनेकानेक स्फूर्तियाँ हुआ करती हैं। आपने मई १९४३ में उन पर आश्चर्य प्रकट करने का फल तो पा ही लिया। 'माधुरी' के पूरे २० पृष्ठ सुकुमारमति पाठकों के लिए व्यर्थ सिद्ध कर गये। यदि उस स्थान पर दो-चार कहानियाँ होतीं तो कितना लोकोपकार और मनोरंजन होता।

लेख व्यर्थ में ही बढ़ता जा रहा है। हम तो कुछ बानगी इस अन्तिम लेख की भी देखना चाहते हैं। पोद्दारजी, जब कि मई १९४२ में, प्रत्येक विभावना को अतिशयोक्ति से संकीर्ण मानते थे, पर केवल ६ महीनों में विभावना के किसी-किसी उदाहरण में ही भ्रम मानने लगे। उनका भ्रम बड़ा शक्तिशाली है। शुक्लजी को भी वह बताया गया और साहित्याचार्यजी को भी। बड़ा आश्चर्य है, भ्रम हो तो पोद्दारजी को रहा है पर वह प्रतीत शुक्लजी तथा साहित्याचार्यजी में हो रहा है।

पोद्दारजी अपने लेखों में सबक़-सा सुनाते प्रतीत होते हैं। अगस्त १९४२, मई १९४२, अक्तूबर १९४३ में वे केवल उतना ही नपातुला बोलते हैं, जो कि श्रीपंडितराज तथा श्रीनागेश भट्ट कह चुके हैं। उससे तिल भर भी इधर-उधर जाने से उनकी प्रामाणिकता पर बट्टा लगता है। इसी प्रसंग में पंडितराज ने अप्पय दीक्षित की हँसी उड़ाई है और कहा है कि आप इतने प्रामाणिक हैं कि किसी से न कहे हुए को आप ज़रा भी नहीं कहते अर्थात् आप (अप्पय दीक्षितजी) वमनभक्षी हैं। आपकी उक्ति

में कुछ भी सार नहीं। वह तो सब दूसरों (अलंकार-सर्वस्वकार) की जूठन है।

विद्वान् में एक प्रतिभा होती है। वह चाहे शास्त्रों से ही उद्बुद्ध होती हो, पर उसका अपना पृथक् व्यक्तित्व होता है। पोद्दारजी ने एक बात सीखी है कि अतिशयोक्ति के विना विभावना नहीं होती। बस, उनके सिवा जिसे कोई विभावना कहता है, वे तुरन्त यह आर्डिनेंस जारी कर देते हैं, 'वे विभावना के उदाहरण ही नहीं हो सकते; क्योंकि इन उदाहरणों में अतिशयोक्ति का सहयोग नहीं।' पोद्दारजी के पास न जाने कौन-सी अतिशयोक्ति है? जैसी अतिशयोक्ति उन्होंने 'आवत है तिल-पुष्प ते मलय सुगन्ध समीर' में अपने इसी अन्तिम लेख में निकाली है, वैसी तो बेचारे शुक्लजी के उदाहरण में भी हूबहू दिखाई देती है। ज़रा मिलाकर तो देख लीजिए—

'आवत है तिल-फूल तें मलय सुगन्ध समीर।'
'हीराद्युति दमकति मनों कमलरंग सुखवंत।'

अब इन दोनों पंक्तियों को ज़रा ग़ौर से एकसाथ एक-दो बार पढ़िए और कहिए क्या यह एक सी नहीं हैं? तिल के फूल से चन्दन की सुगन्ध निकालने में जो अतिशयोक्ति काम कर रही है, वही तो यहाँ भी कमल से हीरा की द्युति निकलवा रही है। यहाँ अतिशयोक्ति शायद इसी लिए नहीं प्रतीत हुई कि यह उदाहरण 'काव्यप्रकाश' या 'रसगंगाधर' में नहीं आया। अतएव इसमें उन्होंने अतिशयोक्ति नहीं बताई। बस, उन्होंने नहीं बताई; इसलिए इसमें वह है ही नहीं। बहुत अच्छी तराज़ू पकड़ी है आपने!

अच्छा, अब हम पहले कह देते हैं कि इसमें भी अतिशयोक्ति है। अब तो आप भी मान लीजिए। आप प्रामाणिक हैं।

हमें अभी और भी कहना था, पर प्रवाह में पड़कर जैसे को जैसी भाषा में उत्तर देना पड़ रहा है और हम ऐसी असंयत भाषा का प्रयोग वयोवृद्ध के प्रति नहीं करना चाहते; अतः यहीं चुप हो जाते हैं। समय यदि बुलवायेगा तो देखा जायगा।

सर्वप्रथम जिस शैली से चतुर्वेदीजी ने प्रारम्भ किया था, पोद्दारजी को वह स्वयं खटकी थी। उन्होंने उल्लेख किया है, 'किन्तु आपने जिस शैली का प्रयोग किया है, वह सहृदयजनों की दृष्टि में गौरवजनक नहीं हो सकती।' * पोद्दारजी को चाहिए 'आत्मनः प्रतिकूलानि न परेषां समाचरेत्।' परन्तु उन्होंने अपने प्रायः सभी लेखों में उसी शैली का प्रयोग किया है। किसी के लिए भी ऐसा न करना चाहिए। विद्यावाचस्पति पं० परमानन्द शास्त्री व्याकरणसाहित्याचार्य, साहित्याध्यापक, पंजाब-विश्वविद्यालय ओरिएंटल कालेज, लाहौर, तो अपने विषय के माने हुए विद्वान् हैं। उनका उपहास और उन पर आश्चर्य प्रकट करना आपको भी शोभा नहीं देता। दूसरों की बात में उन्हें भी घसीटना अच्छा नहीं, यद्यपि साहित्य-चर्चा का सर्वात्मना अभिनन्दन है। अब इस लेख में जिन-जिनका ज़िक्र चला है, उन-उन सबसे विनयावनत हो हम क्षमा माँगते हैं।

* 'माधुरी', पृष्ठ ७८, सन् १९४२।

समस्या*

श्रीयुत "विमल"

गृहिणी पहने धोती चार
पिछले सावन के पैसों को, दे न सका मैं अब की बार।
प्रतिदिन चिंता करती ख्वार।
गृहिणी पहने धोती चार॥
रुपये लेने आया बनिया, मेरे वादे के अनुसार।
वह गाली दे गया हजार।
गृहिणी पहने धोती चार॥
मेरी पीड़ा के आख्यान,
काजल-सी काली स्याही से—
कवि ने अंकित किये अजान।
सुनकर रोने लगते प्राण॥
सकल विश्व के उमड़े आँसू,
नभ से गिरते अमित अपार।
उठता मन में हाहाकार।
गृहिणी पहने धोती चार॥
गिरता है वह वज्र महान,
जब धोती की देती आज्ञा, हुंकृत हो जाते हैं प्राण।
रो पड़तीं आँखें अज्ञान।
हृदय अचानक टुकड़े-टुकड़े हो बह चलता पानी-धार॥
जीवन में है कितना सार।
गृहिणी पहने धोती चार॥

* "श्रीप्रेमी" जी की एक कविता के सहारे।

"संकेत"

पं० शिवप्यारेलाल शुक्ल

गाँव के बाहर सड़क के किनारे पड़ा रहता हूँ वृक्ष के नीचे टूटी मड़ैया में। आने-जानेवालों का मुँह ताकते हुए। उन्हीं की दया के सहारे। खा लेता हूँ यदि कोई दे देता है मेरे बुढ़ापे—मेरी दीन दशा पर तरस खाकर। नहीं तो लेट जाता हूँ जर्जर पेट को घुटनों का सहारा देकर—काटता हूँ अब इसी तरह जीवन के अंतिम दिन—उस सुनसान स्थान की विकट, भयंकर और अंधेरी रात में—सोचा करता हूँ कि कैसी थी मेरी वह विचित्र अबोध बाल्यावस्था, जब कि मैं जगत् और जगत्-संचालक को जानता तक न था। संसार की विषय-वासना, भोग-विलास तथा अन्य वस्तुओं को मेरे पास आने का साहस तक न होता था। सुख-दुःख, मान-अपमान, आदर-निरादर, अमीरी-ग़रीबी सब अपना-अपना मुँह लेकर लौट जाते थे। सर्दी-गर्मी, धूप-छाँह का नाम तक नहीं जानता था। अपना-पराया, द्वेष-प्रेम से बिलकुल वंचित था—मैं सुख-शान्ति और तोष का प्रत्यक्ष रूप था। मैं ही काम, क्रोध, लोभ, मोह का विनाशक था—मैं ही आँखों की ज्योति, हृदय का टुकड़ा और दया और करुणा का उत्पादक था। मैं ही निर्धनों का धन और धनिकों की आशा था। समस्त ब्रह्मांड में मेरे ही कारण संचालन होता था। पृथ्वी और आकाश सब मेरे ही सहारे थे। जपी, तपी, ज्ञानी, ध्यानी—सब मेरे ही हृदय में परमात्मा को पाते थे। मुझी को पाकर शान्त होते थे। प्रिय लगती थीं मेरी वे निष्कपट बातें, जिनको सुनने के लिए लालायित रहता था प्रत्येक व्यक्ति। क्षम्य था मेरा उचित-अनुचित कार्य। बाहर था मैं सामाजिक नियमों और बन्धनों से। स्वतंत्र था मैं प्रत्येक स्थान पर जाने के लिए—युवतियों के अठखेलियाँ करते हुए कुंड में—वृद्धाओं के ईश्वरोपासन करते हुए समूह में तथा विद्वानों की गूढ़ और गंभीर विचार करती हुई महती सभा में। कितना था मैं साहसी, फेंक देता था उठाकर अमूल्य वस्तुएँ—नोच लेता था दाढ़ी, मूछ। कर देता था मैं बड़ों पर मल-मूत्र। फिर भी कहते थे मुझको पाकर अपने आपको भाग्यशाली। बड़े-बड़े बुद्धिमान् और गंभीर मनुष्यों से भी कहला लेता था अपनी ही तरह तोतली बातें। झुका लेता था, बड़े-से-बड़े घमंडी और अभिमानी को केवल उसकी उँगली पकड़कर और चला लेता था अपने साथ झुकी हुई कमर से सरे बाज़ार रास्ते पर। पराजित हो जाते थे बड़े-बड़े शूरवीर। मान जाते थे बड़े-बड़े विद्वान् मेरी बात पर। मुग्ध हो जाते थे बड़े-बड़े व्याख्यानदाता मेरी बात सुनकर।

× × ×

सुबह से शाम तक खेला करता था धूलि के घरौंधे बनाकर, जो होते थे मेरे दिव्य और विशाल राज-प्रासाद, पत्तों और फूलों का बनता था रत्नजटित राजमुकुट, जिसको पहनकर हो उठता था मैं गर्वीला एक वास्तविक राजा से भी अधिक।

× × ×

रहता था सुबह से शाम तक मेरा प्रत्येक अंग मैला। कर देता था आँखों का काजल फैलकर सारे मुँह को काला। तात्पर्य—नख से शिख तक बना रहता था मैं कालाकलूटा। किन्तु गंगा के समान शुद्ध था मेरा अंतःकरण—दर्पण की भाँति निर्मल थी मेरी आत्मा, क्षीर की तरह उज्ज्वल था मेरा चित्त।

× × ×

व्यतीत होता है, रात्रि का प्रथम प्रहर मेरे इन्हीं विचारों के साथ-साथ। फिर देखता हूँ. दूर खड़ी हुई युवावस्था का अभिनय—मानो उसने मुझ पर कर लिया हो पूर्ण अधिकार। फँसा दिया उसने मुझे इच्छाओं के जाल में—जकड़ दिया तृष्णा की डोरी में—लपेट दिया स्वार्थ के काले वस्त्र में। जगदीश की अनुपम विभूतियों को देखकर उठने लगा मेरे हृदय में ज्वार। विचरने लगा मैं संसार के उपवन में—हो गया दीवाना, मतवाला मैं मत्त गयन्द की भाँति। कुचलने लगा मैं निर्बलों को। आह! कितना निर्दयी बना दिया था तूने यौवन मुझे—विलीन कर दिया था मेरे हृदय से बड़ों के प्रति मान—छुड़ा दी थी छोटों के प्रति क्षमा—जाती रही थी दीनों के प्रति हृदय-दया और बना दिया था तूने असभ्य—अमानुष, निर्लज्ज।

× × ×

संसार की प्रत्येक वस्तु में देखता था अपना ही प्रतिबिम्ब। अकड़ता था—ऐंठता था—फूला न समाता.

था अपने बल पर—हा ! हा ! हा ! कौन कर सकता था मेरी समता !

× × ×

देवी, देवता, पूजा, अर्चा, व्रत, उपवास, ज्ञान, ध्यान, जप, तप, दान, दक्षिणा, राम, रहीम—सब हेच थे मेरे सामने। सम्राट् था मैं पृथ्वी और आकाश का।

× × ×

देखते-देखते जवानी ने समाप्त किया अपना वह अभिनय। होने लगी वह अन्तर्गत जीवन-पटल के एक कोने पर खड़ी होकर—न रुकी वह मेरे हज़ार-लाख प्रयत्न करने पर। तनिक भी परवा न की मेरी अतृप्त इन्द्रियों की। मेरी प्यासी तृष्णा की। मैं रहा देखता का देखता। बिगड़ गई मेरी आकृति। पुकारा जाने लगा मैं भिन्न-भिन्न नामों से। भालू, बन्दर, बूढ़ा बैल—हा ! हा !! हा !!! यही फल मिला मेरी सेवाओं का। कृतघ्नी ! अपकारिणी जवानी।

× × ×

कौन कहता है जीवन का सार, जीवन का उत्थान, जीवन का सच्चा सुख है युवावस्था ? यह सब झूठ है—यह प्रपंची है—छली है—कपटिनी है जवानी धोखे में डालनेवाला पन है, मुलम्मे पर चढ़ा हुआ कोरा सोने का पानी है। जिसके उतर जाने पर फेंक दिया जाता है वह कोने में। डाल दिया जाता है वह कूड़े पर। पटक दिया जाता है बाहर सड़क के किनारे। फिर उसको देखकर भी कोई नहीं उठाता। फेर लेता है मुँह संसार उसकी ओर से। उस दिन जा रहा था मैं बाज़ार। लटक रहे थे सन-जैसे बाल मेरे कानों [illegible] हुई टूटी ऐनक मेरी खी नाक पर। पड़ी थीं झुर्रियाँ सारे शरीर पर। जा रहा था रेंगता हुआ कमर झुकाये लकड़ी का सहारा लिये सड़क के किनारे। चिल्ला उठे बच्चे मुझे देखकर—"देखो ! वह कौन जानवर जा रहा है।" मैं रुक गया। सोचा, ओह ! बुढ़ापे। तेरा इतना अपमान, इतना निरादर, इतनी हँसी ! काँपने लगा मैं क्रोध से। रक्तवर्ण होने के बजाय छल-छल निकलने लगा पानी मेरे धँसे हुए नेत्रों से। न दे सका कोई अंग सहायता मुझे उन लड़कों से बदला लेने के लिए। असमर्थ, लाचार होकर मैंने बैठकर कहा—"पागलो ! तुम्हें भी बनना पड़ेगा एक दिन ऐसा जानवर। आज मैं शक्तिहीन हो गया हूँ। मेरी कमर झुक गई है। आँखें ज्योतिहीन हो गई हैं। कान कम सुनने लगे हैं। रक्त पानी हो गया है। पौरुष ने साथ छोड़ दिया है, संसार ने मुँह फेर लिया है। घर का, बाहर का, पृथ्वी का और इस स्थान का भार बन गया हूँ, किन्तु फिर भी संसार में दया, करुणा, मानवता, सभ्यता और शिष्टाचार की खेती को सींचनेवाला बुढ़ापा ही है—लड़कपन नहीं—जवानी नहीं।

× × ×

मैं सोच रहा था—दे सकता हूँ मैं अपनी जीवन की सारी कमाई। बन सकता हूँ सदा के लिए उस व्यक्ति का गुलाम, दास, सेवक जो एक बार, केवल एक बार बुला दे मेरी उस युवावस्था को—किन्तु यह थी मेरी कोरी कल्पना—छूटे हुए तीर को फिर वापस लेना।

× × ×

रात्रि के अवसान पर समाप्त होते हैं, लड़कपन, युवापन और वृद्धापन के ये अभिनय। मैं सोचा करता हूँ अब कब आरम्भ होगा फिर वह विश्वमोहक बाल्य-अभिनय, जिसके उत्तर में प्रातःकाल पक्षियों का कलरव प्राचीदिशा की ओर संकेत करके कहता हुआ मालूम पड़ता है—"उस धधकती हुई चिता में भस्म हो जाने के बाद।"

गीत

श्रीजगन्नाथ एम्० ए०

तुम चल करके भी नहीं चले !
फिर वही जलन, फिर वही दृष्टि,
फिर वही प्रलय, फिर वही सृष्टि;
फिर वही पाप, फिर वही पुण्य,
फिर वही उपेक्षा, वही दृष्टि !
फिर वही प्रश्न अगले - पिछले,
तुम चल करके भी नहीं चले !

तुम भागे हमको छोड़ यहाँ,
लेकिन जा पाये दूर नहीं;
हम बिना चले ही सदा चले,
तुम गये जहाँ हम गये वहीं !
छाया बन पद के तले - तले,
तुम चल करके भी नहीं चले !

गतिहित गति में क्या लाभ भला,
चलकर चलने में कौन कला ?
वह पथ - भ्रष्ट है पथिक नहीं,
चलने के जो न विरुद्ध चला !
तुम परम्परा से नहीं चले,
तुम चल करके भी नहीं चले !

हमारा दृष्टिकोण

१—प्राचीन भारत के गाँव

किस अतीत युग में, भारत में, पहलेपहल गाँव बसाया गया था, यह आज तक कोई निश्चित नहीं कर सका। अधिकांश लोगों की धारणा है कि आर्य लोग यहाँ के आदिम अधिवासी नहीं हैं। आर्यों के यहाँ आने के पहले इस देश में द्राविड़ जाति रहती थी और अब पता चला है कि उनकी भी अपनी सभ्यता थी और वह कम उन्नत नहीं थी। बहुत लोगों का यह भी मत है कि आर्यगण जब यहाँ आकर बसे, उस समय भी यहाँ गाँव थे। उस समय के लोग संघबद्ध होकर पहाड़ों पर या उनके पास समतलभूमि में निवास करते थे, इसके प्रमाण मिलते हैं। राइस डेविड्स (Rhys Davids) लिखते हैं—

"It is a common error, vitiating all conclusions as to the early history of India, to suppose that the tribes with whom the Aryans, in their gradual conquest of India, came into contact were savages. Some were so. There were hill tribes, gipsies, bands of hunters in the woods. But there were also settled communities with highly developed social organisation, wealthy enough to excite the cupidity of the invaders and in many cases too much addicted to the activities of peace to be able to offer, whenever it came to a fight, a prolonged resistance."

इस उद्धरण का सारांश यह है कि यहाँ के आदिम अधिवासी संघबद्ध होना जानते थे। हिस्ट्री आफ़ एंसिएंट नियर ईस्ट पुस्तक के लेखक हाल साहब ने लिखा है कि अर्द्धमत्स्याकृति एक देवता फ़ारस के सागर को पार होकर सभ्यता का प्रकाश लिये बैबिलोनिया में पहुँचे थे। उनका अनुमान है कि यह सभ्यता द्राविड़-सभ्यता थी और यह भारत से आरंभ होकर धीरे-धीरे बैबिलोनिया, सीरिया, फ़ारस आदि स्थानों में फैलती गई। अभी बहुत दिन नहीं हुए, सिंध के मोहेंजोदड़ो और हरप्पा नाम के स्थानों में बंगाली विद्वान् स्वर्गीय श्रीराखालचंद्र बनर्जी ने जो अतीत काल की सभ्यता के नमूने खोदकर निकलवाये थे, उन्हें बहुत लोग द्राविड़-सभ्यता का ही निदर्शन मानते हैं। आर्यों के इस देश में आने के पहले जो एक प्रकार की सभ्यता थी, उसका पुनरुद्धार करने का कोई उपाय नहीं है। अतएव उस समय भी यहाँ गाँवों की बस्ती रही हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है।

प्राचीन काल में गाँवों के निर्माण के बारे में अनेक पुस्तकों में अनेक वर्णन मिलते हैं। संघबद्ध होकर रहना मनुष्य की स्वाभाविक प्रवृत्ति है। मनुष्य अकेला एकान्त में जीवन नहीं बिता सकता। मनुष्य के इसी स्वभाव के कारण समाज की सृष्टि हुई है और एक-एक छोटा-मोटा समाज थोड़े-थोड़े फ़ासले पर एक निर्दिष्ट स्थान पर रहने लगा, इसी से गाँव बसे। कुछ लोग एकत्र जब रहते हैं तो कुछ सामाजिक नियम भी बन जाते हैं। सामाजिक नियमों, नीतियों और रीतियों का यही मूल है। एक-एक समाज या समूह अपनी सुविधा के लिए पहाड़ के पास नदी के किनारे सुन्दर और उपजाऊ भूमि पर गाँव बसाता था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में लिखा है—

"Boundaries (of villages) should be denoted by a river, a mountain, forests, bulbous plants (*vrishti*), canes, artificial buildings (*setubandha*) or by trees such as *salmali* (silk, cotton tree), *sami* (acacia sama) and *kshira vriksha* (milky trees.")

(अर्थशास्त्र के अँगरेज़ी-अनुवाद से)

देश में लोगों की संख्या बढ़ी और देश की विदेशी आक्रमण से रक्षा करने की आवश्यकता जान पड़ी। तब एक दलपति का चुनाव होने लगा। इसी तरह आगे चलकर अनेक दलपतियों के ऊपर एक राजा नियत हुआ। उस समय राजा का चुनाव ही होता था; यह नियम नहीं था कि राजा का बेटा ही राजा हो। हाँ, आगे चलकर यह हुआ कि अगर राजा का पुत्र उपयुक्त पात्र होता था तो उसी को राजा बनाया जाता था। प्रजापालन में असमर्थ या अन्यायी राजा पदच्युत भी कर दिया जाता था। राजा बेन को ब्राह्मणों

ने मार ही डाला था। प्रजा अर्थात् सर्वसाधारण जनता स्वयं ही अपनी रक्षक थी; राजा उसके प्रतिनिधि के रूप में राज्यशासन करता था। इसके बदले में प्रजा वेतन-स्वरूप उसे उपज का छठा अंश कर देती थी। इन राजों के राज्यकाल में विदेश से अगर लोग यहाँ बसने आते थे तो राज्य उनके रहने के लिए अपने राज्य में नये गाँव बनवा देते थे।

× × ×

२—प्राचीन गाँवों के आकार-प्रकार

हेवेल साहब ने भी अर्थशास्त्र के आधार पर पुराने गाँवों का विवरण दिया है। अनेक पुस्तकों में अनेक प्रकार का गाँवों का वर्णन मिलता है। इस सम्बन्ध में मनसा का शिल्पशास्त्र प्रसिद्ध ग्रन्थ है। उसमें भी अनेक आकार-प्रकार के गाँवों का वर्णन पाया जाता है। नियम था कि हरएक गाँव पूर्व-पश्चिम लंबा होता था। पूर्व-पश्चिम विस्तृत होने से सवेरे उठते ही सूर्य के सामने दर्शन होते हैं और दिन भर धूप रहती है। भारत में साधारणतः पूर्व या पश्चिम से ही हवा डोलती है। फलतः ग्रामवासियों को बराबर खुली हवा सेवन करने को मिलती थी।

हर गाँव में अनेक रास्ते होते थे। गाँव के बीच से जो राह पूर्व से पश्चिम को जाती थी, उसे राजपथ कहते थे। और एक राह दक्षिण से राजपथ को काटती हुई उत्तर को जाती थी, उसे वामनपथ कहते थे। वामनपथ के ऊपर उसे काटते हुए और कई छोटे मार्ग पूर्व से पश्चिम को समान्तराल जाते थे। इन्हीं राहों के किनारे ग्रामवासी लोग अपने घर बसाते थे। सब बाधा-विघ्नों और आपत्तियों से गाँव की रक्षा करने के लिए हरएक गाँव के चारो ओर परकोटा बना दिया जाता था। यह परकोटा लकड़ी, पत्थर या ईंटों का बनता था। प्राचीन काल में भारत के हरएक गाँव की चहारदीवारी के बाहर और भीतर भी एक चौड़ी सड़क रहती थी। भीतर के रास्ते को प्रदक्षिणपथ कहते थे। विशेष-विशेष कारणों से, भिन्न-भिन्न अवसरों पर गाँव के रहनेवाले लोग एक जलूस बनाकर इस मार्ग से गाँव के चारो ओर घूमते थे। हरएक गाँव की दोनों सड़कों के चौराहों पर चारो ओर चार फाटक गाँव के भीतर प्रवेश करने के लिए रहते थे। किसी-किसी गाँव के चारो कोनों पर चार और छोटे-छोटे द्वार होते थे। गाँव के केन्द्र में अर्थात् बीच में ग्रामवासी लोग एक बरगद का पेड़ लगाते थे अथवा सब मिलकर एक पंचायतघर बनाते थे। इस घर का नाम साधारणागार था। इसी में बैठकर गाँव के लोग पंचायत करते थे, छोटे-छोटे या बड़े मामलों का फ़ैसला करते थे और भी कोई विशेष कारण उपस्थित होने पर ग्रामवासी लोग इस स्थान में जमा होते थे। हरएक गाँव में एक देवमन्दिर और उसके पास एक धर्मशाला अवश्य ही होती थी। यह मंदिर गाँव के बीच में अथवा पूर्व ओर के फाटक के पास होता था। ग्रामवासियों के दान या चंदे से ही इस मंदिर और धर्मशाला का काम चलता था। भूखे लोग इसी मंदिर से देवता का प्रसाद पाकर पेट भरते थे और अगर वे गाँव के बाहर के होते थे तो धर्मशाला में टिकते थे। हर गाँव में दो पोखर होते थे, एक उत्तर-पूर्व कोण में और दूसरा दक्षिण-पश्चिम कोण में। हर घर में एक कुआँ भी अवश्य रहता था। गाँव के लोग अपनी-अपनी उपज की या कारीगरी की सामग्री लेकर नित्य निर्दिष्ट समय पर एक स्थान पर एकत्र होते थे, जिसे आज की भाषा में बाज़ार कह सकते हैं। उस समय उक्त स्थान को पणि या आपणि कहते थे। यहाँ जिसे जिस वस्तु की आवश्यकता होती थी, उसे वह दूसरे से उसकी ज़रूरत की चीज़ देकर बदल लेता था। साधारणतः छोटे गाँवों में वामनपथ के दक्खिनी सिरे पर परकोटे के बाहर यह बाज़ार लगता था। किसी-किसी बड़े गाँव में ऐसे बाज़ारों की संख्या चार तक हुआ करती थी। प्राचीन भारत के इतिहास का अनुशीलन करने से देखा जाता है कि हरएक गाँव की लंबाई एक कोस के ऊपर होती थी और उसमें कम-से-कम सौ घर गृहस्थों के रहते थे। औसत हिसाब यह था कि हरएक गाँव में एक हज़ार से अधिक मनुष्यों की आबादी थी।

भारत के अतीत युग में, जब जाति-विभाग की सृष्टि नहीं हुई थी, सामाजिक रीति-नीति का विकास बहुत कम हुआ था, हरएक गाँव के पास बहुत-सी पड़ती जमीन रहती थी। इस ज़मीन पर सबका समान अधिकार होता था। आधी पड़ती ज़मीन गऊ आदि उपयोगी पशुओं की चराई के लिए छोड़ दी जाती थी और आधी ज़मीन में सब लोग मिलकर खेती करते थे। उसमें जो फ़सल पैदा होती थी, उसे सब लोग मिलकर समान भाग में बाँट लेते थे। या ऐसा भी होता था कि लोग ज़मीन बराबर-बराबर बाँटकर उसे

जोतते-बोते थे। उस समय के लोग गऊ को इतना प्यार करते और मानते थे कि खेती के लायक़ आधी ज़मीन गोपालन के लिए छोड़ देते थे। उसमें दूब और कोमल घास उगती थी। उसे गाय, बछड़े, भैंस आदि बेरोकटोक चरा करते थे। सभी जीवों के भीतर भगवान् का निवास है और उनके प्रति दया करना ही जगदीश्वर का भजन-पूजन है—यही प्राचीन भारत की सभ्यता का सारांश है। उन लोगों का मूलमंत्र "He who loves His creatures is loved by him" था। पहले साल जिस ज़मीन में खेती की जाती थी उसमें दूसरे साल अच्छी घास पैदा होती थी (ऐसा ही नियम है), इसलिए दूसरे साल वह ज़मीन गायों के चरने के लिए छोड़ दी जाती थी और अन्य पड़ती ज़मीन जोती-बोई जाती थी। यही क्रम बराबर चलता था।

जाति-विभाग की सृष्टि होने के बाद ऐसा हुआ कि जब कोई नया गाँव बसाया जाता था तब उसके विशेष स्थान ब्राह्मणों और क्षत्रियों को बसने के लिए दिये जाते थे; वैश्यों और शूद्रों को अन्य बचे हुए स्थान मिलते थे। गाँव के बाहर की ज़मीन को पारिवारिक जन-संख्या के अनुपात से सब लोग बराबर-बराबर बाँट लेते थे। इसके बाद जातियों की उत्पत्ति होने पर ब्राह्मण (पुरोहित), धोबी, नाई आदि को उस ज़मीन में हिस्सा देना बंद कर दिया गया। इसका कारण यह था कि उन्हें खेती करने की आवश्यकता ही नहीं रह गई। ब्राह्मण लोग लोगों के कल्याण के लिए वेद-शास्त्र-पुराण आदि का अध्ययन, अध्यापन और गृहस्थों के घरों में शान्ति-स्वस्त्ययन आदि करते थे। ग्रामवासी लोग उनके ग्रासाच्छादन का प्रबन्ध करने लगे। धोबी, नाई आदि शूद्र श्रेणी के लोग ग्रामवासियों की सेवा और काम करके अन्न-वस्त्र पाते थे। उनकी जीविका इसी तरह चलती थी। बौद्ध-युग में बौद्ध और वर्णाश्रमधर्म के माननेवाले हिंदू एक ही गाँव में शान्ति से रहते थे। उनमें आपस में लड़ाई-झगड़ा नहीं होता था। शास्त्रीय विचार भी शान्ति के साथ तत्त्व-निर्णय के उद्देश्य से किया जाता था।

ग्रामवासी लोग अपनी-अपनी निर्दिष्ट भूमि में घर बनाते थे। बाँस, लकड़ी, ईंट, पत्थर आदि ही घर बनाने की सामग्री थे। दीवारें इन्हीं की बनती थीं। ऊपर लकड़ी या वृक्षों के पत्तों से छत छाई जाती थी। मनसा के शिल्पशास्त्र में नव खंड के भवनों तक का उल्लेख पाया जाता है। किन्तु तीन खंड के मकानों के अस्तित्व के अनेक प्रमाण मिले हैं। साधारण लोग ऐक ही खंड के मकान बनाते थे। आजकल के उत्तर-भारत के गाँव बिलकुल ही भिन्न प्रकार से बसे हैं। उनमें प्राचीन आकार-प्रकार का कोई चिह्न नहीं मिलता। उस समय गाँव के घर पास-पास और एक लाइन में परस्पर मिले हुए होते थे। घरों की एक पंक्ति से दूसरी पंक्ति छोटी-छोटी गलियों के द्वारा अलग होती थी। साधारण लोगों के घर तीन हिस्सों में बँटे हुए होते थे। बाहर की बैठक, रसोईघर और ज़नानख़ाना। ज़नानख़ाना केवल स्त्रियों के व्यवहार के लिए होता था। उसे शयनागार भी कहते थे। बाहर के हिस्से में बैठक-ख़ाना, पशुओं के बाँधने और उनके भोजन करने का स्थान होता था। धनी लोग अपने घर के साथ बाग़-बग़ीचा भी अवश्य लगाते थे। किन्तु साधारण गृहस्थ घर के आसपास दो-चार फल-फूल के वृक्ष लगाकर ही सन्तोष कर लेते थे।

गाँव के बच्चों को नैतिक चरित्रगठन और विद्या-शिक्षा के लिए गुरुकुल या गुरु-गृह में जाना पड़ता था। गाँव के जिस अंश में लोगों की बस्ती होती थी, उस अंश में अथवा देव-मंदिर के निकट बच्चों के पढ़ने के लिए एक घर रहता था। उसी में गुरु नित्य बालकों को शिक्षा देते थे। किसी-किसी गाँव में परकोटे के बाहर पूर्वदिशा में यह गुरुगृह रहता था। गुरु प्रायः इसी घर में शिष्यों के साथ दिन-रात रहते थे। गाँव के लोगों के दान अथवा चंदे से इस विद्यालय का और छात्रों का ख़र्च चला करता था।

अधिकांश गाँवों के उत्तर ओर जंगल या पहाड़ रहता था। जंगल के निर्जन स्थान में या पहाड़ की कंदरा में तपस्वी लोग साधना करते थे। उनका विश्वास था कि इसी साधना के द्वारा वे मुक्ति प्राप्त करेंगे। यह मुक्ति प्राप्त करना ही उक्त सभ्यता का पारलौकिक आदर्श था। गाँव के आसपास के जंगल से ग्रामवासियों के अनेक काम निकलते थे। वे जंगल से जलाने की लकड़ी, घर बनाने के लिए काष्ठ इत्यादि लेते थे। वन के ऊपर सबका समान अधिकार था।

कोई जगह गाँव बसाने के लिए जब निश्चित होती थी, तब ब्राह्मण लोग वेदमंत्र पढ़ते हुए एक यज्ञ करते थे। यह यज्ञ समाप्त होने पर हल से सारी ज़मीन जोती जाती थी, जिससे ऊँची-नीची धरती सब बराबर हो जाती थी। दो पुष्ट और सुन्दर बैलों से जुताई कराई

जाती थी। दोनों बैल एक ही रङ्ग और उँचाई व डील-डौल के होते थे। अगर दोनों बैलों के माथे और अगले दोनों पैरों में सफ़ेदी होती थी तो ग्रामवासी लोग उसे अपने लिए अत्यन्त सौभाग्यसूचक समझते थे और निःसंशय रूप से यह समझते थे कि उनका गाँव सब बातों में उन्नति करेगा। सारी भूमि जुत जाने पर उस भूमि पर रेखाओं के द्वारा ग्राम का नक़शा चित्रित किया जाता था और उसी नक़शे के अनुसार गाँव के घर, राह और परकोटा बनाया जाता था। नक़शा बन जाने पर जहाँ जो वृक्ष लगाने की आवश्यकता होती थी, वहाँ वह वृक्ष लगाया जाता था। आजकल इस तरह के गाँव बहुत कम देखे जाते हैं।

भारत में आजकल ग्राँवों की संख्या जितनी है, उतनी प्राचीन भारत में नहीं थी। आजकल के गाँव श्रीसपन्न होने की जगह उजड़े पड़े हैं। उनमें दारिद्र्य और मलेरिया आदि रोगों का अखण्ड साम्राज्य है। वहाँ के लोग अशिक्षित, दुर्बल, दरिद्र, रोगी और राजा व प्रजा, दोनों के द्वारा उपेक्षित हो रहे हैं। दशा दिन-दिन बिगड़ती ही जाती है। किन्तु प्राचीन भारत का हरएक गाँव एक-एक समृद्धिशाली छोटा-सा प्रजातन्त्र स्वाधीन राज्य था। यथा—"The ancient Indo-Aryan village was essentially a self-governing community." आजकल प्रजातन्त्र राज्य या शासन के लिए एशिया, योरप, अमेरिका आदि बड़े देशों के लोग जो आन्दोलन कर रहे हैं, उसका मूल या आदर्श हमारे प्राचीन युग के गाँवों में ही मिल सकता है। हमारे इन सब क्षुद्र-क्षुद्र गाँवों से इतने बड़े एक आदर्श की उत्पत्ति हुई है, यह जानकर अपने उन पूर्वजों के प्रति श्रद्धा और आदर से हमारा सिर आप-से-आप झुक जाता है। यह हम नहीं कहते कि इन गाँवों का शासन सर्वथा निर्दोष था; पर इतना अवश्य कहेंगे कि उस समय प्रजातंत्र के प्रति इतना आकर्षण और उसका आचरण अनुसरण पृथ्वी पर अन्यत्र सुदुर्लभ था। आजकल की विदेशों की प्रजातन्त्रात्मक भावना बहुत आधुनिक है। सुनते हैं, दक्षिणभारत के दो-एक गाँवों का जीवन ऐसी सुश्रृंखला के साथ अब भी चलता है कि उससे बड़े-बड़े शासन-तन्त्रों के अधिनायक बहुत कुछ सीख सकते हैं।

× × ×

३—प्राचीन भारत के गाँवों का शासन

गाँवों के शासन के काम में राजा कुछ भी हस्तक्षेप नहीं करता था। गाँव के दलपति या पंचायत के मुखिया के साथ राजा का सम्बन्ध अवश्य होता था। गाँवों में दलपति या मुखिया ही राजा का प्रतिनिधि होता था। सीधा राजा के साथ प्रजा का कोई सम्बन्ध नहीं था, अर्थात् राजा प्रजा के किसी मामले में हस्तक्षेप नहीं करता था। गाँव की साधारण जनता ही मुखिया का चुनाव करती थी। अगर मुखिया निकम्मा या नालायक़ निकल जाता था तो जनता उसे पदच्युत करके दूसरे आदमी को अपना मुखिया चुन लेती थी। मुखिया के मर जाने पर उसके पुत्र को ही साधारणतः मुखिया चुना जाता था; किन्तु यदि वह काम का न होता था तो दूसरा कोई आदमी चुन लिया जाता था। वास्तव में पंचायत ही ग्राम का शासन करती थी। कभी-कभी कुछ ख़ास-ख़ास लोग ग्रामनिवासी लोगों के प्रतिनिधि के रूप में सब शासन का काम करते थे। इस पंचायत में स्त्रियाँ भी भाग लेती थीं। इस सम्बन्ध में सुप्रसिद्ध विद्वान् श्रीविनयकुमार सरकार अपनी "दि पोलिटिकल इन्स्टीट्यूशन्स ऐंड थ्योरीज़ आफ़ दि हिन्दूज़" नामक पुस्तक में लिखते हैं—

"It can legitimately be generalized from over a dozen chola inscriptions bearing on a Tamil village near Conjeeveram that the village Sabhas had in their hands, full responsibility for the entire administration of the rural areas."

"They (the appointed or elected officials of the rural commune) received deposits of money and grants of lands for charitable purposes, and administered the Trust by a Board of Commissioners specially appointed for the purpose from year to year. They received all the taxes and had the right to render villages tax-free, and if necessary could grant to landholders an exemption from customary dues."

"This co-operation in communal politics was not however monopoly of men. Women also were proud to be partners in works of public utility."

यहाँ पर एक बात कह देना ज़रूरी है। वी० ए० स्मिथ ने लिखा है कि भारत में धरती राजा की सम्पत्ति थी। प्रजा का उस पर कोई अधिकार नहीं था। प्रजा केवल उस पर खेती कर सकती थी, किसी और को न दे सकती थी और न बेच सकती थी। लेकिन यह बात ठीक नहीं जान पड़ती। हमारी राय में राजा केवल राज्य का रक्षक था। भू-सम्पत्ति सब प्रजा की थी वे लोग इच्छानुसार उसे बेच सकते थे या किसी को दे सकते थे। लाला लाजपतिराय का भी यही मत था। श्रीविनयकुमार सरकार ने भी लिखा है—

"The South-Indian panchayats were absolute proprietors of the village lands, with rights of ownership over newly cleared lands."

पहले कहा जा चुका है कि गाँव के लोग जैसे मुखिया को चुनते थे, वैसे ही राजा का चुनाव भी देश के लोगों के द्वारा होता था। राजा के अनुपयुक्त होने पर उसे गद्दी से उतारने की—पदच्युत करने की क्षमता प्रजा के हाथ में थी। राजा दशरथ ने जब रामचन्द्र को युवराज-पद देना चाहा था, तब उन्होंने सभा में बुलाकर अपनी प्रजा की सम्मति माँगी थी। राजा गद्दी पर बैठते समय प्रजा के आगे कुछ प्रतिज्ञा करता था। इस सम्बन्ध में श्रीविनयकुमार सरकार लिखते हैं—

"A specimen of the Pratijna. promise, vow or oath made by kings to the people is thus worden in the *Aittareya Brahman*:" Between the night I was born and the night I die, whatever good I might have done, my heaven, my life and my progeny may I be deprived of, if I oppress you"

ग्रामपति या मुखिया गाँव का प्रधान पुरुष होता था। गाँव के शासन के विषय में राजा के साथ अगर कुछ बातचीत या विचारविनिमय करना होता था तो यह काम मुखिया ही करता था। किसी-किसी गाँव में एक से अधिक आदमी मिलकर ग्रामपति का काम करते थे। गाँव की रक्षा करना, कर निश्चित करना और उसे उगाहना आदि मुखिया के काम थे। गाँव के लिए क़ायदे-क़ानून और रीति-नीति का निर्द्धारण ग्रामवासी ही मिलकर करते थे। मामले-मुक़दमे का फ़ैसला भी पंचायत से ही होता था। हाँ, छोटी-मोटी बातों का निर्णय दलपति अकेला भी कर देता था। राजा को यदि कभी सेना की आवश्यकता पड़ती थी तो मुखिया अपने गाँव से जवान छाँटकर भेजते थे। यह क़ानून सभी को मानना पड़ता था। कोई इस क़ानून के विरुद्ध आचरण करता था तो दण्ड पाता था। गाँव की दोनों बड़ी सड़कें जहाँ पर मिलती थीं, उस जगह पंचायतघर होता था। कभी-कभी मुखिया के घर पर भी पंचायत की बैठक हुआ करती थी। ग्रामवासियों के बनाये आइन के अनुसार अपराधियों को दण्ड मिलता था। अगर कोई ज़मीन पर खेती नहीं करता था तो उससे वह धरती ले ली जाती थी। अगर कोई तीन साल तक लगातार कर नहीं देता था तो गाँव की पंचायत उसकी ज़मीन पर दख़ल कर लेती थी। चोरी, डकैती और किसी पर अन्याय-अत्याचार करने से आर्थिक दण्ड दिया जाता था। भारी अपराध करने पर गाँव-निकाले का दण्ड मिलता था।

× × ×

४—प्राचीन भारत के गाँवों की रीति-नीति

किसी परिवार में भाई-भाई अगर अलग-अलग होना चाहते थे तो उनकी स्थावर-अस्थावर सब सम्पत्ति बराबर-बराबर बँट जाती थी। नियमानुसार बड़ा भाई छोटे भाइयों से कुछ अधिक हिस्सा पाता था। कभी-कभी छोटा लड़का भी एक अतिरिक्त अंश का अधिकारी समझा जाता था। पति या पिता की दी हुई वस्तु पर स्त्री का पूर्ण अधिकार था। माता के मरने पर कन्या ही माता की सम्पत्ति की अधिकारिणी होती थी। समाज में अनेक प्रकार के विवाह के ढंग थे। समाज की आरंभिक अवस्था में सभी सभी के वंश में विवाह कर सकते थे। परवर्त्ती काल में एक वर्ण दूसरे वर्ण की कन्या के साथ विवाह नहीं कर सकता था। करने पर समाजच्युत होना पड़ता था। ऐसे विवाह से उत्पन्न पुत्र कन्या वर्णसंकर माने जाते थे। इसी नियम का बुरा परिणाम यह अनेकानेक वर्णसंकर जातियों की सृष्टि है। बाल्यविवाह नहीं होते थे। पुराणों में अधिकांश राजकुमारियों के विवाह जवानी में हुए देख पड़ते हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र से भी यही सिद्ध होता है कि बाल्यविवाह की प्रथा प्राचीन नहीं है। परिपूर्णता प्राप्त होने पर ही प्रायः कन्याओं के ब्याह किये जाते थे। अपने भाई और बहन के अलावा एक वंश में ब्याह किया जा सकता था। विधवाविवाह के भी कुछ प्रमाण मिलते हैं। कोई स्त्री अगर निर्दिष्ट समय के

भीतर स्वामी के सहवास से वंचित रहती थी तो वह फिर ब्याह कर सकती थी। स्वामी के रहते अन्य पुरुष से अवैध सम्बन्ध रखने पर स्त्रियों को दण्ड दिया जाता था।

पर्दे की प्रथा नहीं थी? स्त्री स्वामी के साथ काम-काज कर सकती थी। जातकग्रन्थों से पता चलता है कि स्त्रीजाति पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त कर सकती थी। हिंदूशास्त्र के अनुसार स्त्री स्वामी की अर्धाङ्गिनी है। स्त्री के बिना पुरुष कोई कर्म—यागयज्ञ आदि नहीं कर सकता था। ग्रामवासी लोग नाना प्रकार के सत् अनुष्ठानों से गाँवों की उन्नति करते थे। बड़े-बड़े रास्ते बनवाते थे। एक गाँव के साथ दूसरे गाँव की अनेक प्रकार की सदुद्देश्य-मूलक प्रतियोगिताएँ होती थीं। वर्तमान में जिसे ग्रांड टैंक रोड कहते हैं, इस सड़क को लोग शेरशाह की बनवाई हुई कहते हैं। परन्तु यह ठीक नहीं है। यह सड़क शेरशाह के पहले भी थी। शेरशाह ने केवल इसका जीर्णोद्धार कराया है। महाराजाधिराज चन्द्रगुप्त के शासनकाल में ग्रामवासियों के ख़र्च से उन्हीं की देखरेख में यह सड़क बनी थी। इसके सिवा और भी अनेक सड़कें उस समय यातायात की सुविधा के लिए बनाई गई थीं।

एक-एक गाँव, एक-एक स्वाधीन राज्य था। कोई गाँव किसी वस्तु के लिए दूसरे गाँव के आगे हाथ नहीं पसारता था। कपड़े बुनना, सूत कातना, खेती करना, तरह-तरह की ज़रूरत की चीज़ें तैयार करना, ये सब काम ग्रामवासी स्वयं करते थे। ग्रामों में कुटीरशिल्प की यथेष्ट उन्नति हुई थी। आजकल कुलीन ब्राह्मण हल चलाना बुरा समझते हैं, शहर के लोग तो इसे क़ुलियों का ही काम समझते हैं; किन्तु प्राचीन काल में सभी अपने हाथ से हल चलाते थे। आजकल के गाँवों के साथ प्राचीन काल के गाँवों की तुलना करने से आकाश-पाताल का अन्तर नज़र आता है। आजकल के नगर-निवासियों की अपेक्षा उस समय के ग्रामनिवासी अधिक सभ्य थे। परन्तु अब लोगों का ध्यान गाँवों की उन्नति की ओर गया है। आशा है, आजकल के सुधारक लोग प्राचीन काल के गाँवों के सम्बन्ध में अधिकाधिक जानकारी प्राप्त करके गाँवों को पहले ही के समान समृद्धिशाली, स्वच्छ और सदानन्दमय बनाने का प्रयत्न करेंगे। इसी उद्देश्य से हमने ये कुछ पंक्तियाँ लिखने का प्रयास किया है।

हमारे सोल एजेण्ट

लखनऊ—सालिग्राम मेहरोत्रा, ६, अमीनाबाद पाक।

बरेली—यूनाइटेड कमर्शियल सिण्डीकेट, भूर

मेरठ—त्यागी ब्रदर्स, बेली बाज़ार।

आगरा—प्रियादास घनश्यामदास, काश्मीरी बाज़ार।

न्यू दिल्ली—रायल स्टोर्स, ३३, गोल बाज़ार।

जबलपुर—चौरसिया ब्रदर्स एण्ड कम्पनी, गोविन्दगंज।

राजनन्दगाँव—रामनारायण हरीदास, सोनी।

जोधपुर—मेडीकल स्टोर्स, सराफ़ा बाज़ार।

महाराजगंज(सारन)—के. पी. सिनहा एण्ड कं०

प्रतिष्ठित महिलाओं की सम्मतियाँ

२६—६—४४

अलकपरी से बाल बढ़ रहे हैं। कृपया २ शीशियाँ तुरन्त भेज दें।

मुकुन्दसिंह मंगलदेव
निकट पावर हाउस, अजमेर

६—७—४४

अलकपरी की १॥ शीशी लगा चुकी हूँ। हमारे बाल बढ़ रहे हैं। और भी लाभ हो रहा है। ८ शीशियाँ और भेज दें।

सरला, बीहट बीरम, मछरेटा, सीतापुर

16th July, 1944.

Very many thanks for your best production Alak Pari, it has satisfied me to the most. Kindly send three bottles of Alak Pari again.

Mrs. Hira Kunwar,
Govindpur, Shahjahanpur.

११—७—४४

अलकपरी की १ शीशी मँगाई थी। उससे हमारे बालों को बहुत लाभ हुआ। नए बाल काफ़ी निकल रहे हैं, कृपा करके २ शीशियाँ जल्दी भेज दें।

दामोदरप्रसाद एडवोकेट, पटना

25th July, 1944.

I have used one phial of Alak Pari and found it very useful. Kindly supply me three phials of Alak Pari more.

Savitri Kapila,
Sanjauli, Simla.

10th May, 1944.

Will you please send me four bottles of Alak Pari by V.P.P. My wife and sister find it a very valuable hair-tonic.

P. L. Devgun,
Lahore Cantt.

15th August, 1944.

I found Alak Pari very fine. Please send three more bottles.

Miss Kulwant Kaur,
Irwin Road,
New Delhi.

अलकपरी, नया कटरा, इलाहाबाद

खुशबू का राजा

ओटो दिलबहार (रजिस्टर्ड)

यह पुरानी पूर्व की सुगन्ध, जो अपनी सुगन्धता के लिये प्रसिद्ध है, मोगरा और चमेली के फूलों की मिलावट से बनी है। सब लोग इसे "ओटो का राजा" कहते हैं। हर जेब में रखने के क़ाबिल हर साइज़ का मिल सकता है। नमूने के लिये चार आने का टिकट भेजिये।

चमड़े के रक्षण व चेहरे के सौन्दर्य के लिए

कामिनिया स्नो (रजिस्टर्ड)

अमूल्य क्रीम है।

आधुनिक सायन्स की तरकीब से इसमें सुन्दरता को बढ़ानेवाली चीज़ें और चमड़ी के अनेक दर्दों को रोकनेवाले द्रव मिलाये जाते हैं जो आजकल नाममात्र के निकले हुए अन्य स्नो में हरगिज़ देखने में नहीं आवेंगे। एक वक़्त इस्तेमाल करने से जब कामिनिया स्नो की सच्ची ख़ूबी आपको मालूम होगी—आप दूसरा कोई भी स्नो पसन्द नहीं करेंगे।

ऊपर की सब चीज़ें—हर जगह बिकती हैं।

सोल एजेंट—दी ऐंग्लो इंडियन ड्रग ऐंड केमिकल कंपनी, २८५, जुमा मसजिद, बम्बई नं० २

Printed & Published by B. B. Kapur at the Newul Kishore Press, Lucknow.

LIBRARIES. IN U. P.,
P., C. I., PUNJAB, MEWAR, BEHAR
BIKANER STATE.
माधुरी
म्पादक
रूपनारायण पांडेय

संस्थापक

स्व० श्रीविष्णुनारायण भार्गव

अध्यक्ष

रा० ब० मुंशी रामकुमार भार्गव, मुंशी तेजकुमार भार्गव

संपादक

रूपनारायण पाण्डेय

एक अंक का मूल्य ॥।)

लेख-सूची

महात्माजी का चमत्कार

प्रेमवटी ने अपनी खूबी से सारी दुनिया में तहलका मचा दिया

कांग्रेस की राय

(प्रेमवटी वास्तव में एक अद्वितीय औषधि है। पहले हमें इस औषधि पर इतना विश्वास न था, किन्तु जब हमने इसका स्वयं परीक्षण किया तब हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह औषधि विज्ञापन में दिये गये तमाम रोगों की केवल एकमात्र अचूक औषधि है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में यह कम्पनी इससे भी उत्तम औषधियों का निर्माण कर जनता को लाभ पहुँचायेगी।—कांग्रेस, देहली)

भारत के योगियों ने वनों और पर्वतों की कन्दराओं में रहकर वे चमत्कार दिखलाये हैं जिनसे बड़े-बड़े वैज्ञानिक और चिकित्सक हैरत में आ गये हैं। आधुनिक चिकित्सकों को जब कोई रोग की औषधि से सफलता नहीं मिलती तब वह उसे लाइलाज घोषित कर देते हैं। परन्तु महात्मा लोग जड़ी-बूटियों की सहायता से मुर्दे को भी जिला देने का दावा करते हैं। भाइयो, इसे ध्यान से पढ़ो तथा अपने इष्ट-मित्रों को सुनाओ। यह लेख जो लिखा गया है, कोई गप्प नहीं है बल्कि मेरे जीवन की चन्द घटनायें हैं जो आपके सम्मुख रखता हूँ। मेरा जन्म एक धनी परिवार में हुआ। अपने पिता का लाड़ला पुत्र होने के कारण मैं धन और व्यसन में घिरा रहता था, लेकिन फिर भी मैं सुखी नहीं था। कुसङ्गति में पड़कर मुझे जरियान और प्रमेह रोग हो गया। पहले तो एक दो साल मैंने लोकलाज के कारण अपना भेद छिपाये रखा, परन्तु रोग ने भयानक सूरत अख़्तियार कर ली। अब मैं घबरा उठा। संसार में चारों ओर अँधेरा मालूम होने लगा, तब मेरी आँखें खुलीं। इलाज शुरू किया गया। बड़े-बड़े डाक्टरों, हकीमों, वैद्यों के फ़ीसरूप में रुपये और क़ीमती दवाइयों के ख़रीदने में पानी की तरह रुपया बहाने लगा, फिर भी मैं निराश ही रहा। अब मैं घबरा उठा और चारों तरफ़ से अन्धकार दिखलाई देने लगा और सोचने लगा कि इस दुःखमय जीवन से मर जाना बेहतर है।

पर यह बीस साल पहले की बात है। अब आज मैं ख़ुश हूँ। आज उस परमात्मा की कृपा से आरोग्य हूँ और मेरे तीन स्वस्थ बच्चे भी हैं जो बिलकुल आरोग्य हैं।

हुआ क्या ! मुझमें इतना परिवर्तन कैसे हो गया ? यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि मैंने एक दवा सेवन की। जो दवा मैंने सेवन की, वह एक महान् त्यागी परोपकारी साधु की बनाई हुई थी जो समय काटने के लिए गाँव से कुछ दूर एक ईंट के खेड़े पर रम रहे थे। यह मेरा सौभाग्य था कि और लोगों के साथ मैं भी दर्शनों के लिए जा पहुँचा। दैवी शक्ति से मेरे दुःखी जीवन के पिछले अध्याय उनके हृदयपट पर खिंच गये और मेरी आँखों ने हृदय का सारा भेद अपने आप उस महान् पुरुष पर प्रकट कर दिया। मेरी कच्ची उम्र पर महात्मा को दया आई और उन्होंने मुझे कुछ जड़ी-बूटियाँ एकत्र करने की आज्ञा दी। मैंने वैसा ही किया और तब उनके सम्मुख ही मुझे उनके आदेश और निजी देख-रेख में 'प्रेमवटी' तैयार करनी पड़ी। यद्यपि मुझसे ४० दिन लगातार 'प्रेमवटी' का सेवन करने को कहा गया था, तथापि केवल बीस दिन के सेवन से ही मुझमें परिवर्तन हो गया। मेरी कमज़ोरी और तमाम गुप्त बीमारियाँ जड़ से दूर हो गईं। पीले और उदास मुख पर लाली दौड़ने लगी, आँखों में उन्माद झूमने लगा और हृदय में जवानी का जोश उमड़ आया। महात्माजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के साथ ही अपने वादे को पूरा करने के लिए दुःखीजनों के निमित्त पिछले बीस साल से लगातार मैं इस प्रयोग को मुफ़्त बाँट रहा हूँ। यह अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भी छप चुका है। मुझे हर्ष है कि इस अमृत-तुल्य प्रयोग ने सैकड़ों की प्राण-रक्षा की, हज़ारों को मौत के मुँह से निकाला और लाखों का इससे भला हुआ। महात्मा-प्रदत्त 'प्रेमवटी' का नुस्ख़ा इस प्रकार है। नोट कर लें—

शुद्ध त्रिफला ५ तोला, त्रिकुट चूर्ण ५ तोला, शुद्ध सूर्यतापी शिलाजीत ५ तोला, शुद्ध बङ्गभस्म ६ माशा, असली सूर्यछाप केसर ३ माशा, असली अकरकरा ६ माशा, असली नेपाली कस्तूरी ३ रत्ती। इन सब औषधियों को कूट-छानकर खरल में डालकर ऊपर से शीतलचीनी का तेल २० बूँद, सन्दल तेल २० बूँद, बिरोजे का तेल २० बूँद एक-एक करके मिलाये। उसके बाद ताजी ब्राह्मी बूटी के अर्क में १२ घण्टा घोटकर झरबेरी बेर के बराबर गोलियाँ बनावें और छाया में सुखा लें। एक-एक गोली सुबह-शाम पाव भर गाय के दूध में एक तोला शक्कर मिलाकर सेवन करें। इसकी प्रशंसा हम अपने ही मुँह से नहीं करते, बल्कि बड़े-बड़े वैद्यों, डाक्टरों, हकीमों, सेठ-साहूकारों तथा रईसों, ज़मींदारों, सरकारी आफ़िसरों तक ने इसकी सराहना की है। वैद्यराज श्रीजमुनादत्त शर्मा, झोंकर का कहना है कि यह बूटी धातु का पतलापन, २० प्रकार के प्रमेह के लिए अक्सीर है।

'प्रेमवटी' में कोई हानिकारक चीज़ नहीं पड़ती और गुणकारी चीज़ें नुस्ख़े से ही प्रकट हैं। यह औषधि वीर्य का पतलापन, बीसों प्रकार के प्रमेह, पेशाब के साथ चूने की तरह वीर्य का जाना, पाख़ाने के समय धातु का जाना, स्वप्नदोष, सुस्ती, कमज़ोरी, नामर्दी, डाइबटीज़, मधुमेह, सूज़ाक, जवानी में बुढ़ापे की-सी हालत हो जाना, असली ताक़त की कमी, स्मरणशक्ति कमज़ोर पड़ जाना तथा स्त्रियों के भी प्रदरसम्बन्धी रोग दूर करके अत्यन्त ताक़त देती है और नस-नस में नवजीवन का सञ्चार करती है। अन्त में उन भाइयों को, जिन्हें फ़ुरसत नहीं मिलती या शुद्ध औषधि प्राप्त नहीं कर सकते, यह प्रयोग स्वयं बनाकर दाम के दाम में भेजने की व्यवस्था की है। ४० दिनों के लिए पूरी ख़ूराक विधिवत् ८० गोलियों का मूल्य २॥=) रु० और २० दिन के लिए ४० गोलियों के दाम ३=) डाकख़र्च ॥/

पता—बाबू श्यामलालजी रईस, प्रेमवटी आफिस नं० (M. L.) धनकुट्टी, कानपुर

वर्ष २४ खंड २] तु० सं० ३२२ : फाल्गुन, सं० २००२ वि० ; मार्च, १९४६ [संख्या २ पूर्ण संख्या २८४

स्वयंवर

विद्यावाचस्पति श्रीपरमानन्द शास्त्री साहित्य-व्याकरणाचार्य

ऊषा

परिणत हिमकर समुदित दिनकर
टिमटिम - उडुगण नवनव वर कर
परिमल झिलमिल जगमग वरस्रग्
ऊषा सजनी परिणय-तत्पर ॥१॥
कलकल द्विजव्रज हतगति निशिचर
रसमय सुसमय प्रमुदित जनमन
धूमल तम गत उज्ज्वल पावक
साशय शिखिचय नूतन नर्तन ॥२॥
शबलित जलधर दिक्तल नादित
अगजग पगपग अनुपम सुषमित
ऊषा सजनी करगत वरस्रग्
शोभित वर भास्कर कर कुसुमित ॥३॥
ऊषा हिलमिल धीरे धीरे
अपनापन तज रविद्युतिमय बन
शुभ सौभाग्य मनाती अपना
निर्गुण निर्मम सन्तत जितमन॥४॥

सन्ध्या

परिणत खरकर विकसित सितकर
तन्द्रित पङ्कज प्रमुदित वर कर
परिमल झिलमिल जगमग वरस्रग्
सन्ध्या सजनी परिणय - तत्पर ॥१॥
कलकल द्विजव्रज हतगति तापक
नीलममण्डप दीपक मणिमय
रसमय सुसमय प्रमुदित जनमन
शीतल मञ्जुल द्युतितति अतिशय ॥२॥
सस्मित वसुधा विस्मित उडुगण
मोहितमानव सुषमा समुदय
सन्ध्या सजनी, करगत वरस्रग्
रञ्जित वर राकाकर सहृदय ॥३॥
अपनापन तज अपनापन रख
सन्ध्या सजनी रजनी बनकर
मोदित विधु विधुमोदित होती
जीवितमुक्ता पतिसम रहकर ॥४॥

हिमकर सितकर, दिनकर खरकर, प्रातः सायं ऊषा सन्ध्या
विधिविरचित विधि विविध विषम सम समय समय निन्द्या अभिनन्द्या ॥५॥

स्वर्गीय व्रजराज मिश्र

पं० अखिलेश शर्मा साहित्यधुरीण

आधुनिक युग विज्ञापनबाजी का है; जो लोग स्वविज्ञापन में निपुण हैं, उन्हीं का संसार में आसन सर्वोच्च है और जो बेचारे इस कला में कोरे हैं, उनका किसी को पता भी नहीं है। हिन्दी-संसार में सर्वत्र धाँधली का साम्राज्य है; निरंकुश होने से सम्प्रति सभी अपनी-अपनी ढफली और अपना-अपना राग अलाप रहे हैं। कोई अपने सुरीले कंठ के बल पर स्वयम्भू आचार्य बनकर देव और बिहारी को पछाड़ने की धुन में मस्त है, तो कोई अपनी बी० ए०, एम्० ए० की डिग्रियों के कारण पत्र-पत्रिकाओं में धाक जमाये बैठा है; चाहे उसकी कृतियों में कूड़ा-करकट ही क्यों न हो। अब मित्रों ने एक नवीन प्रणाली का अनुसरण किया है अर्थात् आदान-प्रदान। यदि नत्थू खैरू को सर्वश्रेष्ठ कवि कहते हैं, तो खैरू का भी कर्त्तव्य है कि वे नत्थू को महाकवि की उपाधि से विभूषित करें। जिनके पास इस प्रकार की गोष्ठी का अभाव है, वे अन्धकार के गर्त्त में पड़े हैं।

हमारे सीतापुर ज़िले की कवि-प्रसू-भूमि में ही अनेक कवि-रत्नों ने जन्म लिया है, जिनके सुप्रकाश से हिन्दी-जगत् अच्छी तरह आलोकित है, किन्तु बहुतों को उनका ज्ञान भी नहीं। कारण यह है कि वे आत्म-परिचय से दूर रहते थे। क्या किसी लेखक अथवा विवेचक ने उनके प्रति इतना आन्दोलन किया है, जितना देव, बिहारी और मतिराम के लिए किया है। यही क्यों, समालोचकों और सम्पादकों ने एक आधुनिक दोहावली की प्रशंसा के पुल बाँधे हैं, परन्तु वे पुरानी विभूतियों की ओर दृष्टिपात न कर सके। समालोचकप्रवर पं० रामनरेश त्रिपाठी की कविता-कौमुदी में ही अनेक ऐरे-गैरे कवि भरे पड़े हैं, परन्तु हमारे प्रान्त के प्रसिद्ध कवि एवम् समालोचक स्व० व्रजराज मिश्र का नाम-निर्देश तक नहीं है, यह कितनी बड़ी अनभिज्ञता है।

सीतापुर ज़िले के अन्तर्गत सिधौली तहसील में गँधौली नाम का एक ग्राम है, जो सिधौली स्टेशन से आग्नेय दिशा में ३ मील और सुदामाचरित के रचयिता सुकवि नरोत्तमदास की जन्मभूमि बाड़ी नामक क़स्बे से ३ मील पूर्व नहर के किनारे अवस्थित है। यह साहित्यिकों का एक तीर्थ है। यहाँ के ख्यातनामा रईस, स्पेशल मजिस्ट्रेट की कृपा से हिन्दी के प्रायः सभी प्रसिद्ध पत्र, पत्रिकाएँ यहाँ पर आती हैं। यहाँ के व्रजराज-पुस्तकालय में प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों का अपूर्व संग्रह है; जिनकी प्रतिलिपि लेने के लिए समय-समय पर बाहर से साहित्य-प्रेमी आया करते हैं। कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में देवमणि के आँकवाले माँझगाँव के मिश्रों ही की संख्या इस गाँव में विशेष है। श्रीव्रजराजजी ने इस गाँव के प्रसिद्ध रईस, नम्बरदार, कुशल कलाकार तथा रसरत्नाकर, लघुभूषण और गंगाभरण ग्रन्थ के रचयिता कवि-पुंगव महाराज नन्दकिशोरजी मिश्र लेखराजजी के घर सं० १९१७ वि० को जन्म लिया था तथा सं० १९७४ वि० को ५७ वर्ष की अवस्था में वे स्वर्गवासी हुए थे। आप हिन्दी-साहित्य-महारथी, समालोचकशिरोमणि "आज" 'माधुरी' और 'समालोचक' के भूतपूर्व सम्पादक तथा 'देव और बिहारी', 'मतिराम-ग्रन्थावली' प्रभृति पुस्तकों के लेखक स्वनामधन्य पं० कृष्णविहारीजी मिश्र के चचा थे। इनका नाम महाराज युगलकिशोरजी था और व्रजराज उपनाम। यह 'साहित्य-पारिजात' नामक एक परमोपयोगी उत्कृष्ट ग्रन्थ की रचना कर रहे थे कि आकस्मिक निधन हो जाने के कारण वह अपूर्ण ही रह गया। उनके उत्तमोत्तम छन्दों का एक सटिप्पण, सुसम्पादित, सुन्दर संग्रह निकालने की आवश्यकता है। माननीय पं० कृष्णविहारीजी से हमारा अनुरोध है कि वे निकट भविष्य में लेखराजग्रन्थावली, और 'व्रजराज-संग्रह' का सम्पादन करके हिन्दी-संसार को भेंट करने की कृपा करें।

कविता का परिचय

महाकवि व्रजराजजी में आचार्यत्व और कवित्व समान रूप से विद्यमान थे। यही कारण है कि उनकी कविता निर्दोष है। उन्होंने घनाक्षरी और सवैया दोनों लिखे हैं, परन्तु उनका सवैया हृदय पर अधिक चोट करनेवाला है। इनकी कविता में शिथिल छन्द प्रायः नहीं के बराबर हैं। इनमें मौलिकता की विशेष छाप और बढ़िया भावों का बाहुल्य है। इन्होंने सर्वत्र

अपनी सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया है। इनकी भाषा शुद्ध ब्रजभाषा है, जिसमें कर्णकटु शब्दों का प्रयोग कम है और शब्दों के रूप अविकृत हैं। इनकी सी उत्कृष्ट भाषा इनके समकालीन कवियों में कोई कवि नहीं लिख सका। भाषा की कोमलता तथा सरसता में ये महाशय प्रतापसाहि के समकक्ष हैं। इनकी भाषा में अनुप्रास का भी यथेष्ट आदर है, परन्तु इसके लिए उन्हें प्रयत्न नहीं करना पड़ा है। इनके तुकान्त अच्छे हैं; इन्होंने निरर्थक शब्दों का व्यवहार नहीं किया और न बलात् विदेशी शब्द ठूँस कर अपनी भाषा की मुसलमानी की है। यह महाशय जैसी सुन्दर भाषा लिखने में समर्थ हुए हैं वैसी भारतेन्दु-काल के बिरले ही कवि लिख सके हैं। श्रद्धेय बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' की भी भाषा चुस्त और सुव्यवस्थित अवश्य है; पर मुझे उसमें ब्रजराजजी की-सी मृदुता नहीं मिली; सम्भव है, यह मेरी समझ का दोष हो। इनकी कविता में माधुर्य, प्रसाद, सुकुमारता और अर्थव्यक्ति नामक गुणों का प्राचुर्य है। इन्होंने जो वर्णन किया है; उसका चित्र खींच दिया है। इनका काव्य पढ़ने से ज्ञात होता है कि यह महाशय दशाङ्ग-काव्य के अच्छे ज्ञाता थे। इनके एक-एक छन्द में अनेक अलंकार तथा काव्याङ्ग प्रचुरता से पाये जाते हैं; इनकी उक्तियाँ मनोहारिणी हैं। रूपक और उत्प्रेक्षा पर आपके अच्छे-अच्छे छन्द हैं। देखिए—

१

सेतताई जह्नुजा असितता तरनिसुता,
लालिमा दगनि भारती निहारियतु है।
संगम तिहूँ को मिले पुन्यथल पूरो होत,
अचरज हेरि कै हिये बिचारियतु है॥
भृकुटी चढ़ाइ कै अनखभरी आली कत,
पीतम पै कुटिल कटाच्छ डारियतु है।
अनुचित-उचित सँभार करिबे है अरी!
तीरथ के तीर काहू तीर मारियतु है॥

२

पौन तरु डार लगि प्रगट सितार धुनि,
चटक गुलाबनि मृदंग ताल तोरी है।
उड़न गुलाल पिचकीन को चलन चारु,
राग पुहपनि मकरन्द छवि छोरी है॥
गुंजनि अलीन की अलीन सुर लीन गान,
तान कोकिलान रागफाग चहुँ खोरी है।
आजु ब्रजराज ऋतुराज पिय प्यारे साथ,
सुखमा प्रकृति प्यारी खेलि रही होरी है॥

अब हम पाठकों से ब्रजराजजी की उत्प्रेक्षाओं के पढ़ने का आग्रह करते हैं, जिससे वे उनकी कल्पना-शक्ति से परिचित हो जायँ। फागुन का महीना है; नायिका और नायक दोनों गोकुल गाँव में फाग खेल रहे हैं; रसिक नायक ने पहले गुलाल की पिचकारी चलाकर सुन्दरी के मुख को तर कर दिया है, पश्चात् उस पर उज्ज्वल अबीर की मूँठ फेंक दी, जिससे उस समय ऐसा प्रतीत होने लगा, मानो सुन्दरता की सीमा को उल्लंघन करके पूर्णमासी का चन्द्रमा संगमरमर का हो गया हो—

१

फाग अनुराग भरे खेलत रसिक दोऊ,
नूतन सोहाग भाग गोकुल नगर को।
पहले गुलाब की चलाई पिचकारी चारु,
आनन तिया को तर कीन्ह्यो दुति बर को॥
फेरि तापै उज्ज्वल अबीर हू की मेलि मूठि,
भाव ब्रजराज ठानि दीन्ह्यो हरबर को।
सुखमा समूह की अवधि अधिकानो मानो,
पूनो चन्द ह्वै गयो पखान मरमर को॥

सीसमहल में सर्वाङ्ग सुन्दरी रमणी घूम-घूमकर अपने बाल सुखा रही है, जिससे प्रत्येक आरसी में उसका प्रतिबिम्ब पड़ रहा है। उस समय ऐसा प्रतीत होता है मानो राहु के घेरे को तोड़ने के लिए बहुत से चन्द्रमाओं की कमेटी बैठी हो। इस छन्द में दूती नायक से नायिका की शोभा का वर्णन करके उसको चलने के लिए लुभा रही है। साहित्य-सुजान सौ जान से इस छन्द पर लट्टू हैं—

२

सीसा के सदन में सुखावति चिकुर प्यारी,
ठौर-ठौर घूमि-घूमि सुखमा समेटी है।
सब आरसीन में परे ते दुति आनन की,
मेरे मन उपमा बिचारि भरि भेंटी है॥
एहो नन्दलाल! लखो आनि सो लखाऊँ तुम्हें,
भाखत बनै न बानि रसना समेटी है।
मानो राहु घेर बर बैर बारिबे को बैठी,
कोरि कलानिधिन की कुसल कमेटी है॥

एक उत्प्रेक्षा का आनन्द और लूटिए। उसकी व्याख्या न करके हम छन्द नीचे दे रहे हैं। उसमें ब्रजराजजी

की नवनवोन्मेषिनी प्रतिभा का कैसा प्रस्फुटन हुआ है—

आजु ब्रजराज रंगभौन में रसीली संग,
रीति की कलानि करि जीत्यो पंचसर को।
कीबे बिपरीति कों कहति पै न लाजनि ते,
आनन उठावै बाल दीन्हे दीठि तर को॥
लीन्ह्यो कर आपने में चिबुक पिया को चारु,
मेरे मन भाव उपमा को यही अरको।
ईस सीस नैन को नगीची जानि मैन मानौ,
कौल में रसाल फल देत हिमकर को॥

ब्रजराजजी की कविता की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह टकसाली और एकरस है; उसमें दूरान्वय दोष का अभाव है और वह व्याकरण के नियमों से संयत है। उसमें सुशब्दता और धारावाहिकता की निर्झरिणी प्रवाहित है। ब्रजराजजी श्रृंगाररस के सिद्धहस्त कवि थे, अतः इन्होंने नायिकाभेद भी अच्छा कहा है। निम्न छन्द में रूपगर्विता का चित्रण कितने मार्के का है—

समुहात ही मैली प्रभा को धरै,
नित नूतन आनि कै फोर्‍यो करैं।
सरसी ढिंग जात मुँदेई लखात, न
या भय सों दृग जोर्‍यो करैं॥
ब्रजराज हितै नभ ओर चितै नहिं
तू भरमै यों निहोर्‍यो करैं।
तऊ आरसी कंज ससी सकुचैं,
इनसों कब लौं मुख मोर्‍यो करैं॥

बिना जाने प्रेम करने का जो परिणाम होता है, उसकी भी बानगी लीजिए—

पहले निज नैननि माहिं बसाय,
भली बिधि सों रसरीति करी।
अब देखिबे को तरसैं अँखियाँ,
निसिहू दिन आँसू की लाय झरी॥
ब्रजराज! न चाहिए ऐसी तुम्हें,
करि रीति इती अनरीति करी।
हमही यह लाल अनीति करी,
तुम सों बिन जाने जु प्रीति करी॥

अब खंडिता का एक उदाहरण देखिए—

प्राणप्यारा रात्रि में अन्य स्त्री के साथ रहकर प्रातःकाल घर आया है। उसके श्रृंगार अस्तव्यस्त हैं, चीज़ों ने अपना स्थान परिवर्तित कर दिया है; नायिका की सखी समस्त अपराध नायक के मत्थे मढ़ती है तो नायिका उत्तर देती है कि यह मेरे वियोग में मेरा रूप बनाते हुए मेरे ही भाव में मग्न हो गये और नारीसुलभ अंगराग लगाने में ही इनको आनन्द मिला। हे अली, इसमें स्थान का दोष मत दो। वह तो बदलने से अनुपम शोभा को प्राप्त हुए हैं। रात भर तो यह महाशय श्रृंगार करते रहे; सबेरा होते ही आ गये। यह सुनकर नायक महोदय भी पानी-पानी हो गये होंगे।

कैसी मीठी चुटकी है; मुग्धाखंडिता का प्रकृष्ट वर्णन है—

मेरे वियोग में मेरोई रूप
बनावत हे सोई भायनि भायगे।
लै अँगराग सदा बनितान के
लावत तेई हिये सुख पायगे॥
ठौर को दोष न देहु अली
बदले ते भली सुषमा तन छायगे।
रैनि सिंगारन में बितई सम
भौन में भावते भोरहिं आयगे॥

मैंने अपने पूज्य पिता पं० मंगलदत्त त्रिवेदी को इस छन्द का बहुधा पाठ करते सुना है। अब उत्कण्ठिता की उत्कण्ठा का निरीक्षण करके ब्रजराजजी की वाङ्-निपुणता की सराहना कीजिए—

आगम अनागम समागम को रीतो सुख,
चीतो संकलप बिकलप उर धारै लगी।
सोचन सकोचन सों लोचन मृगी सो बिबि,
लोचन सों मोचन बियोगजल ढारै लगी॥
राज ब्रजराज को न आज इत आवन भो,
जानि कै अकाज साज अंगन उतारै लगी।
अलिन रिसाकर निसाकरमुखी सो खोलि,
रंगभौन-साँकर निसाकर निहारै लगी॥

जब मैं १९४१ ई० में परसेंडी में मास्टर था, तब कविवर जंगलीजी से अधिकतर मिलना होता था। वे इस छन्द की बड़ी प्रशंसा किया करते थे और मुझसे इसे सुनकर कहा करते थे कि यह छन्द किसी भी प्राचीन कवि के उत्तम से उत्तम छन्द की तुलना में रक्खा जा सकता है।

ब्रजराजजी का समकालीन विद्वन्मण्डली में पर्याप्त आदर था। उनके प्रकाण्ड साहित्य-पाण्डित्य का लोहा सब मानते थे। उन्होंने जोधपुर के कविराजा मुरारिदान के 'जसवन्तजसोभूषण' ग्रन्थ में भी

त्रुटियाँ दिखाई थीं, जिनको स्वयं कविराजाजी ने अपने एक पत्र में स्वीकार किया था। एक बार महा कवि सेवकजी ने अपने एक सवैया में "काम की बेटी" पद का प्रयोग किया। इस पर तत्कालीन कविसमाज ने आक्षेप किया। इसका निर्णय व्रजराजजी के सम्मुख उपस्थित हुआ तो उन्होंने उत्तर दिया कि यह शुद्ध है और तत्काल ही महाकवि देवजी का "काम की कुमारी-सी" वाला छन्द प्रस्तुत करके समाधान कर दिया। सेवकजी यह सुनकर गद्गद हो गये और उन्होंने व्रजराजजी को मस्तक झुकाकर कहा कि आपने मेरी लज्जा बुढ़ापे में रख ली।

आदरणीय व्रजराजजी जहाँ प्रथम श्रेणी के समालोचक और कुशल कवि थे, वहाँ वे समस्यापूर्ति में भी पटु थे। उनके समस्या-पूर्तिवाले छन्द स्वतन्त्र लिखे गये से प्रतीत होते हैं। एक बार सेठ स्वामीदयाल साहब तालुक़दार कोटरा के यहाँ द्विज बलदेव आदि बड़े-बड़े कवियों का जमघट था। उनमें व्रजराजजी भी थे। सेठ साहब उस समय हुक्का पी रहे थे। चिलम पर सरपोश ढका हुआ था। उन्होंने कवियों को सम्बोधन करके कहा—मैं आप महानुभावों की कवित्वशक्ति को देखना चाहता हूँ। आप मेरी दो समस्याओं में से एक की पूर्ति शृंगार में और दूसरी की शृंगारेतर अन्य रस में कीजिए। सेठ साहब का यह कथन सुनकर कविराजों की नानी मर गई, उनके पैरों-तले की पृथ्वी खिसक गई। किसी ने कहा, ऐसी पूर्ति असम्भव है। समस्या स्वयं इसका प्रमाण है। परन्तु हमारे व्रजराजजी ने उत्तर दिया कि मुझे आपकी आज्ञा शिरोधार्य है। वे दोनों समस्याएँ ये हैं—

(१) "भरी आगि धरी सरपोस के नीचे"
(२) "उरझो अँचरा सुरझाइए तौ"

१

बारहिंबार बढ़ावत हौ कर
लावत हौ डर होत नगीचे।
ताते बिनै करि हा हा कहौं चित
मेरो परो भ्रमि लाज दुबीचे॥
कंचुकी के कुच जो तुम चाहत
कौलौं कहौं न रहौ दृग मीचे।
बारे लला कर टारे रहौ
"भरी आगि धरी सरपोस के नीचे"

इसमें प्रौढ़ा नायिका का बालपति उसके स्तन्यपान का उद्योग कर रहा है, अतः नायिका आग का डर दिखाकर उसको रोकती है।

२

गज ग्राह सों छोरि निबाह कियो
मृग संकट को चित लाइए तौ।
व्रज इन्द्र पै भारत मैं भरुही
ज्यों करी करुना-त्यों बचाइए तौ॥
अब संग दुकूल के जाति है लाज
अहो! व्रजराजजू आइये तौ।
यहि मूढ़ दुसासन के कर सों
उरझो अँचरा सुरझाइए तौ॥

इस छन्द में उपनाम का प्रयोग कितना समीचीन हुआ है, जो सहृदय-हृदय वेद्य है। उपर्युक्त दोनों पूर्तियाँ सुनकर सेठ साहब ने मिश्रजी को हृदय से लगा लिया। उपस्थित मण्डली में धन्य-धन्य की ध्वनि प्रतिध्वनित होने लगी। अब इसी समस्या की शृंगार में पूर्ति पढ़िए। वर्तमान गुप्ता का कितना उचित निर्वाह है—

थकी चारि घरी निरबेरि के हौं
तौ कह्यो इनसों इत आइए तौ।
दया धारि हिये पर पीर की ये
इत आगे भले लखि जाइए तौ॥
मुसकानि को काम कछू न यहाँ
घने कंटक जाल बराइए तौ।
सुरझाय कै हारे हैं ये तुम हूँ
"उरझो अँचरा सुरझाइये तौ"॥

व्रजराजजी की कविता पढ़कर सहसा रीतिकालीन युग का स्मरण हो आता है। अब एक प्राचीन समस्या की पूर्ति देखिए—

वारि चुके तन रूप कथा सुनि
औ मन चित्रहु के लहिबे पर।
सापने मैं धन वारि दियो
पहिराय छला छिंगुनी गहिबे पर॥
रोक्यो जु तैं व्रजराजहिं वा दिन
री मुख चूमन के चहिबे पर।
"ना कहिबे पर वारे हैं प्रान
कहा अब वारिहैं हाँ कहिबे पर"॥

वाचकों को जानना चाहिए कि काव्य में नायिका-भेदान्तर्गत चार प्रकार के दर्शन होते हैं और संसार में तन, मन, धन, प्राण वारे जाते हैं; उन्हीं का इस छन्द में कुशलतापूर्वक विवेचन है।

स्वर्गीय द्विज बलदेवजी, दासापुर का भी इसी समस्या पर अधोलिखित छन्द बहुत प्रसिद्ध है। निस्सन्देह वह है भी उत्तम, पर व्रजराजजी के छन्द की तुलना नहीं कर सकता; क्योंकि उसका समस्या के साथ सामंजस्य नहीं बैठता—

प्रेम के फन्द फँसे बलदेवजू
औरहि मारग के गहिबे पर।
नैकु बुझाति नहीं बिरहानल
नैननि नीर-नदी बहिबे पर॥
सूधे भये दृग ह्वैहैं कहाँ
मन चेरो भयो तिरछे रहिबे पर।
"ना कहिबे पर वारे हैं प्रान
कहा अब वारिहैं हाँ कहिबे पर"॥

व्रजराजजी की गुणगाथा गाने की सामर्थ्य मुझ-जैसे संसारलिप्त अल्पधी में कहाँ है! इसके लिए तो कोई पद वाक्यप्रमाणपारावारीण धुरन्धर विद्वान् चाहिए। मैं कोई लेखक या विवेचक नहीं; यह लेख लिखकर एक प्रकार से मैंने अनधिकारचेष्टा ही की है। एक बार मैंने अपने शिक्षा-विभाग के सब डिप्टी इंस्पेक्टर पं० कमलेशचन्द्रजी उपाध्याय एम्० ए०, एल्-टी० से व्रजराजजी की चर्चा की थी। उन्होंने मुझे उन पर कुछ लिखने के लिए प्रोत्साहित किया। इधर 'सूत्रधार' सम्पादक मित्रवर अवधेश अवस्थी ने सीतापुरीय कवियों पर लेख प्रकाशित कराने का आग्रह किया। उधर व्रजराजजी पर मेरी श्रद्धा भी न्यून नहीं है। प्रस्तुत लेख इसी का परिणाम है। यदि साहित्यिकों का इससे कुछ भी मनोरंजन हुआ तो भविष्य में मैं फिर अन्य कवियों पर लिखने का साहस करूँगा। अन्त में मैं व्रजराजजी के ३ छन्द देकर इस लेख को समाप्त करता हूँ—

१

अलि आजु मरू करि नींद परे
पै बढ्यो तन तापन को तपनो।
व्रजराजजू आनि गह्यो कर मेरो
लह्यो मन मानही को जपनो॥
अति रोस की ज्यों परिपाटी सों खैंच्यो
लग्यो कर पाटी सों त्यों अपनो।
उमँगी बिथा औचक जागत ही
सपने को मिलाप भयो सपनो॥

२

वा मुखचन्द के वे हैं चकोर
येऊ मुखकञ्ज की ह्वै रहीं भौंरी।
वे सिर पाग पै मोहित त्यों
मन वारत येऊ लखे सिर मोरी॥
आनँद-गेह सनेह-सने दोऊ
भू पर प्रेम प्रतीति की जोरी।
मो मन में बसौ भाग भरे
अनुराग-सरूप किसोर-किसोरी॥

३

सोने पग पैंजनी मढ़ाय चोंच सोन ही सों,
सोने के अबास बास तेरो अभिलाखौंगी।
सोने थार भोजन पियाय पय सोने जाम,
सोनचिरी जोरी हेत ब्योंत करि राखौंगी॥
जो पै व्रजराज कान आनिहै न बानि तू,
प्रभात जानिबे कौं तौ न नैंकु मन माखौंगी।
अच्छी ह्वै कै पच्छी तू बिपच्छिन बिपच्छी करु,
एरे! तामचूर तोहिं सोनचूर भाखौंगी॥

'कामायनी' का प्रथम सर्ग 'चिंता'

श्रीसोमनाथ शुक्ल बी० ए०

कलापूर्ण और प्रभावशाली आरम्भ 'प्रसाद'जी की अपनी महत्त्वपूर्ण विशेषता है। किसी भी नाटक को उठा लीजिए, उसके आरम्भ में एक विचित्र आकर्षण होगा। 'स्कन्दगुप्त' नाटक में नायक का प्रथम भाषण, अत्यन्त कलात्मक तथा दर्शक या पाठक को बरबस ही खींच लेता है। सर्वश्रेष्ठ कहानी 'आकाशदीप' के आरम्भिक वार्त्तालाप की योजना में ही कहानी का अखिल सौंदर्य केन्द्रीभूत-सा जान पड़ता है। 'कामायनी' का आरम्भ भी अत्यन्त प्रभावशाली है। 'चिंता' सर्ग में मनु की विद्रोह-भावना अंकित है। 'स्कंद' का जीवन निराशा से ओत-प्रोत था, अधिकारों के प्रति उपेक्षा थी। मनु—अमर सृष्टि के ध्वंस—यौवन के प्रति एक उपेक्षा का भाव रखते हैं। मनु एक भीषण संघर्ष से बचकर आये हैं और आगे भी संघर्ष की सम्भावना है। परन्तु मनु को भविष्य की नहीं, अतीत के उच्छृंखल जीवन के विनाश—प्रलय—की चिंता है।

कथा की रोचकता

'चिंता' सर्ग का कथानक इतना रोचक है कि अन्य सर्ग में इतनी रोचक कथा पाना सम्भव नहीं। निर्जन वातावरण की सृष्टि छायावादी की एक प्रमुख विशेषता है। हिम-प्रदेश के विस्तृत क्षेत्र में मनु एकाकी हैं, केवल संगिनी है चिंता, अभाव की चपल बालिका। प्रथम सर्ग किसी सांकेतिक अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं करता है, वरन् शुद्ध ऐतिहासिक (?) अस्तित्व रखता है। 'जलप्लावन' का वर्णन शतपथ ब्राह्मण के प्रथम काण्ड के आठवें अध्याय से आरम्भ होता है, जिसमें उनकी नौका के उत्तर गिरि हिमवान् प्रदेश में पहुँचने का प्रसंग है। देव-जाति के विलासी जीवन का इतिहास और प्रलय-काल की कथा का परिचय 'चिंता' सर्ग ही कराता है। इसमें न आदिम युग की बर्बरता का चित्रण है और न मध्ययुग के सामंत का। इसमें भारतीय सांस्कृतिक जीवन की उच्चता की स्थापना की गई है, परन्तु सांस्कृतिक या सभ्य जीवन के संघर्ष का अभाव है। चिंता में विलासी जीवन का नैराश्यपूर्ण चित्र अंकित है।

भौतिकवाद का विरोध

मानवीय सृष्टि के पुनर्विधान का आख्यान एक नवीन सुखद विश्व की स्थापना की ओर संकेत करता है। 'चिंता' पश्चिम की एक सजग चेतावनी है। इस सर्ग में पश्चिम के भौतिकवाद और भोग-विलास का भविष्य अंकित है। भारतीय आध्यात्मिक जीवन की अप्रत्यक्ष रूप से उच्चता स्थापित की गई है। 'संघर्ष' में तो स्पष्ट रूप से गांधीवाद के सरल जीवन का पक्ष लिया गया है—

> 'प्रकृत शक्ति तुमने यंत्रों से सबकी छीनी !
> शोषण कर जीवनी बना दी जर्जर झीनी।'

वासना की उपासना और वासना की सरिता ही देव-सृष्टि की समाप्ति का कारण बनी। प्रकृति को वशीभूत करने का स्वप्न मिथ्या ही सिद्ध हुआ—

> "प्रकृति रही दुर्जेय, पराजित हम सब थे भूले मद में।"

पृथ्वी को कम्पित कर, प्रकृति को परास्त करके भी विकल वासना की प्रतिनिधि अपनी गति से अनभिज्ञ, देव-जाति, विनाश की ओर ही पग बढ़ाती गई और बुद्धिवादी भौतिकता ने उसका अन्त ही तो कर डाला।

प्रकृति-चित्रण

चिन्तात्मक अनुभूतियों को लेकर ही चिन्ता सर्ग की सृष्टि हुई है। परन्तु प्रकृति के सुन्दर और विराट् रूप का भी सफल चित्रण है। पं० चन्द्रबली पांडेय का एक लेख 'प्रसाद का कवि' 'सरस्वती' के दिसम्बर (४९) अंक में प्रकाशित हुआ है। इस लेख में विद्वान् लेखक ने जो त्रुटियाँ अपने उर्वर मस्तिष्क से खोज निकाली हैं, वे प्रथम सर्ग के प्रकृति-चित्रण से ही अधिक सम्बन्धित हैं। भीषण शीत में शिला की शीतल छाँह कैसी? प्रथम पंक्ति से ही प्रसाद ने श्रीगणेश कर दिया—

> हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर
> बैठ शिला की शीतल छाँह ;
> एक पुरुष भीगे नयनों से,
> देख रहा था प्रलय-प्रवाह।

परन्तु 'शीतल छाँह' का अभिधा से नहीं, लक्षणा से अर्थ किया जायगा। 'शीतल छाँह' मृत्यु-सी शीतल, जिसमें जीवन की उष्णता न थी। मनु की जीवन-गति

भी तो उस प्रलय की विभीषिका के पश्चात् स्तब्ध थी।

अभिधा से भी कैसे अर्थ ठीक नहीं लगता। मनु अपने अदम्य साहस और शक्ति के कारण ही जीवित रह सके, परन्तु इतने भीषण संघर्ष के पश्चात् थकान और शैथिल्य स्वाभाविक है। फिर 'शीतल छाँह' तो थके पथिक का मधुर स्वप्न होती है। एक मानव-जाति का प्राणी इस हिम-प्रदेश में शीतल छाँह न ढूँढ़कर उष्णता की खोज करेगा, जिससे वह जीवन की रक्षा कर सके। परन्तु मनु क्या मनुष्य-जाति के जीव थे?

'देव-सृष्टि का ध्वंस अचानक श्वास लगा लेने फिर से।' मनु उस देव-जाति के थे, जिसे अमरता का दम्भ था और प्रकृति जिसके वशीभूत थी। उस जाति के अभिमान ने ही उसका सर्वनाश कर दिया।

'भीगे नयनों से' तो एक सुन्दर प्रयोग है, जो अन्तर की वेदना का परिचायक है। आँसू हृदय की वेदना का महाकाव्य है। फिर 'प्रवाह' को किसी उपहास की दृष्टि से न देखकर गम्भीरता से अनुभव किया जाय तो स्पष्ट है कि प्रसाद की प्रौढ़ अभिव्यक्ति का पता लग जाय। प्रवाह में नष्ट-भ्रष्ट करने की क्षमता है, इसी ओर संकेत भी है।

आगे प्रश्न होता है—

नीचे जल था, ऊपर हिम था,
एक तरल था, एक सघन;
एक तत्त्व की ही प्रधानता
कहो उसे जड़ या चेतन।

मनु जब हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर आसीन हैं तो ऊपर हिम कैसा? क्या श्वेत बादलों की ओर संकेत है?

संकेत की बात दूसरी है, परन्तु इस पंक्ति का अर्थ यह कदापि नहीं। साधारण-सी बात है, नीचे पृथ्वी जल से पूर्ण थी और ऊपर पर्वत हिमाच्छादित था।

'एक तत्त्व की ही प्रधानता' में स्वामी रामतीर्थ के प्रसिद्ध सर्ववाद के दर्शन का आभास मिलता है। रामतीर्थ ने यह अनुभव किया था कि पत्थरों में जो सोता है, लताओं और वृक्षों में श्वास-प्रश्वास लेता है, पशुओं में गतिशील भी है, मनुष्य में जीता-जागता मौजूद। इस विश्व में एक ही किसी अज्ञात सत्ता की प्रधानता है, वह गतिशील भी है, स्थिर भी है, वह चेतन भी है, जड़ भी है।

'चिंता सर्ग में क्या, सम्पूर्ण कामायनी में ही प्रकृति पात्रों के मनोभावों की अनुगामिनी तथा प्रेरक रूप में चित्रित है। इस पंक्ति में तो स्पष्ट ही है—

'दूर-दूर तक विस्तृत था हिम
स्तब्ध उसी के हृदय-समान।'

पं० चन्द्रबलीजी की यह आपत्ति है कि हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर देवदारु कैसे? देवदारु तो हिमगिरि के निम्न स्तर पर ही सम्भव हैं। इस कथन की पुष्टि के लिए 'रघुवंश' का उदाहरण सामने लाते हैं। हिमगिरि के उत्तुंग शिखरों पर भोजपत्र ही सम्भव है। प्रकृति-चित्रण के विषय में यह समझ लेना आवश्यक है कि छायावादी कवियों में 'पन्त' के अतिरिक्त अन्य किसी कवि को प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों का पर्याप्त ज्ञान नहीं है।

महादेवीजी 'नीरजा' में गाती हैं—

"सकुच सलज खिलती शेफाली,
हरसिंगार झरते हैं झर-झर।"

वसंत के समय शेफाली तथा हरसिंगार का दो अलग-अलग फूलों की भाँति वर्णन, समय और वस्तु के रूप का उल्लंघन है। फिर 'नीरजा' में ही—

'तरल रजत की धार बहा दे,
मृदु स्मित से सजनी
विहँसती आ वसन्त-रजनी।

तरल रजत की धार का यथार्थ अनुभव ही नहीं है। परन्तु वसन्त-रजनी का मधुर प्रकाश मूल्यवान् अवश्य हो जाता है।

'उसी तपस्वी से लम्बे, थे
देवदारु दो-चार खड़े;
हुए हिम-धवल, जैसे पत्थर
बनकर ठिठुरे रहे अड़े।'

इस वर्णन से, प्रकृति-चित्रण ठीक न हो तो भी मनु के दीर्घ शरीर का परिचय अवश्य मिल जाता है, जो प्रसाद का सम्भवतः उद्देश्य है।

इस चित्रण के समर्थन में देव-सृष्टि की विभिन्नता भी स्थिर की जा सकती है। आज की सृष्टि या कालिदास के युग का प्रकृति-सौन्दर्य उस सृष्टि से भिन्न हो तो क्या आश्चर्य है? फिर मनु गौरीशंकर या कैलाश की चोटी पर तो बैठे नहीं हैं? हिमगिरि के एक ऊँचे शिखर पर देवदारु के वृक्षों का होना सम्भव है। वर्षा या शीत में हिमाच्छादित हिमालय की पर्वत-श्रेणियों पर देवदारु हिम-धवल देवदारु के मनोरम दृश्य देखे जा सकते हैं।

हिम-प्रदेश में महावट की कल्पना चन्द्रबलीजी को रुचिकर नहीं।

'बँधी महावट से नौका थी
सूखे में अब पड़ी रही।'

यह तो उष्ण प्रदेश का वृत्त है? 'प्रसाद'जी ने पौराणिक कल्पना के अनुसार ही प्रसंगवश इसका वर्णन कर दिया। सम्भवतः किसी पौराणिक तथ्य का प्रतिपादन या खंडन 'प्रसाद' का उद्देश्य नहीं। 'प्रसाद' प्रथम तो मानवीय भावनाओं और आकांक्षाओं के कवि हैं—

निकल रही थी मर्म वेदना
करुणा विकल कहानी-सी;
वहाँ अकेली प्रकृति सुन रही,
हँसती-सी पहचानी-सी।

प्रलय की लहरों से पृथ्वी मुक्त हो रही थी, इस प्रस्तुत विषय का अप्रस्तुत विषय करुण कहानी के साथ यह रूपक बंगीय और आंग्ल प्रभाव की घोषणा करता है। अमूर्त और अप्रस्तुत आधारों से मूर्त और प्रस्तुत विषय का वर्णन छायावाद की प्रधान विशेषता है। 'प्रसाद' तो छायावाद के प्रथम कवि ही थे।

'चिंता' सर्ग में वर्णित विषय का विभाजन कुछ स्थूल रेखाओं के द्वारा कर इसके अन्तर्गत विचारों का स्पष्ट रूप से विश्लेषण किया जा सकता है। प्रथम तो मनु और उनके आसपास का वातावरण चित्रित है। इसमें 'प्रसाद' ने प्रकृति के केवल सुन्दर रूप ही को न लेकर विराट् और विस्तृत रूप को भी अपनाया है। मनु को पुरुषोचित स्वस्थ और सौन्दर्यशाली के रूप में अंकित किया गया है—

'अवयव की दृढ़ मांस-पेशियाँ,
ऊर्जस्वित था वीर्य अपार;
स्फीत शिराएँ, स्वस्थ रक्त का
होता था जिनमें संचार।

किसी प्राचीन यूनानी मूर्तिकार की कल्पना 'प्रसाद' के अत्यन्त स्वस्थ और दीर्घकाय मनु में सजग है।

चिंता की व्याख्या

आगे की कुछ पंक्तियों में मनु चिंता की व्याख्या करते हैं। मध्ययुगीन कवि गिरिधरराय की कुण्डलियों में निहित चिंता के प्रति भावों का ही आधुनिक संस्करण, चिंता की व्याख्या प्रतीत होती है।

चिंता की व्याख्या में मनु का रोष प्रदर्शित होता है। इसके पहले का वातावरण करुणा रस से आर्द्र है, 'भीगे नयनों', 'सकरुण अवसान' और 'करुण विकल कहानी-सी' सबमें करुण-भाव का आरोप है।

"ओ चिंता की पहली रेखा,
अरी विश्व-वन की व्याली;
ज्वालामुखी स्फोट के भीषण,
प्रथम कंप-सी मतवाली।

शाब्दिक सौन्दर्य तो है, परन्तु—

हे अभाव की चपल बालिके,
री ललाट की खल रेखा।
हरी-भरी-सी दौड़धूप, ओ
जल-माया की चल रेखा।'

इन पंक्तियों में अधिक प्रौढ़ अभिव्यक्ति है।

"बुद्धि मनीषा, मति, आशा, चिंता
तेरे हैं कितने नाम?"

आचार्य शुक्लजी ने इसमें बुद्धिवाद के विरोध का प्रथम संकेत पा लिया। गुलाबरायजी ने अधिक स्पष्ट किया 'बुद्धि, चिंता का चाहे ऐक्य न हो, किन्तु साहचर्य अवश्य है।' वास्तव में इस पंक्ति में केवल चिंता को चपल नटी के रूप में चित्रित किया गया है, जो विभिन्न स्वरूपों में अभिनय कर मानव के अन्त को समीप लाती है। भग्नहृदय मनु ने चिंता के बृहत् स्वरूप का अनुभव कर रोषभरे शब्दों में उसको दुतकारा है। इसमें न तो श्रद्धावाद का समर्थन होता है, न बुद्धिवाद का विरोध। यह तो पराजय की मनोवृत्ति है, जिसे गुलाबरायजी स्वयं स्वीकार करते हैं—

'विस्मृति आ अवसाद घेर ले,
नीरवते! बस चुप कर दे;
चेतनता चल जा, जड़ता से,
आज शून्य मेरा भर दे।'

पराजय की मनोवृत्ति उस अतीत को विस्मृत करने के लिए चेतना पर भी एक आवरण डालने को तत्पर हैं। इन पंक्तियों में क्या कहा जाय कि प्रसादजी ने जड़वाद का समर्थन किया है? या कहा जाय मनु का पलायनवाद है?

चिंता की व्याख्या के पश्चात् देवसृष्टि का विलास अंकित है। मनु 'विस्मृति' को पुकारते हैं, परन्तु सारे इतिहास को कह डालते हैं। अतीत के चित्र आज उनकी आँखों के सामने नाच रहे हैं।

विलासी देव-जाति

वह देव-जाति आज के पूँजीवादियों की भाँति केवल सुखों के संग्रह में ही लीन थी। मधुर सुर-बालाएँ श्रृंगार कर निश्चिन्त भोग-विलास को खोज रही थीं। सदैव मधुर वसन्त का वातावरण था। प्रकृति उनके

चरणों से आक्रान्त थी। वे वासना की सरिता में स्नान कर सुरा की उपासना कर रहे थे। अमरता का दम्भ था, तभी कड़ी आपदाओं की वृद्धि हुई और वासना-सरिता ने उमड़कर प्रलय-जलधि में अपनी उद्वेलित गति को शान्ति-प्रदान की—

'अरे अमरता के चमकीले
पुतलो! तेरे वे जयनाद;
काँप रहे हैं आज प्रतिध्वनि
बनकर मानों दीन विषाद।'

विलासी देवों का सफल चित्रण इन पंक्तियों में है। 'चमकीले पुतलों' में अपनी गति से अनभिज्ञ और निस्सार सांस्कृतिक जीवन व्यतीत करनेवाली जाति का कलात्मक वर्णन है। प्रकृति पर उनका नियंत्रण (?) था, परन्तु अपने ऊपर नियंत्रण न था।

प्रेमालिंगन और वीणा के मधुर शब्द सब समाप्त हो गये और देव-जाति का ही अन्त हो गया, जिसकी प्रत्येक अँगड़ाई में कामुकता की मादकता थी। नेत्रों में नशीले धागे, मदिरा की अरुणाई और शैथिल्य का अंकन था। अवयवों का संचालन मानसिक गति अवरोध और शारीरिक कार्य-अक्षमता का प्रदर्शन करता था। बिना थकान के मस्ती और पागलपने से 'और' 'और' की माँगों के शब्द और मुख से निष्कृत आसव की सुगन्ध से दिगन्त परिपूरित था। उस कसमसाती हुई वासना के प्रतिनिधि निस्संकोच अपनी प्यास निरन्तर विलास के उच्छृंखल निर्भर से बुझाते रहे और अपने ही जय-जयकार की ध्वनि में पागल हो उठे। अपनी ही ज्वाला से जलकर जल में विनष्ट हो गये।

'अब न कपोलों पर छाया-सी
पड़ती मुख की सुरभित भाप;
भुजमूलों में, शिथिल वसन की
व्यस्त न होती है अब माप।

इन पंक्तियों में चुम्बन और आलिंगन की कलापूर्ण अभिव्यक्ति है। 'व्यस्त' अधीरता और निर्बाध विलास को व्यक्त करता है।

देव-सृष्टि के पश्चात्

स्पर्श का पुलक और संकोच की सिहरन अब कहाँ हैं? आसव की सुगन्ध से भीगा समीर चमकीले प्रासादों के वातायन से प्रवेश कर एक निश्चिन्तता का वातावरण उत्पन्न करता था, परन्तु अब जल-जन्तु वहाँ स्वच्छन्द विहार कर रहे होंगे। नील कमलों की सृष्टि पर प्रलय की वृष्टि हो गई। वह अम्लान कुसुम और मधु से पूर्ण अनन्त वसन्त कहाँ है? देव-सृष्टि के आध्यात्मिक पतन को देखकर कोई अज्ञात सत्ता मानो रो पड़ी और अश्रुरूपी जल ने अपने अंचल में तटस्थ प्रकृति को छिपा लिया।

प्रलय का भीषण दृश्य

भीषण नाद के साथ क्रूर प्रलय सृष्टि पर फट पड़ा। झंझा के सबल झोंकों के सामने वह टिक न सकी। हाहाकार के क्रंदनमय नारे लग रहे थे। सूर्य की आभा धुँधली पड़ गई। पृथ्वी के कम्पन को देखकर नील गगन उतर आया—

'बार-बार उस भीषण रव से
कँपती धरती देख विशेष;
मानो नील व्योम उतरा हो
आलिंगन के हेतु अशेष।

उत्प्रेक्षा के द्वारा प्रसादजी ने पृथ्वी आकाश के एक हो जाने का आलंकारिक वर्णन किया है—

"उधर गरजतीं सिंधु-लहरियाँ
कुटिल काल के जालों-सी;
चली आ रहीं फेन उगलती
फन फैलाये व्यालों-सी।"

इन पंक्तियों में उत्तुंग और विषमयी सबल लहरों का सजीव चित्र अंकित है। यह तांडव नृत्य होता ही रहा और मनु निस्सहाय चल पड़े।

मनु का प्रस्थान

सबल लहरों में मनु की क्षुद्र नौका जीवन-मरण से खेलती चल पड़ी। अज्ञात दिशा की ओर केवल एक गति का प्रयत्न था—

तरल तरंगों में उठ-गिरकर,
बहती पगली बार बार।

यहाँ नौका का मानवीयकरण कर मनु के जीवन-रक्षा की पागल आशा का वर्णन किया गया है।

कवि कितना ही तटस्थ रहने का प्रयत्न करे, परन्तु उसके व्यक्तित्व की एक रेखा साहित्य के आलोक-परिधि को अवश्य स्पर्श कर लेगी। है तो एक व्यक्ति का ही उद्गार? श्रद्धा सर्ग में श्रद्धा, मानव के जन्म के पूर्व ही—

'समन्वय उनका करे समस्त
विजयिनी मानवता हो जाय।'

मानवता के जय-जयकार के नारे श्रद्धा नहीं, 'प्रसाद'

का महामानव ध्वनित कर रहा है। इसी तरह 'प्रसाद'जी का प्रिय सिद्धान्त 'नियतिवाद' उनके मनु के लिए पथ-निर्माण करता है—

'लगते प्रबल थपेड़े, धुँधले
तट का था कुछ पता नहीं;
कायरता से भरी निराशा
देख नियति पथ बनी वहीं,

कितने प्रहर दिवस बीते मनु जान ही न सके, परन्तु मृत्युचक्र से संघर्ष करते रहे। अन्त में—

'महामत्स्य का एक चपेटा
दीन पोत का मरण रहा,

इस पर चन्द्रबलीजी को यह आपत्ति है कि महामत्स्य का चपेटा कैसा ? महाभारत के वनपर्व में जहाँ यह कथा वर्णित है, इसका विवरण है ही नहीं। परन्तु कवि को ऐतिहासिक या पौराणिक कथानकों में परिवर्तन करने का अधिकार है। 'प्रसाद'जी ने मनु को एकाकी ही रक्खा नौका पर और उन्हें एक अलौकिक पुरुष के रूप में वर्णन नहीं किया, जो प्रलय के पश्चात् भी लहरों पर नियंत्रण रखता हो। इसी महामत्स्य के चपेटे ने नौका को उत्तर-गिरि के शिर से ला टकराया और 'कामायनी' का कथानक चल पड़ा।

चरम चिन्ता की प्रतिक्रिया है आशा या मृत्यु। परन्तु 'प्रसाद' ने आनंदवादी दार्शनिक होने के कारण आशा को ही चुना। मनु अमरता के दम्भ की निस्सारता का अनुभव करते हैं, परन्तु मृत्यु को विकास न मानकर एक तटस्थ विश्लेषण करते हैं—

'छिपी सृष्टि के कण-कण में तू,
यह सुन्दर रहस्य है नित्य।'

जन्म-मरण तो एक ही समस्या के दो पहलू हैं। महादेवीजी गाती हैं—

'अमरता है जीवन का ह्रास
मृत्यु जीवन का चरम विकास।' (यामा)

महादेवीजी की भावधारा वेदना और निराशा से ओतप्रोत है। 'प्रसाद' का दृष्टिकोण एक दार्शनिक-सा है, जिसमें आर्य-जाति का साहस विद्यमान है। परन्तु 'चिंता' एक बौद्धिक नहीं, वरन् भावनात्मक रचना है।

'जगत जीवन का अर्थ विकास,
मृत्यु गतिक्रम का ह्रास।' (पंत)

पंत की विचारधारा मंत्रयुग के दर्शन—'ऐतिहासिक भौतिकवाद' से प्रभावित है। महादेवी, पंत और 'प्रसाद'—इन तीन श्रेष्ठ आधुनिक कवियों में 'प्रसाद' ने भारतीय संस्कृति को न केवल प्रेरणा के रूप में पाया, वरन् उसके स्वरूप की भी रक्षा की। रवीन्द्र की भाँति प्रसाद ने भी विश्वव्यापी सांस्कृतिक समन्वय का समर्थन किया।

अमरता का दम्भ केवल कल्पना है, सत्य नहीं। यथार्थता तो मृत्यु में है, जिसके हिमानी से शीतल अंक में चिर निद्रा का आवाहन होता है। जीवन के बाहर अंधकार में मृत्यु का ही राज्य है, उसी के अट्टहास का गर्जन है। जीवन तो जड़ता के धूमिल संसार में विद्युत् की चमक है। इन पंक्तियों में कितनी चित्रमयता है—

'जीवन तेरा क्षुद्र अंश है व्यक्त नील घनमाला में,
सौदामिनी-संधि सा सुन्दर क्षण भर रहा उजाला में।'

अब प्रलय-निशा का प्रात निकट है। सृष्टि भी साँसें भरने लगी। नीचे की पंक्तियों में आधुनिक विज्ञान के आकर्षण-विकर्षण के सिद्धान्त की झलक स्पष्ट है—

'धू-धू करता नाच रहा था
अनस्तित्व का तांडव नृत्य;
आकर्षणविहीन विद्युत्कण
बने भारवाही थे भृत्य।

कब तक मनु तरुण तपस्वी से बैठे चिन्ता में डूबे रहते ? एक तरुण का जीवन साहस और उत्तेजना-प्रधान होता है। चिन्ता से दूर भागने की चेष्टा सदैव उसके हृदय में विद्रोह मचाया करती है। मनु कब तक निराशा और दुःखमय अतीत की लहरों में डूबते-उतराते ? वे चल पड़े आशा के उज्ज्वल आलोक की ओर। नाश के दुःख से कभी निर्माण की आशा बुझ नहीं जाती।

अभी से यह बहुत सी बातें सीख रहा है परन्तु सब से ज्यादा फायदामंद लाइफबॉय साबुन के दैनिक उपयोग की आदत है। इसकी माँ को इस बात का गर्व और खुशी होती है कि उसकी दी हुई शिक्षा से उसके लड़के की 'गन्दगी के ख़तरे' से जो हर जगह हमला के लिए मौजूद है उससे रक्षा होती है।

LIFEBUOY SOAP

लाइफबॉय का व्यवहार करना
एक ज़रूरी आदत है

L. 77-23 Hi

LEVER BROTHERS (INDIA) LIMITED
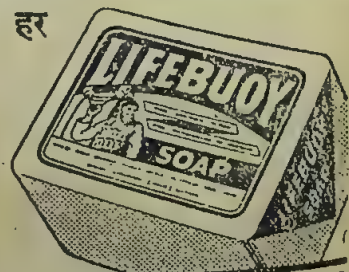
साहित्यिक निर्माण-योजना

श्रीकालिदास कपूर एम्० ए०, एल्-टी०

मुझे उदयपुर के साहित्य-सम्मेलन में सम्मिलित होने का अवसर नहीं मिला। सम्मेलन के पिछले कई अधिवेशनों में सम्मिलित होने का सौभाग्य प्राप्त है। मुझे इन अधिवेशनों में सम्मिलित होने पर वही आनन्द मिलता है, जो साधुओं को कुम्भ के मेले में मिलता है। जिन साहित्यिकों से पत्र-व्यवहार ही था, जिनके नाम से ही उनकी कृतियों द्वारा परिचित था, उनके दर्शन होते हैं, उनसे संलाप का अवसर मिलता है। सम्मेलन का यही प्रयोजन हो, तो भी हिन्दी-साहित्यिकों को इस वार्षिक पर्व में अवश्य सम्मिलित होना चाहिऐं।

परन्तु हिन्दी-भाषा और साहित्य जिस परिस्थिति में हैं, युद्धोत्तर भारत में उसके सामने जितना भारी सेवा का उत्तरदायित्व है उसके देखते हुए सम्मेलन के वार्षिक अधिवेशन का काम मेले का ही नहीं होता, उसका काम यह भी रहता है कि गतवर्ष निर्माण और प्रचार का क्या काम रहा, इस पर विचार-विनिमय हो, फिर आगामी वर्ष निर्माण और प्रचार का क्या काम हो, इसकी व्योरेवार योजना बनाई जाय।

मैं इस सम्बन्ध में 'हिन्दी-सेवी-संसार' में लिख चुका हूँ, कई पत्र-पत्रिकाओं में लिख चुका हूँ, सम्मेलन के कार्यकर्त्ताओं को भी यथासमय अपने विचार की सूचना दे चुका हूँ। परन्तु मुझे इस बात की कोई सूचना नहीं है कि सम्मेलन ने निर्माण और प्रचार की कोई योजना बनाई भी है।

सुना है कि उदयपुर में गाँधीजी के सम्मेलन से इस्तीफ़ा देने पर बहुत बहस रही। सम्मेलन ने हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा मानने का प्रस्ताव भी सर्व-सम्मति से, या बहुमत से, स्वीकार कर लिया। परन्तु यदि ऐसे ही प्रस्ताव सभा के बाहर मान्य हो जाते तो हमारे देश में कोई समस्या ही न रह जाती, हम उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर होते।

बात यह है कि उर्दू या हिन्दी के साहित्यिक यदि एक जगह बैठकर उर्दू या हिन्दी को भारत की राष्ट्र-भाषा मानने का प्रस्ताव करते हैं तो उस प्रस्ताव ही के कारण किसी भाषा का क़दम राष्ट्रीय पद की ओर नहीं बढ़ जाता। प्रश्न यह रह जाता है कि हम नित्य-प्रति हिन्दी या उर्दू को उस पद तक पहुँचाने के लिए करते क्या हैं।

हिन्दी-भाषी माता-पिता यदि अपनी संतानों को हिन्दी पढ़ाते हैं, तो इसलिए कि इस भाषा के साहित्य में उनकी संस्कृति सुरक्षित है, और उनकी सन्तानों का इस संस्कृति पर उत्तराधिकार है। तामिल, महा-राष्ट्र, आंध्र, बंगाली और आसामी क्यों हिन्दी पढ़ें? आगे बढ़िए; रूसी, जापानी, चीनी, अँगरेज़, जर्मन, फ्रांसीसी क्यों हिन्दी पढ़ें?

ये कैसे प्रश्न हैं? किसी भारतीय से पूछिए कि वह अँगरेज़ी क्यों पढ़ता है, तो उसका स्वाभाविक उत्तर होगा, नौकरी के लिए, क्योंकि अँगरेज़ी भारत के शासकों की भाषा है। परन्तु किसी जापानी, चीनी, रूसी, जर्मन या फ्रांसीसी से पूछिए कि वह अँगरेज़ी किस लिए पढ़ता है? इसलिए कि जिस ज्ञान की उसे खोज है, वह उसे अँगरेज़ी भाषा के ही माध्यम में मिलता है। अँगरेज़ वैज्ञानिकों ने और साहित्यिकों ने ही साहित्य के उस अंग-विशेष की पूर्ति अँगरेज़ी में की है।

हिन्दी में क्या है जिसके लिए कोई अन्य भाषा-भाषी हिन्दी का अध्ययन करे? थोड़ा-बहुत है; कबीर, सूरदास, तुलसीदास की कृतियों को छोड़िए। आधुनिक विज्ञान और साहित्य के क्षेत्र में हिन्दी के साहित्यिकों ने क्या किया है जिसके लिए दौड़कर लोग हिन्दी पढ़ने आवें? रायबहादुर गौरीशंकर हीराचन्द ओझा कृत प्राचीन लिपि-माला जिस पाये का ग्रन्थ है, उस पाये के कितने ग्रन्थ हिन्दी में हैं?

हिन्दी को राष्ट्रीय पद देने के पक्ष में केवल यही बात है कि वह भाषा जो दिल्ली से काशी तक भारत के उस मध्यदेश की मातृ-भाषा है, जहाँ प्राचीन काल से अब तक भारतीय धर्म, राजनीति और संस्कृति केन्द्रित रहे हैं, उसका हिन्दी अनुरूप उसके उर्दू अनुरूप से अधिक मान्य है।

हिन्दी और उर्दू का विरोध बहुत कम रह जाता है, जब हम यह मान लेते हैं कि दोनों एक ही साहित्य-रहित भाषा के विभिन्न साहित्यक रूप हैं। उस भाषा का अपना कोई साहित्यिक रूप नहीं है। हिन्दुस्तानी एकेडमी अभी तक विफल रही, उसी प्रकार

हिन्दुस्तानी प्रचार-सभा भी विफल रहेगी, यद्यपि उसके पीछे महात्मा-गांधी का शक्तिशाली व्यक्तित्व है। भावी भारत में कितना शीघ्र हिन्दी या उर्दू या दोनों राष्ट्रीय पद प्राप्त कर सकेंगी, यह इस बात पर निर्भर रहेगा कि किस भाषा का साहित्य, कितना शीघ्र सर्वांगीण होता है।

काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा और प्रयाग का हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, भारत की सर्वोच्च हिन्दी-सेवी संस्थाएँ हैं। जिसका नामकरण प्रचार के लिए किया गया था, उसने बहुत कुछ ठोस साहित्यिक निर्माण का काम किया है; जिसकी स्थापना साहित्यिक संगठन के लिए की गई थी, वह थोड़ा-बहुत प्रचार का काम ही कर पाया है, निर्माणसम्बन्धी काम उसका नहीं के बराबर है।

हिन्दी-साहित्य की सेवा के दो अंग हैं—निर्माण और प्रचार। निर्माण पहले, उसके पीछे प्रचार। साहित्य-निर्माण हो रहा है, परन्तु अनियमित; वह किसी राष्ट्रीय योजना के अनुसार नहीं हो रहा है। क्रियाशील योजना किसी पददलित राष्ट्र को कितना शीघ्र संसार के सर्वोच्च शिखर तक पहुँचा सकती है, इसका ज्वलंत उदाहरण रूस ने हमारे सामने उपस्थित कर दिया है।

भारत का निकट भविष्य बहुत उज्ज्वल है। हम तैयार न हों तो भी अंतर्राष्ट्रीय प्रगति ब्रिटेन को इस बात के लिए विवश कर रही है कि वह भारत को स्वतन्त्र कर दे।

स्वतन्त्रता स्वयं ही कोई सुख की वस्तु नहीं है। पिंजड़े में बन्द तोते को अपने जीवन की रक्षा करने के लिए कोई कठिन उपयोग नहीं करना पड़ता; उसके विरुद्ध स्वतन्त्र तोते को बहुत दौड़ लगानी पड़ती है, उसे अपने पर और चोंच की शक्ति का प्रयोग करना पड़ता है। निश्चित है कि स्वतन्त्रता हमारे उत्तरदायित्व को बढ़ा ही देगी। एक साहित्य-सेवी की हैसियत से स्वतन्त्र भारत की सेवा के सम्बन्ध में हमारा क्या उत्तरदायित्व है, इसको समझने पर ही हमारे लिए या हमारी प्रतिनिधि साहित्यक संस्थाओं के लिए क्रियाशील साहित्यिक योजना बनाना सम्भव हो सकेगा।

पहला उत्तरदायित्व—भारत की निरक्षरता को शीघ्रातिशीघ्र मिटाना। निरक्षरतानिवारण में हिन्दी की देवनागरी लिपि जितनी सहायक हो सकती है, उतनी कोई और नहीं; क्योंकि इस लिपि का जितने वैज्ञानिक सिद्धान्त पर निर्माण हुआ है, और इस कारण जितनी शीघ्रता से इस लिपि द्वारा अक्षरज्ञान प्राप्त हो सकता है, उतना और किसी लिपि द्वारा नहीं। परन्तु इतना कह देने से ही काम नहीं चलेगा। हमें इस सम्बन्ध में प्रयोग करना है। उन प्रयोगों और उनके परिणामों को प्रकाशित करना है। इन प्रयोगों के करने पर हमें यह भी मालूम हो सकेगा कि देवनागरी-लिपि में आधुनिक आवश्यकताओं की पूर्ति करने की कितनी क्षमता है, उसमें क्या कमियाँ हैं, उन कमियों की पूर्ति किस प्रकार की जाय।

दूसरा उत्तरदायित्व—जिस हिन्दी को हम पढ़ते-लिखते हैं, वह इने-गिने लोगों की मातृ-भाषा है। अभी तक हिन्दी का व्याकरण लिखने में अँगरेज़ी की ही नकल की जाती रही है। अब इस विषय पर भी खोज और प्रयोग करना है कि हिन्दी-व्याकरण का क्या रूप हो, जिसकी सहायता से बहुत शीघ्र अहिन्दी-भाषी बालक-बालिकाएँ, युवक-युवतियाँ शुद्ध हिन्दी बोलना और लिखना सीख सकें।

तीसरा उत्तरदायित्व—जीवित भाषा का रूप नित्य-प्रति बदलता रहता है। इसलिए हिन्दी के रूप को स्थिर करने का प्रयत्न करना असम्भव है। परन्तु इस समय जो कुछ हिन्दी-भाषा में अस्थिरता है, जितनी कुछ अराजकता है, वह हिन्दी की उन्नति में बहुत बाधक है। शब्दावली को सीमित करना असंभव है और हानिकारक भी है, परन्तु भाषा के बाह्य रूप को नियमित करना आवश्यक है, उसकी धारा व्याकरण-संमत होनी चाहिए। इस उत्तरदायित्व की पूर्ति यों हो सकती है कि हिन्दी के प्रधान प्रकाशकों और पत्र-पत्रिकाओं के सम्पादकों का एक सम्मेलन हो जिसमें इस विषय पर नियम बना लिए जायँ और नियमों का पालन करना प्रकाशकों, सम्पादकों और शिक्षा-विभागों के लिए अनिवार्य कर दिया जाय। इस सम्मेलन की एक स्थायी समिति भी हो, जो समय-समय पर आवश्यकतानुसार इस नियमावली में समुचित संशोधन करती रहे।

चौथा उत्तरदायित्व—हिन्दी में बालोपयोगी और किशोरोपयोगी साहित्य की बहुत कमी है। हमें हिन्दी में ऐसे साहित्य का निर्माण करना है, जिसके पढ़ने पर नवयुवक-युवतियों का पुस्तक-प्रेम बढ़े, उनकी ज्ञान-पिपासा जाग्रत् हो। बालोपयोगी साहित्य का सर्वांगीण होना उतना ही आवश्यक है जितना प्रौढ़ोपयोगी साहित्य का। यह साहित्य जितना कुछ प्रकाशित किया गया है, उसे एक जगह इकट्ठा किया जाय। योग्य शिक्षकों की एक समिति इस साहित्य की अच्छी तरह जाँच करे, जो अंश मान्य हों, उनकी शिक्षालयों और पुस्तकालयों को सूचना दी जाय, उनके प्रचार का प्रयत्न किया जाय

जिन अंगों की पूर्ति न हुई हो, उनके निर्माण का काम प्रकाशकों के सुपुर्द किया जाय, योग्य लेखकों की तलाश हो। जो कुछ काम होता चले उसकी सूचना पत्र-पत्रिकाओं द्वारा बराबर जनता तक पहुँचाई जाया करे।

पाँचवाँ उत्तरदायित्व—हमारे हिन्दी-साहित्य में अंतर्राष्ट्रीय अंतर्प्रान्तीय और संस्कृति-विषयक मौलिक ग्रन्थों की बहुत कमी है। संस्कृति के ज्ञान से सहानुभूति होती है और सहानुभूति से संगठन का मार्ग खुलता है। स्वतन्त्र भारतीय शासन का पहला काम होगा, अन्तर्प्रान्तीय संगठन जो भारतीय राष्ट्रीयता को पुष्ट कर सके। फिर विश्व-संघ के लिए उद्योग और उसके नेतृत्व का प्रयत्न; क्योंकि ऐटम बम के बाद विश्व-संघ का बनाया जाना अनिवार्य हो जाता है और इस विश्व-संघ का निर्माण मानवीयता की ही भित्ति पर हो सकता है, जिसके प्रथम (गौतम बुद्ध) और अंतिम (महात्मा गांधी) उपदेशक भारतीय ही हैं। यदि हम हिंदी को राष्ट्र भाषा मानते हैं तो हिंदी-साहित्यिकों पर इस महान् उद्देश्य की पूर्ति में सहयोग देने का उत्तरदायित्व आ जाता है। हिंदी-प्रांतों के शिक्षालयों की मध्यम श्रेणियों में हिंदी के साथ किसी प्रांतीय भाषा और साहित्य का पढ़ना अनिवार्य हो। उसी प्रकार उच्च श्रेणियों में किसी विदेशी भाषा और उसके साहित्य का पढ़ना अनिवार्य हो। अभी तक हमारे लिए अँगरेज़ी ही विदेशी भाषा है। परन्तु संसार में ब्रिटेन और संयुक्तराज्य के अतिरिक्त अन्य देश भी हैं। वे हमसे बहुत निकट हैं। उनकी भाषा और साहित्य का अध्ययन हमारे लिए अधिक आवश्यक है। यह तैयारी अब से बहुत पहले प्रारम्भ होनी चाहिए थी, क्योंकि पढ़ाई प्रारम्भ होने के दस-पाँच वर्ष बाद ही हमें हिन्दीभाषी युवकों में प्रांतीय और विदेशी भाषाओं के विद्वान् मिल सकेंगे। इन विद्वानों का काम यह होगा कि वे अहिंदी-प्रांतों और विदेशों में जाकर दस-बीस वर्ष रहें, उनकी भाषा में हिंदी-साहित्य-गर्भित भारतीय संस्कृति का प्रचार करें, हिंदी में प्रांतीय अथवा विदेशी संस्कृति पर मौलिक ग्रंथ लिखें। इस सेवा के पश्चात् ही हम राष्ट्रीय संस्कृति और अंतर्राष्ट्रीय सहानुभूति और सौहार्द का नेतृत्व कर सकेंगे। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए पाठ्य-प्रणाली में समुचित परिवर्तन तुरन्त होना चाहिए, तभी दस-पाँच वर्ष पश्चात् हम अन्तर्प्रान्तीय और अन्तर्राष्ट्रीय सांस्कृतिक विनिमय करने योग्य हो सकेंगे।

छठा उत्तरदायित्व—प्रौढ़ोपयोगी साहित्य में उपयुक्त अंग की कमी के अतिरिक्त कुछ और विशेष अंगों की भी बहुत कमी है। इतिहास, सम्पत्तिशास्त्र, राजनीति और आधुनिक विज्ञान पर स्कूल या इंटरमीजियेट कालेज तक की कुछ पाठ्य-पुस्तकें तो अवश्य प्रकाशित हुई हैं, परन्तु इनके आगे साहित्य-क्षेत्र बहुत कुछ सूना ही है। जब तक इस ओर ध्यान नहीं दिया जाता, जब तक हमारे विश्वविद्यालयों के अध्यापक हिंदी में गम्भीर विषयों पर लिखने के लिए प्रोत्साहित और बाध्य नहीं किये जाते तब तक कितने भी प्रस्ताव स्वीकृत करके हम हिंदी को सर्वोच्च शिक्षा का माध्यम नहीं बना सकते। इस ओर उस्मानिया-विश्वविद्यालय के उद्योग से उर्दू साहित्य की जो सेवा हुई है, उससे हिंदी साहित्यिकों को कुछ सबक़ मिलना चाहिए था। कई वर्ष पहले राजपूताना और मध्यभारत के राज्यों के उद्योग से हिंदी-विश्वविद्यालय की स्थापना हो जानी चाहिए थी; परन्तु ग्वालियर, इंदौर, जयपुर और उदयपुर में सम्मेलन के अधिवेशन होकर भी हिंदी-विश्वविद्यालय स्थापित न हो सका। काशी-विश्व-विद्यालय तक में हिंदी समुचित सम्मान न पा सकी, यह कितने खेद, कितनी लज्जा की बात है।

सातवाँ उत्तरदायित्व—पाँचवें और छठे उत्तर-दायित्व का निर्वाह करने के सम्बन्धमें यह बात प्रत्यक्ष होती है कि यद्यपि सर्वोच्च वैज्ञानिक साहित्य के पाठक कम होते हैं, जिस कारण लेखक को अपनी पुस्तक की बिक्री से कोई पारिश्रमिक नहीं मिल सकता, उसे दूसरे प्रकार से पुरस्कृत करना आवश्यक है, तो भी निर्माण कार्य की प्रगति तब तक तीव्र नहीं हो सकती जब तक उसके साथ प्रचार का उतना ही उद्योग न हो।

(१) इस प्रचार-कार्य के जो साधन हैं, उनमें उस आधुनिक साधन पर हमारा कोई अधिकार नहीं है जिसे रेडियो कहते हैं, परन्तु यदि हम स्वतन्त्र भारत की सेवा के लिए योजना बना रहे हैं, तो उसमें हमें रेडियो को सर्वोच्च स्थान देना होगा। रेडियो द्वारा सात लाख गाँवों के निरक्षर देहातियों तक जिस सरलता से हम अपना संदेश पहुँचा सकते हैं, वह किसी और साधन को नसीब नहीं है, इसलिए स्वतंत्र भारतीय शासन का पहला काम यह होगा कि प्रत्येक गाँव में कम-से-कम एक रेडियो हो जिसके द्वारा वहाँ के निवासियों को आवश्यक सूचनाएँ, आदेश-संदेश और उपदेश पहुँच सकें। इस रेडियो द्वारा हिंदी-भाषी

जनता को प्रकाशित पुस्तकों पर नित्य समालोचनाएँ सुनने को मिला करें।

(२) बोलते चित्रपट जिस खूबी के साथ हिंदी-भाषा का प्रचार अहिंदी-प्रांतों में कर रहे हैं, यह बड़े कमाल की बात है, हिन्दी-भाषा के समझनेवालों की संख्या अन्य देशी भाषा-भाषियों की अपेक्षा बहुत अधिक है, जिसका अर्थ यह होता है कि जो कलाकार हिन्दी के चित्रपट के लिए काम करते हैं उन्हें अपेक्षाकृत पुरस्कार अधिक मिलता है। फिर इसका परिणाम यह होता है कि देश के सर्वोच्च कलाकार हिंदी-चित्रपट के लिए ही काम करते हैं।

चित्रपट के शौक़ीन हिंदी न जानते हुए भी, इन कलाकारों की कला का आनन्द लेने के लिए हिंदी-चित्रपट देखने सुनने जाते हैं और धीरे-धीरे हिंदी समझने लगते हैं, टूटी-फूटी बोलने भी लगते हैं। यों ये बोलते चित्रपट हिंदी-साहित्य की सपर-मैंना (Sappers and Miners) का काम करते हैं। अभी इनके तैयार किये हुए क्षेत्र पर हिंदीप्रचारक अधिकार नहीं कर सके हैं, परन्तु निमंत्रण उन्हें मिल चुका है। इस अहिंदी-भाषी जनता को, जिसे टूटी-फूटी हिंदी बोलना आ गया है, हिंदी पढ़ाने और उनके मध्य हिंदी-पुस्तकों का प्रचार करने का कार्य पहले की अपेक्षा अब सरल हो गया है। यदि हमारी साहित्यिक संस्थाएँ इन चित्रपटों के संचालकों का सम्मेलन करके उनसे चित्रपटों के सिलसिले में हिंदी-साहित्य का प्रचार करने का काम भी ले सकें तो साहित्य-सेवा का पुण्य लूटते हुए वे अपना लाभ भी बढ़ा सकेंगे।

(३) दैनिक, साप्ताहिक और मासिक पत्र-पत्रिकाएँ भारतीय जनता के उस अंश का मनोरंजन करती हैं जो यथेष्ट पढ़ी लिखी है। प्रचार-कार्य में इस अंश के कम होते हुए भी इसका महत्त्व है; क्योंकि जो पढ़े-लिखे लोग ही पत्र-पत्रिकाओं के लिए कुछ ख़र्च कर सकते हैं, उन्हीं को थोड़ा बहुत पुस्तकों पर ख़र्च करने के लिए प्रोत्साहित किया जा सकता है। इसलिए पत्र-पत्रिकाओं द्वारा प्रचार करना बहुत आवश्यक है। प्रसिद्ध पुस्तक-विक्रेताओं और प्रकाशकों की ओर से इंडियन लिटरेरी रिव्यू (Indian Literary Review) के पाये की सस्ती मासिक पत्रिका निकलनी चाहिए, जिसमें नई पुस्तकों का उल्लेख रहे, पुस्तकालयों के लिए योजनाएँ रहें।

(४) अभी तक हिन्दी-पुस्तक-विक्रेताओं का कोई संगठन नहीं है। हिंदी-साहित्य-सम्मेलन जैसी संस्था की ओर से हिंदी पुस्तक विक्रेताओं का संगठन होना चाहिए। ये पुस्तक-विक्रेता पारस्परिक सहयोग करके बहुत कुछ प्रचार-कार्य कर सकते हैं। इन्हें प्रचार का मार्ग बताना, उनके प्रचार-उद्योग में सहायता देना हमारी साहित्य-सेवी संस्थाओं का कर्तव्य होना चाहिए।

(५) भारत-जैसे देश में, जहाँ जनता देहात में बिखरी हुई है, डाकख़र्च पुस्तक-प्रचार में बहुत बाधक हो जाता है। इसी लिए राष्ट्रीय शासन की ओर से पुस्तकों के लिए डाक की वही रियायत होनी चाहिए जो पत्र-पत्रिकाओं को प्राप्त है।

(६) प्रचार का सबसे महत्त्वपूर्ण साधन है पुस्तकालय। प्रत्येक पाठशाला में पुस्तकालय का होना अनिवार्य होना चाहिए। इस पुस्तकालय के संचालक का एक यही काम होना चाहिए। पुस्तकालय का संचालन इस प्रकार हो कि उससे विद्यार्थियों के अतिरिक्त गृहस्थ पाठक-पाठिकाएँ भी लाभ उठा सकें। चलित पुस्तकालय (circulating and travelling libraries) हों, उनके सहायतार्थ केंद्रीय पुस्तकालय हों। सबसे बड़ी बात यह कि शिक्षालयों के साथ जो पुस्तकालय हों, उनके संचालन में यह उद्योग किया जाय कि बालक बालिकाएँ पुस्तक-प्रेम लेकर निजी पुस्तकालय बनाने की आकांक्षा लिए हुए, शिक्षालय छोड़ें। यों प्रचार की जड़ें पुष्ट की जा सकेंगी।

(७) योजनानुसार निर्माणकार्य को अपना ख़र्च निकालने के लिए यह आवश्यक है कि देश में कम से कम ५०० ऐसे शिक्षालय और पुस्तकालय हों, जो योजनानुसार प्रकाशित पुस्तकों के स्थायी ग्राहक हो जायँ। यदि प्रत्येक ऊँचे दरजे की पुस्तक की १००० प्रतियाँ छपाई जायँ और स्थायी ग्राहकों से छपाई का सब ख़र्च निकल आवे तो प्रचार द्वारा बाक़ी ५०० बेचकर लेखक पुरस्कृत किया जा सकता है।

किसी बात को दुहराना साहित्य में पुनरुक्ति दोष माना जाता है, परन्तु दोहराना ही प्रचार का मूलमन्त्र है। एकबार से अधिक निवेदन कर चुका हूँ कि नागरी-प्रचारिणी सभा और हिंदी-साहित्य-सम्मेलन के कर्णधार साहित्यिक निर्माण की योजना पर विचार करें और पारस्परिक सहयोग से ऐसी योजना बनावें जो कार्यान्वित हो सके। उपर्युक्त लेख में बहुत कुछ पिछले विचारों को ही दूसरे शब्दों में दुहराया गया है, इसलिए पुनरुक्ति का दोषी होने पर भी प्रचार के नाते फिर वही निवेदन है।

दो दाने

श्रीचन्द्रप्रभा द्विवेदी

संध्या का झुटपुटा अँधेरा उस झोपड़े में जलती लकड़ियों के साथ जला जा रहा था और झोपड़े की स्वामिनी—जो पथ की भिखारिणी थी—उसी में ज्वार की रोटियाँ सेक रही थी। चूल्हे के सामने पीतल के तसले में सेम की फलियाँ अंगारे पर पक रही थीं।

भिखारिन देख रही थी—लकड़ियाँ अविराम जली जा रही हैं, शीघ्र से शीघ्र अग्निदेव के उदर में अपने को विलीन करती। उसकी भावना घूम उठी—ठीक उसी प्रकार जैसे तसले की पकती तरकारी से या तवे से उतरकर चूल्हे की शरण में आई रोटियाँ फूलकर फट जाने में चक्राकार वाष्प उगल रही थीं। वह बोल उठी—

"मुझ अभागिनी पर कृपा करनेवाली लकड़ी! तुम्हीं ऐसी उदार-हृदया हो कि मेरे मन की भीख अपने द्वार पर आने पर तुरंत दे देती हो। नहीं तो इस दुनिया में ऐसा कौन है जो इतनी उदारता औरों के साथ करेगा! मैं तुम्हारी बड़ी कृतज्ञ हूँ. दुनिया तो केवल लूटने और चूसनेवाली है। मैं भी उसी में एक हूँ। मैं किसी को देती क्या हूँ, यह तो नहीं जानती, पर लेने की आशा सभी से रखती हूँ; वह भी अपने भगवान् के नाम पर, इस कोढ़ टपकते शरीर की रक्षा के लिए। पर तुम मेरी सच्ची सहायता तो तब करोगी जब मेरा बेटा, हाँ वह मेरा बेटा ही तुम्हारे द्वारा मेरी अंतिम क्रिया सम्पन्न करे।"

भिखारिन सहसा सहम उठी—"नहीं, हे भगवन्! यह कैसा विचार आज फिर उठ आया! वही ऊँची बनने की तृषा अब फिर क्यों जाग रही है। जिसके शाप ने मुझे इतने नीचे ला पटका है, फिर वही आकांक्षा! जिसका ध्यान भी मेरे लिए पाप है। इस लकड़ी का भी अभाग्य था जो एक विशाल हवेली के द्वार पर गाड़ी में लद कर आई थी—बढ़िया स्वादिष्ट पकवान सिझाने, पर मैं चुपके से पीछे से चुराकर इन तीनों को यहाँ उठा लाई। चुराती न तो करती क्या! मैंने तो आज भी उपवास ही समझा था। पास पैसे थे नहीं, दिन भर की भीख में आध सेर ज्वार का आटा और तीन पैसे मिले थे। एक पैसे की सेम ली, एक पैसे का तेल; बचा एक पैसा, उसे मैं ख़र्च नहीं करना चाहती थी....हाय! अन्नपूर्णा मा, तुम तो बड़ी दयावान् हो जो दिन-भर के अथक श्रम के बाद संध्या तक इतने आटे या चावल दिला देती हो और उनसे जीवनरक्षा कर लेती हूँ। पर लक्ष्मी मा! तुम तो एक पैसा भी मेरे लिए प्राणों से बढ़कर हो जाती हो। इस समय यदि यह लकड़ी न मिली होती तो मैं भूखी ही सो रहती, क्योंकि मैं उस लक्ष्मी को हाथों से न जाने देना चाहती थी। पर अब यह भी इस अभागी की कुटिया से भाग जाना चाहती है। क्या इसे भी किसी की दया-माया हो सकती है?"

यह सुनते ही लकड़ी हँस पड़ी, जिसमें विषाद का घना कुहरा छाया हुआ था। भिखारिन आश्चर्य-चकित उसकी ओर देखने लगी।

उसने पूछा—"क्या जड़ होने के नाते ही मैं दया-माया-हीन हूँ! पर मानवी! तुमको यह भी तो सोचना चाहिए कि जिस प्रभु का तुम अंश हो उसी की मैं भी! विना प्राणों के यह शरीर कैसे मिला है, जिसका आज मैं टुकड़ा हूँ। फिर जब दया-माया के उस आगार-नायक या सिंधु परमेश्वर का अंश मैं भी हूँ तब निर्दय और निर्मम कैसी, जिसकी सहायता के विना अग्नि के तेज नहीं, जिसमें समस्त देवताओं का निवास है, तृप्ति है! देवताओं की ही क्यों, मानवों की भी यति-गति की जीवन की परम संगिनी मैं ही हूँ। आस्तिक और नास्तिक, हिन्दू और अहिन्दू सभी की मैं आवाहनीय हूँ। तब मुझ पर यह दोषारोप क्यों! जिसने आजीवन सेवा और त्याग की शक्ति और तेज का रूप प्रस्तुत किया उसी की यह उपाधि?"

भिखारिन विचार में पड़ गई, अचानक मुस्कान से उसके अधर फिर फैल गये।

"मैं कैसे मान लूँ कि तुम्हारा यह वाक्य पूर्णतः सत्य है! क्या तुम मुझ पर अपना कुछ परिचय देने की कृपा करोगी!"

लकड़ी हँस पड़ी—"क्या तुम सुनने को प्रस्तुत हो?"

"अवश्य?"

"लम्बी गाथा है, फिर भी कहूँगी।"

"यह तो मैं नहीं बता सकती कि मेरे पिता-माता

कान थे, फिर भी जन्म लेने पर मैंने अपने को पुत्र-रूप में पाया था। मेरा नाम था अंकुर, किन्तु शीघ्र ही मेरे दो पत्र निकल आये जो चिड़ियों के पंख की भाँति थे, पर मेरे लिए वे नेत्रतुल्य थे, जिनसे मैंने देखा कि मैं एक खेत की मेड़ पर हूँ—जिसमें मुझसे भी बड़े-बड़े ज्वार के पौदे हरे-भरे खड़े थे। वे मुझसे अधिक पुष्ट थे। उनके लम्बे-लम्बे घने पत्ते ऐसे दिखाई देते थे जैसे रणक्षेत्र में तलवारों की घनी लड़ाई के बीच केवल तलवार ही ऊपर से चमकती दिखाई देती है। मैं मन मसोसकर देख रही थी, क्योंकि उसी समय मेरे भी मन में बड़ी बनने की अभिलाषा जाग पड़ी थी, क्योंकि मैं देखती कि प्रतिदिन किसान उनकी ओर आकर्षित दृष्टि से देखा करता है, पर मेरी ओर भूलकर भी नहीं देखता, कदाचित् मेरा कलेवर छोटा था। इसी ईर्ष्या में मैं दिन-दिन उनकी खूराकें खींचने के लिए अपनी जड़ें बढ़ाने लगी जिससे मेरी पत्तियों में वृद्धि होने लगी। फिर भी वे मुझसे भी तेज़ी से बढ़े जा रहे थे।

एक दिन मैं इसी विचार में डूबी अपने चारों ओर देख रही थी कि मेरे लिए कहीं भी कोई छाया नहीं है जिससे मैं आराम से रह पाती और वह छायादार वृक्ष इनका भोजन शीघ्रतापूर्वक चटकर जाता जिसमें यह सब ज़मीन ही चूमते रह जायँ! तभी उस पौदे ने कहा—"आप रसाल दादा को मुझ ज्वारपुत्र करबी का प्रणाम स्वीकार हो।"

"खुश रहो बच्चा! आनंद में तो हो!"

"आनंद! जब कि हम बच्चों के सिर पर बालियाँ आना चाहती हैं तब भी आप जैसे पुरखे अभी बाने बने हैं, तब कहाँ उसकी गुंजाइश!"

"नहीं, नहीं भैया! मेरे सामने तुम्हारा फूलना-फलना ही आनंद है, यही मुझ बड़े का आशीष है, मेरी आँखें भी ठंडी होंगी।"

"तुम्हारी चोंच की क्या आँखें ठंडी होंगी! इतने ऊँचे पर जड़ जमाकर भी अभी मेड़ की मिट्टी खरोंच-कर पतौखी ही खाते हो, तब मेघ और किसान की सारी पूँजी जलपान में ही मुझे उड़ाते देखकर क्या आशीष दोगे?"

"यही सही, भगवान् तुम्हारा भला करें।" मैं कुढ़मुढ़ाकर चुप हो रही।

मेरे देखते-देखते ज्वार फूला-फला, पका तथा तैयार हुआ, फिर एक दिन किसान की कठोर हँसिया काल के मुख-सी फैली आई और सबों को लुंठित कर अंतर्द्धान हो गई। यह दृश्य मेरे लिए सुखद तो अवश्य था, पर साथ ही इतने का एक साथ संहार हृदय-विदारक भी। वह मेरा प्रतिद्वन्द्वी अवश्य था, किन्तु एक लम्बे समय का साथी भी। चलते समय उसने कहा—"रसाल दादा! मेरा कहना-सुनना क्षमा कर दो, क्योंकि अब जा रहा हूँ।"

मेरे भी मन में न जाने कैसा स्नेह उमड़ पड़ा, बोला—"भाई, मुझे भी क्षमा कर दो! समय का फेर है कि मैं बड़ा होकर भी बौना बना बैठा हूँ और तुम थोड़े ही दिनों में चल बसे।"

"कोई बात नहीं है दादा! आपको तो अभी बहुत बड़े-बड़े काम करने हैं, अपने विशाल चरणों से पाताल और उन्नत ललाट से नभ को नापना है, पर मेरा तो इतना ही काम था कि अपना बीज तैयार कर चल देना, इसीलिए ऐसा बढ़ा और मिटा।"

फिर सर्वत्र शान्ति थी। मेरे चारों ओर महाश्मशान का सन्नाटा छा गया। पूरबी हवा का झोंका जो पहले ज्वार में ही उलझकर रह जाता था वह अपने पूरे पैशाचिक वेग से मुझे उलट-पलट देने की धुन में मस्त मेरे सिर पर सवार रहता। धूप का प्रखर ताप मेरे उस क्षत-विक्षत शरीर को चारों ओर से बगूले उठाकर म्रियमाण बना देता। उस पर भी कोढ़ की खाज रात्रि की ठंडक थी, जिसमें वे म्लान पत्ते ऐंठ जाते थे और मेरे अणु-अणु, रोम-रोम रो उठते।

प्रातःकाल मैंने देखा—एक सुंदरी अपने चपल चरणों के पायल की झंकार से उस निस्तब्ध वातावरण को ध्वनित करती, उस नीरवता को मुखरित करती, अपनी सुनहरी सारी में छिपी हुई सकुचाई-सी मेरे गले में अपनी केसरिया कलाइयाँ डाले खड़ी हो गई है। मैंने अपनी आँखें उसके मुख की ओर उठाईं। वह मुस्कुरा दी—

"यह क्या? तुम्हारे यह अनुपम मोती आँसू थे, जिन्हें मुस्कान समझकर आई थी!"

उसके विस्मित नेत्रों का भोलापन अनुपम था। वह धीरे-धीरे अपने उस अंचल में मेरे आँसू भरने लगी, जिसमें सुहाग की मतवाली सिकुड़न पड़ी थी। उसके उस मधुर स्पर्श से मेरे रोम-रोम पुलक उठे।

"कौन कहता है कि मैं वीरान में हूँ, शून्य और अभागा हूँ!" मन ही मन मेरे यह शब्द घूम उठे। मेरी स्वस्थ बाँहें अपने आप फैल गईं।

"देवि, तुम कौन हो ?"

"तुम्हारी चिरजीवनसंगिनी किरण !"

"किरण ! तो अब तक तुम कहाँ थीं ?"

"उन झुरमुटों की ओट में, जहाँ से मैं तुमको उनकी संधियों से लुक-छिपकर देखा करती थी ! पर तुम मुझे नहीं देख सके थे ।"

"अब तो मेरी बाँहों में हो ?"

"क्षमा करो ।" वह सहसा छटककर दूर खड़ी हो गई ।

"यह क्या ! अब कहाँ !"

चुप रहने का संकेत करती हुई वह प्राची के उस सोने के किरीटवाले सूर्य की ओर इशारा करके बोली—

"पिताजी अब आ रहे हैं।"

वह न जाने कहाँ जा छिपी । मेरा तन-मन एक साथ ही अवसन्न हो उठा । मेरा सोने का संसार उस पिता ने लूट लिया, जिसने मेरी प्रेयसी को जन्म दिया है । उफ़ ! यह निष्ठुर विश्व क्यों उसकी पूजा करता है ? मैं सोच नहीं सका । अपनी ही ज्वाला में झुलसता, अपनी ही वेदना में ऐंठता जब सवेरे आँखें मल रहा था तभी मेरी आँखें किसी ने पीछे से बंद-कर लीं, मैं विभोर सा हो उठा । स्पर्श तो वही था, पर पायल की झंकार कहाँ है ? सोच ही रहा था कि वह सामने खड़ी हो गई—

"देखती हूँ कि तुमको बहुत से लोग प्यार करने लगे !"

"कौन, किरण !"

"वह देखो ! किसान की बालिका तुम्हारे चारों ओर कँटीली झाड़ी रूँध रही है । क्या तुम्हारे इस दुर्ग में मेरा प्रवेश हो सकेगा ?"

"इसी दुर्ग में हम तुम साथ रहेंगे । यदि तुम प्यार कर मुझे कृतार्थ कर चुकी तो इस धरातल में अब शत्रुता रखने और व्यवधान डालनेवाला कौन है ? मुझे तुम्हारे इस प्यार में विश्व की विभूति अपने पैरों पर लोटती प्रतीत हो रही है ।"

"अब उड़ने लगे ! लो मैं चली ।"

मेरे पकड़ते-पकड़ते वह ओझल हो गई । मेरे देखते-देखते खेत में फिर हल चले, बीज पड़े और मेरे ही सामने फिर वही प्रतियोगिता आई । पर इस बार मेरे मन में ईर्ष्या नहीं हुई । अब मुझे किसान की बालिका प्रतिदिन मीठे जल से सींचने लगी । खेत में हरियाली दौड़ने लगी । उस हरे गलीचे के बीच में उन्नाबी, काली और सुरमई सारियाँ पहने, ग्राम-वधुएँ आईं और गाती हुई निराई करने लगीं । मैं किरण की अठखेलियों में स्वर्गीय झूले झूलता उस गलीचे के फूलों का आनंद लिया करता था । नीली-नीली तीसी और वसंती सरसों की रेशमी मसहरी में अब मेरी दुनिया रंगीन हो उठी थी । मैंने किरण से पूछा—

"मैं तुमको पाकर कैसा हरा-भरा हो जाता हूँ, पर तुम शीघ्र ही भाग जाती हो । क्या मेरे जीवन में यह खिलने-फूलने के दिन नहीं आने दोगी, जो मेरी चरम आकांक्षा है ?"

किरण लजा गई ; फिर थोड़ी देर बाद शरारतभरी हँसी के साथ बोली—"शारदा ऐक्ट पास हो गया है न ! इसी से अब नन्हे-दूल्हे नहीं बन पाते ।"

"पर तुम तो छोटी ही नवोढ़ा बन गई हो !"

उसने मुझे झकझोर दिया—"मैं मुग्धा जो हूँ ! यह सब तो वसंतोत्सव मनायेंगे, होली खेलेंगे, पर तुम्हें केवल अपने ही अंगों में अपनी मस्ती भरना होगा, क्योंकि तुम इतने कंजूस हो कि कुछ नहीं पा सकते । जाने दो, जब विवाह के दिन आवेंगे तब मेरे पिताजी तो देंगे ही केसरिया जामा ।"

मैं हँस पड़ा । अब तो समीर भी चंचल होकर अपनी आकुल उष्णता के साथ आने लगा । पाँचों बाण धारण कर ऋतुपति आये । मैं अपनी झाड़ी में छिपा था, एक तो भय दूसरे कुतूहल से । पुष्पों की रज में दानों की बालियाँ झूमने लगीं । हरे गलीचे पर सोनेवाली पुष्पित फुनगियों के मुख पीले पड़ गये । उनके गर्भस्थ दाने पुष्ट होने लगे और वे डालियाँ, जो हवा में इठलाती फिरती थीं, गम्भीरता के साथ भारावनत होकर एक-दूसरे का सहारा लेकर सौर-संक्रान्ति की तैयारी करने लगीं ।

किसान उनके पीले एवं शुष्क मुख को पीड़ित देखकर हर्ष से झूम उठे । खलिहानों की सफ़ाई होने लगी और उनके मंगल के लिए ढोल-डफ पर फाग के गान में भगवान् शंकर और भवानी की पूजा होने लगी । मुझसे किरण ने पूछा—"इस उत्सव को समझते हो ?"

"हाँ, सूने कोठिले और बखार आबाद होंगे और मेरी बाल-दुनिया यहीं कबड्डी खेलेगी, जिसमें एक छलना मुग्धा और प्रेयसी का पार्ट अदा करती है ।"

किरण हँस पड़ी । इसी प्रकार वर्षों पर वर्ष फिसलते गये । मैं अब गृहस्थ भी हो चला था । मेरी

छतनार डालों में चिड़ियों ने गाना और घोंसला बनाना आरम्भ कर दिया। मेरी घनी छाया में किसान-परिवार बैठकर दोपहरी में रोटी खाते। शाम-सवेरे बच्चे खेलने आते। कभी कोई थका पथिक विश्राम करता। मैं सभी का मनोवैज्ञानिक अनुसंधान करता। हरी-भरी डालों पर विहंगमण्डली जहाँ गाना गाती वहाँ पंचायत भी करती, अपने झगड़ों का निपटारा मुझे साक्षी देकर करती। नवीन जोड़े प्रेमालाप भी करते—और रात में बसेरा लेते। सभी का मैं रसाल दादा था, अपना था, किन्तु अपनी किरण का कोई नहीं था। अब मैं समझ गया था कि उसका वह प्यार मृग-जल भले ही था, पर शीतल जीवन नहीं था, इसी से वह मीठी बातों में मुझे बहलाकर भाग जाती है। इस विचार से ही मेरा मन भारी हो उठा और मेरी पत्तियों में धूल और शाखाओं में काले जाले जमने लगे। मेरा अब सारा स्नेह, सारी ममता एक उस बालिका पर जाकर केन्द्रीभूत हो गई जो मुझे प्रतिदिन सींचा करती थी। जब वह मेरे तने में लिपटकर असंख्य भावों की फेरियों में बाँधने लगती तब मेरा पत्ता-पत्ता खिल उठता। उसके मुख पर तरुणाई, अपने सिंदूरी आलोक छोड़ रही थी और शैशव बिदा ले रहा था। ऐसे समय उसके श्रमित मुख की श्री अपूर्व हो उठती थी। मेरी इच्छा होती कि मैं उसे अपने मस्तक पर बैठा लूँ जिसने तपते ग्रीष्म में जल और छाया देकर मुझे मिटने से बचाया है।

इसी विचार में डूबा था कि उदयाचल के द्वार पर रण-रथ को सारथी अरुण ने ला खड़ा किया—जैसे आलस्य, अभाव, शीत और अन्धकार पर चढ़ाई करने के लिए। उसी समय सहस्र करों में जगमगाते अस्त्र धारण किये अदितिकुमार उस पर आरूढ़ हो गये। सहसा विजयश्री-सी किरण तमावृत्त के पंजे से छुड़ाने की आकांक्षा से मेरे मस्तक पर सुनहली पाग बाँधती रक्त तिलक करती दिखाई दी।

मैंने कहा—"छोड़ दो, किरण! बहुत हो चुका, अब मुझे कुछ नहीं चाहिए। तुम क्यों आ पहुँची हो!"

"आई हूँ मोती समेटने, जिनसे मैं रजनी में अपना शृंगार करती हूँ और इन्हीं का उपहार सँजोकर मित्र के पास भेजने।"

"तो मैं तुम्हारा यह आगार अब नहीं बनूँगा।"

उसने अपना आँचल फैला दिया—असंख्य मोतियों (ओस) के दाने से वह भरा था। वह बोली—

"देखा तुमने आज मैं तुम्हारे लिए नव संदेश लाई हूँ।"

"क्या?"

"वसन्तोत्सव की तैयारी का। तुमको भी इस वर्ष सम्मिलित होना है!"

"सच!" मुझे अपने कानों का विश्वास नहीं हुआ।

"तो क्या मैं झूठ बोलूँगी?"

"नहीं, तुम कोमल किरण हो, असत्य की कठोरता में झुलस जाओगी।"

"तब क्यों पूछा था—'सच'?"

मैं झेंप गया, बोला—"मेरा शृंगार कैसा होगा!"

"अनुपम! मादक!! तुम मनोज के बाण बनोगे, तुम्हारे पल्लव-पल्लव पर वह विहरण करेगा। कोकिलाएँ फुदक-फुदककर कूकेंगी। मधुप और मधूलिकाएँ तुम्हारे चारो ओर मधुमाती रागिनी गाती हुई मँडराएँगी!"

सहसा वह रुककर मुस्कराने लगी—मैं लज्जित हो उठा, पर बात बदलने के लिए पूछा—

"तो क्या मैं उस बालिका को अपनी बाँहों से छू सकूँगा, जिसने मुझे प्यार से पोषित किया है?"

"ओहो! अभी से इतना अनुराग! न जाने कितनी बालाएँ आयेंगी इस नवीन बन्ने पर?"

मैं कुछ रूठकर बोला—"तुमको तो बस हँसी सूझती है।"

"तो ऐसे शुभ अवसर पर भी रोना आवे?"

मैंने उसके अधरों में अपने किसलय भर दिये, वह सिहर उठी—"क्या शैशव का पुनीत प्रेम इसी अवसर के लिए पनप रहा था?"

मेरी कितनी बड़ी भूल थी! फिर भी मैंने कहा—"तो क्या तुमको मैं अपनी चिर जीवन-संगिनी नहीं बना सकूँगा?"

"इस वासना से नहीं, विशुद्ध प्रेम से, मैत्री और सौहार्द से। वह बालिका भी इसी महीने के अन्त में बिदा हो जायगी अपने पति-गृह को।"

"ऐं!" मैं चौंक पड़ा—"तो क्या वह मेरा शृंगार नहीं देखेगी?"

"तुम उसको देखने जाओगे?"

मैंने उदास होकर कहा—"तुम तो यह जानती ही हो कि मैं जड़ हूँ, अचल हूँ।"

"तब तुम यह नहीं जानते कि वह गतिशील है, चेतन है और मानव है?"

"दूर रक्खो अपनी मानवता और गतिशीलता।"

"क्यों ? तुम जड़ होकर गतिशील होगे और वह गतिशील होकर यहीं सड़ेगी ?"

"भाई, मैं तुमसे जीत नहीं सकता।"

"तो फिर चुप रहो।"

मैं चुप हो रहा। उसके चले जाने पर सब खेतों ने मुझे छेड़ना आरम्भ किया। पहले तो पासवाली सरसों ही बोली—

"कहिए रसाल दादा! क्या कह रही थीं किरणजी ?"

"तुझे क्यों झार लगने लगी!" मैंने झुँझलाकर पूछा।

"मुझे क्या लगेगी! मैं तो स्वयं ऐसी हूँ कि लोग मुझसे झार खाते हैं।"

"बड़ी झारवाली! ऐसी ही इन्द्र की परी हो न कि सब तुमसे झार करेंगे! तुम्हारी सब झार तो तब दिखाई देती है, जब लोग भून-पीसकर बदन के मैल में लपेटकर फेंक देते हैं।"

सरसों तिलमिला उठी—"चुप रहो, तीसी! मैं तुमसे नहीं बोलती, तुम अपना काला मुँह लिये बैठी रहो, भला देखो न दादा! मैं तो आपसे बातें कर रही थी और यह कलूटी मुझसे उलझ पड़ी।"

मैंने कहा—"जाने दो, तुम्हीं छोटी बन जाओ, देखो कैसी गोरी हो तुम गोल-मटोल!"

इतना कहना था कि दूर से मटर भी दहाड़ उठी—"वाह रे दादा! तुमने यह चापलूसी किससे सीखी है ? यदि सरसों इतनी क्षुद्र न होती तो तुम न-जाने क्या कह जाते! मेरे सर्वांग का सौंदर्य देखो। पत्र, पुष्प, फल सभी अनोखा स्वादिष्ट!"

मैंने कहा—"तुम्हारा भी कहना ठीक है, सबों की रानी तुम्हीं हो। चित्रकार भी तुम्हारी लता, कली, फूल, फली का ऐसा चित्र नहीं खींचकर रंग भर सकते।"

"तभी तो दादाजी मर रहे हैं।" चना ने चनककर कहा—"मुझे देखो! सब धान्यों का राजा बना बैठा हूँ। मेरे विना कोई शुभ काम नहीं सम्पन्न हो सकता। शाहजहाँ का मैं ही जीवन था, हनुमान् और गणेशजी मेरे ही लड्डू से सन्तुष्ट होते हैं। ग़रीबों का आधार, मज़दूरों का साथी हूँ। परदेशियों के प्राण मुझमें ही बसते हैं।"

इन सबका झगड़ा दूर खड़े गेहूँ और जौ सुन रहे थे। वे हँसकर बोले—"इन अलसी-सरसों और चना-मटर के झगड़े में दादा की बात ही उड़ गई।"

"इनके मारे किसी की बात सुन पड़ती है। यह इसी तरह लड़ा करती हैं।"

अब तो वह सब खिलखिला उठीं—"तुम तो सभी की दादी हो न, जो काले कौए का मांस खाकर जन्म ले चुकी हो, खेत में सालों डटकर भी शान्ति नहीं पाती।"

सरसों बेचारी चुप हो रही। मैंने कहा—"इस बार किरणजी का आदेश है कि हम भी वसंतोत्सव मनावें!"

"कैसी अच्छी बात होगी कि हमारे घर के सभी बड़े-छोटे भाग लेंगे। आप रंग कौन लेंगे ?"

"पीला ?" मैंने उत्तर दिया—"जैसी किरणजी की सारी है।"

"बड़ा अच्छा होगा।" यह बात तीसी को छोड़कर सभी ने कही।

मैंने कहा—"फागुन की कड़कती हवा में ऋतुराज का आगमन होगा। मधुमास की मधुमयी वेला में हम लोग केसर की होली खेलेंगे—संध्या का गुलाल और रजनी का रजत बुक्का।"

हिमऋतु में ही मयंक की हिमानी मरीचिकाओं ने हम सबों को सजाना आरम्भ किया। हम में एक-सी चेतना स्फुरण कर रही थी। सूखी पत्तियाँ और टहनियाँ मरुत् के मृदु हाथों से दूर होने लगीं। हमारे मस्तक पर मंजरियाँ अपनी मंजु मुस्कान से पल्लवों के बीच से झाँकने लगीं। किरण का संदेश अब सफल था, सत्य था। मैं खिल उठा। अपने ही सरस भावों की सुवास में मैं झूम उठा। हरे-पीले, छोटे-बड़े, खट्टे-मीठे सभी तरह के फल मुझमें आये, अब मेरा कोष परिपूर्ण था। शीतल छाया, मीठे और रसीले फल! हर्ष से मैं मतवाला हो गया। जी में आता था कि ज़मीन पर लोट लगाऊँ। अपनी उसी नन्ही-मुन्नी झाड़ी में छिप जाऊँ जो किसी दिन मेरे लिए एक कठघरा और पिंजड़ा थी। तब देखूँ मेरे बटोही क्या कहते हैं ? अब मेरी विस्तीर्ण शाखाएँ वास्तव में वामन की भुजाओं-सी आकाश पकड़े चरणों से पाताल नाप रही थीं, जिन पर वर्षा की अजस्र धार, शीत का निष्ठुर तुषार और ग्रीष्म की झुलसी बयार सदा उपेक्षणीय थी। अब मुझे याद आई अपनी वह किसान की बालिका, जिसका फिर दर्शन नहीं मिला। वह कहाँ गई ? क्या हुई ? मैं सर्वथा अज्ञान था, पर चिंतना अवश्य करता। इसी प्रकार उस दिन सोच रहा था

कि एक हँसी सुनाई दी, चारों ओर देखा कोई न था, तभी फिर सुना—

"क्या सोचते हो भाई! अब तो तुम बहुत बड़े हो गये हो; फिर भी लड़कपन क्यों करते हो?"

स्वर खेत का था। मैंने कहा—"मेरे बड़े भाग्य थे कि आपकी बातें सुन सका।" कहते हुए मैंने उसके चरणों पर कुछ अपने फल डाल दिये।

"यह क्या?"

"कुछ नहीं, एक अकिंचन का अर्घ्यदान समझ लीजिए।"

"भाई खूब फूलो-फलो। क्या तुम जानते नहीं? मानव का शरीर हमारी-तुम्हारी तरह नहीं है कि पाला-तुषार और वज्र भी सहकर खड़े रहते हैं, फूलने-फलने के दिन देखते हैं। मानव में वह शक्ति कहाँ? मैंने किसान के मुख से जो सुना है उसका तात्पर्य यही है कि उसके जीवन की ऊषा और मधुमास दोनों का विनाश हो चुका है, क्योंकि वह निर्बल-निर्धन परिवार में एक अनुपम हीरा थी। जानते हो! हीरे को वज्र भी कहते हैं!! ऋतुपति ने उसे अपना सौंदर्य दिया था। पलाशों के दावामय वन में वह एकाकी मृगी बलतः वेधिक के हाथों जा पड़ी। उस 'वनश्री' में जब वह पहुँची तब एक बार ही उसमें हलचल मच गई। रूपानुरूप ही उसको स्थान मिला था, किन्तु विधाता का वरदान नहीं। वह लोलुप मधुपों का छल-प्रपंचमय रहस्य अपने दैन्य के ओट से समझ भी न पाई कि परिवार के द्वारा तिरस्कृत कर दी गई! मोतीभरी आँखों से वह किंशुक की डाल में मृत्यु का झूला डालकर लटक चुकी थी। किन्तु वहीं से न जाने कब वह अचेतनता में एक विशाल उद्यान में जा पहुँची जहाँ वह कलिका मसलकर रौंद दी गई।"

वह चुप हो रहा। मैंने अगणित वसन्त देखे। फूला-फला, सब दुख-सुख सहा, पर उसे न भुला सका। स्वयं मैं कितनी बार बिका, कटा-छटा, पर एक दिन मेरा भी काल आ पहुँचा। मैंने जीवन में बड़े-बड़े अत्याचार देखे जो ग्रामों की विशेषता है। अन्त में ज़मींदार साहब की कृपा ने मेरे अंगों को धराशायी करके ही दम लिया। चलते समय खेत ने कहा—

"तुम भी चले! पर मैं?" वह मौन हो गया।

बेबस हँसी हँसकर बिदा हुआ। मेरा शरीर जहाँ यज्ञ आदि महोत्सवों में बंदनवारों और लकड़ियों के रूप में प्रवेश पा चुका था, वहाँ कुछ फ़र्नीचर के रूप में और कुछ ईंधन की भाँति वहाँ भी जा पहुँचा, कुछ यहाँ। यह बिदा राख के रूप में सफल होगी। इतना कहकर लकड़ी चुप हो गई।

भिखारिन उससे चिपट गई—"ओह! आज उस सिंचित करनेवाली बालिका का यह घृणित शरीर ही तुमको आ मिला है। चलो, तुम्हीं क्यों राख बनोगी! मुझको भी तो होना है!"

थोड़ी देर बाद वह झोपड़ा जल उठा और उसमें एक खेत के दो दाने राख हो गये, जो रसाल थे, वाचाल थे, मधुमय और दलित थे।

छिपकली

श्रीयुत 'यही'

संसार के समस्त प्राणियों में छिपकली से बढ़कर कुरूप शायद ही कोई अन्य प्राणी हो। उसका शरीर कितना गिलगिला होता है। उसकी पूँछ किस समानांतर भाव से पतली होकर अन्त में एक सुई की नोक के समान हो जाती है। उसके पैर बड़ी तेज़ी से जब ऊपर छत पर चलते हैं तब यही लगता है कि अब गिरी—अब गिरी। एक छोटा-सा प्राणी है; पर मैं छिपकली को देखकर ही घबरा जाता हूँ। उसके गिलगिलेपन और सफ़ेद पेट के विषय में सोचते ही सारा शरीर पसीने से तर हो जाता है। और सबसे अधिक भय तो तब लगता है जब उसका त्रिकोण मुख थोड़ा खुलता है और उसमें से एक छोटी-सी नुकीली जीभ बाहर निकलकर फिर अन्दर छिप जाती है। मौत का सामना शायद मैं कभी साहसपूर्वक कर सकूँ, पर छिपकली से मैं बेहद डरता हूँ और शायद सदैव डरता रहूँगा। प्यार तो शायद ही कोई उससे करे।

× × ×

बिजली जल रही थी। मैं कमरे में बैठा हुआ कुछ लिख रहा था। यकायक ध्यान कुछ उचट गया; एक प्यारा पतिंगा आकर कापी पर बैठ गया। छोटा-सा प्राणी था; यही कोई एक इंच लम्बा होगा। सफ़ेद शरीर और सफ़ेद पर। दो मूछें दोनों ओर फैली हुई कुछ तलाश कर रही थीं। दो चमकती हुई गोल आँखें बाहर निकली पड़ रही थीं। प्रकृति की कारीगरी उसमें नहीं थी, पर सरलता को भी हम सुन्दरता कह सकते हैं। पतिंगा इधर-उधर फुदक रहा था; मेज़ पर कभी यहाँ, कभी वहाँ। पता नहीं, घर से अपने बच्चों के लिए दाना-पानी लेने आया था या उन्मत्त होकर दीपक पर प्राण देने।

पतिंगा अब कमरे में उड़ने लगा था। मैं क़लम रखकर उसकी क्रीड़ा देखने लगा। एक बार वह बिजली के बल्ब पर जा बैठा और दूसरे ही क्षण दीवार पर इधर-उधर फुदकने लगा। मैंने ध्यान से देखा कि वह अपनी ही परछाईं पर चोट कर रहा था। जानवर प्रायः अपनी ही परछाईं को अपना प्रतिद्वन्द्वी समझ बैठते हैं। कुत्ते और नदी में उसकी परछाईं की कथा तो प्रसिद्ध ही है। पतिंगा भी दुश्मन को मारने में संलग्न था। वह दीवार पर रुकता नहीं था, केवल, चोट मारता और फिर उड़ जाता। पर....

पर इस बार वह एक क्षण के लिए रुका—शायद थक गया हो। रुकते ही कहीं से झपटकर एक बड़ा सा जानवर उस पर गिरा और दूसरे ही क्षण एक छिपकली उस पतिंगे को मुँह में लिए खड़ी मेरी ओर ताक रही थी। मैंने देखा—देखकर थरथरा उठा; मेरा मुँह आधा खुला हुआ था, साँस ज़ोर-ज़ोर से चल रही थी और माथे पर पसीना झलक आया था। पतिंगे की देह छिपकली के मुँह में थी और उसके पर बाहर की ओर फड़फड़ा रहे थे। काल का मुख कितना भयंकर होता है! अन्त समय कितना भयावना होता है!

मैं किंकर्तव्य-विमूढ़-सा बैठा था। हाथ-पैर ठंडे पड़ रहे थे, गला रुँध रहा था—आँखें फाड़े हुए मैं उस पतिंगे का काल की गोदी में खेलना देख रहा था। इतना साहस नहीं था कि हाथ उठाकर उस छिपकली को सामने से भगा देता। और वह....वह छिपकली उसी शांतस्थिर रूप से खड़ी हुई पतिंगे को मुँह में दबाये मेरी ओर देख रही थी—मानो मेरी अकर्मण्यता पर हँस रही हो। धीरे-धीरे पतिंगे का फड़फड़ाना कम हो रहा था—उधर छिपकली का मुँह भी धीरे-धीरे चलने लगा था। मुझे घबराहट होने लगी। कुछ-कुछ होश-सा आया, मैं झट से उठा। बिजली बुझा दी और आकर अपनी खाट पर पड़ रहा। शरीर अब भी थरथर काँप रहा था, पर नींद आ गई। हाँ, रात भर बुरे-बुरे सपने अवश्य देखता रहा।

× × ×

कुछ दिनों बाद—

परीक्षाएँ हो रही थीं, अतः बड़ी मेहनत पड़ रही थी। क्लास में रेगुलर रहने पर भी इम्तहान के दिनों में अधिक मेहनत करना आवश्यक हो जाता है। मैंने सब पुस्तकें रख दी थीं; केवल उन्हीं पुस्तकों व कापियों को बाहर निकाल लेता था, जिनकी परीक्षा दूसरे दिन होती थी। सबसे अन्त में इतिहास का इम्तहान था. अतः बहुत दिनों से इतिहास की पुस्तकें व नोटों की मोटी-मोटी कापियाँ एक ही जगह

रक्खी थीं। उन पर धूल जम गई थी। इम्तहान के दिनों में अधिक झाड़-पोंछ नहीं की जाती।

आज इतिहास का पहला पर्चा करके आया था। नहा-धोकर खाना खाया। दूसरे दिन इतिहास का दूसरा पर्चा था, अतः सोचा कि कल के लिए किताबें व कापियाँ निकालकर बाहर रख लेना चाहिए। सो खाना खा-पीकर सीधा अलमारी के पास पहुँचा। इतिहास की दो मोटी-मोटी पुस्तकें निकालकर बाहर रक्खीं और फिर कापियों की ओर दृष्टि गई। इतिहास की कापियाँ क्रम करते-करते भी असाधारण रूप में मोटी हो जाती हैं और साथ-ही-साथ भारी भी। दो कापियाँ एक के ऊपर एक रक्खी हुई थीं। मैंने ऊपरवाली कापी उठाई, लगभग ४०० पृष्ठ थे। दूसरी कापी इसकी दुगनी ही होगी। उसको उठाया—पर—पर—

पर उठाते ही मैंने उसको फेंक दिया, या वह स्वयं मेरे हाथ से छूट पड़ी। एक ज़ोर की आवाज़ हुई। उधर मैं काँप रहा था—पैर हिल रहे थे—मुँह बुरी तरह विकृत हो गया था। मैं सुन्न-सा हो रहा था—पसीने से तर—हाँफने भी लगा था—केवल एक चीज़ पर मेरी दृष्टि थी—एक छिपकली! आह!!

बेचारी इतनी भारी कापियों के नीचे! ओह, पिचककर रह गई थी। अलमारी के तख़्ते पर मेरी ओर मुँह किये पड़ी थी। उसकी विकृतता नग्नरूप में आँखों में नाच गई। तिकोना मुँह उसी प्रकार शान्ति से रक्खा हुआ था, पर वह पिचककर काग़ज़ के समान पतला हो गया था और—और उसमें से पतली-सी डरावनी जीभ बाहर निकली हुई थी। सारा शरीर सूखे पत्ते के समान खंखड़ हो गया था। रुधिर का नाम नहीं था। उसकी देह का लिफ़ाफ़ा वहाँ पड़ा था। वह हाल की पिचकी हुई नहीं थी। कई दिनों में सूखकर इस दशा को पहुँची थी। उसका सफ़ेद पेट दोनों किनारों पर कुछ-कुछ स्याह होकर पीठ की समता करने लगा था। पूँछ—पूँछ घास की एक सींक के समान अचल पड़ी हुई थी, पर वह भी दबकर चपटी हो गई थी और सूख गई थी एक पतले काँटे के समान। गोलाकार आँखें खुली हुई थीं। उनमें चमक नहीं रह गई थी, पर वे इतनी भयानक दिखाई देती थीं कि यकायक मेरी आँखें मिच गईं।

मैं खड़ा का खड़ा रह गया। कुछ समझ नहीं पड़ा कि क्या करूँ। इसी समय आँखों के सम्मुख वह पतिंगेवाला दृश्य आ गया। 'पतिंगे की देह छिपकली के मुँह में थी और उसके पर बाहर की ओर फड़फड़ा रहे थे।' दो-दो भयानक दृश्यों का सम्मिलित आघात मैं सहन न कर सका। कुछ चेतनता आई और मैं एकदम मुँह फेरकर शीघ्र ही वहाँ से भाग आया।

× × ×

कुछ दिनों बाद—

परीक्षाएँ हो चुकी थीं। 'परिश्रम के बाद विश्राम' वाले सिद्धान्त का मैं पूर्ण रूप से पालन कर रहा था। पढ़ना-लिखना तो लगभग छोड़ ही सा दिया था। गप्पों व नींद में ही दिन और रात बीतते जाते थे। जीवन सरल प्रतीत होता था; क्योंकि किसी प्रकार का बन्धन या दबाव नहीं था। लेकिन यह दशा कुछ ही दिनों तक रही। आख़िर कब तक इस प्रकार का आलसी जीवन बिताया जाता। बृहस्पतिवार के दिन सोचा कि अच्छा दिन होने से आज ही कुछ पढ़ना प्रारम्भ कर दिया जाय। रात का समय उचित जँचा।

बिजली जलाकर कमरे में पहुँचा। नौकर जानता था कि आजकल बाबू पढ़ते नहीं हैं, अतः रोज़ की तरह साँझ से ही खिड़की व दरवाज़े बन्द करके चला गया था। मैंने 'कित गये हो खेवनहार, नैया डूबती' गुन-गुनाते-गुनगुनाते सब किवाड़ खोले और मेज़ पर झुक-कर खिड़की के किवाड़ खोले ही थे कि—

पट से कोई चीज़ ऊपर चौखट से निकलकर नीचे आ गिरी। मैं हड़बड़ा उठा! चौंककर एकदम पीछे हट गया। देखा, एक छिपकली—अधमरी ख़ून से लथपथ मुँह बाये खिड़की में पड़ी थी। मैं डर और घबराहट के मारे पसीने से तर हो गया। मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। इतनी भयानक वस्तु ऐसी विकृत अवस्था में कभी नहीं देखी थी। ऊपर चौखट में से धीरे-धीरे ख़ून टप-टप टपक रहा था। छिपकली की आँतें बाहर निकल पड़ी थीं। पेट बुरी तरह पिचक गया था। मुँह से ख़ून अलग बह रहा था। आँखों में मृत्यु का भयावनापन था। मेज़पोश लाल हो गया। मैं एक पत्थर की नाईं अचल खड़ा हुआ यह सब देख रहा था। इसी समय एक पतली सी चीज़ यकायक मेज़ पर आकर गिरी। देखा, एक सींक के समान ख़ून से भरी हुई छिपकली की पूँछ।

मैंने ज़ोर से एक साँस ली। रोयें खड़े हो गये। हृदय धड़-धड़ कर रहा था। उसकी आवाज़ मैं स्वयं सुन रहा था। धीरे-धीरे शरीर निर्जीव-सा प्रतीत होने लगा। छिपकली भयानक थी, पर मैं उस पर से आँखें

न हटा सका---न-जाने क्यों ! धीरे-धीरे उसका रूप और भी विकृत होने लगा। उसके पेट की तमाम सफ़ेद आँतें मेज़पोश पर फैल गईं और कुछ रुधिर से भरी हुई छोटी-छोटी गोलियाँ, जो पिचककर चपटी हो गई थीं, अब बिजली की रोशनी में चमक उठीं। मैं काँप उठा—उठकर भागा। जाकर सीधा अपने बिस्तर पर पड़ रहा....

मा कह रही थी, 'मोहन सिसकियाँ क्यों ले रहे हो?'

आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना

श्रीयुत कृष्णकुमारसिंह

साहित्य विश्व-मानव की चेतना का स्पन्दन है, विश्व-हृदय के राग-विरागों की रागिनी है। साहित्य एक दर्पण है, इसमें युग की छाप प्रतिबिम्बित होती रहती है। अतएव हम कह सकते हैं कि जो घटनाएँ जन-समुदाय को शासित करती हैं, वे ही साहित्य के निर्माण में सहायक होती हैं। जो देश या जो राष्ट्र गुलाम है, वहाँ राजनीति की चाल सर्वदा चलती रहती है और यही कारण है कि भारत भी राजनीति से अलग नहीं किया जा सकता। इसी कारण किसी संस्कृति एवं सभ्यता की ओर क़दम बढ़ानेवाले राष्ट्र की साहित्यिक कृतियाँ बहुत कुछ राजनीतिक परिस्थितियों के आधार पर निर्मित होती हैं। साहित्य के इतिहास के क्रमबद्ध अध्ययन के पश्चात् हम कह सकते हैं कि साहित्य बहुलांश में देश की राजनीतिक दशा से प्रभावित हुआ है और इसी के फलस्वरूप इन राजनीतिक परिस्थितियों ने साहित्य में राष्ट्रीयता का रंग भर दिया है। सीइ लिए साहित्यिक रचनाओं में एकमात्र देशहित की भावना पूर्ण रूप से व्याप्त रहती है। इस वर्ग का साहित्य राष्ट्रीय साहित्य कहलाता है। आधुनिक हिन्दीकाव्य में राजनीतिक भावनाओं ने कहाँ तक राष्ट्रीयता का साथ दिया है, यही निरूपण करना है।

जीवन और साहित्य एक ऐसी वस्तु है, जिसमें परिवर्तन और प्रगति का होना अनिवार्य है। उसी प्रकार आधुनिक काल में राष्ट्रीय भावना ने जब अपना रूप बदला, तब साहित्य नवीन पथ पर अग्रसर हुआ। भूषण के पश्चात् डेढ़-दो सौ वर्षों तक राष्ट्रीय भावनाओं की मन्दाकिनी धीरे-धीरे बह रही थी, राष्ट्रीय साहित्य का जीवन ही अन्धकारमय हो गया था। पर इस भारतवर्ष-जैसे विशाल राष्ट्र की आत्मा चिरकाल तक कुचली न जा सकती थी और न इस पर अधिक अत्याचार किया जा सकता था। भारत की सामूहिक जनता की सुप्त भावना जाग्रत् हो जाती है और परिणाम होता है १८५७ का विप्लव। सन् १८५७ ई० की क्रान्ति ने देश की राजनीतिक कायापलट कर दी। यह विप्लव एक नवीन भावना का प्रतीक होकर हमारे सामने आता है। हम असफल हुए, हमारी चेष्टाएँ निष्फल हुईं और हम परतन्त्र के परतन्त्र ही रहे और परतंत्रता की बेड़ियाँ दिन-ब-दिन जकड़ती गईं। एक घटना अवश्य महत्त्वपूर्ण हुई—अब तक की हमारी राष्ट्रीय भावना का आधार भूषण द्वारा प्रचारित 'हिन्दुत्व' था, परन्तु इस विप्लव के बाद हमारी राष्ट्रीय भावना का आधार 'हिन्दुत्व' के स्थान पर 'भारतीयता' हुआ। इसका एकमात्र कारण है—विजेता का संसर्ग। हमारी असफलता के बाद उनकी संस्कृति की छाप भारत पर पड़नी आवश्यक थी और पड़ी भी। अँगरेज़ी-साहित्य के वीरोल्लासपूर्ण काव्यों को पढ़कर एवं वहाँ की स्वतन्त्रमय जीविका और वातावरण को देखकर भारतीयों के हृदयों में एक नवीन भावना का उदय हुआ और पुनः आशा बलवती होने लगी। सैकड़ों वर्ष का गुलाम देश अपने को पहचानता है और विप्लव उपस्थित हो जाता है। हमारे हिन्दी-साहित्य में भी इसी विप्लव के गान सुनाई पड़ते हैं।

हम ऊपर स्पष्ट शब्दों में लिख चुके हैं कि इस काल की जो राष्ट्रीय भावना थी, वह अखिल भारतीय भावनाओं से परिपूर्ण थी। इस समय राजनीति के क्षेत्र में अनेक विप्लव हो गये और शासन एवं सभ्यता का दृष्टिकोण ही दूसरा हो गया। पाश्चात्य शिक्षा (foreign education) का प्रभाव देश में व्यापक रूप से हो गया और जनसाधारण की दृष्टि में राष्ट्र का संगठित स्वरूप उपस्थित हो गया। इस युग के सर्वप्रथम कवि 'भारतेंदु'जी थे, जिन्होंने पहलेपहल हिन्दी में राष्ट्रीयता की ओर संकेत किया। उनकी राष्ट्रीयता का आधार है भारत का अतीत गौरव और वर्तमान पतन। अतीत से आसक्ति और वर्तमान से असन्तोष, ये रोमांटिक कल्पना (romantic imagination) की देन हैं। इस प्रकार हिन्दी-काव्य में पहले रोमांटिसिज़्म के बीज बोने का श्रेय भी भारतेंदु को ही प्राप्त है। उन्होंने कविता के स्वरूप को मोड़कर जीवन की ओर उन्मुख किया। वे युग-पुरुष थे। नवीन युग की आशा और आकांक्षाओं को उन्होंने वाणी दी। इनकी कविता में उद्घोषित है भारतीय आत्मा का विद्रोह और सदियों की सुषुप्ति के पश्चात् आत्म-निर्माण की प्रबल प्रेरणा, जिसमें अँगरेज़ी राज्य की प्रशंसा करते हुए

भी विजेता के देश में धन जाने की एवं कर की निन्दा कड़े शब्दों में की है—

"आवहु ! सब मिलि रोवहु भारत-भाई ।
हा ! हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई ॥
अँगरेज राज सुख-साज सजे सब भारी ।
पै धन विदेश चलि जात इहै अति ख्वारी ॥
ताहू पै महँगी, कालरोग बिस्तारी ।
सबके ऊपर टिक्कस की आफत भारी ॥
हा ! हा ! भारत-दुर्दशा न देखी जाई ।"

उपर्युक्त पंक्तियों में सविनय अवज्ञा, स्वदेशी आंदोलन एवं कर-बंदी की मूल प्रेरणा का स्पष्ट रूप से वर्णन है । भारतेंदु की पुकार में भारत-सुधार की पुकार है । उन्होंने भारत की दयनीय परिस्थितियों का निरूपण करते हुए कहा है—

सबै सुखी जग के नर-नारी,
रे विधना, भारत हि दुखारी ।
भारत-दुर्दशा लखी न जाई ।

इसी प्रकार भारतेंदुजी के हृदय में भारत-नारियों के प्रति सहानुभूति है और वे इन नारियों की इस शोचनीय एवं दयनीय दशा को देखना नहीं चाहते । इन्होंने राष्ट्रीयता को प्रत्येक स्थल में स्थान दिया है । यहाँ तक कि उन्होंने अपने नाटकों में भी इसे स्थान दिया है । 'नीलदेवी' में इनका दृष्टिकोण कुछ संकुचित हो गया है, परन्तु अन्य शेष नाटकों में इनकी राष्ट्रीयता अपना एक विशेष स्थान रखती है । इनके देश-प्रेम के ज्वलन्त दृष्टान्त इनकी भारत-दुर्दशा, भारतदेवी एवं नीलदेवी हैं । 'सत्य-हरिश्चन्द्र' में इनकी राष्ट्रीय भावना इतनी तीव्र हो गई है कि नाटकों के अन्त में भरतवाक्य के रूप में राजा हरिश्चन्द्र के मुख से कहला दिया है—

खल जनन सों सज्जन दुखी मति होइँ हरिपद रति रहै ।
उपधर्म छूटैं सत्व निज भारत गहै कर दुख बहै ॥
—भारतेंदुनाटकावली, पृष्ठ ४६०

अन्तिम पंक्तियों में भारतवर्ष के स्वाधीन होने की ओर संकेत है । परन्तु वे अपने भावों का पूर्ण रूप से प्रतिपादन नहीं कर सके । इसका एकमात्र कारण है— राजभय, राजदंड । 'दिनकर'जी के शब्दों में कह सकते हैं, भारतेंदु भी इसी बात को कहते हैं—

"बँधा तूफ़ान हूँ, चलना मना है,
बँधी उद्दाम निर्झर धार हूँ मैं ।
कहूँ क्या कौन हूँ ? क्या ? आग मेरी ।
बँधी है लेखनी, लाचार हूँ मैं ।"
—हुङ्कार : परिचय

इसी लिए भारतेंदुजी ने राष्ट्रीय भावना का प्रतिपादन करते हुए अपने नाटकों में राजभक्ति प्रदर्शित की है । उदाहरण लीजिए—

भारत—[डरता और काँपता हुआ रोकर]........ हाय ! परमेश्वर वैकुण्ठ में और राजराजेश्वरी सात समुद्र पार ; अब मेरी कौन दशा होगी ?

भारत-भाग्य—अब सोने का समय नहीं है । अँगरेज़ों का राज्य पाकर भी न जगे तो कब जागोगे ? हा भारत, तेरी क्या दशा हो गई ? हे करुणासागर भगवान्, इधर भी दृष्टि कर ! हे भगवती राजेश्वरी, इसका हाथ पकड़ो । —भारत-दुर्दशा

भण्डाचार्य—
हरिपद में रति होइ न दुख कोऊ कहँ व्यापै ।
अँगरेजन को राज ईस इत थिर करि थापै ॥
—विषस्य विषमौषधम्, पृष्ठ ५६३ ।

उपर्युक्त अवतरणों को देखकर हम कह सकते हैं कि भारतेंदुजी के हृदय में राजभक्ति और देशभक्ति का अन्तर्द्वन्द्व अवश्य था । जोश और खौलनेवाली वीरता, जो पानी में आग लगा दे, यौवन के अल्हड़ तूफ़ान भर दे, मुर्दे दिलों में नया जीवन फूँक दे, ऐसी भावना का निरूपण उनकी 'विजयवैजयन्ती' आदि में कर सकते हैं ।

पं० प्रतापनारायण मिश्र की दृष्टि में १८५७ का विप्लव देश के हित के लिए कोई अच्छी बात नहीं थी। उन्होंने ब्रैडला में इस विप्लव की घोर निन्दा करते हुए कहा—

"सन सत्तावन माहिं जबहिं कुछ सेना बिगरी ।
तबै राज दिशि रही सुदृढ़ है परजा सिगरी ॥
दुष्ट समुझि अपने भाइन कहँ साथ न दीन्हों ।
भोजन बिन विद्रोहिन कर दल निष्फल कीन्हों ॥
ठौर ठौर निज घर लुटवाये, अरु फुँकवाये ।
प्राण खोय बहु ब्रिटिशवर्ग के प्राण बचाये ॥"

दूसरी ओर वे भारतेंदु की ही भाँति जनता की निर्धनता एवं दरिद्रता पर क्षोभपूर्ण शब्दों में कहते हैं—

"सर्वस लिये जात अँगरेज
हम केवल लिकचर के तेज ।
× × ×
अपनो काम आपने ही हाथ भल होई ।
परदेशिन परधर्मिन ते आशा नहिं कोई ॥"

यह राष्ट्रीय भावना बहुत वर्षों तक चलती रही। दिन-ब-दिन ब्रिटिश सरकार की नीति के कारण उसके प्रति लोगों का अनुराग कम हो गया। देश में असन्तोष की भावना पूर्ण रूप से व्याप्त होने लगी। ब्रिटिश सरकार ने उस समय नये-नये क़ानून पास किये, जिनसे लोगों का विश्वास ब्रिटिश सरकार के प्रति उठने लगा। स्वदेशी प्रचार और विदेशी मालों के बहिष्कार का आंदोलन विशेष रूप से भारत में चला। इन विशेष परिस्थितियों का सामंजस्य हमारी हिन्दी में भी हुआ, पर विशेष रूप से इसका प्रभाव भारतेंदुकालीन राष्ट्रीय भावना पर पड़ा। गत महायुद्ध के बाद जलियानवाला बागकाण्ड और ख़िलाफ़त के प्रश्न ने देश में एक हलचल पैदा कर दी थी। महात्मा गांधी ने भारतेंदु-क राष्ट्रीय भावना का सदा के लिए अंत कर दिया। उनका सबसे बड़ा अस्त्र है—'अहिंसा परमो धर्मः'। गांधीवाद-युग की राष्ट्रीय भावना का अटल तत्व, आत्म-सम्मान की जागृति, जीवन की सच्ची समस्याओं का हल और विचार सत्य, अहिंसा और सेवातत्त्व है। इसका परिचालन साहित्य के क्षेत्र में गुप्तजी की इस ध्वनि—

"हम कौन थे क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी"

ने किया। इधर हरिऔध देश-सेविका के रूप में अपने 'प्रियप्रवास' की राधा को प्रस्तुत करते हैं। गुप्तजी के 'अनघ' में हम गांधीवाद की सहिष्णुतापूर्ण राष्ट्रीयता का निरूपण पाते हैं। हम यह दावे के साथ कह सकते हैं कि महात्मा गांधी के विचारों की हिन्दी-साहित्य पर गहरी छाप पड़ी है। अब राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण कुछ बदल गया है। इस समय अत्याचारी का शमन प्रेमभाव से किया जाता है। इसका दर्शन गुप्तजी की पंक्तियों में करते हैं—

"पापी का उपकार करो, हाँ पापों का प्रतिकार करो,
× × ×
आग्रह करके सदा सत्य का जहाँ कहीं हो शोध करो,
डरो कभी न प्रकट करने में जो अनुभाव जो बोध करो,
उत्पीड़न अन्याय कहीं हो दृढ़ता सहित विरोध करो,
किन्तु विरोधी पर भी अपने करुणा करो, न क्रोध करो।"

गुप्तजी की 'भारत-भारती' व 'स्वदेश-संगीत' में हम सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक एवं आर्थिक—सभी क्षेत्रों में क्रान्ति का अनुभव करते हैं। 'साकेत' में हमें सत्याग्रह और युद्ध, दोनों ही पक्षों का उद्घाटन मिलता है। एक दिन चिरगाँव ने अपनी पूरी 'भारती' को ही भारत के नाम पर उत्सर्ग करने की आकांक्षा की—

"मानस-भवन में आर्यजन जिसकी उतारें आरती।
भगवान भारतवर्ष में गूँजे हमारी 'भारती'॥"

निःसन्देह, उसकी अभिलाषा पूरी हुई, उसकी भारती गूँजी—समूचे हिन्दी-भारत में। गुप्तजी की 'भारत-भारती' द्वारा राष्ट्र के तरुणहृदयों के सोये हुए भाव जाग्रत् हुए और उनकी 'भारत-भारती' का देश के कोने-कोने में प्रचार हो गया। उसी समय उठा रुदन-क्रन्दन, गूँज गायन नहीं, बल्कि क्रान्ति का उग्र रूप विध्वंस और महानाश के ताण्डव का अट्टहास, जिसमें थी देश के तरुणों के प्रति ललकार, जिसकी टेक थी—बलिदान, बलिदान। बलिदान भी कैसा?—

"बिगुल बज गई, चला सब सैन्य,
धरा भी होने लगी अधीर;
खाइयाँ, खोदीं रिपु ने हाय!
पार हो कैसे सैनिक वीर?
'पूर दें इनको मेरे शूर
शरीरों से'—'दे दिये शरीर'?
इधर यों सेनापति ने कहा,
उधर दब गये सहस्रों वीर!
सफलता पाई अथवा नहीं,
उन्हें क्या ज्ञान, दे चुके प्राण।
विश्व को चाहिए उच्च विचार,
नहीं केवल अपना बलिदान॥"
—माखनलाल चतुर्वेदी

अथवा—

चाहती हो बुझना यदि आज
होम की शिखा बिना सामान।
अभय हो कूद पड़ूँ, जय बोल,
पूर्ण कर लूँ अपना बलिदान॥
—दिनकर : हुङ्कार

सचमुच 'भारतीय आत्मा' की यह आह्वान समूचे भारतवर्ष में गूँजा और देश में भारत-मा की बलिवेदी पर बलिदान का ताँता लग गया। मा की बलिवेदी भी लाल हो उठी। सचमुच उनकी राष्ट्रीयता-वीरता उनकी आत्मा से ऐसी घुल-मिल जाती है कि वे परमेश्वर की आराधना करते हुए कहते हैं—

"उठा दो वे चारों करकंज
देश को लो छिगुनी पर तान।
और मैं करने को चल पड़ूँ
तुम्हारी युगल मूर्ति का ध्यान॥"

ठीक उसी समय छायावादी कवियों ने भी राष्ट्रीयता की ओर ध्यान दिया। पंत ने एक स्थल पर लिखा है—

"नष्ट-भ्रष्ट हो जीर्ण पुरातन,
ध्वंस भ्रंश जग के जड़ बंधन!
पावक पग धर आवे नूतन,
हो पल्लवित नवल मानवपन!"

—पल्लविनी : गा, कोकिल!

कहकर पंत ने प्राचीनता की चिता में नवनिर्माण के अणु दिखलाये हैं और 'निराला' की लेखनी एक ओर कापुरुषता को ललकार कर कहती है—

"जागो फिर एक बार! समर में अमर कर प्राण,
गान गाये महासिन्धु से, सिन्धु-नद-तीर-वासी—
सैन्धव तुरगों पर चतुरंग चमू संग;
सवा-सवा लाख पर एक को चढ़ाऊँगा,
गोविंदसिंह निज नाम जब कहाऊँगा।"

उपर्युक्त पंक्तियों ने हमारी राष्ट्रीय चेतना को सजीव वाणी दी। इन दो छायावादी कवियों के ठीक विपरीत, श्री 'नवीन' ने क्रान्ति का आवाहन किया, परन्तु संयतता को पास आने से दूर रक्खा—

"कवि कुछ ऐसी तान सुनाओ—
जिससे उथल-पुथल मच जाये।
बरसे आग, जलद जल जायें।
भस्मसात भूधर हो जायें॥
नाश, नाश की, महानाश की
प्रलयंकर आँखें खुल जायें॥"

'नवीन' की ओजस्विनी कविता में जो राष्ट्रीयता की गूँज होती है, जो जागरण का गान होता है और जो जीर्ण-शीर्ण पुरातन को भस्म करनेवाली क्रान्तिकारिणी चिनगारियाँ होती हैं, वैसी अन्यत्र नहीं। उदाहरण-स्वरूप 'अनल-गान' की पंक्तियाँ पर्याप्त होंगी—

"अनल गीत सुनने दे, ओ
यौवन के मदमाते वीर-बली।
× × ×
अब उठ, आज जला दे सत्वर,
निज व्यक्तित्व, मोह-ममता।
माँग अनल से भीख कि तुझको
मिले ज्वलित पावक क्षमता।"

श्रीमती सुभद्राकुमारी चौहान ने 'जलियाँवाला बाग़ में वसन्त' शीर्षक कविता में वसन्त को कहा है—

"परिमलहीन पराग दाग़-सा बना पड़ा है,
हा! यह प्यारा बाग़ ख़ून से सना पड़ा है।
आओ, प्रिय ऋतुराज! किन्तु धीरे से आना,
यह है शोक-स्थान यहाँ मत शोर मचाना।
कोमल बालक मरे यहाँ गोली खा-खाकर,
कलियाँ उनके लिए चढ़ाना थोड़ी लाकर।
आशाओं से भरे हृदय भी छिन्न हुए हैं।
अपने प्रिय-परिवार-देश से भिन्न हुए हैं।"

एक दूसरी कविता 'वीरों का कैसा हो वसंत' में कहती हैं—

"भूषण अथवा कवि चन्द नहीं
बिजली भर दे वह छन्द नहीं
है कलम बँधी स्वच्छन्द नहीं
फिर हमें बतावे कौन हंत
वीरों का कैसा हो वसन्त।"

इस प्रकार के राष्ट्रीय पदों में जहाँ देश के प्रति अपार अनुराग परिलक्षित होता है, वहाँ कहीं-कहीं विश्व-बन्धुत्व का भाव भी उपस्थित होता है। इसके पश्चात् 'दिनकर' जी के आगमन ने हिन्दी की राष्ट्रीय काव्यधारा के इतिहास में एक सबसे नवीन एवं प्रमुख परिच्छेद जोड़ दिया है। प्रायः भारत में जितनी क्रान्तियाँ हुई हैं, इस कवि ने उन सबों को काव्य का ओजस्वी रूप दे दिया है। इसके पूर्व किसी भी कवि की दृष्टि इस ओर न थी। 'दिनकर' का कवि सहज ही 'पौरुष का पुंजीभूत ज्वाल' है। 'दिनकर' ने राष्ट्र के अतीत के साथ अन्तर की पीड़ा का संयोग स्थापित करके कविता में एक अपूर्व ओज एवं राष्ट्रीय भावना का संचार किया है। भारत के विगत वैभव का गान और भविष्य के स्वर्ण-बिहान का स्वप्न इनकी कविताओं की निधि है। 'दिनकर' ने गांधीवाद से प्रभावित होकर, ग्रामों की ओर उन्मुख होकर अपने काव्य में एक नया पृष्ठ जोड़ दिया है। इसी प्रेरणा के कारण उन्होंने कविता की है। वे कविताएँ स्वाभाविक और सच्ची हैं और युगधर्म का प्रतिनिधित्व करती हैं। हमारे क्रान्ति-युग का सम्पूर्ण प्रतिनिधित्व, कविता में, इस समय 'दिनकर' कर रहा है—

"सुनूँ क्या सिन्धु! मैं गर्जन तुम्हारा
स्वयं युगधर्म का हुंकार हूँ मैं।"

कवि ने क्रान्ति को निकट ही से देखा है। उस क्रान्ति को वहन करने के लिए कवि युवकदल को उलाहना देता है—

"खेल रहे हिलमिल घाटी में,
कौन शिखर का ध्यान धरे।

ऐसा वीर कहाँ कि शैलरुह
फूलों का मधुपान करे ?"

कभी उन्हें वह चेतावनी भी देता है—

"लेना अनल-किरीट भाल पर ओ आशिक़ होनेवाले,
कालकूट पहले पी लेना सुधा-बीज बोनेवाले ।"

उसके बाद कवि अपना मूलमंत्र देता है, जिसे समाज रक्खे—

"धरकर चरण विजित श्रृंगों पर,
झंडा वहीं उड़ाते हैं,
अपनी ही उँगली पर जो
ख़ंजर की जंग छुड़ाते हैं।
पड़ी समय से होड़, खींच
मत तलवों से काँटे रुककर,
फूँक-फूँककर चल न जवानी
चोटों से बचकर, झुककर ।"

अंतिम बार उन्हें 'जययात्रा' के लिए उत्तेजित करते हुए कहते हैं—

"चल यौवन उद्दाम ; चलचल विना विराम
विजय-मरण दो घाट, समर के बीच कहाँ विश्राम ?"

इस अंतिम बार की चेतावनी से हालावादी 'बच्चन' का स्वर भी बदला । उनके काव्य में प्रगतिशीलता का रंग दिन-ब-दिन गाढ़ा होता जा रहा है—

"यह महान् दृश्य है, चल रहा मनुष्य है—
अश्रु-स्वेद-रक्त से लथपथ, लथपथ, लथपथ ।
अग्निपथ ! अग्निपथ ! अग्निपथ ।"

आदि महान् है । हालावादी कवि का यह विकास अभिनन्दनीय है ।

इसके अतिरिक्त श्रीरामदयाल पांडेय, श्यामनारायण पांडेय, सुमन, अंचल, सुधीन्द्र, सोहनलाल द्विवेदी, शिवदानसिंह चौहान, भगवतीचरण वर्मा, विकट, सुरेंद्र, इसी धारा के कवि हैं । इनका साहित्य उज्ज्वल प्रतीत होता है । एक पंक्ति में कह सकते हैं कि जिस प्रकार की बाधाएँ हमारे राष्ट्रीय भावना के सम्मुख थीं, उसे सरल करने का साधन खोजे, इस प्रकार—

"क्या हार में क्या जीत में, किञ्चित नहीं भयभीत मैं,
संघर्ष-पथ पर जो मिले, यह भी सही, वह भी सही ।"

भविष्य की ओर संकेत

आज राष्ट्रीय भावना का आदर्श न व्यक्तिगत भावना है और न जाति, अपितु देश-भावना है । आज इसके आश्रय-सेवक हैं—अमीर और ग़रीब, दोनों । राष्ट्रीयता की भावना का विकास आधुनिक हिन्दी-काव्य में उत्कृष्ट अवश्य हो गया है, पर अभी उसमें गम्भीरता और संयम की कमी है । राष्ट्र के उत्थान के लिए, राष्ट्र की उन्नति के लिए, राष्ट्र की स्वतन्त्रता के लिए, जो कुछ भी मन में आया उसका कह डालना सुरुचि-पूर्ण नहीं है । आजकल की जो कविता है, उसमें विध्वंस का जोश तो है ; परन्तु उसमें निर्माण की वह क्रियात्मक शक्ति नहीं है, जो विप्लव का मूल है । आज की राष्ट्रीय कविता वर्तमान नीति का विरोध करती है, उसमें उसके व्यक्तित्व से विरोध है । आज की जो कविताएँ हैं, उनमें ऐसी शक्ति नहीं है कि वे अपना कुछ स्थायी प्रभाव छोड़ें । उन कविताओं में सिर्फ़ संसार की राष्ट्रीयता का दृष्टिकोण एवं उसमें विश्व-बन्धुत्व की भावना रहती है । व्यक्तित्व रूप से सारा विश्व हमारा बन्धु है । गांधीवाद राष्ट्रीय भावना की प्रकृत भूमि है । 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना से ही आज यह स्थिति है—

"देखा दुखी एक भी भाई
दुख की छाया पड़ी हृदय पर मेरे,
झट उमड़ वेदना आई ।"

यह एक उत्कृष्ट एवं सर्वश्रेष्ठ राष्ट्रीयता का उच्छ्वास है, जिसमें हिंसा के स्थान पर आत्म-बलिदान, विध्वंस के स्थान पर निर्माण और द्वेष एवं कटुता के स्थान पर प्रगतिशीलता एवं प्रेम-भावना का ही प्राधान्य है । गांधीवाद में प्रतिफलित है युग का अभाव और दारिद्र्य । हमें किसी भी मानव से व्यक्तिगत द्वेष नहीं है । हम उनकी भ्रान्त नीति के, उनकी भूलों के, उनकी ग़लतियों के विरोधी हैं । हमें इसकी चिंता नहीं कि वह अँगरेज़ है या मुसलमान, फ्रेंच है या ईसाई, अमेरिकन है या आफ्रिकन ; वस्तुतः वे हमारे बन्धु हैं, एक ही विराट से उत्पन्न सहोदर ।

इधर जो कविताएँ लिखी जा रही हैं, उनमें 'जय हिन्द' के भाव का पूर्ण रूप से प्रभाव है और जितने भी कलाकार हैं—सबके हृदय में 'जय हिन्द' तीर की भाँति चुभा हुआ है । अतः उसमें भी बन्धुत्व का भाव है । इस प्रकार की भावना को अपने साथ लेकर चलनेवाला राष्ट्रीय काव्य कभी हिंसा का रूप नहीं रख सकेगा और न उसमें कुछ कर्कशता एवं कटुता रहेगी । हिन्दी-काव्य ने आधुनिक काल में इस ऊँचे सर्वव्यापी आदर्श को प्राप्त किया है । आशा है, आधुनिक हिन्दी-काव्य में राष्ट्रीय भावना विकास पाती रहेगी ।

स्वामी रामतीर्थ के प्रति *

श्रीनानकचन्द 'निश्चिन्त' एम्० ए०, साहित्यरत्न

मस्ती की एक नदी निकली !

प्राकृतिक एक यह सरिता थी, फिर बने मार्ग पर क्यों चलती ?
जिस ओर दूसरों का पथ था, उस ओर भला वह क्यों ढलती ?
पग - पग पर अपनी चाल चली,
मस्ती की एक नदी निकली !

रोका चट्टानों ने इसको, तो उनको द्रुतगति से काटा,
रोका गिरि-गर्तों ने इसको, तो उनको श्रम करके पाटा ;
पथ रुका, शिला से तो उछली,
मस्ती की एक नदी निकली !

अविरुद्ध रही जो गति अब तक, भवसागर में अवरुद्ध न हो,
यह सोच कहा इसने मन में, गंगा में मिलकर साथ बहो ;
फिर इस निश्चय पर कटि कस ली,
मस्ती की एक नदी निकली !

ज इसके तट तक आ पहुँचे, उसको इसने मस्ती बाँटी,
यह वस्तु अमूल्य मल्य बिन दी, सबको इतनी सस्ती बाँटी,
वितरण पथ पर शाश्वत फिसली,
मस्ती की एक नदी निकली !

प्रत्यक्ष बात यह है जग में, होती हैं न एकदेशी,
पर इस तटिनी से तृप्त हुए, देशी समान ही परदेशी,
इसमें से सत्य, दया उबला,
मस्ती की एक नदी निकली !

अब भी इसकी पवित्र धारा, हैं साक्षी राम, कि तीर्थ बनी,
सम्पत्ति हमारी ही यह है, यह कहती है सारी अवनी,
सब धर्मों की थी यह अवली,
मस्ती की एक नदी निकली !

---

* यह कविता स्वामी रामतीर्थ के पिछले जन्मोत्सव के अवसर पर, जो स्थानीय रामतीर्थ-प्रकाशन-गृह के तत्वावधान में मनाया गया था, कवि द्वारा पढ़ी गई थी।

पटखे जाने के नुकसान को रोकये ...इस तरह धोइये

1

शायद ही कोई हप्ता ऐसा जाता होगा, जबकि आपके घर का कोई व्यक्ती या आपका कोई मित्र कपडो के अनावश्यक रूप से फट जाने और कभी तो क़ाफी कीमती नुकसान हो जाने की शिकायत न करता हो। और इस का कारन है कपड़ों को साफ़ करने के लिए उन्हें अप्रचलित और विनाशक तरीके से कूटना।

2

3 4

हाँ यदि आपने इस तरीके पर अमल किया जो निम्नाकित चित्रों द्वारा समझाया गया है, और निमिन लीखित हिदायतों काभी भी ठीक-ठीक पालन किया तो आप निस्सन्देह अपने कपड़ों पर बिना कोई क्षति पहुँचाये साफ़-सुथरा रख सकेंगे

(१) जिस कपड़े को धोना हो उसे पहले खूब भिगो लीजिए। यह आप नल के नीचे, टब में, तलाब में कर सकते हैं-इससे कोई फर्क़ नहीं पड़ता।

(२) जब कपड़े को खूब भिगो चुकें तो सारे कपड़ें में सनलाइट साबुन मलें। जो भाग अधिक मैला हो वहाँ सनलाइट जरा ज्यादा मलें।

(३) साबुन लगे हुइ कपड़े को हाथों से धीरे-धीरे गूँथिये। (इसे कूटिये नहीं) तबतक गूँथिये (ठीक उसी तरह जैसे रोटी का आटा गूँथा जाता है) जब तक साबुन की झाग कपडे के हरेक तन्तु में प्रवेश पाजाए। कपड़ें को जोर से रगड़ने की या बुरी तरह कूटने की आवश्यकता ही नहीं है। सनलाइट का "स्वयंकाम करनेवाला" फेन सरलता से सारे मैल को बाहर निकाल देगा-यदि आपको यह विश्वास हो जाये कि गूँथने से यह फेन कपड़े के मैल में घुस चुका है। इस शक्तिशाली फेन में जो साबुन है वह मैल को छूते ही तत्काल फुला देता है। फेन उसे जज़्ब कर लेता है ऐसे जब आप कपड़े को खूब धोएँगे तो फेनके साथ सब मैल निकल जायेगा।

(४) फेन-जिसमें कि अब सारा मैल आचुका है-छुटाने के लिए कपडे को खूब मलकर धो डालिए।

ऐसे सनलाइट के तरीके से धोए हुए कपडे बहुत समय तक चलते है।

सनलाइट साबुन कपड़ों की बचत करता है

S. 75-23 HI

LEVER BROTHERS (INDIA) LIMITED

दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा किधर ?

श्री रविशंकर शुक्ल

लगभग ३० वर्ष हुए, महात्मा गांधी ने एक राष्ट्र-भाषा और एक राष्ट्र-लिपि की आवश्यकता अनुभव की। उन्हें हिन्दी और देवनागरी क्रमशः राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि होने योग्य जँची। वे इस निष्कर्ष पर देश की भाषा-स्थिति पर निष्पक्ष भाव से विचार करके पहुँचे। उस समय आज जैसा साम्प्रदायिकता का दौरदौरा नहीं था। गांधीजी ने दक्षिण को उत्तर से राष्ट्र-भाषा के बन्धन में बाँधने के लिए दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा की स्थापना की। इस सभा का उद्देश्य, जैसा कि इसके नाम से भी प्रकट है, दक्षिण-भारत में राष्ट्र-भाषा हिन्दी और राष्ट्र-लिपि देवनागरी का प्रचार करना था। सभा अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल रही है। अपनी रजत-जयंती के अवसर पर आज दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा अपनी ज़िन्दगी के पिछले २५ वर्षों पर सन्तोषभरी दृष्टि डाल सकती है। अब सभा की ज़िन्दगी का दूसरा दौर—हिन्दुस्तानीवाला दौर—आरम्भ होना चाहता है, अर्थात् सभा अब गांधीजी की राष्ट्र-भाषा की नई परिभाषा के अनुसार दक्षिण में हिन्दी और उर्दू दोनों और देवनागरी और फ़ारसी लिपि दोनों का प्रचार करेगी, और राष्ट्र-भाषा सीखने के इच्छुक प्रत्येक दक्षिण-वासी को हिन्दी उर्दू दोनों और दोनों लिपियाँ सीखनी पड़ेंगी। इस दूसरे दौर का आरम्भ होने के अवसर पर सभा और हिन्दी के हितैषियों के विचार सभा के कार्य-कर्ताओं और संचालकों के सामने रखना अनुचित न होगा।

यह तो स्पष्ट ही है कि गांधीजी ने राष्ट्र-भाषा की अपनी पहली परिभाषा अर्थात् हिन्दी मुसलमानों द्वारा मान्य न होने के कारण ही दूसरी परिभाषा अर्थात् हिन्दुस्तानी की है। परन्तु क्या यह नई परिभाषा मुसलमानों को मान्य है ? उत्तर है—'नहीं'। 'हिन्दुस्तानी' 'हिन्दुस्तानी' केवल हिन्दू रट रहे हैं, हिन्दू ही आपस में हिन्दी और हिन्दुस्तानी के मसले को लेकर वाद-विवाद कर रहे हैं, और हिन्दुस्तानी-प्रचारकों की फ़ौज में सब हिन्दू ही हिन्दू हैं। मुसलमानों को इस हिन्दुस्तानी से भी कोई सरोकार नहीं। हिन्दुस्तानी की धूम हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों में ही सुन पड़ती है। जहाँ-जहाँ मुसलमानों के हाथ में शक्ति है अर्थात् काश्मीर, पंजाब, सिन्ध, सीमा-प्रान्त और हैदराबाद में वहाँ सब शान्त है या यों कहिए वहाँ उन्होंने उर्दू-हिन्दुस्तानी और उर्दू-लिपि को पहले से ही राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि—वास्तविक राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि बना रक्खा है और उनमें उन्हें हिन्दी और देवनागरी जोड़ने की न ज़रूरत है और न वह उन्हें पसन्द है। यह ध्रुव सत्य है कि इन पाकिस्तानी प्रान्तों और रियासतों में राष्ट्र-भाषा के रूप में हिन्दी और देवनागरी को उर्दू और उर्दू-लिपि के समकक्ष स्थान कभी नहीं मिलेगा और न वहाँ उर्दू और उर्दू-लिपि के साथ-साथ हिन्दी और देवनागरी का सीखना सबके लिए अनिवार्य किया जायगा। गांधीजी का हिन्दुस्तानी-प्रचार भी महाराष्ट्र, बिहार, दक्षिण आदि हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों तक ही सीमित है और रहेगा।

ऐसी स्थिति में हिन्दुस्तानी-आन्दोलन का केवल एक ही परिणाम होगा। वह है—असलियत में अर्थात् व्यवहार में केवल उर्दू का राष्ट्र-भाषा और केवल उर्दू-लिपि का राष्ट्र-लिपि हो जाना; क्योंकि जब पाकिस्तान के सब निवासी केवल उर्दू और उर्दू-लिपि और 'हिन्दुस्थान' के सब निवासी हिन्दुस्तानी प्रचार की बदौलत हिन्दी उर्दू दोनों और दोनों लिपियाँ जानते होंगे तो कामन भाषा और कामन लिपि अपने आप उर्दू और उर्दू-लिपि होगी। एक अखिल भारतीय सभा में जो वक्ता सबको अपने विचार समझाना चाहेगा वह अपने आप उर्दू में बोलेगा, और जो लेखक अपनी पुस्तक समस्त भारत के लिए सुलभ करना चाहेगा वह अपने आप उर्दू और उर्दू-लिपि में लिखेगा। एक राजनीतिक आन्दोलन के कारण उर्दू और उर्दू-लिपि का इस देश की राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि हो जाना कितना अस्वाभाविक, अप्राकृतिक एवं अन्यायपूर्ण होगा, यह बतलाने की ज़रूरत नहीं। और उर्दू के राज्य में प्रान्तीय भाषाओं की और भारतीय संस्कृति की क्या दशा होगी यह समझने के लिए आज अँगरेज़ी राज्य के कारण प्रान्तीय भाषाओं और भारतीय संस्कृति पर जो गुज़र

रही है उसे जान लेना काफ़ी होगा । यदि दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा को यही अभीष्ट हो तो वह 'दक्षिण-भारत हिन्दुस्तानी-प्रचार-सभा' (सभा का गांधीजी द्वारा प्रस्तावित नया नाम) बने और हिन्दी के प्रचारक हिन्दी का बाना उतारकर हिन्दुस्तानी का बाना धारण करें और दक्षिणवालों को उन्हीं के रुपये से उर्दू और उर्दू-लिपि सिखायें ।

ताली एक हाथ से नहीं बजती । एकता और मेल दो व्यक्तियों में होता है । जब तक मुसलमानों को एकता अभीष्ट नहीं, तब तक केवल हिन्दुओं के हिन्दी और हिन्दुस्तानीवाले दो दलों का आपस में कोई समझौता कुछ अर्थ नहीं रखता । जब तक उर्दू प्रान्तों की सरकारें उर्दू के स्थान में अपनी दो लिपियों सहित हिन्दुस्तानी को प्रतिष्ठित करने के लिए तैयार नहीं तब तक हिन्दी प्रान्तों में हिन्दी उर्दू के समन्वय का अर्थ है केवल हिन्दी का नाश और उसका उर्दू में परिवर्तित हो जाना, और जब तक मुसलमानों को हिन्दुस्तानी का मूलमंत्र—दोनों शैलियाँ और दोनों लिपियाँ—मान्य नहीं तब तक हिन्दी और हिन्दू प्रान्तों में दोनों शैलियों और दोनों लिपियों के प्रचार का अर्थ है उर्दू और उर्दू-लिपि को 'डी फैक्टो' राष्ट्र-भाषा और राष्ट्र-लिपि बनाना ।

गांधीजी की नई परिभाषा कितनी अव्यावहारिक—विशेषकर इस निरक्षर देश के लिए—और अवैज्ञानिक भी है, इसके विषय में कुछ नहीं कहूँगा । यह कहने की भी ज़रूरत नहीं कि दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा दक्षिणवालों पर हिन्दी और देवनागरी, जो उनके लिए अपेक्षाकृत सुगम हैं, के साथ-साथ उर्दू और उर्दू-लिपि का बोझ डालकर उनके साथ विशेष अन्याय करेगी और उतनी सफलता भी कदापि प्राप्त न कर सकेगी जो उसने गत २५ वर्षों में की है। वह कदाचित् उतनी लोकप्रिय भी न रहेगी । एक बहुत बड़े नेता की बात भी प्रकृति से अधिक देर तक नहीं लड़ सकती । दक्षिण-भारत हिन्दी-प्रचार-सभा अपना कलेवर बदलने से पहले एक बार ठंढे दिल से विचार कर लेती तो अच्छा होता ।

खड़ी बोली

श्रीशारदाप्रसाद,भुशुरिड

सुन्दर
सुन्दरतर
सुन्दरतम
सुन्दरी,
कालेज की कन्या-सी,
पार्क के प्रभात-सी
मोहक महताब-सी
शुभ्र आमलेट-सी
मधुर चाकलेट-सी
कर शृंगार
पाउडर से
क्रीम से
लिपस्टिक हिमानी से
भेंड़ा बनाने को
प्रण के डिगाने को
पंडित सुखबोधलाल के समीप
संग लिये साइकिल
चल पड़ी अकेली
वह पंत की सहेली,
श्रीगुप्तजी की चेली
पहेली-सी फ़ैशन में।
स्वागत में
आदर-समादर में
करके नमस्ते झट
पैंतड़े से बदल चाल
बोले तपाक से
पंडित सुखबोधलाल।
आओ वन्दनीया
पूजनीया
बैठो आसन कुशासन पर।
आपके दर्शन कर
मेरे यों जगे हैं भाग
जैसे कनागत के आने में काग के।
आज्ञा दो देवि तो,
सुनाऊँ मैं,
घनाक्षरी सवैया जु
मैंने लिखे हैं छन्द
गोपी और उद्धव-संवाद में।
खड़ी बोली
हो प्रसन्न
बोली, कैस्ट्राइल-सी वाणी में।
मैं भी हूँ धन्य आज
खाज से विमुक्त हुआ रोगी है जिस प्रकार।
दर्शन कर आपके,
शान्ति मिली
क्लान्ति मिटी
सुनती हूँ यशोगान
आपका
बनकर बैलून सदा उड़ता आसमान में।
कोकिल भी कहती है
डाल-डाल
आप हैं उत्तम कवि सर्वश्रेष्ठ अति उदार
उपयोगी सभापति की पोस्ट के।
बोले सुखबोधलाल
मैं न समझ पाया कुछ
मतलब
अभिप्राय
संकेत अभी आपका।
उसने निवेदन किया
वह दिन स्मरण है।
आये थे आप जब
पास में आचार्य श्रीद्विवेदी के
एक बार
साथ में थैली लिये
मैली-सी टोपी दिये
पहने थे कोट बाबा आदम के वक़्त का।
देखकर
आपको,
आपके स्वरूप को, मुनक्के से रूप को,
मेरा मन मचल पड़ा
अतएव आई हूँ,
देने को अनुपम अमूल्य निधि
जिसको पाने के लिए

देश के नवीन कवि नाक हैं रगड़ते नित्य खड़े द्वार पर।
बार-बार
निराधार माँगते हैं कर पसार।
हे गुणज्ञ,
ज्ञानवान, बुद्धिमान, जनखा जहान के
रूप वह
यौवन वह
वह शबाब
दालदा के टीन-सा
सुन्दर पेन्सलीन-सा
अर्पित-समर्पित है आपको
विना शर्त।
इसको स्वीकार करो
माँग में भरो सिन्दूर
मन का मैल करो दूर।
चौंके
श्रीपंडितजी
बुढ़िया के काते से मेरे हैं श्वेत बाल।
खाल भी शरीर की है भूनी शकरकन्द सी।
मुझको आश्चर्य है
जाने क्यों कैसे सिलेकशन किया
मेरा है आपने।
मैं तो नितान्त दीन,
नवयुग फ़ैशन-विहीन
वयोवृद्ध तपोलीन
कट्टर पुजारी ब्रजभाषा का।
किस प्रकार
लगातार
कर सकूँगा सेवा मैं आपकी।
आपके अरमान की
मुझसे होगा न वहन आपने दिया जो भार।
सुनकर कोरा ज़वाब—उसका दिल बैठ गया।
इस प्रकार
जिस प्रकार कविता न जमने पर कवि की दशा होती है।
चेतनाविहीन हुई
संज्ञा से शून्य हुई
किन्तु
वह
आई जब होश में, जोश में,
फूट पड़ी ज्वालामुखी पर्वत-सी
बकने
बिगड़ने लगी
कहने लगी
श्रीयुत सुखबोधलाल
बनते तपस्वी हो
अडिग हो घंटाघर के समान,
जानती हूँ मैं भी सब।
आप
बड़े हज़रत हैं।
लेकिन अब करिए मत मानभंग
मेरे अनुरोध का
अन्यथा
नहीं तो
एल्स (Else)
गिरोगे मुँह के बल
उठ न सकोगे फिर बीसवीं सदी में
उत्तर मिला
मैं तो अयोग्य हूँ सर्वथा सब प्रकार
जैसे
पुराने माडेल की कार।
ऐसा है दृढ़ विचार ?
आपने किया है अपमान आज नारी का
नारी के दान का
नारी के मान का
अतएव देती हूँ शाप
लगे पाप
होगी न पूँछ कभी कवि-सम्मेलन में आपकी।
नत हो सुखबोधलाल
बोले अति नम्र वचन मक्खन से
आर्ये !
सहर्ष
यह शाप
शिरोधार्य है।

'तंदुल' का सुदामा

पं० चिन्तामणि शुक्ल

'हालो परो शोकन में, लालो परो लोकन में,
चालो परो चकन में चाउर चबात ही'—के

कवि के प्रतिनिधि—श्रीरामाधारजी त्रिपाठी 'जीवन'—अपने 'तंदुल' में अभिनव सुदामा का निर्माण करते हैं नये ढंग से नई कला से। सुदामा का मानव अपने 'तंदुल' पर 'देव' कवि के "जय जग-मंदिर दीपक सुन्दर श्रीव्रजदूलहदेव सुहाई" की आभा से लसित मनमोहन को जन-जन का मनमोहन बना लेता है। उसका स्वार्थ स्वराज की सीमा से बाहर होकर आत्मराज और परमात्मराज में विचरण करता है। 'तंदुल' का सुदामा 'नरोत्तम' कवि के सुदामा की तरह यह नहीं देखना चाहता कि गिरिधर नागर गिरि उठाकर कनीनिका पर केवल व्रजदेश का—राधारानी के नगर का परिरक्षण करें। वह चाहता है हिमालय की गोदी में रजत-रश्मियों का प्रथम उपहार पानेवाला, भारतीय-सागर के जल से विचुम्बित भारत-भूमि पर भगवान् का राज्य—रामराज्य रहे। अपने 'तंदुल' के एक कण पर वह महामारी और अकाल से पीड़ित नर-कंकाल का कल्याण चाहता है। वास्तव में सुदामा जन-नायक है; उसकी विचारशैली ग़रीबों की मशाल-शिखा है। उजड़े घर की आबादी है और है निष्प्राण देश की श्वास जिसे निकाल रही है आज की क़लम।

जीवन जितना सीमित है कला का क्षेत्र उतना ही विस्तृत और विशाल है। इसी लिए कवि की वह कला उसका कौशल माना गया है। जिसमें जितनी सत्यता, सुन्दरता होती है वह उतनी ही ऊँची मानी जाती है। या यों कहिए सौंदर्य को छोड़ कला रह ही नहीं सकती। 'तंदुल' के कवि ने अपनी रचना में कला को प्राकृतिक सौंदर्य के झालर से देखा है। उसने कला के आदर्श को स्थापित रखने के लिए अपने भावों को बहुत ही सीधे एवं सहज चित्रों के रूप में उतारा है। उसने मस्तिष्क से नहीं, हृदय से काम लिया है। भावुक हृदय की भावना जब जीवन के क्षण-क्षण में मिल जाती है, तभी एक तूफ़ान उठता है। उस तूफ़ान में अपनेपन का ध्यान नहीं होता; शब्द भावों के साथ होड़ लगाते हैं। श्री'जीवन'जी की रचना में भी भावों ने होड़ लगाई है और अन्त में मैदान को जीत लिया है। शब्द तो अपने आप सजधज के साथ भावना के पीछे-पीछे चले आये हैं। देखिए, कृष्ण सुदामा के मिलन अवसर पर कवि कितने मार्मिक और सूक्ष्म के पार पहुँचानेवाले शब्दों में कहता है—

"दो-दो दग मिलकर चार हुए,
फिर तो चारो लाचार हुए।
दो दीवानों के भाव वहाँ,
दोनों के दिल के पार हुए।
× × ×
तन्मयता की बेहोशी में,
दोनों-दोनों की ओर बढ़े।
× × ×

आगे—

जाग्रत जीवन का जाप हुआ,
शीतल उर का अनुताप हुआ।
उस रम्य राम वनवासी से,
द्वापर में भरत-मिलाप हुआ।"

सौंदर्य और आत्मा से विशेष सम्बन्ध रहा है—यही कारण है कि कवि की आत्मा सौंदर्य से विशेष प्रभावित हुई है। उसने दूसरे को भी उसी सौंदर्य से प्रभावित करना चाहा है। उसके स्वाभाविक सौंदर्य-चित्रण ने सत्य बनकर हृदय के आनन्द और रहस्य की पूर्णता को छू दिया है। यह रूप कितना स्पष्ट है, जिस समय बेचारी ब्राह्मणी अपने पतिदेव से भगवान् कृष्ण के पास जाने के लिए नम्र निवेदन करती है। दूब पर पड़ी हुई नन्हीं-नन्हीं ओसकणें कितनी संजीवता से हृदय को छू रही हैं—

"दूर्वादल ने कहा—तुझे जाते,
विलोक यदि पाऊँगा।
मृदुल मोतियों की यह माला,
आज यहीं पहनाऊँगा।
× × ×
तरुओं के पत्तों-पत्तों से,
मर्मरमयी पुकार हुई।
जाओ आज ब्राह्मणी जीती,
सखे! तुम्हारी हार हुई।

मानवता की सुकुमार वृत्तियों में करुणा, वेदना ने अपना विशेष स्थान बना लिया है। संसार इसकी प्रधानता मानता है। महाकवि 'शेली' ने कहा ही है—"Our sweetest songs are those that tell of saddest thought". स्वर्गीय 'प्रसाद' ने तो इस पर करुणा-रस-प्रधान 'आँसू' जैसा अमरकाव्य ही लिख मारा है। हमारा कवि भी इससे दूर नहीं है। वह रह ही कैसे सकता है जब कि वर्तमान काव्य इसी से 'गाइड' किया गया है। मेरा तो अनुमान है कि कवि को भी 'मा' के इन्हीं आँसुओं ने 'तन्दुल' जैसे काव्य को रच डालने की प्रेरणा की होगी। देखिए—मा के सामने उसका बच्चा भूख से रोता हुआ आता है, वह निर्धनतावश कुछ दे नहीं पाती है, असमर्थ हो जाती है। आँखों से लगातार आँसू निकल पड़ते हैं। कवि आँसुओं को देखकर मौन नहीं रहता। मोल-तोल करने लग जाता है

"मोल तोल इनका क्या जाने,
यह दुनिया दीवानी।
किन भावों पर बिक सकता है,
इन आँखों का पानी।"

श्री 'जीवन'जी ने दुःख की यथार्थता को भी समझा है। उसकी वास्तविकता की गहराई तक पहुँचने की कोशिश की है। दुःख में सार्थकता है—इसे माना है। जिस प्रकार निराशा में एक प्रकार का संतोष रहता है उसी प्रकार दुःख में एक सुख छिपा रहता है। उसी की एक झलक पर मनुष्य को सान्त्वना मिलती है। इस अवसर के लिए पाश्चात्य कवि 'शेली' कहता है—

"The devotion to something afar from the sphere of our sorrow." दुःख में एक स्थायित्व रहता है। 'तन्दुल' में ऐसे कई स्थल मिलते हैं जहाँ कवि अपने संतोष की सीमा से बोलता है—

"जिसके उर में परम प्रेममय,
शुद्ध शान्ति संतोष रहे।
मिट्टी है उसके आगे,
यदि सब कुबेर का कोष रहे।
× × ×
यह अवश्य है, सुख की मंज़िल
में दुख आवें झेल चलें।
जीवन का यह खेल मनोरम,
हँसी-खुशी से खेल चलें।"

ऊपर की पंक्तियाँ लिखकर कवि यह याद दिलाना चाहता है कि यदि मनुष्य दुखी रहता है तो यह उसकी अपनी भूल है; क्योंकि परमात्मा ने सभी प्राणियों को सुखी और प्रसन्न बनाकर भेजा है। हाँ, भाग्यवादी होकर बैठना वह पसन्द नहीं करता; उसका विश्वास अपने किये कर्त्तव्यों पर है। इसीलिए उसकी तंत्री से यह तीखी और कटु-सत्य आवाज़ उठ रही है—

"भाग्य भाग्य का रोना यह जग,
युगों युगों से रोता है।
जिसमें निज कर्तृत्वशक्ति का,
ह्रास भयंकर होता है।"

ऊँच-नीच से परे होकर कवि साम्यवाद के प्लेटफ़ार्म से जनता के कानों तक यह आवाज़ पहुँचा रहा —

"आदि सृष्टि से प्रकृति गा रही,
जग-जीवन का राग यहाँ।
जो कुछ जग में वर्तमान है,
सब में सबका भाग यहाँ।"

वह मौज की एक बस्ती बसाकर पाठक को होश में लाना चाहता है और बजाना चाहता है आज़ादी का बिगुल, जिसके बीन का एक-एक तार विद्रोह कर रहा है—

"डाल न सकता किसी गले में,
कोई तौक गुलामी का।
यहाँ कहीं भी नाम नहीं है,
दीन दास का स्वामी का।"

इसका 'सुदामा' कविवर नरोत्तम के 'सुदामा' की तरह भीख माँगने की शिक्षा नहीं देता। वह तो सुदामा के मानव को क्रान्ति-दीप पर जलते हुए देखना चाहता है। आरती और अक्षत लेकर राधारमण घनश्याम की खड़ी उपासना नहीं कराना चाहता। धन में आग लगाकर सोने की लंका राख करना चाहता है। अग्निपरीक्षा में बैठी हुई सीता को—अबला सीता को—जलते हुए नहीं देखना चाहता। उसका मन ऐसे 'रामराज' की खोज करता है जो स्वतंत्रता के आदर्श का हिमालय खड़ा कर रहा हो। सेवाग्राम के सन्त—दीवाने 'बापू' की तरह स्वतंत्रता की आँच में तपाना चाहता है। इसका सुदामा साहित्य की ऐतिहासिकता का सूक्ष्म विश्लेषण कर रहा है। वह अपने में ही एक साहित्य दे रहा है, अतः वह साहित्यकार है। इस पहलू से तो 'जीवनजी' 'नरोत्तमजी' से आगे हैं ही फिर भी ज्ञान की गंगा और प्रेम की जमुना के संगम

पर बैठकर पापी एवं दबी हुई आत्मा से कवि क्या कहता है—

"जिसके आँगन में पानी का
सागर असीम लहराये।
बोलो तो, प्रिय वह प्राणी,
क्योंकर प्यासा मर जाये ?"

कवि 'जीवन' मा के नवनीत हृदय से भी काफ़ी परिचित है। उस हृदय को खोलकर रख देने के प्रयास में मानों वह 'तिब्बत' तक पहुँच गया है। एक बार फिर—

"मेरे उर के आगन में जो,
सुख की बुँदियाँ बरसे।
वही लाल मेरा, मुट्ठी भर,
दाने को क्यों तरसे ?"

कवि के ऊपर की इन पंक्तियों में कल्पना की कितनी मीठी और स्वाभाविक उड़ान दिख रही है। उसकी वेदना में कितनी व्यापकता, प्रखरता, छटपटाहट और स्थायित्व है। पुत्रप्रेमम से उसका मन कली के बाहर आते हुए फूल-सा खिल रहा है। सुख-दुःख उसके हृदय का शृंगार है। उसका प्यार स्वर्ग से ढुलकता है—

"फिरता जो मेरी आँखों में,
बन आँखों की पुतली।
ले सकती है मोल विश्व को,
जिनकी बोली तुतली।"

उसकी अपनी धारा है जिसका वह स्व पथप्रदर्शक है। उसके वर्णन से मालूम होता है कि वह शिशुता से विशेष प्रभावित है—

"ठीक उसी अवसर पर उनका
बालक रोता आया।
मानों द्विज की दीन कुटी में,
मोती बोता आया।
× × ×
माता भूख लगी है मुझको
दे कुछ खाना खाऊँ।
अरे ! कहाँ रक्खा है खाना
बता उसे मैं लाऊँ।
दिन के दिन गत हो जाते,
तू मुझे न खाना देती।
अब देती तब देती कहकर
बता बहानी देती।
मेरा चन्दा मामा भी तो—
ख़बर न मेरी लेता।
दूध-भात मैं रोज माँगता,
किन्तु न कुछ वह देता।"

बच्चा भूख से खीझा हुआ आता है और मा के सामने मचल पड़ता है—

"अगर नहीं तो तुझे आज से
माता मैं न कहूँगा।
लाख बुलाये क्यों न किंतु मैं,
तुझसे दूर रहूँगा।"
× × ×
"मैं बिगाड़ता यहीं देख लो !
तेरा दिया दिठौना।
ले आऊँगा कभी न अपनी
दूल्हन अपना गौना।"

कवि की रचना में इस तरह की अनेक पंक्तियाँ हैं जिनमें से कुछ को छोड़ देने का साहस मैं न कर सका। अन्त में श्री'जीवन' का कवि इस सुदामा की कहानी से अमर है। अपने खण्डकाव्य में सीधे और चमत्कारपूर्ण शब्दों में उसे जो प्रवाह मिला है वह उसके सीधे जीवन की छाप और उसका अपना व्यक्तित्व है। युग के साथ चलकर जीवन के हर पहलू को झाँकते हुए उसने यह सिद्ध कर दिया है कि Poetry is at bottom the criticism of life—हम हिन्दी-जगत् में 'तन्दुल' का अभिनन्दन करते हैं और उसके नायक का वन्दन, साथ ही स्वागत करते हैं कवि की स्वर-लहरी के स्पन्दन का, उसके अधरों के स्फुरण का और मानव की वेदना में उसके आत्मचिन्तन का 'जीवन'जी कवि हैं। वह नये साहित्य के कवि हैं और हैं नवीन काव्य के विधायक।
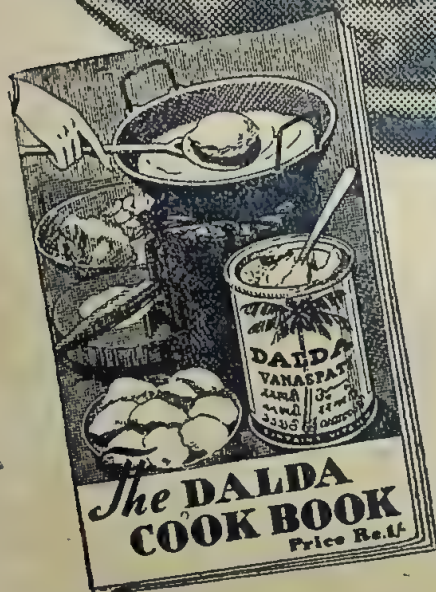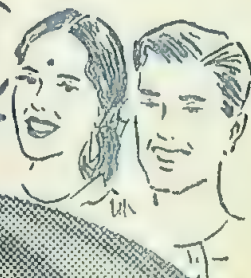
The DALDA COOK BOOK
Price Re.1/-

आप जब अपने परिवारके लिये आहार बनाती हैं तब क्या इस ओर ख्याल रखती हैं? भोजन केवल स्वादिष्ट रहनेसे काम नहीं चलता; उसका शक्तिदायी होना भी आवश्यक है। चंद आहार कई औरोंसे अधिक शक्तिदायी होते हैं तो कई-जो हम हररोज खाते हैं-बिलकूल शक्ति नहीं देते। यह हमारी तन्दुरुस्ती के लिये ठीक नहीं-ना, हानिकारक होनेकी भी संभावना है; खास करके बच्चोंके लिये। लेकिन भोजन अधिक उत्साहदायी बनाना मुश्किल नहीं। एक सरल मार्ग है डाल्डा का इस्तेमाल करना। इसमें प्रकृति के बढ़िया शक्तिदायी तथा जरूरी अन्नांश पाये जाते हैं। इसके अलावा डाल्डा से आहार में जो स्वाद आती है वह दूसरा कोई चीज नहीं ला सकती। आप स्वयं अनुभव कीजियेगा

सबसे बढिया शक्तिदायी चीजें कौनसी हैं इसकी जानकारी हरएक स्त्रीको होनी ही चाहिये। डालडा कुक बुक (अंग्रेजी) में आहार के बारेमें लाभकारी बातें और १५० से अधिक आहारोंका बयान किया गया है। आपके पास इसकी एक कापी होनी ही चाहिये। Dept. A140 P. O. Box No. 353, Bombay के पतेपर चार आने भेजियेगा।

पोषक-तत्त्व संपन्न **डालडा** स्फूर्ति के लिये

HVM. 23-25-49 HI

HINDUSTAN VANASPATI MANUFACTURING CO., LTD

प्राचीन भारत में दंड-व्यवस्था

पं० हरिहरनिवास द्विवेदी, एम्० ए०, एल्०-एल्० बी०

१—दण्ड की आवश्यकता

जब एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को केवल आर्थिक हानि पहुँचाता है तो न्यायालय हानि पहुँचे हुए व्यक्ति की क्षतिपूर्ति हानि करनेवाले व्यक्ति से करा देता है। परन्तु कुछ कार्य ऐसे हैं जिनमें केवल आर्थिक क्षतिपूर्ति करा देना ही पर्याप्त नहीं होता। उदाहरण के लिए यदि कोई व्यक्ति चोरी करता है तो यह तो आवश्यक है ही कि जिसकी चोरी की गई है उसकी क्षतिपूर्ति करा दी जाय, परन्तु समाज की व्यवस्था ठीक रखने के लिए यह भी आवश्यक है कि उस चोर को इस प्रकार का दण्ड दिया जाय कि वह स्वयं तथा अन्य व्यक्ति पुनः चोरी करने का विचार न कर सकें। चोरी करनेवाला व्यक्ति उस व्यक्ति को तो हानि पहुँचाता ही है जिसकी वह चोरी करता है, साथ ही वह समाज या राज्य के विरुद्ध भी अपराधी है। अनेक कार्य ऐसे होते हैं जो किसी व्यक्ति को हानि पहुँचाये बिना भी केवल समाज या राज्य के प्रति अपराध होते हैं। उन कार्यों को न करने देना सामाजिक व्यवस्था के लिए आवश्यक है। इसी विचार से आत्महत्या करने के प्रयत्न को अपराध माना गया है। इसी सिद्धान्त पर प्रत्येक समय समाज में उन कार्यों को अपराध माना गया है जो समाज के प्रति अपराध हैं और उनके लिए दण्ड-व्यवस्था करना भी नितान्त आवश्यक माना जाता है। प्राचीन भारत में यह सिद्धान्त पूर्णतः विकसित हो चुका था। मनु ने कहा है[1] कि नराधिप इष्टधर्म और अनिष्ट-धर्म अर्थात् करने और न करने योग्य कार्यों की जो व्यवस्था कर दे उसका अनादर न करना चाहिए। इस प्रयोजन की सिद्धि के लिए ईश्वर ने सब प्राणियों के रक्षक, ब्रह्म के तेज से युक्त, धर्म के पुत्र के समान दण्ड का सृजन पहले से ही कर दिया है।

१. तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत् ॥
तस्यार्थे सर्वभूतानां गोप्तारं धर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दण्डमसृजत्पूर्वमीश्वरः ॥
मनुस्मृति १२, १४।

प्राचीन स्मृतियों में अपराधियों के लिए दण्ड देते समय समाज-व्यवस्था की रक्षा का विचार ही प्रधान था।

२—दण्ड का उद्देश्य

यह ऊपर लिखा जा चुका है कि स्मृतियों की दृष्टि में दण्ड का प्रधान उद्देश्य समाज-हित है। दण्ड के भय से मनुष्य अधर्म नहीं करता। मनु ने लिखा है[1] कि दण्ड प्रजा का शासन करता है, उनकी रक्षा करता है, दण्ड सोये हुओं को जगाता है, इसलिए विद्वान् लोग दण्ड को धर्म अर्थात् समाज के कल्याण का हेतु मानते हैं।

दण्ड का दूसरा उद्देश्य अपराधी को पापमुक्त करना भी माना गया था। मनु ने कहा है[2] कि कोई भी अपराधी मनुष्य राजा से दण्डित होने पर साधु धर्मात्माओं की तरह पवित्र होकर स्वर्गलोग को जाता है।

दण्ड के विषय में ये उच्चतम भावनाएँ अत्यन्त प्राचीन काल से भारतवर्ष में प्रचलित हैं।

३—दण्ड के प्रकार

याज्ञवल्क्य ने चार प्रकार के दण्ड बतलाएँ हैं।[3] धिग्दण्ड, वाग्दण्ड, धन-दण्ड और वध-दण्ड। यह चारों प्रकार के दण्ड एक साथ अथवा एक-एक करके दिये जा सकते थे। वध-दण्ड में बन्दीकरण से लेकर मृत्यु तक सम्मिलित समझी जाती थी।

आजकल जितने प्रकार के दण्ड दिये जाते हैं वे प्रायः सभी इन चार प्रकारों में आ जाते हैं। आज

१. दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्म्मं विदुर्बुधाः।
मनु० ७, ११

२. राजभिः कृतदण्डास्तु कृत्वा पापानि मानवाः।
निर्मलाः स्वर्गमायान्ति सन्तः सुकृतिनो यथा।
मनु० ८, ३१८

३. धिग्दण्डस्त्वथ वाग्दण्डो धनदण्डो वधस्तथा।
योज्या व्यस्ताः समस्ता वा ह्यपराधवशादिमे ॥
याज्ञ० १,३६७।

भी न्यायालयों को अधिकार है कि अपराध के प्रकार और अपराधी की स्थिति आदि का विचार करते हुए उसे केवल चेतावनी देकर छोड़ दे। इसमें स्मृतिकार का 'धिग्दण्ड' और 'वाग्दण्ड' दोनों आ जाते हैं। आजकल न्यायालय अर्थदण्ड, कारावास, निर्वासन और मृत्यु का दण्ड देते हैं।[1] 'अर्थदण्ड' का बिलकुल मिलता-जुलता रूप स्मृतियों का 'धनदण्ड' है। इसमें सम्पत्ति का राजसात्करण भी सम्मिलित है। कारावास, बेंत मारना और मृत्यु-दण्ड 'वध-दण्ड' में सम्मिलित हैं।

इन दण्डों के प्रकार देखने से यह ज्ञात होता है कि इस दिशा में वर्तमानकालीन दण्ड-विधानकार स्मृतिकारों से अधिक भिन्न नहीं हैं। मृत्यु-दण्ड के विरुद्ध आज जनमत प्रबल हो रहा है, परन्तु फिर भी हमारे दण्ड-संग्रहों में उसे स्थान प्राप्त है। प्राचीन काल में भी जनमत मृत्यु-दण्ड के विरुद्ध था। महाभारत के शान्तिपर्व में मृत्यु-दण्ड के विरुद्ध नीचे लिखे तर्क प्रस्तुत किये गये हैं।

(१) एक दुष्ट व्यक्ति को मारकर राजा बहुत-से निरपराध व्यक्तियों की भी हत्या कर देता है। जैसे एक डाकू का वध होने से कभी-कभी उसकी पत्नी, माता, पिता, पुत्र आदि का भी वध हो जाता है।

(२) कभी-कभी दुष्ट व्यक्तियों का भी आगे चलकर सुधार हो जाया करता है और मृत्यु-दण्ड के पश्चात् इसकी गुंजायश नहीं रहती।

(३) कभी-कभी दुष्ट व्यक्तियों के भी श्रेष्ठ पुत्र उत्पन्न होते हैं और इस प्रकार उनके वध से ऐसे पुत्र उत्पन्न होने की सम्भावना नष्ट हो जाती है।

(४) अन्त में महाभारतकार ने यह तर्क प्रस्तुत किया है कि अपराधी को इस कारण से नष्ट नहीं करना चाहिए कि परम्परागत नियम ऐसा नहीं है।

परन्तु आजकल के समान यह जनमत ही रहा, स्मृतियों में 'वध-दण्ड' स्थान पाता ही रहा।

४—दण्ड की मात्रा

परन्तु जब हम उन सिद्धान्तों पर ध्यान देते हैं जो स्मृतिकारों ने इन दण्डों की मात्रा निश्चित करने के लिए स्थिर किये थे, तब यह बात और भी स्पष्ट हो जाती है। दो सहस्र वर्ष के विकास के पश्चात् भी योरप में उनसे अधिक कुछ निर्धारित नहीं किया जा सका है।

याज्ञवल्क्य ने लिखा है[1] कि अपराध निश्चित हो जाने पर अपराध का प्रकार, देश, काल, बल, अवस्था, कर्म और वित्त देखकर अपराधी को दण्ड देना चाहिए। इस पर टीका करते हुए विज्ञानेश्वर ने लिखा है कि दण्ड देते समय यह भी देख लेना चाहिए कि अपराध पहला है अथवा पुनर्वार किया गया है।

इन सिद्धान्तों के देखने से यह बिलकुल स्पष्ट है कि दण्ड देते समय विवेक का प्रयोग जिन आधारों पर किया जा सकता है, उनका पूर्ण विकसित रूप इनमें है। इन सिद्धान्तों का पूर्ण रूप में पालन करना अनिवार्य था; क्योंकि याज्ञवल्क्य ने कहा है[2] कि जो दण्ड धर्म के अनुसार नहीं दिया जाता, वह राजा के स्वर्ग, कीर्ति और लोक नष्ट कर देता है, परन्तु यदि विधि से दण्ड दिया जाय तो उसको स्वर्ग, कीर्ति और जय की प्राप्ति होती है।

५—सबके लिए दण्ड

कोई व्यक्ति अथवा जाति दण्ड से मुक्त नहीं थी। राजा, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र, सभी अपराध करने पर दण्ड के भागी होते थे।

यह आक्षेप कभी-कभी किया जाता है कि स्मृतिकारों ने ब्राह्मणों के साथ पक्षपात किया है, उनके लिए दण्ड कम रक्खा है। नारद ने ब्राह्मणों को मृत्यु-दण्ड से मुक्त रक्खा है,[3] परन्तु यदि ध्यानपूर्वक देखा जाय तो इसका कारण और ही दिखाई देता है।

ब्राह्मणों के प्रति यह पक्षपात दो प्रकार से दिखाई देता है। एक तो अनेक अपराधों में अन्य जातियों की अपेक्षा ब्राह्मणों के लिए कम दण्ड रक्खा गया है, दूसरे कुछ अपराध यदि ब्राह्मणों के प्रति किये जायँ

---

१. देखिए धारा ५३ भारतीय दण्डविधान।

१. ज्ञात्वापराधं देशं च कालं बलमथापि वा।
वयः कर्म च वित्तं च दण्डं दण्ड्येषु पातयेत्॥
याज्ञवल्क्य १,३६८।

२. अधर्मदण्डनं स्वर्गं कीर्ति लोकांश्च नाशयेत्।
सम्यक् तु दण्डनं राज्ञः स्वर्गकीर्तिजयावहम्॥
याज्ञवल्क्य १,३५७।

३. अविशेषेण सर्वेषामेव दण्डविधिः स्मृतः।
वधादृते ब्राह्मणस्य न वधं ब्राह्मणोऽर्हति॥

तो अपराधी को अधिक दण्ड देने की व्यवस्था है। वाग्पारुष्य[1] अपराध में यदि क्षत्रिय ब्राह्मण के प्रति अपराध करे तो एक सौ पण का दंड देने की व्यवस्था है, वैश्य के लिए डेढ़ सौ अथवा दो सौ एवं शूद्र के लिए 'वधदंड' की व्यवस्था है।

आज भी यह एक सार्वजनिक सिद्धांत है कि अपराधी की स्थिति के कारण भी दण्ड कम हो जाता है। प्राचीन हिन्दू-समाज में ब्राह्मण जाति की श्रेष्ठता सर्वमान्य थी, अतः यदि समाज में किसी जाति की स्थिति के साथ-साथ उसके लिए कम या अधिक दंड की व्यवस्था हो तो कोई आश्चर्य नहीं है। आज भी यह सिद्धान्त है कि एक ही अपराध यदि साधारण व्यक्ति के प्रति किया जाय तो उसके लिए कम दंड नियत है और यदि वही किसी विशिष्ट वर्ग (उदाहरणार्थ सार्वजनिक सेवक) के प्रति किया जाय तो उसके लिए अधिक दण्ड नियत है।

यह दण्डव्यवस्था समाज के हित की दृष्टि से रक्खी गई थी न कि किसी जातिविशेष के साथ पक्षपात करने की दृष्टि से। हमारे इस कथन की पुष्टि एक उदाहरण से होती है। 'स्तेय' के अपराध में यदि शूद्र चोरी करे तो उसे चोरी के माल से आठगुना, वैश्य को सोलहगुना, क्षत्रिय को बत्तीसगुना और ब्राह्मण को चौंसठगुना[2] दंड दिया जाता था। यहाँ ब्राह्मणों को सबसे अधिक दण्ड समाजहित के कारण ही रक्खा गया है। इसी सिद्धान्त के अनुसार स्वयं राजा के लिए अन्य व्यक्तियों की अपेक्षा हज़ारगुना दण्ड रक्खा गया है[3] और याज्ञवल्क्य का यह नियम धर्मशास्त्र की आज्ञा को प्रकट करता है कि[4] धर्म के आदेश से विचलित होने पर राजा को अपने भाई, पुत्र, पुरोहित, श्वसुर और मामा को भी दण्ड देना चाहिए।

६—अपराध के लिए मान्य उत्तर

आज के दण्डविधानों में उन उत्तरों का भी निर्देश होता है जो अपराधी को दंडनीय होने से बचाते हैं। स्मृतिकारों ने भी इस सिद्धान्त को माना है। जो कार्य बुरे अभिप्राय से न किया जाय वह अपराध नहीं है। कौटिल्य के मतानुसार पागल द्वारा किया गया कार्य (प्रवेश) अपराध नहीं था[1]। ऐसा बालक जो भले बुरे में भेद न कर सके, अपने धर्म के दायित्व से मुक्त रहता था। आत्म-रक्षा के लिए किये गये कार्य के लिए भी दंड नहीं दिया जाता था। बृहस्पति ने लिखा है कि गाली देनेवाले को गाली देनेवाला, पीटनेवाले को पीटनेवाला तथा अपराधी को मारनेवाला अपराधी नहीं बनता। इसी प्रकार मनु[2] ने कहा है कि यदि गुरु, बालक, वृद्ध अथवा बहुशास्त्रज्ञ ब्राह्मण भी मार डालने के विचार से आवे तो उसे मार डाले। इसी प्रकार कात्यायन[3] का भी आदेश है कि यदि चारों वेदों में पारंगत ब्राह्मण भी मार डालने के उद्देश्य से आवे तो उसका वध करने पर ब्रह्महत्या नहीं लगती। यह अधिकार स्त्री-रक्षा के लिए तथा अपनी स्त्री, भूमि आदि की रक्षा के लिए भी प्राप्त था।

कुछ विशिष्ट आवश्यकताओं के लिए कुछ वस्तुएँ ले लेने पर चोरी नहीं मानी जाती थी। मनु ने लिखा[5] है कि होम के निमित्त बनैले फल फूल, सूखी लकड़ी तथा गौओं के लिए तृण लेना चोरी नहीं है, एवं यदि मार्ग में जाते समय खाने के लिए कुछ न हो तो गन्ने या दो मूली ले लेने के लिए दण्ड नहीं मिलेगा।

---

१. शतं ब्राह्मणमाक्रम्य क्षत्रियो दण्डमर्हति ।
वैश्योऽध्यर्धशतं द्वे वा शूद्रस्तु वधमर्हति ॥

२. अष्टापाद्यन्तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम् ।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च ॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्ठिः पूर्णं वापि शतं भवेत् ।
मनु ८, ३३७

३. कार्षापणं भवेद्दण्ड्यो यत्रान्यः प्राकृतो जनः ।
तत्र राजा भवेद्दण्ड्यः सहस्रमिति धारणा ॥
मनु ८, ३३६

४. अपि भ्राता सुतोऽर्घ्यो वा श्वशुरो मातुलोपि वा ।
नादण्ड्यो नाम राज्ञोस्ति धर्माद्विचलितः स्वकात् ॥
याज्ञ० ३, ५८

१. मदोन्मत्ताः प्रवृत्तप्रवेशाश्चादण्ड्याः ।

२. आक्रुष्टस्तु समाक्रोशंस्ताडितः प्रतिताडयन् ।
हत्वापराधिनं चैव नापराधी भवेन्नरः ॥

३. गुरुं च बालवृद्धौ वा ब्राह्मणं वा बहुश्रुतम् ।
आततायिनमायांतं हन्यादेवाविचारयन् ॥
मनु० ८, ३५०

४. आततायिनमायांतमपि वेदान्तपारगम् ।
जिघांसंतं जिघांसीयान्न तेन ब्रह्महा भवेत्

५. वानस्पत्यं मूलफलं दार्वग्न्यर्थं तथैव च ।
तृणं च गोभ्यो ग्रासार्थमस्तेयं मनुरब्रवीत् ।
द्विजोऽध्वगः क्षीणवृत्तिर्द्वाविक्षू द्वे च मूलके ।
आददानः परक्षेत्रान्न दण्डं दातुमर्हति ॥ मनु ८, ३४१

७—अपराधों के विषय में अन्य विविध बातें प्रोत्साहन, सहायता, प्रश्रय, अवधि आदि

अपराध करने के लिए प्रोत्साहन देना उसी प्रकार दंडनीय है जैसा कि अपराध करना। स्मृतिकारों ने भी इस सिद्धान्त को माना है। याज्ञवल्क्य[1] के मतानुसार 'साहस' नामक अपराध करनेवाले को दूना धनदण्ड दिया जाता था और धन देने का प्रलोभन देकर अपराध करनेवाले को चौगुना दण्ड दिया जाता था। यह दुगुना और चौगुना दण्ड मूल अपराधी की अपेक्षा है।

कात्यायन के मतानुसार यदि झगड़ा हो जाने में किसी की हत्या हो जाय तो नीचे लिखे सब व्यक्तियों को उस कार्य में भाग लेनेवाला समझा जायगा—

१. जो झगड़ा प्रारम्भ करे।
२. जो सहायता करे।
३. जो मार्गप्रदर्शन करे।
४. जो (अपराधी को) आश्रय दे।
५. जो शस्त्र दे।
६. जो अपराधी को भोजन दे।
७. जिसने उसका विनाश में प्रवर्तन किया हो।
८. जो उपेक्षा करके तमाशा देखता रहे।
९. जो हत व्यक्ति की बुराई करे।
१०. जो अपराधी का अनुमोदन करे और
११. जो शक्ति होते हुए भी अपराधी को रोके नहीं।

इन सबको शक्त्यनुरूप दण्ड मिलता था[2]।

प्रश्रय देनेवाले को दण्ड दिया जाता था, यह ऊपर के उद्धरण से स्पष्ट है। चोरी के मामले में 'नारद' का मत है कि भागे हुए चोर को भोजन देनेवाला, उसे आश्रय देनेवाला तथा शक्ति होते हुए भी उसे भाग

१. यः साहसं कारयति स दाप्यो द्विगुणं दमम्।
यश्चैवमुक्त्वाऽहं दाता कारयेत्स चतुर्गुणम्॥
याज्ञवल्क्य २३१

२. आरंभकृत्सहायश्च तथा मार्गानुदेशकः।
आश्रयशस्त्रदाता च भक्तदाता विकर्मिणाम्॥
युद्धोपदेशकश्चैव तद्विनाशप्रवर्तकः।
उपेक्षाकार्ययुक्तश्च दोषवक्तानुमोदकः॥
अनिषेद्धा क्षमो यः स्यात्सर्वे ते कार्यकारिणः।
यथाशक्त्यनुरूपं तु दंडमेषां प्रकल्पयेत्॥
कात्यायन

जाने देनेवाला उसके दोष का भागी बनता है[1]।

आज अपराधी के विरुद्ध अभियोग चलाने के लिए कोई अवधि नियत नहीं है। प्राचीन समय में भी भारत में यह सिद्धान्त माना जाता था। कौटिल्य ने कहा है 'नास्त्यपकारिणो मोक्षः'[1]।

८—क्षमा

राजा को कुछ दशाओं में अपराधी को क्षमा प्रदान करने की शक्ति थी। परन्तु कुछ अपराध ऐसे थे जिनमें क्षमा नहीं दी जा सकती थी। साथ ही पहले दंड पाये हुए व्यक्ति को भी क्षमा नहीं किया जा सकता था।

९. सन्देह का लाभ (शक का फ़ायदा)

यदि अपराध निश्चयात्मक रूप से सिद्ध न हो तो आजकल अभियुक्त को छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार प्राचीनकाल में भी सन्देह का लाभ अभियुक्त से ही दिया जाता था। आपस्तम्ब ने लिखा है[2] कि संदेह की दशा में दण्ड नहीं देना चाहिए।

१. भक्तावकाशदातारस्तेनान्तं ये प्रसर्पताम्।
शक्ताश्च ये उपेक्षन्ते तेऽपि तद्दोषभागिनः॥ नारद
२. न च सन्देहे दण्डं कुर्यात्।

भारतीय मध्य-युग-काल पर एक दृष्टि

पं० अवनीन्द्रकुमार विद्यालंकार

मुसलमानों के इस देश में आने से भारत के राजनीतिक और सामाजिक जीवन में विक्षोभ, अस्थिरता और परिवर्तन हुए। न केवल इस देश की रक्षा और शासन प्रबन्ध का काम ही विदेशियों के हाथ में चला गया, बल्कि सामाजिक संस्थाओं, धार्मिक क्रियाओं, आर्थिक व्यवहारों, कला और स्थापत्य, विज्ञान और साहित्य तथा अन्यान्य राष्ट्रीय जीवन से संबन्धित अंगों में भी महान् परिवर्तन हो गया।

मुसलमानी विजय ने हिन्दुओं की सैनिक वृत्ति को नष्ट कर दिया। सेना में उन्हें कोई जगह नहीं दी गई। शासकों द्वारा केवल अरबी और फ़ारसी की शिक्षा को उत्तेजन मिली। संस्कृत और प्रान्तीय भाषाओं की शिक्षा की ओर शासकों की सर्वथा उपेक्षावृत्ति रही। ब्राह्मणों का संस्कृत-अभ्यास केवल धार्मिक क्रियाओं को करने के लिए रह गया। राजनीतिक और सैनिक शक्तियों के विकास की स्वतंत्रता न होने के कारण जनता धार्मिक विचारों और भक्ति की ओर प्रवृत्त हुई। यद्यपि सारा भारत मुसलमानों के अधीन नहीं हो गया था तथापि सम्पूर्ण जनता केवल उड़ीसा और विजयनगर को छोड़कर प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से मुसलमानी शासन से प्रभावित हुई।

राजनीतिक अवस्था

(१) यद्यपि मुसलमान शासकों के दिल मुसलमानों के लिए सामाजिक और धार्मिक बातों में ममता और बन्धुता के भावों से ओत-प्रोत थे, तथापि शासन में वे सर्वथा निरंकुश और स्वेच्छाचारी थे। भारत के विस्तृत साम्राज्य की विशालता और प्रजा के असहयोग और विरोध के कारण उनका सर्वथा अपनी सैनिक शक्ति पर अवलम्बित रहना पड़ा।

बादशाह की ज़रा सा निर्बलता शासन के सारे ढाँचे को शिथिल बना देने के लिए पर्याप्त थी। वे इस बात की कोशिश करते रहे कि हिन्दू-राज्य सिर न उठाने पायें। वे उनको शक्ति भर ख़ाक में मिलाने का प्रयत्न करते रहे। द्वाबे और मेवात के विद्रोहों को क्रूरतापूर्वक दबाया। अरावली की दुर्गम घाटियों की क़िलेबन्दी से सुरक्षित रहने के कारण ही मेवाड़ और अन्य राजपूत राज्य या सुदूर दक्षिण के विजयनगर और तैलंगाना अपनी खोई स्वतन्त्रता प्राप्त करने या स्वतन्त्रता बनाये रखने में समर्थ हुए। इसके अतिरिक्त उनकी सेना में भिन्न-भिन्न मुसलमानी देशों के साहसी सिपाही भरे हुए थे, जिनके पास लूटमार के सिवा और कोई उद्योग नहीं था।

(२) हिन्दू प्रजा को सेना और शासन-प्रबन्ध में न लेकर इनकी सैनिक वृत्ति और क्षात्रत्व को नष्ट करने का उन्होंने उद्योग किया। इसका फल यह हुआ कि दिल्ली के सिंहासन पर एक के बाद एक भिन्न-भिन्न जाति और वंश के मुसलमान शासक यहाँ आये, पर हिन्दुओं की ओर से दिल्ली का तख़्त प्राप्त करने के लिए कभी कोई जातीय और सम्मिलित प्रयत्न नहीं किया गया। किसी हिन्दू का इस काल में दिल्ली में राज्याभिषेक नहीं हुआ। इसका केवल एक अपवाद बंगाल में मिलता है जहाँ कंस नामक एक हिन्दू बंगाल के राज्य का स्वामी हुआ।

(३) हिन्दुओं के सामने दो मार्ग थे, या तो वे इस्लाम को स्वीकार कर लें या 'जिम्मी' की स्थिति में रहकर जजिया कर दें। इस प्रकार नागरिकता के प्रारम्भिक अधिकारों से वे वंचित रक्खे गये।

(४) उनका अपनी सम्पत्ति पर पूर्ण अधिकार और नियन्त्रण नहीं था।

(५) उनकी जान और इज़्ज़त हमेशा ख़तरे में रहती थी।

(६) उनको अपनी अन्तरात्मा की स्वतन्त्रता भी प्राप्त नहीं थी।

(७) मुसलमान और हिन्दू के बीच झगड़ा होने पर उन्हें न्याय भी नहीं मिलता था।

(८) उनका जीवन एक अर्द्धदास का जीवन था और उसका एकमात्र उद्देश्य केवल यही था कि काज़ी इस्लामी क़ानून की जिस तरह व्याख्या करे उसको उसी तरह मानकर अपने जीवन को बितावें और उसी में अपने को ख़ुश रक्खें।

वे निरंकुश होने तथा असीम अधिकार मिलने से स्वच्छन्द, विलासी और व्यसनी हो गये। सदाचार, सद्व्यवहार और औचित्य तक से घृणा करने लगे। इससे प्रजा के सदाचार पर आघात हुआ।

साम्राज्य कई प्रान्तों में बँटा हुआ था। हर एक प्रान्त का एक सैनिक अधिकारी सूबेदार होता था। उसको कर वसूल करने, सेना रखने, प्रान्त की रक्षा और मुल्की इन्तज़ाम करने के अधिकार प्राप्त थे। किसी-किसी प्रान्त में सूबेदारी वंश-परम्परा से चली आती थी। सूबेदार हिन्दू ज़मींदारों की सहायता से कर वसूल करता था। गाँव की आन्तरिक व्यवस्था में उस समय तक हस्तक्षेप नहीं किया जाता था, जब तक वे लोग अपने मालिक के कर वसूल करनेवालों की माँग को पूरा करते जाते थे। पर करों का बोझ इतना अधिक था और कर वसूल करनेवाले इतने कठोर थे कि जनता के सामाजिक और राष्ट्रीय समस्याओं पर विचार करने का अवकाश ही नहीं मिलता था। इस प्रकार अधिकार और शक्ति से विहीन होकर जनता केवल हरवाला और दासवृत्ति करनेवाली हो गई। वह केवल शासकों की इच्छा पूर्ण करनेवाली रह गई।

राजपूती शासनपद्धति

राजपूताने में हिन्दुओं का स्वराज्य होने से उन्हें बहुत से अधिकार प्राप्त थे। वे मुल्की, दीवानी और सैनिक सब प्रकार के पदों को पाते थे। राज्य पर आक्रमण होने के समय राज्य को उनकी सहानुभूति और उनके सहयोग पर निर्भर रहना पड़ता था। पर ये राजा भी स्वेच्छाचारी थे। वहाँ का शासन सामन्त-पद्धति (Feudalism) पर चलता था।

राजा के नीचे सामन्तों की एक शृंखला-सी थी जो अवसर पड़ने पर सैनिक सेवा करते थे और इसके बदले में ज़मीन और राजनीतिक तथा राज्यसम्बन्धी अधिकारों का उपभोग करते थे। बड़े सामन्त छोटे सामन्तों से भाईचारे का व्यवहार करते थे। वे अपने-अपने सरदारों के दरबारों की शोभा बढ़ाते थे। वह जहाँ जाता था वहाँ वे भी उसके साथ जाते थे। राजपूताने के राज्यों में राजा को क़ानून बनाने में सहायता देने के लिए एक कौंसिल होती थी जिसमें सैनिक सरदार शामिल नहीं होते थे। आवश्यक समस्याओं पर सरदारों की एक कौंसिल बुलाई जाती थी। प्रायः यह समिति चार मन्त्रियों और उनके सहायकों की होती थी। जिन बातों के लिए इस मन्त्रीसमिति के बनाये क़ानून नहीं होते थे, वहाँ ग्राम्य-पंचायतें नियम बनाती थीं। हर एक ज़िले में एक शासक रहता था जो न्यायदान का भी काम करता था। सीमाप्रान्त की चौकियों व थानों पर एक विशेष अधिकारी नियुक्त किया जाता था जो चुंगी वसूल करता। वह चबूतरे पर बैठकर चौकियों-जूरियों-पंचों समेत की सहायता से न्यायदान करता था। ये लोग जनता द्वारा चुने जाते थे। जब तक वे निष्पक्षपात रहकर काम करते थे, तब तक अपने पद पर बने रहते थे। नगरों में नगरसेठ, चीफ़ मजिस्ट्रेट इन्हीं पंचों, चौकियों की सहायता से न्यायदान करते थे। ग्रामों में ग्राम-पंचायतें प्रबन्ध और न्यायदान का काम करती थीं। ग्राम पंचायत में सब जातियों के प्रतिष्ठित व्यक्ति रहते थे। जब कभी देश पर कोई शत्रु आक्रमण करता था तब वह राजा अपने सरदारों की सभा बुलाता था, और सरदार अपने सामन्तों की। इस तरह आपत्ति के समय सारा राज्य उस मामले पर विचार करता था। निस्सन्देह नीच श्रेणी की जातियाँ इस अधिकार से वंचित थीं।

सामाजिक परिवर्तन

भारत में मुसलमानों के आगमन से भारतीय समाज का रूप एकदम बदल गया। इससे पहले सारे देश में एक ही सभ्यता और एक ही संस्कृति थी। हिन्दू, बौद्ध, जैन, शैव और वैष्णव तथा अन्यान्य मतों के होते हुए भी इस देश के निवासियों के सांस्कृतिक जीवन में कोई विशेष भिन्नता नहीं थी। सब-के-सब एक शाला में पढ़ते थे। एक ही भाषा बोलते थे। एक ही पोशाक पहनते थे। सबका चालचलन एक ही तरह का था। पर मुसलमानों की सभ्यता एकदम निराली थी। वे जात-पाँत और मुक्ति को नहीं मानते थे। वे गोमांस भक्षण करते थे। उनके दिल में गौ के लिए कोई श्रद्धा नहीं थी। वे मांसाहारी थे। विवाह के सम्बन्ध में वे कोई जातीय बन्धन नहीं मानते थे। उनमें विधवा-विवाह की प्रथा प्रचलित थी। वे हिन्दुओं को मुसलमान बनाने का पूरा प्रयत्न करते थे। एक बार धर्मपरिवर्तन कर लेने के बाद फिर कोई दुबारा हिन्दू नहीं हो सकता था।

हिन्दुओं की इस संकीर्ण प्रवृत्ति ने नई समस्याओं को जन्म दिया। वे विद्रोहियों को पचाने में समर्थ नहीं हुए, अतः उन्होंने सामाजिक बन्धनों को अधिकाधिक कठोर कर दिया। इससे सामाजिक व्यवस्था सर्वथा भंगुर हो गई। बौद्ध मारे गये या वे भारत छोड़ गये। उनमें से कुछ ने नैपाल और पड़ोस

के देशों में शरण ली। एक समय जिनकी धार्मिक संस्कृति की पताका नाइल से ब्रह्मपुत्र तक फहराती थी, उनको इस्लाम ने उनकी जन्मभूमि से भी बाहर निकाल दिया। बौद्ध-मठ और विहार या तो भूमिसात् कर दिये गये या मस्जिदों में परिणत हो गये। संस्कृत और प्रान्तीय भाषाओं की शिक्षा की जगह अरबी और फ़ारसी की शिक्षा होने लगी। इससे बौद्धिक जड़ता उत्पन्न हो गई। ब्राह्मणों का प्रभुत्व शिक्षा, राजनीति, शासन, न्याय आदि विभागों से उठ गया। पर जाति का सामाजिक, धार्मिक नियन्त्रण उन्हीं के हाथ में रहा। हाँ, राजपूत राज्यों—विजयनगर, तैलंगाना और उड़ीसा—में उनका प्रभुत्व पहले के समान क़ायम रहा, फलतः मुसलमानी राज्यों में क्षत्रिय और राजपूत हल हाथ में लेने को लाचार हुए और कुछ समुद्रपार चले गये।

राजनीतिक शक्ति के अभाव से और अर्द्धदास की अवस्था में पहुँचाये जाने के कारण हिन्दुओं की नैतिकता और सदाचार की रीढ़ की हड्डी टूट गई। मुसलमानों के समान वे भी विलासी, व्यसनी और दुराचारी हो गये। मुसलमानों की बुरी आदतें उन्होंने भी सीख लीं। शहर सदाचारहीन स्त्री-पुरुषों के केन्द्र हो गये। सारे देश में वेश्याओं पर कर लगाया जाता था। विजयनगर राज्य में १२००० फनाम स्त्रियों से वसूल होता था, जिससे पुलिस का ख़र्चा चलता था। बहु-विवाह प्रचुर मात्रा में प्रचलित हो गया। निकोलो कोन्टी ने विजयनगर के बारे में लिखा है—इस राज्य के निवासी जितनी स्त्रियों से चाहते हैं उतनी ही से विवाह करते हैं, जो कि पति के मरने पर सती हो जाती हैं। इनका राजा भारत के अन्य सब राजाओं की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है। इसके १२००० स्त्रियाँ हैं। इनमें से ४००० जहाँ राजा जाता है वहाँ उसके साथ पैदल जाती हैं और पाकशाला का प्रबन्ध उनके जिम्मे है। इतनी ही संख्या में इनका एक दूसरा दल अधिक सुन्दर वेश में घोड़े पर जाता है। शेष पालकियों में जाती हैं। इनमें से २-३ हज़ार इस शर्त पर रानी बनाई गई हैं कि राजा के मरने पर वे स्वेच्छा से सती हो जायँगी और यह उनके लिए एक बड़ा सम्मान समझा जाता है।

इसी तरह बहमनी सुलतान फ़िरोज़शाह के हरम में प्रतिदिन ८०० स्त्रियाँ आती थीं और उसने मुताह (एक निश्चित अवधि तक का विवाह) के तरीक़े से सैकड़ों स्त्रियों से शादी की थी। सामन्त और सरदार लोग राजा और सुलतानों का पदानुसरण करते थे। राजपूतों में किसी क़दर बहु-विवाह प्रचलित था, पर उनमें एक पत्नीव्रत ही अधिक था। इनमें स्त्रियों का बहुत आदर और सम्मान था। सती की रक्षा करने में आत्मोत्सर्ग करने के लिए वे हमेशा तैयार रहते थे। राजपूतनियाँ भी पतिव्रताएँ, पर वीरांगना और अपने संकल्प की पक्की होती थीं। राजपूत बच्चे मा की गोद में लोरियों में वीरता के गीत सुनते थे। ढाल उनके लिए पलना था और तलवार खिलौना। मालावार में बहुविवाह प्रचलित था। हिन्दुओं में विधवा-विवाह पाप समझा जाता था।

मुसलमान शासकों ने अपनी स्त्रियों को परदे में रखने पर ज़ोर दिया। कालान्तर में हिन्दुओं ने भी उनका अनुकरण किया। राजपूतों में स्त्रियाँ समाज में आप नहीं आती थीं, पर अपने पतियों को चुनने की उन्हें बहुत स्वतन्त्रता प्राप्त थी। विजयनगर में स्त्रियाँ काम करती थीं, वे अन्तःपुर और अर्थ-विभाग का हिसाब रखती थीं। वहाँ स्त्रियाँ क्लर्क होती थीं, जो बाहर के हिसाब का अन्दर के हिसाब से मुक़ाबला करती थीं। मुसलमान राजाओं ने स्त्रियों के बौद्धिक और सामाजिक सहयोग की शोभा को खो दिया। स्त्रियाँ पतित और भ्रष्ट होने की अपेक्षा मृत्यु को अधिक पसन्द करती थीं, इसलिए इस काल में सतीप्रथा ज़ोरों से चली। राजपूत लोग छोटी बच्चियों को शादी न होने के कारण मार डालते थे। इनमें एक यह प्रथा जारी थी कि जब क़िले या शहर की रक्षा का कोई प्रबन्ध न बन पड़ता था तब राजपूतनियाँ जौहर व्रत करती थीं, क्योंकि आक्रान्त लोगों की स्त्रियों पर सदा नज़र रहती थी।

आर्थिक व्यवस्था

भारत स्वर्णभूमि प्रसिद्ध है। इसके धन के आकर्षण से ही आक्रान्ता इस देश में आये। मुसलमानों के आने से पहले खेती, व्यवसाय, उद्योग-धन्धा और व्यापार बिना बाधा के चलते थे। भक्तों द्वारा देवताओं पर चढ़ाई गई भेंट मन्दिरों में चिरकाल से संचित थी, जो कि आक्रान्ता लूटकर यहाँ से ले गये। पहलेपहल मुसलमान शासकों ने जनता के पेशों और धन्धों में हस्तक्षेप नहीं किया। पर बाद के शासकों के लगाये नियमों ने जनता के जीवन को नष्ट कर दिया। करों के

बोझ से प्रजा पीड़ित और दबी हुई थी। उत्पत्ति का ५० प्रतिशत कर लिया जाता था। इसके अतिरिक्त अन्यान्य कर अलग थे। बर्नी ने लिखा है कि खुद चौधरी और मुकद्दिम सर्वथा ग़रीब हो गये हैं। फ़िरोज़शाह और विजयनगर के राजाओं ने नहरों के बनवाने की तरफ़ ध्यान दिया। कुटी शिल्प को प्रायः बादशाह प्रोत्साहन देते थे। मुहम्मद तुग़लक ने ४०० रेशमी कपड़ा बुननेवाले और ५०० सोने के तार बनानेवाले राजकीय कारख़ानों में नियुक्त किये थे। विदेशी व्यापार का प्रधान स्थल गुजरात था, जिसमें भड़ोंच और काम्बे मुख्य केन्द्र थे। मालाबार भी विदेशी व्यापार के लिए प्रसिद्ध था। विदेश जानेवाली चीज़ों में सूती माल, नील, चमड़े की बनी नीली लाल चटाइयाँ और अन्य सामान होता था। बङ्गाल में समुद्रीय व्यापार के लिए बड़े सुन्दर जहाज़ बनते थे। चावल की फ़सल साल में दो बार होती थी। इसके अतिरिक्त गेहूँ, मकई, तिल, जौ इत्यादि सब प्रकार के अन्न उत्पन्न होते थे। यहाँ के कारीगर पाँच-छः तरह के सूती कपड़े, रेशमी रूमाल, जरीदार टोपियाँ, चाकू, क़ैंची आदि चीज़ें तैयार करते थे। नदियों या स्थल मार्ग से व्यापार होता था। वाहुतकी (Transportation) के मुख्य साधन नाव, गाड़ी, घोड़ा, ख़च्चर और ऊँट थे। उस समय सोने और चाँदी के टंक और ताँबे के जीतल मुद्रा थे। छोटे-मोटे भुगतान के लिए कौड़ियाँ और शंख भी काम में आते थे। मुहम्मद तुग़लक ने काग़ज़ी मुद्रा चलाने का प्रयत्न किया था, पर सफल न हुआ। उत्तर की अपेक्षा दक्षिण में सोना अधिक व्यवहृत होता था। तैमूर के आक्रमण के बाद देश की अवस्था एकदम बिगड़ गई।

शिक्षा और साहित्य

मुसलमान शासकों ने फ़ारसी और अरबी की शिक्षा को उत्तेजना दी। फ़ारसी के ग्रन्थकारों का सम्मान किया। दरबार और अदालत में फ़ारसी का राज्य स्थापित हुआ। संस्कृत और भारतीय भाषाओं की बहुत उपेक्षा की गई। अमीर खुसरो के सिवा अन्य मुसलमान शासकों और अमीरों के दिल में हिन्दुओं की पुस्तकों के लिए घृणा के भाव थे। इसके विपरीत हिन्दुओं ने फ़ारसी और अरबी पढ़ी और अपनी भाषा को समृद्ध किया।

शासकों की उपेक्षा और घृणा के होते हुए भी हिन्दू दिमाग़ निष्क्रिय नहीं था। यह सत्य है कि इस काल में भास्कराचार्य के ज्योतिष ग्रन्थ के सिवा टीका और नियामक ग्रन्थों के अतिरिक्त रचनात्मक कुछ नहीं लिखा गया। नाटक-साहित्य पर मुसलमानी शासन का बहुत बुरा असर हुआ। इस काल में इसकी प्रगति सर्वथा रुक गई। १३ वीं और १५ वीं सदी के बीच में मिथिला न्याय और स्मृति का केन्द्र थी। रघुनन्दन ने १५ वीं सदी में बंगाल के नियमों में सुधार किया। १४ वीं सदी में कर्नाटक संस्कृत का प्रसिद्ध केन्द्र था। व्याकरण, अलंकार, छन्द आदि विषयों पर इस समय में ग्रन्थ लिखे गये। सायणाचार्य ने १४ वीं सदी में अपना पसिद्ध वेदों का भाष्य लिखा। मध्वाचार्य ने केवल वेदान्त पर तीन पुस्तकें लिखीं। निम्बार्क ने प्रसिद्ध ग्रन्थ 'वेदान्त-पारिजात सौरभ' इसी समय लिखा। इस काल में वेदान्त और वैष्णव धर्म पर बहुत-सी पुस्तकें लिखी गईं। प्रान्तीय भाषाओं के साहित्य का विकास इसी काल में प्रारम्भ हुआ। चन्दबरदाई का "पृथ्वीराजरासो" इसी समय प्रसिद्ध हुआ। जगनायक ने आल्हखण्ड और शारंगधर ने हमीररासो और हमीरकाव्य लिखकर हिन्दी का गौरव बढ़ाया। नामदेव, रामानन्द, कबीर और नानक ने भक्ति की धारा से सारे देश को आप्लावित कर दिया। नामदेव की अधिक रचनाएँ हिन्दी की अपेक्षा मराठी में हैं। रामानन्द के कुछ पद आदि-ग्रन्थ में मिलते हैं। नानक ने पंजाबी और हिन्दी मिश्रित भाषा में अपनी रचनाएँ लिखीं। दक्षिण में तामिल, तेलगु और कन्नड़ भाषाओं का साहित्य समृद्ध हुआ। विजयनगर के राजाओं ने तेलगु को आश्रय दिया। इनमें से कई राजा प्रसिद्ध साहित्यसेवी हुए। बंगाल के मुसलमान शासकों ने भिन्न नीति का आश्रय लिया। वहीं उनकी प्रेरणा से ही कृत्तिवास और मालाधर ने महाभारत, रामायण और भागवत का बँगला में अनुवाद किया। इससे पहले हिन्दू लोग अपनी भाषा की ओर ध्यान न देते थे। ब्राह्मण तो संस्कृत के सिवा और कुछ सीखते ही न थे। पदावलियाँ इसी समय लिखी गईं, जिनमें १४ वीं सदी के अन्त में चण्डीदास ने कमाल हासिल किया। विद्यापति ने अपना ललित और मधुर गीतिपद मैथिली में लिखे। चैतन्यदेव ने सारे बंगाल को भक्तिरस में मग्न कर दिया। इसी समय एक तरह का

ऐतिहासिक साहित्य कुलजी के रूप में निर्मित होने लगा।

संगीत

ललित कला और स्थापत्य के विकास में हिन्दू और मुस्लिम दिमाग़ों का अनुपम संयोग हुआ। मुसलमानों के आने से पहले हिन्दुओं ने संगीत में बहुत उन्नति की थी। मिश्रण से वर्तमान काल के नये संगीत का उदय हुआ। महमूद ग़ज़नी ने इसके विकास में मदद की। दक्षिण के हिन्दू राजा मुसलमान गवैयों का आदर करते थे। इल्तीतुमश और अलाउद्दीन ख़िलजी गवैयों को अपने दरबार में रखते और उनको संरक्षण देते थे। दिल्ली संगीत और गवैयों का केन्द्र बनी हुई थी। नानक और चैतन्य के धार्मिक गीतों को हिन्दू और मुसलमान समान भाव से और चाव से गाते थे। कबीर दोनों जातियों में लोकप्रिय थे। अमीर ख़ुसरो ने इसी समय सितार का आविष्कार किया।

स्थापत्य

भारत के जिन प्रदेशों में मुस्लिम तलवार पहुँची वहाँ एक भी प्राचीन काल का बना मन्दिर दृष्टिगोचर नहीं होता। सम्पूर्ण भारत के मन्दिरों के जोड़ से भी अधिक मन्दिर आज उड़ीसा में पाये जाते हैं। महाराष्ट्र, गुजरात, राजपूताना और नर्मदा की घाटी में जितने मन्दिर नज़र आते हैं, उतने ठेठ आर्यावर्त में नहीं दीखते। यह सच है कि मुसलमानों ने मुल्तान, थानेसर, सोमनाथ, कन्नौज, काँगड़ा, मथुरा, प्रयाग, बनारस के पुराने मन्दिरों को गिरा दिया या उन पर मुसलमान शासकों ने इस देश में नये शहर बसाये; क़िले और महल बनवाये; मस्जिद, मीनार, विजयस्तम्भ खड़े किये; पुल और नहरें बनाईं। सारसेनिक इस्लामी कला का भारतीय कला पर कितना और क्या प्रभाव पड़ा, इसमें विद्वानों का मतभेद है। हावेल साहब का कहना है कि मुसलमानों ने हिन्दू-कला को अपना लिया। केवल फ़र्श और दीवारों को सजाने में मुसलमानी पद्धति को हिन्दुओं ने अपनाया। इसके विपरीत फ़र्गुसन साहब का कहना है कि उनकी कला की अपनी पद्धति थी, जिसके विपरीत वे नहीं जा सकते थे। पर यह तो सत्य है कि मुसलमान भारत के जिस प्रान्त में गये वहाँ उन्होंने उसी प्रान्त की कला को अपना लिया और उसी के आधार पर अपनी मस्जिदें और इमारतें खड़ी कीं। इसके साथ-साथ हिन्दू कारीगरों ने भी अपने शासकों की रुचि और आवश्यकता को समझ लिया और उसी आवश्यकता के अनुसार अपनी कला को उन्होंने मोड़ लिया। यही कारण है कि कुतुबमीनार मांडू के विजयस्तम्भ के मुक़ाबले देखने में अधिक विदेशी मालूम होती है। कुतुबमीनार फ़र्गुसन साहब की दृष्टि में संसार की इस तरह की कल्पना में अनुपम है। जौनपुर, गौड़, अहमदाबाद, मांडू और गुलबर्गा आदि प्रान्तीय राजधानियों में इस काल में बहुत सुन्दर महलों, मस्जिदों, समाधियों और भवनों का निर्माण हुआ जो हिन्दुओं के शीघ्र विषय-ग्राहकता और कला अपनाने के साक्षी हैं।

जौनपुर की अटाला और जामा मस्जिद १५ वीं सदी में बनीं। इनको देखकर बौद्ध विहारों की भ्रान्ति होता है। अहमदाबाद में इस काल में बनी इमारतों पर जैन-कला का प्रभाव प्रत्यक्ष लक्षित होता है। गुजरात की उन्नत सभ्यता और कला ने विजेताओं को मुग्ध ही नहीं, उन्हें जीत भी लिया। मालवे में इस काल में बने भवनों पर इस्लामी प्रभाव अधिक दीखता है। इनमें मेहराब का ज़्यादा प्रयोग किया गया है। इस प्रदेश की इमारतों में लाल पत्थर का बहुत उपयोग किया गया है। "जहाज़ महल" इस समय की प्रसिद्ध इमारत है। मांडू की प्राकृतिक स्थिति ने यहाँ के भवनों का सौन्दर्य बढ़ा दिया है। बंगाल की राजधानी गौड़ में इस काल में बनी इमारतों में ईंट का उपयोग अधिकता से किया गया है। स्तम्भों और सजावट के लिए काले संगमरमर का भी उपयोग किया गया है। गौड़ का वैभव आज भग्नावस्था में बिखरा पड़ा है। उसमें भी "क़दम-ए-रसूल", बारह दरवाज़ा, सुनहरी मस्जिद, आदिल मस्जिद आज भी वैभव और हिन्दू-कला की प्रभुता दिखा रही हैं। बहमनी राज्य की राजधानी गुलबर्गा की एक मस्जिद कारडोवा का मुक़ाबला कर रही है। इसमें ६३ छोटे-छोटे गुम्बद हैं। फ़र्गुसन साहब का मत है कि भारत की पुरानी मस्जिदों में यह सर्वोत्तम है।

धार्मिक जीवन और धार्मिक आचार्य

मुसलमान लोग जिस धर्म का प्रचार करते थे सिद्धान्ततः उसमें और हिन्दूधर्म में कोई अन्तर नहीं था। पर व्यवहार में हिन्दू-धर्म उससे सर्वथा विपरीत

था। इस्लाम धर्म के आने के समय इस देश के लोग हिन्दू-धर्म के शैव, वैष्णव मत व जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायी थे। इनमें से पिछले पर इस्लाम ने सबसे गहरी चोट की। इसने बौद्धधर्म को सीरिया, टर्की, फ़ारस व मध्य एशिया से ही नहीं, बल्कि उसकी जन्मभूमि भारत से भी बाहर निकाल दिया। कुमारिल और शंकराचार्य के प्रचार से एक नवीन जागृति उत्पन्न हो गई थी, पर जनता को शंकर का अद्वैत अपील नहीं करता था। इसलिए द्वैत के आधार पर १२ वीं सदी में भक्ति-आन्दोलन का आरम्भ हुआ। १५ वीं सदी के अन्त और १६ वीं सदी के आरम्भ में कबीर, नानक और चैतन्य के प्रचार के कारण यह आन्दोलन बहुत प्रबल हो गया, पर हिन्दू-धर्म पर इस्लाम का प्रहार कम ज़ोरदार नहीं हुआ। हिन्दू लोग बहुत-से अधिकारों से वंचित थे, और उनसे अतिरिक्त कर लिया जाता था। उनको मुसलमान बनाने के लिए भिन्न-भिन्न तरह के प्रलोभन उनके सामने रक्खे जाते थे। एकेश्वरवाद, समता और बन्धुता के विचार लोगों को अपील करते थे और वे इस्लाम और हिन्दू-धर्म में कोई अन्तर नहीं देखते थे। ऐसे लोगों ने दोनों को मिलाने की कोशिश की, पर सर्वसाधारण जनता मुसलमानों और उनकी तबलीग़ को भय, आशंका और सन्देह से देखती थी और समझती थी कि हमारा धर्म ख़तरे में है, इसलिए धर्म की रक्षा के लिए विधि-विधानों को और कड़ा और जटिल बनाया गया। इसलिए जो आत्मिक उत्थान चाहते थे, उन्होंने भक्ति का आश्रय लिया।

१. निम्बार्क—

रामानुज ने १२ वीं सदी में जिस वैष्णव मत का प्रचार किया उसमें नारायण और लक्ष्मी की पूजा की जाती थी। इसके विपरीत इसी समय दक्षिण में राधा और कृष्ण की पूजा का प्रचार करनेवाले आचार्य का जन्म हुआ, पर इन्होंने अपना सारा जीवन वृन्दावन में बिताया। इनके अनुयायी इस समय सारे उत्तरीय भारत में विशेषतः मथुरा और बंगाल में पाये जाते हैं।

२. रामानन्द—

यह प्रयाग के एक कान्यकुब्ज ब्राह्मण के घर में उत्पन्न हुए थे। इन्होंने कहा कि विष्णु के भक्त बिना किसी भेद-भाव के एक साथ बैठकर खा सकते हैं। अपना उपदेश इन्होंने सर्वसाधारण जनता की भाषा हिन्दी में दिया। राधा और कृष्ण की जगह इन्होंने राम और सीता की पूजा चलाई। इनकी मृत्यु संभवतः १४११ ई० में हुई। इनके शिष्यों में से पीपा राजपूत, कबीर शूद्र, सैना नाई, धन्ना जाट, रैदास चमार और पद्मावती नामक एक महिला विशेष प्रसिद्ध हैं।

३. कबीर—

यह एक विधवा ब्राह्मणी के लड़के थे जिसने अपनी लाज छिपाने के लिए इसे फेंक दिया था और एक मुसलमान जुलाहे ने इनका लालन-पालन किया। इनका जन्म १३९९ ई० में हुआ और इनकी मृत्यु १५१८ ई० में हुई। इनकी साखियों का हिन्दू धार्मिक साहित्य पर बहुत प्रभाव पड़ा।

४. वल्लभाचार्य—

इनका जन्म १४९६ ई० में हुआ। इन्होंने बालकृष्ण-पूजा का प्रचार किया। इनके अनुयायी गुजरात, राजपूताना और मथुरा के चारों ओर पाये जाते हैं। ये लोग अपना सब कुछ गुरु को अर्पण कर देते हैं। इस सिद्धान्त ने बहुत-सी बुराइयों को जन्म दिया है।

५. चैतन्य—

राधा और कृष्ण की पूजा को लोकप्रिय बनानेवाले चैतन्य का जन्म नदिया में १४८५ ई० में हुआ और इनकी मृत्यु १५३२ ई० में पुरी में हुई। इन्होंने अपने कीर्तनों और भक्तिभरे संगीत से सारे बंगाल को गुँजा दिया। तात्कालिक मुसलमान शासकों ने भी इनके महान् व्यक्तित्व से आकर्षित होकर इनके अनुयायियों के साथ सहानुभूति दिखाई।

६. नानक—

चैतन्य से कुछ साल पहले पंजाब में एक ऐसे आचार्य का जन्म हुआ जिसने हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच की खाई पर पुल बनाने का काम किया। इस गुरु का नाम नानक था। इनका जन्म तलवंडी ग्राम में १४६९ ई० में हुआ।

इनके बारे में मशहूर है कि इन्होंने सीलोन, अरब और बग़दाद तक की यात्रा की। बाबर ने भारत पर चढ़ाई करने के समय गुरु नानक और उनके साथी मर्दाना को इस्लाम स्वीकार न करने के कारण सय्यदपुर

में १९२६ ई० तक क़ैद करके रक्खा। इसके बाद इनका शेष जीवन कर्त्तारपुर में बीता।

तीनों आचार्यों—कबीर, चैतन्य और नानक—के बारे में डा० ईसनिक पैंटर का कहना है कि कबीर का प्रभाव सम्भवतः सबसे अधिक उच्च और व्यापक हुआ, और चैतन्य का चरित्र सर्वाधिक आकर्षक था। नानक और उनके उत्तराधिकारियों का कार्य व्यावहारिक परिणाम में सबसे अधिक निश्चित था।

भारत की भावना और आत्मा ने, जब कि यह देश राजनीतिक युद्धों के कारण खण्ड-खण्ड हो रहा था, अपना प्रकाश इन सन्तों और आचार्यों में पाया, जिन्होंने शाश्वत सुख और शक्ति का मार्ग दिखाया। उन्होंने अपनी सेवा और भक्ति से लड़नेवाली जातियों और परस्पर विरोधी मतों के बीच बनी खाई को पाटने का महान् प्रयत्न किया, जिसकी उस समय सबसे अधिक आवश्यकता थी।

गद्य-काव्य के इतिहास की ओर

कुमारी उज्ज्वला सालवे, बी० ए०

निश्चय नहीं है कि हिन्दी में गद्य का आविर्भाव कब हुआ। पहले तो पद्य में ही लिखने और कहने की अधिक प्रथा थी। हिन्दी-गद्य का सबसे प्राचीन नमूना गोरखनाथजी के ग्रंथों में मिला है। उस समय विक्रम की १४ वीं शताब्दी का अन्त हो रहा था। उस शैशव से अब तक गद्य ने बड़ा लम्बा प्रगतिपथ तय कर लिया है। व्यवहार-विनिमय के लिए यह अनलंकृत तथा नीरस अवश्य रहा है, परन्तु भावलोक की सेवा में गद्य ने अपनी शुष्कता पीछे छोड़ दी। शनैः-शनैः तन्मयता के उच्चतम निदर्शन के लिए गद्य ने काव्य-लोक से भाव-सौंदर्य तथा भावना-माधुर्य का समुचित आहरण भी कर लिया है; गद्य का यह रूप उन्मुक्त है; अन्य कलाओं की भाँति यहाँ स्वरशब्द और रेखा की साधना नहीं करनी पड़ती। स्वाधीन अभिव्यंजना की यह जो नन्ही ललित काया है, उसे "गद्य-काव्य" कहते हैं।

गद्य-काव्य का अर्वाचीन रूप देखकर यह भ्रम होता है कि यह हिन्दी के गद्यकाव्य अमरीकन कवि वॉल्ट ह्विटमैन के अतुकान्त पद्य (Free verse) के अनुकरण का ही फल है। हिन्दी की जन्मदात्री भाषा संस्कृत है और संस्कृत में बाण और दंडी ने बहुत पहले ही सरस गद्य-काव्यों का निर्माण किया है। यह अवश्य माना जा सकता है कि चंद्रशेखर मुखोपाध्याय का "उद्भ्रान्त प्रेम" और रवि ठाकुर की "गीताञ्जलि" ने या पाश्चात्य साहित्य ने हिन्दी-गद्य-काव्य को परिपक्व बनाने में सहायता दी। गद्य-सरिता में गद्य-काव्य का जलप्लावन हो रहा है। अभी तक किसी ने इस विषय को न विवेचनीय ही समझा है और न इसका इतिहास ही लिखा है। साहित्य-संसार के लिए यह प्रसन्नता का विषय है कि श्रीयुत हरिमोहनलाल श्रीवास्तव एम्० ए०, एल्-टी०, साहित्यरत्न द्वारा "हिन्दी-गद्य-काव्य का आलोचनात्मक इतिहास"—एक नई चीज़—प्रायः तैयार हो चुका है और अब केवल किसी सुयोग्य प्रकाशक की खोज है, जो इस परिश्रम को शीघ्र प्रकाश में ला सके। डॉक्टर रामकुमार वर्मा, श्रीरामनाथ 'सुमन' जैसे प्रथम श्रेणी के विद्वानों ने उनके इस श्रम की भरपूर सराहना की है। जिस व्यक्ति ने इधर कुछ वर्षों में साहित्य के एक अछूते विषय के लिए अथक परिश्रम किया है, और जिसने कितने ही नवजात उदीयमान गद्य-कवियों को अपने विवेचन का विषय बनाया है उसके अपने गद्य-काव्यों के विवेचन के लिए भी तो हमारे पाठक उत्सुक होंगे।

श्रीयुत हरिमोहनलाल श्रीवास्तव का जन्म १३ अगस्त, १९१७ को जयपुर में हुआ। आप फ़र्रुख़ाबाद, यू० पी० के एक प्रतिष्ठित कायस्थ-कुल के हैं। आपके पूज्य पिता, बाबू वंशीलालजी जीवन के अंतिम दिनों में दतिया-राज्य के एक प्रतिष्ठित वकील थे। ९ वर्ष की आपकी अवस्था में पिताजी का देहान्त हो जाने से श्रीवास्तवजी का जीवन असमय में कष्टपूर्ण बन गया, किन्तु उन्हीं परिस्थितियों में एम्० ए० और एल्-टी० की परीक्षाएँ पास करके आप इस समय दतिया में अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। १८ वर्ष की आयु से

"मोहन वर्मा" उपनाम से आप कहानी-लेखक के रूप में आये। निबंध-लेखन, गद्य-काव्य-रचना, और समालोचना-साहित्य में आपकी विशेष रुचि है। आपने 'वीरांगना लक्ष्मी बाई' (कहानी), 'गोस्वामी तुलसीदास' (नाटक), 'अलंकार, पिंगल, और रस', 'हिन्दी-साहित्य का संक्षिप्त इतिहास', अपने निज के गद्य-काव्यों का संग्रह, नवीन छोटी कहानियों का संग्रह आदि रचनाएँ तैयार की हैं, जो प्रकाशन की समुचित सुविधा न होने से अब तक यों ही पड़ी हैं। भारत के प्रमुख पत्रों से समीक्षार्थ पुस्तकों का ताँता इनके पास लगा रहता है। आपने कतिपय पुस्तकों की खोज भी की है तथा नागरी-प्रचारिणी सभा के आदेश से 'अनन्य ग्रंथावली' के दूसरे संस्करण के लिए संशोधन भी किया है। निरन्तर आर्थिक चिन्ताओं में व्यस्त रहकर और स्वास्थ्य सामान्यतः अच्छा न रहने पर भी श्रीवास्तवजी की यह लगन सर्वथा सराहनीय है।

श्रीवास्तवजी जिस तरह अध्यवसायी हैं, उसी तरह साहित्य के साधक भी हैं। उनके गद्य-काव्य जीवन के ग्राह्य विचारों से पूर्ण हैं, उनके मनोभाव व्यक्त करने का ढंग अत्यंत सरल तथा ठीक निशाने पर बैठनेवाला है। आपका "पूँजी" शीर्षक गद्य-काव्य, जिसमें हृदयानुभूति के साथ आलंकारिकता का सुन्दर सम्मिश्रण है, निम्न प्रकार का है—

"जीवन के प्रभात में मेरी फुलवारी फूलती थी। भाँति-भाँति की कलियों से, रंग-बिरंगे फूलों से भरी हुई उस गोद में मैं स्वच्छन्द विलास करता था।

मेरे उस विगत वैभव की कलित कहानियाँ सुनकर तुम्हारे हृदय में अधिकार की प्रबल पिपासा जाग उठी, और तुमने साहूकार का सौम्य वेश बनाकर मेरी वाटिका में निधड़क प्रवेश किया।

तुमने मुझे चाहभरी दृष्टि से देखा, मैं उस चितवन पर भूल रहा। मुझे चेत आया, पर कब—जब तुम्हारे छलनामय व्यवसाय के विस्तार के बीच मेरी स्वतंत्रता मुझसे छिन चुकी थी।

यौवन-रस की मेरी संचित पूँजी का शोषण करके तुमने मुझसे आँखें फेर लीं, परन्तु इतने पर भी किसी से कुछ कह-सुनकर अपना दुख हलका करने का मुझे थोड़ा ही अवसर दिया।

छोटी-सी फुलवारी मेरी सूख गई; सुकुमार कलियाँ ठिठक गईं, खिले फूल कुम्हला गये—गिरकर मिट जाने के लिए!

इस ऊजड़ उद्यान की आशा एक झुलसी हुई कलिका है—कहीं यह थोड़ी-सी बिखरी पूँजी भी न खो जाय!"

उनके ये गद्य-काव्य केवल कल्पना या भावों के क्षेत्र में नहीं रहते, परन्तु चारो ओर "अत्याचार के उत्पीड़न", "आततायियों के उत्कर्ष" और "निर्धनता के नित्य नर्तन" से छटपटानेवाले इस लेखक से वर्तमान सामाजिक अव्यवस्था तथा राष्ट्रीय परतंत्रता के प्रति बहुत कुछ कहलवा देते हैं। उनमें सजीवता है; क्योंकि वे देश और समाज की भावनाओं, कल्पनाओं, विचारों तथा आकांक्षाओं का प्रतिबिम्ब दिखाते हैं। "संगठन" के लिए आप लिखते हैं—

"बहुत भुलाने पर भी मैं अपनी जिस उजड़ी स्वतंत्रता को नहीं भूलता, उसका ही चेत मुझे प्रतिपल यह बतलाता है कि अपनी संगठन-शक्ति द्वारा पराधीनता के इस पाश से मुक्ति मिल सकती है। किन्तु हा! व्यवहार में संगठन का यह सुदृढ़ सूत्र एक अधूरे स्वप्न से अधिक कुछ नहीं।"

श्रीवास्तवजी के गद्य-काव्यों में जीवन के सुख-दुःख का वर्णन सत्यता से किया गया है। उथलापन छूकर नहीं गया। भाव प्रौढ़ तथा गंभीर हैं—भाषा विषयानुसार कोमल या तनिक कम कोमल शब्दों को लेकर अपना कर्त्तव्य सिद्ध करती है। शुद्ध संस्कृतशब्दों के साथ वे कहीं-कहीं आवश्यकतानुसार "दिमाग़", "अरमान", "रोमान्स" आदि शब्दों का भी प्रयोग करते हैं, जिससे भाव-ग्रहण में सुगमता होती है। सरसरी दृष्टि से देखने पर उनके गद्य-काव्यों में कतिपय अंश साधारण गद्य से ही प्रतीत होंगे। परन्तु यदि सहृदय पाठक एकाग्र होकर उन्हें समझने का प्रयत्न करें तो अवश्य ही लेखक के हृदय से प्रस्फुटित भाव-निर्झरिणी का कल-निनाद उन्हें रिझाये विना न रहेगा। सम्राट् एडवर्ड अष्टम के सिंहासन-त्याग पर लिखे गये "त्याग" गद्य-काव्य का अंतिम अंश विचारणीय है—

"कोई है, जो इतिहास अथवा पुराणों की साक्षी देकर बतावे कि कहीं किसी मानव-देहधारी व्यक्ति ने इतने विशाल विस्तृत साम्राज्य के प्रलोभन को समस्त ऐश्वर्य और वैभव सहित एक क्षण में त्याग दिया हो! दार्शनिक अथवा वैज्ञानिक आलोचकों की दृष्टि में भले ही तुम्हारा यह अपूर्व त्याग एक मोहजनित वासना हो, पर मैं जो साधारण रक्तमांस से निर्मित हुआ हूँ, तुम्हारे इस राग, मोह या प्रेम में एक अनन्य साधक की

उच्चतम निदर्शन और तुम्हारे इस त्याग में एक श्रेष्ठ तपस्वी का पुण्यतम तेज देखता हूँ।"

"उदासी" शीर्षक गद्य-काव्य लेखक के जीवन की झाँकी दिखाते हुए एक उत्कृष्ट रचना है—

"जीवन के प्रारम्भ-काल से एक दुःखपूर्ण मलिनता मेरे अस्तित्व को प्रतिध्वनित करनेवाली प्रमुख रागिनी बनी हुई है, और विद्यार्थी-जीवन के उस प्रकाशमान पुण्यकाल में, जहाँ मैंने एक तटस्थ दर्शक के रूप में अपने बहुसंख्यक साथियों के बीच वैभव-भरे विपुल हर्ष की वर्षा होते देखी है, कभी धोखा न देनेवाली एक सहचरी के नाते मेरी इस उदासी ने अपने सहज स्नेह से मुझे सर्वथा सभागी किया है।

आशा और आकांक्षा के आगामी वर्षों में अपने मुग्ध मन की मलिनता से छुटकारा पाना मेरे लिए बहुत-कुछ असंभव हो गया है—कुछ इस ढंग से उसने मुझे अपने जटिल जाल में जकड़ रक्खा है।

सांध्य-गगन में क्षितिज के वक्षःस्थल पर उन्माद बिखेरनेवाली उन्मुक्त उदासी की सुकुमार संगति में रहते हुए मैं भी तो तनिक अनमना नहीं, अपितु उसके साहचर्य में मुझे एक विशिष्ट आनन्द की सुकोमल अनुभूति होती है।

वह मेरे लिए सुख—अविराम और अनियंत्रित सुख—का साधन है, क्योंकि जब सांसारिक मित्र क्रमशः किनारा कर जाते हैं, तब वह मेरे तनिक संकेत पर सेवा का अमिट चाव लिये सदैव प्रस्तुत रहती है।"

प्रतीक्षा

[एकांकी नाटक]

श्रीयुत रामप्रसादसिंह बी० ए० "आनन्द"

पात्र

प्रभाकर—बार-एट-लॉ की डिग्री लेकर लौटा हुआ एक नवयुवक।
विश्वनाथदास—प्रभाकर के पिता—एक पुराने वकील।
शीला—प्रभाकर की पत्नी।
कुसुम बी० ए०—प्रभाकर की प्रेमिका।

पहला दृश्य

[समय ९ बजे शाम। स्थान—विश्वनाथदास का नया मकान। नवीन ढंग से सजा हुआ है। शीला अपने कमरे में पतिदेव की पूजा का सब सामान ठीक करके उनके आने की राह देख रही है। अक्षयतीज का दिन है। प्रभाकर अपनी कार द्वारा मित्रों के यहाँ से घूमता हुआ आता है। वह सीधे शीला के कमरे में प्रवेश करता है और कुछ प्रश्न शीला से करता है।]

प्रभाकर—आज की डाक से कुछ आया है?

शीला—जी हाँ, कई चिट्ठियाँ और पत्र-पत्रिकाएँ हैं। (दो मिनट रुककर) स्वामी, आपसे एक बात की प्रार्थना है।

प्रभाकर—प्रार्थना नहीं, उपदेश देना है!

शीला—भला एक दासी को उपदेश देने का अधिकार कहाँ? फिर इसके योग्य भी तो नहीं हूँ।

प्रभाकर—[मुँह बनाकर] ख़ैर, कहिए क्या हुक्म है?

शीला—[नम्रता से] क्या आप अभी अपना दस मिनट का समय दे सकते हैं?

प्रभाकर—[जिज्ञासा से] कोई समस्या हल करनी है?

शीला—[शान्तचित्त से] नहीं। आपकी पूजा करनी है।

प्रभाकर—क्यों?

शीला—आज अक्षयतीज है। आज का दिन सौभाग्यवती स्त्रियों के लिए बड़े महत्त्व का है। आज हिन्दू सधवा स्त्रियाँ अपने पतियों का पूजन और भगवान् से अपने सिन्दूर की अक्षय लालिमा के लिए प्रार्थना करती हैं। आज मैं भी वही करना चाहती हूँ।

प्रभाकर—क्या मैं कोई देवता हूँ जो मेरी पूजा होगी?

शीला—जी हाँ, आप मेरे लिए देवता से भी श्रेष्ठ हैं!

प्रभाकर—[रुष्ट होकर] मेरे पास तुम-जैसी बेवक़ूफ़ औरत की बातों के चक्कर में पड़ने के लिए समय नहीं है।

शीला—[आग्रह से] मेरे देवता, मैं आपका दस मिनट से अधिक समय न लूँगी।

प्रभाकर—मैं एक मिनट भी नहीं दे सकता।—मेरी डाक कहाँ है?

शीला—सोनेवाले कमरे की खिड़की पर रक्खी है।

प्रभाकर—वह कौन-सी जगह है रखने की?

शीला—मैं वहीं पर लेटी थी, नौकरानी डाकिया से लेकर वहीं ले आई, मैंने भूल से वहीं की खिड़की पर रख दी।

प्रभाकर—[क्रोध से] जिस काम को मैं चाहूँगा उसमें ज़रा भी तुम दिलचस्पी नहीं दिखाओगी और जिस चीज़ से मुझे सख़्त नफ़रत है उसी में तुम हमेशा डूबी रहोगी। आज प्रदोष है, तो कल अक्षय तीज है। सदा इसी का झमेला लगा रहता है।—जब मैं कोई सुन्दर रोमेन्टिक नाविल पढ़ने के लिए देता हूँ तो उस समय तुम्हें रामायण और गीता के पाठ से ही छुट्टी नहीं मिलती। जब कभी पार्क या

दावत-पार्टी में चलने के लिए कहता हूँ, तो मुझे उत्तर मिलता है कि कहीं भले घर की बहू-बेटियाँ भी ऐसे स्थानों पर जाया करती हैं कि मैं जाऊँ!

शीला—इसमें मेरा क्या दोष है?

प्रभाकर—तो फिर किसका है?

शीला—मेरे संस्कारों का दोष है। मैं एक हिन्दू-सनातनधर्मी के घर में उत्पन्न हुई हूँ और फूली-फली हूँ। मेरी रग-रग में प्राचीन हिन्दू-सभ्यता प्रवेश कर गई है। अब इसके विपरीत चलने की शक्ति मुझमें नहीं है।

प्रभाकर—[उत्तेजित होकर] मूर्ख कहीं की। मेरी इच्छानुसार चलने में तुम्हें शक्ति नहीं है; किन्तु ढकोसलेबाज़ी करने की क्षमता है। लकीर की फ़क़ीर! तुम्हारे साथ शादी करके पिताजी ने मेरी ज़िन्दगी बरबाद कर दी!—ख़ैर, इसका उत्तर उन्हें मैं दूँगा।—अपने जीवन को यों ही चौपट नहीं होने दूँगा। अपनी तबियत के मुताबिक़ एक-दूसरी शादी करके ज़िन्दगी का मज़ा लूँगा। तुम्हारे-जैसे जानवर के लिए मेरे घर में जगह नहीं है। तुम्हें अपनी मा के घर वापस जाना होगा। मैं तुम्हारे ख़र्चे के लिए कुछ रुपये महीना भेज दिया करूँगा।

शीला—[आर्द्र आँखों से और विकम्पित स्वर में] जीवन-धन! आपके जीवन को दुखी करने का उद्देश्य मेरा नहीं है। आपके आनन्द-मार्ग में मैं कभी बाधा न डालूँगी।—मैं आपसे अन्य कुछ नहीं चाहती; केवल आपके विशाल भवन के एक कोने में पड़ी रहने की अनुमति चाहती हूँ, ताकि समीप रहकर अपने प्रभु की सेवा करके अपने अधम जीवन को सार्थक बना सकूँ।

प्रभाकर—[रुष्टता से] तुम्हारी-जैसी हठी औरत के लिए यही सज़ा है।

[प्रभाकर क्रोध की मुद्रा में पूजा की सामग्री को जूते की ठोकरों से मारकर तितर-बितर कर देता है, और अपने पैरों पर झुकी हुई शीला को ढकेलकर वह कमरे से निकलकर अपने ड्राइंग-रूम में चला जाता है। पति के इस निष्ठुर व्यवहार से उसे हार्दिक पीड़ा हुई। मानसिक वेदना की तीव्रता के कारण वह प्राणहीन चित्र की तरह स्थिर होकर निर्निमेष नेत्रों से पूजा के पवित्र पात्रों को देख रही है।—पूजा के पात्रों की खनखनाहट सुनकर बग़ल के कमरे से वकील विश्वनाथदास व्यग्र मुद्रा में आते हैं और उसके समीप बैठकर स्नेह से उसके सिर पर धीरे-धीरे हाथ फेरते हुए सान्त्वना देने का प्रयत्न करते हैं।]

विश्वनाथदास—[गीले नेत्रों से] बेटी! बग़ल के कमरे से मैंने सब कुछ सुन लिया है। तुम्हारा महान् दुःख देखकर मेरा हृदय फटा जाता है। पता नहीं परमात्मा को क्या स्वीकार है। इस बुढ़ापे में क्या यही दृश्य देखना बाक़ी था? बेटी! तुम्हें इस दशा को पहुँचानेवाला अपराधी मैं ही हूँ!

शीला—[कातर स्वर में] पिताजी! आप ऐसी बात अपने मुख से न निकालिए। भला, आप-जैसे महात्मा से ऐसी कोई त्रुटि हो सकती है?

वि०—मैंने उसे इँगलैंड भेजकर भारी भूल की। यदि वह बैरिस्टरी के लिए इँगलैंड न गया होता तो उसके स्वभाव में इतनी शीघ्रता से इतना परिवर्तन न होता।

शीला—पिताजी! अब पश्चात्ताप से क्या लाभ! जो मेरे फूटे हुए भाग्य में लिखा है, उसे कौन मिटा सकता है?

वि०—[दीर्घ निःश्वास लेकर] अच्छा तो एक बार उस दुष्ट को और समझाकर देखूँ कि क्या फल होता है?

शीला—[उद्विग्न होकर] नहीं पिताजी; उन्हें न बुलाइए। सम्भव है कि कहीं आपका भी न तिरस्कार कर दें। यदि कहीं आपका अपमान हुआ तो उस समय मेरे हृदय को बड़ी चोट लगेगी। इस अभागिन के कारण आपको किसी प्रकार का कष्ट न हो, मैं सदा यही चाहती हूँ।

वि०—यदि मुझे तुम्हारे सौभाग्य और सुख के लिए घोर कष्ट और भयंकर तिरस्कार भी सहना पड़े तो भी मैं तैयार हूँ, बेटी!

[वकील साहब एक बैरा को प्रभाकर को शीघ्र बुला लाने के लिए आज्ञा देते हैं। कुछ देर बाद प्रभाकर उस कमरे में दाख़िल होता है। फिर वकील साहब और प्रभाकर में बातें होने लगती हैं।]

प्रभाकर—पिताजी! किस लिए मेरी बुलाहट हुई है?

वि०—[रूखे स्वर से] क्या तुम्हें सभ्य बनाने का यही फल है?

प्रभाकर—आपके कहने का मतलब समझ नहीं सका।

वि०—[पूर्व मुद्रा में] एक नासमझ के दिमाग़

में समझ की बात आ ही कैसे सकती है ? एक सभ्य को अपनी पत्नी से ऐसा ही व्यवहार करना चाहिए ?

प्रभाकर—[उत्तेजित होकर] तो सभ्यता के यही माने हैं कि पुत्र अपने पिता का अत्याचार जीवन भर चुपचाप सहता जाय और उसका प्रतिकार न करे, क्यों यही न ?

वि०—[जिज्ञासा से] तुम पर मैंने अत्याचार किया ; यह क्या कह रहे हो प्रभाकर ?

प्रभाकर—[अप्रसन्न होकर] जी हाँ, आपने मुझ पर भीषण अत्याचार किया है ! आपने मेरा विवाह एक जानवर के साथ करके मेरा जीवन ही चौपट कर दिया ।

वि०—[आश्चर्य से] शीला जानवर है ?

प्रभाकर—बेशक । इसमें भी शक है ? जो तंग दायरे में चक्कर काटा करे और उससे बाहर आने की कोशिश न करे वही जानवर है ।

वि०—[क्रोधित होकर] शीला जानवर नहीं है, बल्कि मनुष्य के रूप में पशु तुम हो । तुम जिस तितली के चक्कर में पड़े हो उसके द्वारा तुम्हारी मनोकामना कभी पूरी नहीं हो सकती । यह मैं अपने लम्बे जीवन की अनुभूति के आधार पर कहता हूँ । जब ठोकरें लगेंगी तब तुम्हें इस बुड्ढे की बातें याद आवेंगी और पछताओगे । तब तुम इस दुरंगी दुनिया को समझोगे ।

प्रभाकर—[दृढ़ स्वर से] मैंने भी दुनिया देखी है । इसकी चिन्ता मुझे नहीं है । इस दुष्टा को यहाँ से जाना ही होगा ।

वि०—[क्रोध की मुद्रा में तीव्र स्वर से] यह कभी नहीं हो सकता । इस घर में जितना अधिकार तुम्हारा है, उससे कम शीला का नहीं है । इसके अतिरिक्त जब तक मैं जीवित हूँ तब तक वह यहाँ से नहीं जा सकती । यह दृढ़ निश्चित है ।

[प्रभाकर चुपचाप एक नज़र शीला पर डालकर कमरे से बाहर चला जाता है । शीला और विश्वनाथदास मौन खड़े रहते हैं ।]

दूसरा दृश्य

[समय—८ बजे प्रातःकाल । स्थान—कुसुम की कोठी । कुसुम अपने कमरे में ईज़ीचेयर पर बैठकर माडर्न रिव्यू नाम का मासिक पत्र पढ़ रही है । प्रभाकर अपनी कार से उतरकर प्रसन्नमुख उसके कमरे में प्रवेश करता है । कुसुम खड़ी होकर उसका स्वागत करती है । दोनों दो ईज़ीचेयरों पर बैठते हैं । फिर आपस में सविनोद वार्तालाप होता है ।]

कुसुम—[मुस्कराकर] आज असमय ही कैसे दर्शन दिये प्रभाकर बाबू ?

प्रभाकर—[प्रसन्नता से] आज कोर्ट अबीसीनिया की विजय की प्रसन्नता में बन्द है । बेकारी के कारण तबियत कुछ भारी मालूम पड़ रही थी । सोचा थोड़ी देर तुमसे गप-शप करके जी को हल्का कर आऊँ । मेरे बेवक़्त आने से तुम्हें कष्ट तो नहीं हुआ ?

कुसुम—भला, आपके आने से मुझे कष्ट होगा ? आप ऐसी छोटी बात मुँह से क्यों निकालते हैं ? आपके आने से मुझे अपार आनन्द मिल रहा है । मैं सच कहती हूँ, आपके साथ मेरे जीवन के जितने क्षण व्यतीत होते हैं वे अमूल्य होते हैं ।

प्रभाकर—कुसुम ! तुम्हारी-जैसी स्त्री-रत्न पाकर कौन पुरुष अपने को सौभाग्यशाली नहीं समझेगा ?

कुसुम—[संकुचित होकर] रहने भी दीजिए । आज आपको क्या कोई और बनाने को नहीं मिला ?

प्रभाकर—मैं तुम्हें बनाता नहीं हूँ कुसुम । मैं यथार्थ कहता हूँ ।—मेरे जीवन की कड़ी दोपहरी में तुम्हीं तो एक शीतल छाया हो, जहाँ दो घड़ी बैठकर मैं अपने को शीतल कर लेता हूँ ।

कुसुम—[प्रसन्नता से] मुझ-जैसी तुच्छ पर आपकी असीम अनुकम्पा है । यह मेरे लिए अभिमान की बात है ।—यदि आपको कष्ट न हो तो आज योरप के सम्बन्ध में अपना कुछ अनुभव बतलाइए ।

प्रभाकर—[हर्षित मन से] ज़रूर—ज़रूर बतलाऊँगा । इसमें मुझे सुख मिलेगा । आज तुमने बड़ी सुन्दर टॉपिक छेड़ दी । मेरी भी इच्छा थी कि मैं कभी तुम्हें वहाँ का सब हाल बताऊँ ; प्रसंग आज तुम्हीं ने छेड़ दिया । मुझे यह जानकर विशेष प्रसन्नता हुई कि तुम भी वहाँ के वातावरण को जानने के लिए विशेष रूप से उत्सुक रहती हो ।

कुसुम—मुझे वहाँ की सभ्यता से विशेष प्रेम है । और मैं सदा उसे अपनाने को तैयार भी रहती हूँ ।

प्रभाकर—[मुस्कराकर] तभी तो तुममें जैसे सोने में सुगन्ध आ गई है । इसी कारण दो भिन्न हृदय आज अभिन्न हो रहे हैं ।

कुसुम—[हँसकर] तो क्या वहाँ पर वास्तव में वैसी ही आज़ादी है, जैसा कि हम लोग पुस्तकों में पढ़ती हैं ?

प्रभाकर—हाँ कुसुम ! वहाँ पर पूर्ण स्वतन्त्रता है।—जब मैंने पहले-पहल योरप की भूमि पर पैर रक्खा तो मुझे मालूम हुआ कि जैसे मैं अन्धकार से आलोक में आ गया हूँ। वहाँ की हर चीज़ मुझे नये ढंग से देख पड़ी। सर्वत्र स्फूर्ति, उत्साह और प्रकाश दिखाई देता है।—स्वतन्त्रता चारो ओर बिखरी पड़ती है। आलस्य का वहाँ नाम भी नहीं है। सभी व्यस्त देख पड़ते हैं। इन्हीं गुणों के कारण वे देश-शासक और पथ-प्रदर्शक बने हैं; किन्तु भारतवर्ष की दशा इसके ठीक विपरीत है। यहाँ जीवन के सभी क्षेत्रों में परतन्त्रता है, बन्धन है। यहाँ पति-पत्नी में जीवन-साथी की तरह समान अधिकार न होकर स्वामी और सेविका का सम्बन्ध है। यह कितना घृणित सम्बन्ध है। इसके अतिरिक्त यहाँ घर में बन्धन, समाज में बन्धन, सर्वत्र बन्धन ही बन्धन है। इसी लिए तो यह देश ग़ुलाम है। यहाँ के बड़े-बूढ़े भी पूरे रूढ़िगत विचारों (prejudiced mind) के होते हैं। तनिक भी परिवर्तन नहीं पसन्द करते। यदि कोई नवयुवती या नवयुवक कुछ नवीनता लाने का प्रयत्न करता है तो वह समाज का शिकार हो जाता है, और उसका हृदय पूर्ण रूप से कुचल दिया जाता है। किन्तु योरप में प्रत्येक युवक-युवती को पूर्ण स्वतन्त्रता रहती है कि वे अपनी इच्छानुसार एक दूसरे को अच्छी तरह परखकर अपना जीवन-साथी चुनें। इसी लिए तो वे सुखी और स्वस्थ हैं।—यहाँ भारत में लड़के-लड़कियों के भाग्य-विधाता उनके माता-पिता होते हैं। वे चाहे जिस लँगड़े-लूले और अंधे के साथ विवाह कर दें। उसमें उन्हें ज़बान हिलाने तक की भी आज्ञा नहीं है। इसी अनमेल सम्बन्ध के कारण कितनों का जीवन चौपट और भारस्वरूप हो जाता है।—मेरा तो यह अपना अनुभव है कि जब तक हिन्दुस्थान में सामाजिक बन्धन ढीले नहीं किये जायँगे तब तक यहाँ स्वतन्त्रता झाँक तक नहीं सकती। बग़ैर योरप घूमे यहाँ की उच्च से उच्च शिक्षा प्राप्त करने पर भी वह अधूरी ही रह जाती है।—बाहर के देशों में गये विना कूप-मंडूकता कभी दूर ही नहीं हो सकती !

कुसुम—आपका यहाँ के सामाजिक बन्धन के सम्बन्ध में अनुभव बिलकुल ठीक है। जब पहलेपहल मैंने आगे बढ़ने का प्रयत्न किया तो एकदम से सबकी उँगलियाँ मेरी ओर उठ गईं; किन्तु मैं इसकी परवा न करके आगे बढ़ती ही गई। इसमें ज़रा दृढ़ता की आवश्यकता होती है। फिर तो सब अपनेआप ठीक हो जाता है। मुझे तो पश्चिमी ऐटीकेट बहुत ही अच्छी लगती है। मैं उसी के अनुसार चलने की कोशिश भी करती हूँ।

प्रभाकर—[प्रसन्न चेहरे से] कुसुम ! जब से तुम मेरे जीवन-वन में तितली बनकर आई हो तब से मेरे जीवन-तरु की प्रत्येक डाली हरी हो गई है। चारो तरफ़ वसन्त छा गया है। मन उमंग से लहराने लगा है।

कुसुम—[कुछ संकोच के साथ] सचमुच जो योरप हो आये हैं, उनका जीवन सार्थक हो गया है। पता नहीं, कब भगवान् मेरी यह उत्कट अभिलाषा पूरी करेंगे ?

प्रभाकर—[दृढ़ता से] कुसुम ! तुम्हारी यह इच्छा मैं पूरी करूँगा। मैं अगले वर्ष फिर योरप जाने के लिए सोच रहा था; किन्तु निश्चय नहीं था। पर अब मैं तुम्हारे साथ अवश्य चलूँगा। इसमें अब बिलकुल सन्देह नहीं रहा। यदि मेरे प्राण देने से भी तुम्हें कुछ सुख मिल सके तो मैं उसके लिए भी तैयार हूँ। फिर यह तो मेरे लिए एक मामूली सी बात है। बस, अगले साल जुलाई में हम लोगों की योरप-यात्रा का प्रोग्राम तय रहा। इसमें अब तुम्हें चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं रही।

कुसुम—[हर्ष से] प्रभाकर बाबू ! आपको इस उपकार के लिए अनेक धन्यवाद हैं।

प्रभाकर—[शान्तचित्त से] मैंने कौन-सा बड़ा काम किया जो तुम धन्यवाद दे रही हो। यह तो एक मामूली सी बात थी।

कुसुम—[अपनी कलाई-घड़ी की ओर देखकर, उत्सुकता से] ग्यारह बज रहे हैं। भोजन का समय हो गया है। यदि आपको कोई असुविधा न हो तो खाना यहीं मँगाऊँ !

प्रभाकर—[मुस्कराकर] भोजन करने में कौन-सी असुविधा हो सकती है। खाना तो कहीं न कहीं खाना ही है। फिर तुम्हारे यहाँ खाने से कौन इनकार कर सकता है ! ऐसा अवसर तो बड़े भाग्य से मिलता है !

[ख़ानसामा दोनों के लिए भोजन का सामान लाकर उसी रूम में टेबुल पर रख देता है। भोजन करने के बाद प्रभाकर चला जाता है।]

तीसरा दृश्य

[एक मास बाद समय—४ बजे शाम। स्थान—वही कुसुम का कमरा। कुसुम कुर्सी पर बैठकर कुछ लिख रही है। पोर्टिको में कार रुकने की आवाज़ सुनकर वह उचककर सामने की खिड़की से देख लेती है। फिर पूर्ववत् बैठकर लिखने में लीन हो जाती है।—प्रभाकर मुस्कराते हुए आकर उसके सामने पड़ी हुई एक ख़ाली कुर्सी पर बैठ जाता है। फिर आपस में बातें होने लगती हैं।]

प्रभाकर—[मुस्कराते हुए] कहो, क्या कोई लेख लिख रही हो ?

कुसुम—[शान्त मुद्रा में] पत्र लिख रही हूँ।

प्रभाकर—[कौतूहल से] किसे ?

कुसुम—क्या आपको शंका हो रही है ?

प्रभाकर—भला तुम पर कौन शक कर सकता है ?

कुसुम—अपनी एक सहपाठिन को पत्र लिख रही हूँ।

प्रभाकर—[जिज्ञासा से] आज तुम्हारे चेहरे पर कुछ उदासी देख पड़ती है, बात क्या है ?

कुसुम—[रूखे स्वर से] तबियत ही तो है। यह हमेशा एक-सी तो रहती नहीं !

प्रभाकर—[उत्सुकता से] क्या मैं इसका कारण जान सकता हूँ ?

कुसुम—[रोष से] नहीं, इससे आपको कोई मतलब नहीं।

प्रभाकर—[विस्मित से] यदि मुझसे मतलब नहीं है तो फिर और किससे है ?

कुसुम—[घृणा से] तुम्हारे-जैसे नीच और पाखंडी की छाया से भी मैं दूर ही रहना चाहती हूँ।

प्रभाकर—[विस्मित और अप्रसन्न होकर] कुसुम, तुमने कुछ नशा तो नहीं पिया है ?

कुसुम—[क्रोध की मुद्रा में] बिलकुल नहीं। मैंने स्वयं तुम्हारे घर तुम्हारी अनुपस्थिति में जाकर सब रहस्य जान लिया है। अब मैं तुम्हारी लुभावनी बातों में पड़कर अपना सर्वनाश नहीं करूँगी। तुम कितने बड़े विश्वासघाती हो, इसका पता मुझे अब लगा है।

प्रभाकर—[आश्चर्य से] मैं विश्वासघाती हूँ। मैं तुम्हारा सर्वनाश करनेवाला हूँ। यह सब क्या कह रही हो कुसुम, कुछ भी समझ में नहीं आ रहा है। मुझे पागल मत बनाओ कुसुम। साफ़-साफ़ कहो क्या बात है ?

कुसुम—[व्यंग्य से] क्या कहना है ! आप-जैसे नादान बच्चे की समझ में ऐसी गम्भीर बात भला क्योंकर आ सकती है ?

प्रभाकर—[गिड़गिड़ाते हुए] ईश्वर की क़सम खाकर कहता हूँ कुसुम ! तुम्हारे साथ मैंने कभी दग़ाबाज़ी नहीं की है। तुम्हें किसी ने बहका दिया है।

कुसुम—[रोष से] बस, बको मत। क्या तुमने मुझसे नहीं कहा था कि "मैं अभी तक अविवाहित हूँ। मैंने जीवन में केवल तुम्हीं को प्यार किया है। मेरे हृदय और विशाल सम्पत्ति पर एकमात्र तुम्हारा ही अधिकार है।"—क्या तुम्हारे घर में तुम्हारी विवाहिता पत्नी नहीं है ?—एक स्त्री के जीवन में सबसे अधिक दुःख देनेवाली बात को छिपाना विश्वासघात नहीं तो और क्या है ?

प्रभाकर—[मुस्कराकर] कुसुम ! तुम कितनी ही फ़ारवर्ड विचार की क्यों न हो, आख़िर हो तो स्त्री ही ! बस, एक छोटी-सी बात में बेहद घबरा उठीं। यह समस्या तो बात की बात में तय हो सकती है।

कुसुम—[मुँह बनाकर] मैं तुम्हारे-जैसे कुत्ते से दूर ही रहना पसन्द करती हूँ !

प्रभाकर—[उत्तेजित होकर] सँभालो अपनी ज़बान को, वर्ना अनर्थ हो जायगा। मालूम है तुम्हें कि तुम किससे बातें कर रही हो ?

कुसुम—[नाक-भौं सिकोड़कर] शहर के एक आवारे से !

प्रभाकर—[क्रोध से होठ फड़फड़ाते हुए] अगर मैं कुत्ता और आवारा हूँ तो तुम भी कुतिया और बाज़ारू औरत से भी गई-बीती हो। मुझे भी तुम्हारे सब छिपे व्यापार मालूम हैं।—तुम्हें, मेरे इस अपमान का फल शीघ्र ही भोगना पड़ेगा।

कुसुम—[क्रोध की मुद्रा में] तुम्हारी धमकी की मैं ज़रा भी परवा नहीं करती। मुझे तुमसे सख़्त नफ़रत है। तुम अभी मेरी आँखों से दूर हो जाओ, वर्ना ठीक न होगा।

[प्रभाकर क्रोध की अवस्था में एक तिर्छी नज़र कुसुम पर डालकर चुपचाप शीघ्रता से वहाँ से चला जाता है।]

चौथा दृश्य

[समय—८ बजे रात। स्थान—शीला का कमरा। शीला खिन्नमुद्रा में बैठी हुई स्टोव पर अपने ससुर

के लिए चाय का पानी गर्म कर रही है। प्रभाकर आँसू से डबडबाई आँखें लिये कमरे में प्रवेश करता है। शीला के आगे सिर झुकाकर क्षमा-याचना करता है। शीला झट से उसका सिर उठाकर अपनी गोद में रख लेती है। फिर कुछ क्षण मौन रहने के बाद आपस में वार्त्तालाप होता है।]

प्रभाकर—[सजल नेत्रों से] हृदयेश्वरी ! एक दिन मैंने तुम्हारा कोमल हृदय रौंदा था, आज मेरा हृदय तुम्हारे पैरोंतले है। इसे तुम भी अच्छी तरह कुचल-कर अपना प्रतिशोध पूरा कर लो। मैंने तुम पर भीषण अत्याचार किया था। तुम मौन होकर सब सहती रहीं। उस समय मैं अन्धा था। तुम्हें अच्छी तरह पहचान न सका।—तुम साक्षात् देवी हो। मेरे अपराधों को क्षमा करो, मेरी रानी !

शीला—[प्रसन्नता से आँसू भरकर] मेरे हृदय-मन्दिर के देवता ! भारतीय नारियों की विश्वास के साथ की हुई 'प्रतीक्षा' कभी निष्फल नहीं हो सकती।—मैं भी 'प्रतीक्षा' में विश्वास किये बैठी थी कि एक दिन अवश्य मेरे रूठे और भटके हुए देवता आवेंगे, और फिर इस दासी की तुच्छ सेवा स्वीकार करेंगे। मेरे जीवन-सर्वस्व ! इसमें आपका दोष नहीं है। यह मेरे पूर्व-जन्म के पापों का फल था। आप तो सदा से क्षम्य हैं।

[दोनों हर्षातिरेक के कारण एक दूसरे के बाहुपाश में बँध जाते हैं।]

यवनिका पतन

हिन्दी-साहित्य के कतिपय प्रमुख गद्यकवि

श्रीयुत हरिमोहनलाल श्रीवास्तव एम्० ए०, एल-टी०, साहित्य-रत्न

अक्तूबर, १९४९ की 'माधुरी' में प्रकाशित गद्य-काव्य-सम्बन्धी मेरे लेख का अच्छा रिस्पान्स हुआ है, और 'हिन्दी-गद्य-काव्य का आलोचनात्मक इतिहास' नामक पुस्तक पर किये जानेवाले मेरे श्रम की श्रीरामनाथ 'सुमन', डा० रामकुमार वर्मा प्रभृति विद्वानों ने अच्छी सराहना की है, जिससे मुझे इस दिशा में समुचित प्रोत्साहन मिला है। पुस्तक अब प्रायः तैयार है; जो थोड़ी-सी कसर है वह हिन्दी के कुछ श्रेष्ठ विद्वानों के थोड़े कष्ट की, जिनके लिए कदाचित् काफ़ी समय बीतने पर स्वीकारात्मक या नकारात्मक पत्रोत्तर के साधारण शिष्टाचार का नियम लागू नहीं होता। अस्तु, मेरी हार्दिक अभिलाषा है कि मेरे परिश्रम के अनुरूप पुस्तक किसी अच्छी जगह से प्रकाशित हो, भले ही मुझे कुछ न मिले—थोड़ा में ही अपनी ओछी पूँजी में से चाहे लगा दूँ। प्रकाशन के सम्बन्ध में मैं नागरी-प्रचारिणी सभा, काशी, श्रमजीवी-लेखक-मण्डल, लखनऊ आदि से बात कर रहा हूँ—सफलता जब मिले।

'माधुरी' के अपने लेख की पूर्वसूचना के अनुसार मैं यहाँ कतिपय प्राचीन और अर्वाचीन गद्य-कवियों के सम्बन्ध में परिचयात्मक और विवेचनात्मक जानकारी प्रस्तुत करूँगा—

(१) बाबू शिवपूजनसहाय

बाबू शिवपूजनसहाय का जन्म उनवाँस गाँव, शाहाबाद में सन् १८९३ में हुआ। आपने अपने पिताजी की पुण्यस्मृति में श्रीवागीश्वरी-पुस्तकालय की स्थापना की है। आपकी गणना बिहार के सर्व-श्रेष्ठ साहित्यिक विद्वानों में है। सन् १९४१ में आप बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के सभापति रह चुके हैं। जीवन के प्रारम्भ में कुछ समय तक बनारस-दीवानी अदालत में नक़लनवीस रहने के बाद आपने शिक्षक के व्यवसाय को अपनाया, और इस समय आप राजेन्द्र-डिग्री-कालेज, छपरा में अध्यापन-कार्य कर रहे हैं। आप कई पत्रों का सम्पादन कर चुके हैं। काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा की ओर से प्रकाशित 'द्विवेदी-अभिनन्दन-ग्रन्थ', पुस्तक-भण्डार, लहरियासराय के 'जयन्ती-स्मारक-ग्रन्थ' तथा देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसाद को दिये जानेवाले 'अभिनन्दन-ग्रन्थ' के सम्पादन का गौरव भी आपने अर्जित किया है। आपकी मौलिक पुस्तकों में 'देहाती दुनिया', 'विभूति' तथा 'बिहार का विहार' उल्लेखनीय हैं।

कवित्वमयी कहानियों के युग में असहयोग-आन्दोलन का व्यापक प्रभाव लेकर साहित्य-सृष्टि में प्रवृत्त होनेवाले शिवपूजनसहायजी का हिन्दी-गद्य-काव्य के प्रारम्भिक उन्नायकों में एक प्रमुख स्थान है। अन्न-वस्त्र से दुखी ग्रामीण जनता की तड़प का मार्मिक चित्रण करते हुए उन्होंने वक्तृत्व का वह उत्कर्ष दिखाया है, जिसके कारण उनकी अभिव्यंजना 'गद्य-काव्य' की उत्कृष्टता से पूर्णतः विभूषित हुई है। शिवपूजनसहायजी के गद्य-काव्यों में चमत्कार के साथ अपना निज का प्रभाव है। आलंकारिकता के आकर्षण से परिपक्व उनकी भाषा का झुकाव विशुद्धता की ओर रहता है, और शैली साधारणतः परिष्कृत होती है, जिसमें उर्दू का संयत प्रयोग दिखाई देता है। जहाँ समासांत पदावली अथवा पद्यात्मक तुकान्त द्वारा चमत्कार की सृष्टि की गई है, वहाँ निश्चय ही वह अखरनेवाला बन जाता है। उनकी 'मुण्डमाल' शीर्षक कहानी में से एक रोचक अंश निम्न प्रकार है—

"यदि तारा की बात मानकर बालि भी, घर के कोने में मुँह छिपाकर, डरपोक-जैसा छिपा हुआ, रह गया होता तो उसे वैसी पवित्र मृत्यु कदापि नसीब न होती। सती-शिरोमणि सीतादेवी की सतीत्व-रक्षा के लिए जरा-जर्जर जटायु ने अपनी जान तक गँवाई ज़रूर; लेकिन उसने जो कीर्ति कमाई और बधाई पाई, सो आज तक किसी कवि की कल्पना में भी नहीं समाई। वीरों का यह रक्त-मांस का शरीर अमर नहीं होता, बल्कि उनका उज्ज्वल-यशोरूपी शरीर ही अमर होता है। विजय-कीर्ति ही उनकी अभीष्ट-दायिनी कल्प-लतिका है। दुष्ट शत्रु का रक्त ही उनके लिए शुद्ध गंगाजल से भी बढ़कर है। सतीत्व के अस्तित्व के लिए रण-भूमि में व्रजमण्डल की-सी होली मचाने-वाली खड्ग-देवी ही उनकी सती सहगामिनी है।"

(२) पं० रामवृक्ष शर्मा बेनीपुरी

पं० रामवृक्ष शर्मा का जन्म सन् १६०१ में हुआ। आप बिहार-प्रान्त के सुप्रसिद्ध नेता और पत्रकार हैं। आपने 'बालक', 'युवक', 'योगी', 'जनता' आदि कितने ही पत्रों का सफलतापूर्वक सम्पादन किया है। बाल-साहित्य के यशस्वी लेखक के रूप में भी आपने अच्छी ख्याति प्राप्त की है। बालकों और युवकों के लिए आपने कई उपयोगी पुस्तकों का निर्माण किया है। 'बिहारी-सतसई' और 'विद्यापति की पदावली' आपके सम्पादित ग्रन्थ हैं। इधर कुछ समय से प्रगतिशील साहित्य के निर्माण में आप अथक परिश्रम कर रहे हैं। आपकी 'लाल तारा' नामक पुस्तक पीड़ित मानवता के लिए आशा और आकांक्षा की एक ज्योति है। बेनीपुरीजी की अन्य पुस्तकों में 'जीवन-तरु', 'लाल चीन', 'लाल रूस', 'नई नारी', 'नया मानव', 'नवीन साहित्य' आदि मुख्य हैं, जिनमें से कई पुस्तकों के उर्दू-संस्करण भी हो चुके हैं।

बेनीपुरीजी की कृतियों में गद्य-काव्यात्मक अभिव्यंजना सर्वत्र बिखरी हुई है। उनके गद्य-काव्य भारत की ग्रामीण जनता का अर्थपूर्ण रेखा-चित्र उपस्थित करते हुए विश्वास दिलाते हैं कि उन्होंने किसान और मज़दूर, प्रकृति और पुरुष को बहुत पास से देखा है। इन गद्य-काव्यों में कल्पना का विशेष आश्रय लिया गया है, पर अनुभूति की सचाई भी कम नहीं। बेनीपुरीजी के गद्य-काव्य कुछ बड़े अवश्य होते हैं और कभी तो वे कहानी के निर्धारित साहित्य से साम्य रखते हुए मुक्त अभिव्यक्ति से कुछ दूर जा पड़ते हैं। परन्तु उनमें प्रायः सरल सौन्दर्य-पूर्ण भाषा का उपयोग हुआ है, जिसमें प्रान्तीय प्रयोगों की छटा के साथ यत्र-तत्र विदेशी-व्यंजक शब्द भी आये हैं। 'मुअत्तर', 'फ़िज़ाँ', 'ख़ुराफ़ात' आदि कुछ ऐसे शब्द हैं, जो हिन्दी में कदाचित् अधिक सफलता के साथ बदले जा सकते हैं। 'लाल तारा' में से उनके एक बड़े गद्य-काव्य 'हलवाहा' के अन्तर्गत निम्नलिखित पंक्तियाँ बहुत ही पैनी हैं—

"चल ओ मेरे जीवन-संगी, ज़रा तेज़ी से चल।

सुना, द्वापर में भी एक हलधर था। हाँ, हलधर ही तो, मेरा सगा-सम्बन्धी!

एक बार वह बिगड़ा।

अपने हल की नोक, उसने ज़मीन में कुछ गहरे धँसा दी, फिर समूची पृथ्वी को, उस हल के बल पर खींचकर, समुद्र में डुबोने को वह उद्यत हुआ।

हाँ, वह हलधर था और अपने हल की नोक से समूची पृथ्वी को खींचकर समुद्र में डुबोने चला।

कहा जाता है, सब व्याकुल हो उठे। उसके पैरों पर गिरे। हलधर ही तो था—पसीज पड़ा बेचारा। पृथ्वी बच गई—बच गई उस पर की सारी सृष्टि!

किन्तु, मैं नहीं पसीजूँगा, ओ मेरे जीवन-संगी! ओ मेरे जीवन-संगी, ज़रा तेज़ी से चल।

आज इस समूची पृथ्वी को, अपने हल की नोक से खींचकर मैं समुद्र में डुबो दूँगा!

वह पृथ्वी रहकर क्या होगी, जहाँ मनुष्य बैल बन जाता है; जहाँ उस बैल को दिन-रात खटाया जाता है, किन्तु चारा भी नहीं दिया जाता?

जहाँ वह भूखों मरता है, जो पैदा करता है। जहाँ वह मौज उड़ाता है, जो अजगर-सा बैठा रहता है।

जीवन-संगी! तेज़ी से चल। मैं इस पृथ्वी को समुद्र में डुबोऊँगा—डुबोऊँगा।"

(३) श्रीयुत 'अज्ञेय'

श्रीयुत 'अज्ञेय' का पूरा नाम श्रीसच्चिदानन्द हीरानन्द वात्सायन है। आपका जन्म ७ मार्च, १६११ को कसिया, गोरखपुर में हुआ। आप पंजाब-प्रान्त के रहनेवाले हैं, परन्तु इन दिनों आपका निवास-स्थान देहली है। हिन्दी-साहित्य के श्रेष्ठ कहानी-लेखकों और उपन्यासकारों में अज्ञेयजी का अपना स्थान है। साथ ही आपने नवयुग के एक उदीयमान कवि का सम्मान प्राप्त किया है। आपने कुछ निबन्ध भी लिखे हैं, जो आपकी अध्ययनशीलता और विचारशीलता के परिचायक हैं। आप कुछ समय तक 'विशाल भारत' के सम्पादक-पद पर रह चुके हैं। 'विपथगा' (कहानी-संग्रह), 'भग्नदूत' (गद्य-काव्य-संग्रह), 'शेखर—एक जीवनी' (उपन्यास), 'नया हिन्दी-साहित्य' (समालोचना) प्रभृति आपकी पुस्तकों ने अच्छा समादर प्राप्त किया है। 'आफ़्टर डॉन', 'कैप्टिव ड्रीम्स', 'कम्यूनिज़्म क्या है' आदि कुछ और भी पुस्तकें आपने लिखी हैं, जिनमें से कितनी ही अभी अप्रकाशित पड़ी हैं।

भीतर और बाहर के जगत् पर विचार करते हुए अज्ञेयजी के मस्तिष्क ने प्रत्यक्ष पदार्थों में सत्य का आभास पाकर जिन गद्य-काव्यों का निर्माण किया

है, वे सचमुच भाव-राज्य के रत्न हैं। आकार में छोटे होने पर भी वे एक विशद भाव-मूर्ति गढ़ने में समर्थ हैं और उनमें एक अपनी सूझ होती है, जिसके कारण वे जीवन के एक साधारण अनुभव को भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक रूप में उपस्थित करते हैं। 'बन्धन' से विकल होकर 'स्वातन्त्र्य' की प्राप्ति के लिए सचेष्ट होने की सामयिक विचारधारा के प्रवेश से अज्ञेयजी के गद्य-काव्यों में एक व्यापकता आ जाती है। कुछ गद्य-काव्यों में थोड़ी-सी उपदेशात्मकता अवश्य दृष्टि-गोचर होती है। अज्ञेयजी की भाषा-शैली विशुद्ध और परिमार्जित होती है, जिसमें शब्दों का सरल सौंदर्य-पूर्ण चयन सर्वत्र दिखाई देता है। 'चेतावनी' उनका एक उत्कृष्ट गद्य-काव्य है—

"तुम गौरवर्ण हो, हम श्यामल हैं। किन्तु इस वर्ण-भेद से गर्वान्वित न होना।

यह तो मानते हैं कि श्वेत बादल काले बादलों से उच्चतर होते हैं। किन्तु क्या तुमने कभी यह भी सोचा है कि वायु के हलके से झोंके से भी श्वेत बादल अस्त-व्यस्त हो जाते हैं, क्योंकि उनमें जल का अभाव है।

ये काले बादल सौन्दर्य-विहीन हैं, बेडौल भी हैं, किन्तु इनमें स्थिरता तो है, ये वायु के आगे छिन्न तो नहीं होते।

तुम वर्णश्रेष्ठ तो हो, किन्तु स्मरण रखना, इस श्यामलता की ओट में भीषण विद्युज्ज्योति है, इस स्थूलता के पीछे प्रलय का घोर प्रवाह छिपा हुआ है।

गौरतन, सोचो और सँभलो!"

(४) श्रीयुत ब्रह्मदेव शास्त्री

श्रीयुत ब्रह्मदेव का जन्म सन् १९१५ में हजारीबाग के एक सुन्दर गाँव प्रतापपुर में हुआ। आपका स्थायी निवास मैगरा, ज़िला गया में है। आप 'साहित्य-शास्त्री' की उपाधि से विभूषित हैं, और हिन्दू-विश्वविद्यालय में बी० ए० तक अध्ययन करके रह गये हैं। अपने पूज्य पिता पं० हरदेव शर्मा से आपने व्रत-पूजा, शुद्ध आचार और देश-प्रेम की शिक्षा पाई। कला की अर्चा आपके जीवन का व्रत है। देश-सेवा में भी आपने अपना सक्रिय योग दिया है और आप चार बार जेल-यात्रा कर चुके हैं। आपने कविता, कहानी, चित्रकला—सबकी रचना में अपनी प्रतिभा का परिचय दिया है। 'क्रन्दन', 'कारासंगीत', 'चित्रवाहा' आदि कितनी ही छोटी पुस्तकों की आपने रचना की है, जिनमें से अधिकांश अभी प्रकाशित नहीं हुईं। 'निशीथ' नाम से आपके गद्य-काव्यों का एक संग्रह अभी कुछ समय पहले प्रकाशित हुआ है।

ब्रह्मदेवजी के गद्य-काव्यों में भावों की लोल लहरों और कल्पना के रंगीन स्वप्न-चित्रों के सहारे उस अज्ञात अलौकिक प्रेमी के प्रति दिव्य प्रेम की सरल व्याख्या की गई है। कवि की रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता किसी अनजान स्वप्नलोक की वस्तु नहीं; उसकी अनुभूति में जगती की पावन आकांक्षाएँ प्रतिबिम्बित होती हैं। कवि के अधिकांश गद्य-काव्य वर्णनात्मक शैली से दूर रहकर उसके 'अहं' से आलोकित हैं। गद्य-काव्य-रचना में ब्रह्मदेवजी की प्रवृत्ति संक्षेप की ओर है और गद्य-काव्यों के लिए 'शीर्षक' निर्धारित करने के झमेले में भी वे नहीं पड़ते, किन्तु तीन-चार वाक्यों के कुछ छोटे गद्य-काव्यों में मन को लिप्त कर रखनेवाले सौन्दर्य की कमी अवश्य दिखाई देती है। ब्रह्मदेवजी की भाषा-शैली मधुर और प्रांजल है; 'याद', 'जमायत', 'गुज़रता'-जैसे कुछ इने-गिने उर्दू-शब्दों को छोड़कर शुद्ध साहित्यिक हिन्दी का उन्होंने सर्वत्र प्रयोग किया है। उनका एक उत्कृष्ट गद्य-काव्य निम्नलिखित है—

"आज आश्विन की इस निर्जन रात्रि में जागता रहूँगा और मेरे हृदय में अतीत का चित्र खुला रहेगा। नीले आकाश पर जो ज्योत्स्ना का फेनिल हास्य बिछा हुआ है, उसमें मैं स्मृति का लहराता समुद्र देख रहा हूँ।

श्रान्त समीर में, गन्धलता के तन्द्रिल नृत्य में और पपीहे के नीड़ से आती हुई पुकार में मुझे आज जीवन की एक विस्मृत झंकार सुनाई पड़ रही है।

मेरे यौवन के द्वार पर सर्वप्रथम जो एक साकार स्वप्न मुझे पुकारने आया था, मैं आज उसे फिर से खोजूँगा।

मैं आज शून्य की दिशा में उड़ जाऊँगा। सिन्धु-तीर पर घिरते हुए श्वेत अन्धकार को देखकर मेरा मन न जाने क्या चाह रहा है।"

(५) श्रीभँवरमल सिंघी बी० ए०

श्रीयुत भँवरमल सिंघी हिन्दी-साहित्य के एक

तरुण कलाकार हैं। प्रयाग तथा काशी में शिक्षा पाकर आपने बी० ए० तथा साहित्य-रत्न की उपाधियाँ प्राप्त की हैं। आलोचना तथा इतिहास से आपको विशेष प्रेम है। आपने कुछ समय तक 'ओसवाल नवयुवक' मासिक पत्र का सम्पादन किया है और काशीपुर जूट सेलर्स एसोसिएशन (कलकत्ता) के मन्त्री-पद पर भी रह चुके हैं। आप इस समय जयपुर में रहते हैं। आपके गद्य-काव्यों का एक संग्रह 'वेदना' नाम से 'तवराजस्थान-ग्रन्थमाला' कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हुआ है, जिसके लिए आपको श्रीविश्व-कवि रवीन्द्रनाथ ठाकुर का शुभाशीर्वाद एवं भाषातत्त्व-विद् श्रीसुनीति-कुमार चटर्जी की सस्नेह भूमिका प्राप्त हुई। आपने कतिपय ऐतिहासिक और आलोचनात्मक ग्रन्थों की भी रचना की है, जो अभी अप्रकाशित है।

भारतीय जीवन में दुःख और दैन्य का आधिक्य देखकर भँवरमलजी ने प्रेम की वेदना के चित्रण को अपने गद्य-काव्यों का विषय बनाया है। उनके इन करुणाभरे गद्य-काव्यों में उस अपरिमेय की व्यंजना भली प्रकार पाई जाती है, किन्तु उनकी रहस्योन्मुख आध्यात्मिकता में काव्योचित तन्मयता की कुछ कमी अवश्य दिखाई देती है। संकेत की कला का सुन्दर निदर्शन सिंघीजी के गद्य-काव्यों की विशेषता है। यदि उनके कुछ रूपक किसी मधुर संकेत के कारण भाव-राज्य की मनोरम झाँकी दिखाते हैं, तो दूसरी ओर कुछ भावोच्छ्वास बुद्धितत्त्व से बोझिल होकर अभीष्ट प्रभाव सिद्ध करने में असमर्थ रह जाते हैं। यों सामान्यतः उनकी भाषा-शैली में एक स्वच्छन्द प्रवाह है, जिसके कारण वह बिना किसी विशेष सजावट के भी आकर्षक प्रतीत होती है, तथापि कहीं कुछ उर्दू-शब्दों का प्रयोग उनके गद्य-काव्यों में अख-रता है। 'ऊर्मि' उनका एक उत्कृष्ट गद्य-काव्य है—

"सागर की विशाल जलनिधि मेरे सामने थी। मैं किनारे पर खड़ा था। उद्भ्रान्त, उत्ताल तरंगें उठ-उठकर फिर गिर जाती थीं। मुझे उनके उठने में आनन्द था, गिरने में शोक!

क्यों?

यह मैं नहीं कह सकता!

किन्तु उनके क्षणिक उत्थान और पतन में भी एक राग था, एक सम्मोहन, मूर्च्छना! उनकी गति में जीवन का स्पन्दन था, आलाप में परिवर्तन का संकेत।

लहरों के इस छोटे जीवन के संगीत में मेरे हृदय ने अपना स्वर मिलाने की चेष्टा की; पर उसमें शक्ति न थी! हृदय में एक ठेस-सी लग गई। मर्मस्थल की वेदना हरी हो उठी। तरंगों के इस क्षणिक जीवन के अभिनय को देखकर मुझे अपनी भावनाओं के स्थायित्व में सन्देह होने लगा, जिनकी अमरता के विषय में मैं निश्चिंत-सा था।

एक ओर सौ-सौ बार गिरकर भी ऊपर उठने की सतत चेष्टा करनेवाली लहरें—दूसरी ओर मनुष्य का दंभ करनेवाला मैं।

छोटी लहर से भी मेरी शक्तियाँ कितनी छोटी हैं?

जीवन के हेतु तरंगों का यह अविश्रान्त परिश्रम क्या संवरण करने की वस्तु है?"

यदि कोई महानुभाव 'बड़ा बाज़ार, दतिया' (सी० आई०) के मेरे पते पर श्रीविनोदशंकर व्यास, श्रीशान्तिप्रिय द्विवेदी, श्रीक्षेमानन्द राहत, श्रीबन्देअली फ़ातमी और श्रीबालगोविन्दप्रसाद श्रीवास्तव का जन्म-सन् तथा उनके कतिपय गद्य-काव्य यथाशीघ्र भेजने की कृपा करेंगे, तो मैं उनका आभारी हूँगा।

कोयल

महाकवि पं० शिवरत्न शुक्ल "सिरस"

काकली की कूक, कूकती करेजे हो कसक,
किलकाती कलियों को क्या तू उपकारिनी।
कैरियों की कोर काली करती कलंक को ले,
कज्जल सी काक की है काकी कलकारिनी।
कुमुद के कुल को न कुशल कुलीन कहे,
किंशुक करक कचनार को सकारिनी।
"सिरस" कहे कि कब कलिन कलाप कम,
कलपाती कामकेलि कामिनी कुमारिनी।

JAKOOJA BRAND FINEST DUST TEA

LIPTONS

JAKOOJA

तेज व बढ़िया सुगन्ध, गहरा रंग और कम दाम इन सबने मिलकर लिपटन की जाकूजा को बाजार भर की सर्वश्रेष्ठ चाय बना रक्खा है।

लिपटन की जाकूजा चाय

सर्वोत्तम भारतीय चूरा चाय

LTK 84 J

कहानी

आख़री पाठ

अनुवादक—श्रीभोलेश्वर शुक्ल

[अल्फ़ांस दॉदे की एक फ्रेंच कहानी]

उस दिन मैं स्कूल के लिए बहुत देर से रवाना हुआ था और मन ही मन डर रहा था कि आज तो ख़ूब डाँट पड़ेगी ; ख़ासकर इसलिए और भी कि मॅसयो हेमेल (मास्टर साहब) ने कह रक्खा था कि 'शब्दभेद' पर प्रश्न पूछे जायँगे और मैं शब्दभेद के विषय में ख़ाक न जानता था। पहले तो मेरे मन में आया कि घर से खिसक भागा जाय और बाहर घूम-फिरकर आनन्द से दिन बिता दिया जाय। वह दिन भी कितना सुन्दर और सुहावना था। बाग़ों में पक्षी चहचहा रहे थे, और लकड़ी चीरने के कारख़ाने के पीछेवाले मैदान में प्रशन सैनिक क़वायद कर रहे थे। यह सब शब्दभेद के नीरस नियमों की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षक प्रतीत हो रहा था, पर मैंने इन प्रलोभनों पर विजय प्राप्त कर ली और आख़िर स्कूल के लिए रवाना हो ही गया।

जब मैं टाउनहाल के पास से गुज़रा तो वहाँ सूचना-पत्रक लगाने के तख़्ते के पास लोगों की भीड़ दिख पड़ी। पिछले दो वर्षों से सारे कुसमाचार इसी तख़्ते से होकर ही तो लोगों तक पहुँचे थे—लड़ाई में फ्रांसीसियों की हार, प्रशन फ़ौजों का क़ब्ज़ा, कमांडिंग अफ़सर के हुक्मनामे—और मैंने वहाँ से गुज़रते हुए मन में सोचा—'अब और क्या बात हो सकती है ?'

मैं लम्बे-लम्बे क़दम बढ़ाता हुआ चला जा रहा था। मेरे पड़ोस के लोहार ने मुझे देखकर कहा—

"अरे भैया, इतनी जल्दी न करो ; स्कूल के लिए अभी कोई देर नहीं हुई है।"

मैंने समझा कि यह मेरा मज़ाक़ उड़ा रहा है, इसलिए मैंने अपनी चाल धीमी नहीं की और मॅसयो हेमेल के घर के सामनेवाले बग़ीचे में एक ही साँस में मैं जा पहुँचा।

साधारणतः स्कूल खुलते ही काफ़ी चहलपहल शुरू हो जाती थी। डेस्कों का खुलना-बंद होना, लड़कों का एक स्वर में, कानों पर हाथ रखकर (जिससे अच्छी तरह याद हो जाय) पाठ घोखना और बीच-बीच में मास्टर साहब का मेज़ पर रूलर पटकना—यह सब सड़क पर से ही ख़ूब अच्छी तरह सुनाई पड़ा करता था। पर आज तो एकदम सन्नाटा था। मैं इसी भरोसे में था कि शोर-गुल के बीच, सबकी आँख बचाकर, चुपचाप मैं अपनी जगह पर जा बैठूँगा ; मगर दुर्भाग्य से वहाँ अर्द्धरात्रि का-सा सन्नाटा छाया था। मैंने खिड़की में से देखा कि मेरे सब सहपाठी यथास्थान बैठे हैं और मॅसयो हेमेल अपनी लोहे का 'भयावह' रूलर बग़ल में दबाये कमरे में टहल रहे हैं। मुझे कमरे का दरवाज़ा खोलकर अन्दर जाना पड़ा ; सबकी नज़र मेरे ऊपर थी। आप अंदाज़ लगा सकते हैं कि उस समय मैं कितना शर्मिन्दा और भयभीत रहा होऊँगा।

लेकिन जिसके लिए मैं डर रहा था, वह कुछ नहीं हुआ। मॅसयो हेमेल ने मुझे देखते ही बड़े स्नेह के साथ कहा—

"जल्दी अपनी जगह पर जा बैठो, फ्रेंज़। हम तो तुम्हारी अनुपस्थिति में ही शुरू करने जा रहे थे।"

मैं झट से अपनी जगह पर बैठ गया और तब, जब कि मेरा आतंकित मन कुछ शांत हुआ, मेरा ध्यान इस ओर गया कि हमारे मास्टर साहब आज अपना बढ़िया हरा कोट और रेशमी काली टोपी पहने हैं, जो कि वे सिर्फ़ अफ़सरों के मुआयने अथवा किसी विशेष उत्सव के दिन ही पहना करते थे। इसके सिवा, सारे स्कूल में ही कुछ अजीब अनोखापन और गंभीरता छाई हुई थी।

परन्तु सबसे अधिक आश्चर्य तो मुझे यह देखकर हुआ कि पीछे की जो बेंचें हमेशा ख़ाली रहा करती थीं, उन पर गाँव के बहुत-से निवासी हमीं लोगों की तरह, पर चुपचाप, बैठे हुए हैं। उनमें गाँव के प्रतिष्ठित व्यक्ति और बूढ़े-जवान, सभी लोग थे। प्रत्येक के चेहरे से उदासी टपकती थी। गाँव का सबसे बूढ़ा व्यक्ति हॉज़र, फ्रेंच भाषा की एक मैली-सी, पुरानी प्रवेशिका सामने खोले बैठा था और उसी पर अपना चश्मा रक्खे था।

मैं यह सब असाधारण वातावरण देखकर अचरज में पड़ा था ; उधर मॅसयो हेमेल अपनी कुर्सी पर बैठ गये और जिस स्वर में उन्होंने मुझे सम्बोधित किया था उसी स्नेहयुक्त, पर गंभीर स्वर में बोले—

"मेरे बच्चो और मित्रों ! आज मैं आख़री बार तुम्हें पढ़ाकर, तुमसे बिदा लूँगा। बर्लिन से हुक्म आया है कि अल्सास और लोरेन के स्कूलों में सिर्फ़ जर्मन भाषा ही पढ़ाई जाय। जर्मन भाषा पढ़ाने के लिए कल नया मास्टर भी आ जायगा। यह तुम्हारा अन्तिम पाठ है। मैं चाहता हूँ कि इसे तुम ख़ूब ध्यान देकर पढ़ो।"

मेरे ऊपर तो मानो गाज गिर पड़ी।

दुष्ट, नराधम ! तो यही हुक्म उन्होंने टाउनहाल में चिपका रक्खा है।

मेरी मातृभाषा का आख़री पाठ और अभी मुझे ठीक से लिखना तक तो आता नहीं। अब मैं अपनी प्यारी मातृभाषा और न सीख सकूँगा—बस, यहीं से मेरी अपनी भाषा की पढ़ाई बन्द हो जायगी। ओफ़, मैं कितना मूर्ख था कि अपनी पढ़ाई पर ध्यान न देकर पक्षी और तितलियाँ पकड़ता फिरता रहा, या खेल-कूद में मगन रहा।

मेरे अफ़सोस का ठिकाना न था। जो किताबें कुछ देर पहले कण्टक और भार-सी लगती थीं, वही अब ऐसे घनिष्ठ मित्रों-जैसी लगने लगीं जिन्हें छोड़ने का विचार भी कष्टकर था। ऐसा ही मोह मॅसयो हेमेल के लिए भी मेरे दिल में पैदा हो गया था। यह ध्यान आते ही कि अब वे सदा के लिए जा रहे हैं और अब हम कभी उन्हें न देख सकेंगे, उनके रूलर का आतंक और उनका सिड़ीपन मैं एकदम भूल गया।

बेचारे मास्टर साहब ने तो बस आख़री पाठ के सम्मानार्थ ही अपने बढ़िया कपड़े पहन रक्खे थे। अब मेरी समझ में यह भी आने लगा कि ये सब वयोवृद्ध ग्रामीण क्यों यहाँ इकट्ठे हुए हैं ; क्योंकि उन्हें भी अफ़सोस हो रहा था कि क्यों न उन्होंने अपनी प्यारी मातृभाषा में भली भाँति पढ़ना-लिखना सीख लिया। अब यहाँ वे अपने उस मास्टर को धन्यवाद देने आये थे जिसने ईमानदारी के साथ चालीस वर्ष तक गाँव की सेवा की थी ; साथ ही सब लोग इस रूप में अपने उस प्यारे देश के प्रति सम्मान प्रदर्शित कर रहे थे जो अब उनका नहीं रह गया था।

जब कि मेरे मन में इसी प्रकार के भाव उठ रहे थे, मेरा नाम लेकर मुझे पुकारा गया—मेरी बारी आ गई थी। शब्दभेद का वह 'भयावह' नियम खटाखट एक साँस में, साफ़-साफ़ और बिलकुल सही, कह जाने की सामर्थ्य प्राप्त करने के लिए उस समय मैं सर्वस्व समर्पित करने में भी न हिचकता। मगर दुर्भाग्य कि पहले शब्द पर ही गाड़ी अटक गई और मैं नीची नज़र किये, डेस्क के सहारे खड़ा रहा। मेरी छाती ज़ोर से धड़क रही थी। मेरे कानों में मॅसयो हेमेल के ये शब्द पड़े—

"मैं तुम्हें डाँटूँगा नहीं, फ्रेंज़ ; तुम्हें ख़ुद इसके लिए शर्मिन्दा होना चाहिए और यह हुआ था कि हम रोज़ मन में सोचते रहे, 'अजी ! अभी तो बहुत वक़्त पड़ा है। कल सबक़ याद कर लिया जायगा।' और अब तुम ख़ुद ही देख रहे हो कि इसका क्या नतीजा निकला है। उफ़ ! हमारे इस अभागे प्रान्त की यही तो ख़ासियत है ; पढ़ने-लिखने को वह हमेशा कल के लिए टालता रहता है। अब वे लोग (प्रशन) तुमसे यह कहने का मौक़ा पा गये हैं कि 'तुम लोग फ्रांसीसी कहलाने का ढोंग तो रचते हो, लेकिन अपनी भाषा (फ्रेंच) में लिख-पढ़ और बोल तक नहीं सकते ?' पर सारा दोष तुम्हारा ही नहीं फ्रेंज़ ! हम सब क़सूरवार हैं—हमने भी बहुत ग़लतियाँ की हैं।

"तुम्हारे माता-पिता तुम्हें पढ़ाने की ओर से उदासीन रहे। उन्होंने तुमसे खेती-किसानी का अथवा घर का काम कराके अपनी आमदनी बढ़ाना पढ़ाने की अपेक्षा अधिक पसन्द किया। और मैं भी तो दोष-मुक्त नहीं। मैंने क्या तुम्हें, पढ़ने के बजाय बग़ीचे के पौदों को पानी देने नहीं भेजा ? और जब मैं कहीं शिकार को जाना चाहता था, तब क्या तुम लोगों को छुट्टी न दे दिया करता था ?"

फिर मॅसयो हेमेल ने विस्तार के साथ फ्रेंच-भाषा के गुण और विशेषताएँ बताते हुए कहा कि फ्रेंच भाषा दुनिया की सबसे सुन्दर भाषा है—सबसे स्पष्ट और सबसे अधिक युक्तिसंगत ; और यह कि हम सबको फ्रेंच भाषा को सुरक्षित रखने के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए और उसे कभी भुलाना नहीं चाहिए ; क्योंकि किसी राष्ट्र की जनता ग़ुलाम बना ली जाने पर भी, जब तक अपनी राष्ट्रभाषा को अपनाये रहती है, तब तक मानो वह अपने (ग़ुलामी के) क़ैदख़ाने की कुंजी अपने पास रखती है।

इसके बाद उन्होंने व्याकरण की पुस्तक में से आगे का सबक़ पढ़ाया। उसे आज मैं इतनी अच्छी तरह समझ गया कि मुझे स्वयं आश्चर्य हो रहा था। उन्होंने जो कुछ पढ़ाया था, वह कितना सरल प्रतीत हो रहा था। मेरा ख़याल है कि न तो मैंने ही पहले कभी इतनी सतर्कता के साथ अपना सबक़ सुना होगा और न मास्टर साहब ने ही कभी इतने धैर्य के साथ प्रत्येक बात समझाई होगी। ऐसा जान पड़ता था, मानो बेचारे मास्टर साहब जाने से पहले अपना सारा ज्ञान हमें सौंप जाना चाहते हैं—सभी कुछ एक ही बार में हमारे दिमाग़ों में ठूँस देना चाहते हैं।

व्याकरण के बाद हस्तलेख का अभ्यास कराया गया। उस दिन मॅसयो हेमेल हम लोगों के लिए नई कापियाँ लाये थे, जिनमें उन्होंने बहुत सुन्दर अक्षरों में (फ्रेंच लिपि में) लिख रक्खा था—'फ़्रांस, अल्सास, फ़्रांस, अल्सास....।' सुन्दर हस्ताक्षरों में लिखे गये ये शब्द फ़्रांस के राष्ट्रीय झण्डों की तरह, कमरे के डेस्कों पर फहराते प्रतीत हो रहे थे।

कमरे में उपस्थित प्रत्येक व्यक्ति लिखने बैठ गया। सर्वत्र पूर्ण शांति थी, सिर्फ़ काग़ज़ पर क़लम चलने की आहट भर मिल रही थी। इसी बीच कुछ भौंरे अन्दर उड़ आये, लेकिन किसी ने उस ओर ध्यान न दिया; यहाँ तक कि वहाँ उपस्थित उन नन्हे बालक विद्यार्थियों का ध्यान भी वे भौंरे उस दिन अपनी ओर आकर्षित न कर सके जो काग़ज़ पर मछली पकड़ने की बंशी की आकृति की रेखाएँ खींचकर फ्रेंच लिपि में हस्तलेख लिखने के प्रयास में व्यस्त थे। कमरे की छत में से कबूतरों के 'गुटरगूँ' की धीमी आवाज़ आई और मैंने सोचा—

"क्या वे लोग (विजेता प्रशन) इन्हें भी जर्मन भाषा में ही गाने को बाध्य करेंगे—इन कबूतरों तक को?"

लिखते-लिखते जब भी मैं ऊपर सिर उठाता, मॅसयो हेमेल को अपनी कुर्सी में मूर्तिवत् स्थिर बैठे पाता। वे कमरे की एक-एक चीज़ बड़े ग़ौर से देख रहे थे; जान पड़ता था कि वे कमरे की प्रत्येक वस्तु की स्थिति का अमिट चित्र अपने स्मृति-पटल पर खींच लेना चाहते हैं।

ज़रा कल्पना तो कीजिए; इसी जगह बेचारे मास्टर साहब ने चालीस वर्ष बिताये थे—सर्वदा विद्यार्थी उनके सम्मुख रहते थे। बग़ीचे को कमरे की खिड़की से वे इसी तरह देखते आये थे। कुछ परिवर्तन यदि हुआ था, तो केवल इतना कि लड़कों के बैठने की बेंचें और डेस्क पुराने और चिकने हो गये थे; बग़ीचे में लगे हुए अख़रोट के झाड़ काफ़ी बढ़ गये थे और उनके हाथ की लगाई हुई अंगूर की बेलें छप्पर पर छा गई थीं। अब इस सबको छोड़ते हुए बेचारे के दिल पर क्या न बीत रही होगी। ऊपर के कमरे में उनकी बहन असबाब बाँध रही थी और संदूक़ों आदि की आहट सुन-सुनकर बेचारे मास्टर साहब का दिल बैठा जा रहा था; परन्तु कल तो उन्हें यहाँ से चला ही जाना पड़ेगा—ऐसा हुक्म मिल चुका था।

किन्तु कड़ा दिल करके मास्टर साहब ने ध्यान-पूर्वक प्रत्येक विषय की पढ़ाई नियमानुसार की। हस्त-लेख के बाद इतिहास पढ़ाया गया। इसके बाद बच्चों ने मिलकर स्वरयुक्त व्यंजनों की खड़ियाँ अलापना शुरू किया। पीछे की बेंच पर बैठे हुए बुड्ढे हॉज़र ने अपना चश्मा लगाकर प्रवेशिका-पुस्तक हाथ में ले ली और वह भी बच्चों के साथ मिलकर शब्दों के हिज्जे करने लगा। यदि आप वहाँ उपस्थित होते तो देखते उसका आँखों से आँसू बह रहे थे; भावावेश के कारण उसकी आवाज़ काँप रही थी। उसको पढ़ते देखकर हमें हँसी और रुलाई दोनों आ रही थीं। आह! वह आख़री पाठ आज भी मुझे ज्यों का त्यों याद है।

एकाएक गिरजे की घड़ी बारह का घंटा बजा उठी। इसके बाद ईश्वर की प्रार्थना हुई। उसी समय क़वा-यद करके लौट रहे प्रशन सैनिकों के बिगुल की आवाज़ गूँज उठी। मॅसयो हेमेल उठकर अपनी कुर्सी पर खड़े हो गये। मैंने इतना ऊँचा उन्हें कभी न देखा था। उनका चेहरा पीला पड़ गया था; वे बोले—

"मेरे दोस्तो! मैं ...मैं...." पर उनका गला रुँध गया। वे आगे न बोल सके।

तब वे काले तख़्ते की ओर बढ़े और चाक का एक टुकड़ा उठाकर, सम्पूर्ण शक्ति लगाकर अपने को सँभालते हुए बड़े-बड़े अक्षरों में उन्होंने तख़्ते पर लिखा—

"फ़्रांस अमर हो।"

फिर वे दीवार से टिककर खड़े हो गये और मुँह से विना एक शब्द निकाले, हाथ से संकेत कर उन्होंने हम लोगों से कहा—

"अब तुम्हें छुट्टी है—तुम लोग जा सकते हो।"

खजुराहा और उसकी शृंगारकला

बा० अम्बिकाप्रसाद वर्मा 'दिव्य' एम्० ए०

खजुराहा, बुन्देलखंड के अन्तर्गत छतरपूर-राज्य में, एकान्त जंगल में बसा हुआ, एक छोटा-सा ग्राम है जिसमें अधिक से अधिक सौ दो सौ घर होंगे। पर इस छोटे-से ग्राम के पीछे एक बड़ा ही महत्त्वपूर्ण इतिहास है। यह ग्राम किसी समय एक समृद्धिशाली नगर तथा हिन्दुओं का सुप्रसिद्ध तीर्थस्थान और विद्यापीठ था। उस समय के कुछ भग्नावशेष आज भी इस बात का साक्ष्य देते हैं। इन भग्नावशेषों में कुछ मन्दिर प्रमुख हैं। ये मन्दिर इतने विशालकाय और कलापूर्ण बने हैं कि उनके कारण खजुराहा आज भी सुप्रख्यात है, और हमारे लिए दर्शन तथा अध्ययन की चीज़ बना हुआ है।

प्राचीन शिला-लेखों में इसका नाम खर्जूरवाहक मिलता है। कहा जाता है कि इसके सिंहद्वार पर दो खजूर के स्वर्णवृक्ष बनाये गये थे और इसी कारण इसका नाम खर्जूरवाहक अथवा खर्जूरपुर पड़ा था। यह भी अनुमान किया जाता है कि यहाँ खजूर-वृक्षों की अधिक पैदावार रही होगी।

खजुराहा का प्राचीनतम उल्लेख ग्रीक टालमी के भारत के भूगोल-वर्णन में मिलता है। उसने बुन्देलखंड का वर्णन सुन्दरावती के नाम से किया है और टेमसिस कुर्पोनिया यमप्लेटरा तथा नदुबन्दनगर इत्यादि नगरों का उल्लेख किया है। टेमसिस से कालंजर का, जो कि बुन्देलखंड के अन्तर्गत ही है, बोध होता है; क्योंकि वैदिक साहित्य में कालंजर को तापसस्थान कहा है, और इस तापस शब्द से ही टेमसिस शब्द बना हुआ प्रतीत होता है। इसी तरह कुर्पोनिया भी इस खजुराहा का रूपान्तर-सा ज्ञात होता है और उसके प्रमाण भी मिलते हैं।

टालमी के पश्चात् फिर जो खजुराहा का उल्लेख मिलता है, वह चीनी यात्री हुएनसांग के भारत-यात्रा-वर्णन में है। हुएनसांग ने ६२६ ई० से ६४५ ई० के बीच भारत का भ्रमण किया था। उसने बुन्देलखंड का, जिसे उस समय जेजाकभुक्ति कहते थे, चीचेटू करके वर्णन किया है, और उसकी राजधानी खजुराहा बतलाई है। खजुराहा नगर का घेरा उसने १६ ली अर्थात् २२ मील से कुछ अधिक बतलाया है। उसने इस प्रान्त की पैदावार तथा समृद्धि की विशेष प्रशंसा की है और लिखा है कि यहाँ के निवासी प्रायः अबौद्ध हैं, यद्यपि बौद्धों के विहार बहुत संख्या में बने हुए हैं। ब्राह्मणों के मन्दिर केवल १२ ही हैं, पर उनमें हज़ार से भी अधिक ब्राह्मण पूजापाठ करने के लिए नियुक्त हैं। यहाँ का राजा भी ब्राह्मण है, परन्तु बुद्धधर्म में भी श्रद्धा रखता है। यहाँ देश-देशान्तर से लोग विद्याध्ययन को आते हैं और सदा सुख-शान्ति का राज्य बना रहता है।

हुएनसांग के पश्चात् खजुराहा का फिर उल्लेख महमूद ग़ज़नवी के साथी आबूरिहाँ के यात्रा-वर्णन में मिलता है। आबूरिहाँ यहाँ सन् १०२२ में आया था। उसने खजुराहा का नाम कजुराहा करके लिखा है और उसे जुझौत की राजधानी बतलाया है।

इसके पश्चात् १३३५ ई० के लगभग इब्नबतूता भी यहाँ आया। उसने इसका नाम खजुरा लिखा है। उसने यहाँ के एक तालाब का भी उल्लेख किया है, जिसको वह एक मील लम्बा बतलाता है। वह लिखता है कि यहाँ तालाब के किनारे पर कई एक मन्दिर बने हुए हैं, जिनमें जटाधारी जोगी रहते हैं। उपवासों के कारण उनका रंग पीला पड़ रहा है। बहुत-से मुसलमान भी उनकी सेवा करते हैं और उनसे योग-विद्या सीखते हैं।

इन विदेशी यात्रियों के उल्लेखों के अतिरिक्त चन्देले-वंश के राजकवि चन्द के महोबाखंड नामक काव्य-ग्रंथ में खजुराहा का अच्छा वर्णन मिलता है। स्मरण रहे कि ये चन्द, पृथ्वीराजरासो के लेखक चन्द बरदाई नहीं थे।

नवीं शताब्दी के लगभग बुन्देलखंड का शासन चन्देलों के हाथ में पहुँचा। चन्देलों के समय में ही खजुराहा की विशेष उन्नति हुई। चन्देलों का इतिहास अब भी अन्धकार में पड़ा है, परन्तु खजुराहा उनके वैभव, कलाप्रेम और शक्ति का अब भी अटल प्रमाण दे रहा है। चन्देलों ने ९वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक राज्य किया। ये चन्द्रात्रेयवंश के क्षत्रिय थे। इस वंश के मूलपुरुष का जन्म ब्रह्मानन्द मुनि से, जो कि अत्रि के पिता और चन्द के पितामह थे, हुआ

बतलाया जाता है। चन्द का जन्म खजुराहा में ही हुआ था। इनकी मा काशी से आई थीं, और उन्होंने कर्णवती अर्थात् केन नदी के किनारे, जो कि खजुराहा के कुछ ही दूर से निकली है, तप किया था। तप के फलस्वरूप ही इनके चन्द्रब्रह्म का जन्म हुआ। जब चन्द्रब्रह्म १६ वर्ष के हुए तो इनकी मा हैमवती ने भांडव यज्ञ किया। इस यज्ञ के लिए ८४ वेदियाँ बनवाई गई थीं, और कुएँ में भरकर रहँट के द्वारा वेदियों तक घी पहुँचाया गया था। घी पहुँचाने के लिए पत्थर की जो परनालियाँ बनाई गई थीं, वे अब भी खजुराहा में पड़ी हुई हैं।

कहा जाता है, इन्हीं वेदियों पर बाद को ८४ विशालकाय मन्दिर बनवाये गये थे, जिनमें से कुछ आज भी खड़े हैं, और खजुराहा के उस वैभव का साक्ष्य दे रहे हैं।

चन्देले अपना आदिघर मनियागढ़ को बतलाते हैं, जो कि केन नदी के किनारे एक पहाड़ी पर आज भी सगर्व खड़ा हुआ है। कहा जाता है, चन्देलों ने परिहारों से राज्य पाया था। परिहारों की राजधानी मऊ सहनिया थी, जो कि अब भी नया गाँव और छतरपूर के बीच बुन्देलखंड में स्थित है। सम्राट् हर्ष-वर्धन की मृत्यु के बाद चन्देलों ने अपना राज्य सम्पूर्ण जुझौत पर, जिसे आज बुन्देलखंड कहते हैं, जमा लिया। खजुराहा के शिलालेख से, जो कि महावीरजी की एक विशाल मूर्ति के आसन के नीचे हर्ष-संवत् ३१६ अर्थात् ६२२ ई० का है, पता चलता है कि कन्नौज के शासक सम्राट् हर्ष का राज्य समस्त जेजाकभुक्ति पर फैला हुआ था। सम्भव है, चन्देले भी पहले इन परिहारों के अधीन रहे हों, और बाद को अवसर पाकर स्वयम् शासक बन गये हों।

चन्देलों में कई शक्तिशाली शासक हुए, परन्तु उनमें से हर्ष, यशोवर्मन् और धांग विशेष उल्लेखनीय हैं; क्योंकि इन्हीं के समय में खजुराहा की विशेष उन्नति हुई।

हर्ष इस वंश का छठा शासक था और इसी ने इस प्रान्त को परिहारों से मुक्त किया था। यशोवर्मन् इसी हर्ष का सुपुत्र था जो कि बड़ा शक्तिशाली और प्रतापी हुआ। इसने नर्मदा से हिमालय तक अपना आतंक जमाया और चेदि तथा कालंजर को अपने राज्य में मिला लिया। यशोवर्मन् का पुत्र धांग हुआ। यह वही प्रसिद्ध धांग था, जो कि पंजाब के राजा जय-पाल के साथ ग़ज़नी के सुलतान सुबुक्तगीन से हारा था। इस पराजय से धांग को भी बड़ी क्षति पहुँची और खजुराहा का पतन प्रारम्भ हो गया। धांग के सुपुत्र गंदचन्देल के समय में महमूद ग़ज़नवी ने इस प्रान्त पर आक्रमण किया और इसे तहस-नहस कर दिया। चन्देले खजुराहा छोड़कर कालंजर, अजयगढ़ और महोबा में जा बसे, ताकि मुसलमानों का अधिक दृढ़ता से सामना कर सकें।

चन्देले कट्टर हिन्दू और शैव मत के अनुयायी थे। शिव की भार्या मनियादेवी इनकी घरू देवी थी। चन्देलों के सम्पूर्ण राज्य में मनियादेवी की बड़ी आव-भगत से पूजा होती थी। तब भी चन्देले दूसरे मतों के विरोधी न थे। वे जैन तथा बौद्धमतों में भी श्रद्धा रखते थे।

खजुराहा के मन्दिरों को चन्देलों का बोलता हुआ इतिहास कहें तो अत्युक्ति नहीं। एक-एक पत्थर से, इनके समय के रहन-सहन, आचार-विचार, रीति-रिवाज, नैतिक तथा धार्मिक जीवन, सभी के उभरे हुए चित्र दूर ही से बोलते हुए से दिखलाई पड़ते हैं। ये मन्दिर कितने विशाल, कितने भव्य और कलापूर्ण हैं, कहते नहीं बनता। इनको देखकर संसार के बड़े से बड़े शिल्पशास्त्री दाँतोंतले उँगली दबाकर ही रह जाते हैं। इनके विषय में स्वयम् आर्क्यालाजी-विभाग की रिपोर्ट में लिखा है—

"In beauty of outline and richness of carving, the temples of Khajuraha are unsurpassd by any kindred group of monuments in India."

खेद यह है कि ८४ मन्दिरों में से केवल ३० या ३५ मन्दिर ही शेष रह गये हैं अन्य या तो सहज ही काल के गाल में समा गये हैं, या मुसलमान शासकों के प्रहारों से धराशायी हो गये हैं। जब खजु-राहा के ये भग्नावशेष ही हमको विज्ञान के इस युग में भी, आश्चर्य में डालते हैं, तब खजुराहा जब अपनी पूर्ण यौवनावस्था में रहा होगा, उस समय उसे देखकर हमारे क्या विचार होते, इसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते। ये मन्दिर भुवनेश्वर के सुप्रसिद्ध मन्दिरों की इंडोआर्यन पद्धति पर बने हैं, और एक-एक मन्दिर में छोटी-बड़ी इतनी अधिक मूर्तियाँ हैं कि उनका गिनना भी कठिन-सा प्रतीत होता है। ये सभी मन्दिर आकृति और बनाव में प्रायः एक से ही

हैं और एक ही मत के प्रतीक से ज्ञात होते हैं। कई मन्दिर इनमें से पंचायतन शैली के भी हैं और पूर्णतया हिन्दू-शिल्पशास्त्र के अनुकूल बने हैं।

ये समस्त मन्दिर तीन समूहों में विभक्त किये जा सकते हैं। पश्चिमी समूह, पूर्वी समूह, तथा दक्षिणी समूह। पश्चिमी समूह विशेष दर्शनीय है। इसमें निम्न प्रकार के मन्दिर ही उल्लेखनीय हैं—

चौंसठ योगिनियों का मन्दिर—यह मन्दिर शिवसागर नाम की झील के उत्तर-पूर्व एक ऊँचे टीले पर स्थित है। मन्दिर तो धराशायी हो चुका है, उसका भग्नावशेष-मात्र है। इसमें कहा जाता है, भगवती चंडिकादेवी की तथा उनकी दासी ६४ योगिनियों की विशाल मूर्तियाँ पृथक्-पृथक् खानों में स्थापित थीं, परन्तु अब वे सब की सब लापता हैं। ख़ाने अवश्य ख़ाली पड़े दिखलाई देते हैं। कहा जाता है, यह मन्दिर खजुराहा के सभी मन्दिरों में प्राचीन और विशेष दर्शनीय था।

कन्दरिया मन्दिर—यह मन्दिर चौंसठ योगिनियों के मन्दिर से कुछ ही दूरी पर उत्तर की ओर स्थित है। यह मन्दिर खजुराहा के सभी मन्दिरों से विशाल और भव्य है। यह ईसा की दसवीं शताब्दी का बना हुआ है। पहले यह पंचायतन शैली का था, परन्तु चारों कोनों के सहायक मन्दिरों का अब नाम-निशान भी नहीं। बाहर-भीतर नख से शिख तक यह देवी-देवताओं इत्यादि की विभिन्न मूर्तियों से आच्छादित है।

देवी जगदम्बा का मन्दिर—यह भी उपर्युक्त मन्दिरों के समीप ही है और उसी शैली का बना हुआ है।

चित्रगुप्त का मन्दिर—यह जगदम्बा के मन्दिर से कुछ ही दूरी पर उत्तर की ओर स्थित है। आकार-प्रकार में भी उपर्युक्त मन्दिर के समान ही है।

विश्वनाथ का मन्दिर—यह मन्दिर भी उपर्युक्त मन्दिर के समीप ही है, तथा आकार-प्रकार में कन्दरिया के मन्दिर के समान है। इसकी सजावट भी उतनी ही समृद्ध और कलापूर्ण है। इसमें मंडप के अन्दर दो विशाल शिलालेख पड़े हुए हैं। इनमें से एक विक्रम-संवत् १०५९ का है। इसमें नन्नुक से लेकर धांग तक चन्देल राजाओं की नामावली दी गई है। इसी लेख से पता चलता है कि यह मन्दिर धांग का बनवाया था और इसमें हरे मणि का शिवलिंग स्थापित किया गया था। परन्तु अब उस शिवलिंग का पता नहीं। दूसरा शिलालेख किसी अन्य मन्दिर के ढीहे से लाकर रख दिया गया है, जिसे वैद्यनाथ का मन्दिर कहते रहे हैं। इसमें १०५८ संवत् पड़ा है।

लक्ष्मणजी का मन्दिर—यह भी समीप ही है और आकार-प्रकार में विश्वनाथ के मन्दिर के समान है। इसकी मूर्तियाँ विशेष सुन्दर और कलापूर्ण हैं। इसके मंडप में भी एक शिलालेख पड़ा है, जिससे पता चलता है कि यह धांग के पिता यशोवर्मन् द्वारा बनवाया गया था। इसमें जो विष्णु की मूर्ति स्थापित है, वह कन्नौज के राजा देवपाल से प्राप्त की गई थी, जिसे यशोवर्मन् के पिता हर्षदेव ने हराया था।

मतंगेश्वर का मन्दिर—यह लक्ष्मणजी के मन्दिर के बग़ल में दक्षिण की ओर स्थित है। इसमें एक विशाल शिव-लिंग स्थापित है, जिसकी आज भी बड़ी श्रद्धा और भक्ति से पूजा की जाती है। इस मन्दिर में कला की कोई चीज़ दर्शनीय नहीं।

इस समूह में और भी कई छोटे-छोटे मन्दिर हैं, परन्तु कला की दृष्टि से वे विशेष उल्लेखनीय नहीं।

पूर्वी समूह में भी इसी प्रकार कई मन्दिर हैं, जिनमें से ब्रह्मा का मन्दिर, वामन का मन्दिर, घंटाई मन्दिर, पारसनाथ का मन्दिर, शान्तिनाथ का मन्दिर इत्यादि ही विशेष उल्लेखनीय हैं। परन्तु इनमें उतनी उच्च कोटि की कला नहीं।

दक्षिणी समूह में—दूल्हादेव, जतकारी अथवा चतुर्भुज का—दो ही मन्दिर हैं। खजुराहा के मन्दिरों में दूल्हादेव का मन्दिर सबसे सुन्दर माना जाता है। इसके नाम से भी एक विचित्र घटना सम्बद्ध है। कहा जाता है कि एक बारात इस मन्दिर के समीप से निकल रही थी। मन्दिर के सामने आते ही, दूल्हा अचानक ही पालकी पर से गिर पड़ा और मर गया। वह प्रेत हुआ और तभी से मन्दिर दूल्हादेव का कहलाने लगा।

जतकरी मन्दिर—जतकरी ग्राम से क़रीब तीन फ़र्लांग की दूरी पर दक्षिण की ओर यह मंदिर है। इसमें विष्णु की एक बहुत विशाल मूर्ति स्थापित है।

इन मन्दिरों की कारीगरी के विषय में जो कुछ कहा जाय, थोड़ा है। ये आज हमारे आश्चर्य की चीज़ें हैं। कुछ ही शताब्दियों में इतना समय बदल गया है कि आज हम उनकी निर्माण-विधि की कल्पना ही नहीं कर सकते। साधारण जनता तो उन्हें देवताओं का बनाया हुआ कहती है। हमें भी यही मानना

पड़ता है, क्योंकि उनका बनवा लेना आज हमारी सामर्थ्य के बाहर है। जब हज़ारों कारीगर एक साथ पत्थरों पर छेनियों और टाँकियों से काम करते होंगे, तब कैसे मधुर संगीत का आविर्भाव होता होगा ?

इन मन्दिरों के शिल्प और स्थापत्यकला के अतिरिक्त मूर्तियों के विषय भी विशेष अध्ययन के योग्य हैं। यहाँ जीवन की अनेक झाँकियों के साथ शृंगार को ही विशेष स्थान दिया गया है और शृंगार की मूर्तियाँ ही हमारी आँख को सबसे पहले आकृष्ट करती हैं। देवी-देवताओं की सौम्य मूर्तियाँ तो इनके सामने दबी-सी जाती हैं। कोक की अनेक कलाओं का खुला खेल हमारी दृष्टि को इतना वशीभूत कर लेता है कि हम मन्दिरों की अन्य विलक्षणताओं को देखना भूल-सा ही जाते हैं। श्लील और अश्लील की भी उस समय क्या परिभाषा रही होगी, हम नहीं कह सकते। कुछ मुखों से यह बात भी सुनने को मिली है कि इस प्रकार नग्न और अश्लील मूर्तियों के स्थापन से इमारत पर बिजली नहीं गिरती। कुछ इसे वाममार्गियों का खेल बतलाते हैं।

जो हो, यह कारीगरी आज हमारे कौतूहल और अध्ययन की चीज़ बनी हुई है। उस समय पुरुष के हृदय में स्त्री का कैसा रूप समाया हुआ था, स्त्री का समाज में अपना क्या स्थान था, उसके नैतिक जीवन की क्या परिभाषा थी तथा उसके नारीत्व के सम्मान की क्या आयोजना थी, ये सभी बातें हमारे सामने एक साथ ही प्रकट हो जाती हैं।

खजुराहा की स्त्रियाँ अपार सुन्दरी, अचलयौवना, शृंगारप्रिया और अनंगोपासिका हैं। वे न क्षीणकाय हैं, न स्थूल। उनकी शरीर-रचना स्वस्थ और सुडौल है। उनके अंग-प्रत्यंग एक विशेष साँचे में ढले हुए से प्रतीत होते हैं। वे निश्चित शास्त्र के अनुकूल बनाये गये हैं, प्रकृति जैसी अनियमितता उनमें नहीं। उनकी भ्रुकुटियाँ धनुषाकार कानों तक जानेवाली लकीरें भर हैं। आँखों में यौवन, अनंग और कटाक्ष हैं। वे रूप-गर्विता के समान सदा अपने ही रूप को देखती और सम्हालती हुई सी प्रतीत होती हैं। उनकी अन्तर-तरंगें शृंगार के द्वारा प्राप्त, किसी नैसर्गिक आनन्द की ओर उन्मुख हैं। उनकी मुद्राओं तथा भाव-भंगिमा में, कर्कशता, कठोरता, तथा क्रोध को कहीं भी स्थान नहीं। हाँ, स्त्रियोचित कोमल, लज्जा अवश्य उनके मुखों पर खेलती है और यही खजुराहा के कारीगर के हृदय में स्त्रीत्व का सम्मान है। उनकी नासिका, ठुड्डी, कपोल इत्यादि भी किसी विशेष आदर्श के अनुकूल बनाये गये हैं। स्तनों के विषय में तो आजकल कुछ कहना ख़तरे से ख़ाली नहीं। हाँ, इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि खजुराहा का कारीगर, उनको बनाने में ब्रह्मा से भी बाज़ी मार ले गया है। बुड्ढा ब्रह्मा भला उनका बनाना क्या जाने। वे शरीर में इतने प्रमुख उन्नत और गुरुतर हैं कि उनका भार सम्हालना भी स्त्रियों को कठिन-सा प्रतीत होता ज्ञात हो रहा है। इस भाव के अभिव्यंजन में कारीगर ने जो कमाल दिखलाया है, वह केवल देखते ही बनता है। उसके सौन्दर्य की परिकल्पना प्राचीन होने पर भी आज अर्वाचीन-सी ज्ञात होती है और उसे ही आदर्श मानने के लिए हमारा मन आन्दोलन-सा करने लगता है।

खजुराहा की रमणियों का शृंगार भी उनके सौन्दर्य के अनुरूप है, वह कल्पित नहीं। उसके कुछ परिवर्तित रूप आज भी बुन्देलखंड में प्रचलित हैं, परन्तु उस समय की सी शृंगार-प्रियता स्त्री-समाज में अब देखने को नहीं मिलती। उस समय के एक-एक अंग के अनेक-अनेक अलंकार मूर्तियों के अंगों पर दिखलाई पड़ते हैं। वेणी बाँधने के भी कितने ढंग उस समय प्रचलित थे, यह देखने योग्य है। मालूम नहीं, आज वे ढंग क्यों लुप्त हो गये, स्त्रियाँ अपनी वेश-भूषा से क्यों इतनी उदासीन हो गईं। वेणीबन्धन में भी कितनी कला हो सकती है, यह खजुराहा ही से सीखना चाहिए। सिर के प्रत्येक अलंकार का तो आज नाम भी ढूँढ़ निकालना कठिन-सा प्रतीत होता है। तब भी झूला, शीशफूल, बीज, दावनी, खुसमा, बँधिया इत्यादि किसी तरह पहचाने जा सकते हैं। मस्तक पर बिन्दी देने की सम्भवतः उस समय प्रथा ही नहीं थी। बिन्दी का चिह्न किसी मूर्ति पर अंकित नहीं मिलता। नाक का भी कोई भूषण दिखलाई नहीं पड़ता। कानों में प्रायः एक ही प्रकार का भूषण, जिसे बुन्देलखंड में ढाल कहते हैं, मिलता है। गले में लल्लरी, मोतियों की माला, खँगोरिया, हार, हमेल, तथा और भी कुछ ऐसे गहने देखने को मिलते हैं, जिनको पहचान सकना कठिन है। बाजुओं में बजुल्ले, बहुँटा, जोसन, टाँड़े तथा और भी कुछ गहने दिखलाई पड़ते हैं। कलाइयों में चूड़े, कंकण, दुहरी ही प्रायः मिलती हैं। कटि में साँकर पहनने की कुछ विशेष प्रथा रही है। साँकर को कटिडोरा, कटिबन्द या करधनी भी कहते

हैं। इसका बनाव आजकल के बनाव से कुछ विशेष अच्छा दिखलाई पड़ता है। उसकी झालरें और झुमके प्रायः घुटनों तक झूमते नज़र आते हैं।

पैरों के प्रति खजुराहा का कारीगर कुछ उदासीन सा प्रतीत होता है। पैरों में कहीं-कहीं पर पैंजने या कहीं-कहीं कड़े-सा कोई ज़ेवर ही नज़र आता है।

खजुराहा की स्त्रियों में वस्त्रों का व्यवहार बहुत ही परिमित है। कटि के नीचे ही धोती पहनने की प्रथा रही है। सिर पर उसे नहीं ओढ़ा जाता था। उत्तरीय का भी पता नहीं चलता। वक्ष में कंचुकी अवश्य दृष्टिगोचर होती है। सीना खुला रखने में खजुराहा की स्त्रियाँ लज्जा का अनुभव नहीं करती रहीं। सिर का ढाँकना तो उन्हें ज्ञात ही नहीं था।

रूप और शृंगार के साथ खजुराहा की स्त्रियों की भावभंगी तथा अंग-प्रत्यंग की विभिन्न मुद्राएँ तो देखते ही बनती हैं। अंग-प्रत्यंग में कलाकार ने कैसी-कैसी कल्पना की है, यह अध्ययन की चीज़ है। स्त्री के खड़े होने में, बैठने में, चलने-फिरने में—सभी में एक विशेष सौंदर्य की योजना है। स्त्री का अंग-प्रत्यंग किसी कलाकार से ट्रेनिंग-सा पाया हुआ प्रतीत होता है। उसके प्रत्येक हाव-भाव में कोमलता, क्रिया-विदग्धता और कटाक्ष वर्तमान हैं। प्रत्येक हाव-भाव में उँगलियाँ और आँखें विशेष क्रियाशील हैं। प्रत्येक उँगली का कुछ नियत काम-सा प्रतीत होता है, जैसे चन्दन का तिलक लगाने में पेंती का ही प्रयोग होता है।

सीने और नितम्ब में खजुराहा का कलाकार सौंदर्य का विशेष अनुभव करता है। प्रत्येक मुद्रा में सीने और नितम्बों को उसने प्रधानता दी है। नितम्ब-भाग को सामने लाने के लिए उसने शरीर को इतना मरोड़ दिया है कि कहीं-कहीं पर वह प्रकृति के भी विपरीत हो गया है। कटि इतनी कोमल और लचीली है कि वह यौवन के भार को सम्हाल ही नहीं सकती। खजुराहा का कलाकार भद्देपन या गँवारूपन को जानता ही नहीं रहा।

पुरुष के साथ में तो खजुराहा की स्त्रियाँ उसके विषय-पिपासा की साधिका-मात्र हैं। कलाकार ने अपनी वासना-मय भावनाओं को इतना खुलकर अभिव्यक्त किया है कि स्त्री की सहज लज्जा का भी उसे ध्यान नहीं रहा। उसने स्त्री को पुरुष से भी अधिक कामुक और विषय-तृषित दर्शाया है। वही प्रेम और प्रसंग के व्यापार में अग्रसर और पुरुष से भी अधिक आनन्द लेती हुई प्रतीत होती है। आनन्दोद्रेक में वह पुरुष में समा ही जाना चाहती है। पुरुष की मर्ज़ी पर वह इतनी झुक गई है कि उसके अन्दर हड्डियों का भी अस्तित्व ज्ञात नहीं होता। वह अपनी प्रत्येक अवस्था में पुरुष को रिझाने का षड्यंत्र-सा ही करती नज़र आती है। कहीं वह वेणी सम्हाल रही है, कहीं आँख में अंजन दे रही है, कहीं अँगड़ाई ले रही है, कहीं भूषणों-आभूषणों को पहन रही है। कहीं पैर से काँटा निकाल रही है, कहीं आइने में मुँह देख रही है। वह अपने अन्तःपुर में है और यौवन की उत्ताल तरंगों से खुलकर खेल रही है। पर उसकी सब तैयारी नेपथ्य में सजते हुए पात्र के समान किसी विशेष अभिनय के लिए ही है। हाँ उसकी प्रत्येक मुद्रा में अनन्त यौवन, विषय-पिपासा और स्वास्थ्य की छाप है।

खजुराहा का पुरुष लम्पट और व्यभिचारी नहीं। वह प्रेम और स्त्री-प्रसंग को एक पवित्र यज्ञ-सा समझता हुआ प्रतीत होता है। उसके पीछे भी एक धार्मिक भावना अन्तर्निहित-सी ज्ञात होती है। वह शुद्धहृदय है और उसका लक्ष्य भी शुद्ध है। वह विषय का रोगी नहीं, वह दीन-हीन क्षीणकाय ही है। यद्यपि खजुराहा के पत्थर से काम की कला का आविर्भाव होता है, तो भी उस वायुमंडल में आधुनिक अस्वस्थता, ह्रास और पतन के चिह्न नहीं। उस युग के पुरुषों में यज्ञ की भावना थी और यही उनके प्रत्येक कार्य के पीछे शक्ति थी। उनमें आत्मबल और चरित्रबल था। आजकल हमारे हृदयों में कुरुचि समा गई है, और हम वस्तु का ठीक-ठीक मूल्यांकन नहीं कर पाते। यही रोग हमें जीवन का सदुपयोग नहीं करने देता।

शृंगार-मूर्तियों के अतिरिक्त पूजा, शिकार, मल्लयुद्ध, हाथियों के युद्ध, फ़ौज की यात्रा इत्यादि अनेक प्रकार की जीवन की घटनाओं को व्यक्त करनेवाली मूर्तियाँ खजुराहा में दृष्टिगोचर होती हैं। इससे ज्ञात होता है कि खजुराहा के कलाकार का उद्देश्य जीवन के सभी अंगों पर प्रकाश डालने का था। उसकी दृष्टि जीवन की सम्पूर्णता की ओर थी। एक जगह तो पत्थर ढोते हुए मज़दूरों तक का चित्रण किया गया है। इस प्रकार खजुराहा के मन्दिर अपने समय की एक इनसाइक्लोपीडिया के ही रूप हैं। शिल्प-कारों ने तो जो अपना कौशल दिखलाया है उसका अनुकरण आज विज्ञान के युग में भी असम्भव-सा

प्रतीत होता है। पत्थर को तो उन्होंने मोम ही बना डाला है। उसे अपने मनोनुकूल ऐसा ढाला है, जैसा कि हम धातु को भी नहीं ढाल सकते। न जाने उनके पास कौन-से औज़ार थे और कौन-सी लगन? उनका जीवन कितना सुरक्षित था और कितना उसका विश्वास! वास्तव में खजुराहा देखने की चीज़ है।

खजुराहा जाने के लिए निकटतम रेलवे स्टेशन हरपालपूर और महोबा हैं। इन दोनों से छतरपूर होते हुए ठीक खजुराहा तक मोटरलारियाँ जाती हैं।

उर्मिला

पं० श्यामलाल शुक्ल "चकोर"

पतिचिन्तना में रहती हूँ निमग्न, तपस्विनी सी बनी डोल रही हूँ।
निज अन्तर की छिपी वेदना को, निज अश्रु से उज्ज्वल तोल रही हूँ।
बस नीरस ज़ीवन की उलझी, सुलझाकर ग्रंथियाँ खोल रही हूँ।
जलस्वाति के प्यासे पपीहरा सी, "पी कहाँ पी कहाँ" यहाँ बोल रही हूँ॥

भागीरथी से हुए विरथी, वट या जटाजूट बना रहे होंगे।
कल्पना है उठती मन में, वन निर्जन में चले जा रहे होंगे।
क्या पता लोनी लताद्रुम से, चुनके सुमनाञ्जलि ला रहे होंगे।
राघव के चरणाम्बुजों की हृदयेश गुणावली गा रहे होंगे॥

ज्ञात न था है वियोग सँजोग में, क्या घटना ये विचित्र घटी है।
दोष विरंचि को दूँ कर रोष, नहीं, नहीं भाग्य से मेरी पटी है।
जानकी ज्यों वन प्राण की संगिनी, जा न सकी मति मानो कटी है।
प्रीतम की शुचि पर्णकुटी है, 'चकोर' मनोरम पंचवटी है॥

मुख इन्दु पै जो झलके श्रमबिन्दु, उन्हें छविसिन्धु निहारते होंगे।
आश्रम को नित कोल किरात, बुहार के मंजु सँवारते होंगे।
चातक कोकिल कीर 'चकोर', मधुव्रत, मोर पुकारते होंगे।
योगी यती मुनिवृन्द समोद, सुरासुर नाग पधारते होंगे॥

मैं विरहानल में जल के जलके विना मीन सी हूँ मरी जाती।
आह विपत्ति ने घेर लिया है सनेह का दीप वहाँ यहाँ बाती।
चौदह वर्ष ये कैसे कटें जब हो रही है छलनी अभी छाती।
पाती नहीं सुधि हूँ कल पाती अभागिनी हूँ, कभी पाती न पाती॥

कैकेयी का अपराध

पं० पद्मानन्द चतुर्वेदी साहित्याचार्य, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न

आजकल हिन्दी-साहित्य-क्षेत्र में नवीन धारा का प्रादुर्भाव दिखाई पड़ता है, फिर भी नवीनता में भी प्राचीनता का ही गौरव पाया जाता है। यही कारण है कि आज भी हिन्दू-समाज में रामशाखा और कृष्ण-शाखा का वही बोलबाला है जो कि पहले था और साथ-ही-साथ उसी प्रकार घृणात्मक व्यवहार उन पात्रों के साथ होता है जिन पात्रों के कारण इन शाखाओं की उत्पत्ति हुई और इनकी जड़ जमी। यह तो निर्विवाद सिद्ध होता है कि अन्धानुकरण की प्रवृत्ति समाज से दूर नहीं होती और इस अनुकरण को स्थापित करने में भक्त कवियों का विशेष हाथ रहा है। कवियों के बारे में कहा जाता है कि वे 'क्रान्तिदर्शी' होते हैं; पर इस वाक्य का सन्तोषजनक उत्तर तो हिन्दूसमाज के भक्त कवियों में नहीं पाया जाता। वे तो केवल भक्तिदर्शी ही पाये गये हैं, या यों कहना अधिक उचित होगा कि हमारे प्राचीन कवि 'क्रान्ति' की भावना को जानते ही नहीं थे। तथा वे शत्रुओं के आक्रमण से भयभीत होकर केवल रामकृष्ण की भावना को व्यक्त करते हुए समाज का कल्याण करने में अनवरत लगे रहे। समय बीतता गया और कवियों की प्रवृत्ति कुछ तत्त्व की ओर आई और उसी का एक रूप कविवर मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' में दिखाई पड़ा, यद्यपि साकेत में उपेक्षिता 'उर्मिला' का रूप वैसा नहीं है, जैसा कि एक भ्रातृस्नेही ब्रह्मचर्य-परायण एकान्त योगी की स्त्री का होना चाहिए। नवीन विचार तथा नवीन कृति के नाते इसका रूप भी आधुनिकता को लिए हुए है। ब्रह्मचर्य का पालन करनेवाला व्यक्ति ही मेघनाद का वध कर सकता है, यदि हम इस तथ्य की ओर दृष्टिपात करते हैं तो उसके सामने चित्रकूट पर्वत पर 'उटज' में पति-पत्नी का 'इण्टरव्यू' करा देना तथा 'उर्मिला' से राजनायिका की तरह प्रेम के भावों, उच्छ्वासों का वर्णन करा देना कहाँ तक न्याय संगत है? अस्तु, यह विवादास्पद विषय है। अब हम अपनी अभिरुचि की ओर आकृष्ट होते हैं। हमारा विषय है 'कैकेयी का अपराध'। आज पाठकों के सामने यह प्रस्ताव उपस्थित किया जाता है कि इस प्रकार का कलङ्क कैकेयी के ऊपर लगाया गया—वहाँ कहाँ तक सत्य है? रामायण के देखने में यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि कैकेयी ने अपने पुत्र के लिए जो कुछ भी किया, उचित ही था। इसके लिए हमें आदिकाव्य वाल्मीकीय रामायण के कुछ पृष्ठ उलटने होंगे। रामायण में यह स्पष्ट लिखा है कि महाराज दशरथ वीर होते हुए भी कामुक थे। इसीलिए उनके रनिवास में सैकड़ों रानियाँ अपनी आत्मा की सत्ता को नष्ट कर अपने सतीत्व का बलिदान कर रही थीं। प्रधान महिषी कौशल्या थीं, फिर भी रूपमाधुरी के प्रेमी दशरथ ने सुमित्रा तथा अन्तिम वय में कैकेयी को अपने प्राणों से भी बढ़कर माना था, और इसके लिए उन्होंने प्रतिज्ञा की थी, तथा समय पड़ने पर दो वरदान भी दिये थे। इन बातों को स्पष्ट कर देना उचित है। अश्वपति केकय (कांधार) के राजा थे। दूत-मुखों से दशरथ ने कैकेयी की रूप-प्रशंसा सुनी और मोहित होकर विवाह के लिए प्रस्ताव उपस्थित किया। दशरथ की वीरता तथा अधिकार की विस्तृत सीमा देखकर अश्वपति ने सम्बन्ध स्थापित करना उचित समझा तथा इसके साथ ही साथ अपनी कन्या के गर्भ से उत्पन्न होनेवाली सन्तान के लिए विशेष स्थान सुरक्षित रक्खा। इसी बात को रामचन्द्र ने चित्रकूट पर्वत पर जब भरत बारबार लौट चलने के लिए आग्रह कर रहे थे—कहा है—

> पुरा भ्रातः पिता नः स मातरं ते समुद्वहन्।
> मातामहे समाश्रौषीद्राज्यशुल्कमनुत्तमम्॥
>
> (वा० रामा० अरण्य)

हे भरत, पहले नाना के सामने पिता ने माता कैकेयी के साथ ब्याह करते समय राज्य का शुल्क रक्खा था। इस प्रकार कैकेयी की आकांक्षा, जिसके लिए वह नकू बनाई गई, क्या उचित नहीं थी। दशरथ ने कैकेयी के प्रति कम अन्याय नहीं किया; क्योंकि जिसके साथ प्रतिज्ञाबद्ध होकर विवाह किया और उसे अपने प्राणों के समान मानते रहे तथा युद्धभूमि में जिसने अपने पतिव्रत धर्म के नाते दो बार प्राणों की रक्षा की उसी का अवसर पड़ने पर तिरस्कार करना कहाँ तक न्यायसंगत है? दशरथ ने जान-बूझ कर या यों कहना

चाहिए कि कपटी होकर कैकेयी के साथ कुत्सित बर्ताव किया है। इसमें क्या कपट-जाल नहीं था कि भरत को ननिहाल भेजकर दशरथ के मन में रामचन्द्र को युवराज बनाने की इच्छा क्यों प्रबल हुई ?

विप्रोषितश्च भरतो यावदेव पुरादितः।
तावदेवाभिषेकस्ते प्राप्तकालो मतो मम।
(वा० रामा० अयोध्या)

जबतक भरत यहाँ से दूर हैं तबतक तुम्हारा अभिषेक हो जाय—यह हमारी इच्छा है। युवराज पद का समारोह एक चक्रवर्ती राजा के यहाँ हो—और गुप्त रीति से मनाया जाय—इसमें कुछ कारण अवश्य होना चाहिए। रामायण के द्वारा यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि दशरथ कामी, यथेच्छाचारी तथा अनीतिज्ञ राजा थे। कैकेयी के द्वारा वनवास की बात सुनकर दशरथ रामचन्द्र से कहते हैं कि तुम मुझसे बलपूर्वक राज्य छीन लो। इस प्रकार दशरथ ने अपनी हीनता प्रकट की है। यही नहीं, दशरथ ने यह भी कहा है कि अग्नि की साक्षी देकर जो मैंने तेरा पाणिग्रहण किया है उसे मैं अस्वीकार करता हूँ। एक महाराज पदवाले के मुख से इस प्रकार की अनर्गल बातें निकलना उचित नहीं हैं।

इस प्रकार के वातावरण में कैकेयी को एक तरह से निर्वासित किया गया। कैकेयी की इच्छा कुछ स्वार्थ लेकर ही बूढ़े राजा के साथ सम्बन्धित हुई। यह भी माननीय है कि अश्वपति ने लोभ के अधीन होकर अपनी कन्या का बलिदान किया। यह ठीक है; क्योंकि पिता की इच्छा अपनी कन्या को अच्छे घर में ब्याहने की होती ही है। इसके लिए पाठक अश्वपति को दोषी ठहरा सकते हैं। पर कैकेयी ने कौनसा अपराध किया था, जिसकी उपेक्षा कवियों ने की है। वह अपने बूढ़े पति की उचित सेवा तथा मनोविनोद की साधिन बनी है। यह भी कहा जा सकता है कि कैकेयी की कुक्षि से जो पुत्र उत्पन्न हुआ—वह पुत्रेष्टि यज्ञ के कारण हुआ—इसलिए वह राज्य का अधिकारी नहीं हो सकता। यह भी कहना तथ्यसंगत नहीं है; क्योंकि यदि ऐसी बात थी तो दशरथ ने उस पायसान्न को तीनों रानियों को क्यों बाँटा। इससे तो भासित होता है कि दशरथ को पायसान्न में विश्वास नहीं था—इसीलिए उन्होंने कौशल्या, कैकेयी-सुमित्रा को बाँटकर खाने के लिए दिया। यदि दशरथ को पायसान्न में पूर्ण विश्वास होता तो केवल प्रधाना महिषी कौशल्या ही को पायसान्न देकर पुत्र लाभ करते। ऐसा उन्होंने नहीं किया। इसलिए कैकेयी का जो मन्तव्य था, उसका पूर्ण होना न्यायसंगत था। रामायण में मानव महापुरुष के रूप में रामचन्द्र का चरित्र चित्रण किया गया था। कैकेयी मन्थरा द्वारा, जो कि ज्ञातिदासी थी, इस तरह से राम के युवराज बनने की प्रवृत्ति को सुनकर प्रसन्न नहीं होती है—और पहले मन्थरा को डाँटती है और इनाम देने की चेष्टा करती है। पर जब मन्थरा पूर्वप्रतिज्ञा तथा वरदान की याद दिलाकर युवराज पद की मीमांसा करती है तब कैकेयी को अपनी प्रतिष्ठा का स्मरण होता है—और वह अपने मनोरथ को सफल करने के लिए क्रोधित होकर कोपभवन का आश्रय लेती है। दशरथ अन्तिम क्षण में कैकेयी के पास रामचन्द्र को युवराज बनाने की खुशखबरी सुनाने जाते हैं। कैकेयी के भवन में जाकर दशरथ को अपने कर्तव्य के सत्यासत्य का भान होता है। वहाँ वे अपना जाल फैलाते हैं; परन्तु कैकेयी उनके जाल में नहीं फँसती और अपने दो वरदानों पर दृढ़ रहती है। भरत को राजगद्दी का अधिकारी बनाना स्वीकार करते हुए भी दशरथ वनवास के लिए तैयार नहीं होते। इस पर कैकेयी कहती है, नहीं, मैं रामचन्द्र के सामने सारा मामला रक्खूँगी। उन्हीं के द्वारा इसका फैसला होगा। वह जानती थी कि यदि रामचन्द्र वनवासी न हुए तो सम्भव है, गृहयुद्ध प्रारम्भ हो जाय; क्योंकि सुमंत्र, लक्ष्मण आदि इस व्यवहार के विरुद्ध थे। रामायण से यह ज्ञात होता है कि उस समय अन्तःपुर के अधिकारी कैकेयी के वरदानों से बहुत ही असन्तुष्ट थे। सुमन्त्र मंत्री भी, जो कि दशरथ के अधिक सन्निकट रहते थे और जिनकी जीभ कैकेयी की तथा दशरथ की चापलूसी में सदा तत्पर रहती थी, इस काण्ड तथा दशरथ की प्रवृत्ति कैकेयी की ओर से विमुख देखकर पैंतरा बदलने लगते हैं। सुमन्त्र की दृष्टि कैकेयी की ओर से बदलकर अण्ट-शण्ट कहने को प्रेरित करती है। सुमन्त्र कहते हैं—अच्छी बात है तू अपनी मनमानी कर ले—तेरे राज्य में कोई ऋषि-मुनि-ब्राह्मण नहीं रहेगा। सभी तेरे राज्य से निकलकर दूसरे स्थान पर अपना जीवन यापन करेंगे। इस तरह सुमन्त्र बढ़-बढ़कर बातें कहते हुए कैकेयी को धमकाते हैं। कैकेयी इन सब गिदड़भबकियों से नहीं डरती, पर उसको इस बात का बेहद दुःख है कि इस समय सभी मेरे विरुद्ध हो रहे हैं। कैकेयी प्रातःकाल रामचन्द्र से अपने अभियोगों को प्रकट

करती है, जिसे सुनकर रामचन्द्र वनवास के लिए तैयार हो जाते हैं।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इस प्रकार के सत्य को भुलाकर कविसम्प्रदाय ने कैकेयी को क्यों ठुकराया। क्या इस ठुकराहट में एकांगी दृष्टि का विचार सन्निहित नहीं है? मुझे भी यह भासित होता है कि उस समय का ब्रह्ममण्डल दशरथ के अनुकूल ही था। रामचन्द्र के गुणों से सभी प्रभावित थे और साथ ही साथ दशरथ की डिक्टेटरशाही के कारण ब्रह्ममण्डली कुछ भयभीत भी थी। रामचन्द्र को वे अपनी ओर मिलाना चाहते थे। इसी से विश्वामित्र ताड़का-वध के लिए रामचन्द्र को ही साथ ले जाना चाहते थे। दशरथ स्वयं आश्रम की रक्षा करने के लिए जाने को तैयार थे; पर विश्वामित्र ने दशरथ को साथ ले जाना पसन्द नहीं किया। शाप के भय का संकेत करते हुए राजगुरु वसिष्ठ भी विश्वामित्र का अनुमोदन कर रहे थे। इसी लिए रामचन्द्र आश्रम की ओर ले जाये गये। अहल्या का रूपक भी इस रहस्य को प्रकट करने वाला है; क्योंकि अनजाने में सम्भव है, अहल्या ने इन्द्र की कामना की हो—या मुर्गे की बाँग से गौतम जगकर नदी स्नान करने चले गये हों—या अहल्या पर सन्देहात्मक दृष्टि रखते हुए अपनी आँखों से सारे रहस्य को समझना चाहते हों—कुछ भी हो नदी से लौट कर अहल्या और इन्द्र को उन्हाने अपनी कुटी में देखा। देखते ही अहल्या का त्याग कर तथा इन्द्र को शाप दे हिमालय चले गये। अपने पति की इस उदारता तथा त्याग को देखकर अहल्या के मन में भीषण आत्मग्लानि हुई और उसने प्रायश्चित्त स्वरूप अपने शरीर को खूब तपाया। उसकी इस तपश्चर्या को देखकर आश्रमवासी ऋषि मुनि प्रसन्न हो गये। उनके मन में यह भासित होने लगा कि अब अहल्या को अपना लेना चाहिए; क्योंकि धर्मशास्त्र के अनुकूल अहल्या ने अपनी तपस्या पूरी कर ली थी। इतना होते हुए भी विना राजाज्ञा की मुहर लगे ऋषियों का संकल्प कैसे पूरा हो सकता था? इसीलिए अपनी नीति सफल करने के लिए ऋषिगण विश्वामित्र को अग्रणी बनाकर अपना षड्यन्त्र सफल करने के लिए सफलता के मद में आगे बढ़े। भावी राजा की अभ्यर्थना अहल्या ने की और रामचन्द्र ने अहल्या को समाज में मिलाने का अधिकार दे दिया। उस समय रामचन्द्र किसी तरह का प्रतिवाद भी न कर सकते थे। वे समाज को सुखी देखना चाहते थे और इसी लिए समाजसेवा की धुन उन्होंने अपने राज्यकाल में अपनाई है। यही कारण है कि 'रामराज्य' आदर्श समझा जाता है।

इस तरह ताड़का को जिसे निशाचरी कहा जाता था, अहल्या के विषय की कानाफूसी सुनाई पड़ रही थी। इसके लिए वह तैयार नहीं थी। उसने यह निश्चय किया था कि वह इसका प्रतिवाद करेगी। पर उस समय तो ब्रह्ममण्डली की तूती बोलती थी। इसके कारण उसका वध कराया गया। अस्तु, कहने का अभिप्राय यह है कि उस समय की परिस्थिति विचित्र प्रकार की थी। दशरथ की राजनीति असफलता की ओर बढ़ रही थी—वे घबरा कर रामचन्द्र को राज्य देकर अपने को बंधनमुक्त कर लेना चाहते थे। पर किये का फल तो मिलता ही है, इसलिए दशरथ को भयानक मृत्यु का सामना करना पड़ा। कैकेयी ने अपने पुत्र के लिए जो कुछ किया, वह किसी ज़ोर जबरदस्ती के साथ नहीं किया। धर्म के नाम पर उसने अपनी माँग रामचन्द्र के सामने रक्खी, रामचन्द्र के धर्म की रक्षा की और एक आदर्श स्थापित किया। इसलिए कैकेयी को दोष देना किसी प्रकार भी उचित नहीं कहा जा सकता। हाँ, यह हो सकता है कि रामचन्द्र तथा भरत के भ्रातृस्नेह के कारण उसका रूप एक दूसरा ही उपस्थित हो गया, जिसकी रेखा भारत की विशालता को स्थायी रखने को अमिट हो गई।

पाठकों को यह बतला देना आवश्यक है कि यह विवेचनात्मक लेख मानव महापुरुष के नाते लिखा गया है। बाल्मीकीय रामायण में मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्र का स्वरूप चरित्र वर्णन किया गया है। देवत्व की भावनावाले महाशय इसको पढ़कर अपने हृदय में दुःख-क्षोभ उत्पन्न करने की चेष्टा न करेंगे।

'अश्क'जी और उनके नाटक

(१)

श्रीरेवतीरंजनसिंह साहित्यरत्न

वर्त्तमान काल में जब प्रत्येक देश उन्नति के पथ पर अग्रसर होता जा रहा है, तो उस परिवर्त्तन का प्रभाव सामयिक साहित्य पर भी अवश्य पड़ रहा है। यही कारण है कि देश का साहित्य भी उसी के अनुरूप बन रहा है। मानव-समाज में जिन परिस्थितियों के बीच वैयक्तिक स्फुरण होता है, उन्हीं से सम्बन्धित भाव और विचार भी पोषण किये जाते हैं। इतना होने पर भी प्राचीन परम्परानुगत प्रणाली तथा विचारों को भी किसी सीमा तक स्थान मिलता है। अतएव नाटककार श्रीउपेन्द्रनाथ 'अश्क' भी प्रथम नाटक "जय-पराजय" में भारतीय सामन्त युग का दिग्दर्शन कराते हैं। भारतीय गौरव, आदर्श और संस्कृति के उपासक प्रतीत होते हैं। अर्वाचीन होने पर भी प्राचीन भारत-गरिमा से प्रभावान्वित हैं। अतः "जय-पराजय" में इसी का प्रदर्शन करते हैं, यद्यपि 'अश्क' नवीन भावापन्न हैं और वर्त्तमान समाज के जीर्ण-शीर्ण अवस्था पर व्यंग्य करते हैं, तथापि "जय-पराजय" तो वही प्राचीन विचारों का उद्रेक करता है। नाटक ऐतिहासिक है, और इसी कारण प्रिय हो जाता है कि उसके पात्रगण प्राचीन भारतीय विचारधारा के पक्षपाती हैं और उसी में उनका चित्रण हुआ है।

'जय-पराजय' नाटक वास्तव में जय और पराजय का सम्मिश्रण है और नाटक का नामकरण सार्थक है। प्रत्येक पात्र और पात्री के चरित्र-चित्रण में जय और पराजय दोनों की अभिव्यक्ति हुई है। राणा लक्षसिंह आजीवन वीरव्रत-पालन करते रहे और यवन द्वारा अत्याचारित गया-तीर्थयात्रियों की सुविधा के लिए एवं मूलतः प्रजारञ्जनार्थ शेष जीवन व्यतीत करने के स्थान पर द्वितीय विवाह कर पुनः सांसारिक जीव बन जाते हैं। पुत्र की बातों के सामने उनकी एक नहीं चली और वे विवाह करने पर बाध्य हुए। रावल चूड़ावत जिन कारणों से राणा लक्षसिंह के लिए उपहासास्पद हैं, स्वयम् वे भी उससे परित्राण न पा सके। उन्होंने भी वास्तविक युवराज को अधिकार से वञ्चित कर द्वितीय रानी से उत्पन्न मोकल के लिए उद्विग्न हो जाते हैं और युवराज केवल एक सेवक की भाँति जीवन व्यतीत कर देता है। अतएव राणा लक्षसिंह यहाँ पराजित हैं। यद्यपि वे मरणकाल में वीरगति को ही वरण करते हैं किन्तु वह स्वाभाविक नहीं वरन् संसार-विरक्त की भाँति; सच्चे राजपूत की भाँति नहीं वरन् एक उदासीन की भाँति !

युवराज चूँड़ा अथवा चंड भी इसी प्रकार जय-पराजय के झूले में झूलता है। दैनन्दिन जगत् की आँखों में उसका कर्त्तव्य बाह्याडम्बरपूर्ण और अतिरञ्जित प्रतीत होता है। उसकी यह झूठी शान मालूम पड़ती है किन्तु प्राचीन भारतीय सामन्त-युग का यही तो आभूषण है, गौरव है और वचन तथा प्रतिज्ञापालन की पराकाष्ठा है। चंड है बात का धनी, अपनी धुन पर सवार, निर्मम और हृदय-हीन, वह दूरदर्शी प्रतीत नहीं होता और वास्तव में देखा जाय तो यही एक विशेष महत्त्वपूर्ण घटना है जिसके फलस्वरूप नाटक का घटना-चक्र इस प्रकार घूमता है। चंड की यह औद्धत्य-उद्दंडता अवश्य आधुनिक दृष्टिकोण से सराहनीय नहीं किन्तु वास्तव में गंभीर चिन्तन करने पर अत्यन्त ही अनुकरणीय हो जाती है। सफल लेखक तर्क द्वारा मनोवैज्ञानिक विश्लेषण करता है। अतएव चंड जिसे कर्त्तव्यपरायणता समझता है वह अन्य पात्रों की आँखों में प्रशंसनीय नहीं, क्योंकि पिता के हास्यपूर्ण परिहास को सत्य मान लेना चंड के लिए अमूल्य निधि है किन्तु अपरों के लिए व्हिम (whim) से अधिक कुछ नहीं। चंड विमाता के वाक्य-बाणों से जर्जरित होकर मंडोराज्य में निर्वासित की भाँति चला जाता है किन्तु सचमुच देखा जाय तो वह कर्त्तव्यच्युत हो जाता है। देश की शोचनीय और हाहाकारपूर्ण अवस्था होने पर भी वह अभिमानी है। सेवक जैसा भाव नहीं रहता। यद्यपि अन्तिम समय आ जाता है तथापि आजीवन प्रण का पालन करना उसके लिए असम्भव हो उठा। अतएव यह उसकी पराजय। इससे भी अधिक पराजय का सम्मुखीन उसे तब होना पड़ता है जब रणमल भारमली के अस्त्राघात से मर जाता है और चंड आजीवन पोषित धारणा के विरुद्ध भारमली को पाता है।

राघवदेव भी प्रजानुरञ्जनार्थ व्यग्र ही दिखाई देते

हैं। किन्तु समय पड़ने पर वे भी पथविचलित हो जाते हैं। नर्त्तकी भारमली पर विशेष अनुकम्पा अन्त में प्रणय में परिणत हो जाने के कारण प्रजा विमुख से हो जाते हैं और उस उज्ज्वल निष्कलङ्क चरित्र पर कलङ्क लगने के भय से युवराज, जागीर के बहाने नर्त्तकी से दूर हटा देते हैं।

रणमल निर्वासित होने पर भी उच्चाकांक्षा रखता है और आजीवन इस चेष्टा में रहता है। प्रतिक्रिया-स्वरूप वैमात्रेय भग्नी हंसावती की सहायता से वह सब कुछ अर्जन कर लेता है। प्रत्येक कार्य में वह जयमाला पहनता है किन्तु "सत्य की जय और असत्य की पराजय", इस त्रिकालाबाधित नियमानुसार आजीवन असत्याचरण द्वारा उपार्जित सब कुछ एक ही साथ न कुछ हो जाता है। यह पराजय भी वही नर्त्तकी तथा गायिका भारमली के कारण है। उन्नति की चरम सीमा पर पहुँचकर भी एक घृणित नारी के सम्मुख रणमल का पराजय तो चमत्कारपूर्ण हुआ है। मर्मस्पर्शी तो हुआ ही है, साथ ही साथ स्थायी एवं शिक्षाप्रद भी है। इसी प्रकार अन्यान्य गौण पात्रों में भी जय-पराजय प्रमाण कर दिखाया है। मानव-चरित्र की दुर्बलता का सुन्दर निर्वहण हुआ है। अतएव उनकी विशद व्याख्या कर कलेवर-वृद्धि न कर नारी-चरित्रा पर प्रकाश डालना समीचीन होगा।

नारी-चरित्रों में राणा लक्षसिंह की रानी, वास्तव में एक आवेग-पूर्ण चरित्र का अवतरण करती हैं। उन्हीं की शिक्षा से युवराज चंड कर्त्तव्य-परायण हैं और केवल सीमित कर्त्तव्य से परिचित हैं। पुत्र का स्वाधिकार-त्याग, राणा की द्वितीय रानी-आगमन—सब कुछ सहन कर लेती हैं किन्तु नारी हृदय की अव्यक्त पीड़ा तथा अभावनीय वेदना अवश्य उनमें है और इसी कारण निरीह बालिका सुकेशी के द्वारा राणा तथा द्वितीय रानी के मनोभावों को स्त्री-सुलभ उत्सुकता के कारण जिज्ञासु हैं, यहाँ तक कि सुकेशी को पिता और माता का जघन्य रूप तक दिखाने को प्रस्तुत हो जाती है। उस उदार, विशाल-हृदया और आदर्श-वादिनी रानी के लिए यह पराजय है—मातृत्व रूप में वह सफल है किन्तु नारीत्व में उसे हार मान लेनी पड़ती है।

हंसावती तो प्रथम से ही जय-माला पहनने पर भी पराजय ही अन्तिम परिणाम है, महारानी वह हो जाती है किन्तु अभिमान और लिप्सा के कारण वह युवराज के सम्मुख पराजित हो जाती है। प्रतिहिंसा और प्रतिशोध की ज्वाला में दग्ध वह नारी बुभुक्षा हो उठती है। माता का सम्बोधन ही नहीं वरन् सेवा तथा श्रद्धाभक्ति प्राप्त करने पर भी नारी की अतृप्त वासना के कारण वह सन्तापित है। अन्तिम जीवन में निर्वासित और अपमानित युवराज चंड को स्वयम् ही वह पत्र लिखने के लिए बाध्य हो जाती है और यही दुर्दमनीय पराजय है, जिसकी सहायता वह तुच्छ समझती है, वही बिना उसका जीवन अन्धकारपूर्ण होने जा रहा है।

कुसुम की अवस्था प्रायः रानी जैसी ही है। हाँ, छोटी रानी मंडोवर, तारा और हंसा में कुछ पार्थक्य है और वह अन्तर अन्तिम समय में ज्ञात होता है। आजीवन समान रूप से जीवन व्यतीत करने पर भी जीवन का शेष मुहूर्त अत्यन्त ही करुण हो गया है। माता का स्वहस्त द्वारा पुत्रवध तथा आत्महत्या, इसका ज्वलन्त उदाहरण है कि सर्वस्व प्राप्त कर जय होने पर भी अन्त में महा पराजय में ही उसे विलीन होना पड़ा।

एक और उल्लेखनीय नारी-चरित्र भारमली का है। इसका भी जीवन जय और पराजय से ओतप्रोत है। सुप्रसिद्ध गायिका के रूप में वह सम्मुखीन होती है और यश, धन-रत्न सब कुछ अर्जन करने पर भी वह अपूर्ण है, अतृप्त है। राघव, उसके लिए प्राप्तव्य हैं। उसका प्राणविसर्जन तथा प्रतिशोधग्रहण सीमित है; केवल राघवदेव के लिए वह प्रस्तुत है अतएव एक दृष्टि से महान् होने पर भी अन्त में स्वार्थपरता तथा शान्ति प्राप्त करने के लिए वह ऐसा करती है। राघव देव के सम्मुख वह नतमस्तक है, पराजित है। अतएव इन सब चरित्रों पर प्रकाश डालने पर निस्सन्देह कहा जा सकता है कि नाटककार ने 'जय-पराजय' नाटक में वास्तव में जय-पराजय का अविरल, अविच्छिन्नसंघर्ष दिखाया है और 'जय-पराजय' नाम सार्थक है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि 'अश्क'जी ने एक पुरातन अथच साधारण घटना के द्वारा सत्य और असत्य का स्थायी परिणाम जय-पराजय से परिचित करा कर पतनोन्मुख समाज का उपकार किया है।

(क्रमशः)

तुलसी और रत्ना

कुँ० हरिश्चन्द्रदेव वर्मा "चातक" कविरत्न

[१]

सरिता के एकान्त तीर पर,
बैठ समझ लूँ कुछ अपने को !
पर मैं नहीं भूल पाता हूँ,
क्षण भर भी उस सुख-सपने को !
ये शैवाल-प्रकम्पित जल से,
या समीर से केश निरन्तर ;
रत्ना के ही पृष्ठभाग पर
लहराया करते सुख से भर।
जल में ये मछलियाँ या कि,
मेरी रत्ना के सित दुकूल में ;
दो बोझीले नयन लाज से,
जैसे दो अलि कमल-फूल में।
सरिता-सा परिपूर्ण प्रिया का,
निशिवासर रहता है यौवन ;
बार-बार अवगाहन करने को,
ललचाता है मेरा मन।
बिजली इन्द्रधनुष शशि तारा,
स्वर्णिम उषा सभी ने मिलकर ;
मेरी रत्ना को विरचा है,
पाटल के फूलों ने खिलकर।
मीरा के कोमल गीतों से,
उसका अतिशय कोमल मन है ;
पञ्चभूत की जगह चाँदनी ही से,
जैसे निर्मित तन है।
स्वर्गलोक है श्रेष्ठ, किन्तु उसमें भी,
कब रत्ना-सा धन है ?
मरकर भी मैं इसे सुनूँगा,
'रत्ना तुलसी का जीवन है'।
हैं नारियाँ अनेक जगत् में,
कोमल, किन्तु कठोर प्रकृति है ;
रत्ना के द्वारा ही विधि की
हुई सफल यह सुन्दर कृति है।
है यह चन्द्र कलंक न जिसमें,
कण्टकरहित फूल यह सुन्दर ;
है यह रत्न कठोर नहीं जो,
जिसका मूल्य जगत् के बाहर।

इसके लाल-लाल होठों की,
आग पान कर होता शीतल ;
इसके बाहु-बंधनों में बँध,
मुझे मुक्ति का मिलता है फल।
कली फूल को साथ देखकर,
रत्ना ने था कहा एक दिन—
'हम दोनों भी इस प्रकार से,
साथ रहें प्रियतम आजीवन।'
तब मैंने यह कहकर उसके,
अधरों को चूमा था उस क्षण ;
'इन अधरों से ही हो सकता
है प्रेयसि ! ऐसा मधु-वर्षण।'
एक दिवस रत्ना ने आकर,
स्वानुभूति का चित्रण छल से ;
एक सखी का कहकर मुझको,
दिखलाया था जब कौशल से।
नील सिंधु का चित्रण था वह,
लहरों पर थे रत्न बिखेरे ;
बोली 'तुम्हें रत्न प्रिय लगते,
तो ले लो ! ये रत्न घनेरे।'
तब मैंने मुख फेर कहा था—
'ना' ये मेरे कौन काम के ;
इनमें जो कुछ सुन्दरता है,
वह कारणवश रत्न नाम के।
मेरा रत्न पास रहकर नित,
करता रहे हृदय आलोकित ;
इन पत्थर के टुकड़ों को दे,
उस सुख से करती क्यों वंचित ?'
लज्जारुण आनन पर बरबस,
हलकी हँसी कहीं से आकर ;
'अजी बड़े तुम ढीठ' कहा बस,
इतना ही था भौंह चढ़ाकर।
कभी इसे क्या भूल सकूँगा ?
यह भी क्या हो सकता सम्भव ?
इस कोमल सुधि को लेकर ही,
दो क्षण जी सकता है मानव।
तुलसी के चौरे पर उस दिन,

ध्यानमग्न हो नैयन मूँद कर ;
जाने किन भावों में डूबीं,
मना रहीं क्या प्रेमपुरस्सर ?
मैंने धीरे-धीरे आकर,
शान्तभाव से पास बैठकर ;
कहा 'तुम्हारा तुलसी यह है,
देखो नयन खोलकर पल भर।'
'चुप! चुप !! यह परिहास न अच्छा,
यहाँ देवता के समीप में ;
एक तुम्हें ही देख रही हूँ,
मुक्ता-सा मैं हृदय-सीप में।'
ये सब बातें आज याद कर
हृदय हो रहा है यह चंचल ;
मुझे और कुछ नहीं चाहिए,
छोड़ एक रत्ना-सा संबल।
रत्ना से सम्बंधित जो कुछ,
वह सब लगता है अति सुंदर ;
इस सैकत तट ने भी प्रायः
रत्ना को देखा है दृग भर ?
इसने कर एकान्त प्रणय की,
मीठी चेष्टाओं का दर्शन ;
मौन भाव से कहा यही था,
'धन्य ! धन्य मानव का जीवन !!
जिसमें रत्ना-सी नारी है,
जिसमें है आलिंगन-चुम्बन ;
जिसमें जीवन की सुन्दरतम,
घड़ियों का होता है नर्तन।'

[२]

लहरों में 'जीवन' बन करके,
'प्रश्न' उठा करता है प्रतिपल ;
और बना 'उत्तर' गिरता है,
पछताता कहता है छलछल !
हाय ! एक पल का जीवन था,
उसमें भी कुछ कर न सका मैं ;
'जीवन' कहलाकर जगती के,
जीवन का दुख हर न सका मैं !
छल ! छल !! बड़ा विकट यह छल है ?
तो क्या यह जीवन ही छल है ?
यही प्रश्न है सबके आगे,
इसका कठिन खोजना हल है।
किस जीवन-धन की स्मृति में यह,
टपक रहा है नभ से जीवन ?
किसकी ये अतृप्त इच्छाएँ,
मेघों में चमकीं बिजली बन ?
एक प्रश्न यह भी है इसका,
कौन बता सकता है उत्तर ?
'मैं' इतना ही कहा किसी ने,
स्वर में नवल माधुरी को भर।
चिहुँक उठी रत्ना स्वर सुनकर,
यह तो निज प्रियतम का स्वर है ;
पर इन वर्षा की घड़ियों में,
उनका आना अति दुष्कर है।
फिर क्या मेरी मधुर कल्पना,
सशरीरी बन बोल रही है ;
रजनी के एकान्त प्रान्त में,
अपना 'आवृत' खोल रही है।
सूचीभेद्य तिमिर छाया है,
आज सभी ही 'कृष्ण' दिखाते ;
राधा भी होतीं तो उनके,
'कृष्ण' हाथ मुश्किल से आते।
'पर मेरी राधा सम्मुख है,
और कृष्ण यह पास खड़ा है,
फिर भी नहीं चीन्हतीं उसको,
कैसा यह आश्चर्य बड़ा है ?'
'आओगे जब जिस स्वरूप में,
प्रियतम तुम्हें चीन्ह मैं लूँगी ;
क्या यह कहा नहीं था तुमने,
तुम्हें प्यार नयनों का दूँगी।
किन्तु इस समय मौन तुम्हारा,
कुचल रहा है कोमलता को ;
इससे कठिन तुषारपात भी,
होता होगा नहीं लता को !'
गालों पर खिलते गुलाब दो,
चरणकमल-से कोमल सुन्दर ;
फूलों से निर्मित नारी है,
चम्पक-सा है वर्ण मनोहर।
अब तक यही मानता था मैं,
किन्तु गलत यह थी परिभाषा ;
दया-स्नेह से हीन उपेक्षा,
नारी है साकार निराशा।
नारी शब्दों से न बुलाती,
किन्तु कामनाओं के द्वारा ;

करती सदा प्रतारित नर को,
नारी है मानव की कारा।
फिर भी वह नर की काया की,
छाया होने का भरती दम;
हृदय दूर रखकर नारी के,
अधरों से है निकला 'प्रियतम'।
वह कहती है, सब कुछ देकर,
नर को नारी रिक्त हुई है;
मैं कहता हूँ, प्रेम-राज्य में,
नारी ही अभिषिक्त हुई है।"
अश्रु-रुद्ध भाषा में रत्ना बोली,
'जितना शशि शीतल है;
जितना उष्ण सूर्य है,
जितना युग-युग के पावस में जल है?
उससे अधिक प्यार नारी के,
रोम-रोम में नर के प्रति है;
नर ही उसका परमेश्वर है,
नर ही उसकी जीवन-गति है।
किन्तु इस तरह चोरों-जैसा,
छिपकर आना है क्या शोभन?
भारत की नारी का इससे,
क्या उज्ज्वल हो सकता आनन?
आप हृदय में रहते मेरे,
फिर भी हाय! न इससे परिचित;
नारी उसे नहीं सह सकती,
जिससे हो उसका पति निन्दित।
नारी की दोनों आँखों में,
बहती है करुणा की धारा;
नारी ही के स्तन्य-पान से,
जी उठता मानव बेचारा।
नारी के स्वप्नों में केवल,
उसका स्वामी ही है सहचर;
नारी इस अभिशप्त जगत् के लिए,
एक वरदान मनोहर।
सरस भाव जैसे कविता में,
जैसे वंशी में आते स्वर;
जैसे सौरभ मृदु कलिका में,
जैसे प्रीति पास परमेश्वर।
वैसे शुभागमन स्वामी का,
सब प्रकार होता है सुखकर;
पर इस भाँति रात में आना,
शल्य चुभोता है उर-अन्तर।
वर्षा की उस चढ़ी नदी में,
हुआ न तुम्हें प्राण का भी डर?
एकाकी चल दिये रात में,
यद्यपि रोक रहे थे जलधर।
इसे प्यार कहने में होगी,
मानव की भाषा भी लाञ्छित;
क्या अब शेष रहा था केवल,
एक यही मेरे हित वाञ्छित?'
'रत्ने! ठीक कहा है तुमने,
पर कैसे तुमको समझाऊँ?
हृदय चीरकर तुम्हें दिखाता,
पर अब कैसे उसे दिखाऊँ?
नहीं प्रणय के आगे कुछ भी,
मानव रख सकता है गोपन?
किन्तु प्रणय अब कहाँ!
सत्य कहने में क्यों पीछे हटता मन?
नहीं जानता था जीवन में,
आवेगा ऐसा भी अवसर?
जब अपने ही फूल न देकर,
अपने को मारेंगे पत्थर?
तुम कहती हो भरी नदी थी,
पर मेरे नयनों का पानी;
था उससे सौगुना इसे तुम,
कैसे जान सकोगी रानी?
एकाकी मैं कहाँ? साथ थीं,
कितनी मिलन-उमंगें मेरे?
विद्युद्दीप दिखा जलधर भी,
पहुँचाते समीप थे तेरे।
तूफ़ानी थी प्रकृति किन्तु,
मेरे मन का तूफ़ान विकट था;
हाय कहूँ क्या तुच्छ प्रकृति का,
ध्वंस, हृदय के ध्वंस निकट था?
किन्तु हाय! सब व्यर्थ हो गया,
स्वर्णस्वप्न भी टूट चुका है;
सम्पुट हैं खुल गये कमल के,
भेद प्रकृति का फूट चुका है।
बदल गया सारा जीवन है,
अब मैं देखूँगा अपने को;
भूलो! भूलो! प्रिये! भूल जाओ!
तुम भी भंगुर सपने को!

जिसने तुम्हें बनाया जिसका,
यह सारा विराट वैभव है ;
जिससे है यह यौवन सुन्दर,
जिससे हुआ मधुर शैशव है।
सूर्य-चन्द्र जिसके दो दीपक,
नभ में करते रहते जगमग ;
जिसे छोड़कर सच्चे सुख का,
नहीं और कोई भी है मग।
आज नहीं तो कल इस सुन्दर,
आनन पर झुर्रियाँ पड़ेंगी ;
उस जीवन में शान्ति कहाँ है ?
जहाँ आँख से आँख लड़ेंगी।
अब साँसों से सौदा करके,
स्वप्न को मैं ले न सकूँगा ;
अपनी उस सुन्दर दुनिया को,
इस दुनिया को दे न सकूँगा।
अच्छा, बिदा, चला मैं रत्ने !
मेरा प्रिय है मुझे बुलाता ;
मुझे जोड़ने दो अब सीधा,
सीधा एक उसी से नाता।
गंगा नदी पार करने में,
जब समर्थ है प्यार तुम्हारा ;
तब भवाब्धि से पार करेगा,
परमेश्वर का क्यों न सहारा ?'

[३]

रत्ना ने आगे बढ़ देखा,
किन्तु वहाँ पर था सूनापन ;
खिले बाग़ की जगह भयानक,
दीख रहा था अब बीहड़ वन।
चेहरे पर उजड़ा वसन्त था,
और दृगों में उमड़ा सावन ;
धधक रहा था ग्रीष्म हृदय में,
हाय ! दूर इसके मनभावन !!
भरा जलद झुक रहा भूमि पर,
सावन में उन्मादित होकर ;
किसके आलिंगन को व्याकुल,
वह पुकारता है रो-रोकर।
और इधर मैं भी रो-रोकर,
कहाँ गये प्रिय ! कहती प्रतिपल ;
नहीं पपीहा की पुकार यह,
मेरी ही पुकार है अविकल।

आँखों में आँसू, आँसू में
बहती है वेदना निरन्तर ;
तुम्हें ढूँढकर वह लायेगी,
चाहे जहाँ छिपो तुम जाकर !

× × ×

ओ निर्मम ! जाने की बेला,
पल भर तो दर्शन देता जा !
इस लुटे हुए मेरे मन की,
रे ! भेंट बिदा की लेता जा !
ओ निर्मम !
कैसे विच्छेद दीर्घ काटूँ,
किसको अपनी पीड़ा बाँटूँ ?
है खड़ी हुई तेरी रानी,
अवरुद्ध कण्ठ, व्याकुल बानी,
आँसू के सागर में उसकी,
जीवन-नैया तो खेता जा।
ओ निर्मम !
जीवन की काली सूनी सी,
कैसे बीतें लम्बी घड़ियाँ ?
क्या करूँ ? कहाँ जाऊँ कब तक,
गूँथूँ ये आँसू की लड़ियाँ ?
जैसे सब सुख ले चला,
प्राण भी वैसे ही यह लेता जा।
ओ निर्मम !

× × ×

इधर रुदन करती थी रत्ना,
और उधर उसके जीवनधन ;
अपने को पढ़ते जाते थे,
रह-रह दुहराते ये गायन।

× × ×

मृत्यु तक साथ रहे तो क्या ?
मृत्यु तक साथ रहे तो क्या ?
मरने के भी बाद अमर,
रहता है जो सम्बन्ध ;
—नहीं देखते उसे
आँख रहते हम कैसे अंध ?
हवा के साथ बहे तो क्या ?
मृत्यु तक साथ ० ।

× × ×

जब दुख ही सुख हो जाता।
ऐसा भी जीवन में है,

आनव के अवसर आता।
जब दुख ही सुख हो जाता।

× × ×

जो जीवन की प्रत्येक पुलक कम्पन में,
ध्वनि जिसकी गूँज रही समीर के स्वन में,
सखि ! वहीं वहीं हाँ वहीं हमारे मन में।
जो फूलों के अधरों पर हँसता रहता,
लहरों में जो अपना दिल है कुछ कहता,
बस उसमें मैं वह मुझमें ही है रहता।
शशि जिसकी शीतलता का परिचायक है,
विहगों में जिसका छिपा हुआ गायक है,
वह मेरा दिलबर ही तो जगनायक है।
कोमल किसलय में कर स्पर्श है जिसका,
निर्झर लहराता हुआ हर्ष है जिसका,
वह मुझे छोड़कर हो सकता है किसका ?

× × ×

[४]

एक तरु-तले शान्तभाव से,
बैठे हुए विविक्त देश में;
पल-पल प्रकट हो रहा जिनके,
मन का था वैराग्य वेश में।
तुलसी की माला थी कर में,
मन में रामनाम का जप था;
जिनकी आँखों में स्वदेश था,
जिनके रोम-रोम में तप था।
सोच रहे थे प्रिय भारत की,
संस्कृति कितनी हीन हुई है;
चारो ओर शून्य-सा फैला,
आर्य जाति यह दीन हुई है।
हो करके पद-दलित धूल भी,
मानव के सिर पर चढ़ती है;
ठुकराई जाकर भी पर यह,
जाति नहीं आगे बढ़ती है॥
यह मुमूर्षु है, राम-नाम की,
इसे पिलाकर सुधा निरंतर;
जीवन की ममता से इसका,
फिर भर देना होगा अन्तर।
इसका कुछ आदर्श नहीं है,
अंधकार में भटक रही है;
पराधीनता के पत्थर पर,
शीश प्रेम से पटक रही है।

कभी न मिटनेवाली मसि से,
पन्ने-पन्ने पर जीवन के;
फिर रामायण की रचना कर,
समझाये रहस्य सब मन के।
पुष्पित फूलों की सुगंध ले,
चारु चाँदनी की उज्ज्वलता;
इन्द्रधनुष का रंग साथ ले,
आई रामायण की कविता।
सुघर अप्सराओं के नूपुर की,
मधुर-मधुर झंकार मनोहर,
मनुष्यत्व देवत्व सभी कुछ,
है उसमें साकार मनोहर।

[५]

'निर्जन तरु तुम मुझे बुलाते,
हाय ! हिलाकर डाली-डाली;
मैं मुर्झाई हुई लता हूँ,
मेरा सब कुछ ख़ाली ख़ाली।
प्राणभरे मेरे गीतों में,
अब ऐसा उत्साह कहाँ है ?
बतलाओ ! मेरे वसन्त की,
भैया ! भूली राह कहाँ है ?
फिर डाली हिल उठी अरे ! क्या,
इसमें है कुछ छिपा प्रयोजन ?
चलूँ उसी ही ओर चलूँ मैं ?
शायद वहीं कहीं हो 'जीवन' ?
सरिता भी कलकल ध्वनि करके,
इसका ही कर रही समर्थन;
ऐसे ही एकान्त शान्त में,
त्यागी करते हैं तप अर्जन।
वह कोई भर चुका कमण्डलु,
दीख रहा सरिता के जल से;
जैसे कोई छीन चुका है,
किसी प्रेयसी का सुख बल से।
इसके कंधे पर झोली है,
सामग्री उसमें पूजन की;
सब तजकर क्या यही वस्तुएँ,
प्यारी होती हैं हरिजन की ?
लता ने ये शब्द ज़ोर से कहकर,
पहचाने जीवन-धन——
तन के पहले ही चरणों पर,
लगा लोटने उसका मृदु मन।

आज यही होते जो मेरे,
जीवन के स्वामी, अन्तिम पल ;
तो रत्ना का भाग्य देखकर,
स्वर्ग-नारियाँ भी उठतीं जल।
कितना जीवन हाय ! वेदना,
को देकर पाये हैं ये पल ;
दिनभर जलकर साँझ समय ये,
मिले गुलाबी नभ को बादल।
मृगशिशु के भोले नयनों में,
देख तुम्हारे प्रियतम लोचन ;
कलालाप कोकिल के स्वर में,
सुनकर करती कष्ट-विमोचन।
कब तक अपनी प्यास बुझाती,
किन्तु बताओ ओस चाटकर !
ले बैठे सुख आप अकेले,
इस अबला को दुःख बाँटकर ?'
'रत्ने ! कह दो एक बार तुम,
बात वहा फिर मेरे मन की ;
सब तजकर क्या यही वस्तुएँ,
प्यारी होती हैं हरिजन की ?'
लो ! झोली यह जल-अर्पित है,
यह व्यवधान बीच का दुखकर ;
हरि-हरिजन में डाल रही थी,
कंधे पर चढ़कर यह अंतर।
दो-दो बार दिया है मुझको,
रत्ने ! तुमने सच्चा शिक्षण ;
पूजा का यह फूल तुम्हारे ही द्वारा
हो, प्रभु को अर्पण।
सुख की निधि है पास तुम्हारे,
जैसे सरिता में यह शुचि जल ;
एक बार बस आँख खोलकर,
तुम्हें देखना होगा केवल।
पल्लव झड़ जाने पर लतिका,
जैसे ले प्रसून नव पल्लव ;
पूर्ति कर रही है उस त्रुटि की,
वैसे यह तुमको भी संभव ?
तुम भी आगे बढ़ो ! तुम्हारा,
कर्मक्षेत्र करता अभिनंदन ;
तुलसी यह कविरत्न कहाये,
पा सहयोग तुम्हारा पावन।
मैं घृत देश यज्ञ के हित तुम,
सुलग उठो रत्ने समिधा बन ;
स्वाधीनता स्वर्ग में फिर से,
जगे देश पाकर नवजीवन।
झर जावे चिर जीर्ण पुरातन,
गूँज उठे आशा का नव स्वर ;
रामकृष्ण की पावन भू यह,
प्राणद फूलों से जावे भर। *

---

* "अपनी ही प्रतिमूर्ति जिन चरित्रों में झाँकती है, वे देव-चरित्र से न होकर भी मानव के लिए अधिक हृदयस्पर्शी और उपयोगी होते हैं।" इनसे मिलते-जुलते शब्द ही श्रद्धेय श्रीरूपनारायण पाण्डेय कविरत्न ने श्रीशरत् की 'दत्ता' का जो विजया नाम से अनुवाद किया है उसके प्राक्कथन में लिखे हैं। ऐसा मुझे स्मरण है। ठीक यहीं मेरा भी उनसे एकमत है। 'तुलसी और रत्ना' में हमारे ही जैसे रक्त-मांस से निर्मित मानवों की भावनाओं का चित्रण है, और यही मेरे अपने कवि को समीचीन भी लगा। दार्शनिक-प्रवर श्रद्धेय भाई निरालाजी का तुलसीदास अभी मेरे देखने में नहीं आया। सम्भवतः वह बड़ा ग्रंथ होगा। मेरा तो यह चि० शचीन्द्र के ही आग्रह का छोटा-सा परिणाम है। फिर भी पाठकों को यह पसन्द होगा, ऐसा मेरा अनुमान है। ईश्वर करे, वह सच हो।—"चातक"

श्रीरत्नागिरीजी का अद्भुत चमत्कार

जिसने समस्त संसार को चकित कर दिया

रक्त, बल, वीर्य, उत्साह तथा उमङ्ग ही जीवन सफल बना सकती है

ध्यान देने योग्य अमूल्य उपहार

अपूर्व कायापलट (रजिस्टर्ड)

निःस्वार्थ संसारसेवी भारतीय महात्माओं ने औषध-विज्ञान को अपनी महान् खोजों और अमूल्य रत्नों से अलंकृत किया है । आधुनिक चिकित्सक मर्ज़ और मरीज़ जब दोनों को लाइलाज घोषित करके शर्मिन्दा नहीं होते, वहाँ इन्हीं महात्माओं की बिना दाम की जड़ी-बूटियाँ मुर्दों को भी जिला सकने में समर्थ हुई हैं। ऐसी सच्ची घटनायें आये दिन एक न एक पढ़ने और सुनने में आया करती हैं ।

बीस वर्ष पूर्व कल्लाती पहाड़ी पर विचरण करनेवाले स्वामी रत्नागिरीजी महाराज की सेवा एक बूढ़ा ग्वाला करने लगा । योगिराज को एक दिन उस वृद्ध की कमज़ोरी पर दया आ ही गई और उन्होंने निम्न लिखित योग की ६ मात्रायें उस बूढ़े को दीं । नासमझी के कारण छहों मात्रायें एक साथ खा जाने से उस वृद्ध ग्वाले में अपूर्व शक्ति आ गई और रत्नागिरीजी के परिश्रम-पूर्वक इलाज करने पर भी बुढ़ापे के बावजूद उसे तीन विवाह करने पड़े । इस पर राजा, रईस, नवाब और रसिकजन महान् योग को जानने के लिए आतुर हो उठे । नवाब बहावलपुर के ससुर हाजी हयात मोहम्मदख़ाँ साहब ने बाबाजी की बहुत सेवा करके इसे प्राप्त कर लिया और लाहौर के पं० ठाकुरदत्त शर्मा को बतलाया । शर्माजी ने इसे प्रथम तथा दो अन्य लिखकर तीनों से उत्तम बाजीकरण बतलानेवाले को एक हज़ार रुपये का नक़द इनाम देने की घोषणा की । इसे आज बीस साल के लगभग हो गये किन्तु अभी तक कोई पुरस्कार विजय नहीं कर सका । मथुरा के ख्यातिप्राप्त बाबू हरिदासजी ने उसे चिकित्सा-चन्द्रोदय में छपवाया और हमने भी स्वयं बनाकर सैकड़ों दुर्बल, नपुंसक, वीर्य-विकारी रोगियों पर बरता । तत्काल लक्षण चमत्कार देख जन-साधारण के लाभार्थ अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपवा दिया । आप भी बनाकर लाभ उठावें ।

योग—शुद्ध बुरादा फ़ौलाद २० तोला, शुद्ध श्वेत मल्ल १ तोला, शुद्ध कपूर १॥ माशा, एक घण्टा घृत-कुमारी में घोटकर. मिट्टी के कुज्जे में मज़बूत बन्द कर पाँच सेर कण्डों में फूँके । दुबारा एक तोला हरतालवर्की शुद्ध १॥ माशा कपूर शुद्ध में तीसरी बार गन्धक आमलासार शुद्ध १ तोला. कपूर १॥ माशा में चौथी बार शुद्ध संस्कारित पारद १ तोला, कपूर १॥ माशा को ऊपर की भाँति १६ आँच दे । फिर उसको कढ़ाई में डालकर बराबर इन्द्रवधू डाल दे और नीचे आग जलावे । जब इन्द्रवधू जलकर राख हो जावे तो हवा देकर उड़ा दे । बस अपूर्व कायापलट तैयार है । चार-चार चावल सायं मक्खन, मलाई के साथ खावें ऊपर मिश्री मिला दूध पीवें ।

मथुरा के हरिदासजी लिखते हैं इस योग के सेवन से एक हफ़्ते में एक आदमी का वज़न चार पौंड बढ़ गया, दूसरे का चेहरा लाल सुर्ख़ हो गया । भूपाल के वैद्यराज पं० बालकृष्ण शर्मा ने ३५० रोगियों पर बरता और आशा से अधिक गुणकारी पाया । रत्नाकर सम्पादक श्रीछोटेलाल जैन आयुर्वेदाचार्य ने गृह-चिकित्सा पथ-प्रदर्शक में छापा कि इतना प्रचण्ड गुणकारी योग दूसरा नहीं देखा । श्रीधर्मेन्द्र विद्यावतंस सिद्धान्त-शास्त्री अधिष्ठाता गुरुकुल बरला ज़िला मुज़फ़्फ़रनगर ने लिखा है—"अपूर्व कायापलट" नामक औषध सेवन कर रहा हूँ । जैसी प्रशंसा वैसा ही गुण है । बहुत लाभ हुआ । श्रीचिरञ्जीलाल जैन आयुर्वेदशास्त्री मालिक कल्याण औषधालय बाह (आगरा) का कहना है कि मैंने २२५ रोगी अपूर्व कायापलट द्वारा, जो कि धातु-विकार, नपुंसकता, बवासीर, रक्त-विकार आदि रोगों से ग्रसित थे, पूर्ण स्वस्थ किये ।

हमारा दावा है कि केवल सात दिन सेवन से शरीर में रक्त दौड़ता नज़र आयेगा । २१ दिन में चेहरा लाल काश्मीरी सेब की तरह चमकने लगेगा । ४० दिन में नपुंसकता, मधुमेह, डायबटीज़, निर्बलता दूर हो जाती है । स्त्रियों के प्रदर दूर हो गर्भधारण शक्ति आती है । जिगर व मेदे की शक्ति बढ़ाकर भूख दूनी करता है । कफ, तिल्ली की ख़राबी, खाँसी, नजला, जुकाम, बदन दुखना, खून का पतलापन, आँखों का पीलापन, चिनगारी-सा उड़ते दीखना, बार-बार थूक गिरना, दमा तथा हर तरह की कमज़ोरी तुरन्त दूर कर नव-जीवन का संचार करता है । जाड़ा, गरमी, बरसात सभी मौसमों में एक सा लाभ करता है । योग भली भाँति समझा कर लिखा है । फिर भी यदि आप न बना सकें तो बनी-बनाई १६ आँच दी हुई ४० दिन की ८० मात्रा ६॥=) डाकख़र्च माफ़ पैकिंग ख़र्च मनीआर्डर फ़ीस अलग । कोई बात समझ में न आवे तो जवाबी कार्ड भेजकर उत्तर मँगा लें ।

पता—रूपबिलास कम्पनी,

(रसायनशाला) नं० ४२३ धनकुट्टी, कानपुर

अतीत का आरम्भ

श्रीयुत युगल

जयन्ती जब चूल्हे में आग तैयार कर चुकी, तो प्रतीक्षा की नज़र से दरवाज़े की ओर देखने लगी कि उसके पति इधर आवें तो वह उनसे पूछे कि रात के लिए क्या बना दे। यों तो वह रोटी ही सेंक लेती; पर यह जो है उसके पति का मित्र, वह अब तक यहीं है। शायद यहीं रहे,—तो उसके लिए भी कुछ तैयार करना ही होगा। वह चूल्हे के पास से हटकर अलग बैठ गई और परवल चीरने लगी।

बीतते बैसाख की सन्ध्या बीत चुकी थी। अलस-सी रात धीरे-धीरे गिर रही थी। गर्मी अब अच्छी तरह पड़ने लगी है। जयन्ती के गर्मी से आरक्त आनन-वाले भाल पर पसीने की कुछ बूँदें उग आई थीं। यों तो जयन्ती के बाल की एक लट—किंचित् कुञ्चित—हमेशा ही असावधानी से बिखरी ही रहती थी और हवा के कोमल झोंके से भाल पर लहराया करती थी; पर इस समय पसीने के कारण कपोल से सटी हुई थी। इससे उसके सौन्दर्य की छटा कुछ और विशेष हो गई थी। दूर से हवा की लहरों पर तिरती हुई किसी फूल की गन्ध आकर उसकी नाक को भर गई। जयन्ती ने आँचल से पसीना पोंछ लिया और कुछ क्षण जिस ओर से हवा आती थी, उसी ओर अपना मुँह किये रही। हवा उसे अच्छी लग रही थी—उसके हृदय में मन्द शीतलता भर रही थी। उसकी अर्द्धनिमीलित आँखें हवा की लहरों में झिप-झिप जाती थीं। वह कुछ क्षण तक मुस्कराती हुई हवा के स्पर्श से मिलनेवाले आनन्द से अपने को वंचित न रख सकी।

जयन्ती को केदार के घर में आये यह चौथा साल है। केदार उसका पति है। काम के नाम से वह कुछ करता तो नहीं; सिर्फ़ नौकरी की तलाश में इधर-उधर घूमा करता है। अभी बेकार है। इधर-उधर से आता है, तो कुछ पढ़ लेता है—जयन्ती के साथ कुछ प्यार की बातें कर लेता है। पिताजी बैंक में कुछ रुपये छोड़कर मरे थे, उसी से आटे-दाल का इन्तज़ाम किया जाता है।

केदार के घर में आते ही जयन्ती ने हाथ जलाना शुरू कर दिया था। घर में कोई नहीं था। केदार की एक बड़ी बहन थी, वह जयन्ती के आते ही ससुराल चली गई। केदार के लिए जयन्ती ही को सब कुछ करना पड़ता है, और अपने लिए भी। कुछ दिनों तक तो उसे यहाँ अच्छा नहीं लगता था। जी उचटा-सा रहता था। उसे लगता था कि अनजाने ही वह अपने हृदय को किसी अज्ञात जाल में फाँस रही है और उसका हृदय व्याकुल-सा कहीं दूर-दूर—सचेष्ट-सा—सचेत-सा, भागता रहता। पर वह धीरे-धीरे समझने लगी—सोच-सोचकर—कि पति-गृह में आकर उसका कोई अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व नहीं रह गया। पति के वृत्त में उसे बाँध दिया गया है। और वह, जाने या अनजाने बँधती जा रही है—बँध गई है। वह इसमें अपने को अशक्त-सी अनुभव करती है कि उस बन्धन को ज़रा ढीला कर दे। वह तो वृत्त की परिधि पर केवल घूमती-मात्र है, पर अज्ञात भाव से उसकी सारी शक्ति उसका सारा व्यक्तित्व केन्द्र-बिन्दु की ओर अनायास ही आकर्षित है। अब वह अपने पहले के व्यक्तित्व को भूल-सी गई है। उसका अब पति के प्रति कुछ कर्त्तव्य भी है। अन-भ्यस्त होते हुए भी जयन्ती ने अपने को घरेलू कामों में रमा दिया है, और इस नन्हे घर को प्यार भी करने लगी है। उसे इस घर में कोई दुःख नहीं है। वह जानती है कि यह घर अपना है। उसे अपना कहने का उसे अधिकार मिला है। केदार अपना है—और वह यह जानती है कि केदार पूर्ण रूप से अपना है। पर उसकी दशा तो उस बुलबुल-जैसी है, जो दूर देश से किसी निर्जन घोंसले में आ ठहरी हो और यह जानती हो कि उस घोंसले की अकेली माल-कन वही है, दूसरा कोई नहीं; फिर भी उसे अपना कहने में हिचकती हो; यद्यपि उस घोंसले के लिए उसके हृदय में अधिक मोह हो—अधिक प्यार हो।

चूल्हे से ताम्र-लोहित, श्वेत-शिखा-मण्डित, धुन्ध धूसर लपट ऊपर उठकर नीले और स्याह धुएँ

में खो रही थी। उसी के अलसाये आलोक में जयन्ती की आकृति दमक रही थी। बैठक से बात करने की आवाज़ स्पष्ट तो नहीं सुनाई देती थी; पर यहाँ से सुनकर कोई कह सकता था कि बैठक में दो पुराने परिचित बात कर रहे हैं। जयन्ती चाहती थी कि वह बैठक में होनेवाली बातचीत को सुने। पर वह उठी नहीं। क्या होगा उन बातों को सुनकर? न जाने वे क्या बातें करते होंगे। और उसे अभी उन बातों को सुनने की फ़ुर्सत भी तो नहीं है। उसे अभी केदार के लिए खाना तैयार करना है। आँच व्यर्थ ही बरबाद हो रही है। केदार आ जाता, तो वह भी अपने काम में लग जाती। बला से, न आवें! उन्हीं को देर में खाना मिलेगा। उसका क्या? वह तो रोज़ बारह बजे खाती है। आज कुछ और अबेर सही। मुर्दे पर जैसे छः मन मिट्टी, वैसे ही नव मन।....तो क्या जयन्ती मुर्दा है?.... मुर्दा नहीं है, तो क्या? उसका भी जीवन—जीवन है? उसका कोई अपना व्यक्तित्व है? व्यक्तित्व-हीन प्राणी मुर्दा है। माना कि उसके व्यक्तित्व का सम्मिलित और ठोस रूप केदार है।....केदार!—हाँ, उसका पति! ठोस रूप? जयन्ती अपने ही ऊपर हँसी। फिर वह अपने को सचेत कर उठी। वह क्या सोच रही है? छिः, पत्नी को स्वतंत्र व्यक्तित्व से क्या मतलब? उसे तो अपने को पति में लीन कर देना चाहिए! जैसे आग में पड़कर होम की लकड़ी भी आग हो जाती है। पर........पर आग होकर भी वह होम की लकड़ी की आग कहलाती है—अंगारा....उसका व्यक्तित्व पूर्ण रूप से आग-सा होकर भी किसी अज्ञात रेखा से घिरकर स्वतंत्र!....क्या सोचती है वह यह सब? उसके हृदय में कहाँ पर अविश्वास है?—कहाँ पर असहयोग है? वह इन सब बातों से दूर क्यों हो नहीं चलती—एकदम मुक्त होकर? मुक्त तो वह है ही। वह और केदार—केदार और वह! कहाँ है अविश्वास! कहाँ है असहयोग? वह तो पूर्ण रूप से केदार की है।....पर केदार आ जाता, तो वह खाना बनाने में लग जाती। वह अपने मित्र से कह क्यों नहीं देते कि अभी चला जाय; कल फिर बात करेंगे! पर यहाँ फ़िक्र ही किसको है? सोचते हैं, घर में एक दासी है; अभी एक दो बजे रात में, खाना तो तैयार करेगी ही। आख़िर कहाँ-कहाँ की बातें करते हैं एक क्षण के लिए आकर वह बतला जाते कि अमुक चीज़ बना लो, तो क्या बिगड़ जाता? बात वह सारी रात करते रहते। उसे खाना बनाने से तो फ़ुरसत मिल जाती!

जयन्ती ने एक हाथ से अपनी बिखरी लट को ठीक करने की चेष्टा की। फिर तरकारी के लिए परवल चीरने लगी। कुछ क्षणों तक तो उसके हाथ अभ्यस्त गति से चलते रहे और वह सोचती रही इसी केदार और अपने विषय में! लेकिन धीरे-धीरे उसके हाथ शिथिल पड़ गये। छुरी परवल में आधी धँसी थी। वह अपने बायें घुटने पर सिर रक्खे अपने हाथ में पड़े परवल और छुरी की ओर देख रही थी, पर ध्यान उस ओर नहीं था।

और यह जो है उसके पति का मित्र कन्हैया, वह यहाँ आज क्यों आया है? यहाँ नहीं आता, तो उसका क्या बिगड़ जाता? इतने बड़े शहर में उसका परिचित क्या केदार ही है? दूसरा कोई नहीं? और जयन्ती एक विवश क्षोभ से भर उठी, जो ग्लानि की मान्यताओं और खोखले अहंकार के मिथ्या अनादर के रोष से निर्मित था....

जो अतीत है वह अतीत है। उसका चिन्तन जयन्ती व्यर्थ क्यों करे? उसके सामने तो वर्त्तमान है—वर्त्तमान, जो उसकी और केदार की भावनाओं से स्पन्दित है। केदार है उसका पति, जिसके व्यक्तित्व में वह एकाकार हो गई है—जिसके व्यक्तित्व में उसने अपने को—अपने अतीत को विसर्जित कर दिया है। भविष्य की वह चिन्ता नहीं करती। यों तो उसकी चिन्ता ही व्यर्थ है। भविष्य तो सदा गोपन रहता है—अज्ञात, अस्पष्ट। फिर उस पर बुद्धि ख़र्च क्यों की जाय? पैर जाने-अनजाने जिधर पड़ता जाय, मनुष्य बढ़ता जाय सबल पद-विक्षेप करता हुआ, संसार से—अपने से संघर्ष करता हुआ।....अदूरदर्शिता? हुँह! यह तर्क है! यदि आनेवाले जीवन का उलटी-सीधी अस्पष्ट रेखाओं से एक साधारण-सा धुँधला स्केच देकर प्लान बना भी लिया जाय; तो कौन गारंटी दिला सकता है कि परिस्थितियों में आकर उसमें ज़रा भी वक्रता नहीं आवेगी? इसलिए व्यर्थ है। जो होता है, होता है; और सम्पूर्ण होकर रहेगा। आदमी तो साधन-मात्र है। वह संकेत की लघिमा-गरिमा को तटस्थता में लीन—सतर्क केवल देख भर नहीं सकता। उसे तो अपने निर्बल या सबल कन्धे पर वहन करना पड़ता है। इतना लाचार है आदमी अपनी ओर से भी! और जयन्ती ही को देखो न! कभी उसके लिए जीवन

एक बहता हुआ—लयपूर्ण सुन्दर गीत था, जो किसी भी वाद्ययन्त्र को छूकर मुखरित कर सकता है। पर वह तो अतीत था।....अतीत की चिन्ता जयन्ती क्यों करती है? उसने तो अतीत को बलपूर्वक अपने भीतर से निकाल फेंका है। उसके सामने तो वर्त्तमान है—केदार। इसीलिए तो उसने अपने भविष्य को केदार के पदचिह्नों का अनुसरण करने के लिए छोड़ दिया है। बीच में कोई आ नहीं सकता।

पर जयन्ती के हृदय में आज कुछ चुभता-सा है। उसे लगता है कि वह कहीं कुछ भूल गई है। उसकी भावनाओं में कहीं कुछ व्यतिरेक-सा आ उपस्थित हुआ है। यह सब क्यों? कैसे? वह चाहती है कि इन सभी की जड़ भूली हुई अस्पष्ट भावना को, जो उसके हृदय के किसी भीतरी कोमल भाग में धुन्ध-सी छा गई है, हठपूर्वक निकाल बाहर करे।

पर यह जो है कन्हैया, वह यहाँ क्यों आया है? क्या वह जानता है कि जयन्ती यहाँ रहती है? जब जयन्ती की शादी हुई थी, तब तो वह वहाँ नहीं था? दूर-दूर कहीं जंगलों में—पहाड़ की कन्दराओं में छिपा फिरता था।....वह कुछ करता था, जयन्ती को इससे क्या मतलब? कन्हैया उसका कौन है? जिसके विषय में वह सोचती है। उसका है केदार—केदार! वह हृदय को आश्वस्त करने के लिए मन-ही-मन खूब ज़ोरों से चिल्लाई—केदार—केदार! कि उसकी तन्त्रियाँ शिंजिनी-सी काँप उठें और अपनी टंकार से चेतना को झकझोर दें—सचेत कर दें कि कन्हैया की ओर उन्मुख हुई अन्तर्वृत्तियाँ कान खोलकर सुन लें कि कन्हैया उसका कोई नहीं है—कोई नहीं—जो है, सो केदार। जयन्ती कुछ क्षण तक अपने अन्दर से आती हुई आवाज़ को सुनती रही। उसके अन्तर में कहीं प्रतिध्वनि हो रही थी कि कन्हैया उसका कोई नहीं है। जयन्ती के हृदय का कोई खोखला भाग विद्रूप से हँस पड़ा। क्या सचमुच कन्हैया उसका कोई नहीं है? जयन्ती भावों के इस ऊहापोह से विकल हो उठी। उसे लगा कि किसी ने उसे व्यथा के हाथों मथ डाला है। उसके अधर को एक मुस्कान छू गई—वेदना से सरस—करुण-करुण कि केदार, कन्हैया जयन्ती का कोई नहीं है।

....सृष्टि अदृष्ट की कल्पना है—सुन्दर—अपरिमेय और जीवन, उसके वृत्त पर एक पुष्प, जो कुछ क्षण खिलकर अपना सौरभ बिखेरता है—वातावरण में स्वप्निल मुग्धता की फेंट डालता है। और ये कल मुर्झानेवाली कलियाँ आज अपने यौवन का सहर्ष आलिंगन क्यों नहीं करें? यही धारणा थी जीवन के प्रति जयन्ती की।

जाड़े की एक स्फूर्तिहीन तरल सन्ध्या। कुछ क्षण पहले ही फुहियाँ बन्द हुई थीं। वातावरण शीतलता से बोझिल। शाल में लिपटी जयन्ती पलँग पर लेटी हुई खिड़की से बाहर देख रही थी। ओस के कण-सी बहुत-सी बूँदें खिड़की के शीशे पर जमी थीं। दूर—नदी के उस पार पहाड़ियों की ओट में सूर्य छिप गया था। कोमल श्लथ किरणें क्रमशः शुष्क पर्ण-वर्ण, लोहित, तप्त सुवर्ण, धूमर, धुन्ध होती हुई नदी के पानी में रोमिल रेखा-रेखा बना रही थीं कि कपोल पर कन्हैया के शीतल स्पर्श ने जयन्ती को चौंका दिया था। कन्हैया हँस पड़ा था और जयन्ती लजा गई थी—मुस्करा पड़ी थी।

....और यौवन की भी एक माँग होती है, जो शरीर की भी है—एक भूख—अतृप्त वासना! इसकी तृप्ति आवश्यक है—प्राकृतिक है, जिस तरह से भूख और प्यास की, जो किसी भी थाली के भोजन से, किसी भी पात्र के निर्मल जल से हो सकती है। यह व्याचरण नहीं। उसकी पूर्ति न करना हानिकर है। भोजन से वर्जित रहकर साधना हो सकती है, जो संयम के मिथ्याचरण के आडम्बर की परिधि में संकुचित है। इन भावनाओं में पड़ी जयन्ती उस समय कितने अन्धकार में थी? वह अब सोचती है कि यह तर्क मौन सन्धि की घनीभूत लिप्सा के व्यामोह पर आरोपित है। इसे आचरण का नियमन कितनी घड़ी तक संगठित रह सकता है? फिर कहाँ रहेगी नैतिकता? मनुष्यत्व वासना के कितने निचले स्तर पर आ गिरेगा? स्वयं आदमी के जीवन में एक न सुधार सकनेवाली विशृङ्खलता आ उपस्थित होगी! फिर सामाजिकता किन मान्यताओं पर अवलम्बित रह सकेगी? वह तो और भी जल्दी छिन्न-भिन्न हो जायगी। समाज के पुंज-रूप में और पुंज के अलग-अलग इकाइयों के अलग-अलग स्पन्दन में घोर पतन परिव्याप्त हो उठेगा।

....पर जयन्ती को इस समाज से क्या मतलब? वह समाज को कभी क्षमा नहीं कर सकती। समाज ने ही उसे....पर व्यक्ति की असन्तोषमय कुण्ठा, अविश्वास, घृणा और निजी सहूलियत के अभाव ने

समाज को कहीं से पोला अवश्य कर दिया है। समाज को अभिमान है अपने रूढ़िगत आदर्शों का। व्यक्ति का आदर्श उसके सामने नगण्य है। समाज की तुष्टि की आग में व्यक्ति को होम होना पड़ता है। यहीं पर तो वह पोला है। उसे इस भाग को भरना चाहिए।

जयन्ती को आश्चर्य हुआ कि वह समाज की आलोचना कर अपने हृदय में कहीं भरे क्षोभ को बाहर उगल रही है। समाज का आधार लेकर वह गौण रूप से पति के ख़िलाफ़ जा रही है। वह हिन्दू-पत्नी है। वह आदर्श से गिर रही है। और इस मिथ्याभिमान ने उसे किंचित् सचेत कर दिया।

....और एक दिन कन्हैया ने आकर जयन्ती से कहा था कि जीवन को उपभोग की कल्लोलमयी धारा में निर्बाध बहने के लिए छोड़ देना चाहिए। कौन जानता है कि क़िस कूल से टकराकर हम साँसों के बन्धन को तोड़ दें!

जयन्ती एक साथ ही इतने वाक्यों के समूह के गूढ़ार्थ को नहीं समझ सकी थी। वह जिज्ञासा से विस्फारित नेत्रों से कन्हैया की ओर देखती हुई बोली थी—क्या?

और कन्हैया हँस पड़ा था। उसके बाद जयन्ती जीवन के प्रति सचेष्ट हो उठी थी। और आज वह समझती है कि वह सचेष्टता उसे पतन की ओर उन्मुख कर रही थी।

जयन्ती समझती है कि उसका कुछ कहीं पीछे छूट गया है, जिसके लिए उसके हृदय में प्यार तो नहीं, और न श्रद्धा ही, पर मोह-सा कुछ है, जिससे स्मृति-सा कुछ अस्त-व्यस्त उलझा हुआ है। उस अव्यक्त के लिए वह कभी-कभी सिर घुमाकर पीछे देख लिया करती है। जब से उसने अपने को केदार के वृत्त में हठपूर्वक सीमित कर लिया है, तब से उसे लगता है कि उसका जीवन जैसे स्थगित हो गया हो। काल तो क्या रुकेगा, वह तो नित्य प्रवहमान धारा है और जयन्ती का जीवन उसके गर्भ में पड़ा एक शिला-खण्ड जिसे धारा ज़रा भी उकसा नहीं पाती, वरन् अपनी क्षिप्रता के कारण ऊपर से निकल जाती है; क्योंकि उसे चलना है अपने क्रम में बिना व्यतिरेक के।

जयन्ती एकाएक उठकर खड़ी हो गई। पर समझ न सकी कि वह किस भावना से प्रेरित होकर उठ गई

वह लजाकर बैठ गई। देखो तो, वह कैसी हो गई है? बेकार ही इतनी देर तक अनाप-शनाप सोचती रही। चार परवल भी अब तक वह न चीर सकी। वह जल्दी-जल्दी परवल चीरने लगी।....और वह भी कैसे हैं! आज बात करने से फ़ुरसत नहीं मिलेगी क्या? आदमी को चाहिए कि कोई उसके यहाँ आया है, तो उसे पान-पत्ती के लिए पूछे; पर यह हैं कि उसके साथ माथा-पच्ची कर रहे हैं। भला वह भी क्या समझता होगा?

जयन्ती ने यह सोचकर कढ़ाई चढ़ा दी कि आख़िर तरकारी तो बनेगी ही। वह तरकारी छौंकने के लिए कढ़ाई में छौंक घुमाने लगी। कढ़ाई में छौंक चलाने की आवाज़ ऐसी थी कि स्पष्ट ही यह जाना जा सकता था कि छौंक चलानेवाला व्यक्ति खीझा हुआ है।

केदार ने रसोईघर में प्रवेश किया। जयन्ती की पीठ दरवाज़े की ओर थी, इसलिए वह केदार को नहीं देख सकी। केदार ने मुस्कराते हुए कहा—"सुनती हो?"

जयन्ती कढ़ाई में छौंक छोड़कर खड़ी हो गई। कुछ क्षणों तक वह केदार की ओर देखती रही। फिर संयत होकर बोली—"क्या?"

केदार मुस्कराता जा रहा था—"यह जो आये हैं हमारे मित्र कन्हैया, वह आज यहीं रहेंगे। उनके लिए भी खाना तैयार करना होगा। झटपट कुछ रोटियाँ सेंक लो! लाओ, मैं आटा गूँदे देता हूँ!"

जयन्ती ने केदार की ओर देखा। नहीं, केदार में कुछ नहीं! वह उदार है—महान् है। उसका हृदय स्नेह का उत्स है। जयन्ती? वह तो परिस्थितिवश उसके मार्ग में आ गई है। वह उसके योग्य नहीं। केदार का प्यार उसके लिए कृतज्ञता का भार बन गया है, जिसे वह किसी तरह अपनी आत्मा पर ढो रही है। इधर तो वह चेष्टा कर अपने हृदय में केदार को स्थान देने लगी है। वह मुस्कराकर प्यारभरे शब्दों में कह देना चाहती थी कि जाओ, आटा तुम क्या गूँदोगे? आटा गूँदना तो उसी का काम है। वह जब तक जियेगी, तुमको सुखी रक्खेगी। तुम जाकर अपने मित्र से बातें करो! पर वह ऐसा नहीं कह सकी। चुपचाप आटा और पानी लाकर केदार के आगे रख दिया। जयन्ती क्षण भर के लिए सोच उठी—किस चीज़ ने उसे बाधित किया यह सब नहीं कहने के लिए? क्या आत्मग्लानि ने? क्या हृदय के चोर ने? कमज़ोरी ने? विवेक ने? अभिमान ने? सन्देह ने? डर ने? क्या? क्यों?

जयन्ती केदार की ओर देखती रही। उसे केदार

का भोले भाव से अनभ्यस्त हाथों से आटा सानना कुछ अच्छा लगा। वह भूले हुए गौरव से संयुत हो उठी कि यह जो पुरुष सामने बैठा है, प्रेम, प्यार और सहृदयता का आगार—भोला-भोला—सुन्दर-सुन्दर—वह उसका पति है। उसका हृदय कुछ हलका हुआ। वह आगे-पीछे भूल गई। उसका हृदय मृदुल भावनाओं से गुदगुदा उठा। चूल्हे पर से कढ़ाई उतारकर वह केदार के सामने आ बैठी। बोली—"छोड़ो, छोड़ो, देख लिया, ख़ूब तुम्हें आटा गूँदना आता है।" उसने केदार के आगे से थाली अपने आगे खींच ली और कोमलता से केदार की उँगलियों से सटे आटे को छुड़ाने लगी। जयन्ती मुस्कराई। केदार झेंप गया। वह मुस्कराती हुई जयन्ती के गाल पर प्यार की एक चपत लगा हाथ धोने चला गया।

केदार जब बैठक में आया, तो कन्हैया डायरी पर कुछ लिख रहा था। केदार ने उसे टोका नहीं। कन्हैया से केदार का कोई ज़्यादा दिनों का परिचय नहीं है। कॉलेज में पढ़ते समय कुछ दिनों के लिए दोनों एक साथ रहे थे। पर कन्हैया के जीवन के पीछे कुछ अस्त-व्यस्त-सी कहानी है। वह जीवन के पीछे ख़ूब दौड़ा है। जीवन के आदर्शों के चुनाव के पीछे भटका है। इधर उसे असफलता मिली है—निराशा हुई है। उसका हृदय किसी का प्रेम पाने के लिए सदा उत्सुक रहा है। इधर उसे ठोकर लगी है। क्रान्तिकारी बनकर वह जंगलों और कन्दराओं में फिरता रहा है। वहाँ उसे तुष्टि तो क्या, जीवन के प्रति विद्रोह और कटुता मिली है। उसका अब तक का जीवन करुणाप्लुत रहा है। इसी से केदार को उसके प्रति सहानुभूति है।

सामान के नाम से कन्हैया के पास एक चादर है, जो अब कुछ मैली हो गई है। एक डायरी है और एक अलबम। बस। डायरी बन्दकर कन्हैया ने खुले आकाश की ओर देखा और व्याकुलता दिखलाते हुए बोला—"आज काफ़ी गर्मी है।"

केदार की स्वीकृति—"हूँऊँ!" वह भी आकाश की ओर देखने लगा।

केदार उत्सुक था कि वह कन्हैया के उस अलबम को देखे। उसने उसे कन्हैया की केहुनी के नीचे से लेना चाहा, तो कन्हैया ने उसे अपनी गोद में रख लिया और इस मुद्रा में बैठ गया कि मानो वह कह रहा हो, घबराओ नहीं; अभी-अभी मैं सभी कुछ दिखलाता हूँ!

एक क्षण तक कन्हैया अन्तर्मुख हो कुछ सोचता रहा। फिर सूत्रकार-सा अपने वाक्यों पर ज़ोर देता हुआ गम्भीर होकर कहने लगा—"केदार, मैं सोचता हूँ इस मन के विषय में। यह कितना नासमझ है! यह अपने काल और स्थिति से उठकर दूर की वस्तु की अभिलाषा करता है, जिसका पूर्ण होना कठिन है। ज्यों-ज्यों वह अपनी अक्षमता और निस्सहायता अनुभव करता है, त्यों ही त्यों उस वस्तु के प्रति उसका आकर्षण बढ़ता जाता है—प्रार्थना आतुर और विकल होने लगती है और तब वही होता है, जो कम-से-कम अप्रत्याशित तो नहीं ही रहता। उसे निराशा की ठोकर लगती है। उसके अरमान स्वप्न बनकर तिरोहित होने लगते हैं और जीवन के प्रति कटुता भर जाती है—क्षोभ भर जाता है। जीवन भार हो उठता है। आदमी वेदना का वृत्त तो स्वयं ही खींचता है। फिर नियति और विधाता का क्या दोष? तुममें नील कुञ्जों से स्वप्निल पुष्पों को तोड़ लाने की सामर्थ्य नहीं है, तो उसकी अभिलाषा ही क्यों करो? अपनी अभिलाषाओं को एकदम मुमूर्षु कर देना नहीं चाहते, तो तुम सबल संसार से होड़ करो, हारो और जीवन भर पश्चात्ताप और उत्पीड़ा की जीवित ज्वाला में जलो!"

केदार नहीं समझ सका कि कन्हैया के इस सूत्र-वाक्य का क्या मतलब है और वह यह सब किस अभिप्राय से कह रहा है। पर कहते समय उसकी मुद्रा इतनी अवश और करुण थी कि केदार को अनुभव हुआ कि ये वाक्य कन्हैया के हृदय की आर्द्रता से भीगकर सीधे आ रहे हैं। जीवन की कटुता का आख्यान सूत्रों में बँध गया है।

केदार चौंका कि कन्हैया के स्वर में यह आकस्मिक परिवर्तन कैसा है। वह भर्राई आवाज़ से कह रहा था—"शायद केदार, तुमको यह नहीं पता कि मैं लड़कियों के पीछे कितना भटका हूँ इस आशा से कि किसी के प्रेम का कण भर पाकर तृप्त हो सकूँ। मैं तितलियों-सी इधर-उधर उड़नेवाली लड़कियों की नस-नस पहचान गया हूँ। पर प्रेम में मेरी आस्था है; यही मुझे भरमा रही है। तुम भाग्य-शाली हो केदार! तुम्हें पत्नी मिली है और तुम्हें उसके प्रेम पर विश्वास है।...प्रेम तो दोनों से किया जाता है—हृदय से भी और बुद्धि से भी। हृदय,

हृदय से जा मिलता है—समर्पित हो जाता है; पर अपेक्षा नहीं करता। बुद्धि तर्कशील है। वह क्या, क्यों, कैसे अपने को सतर्क—एकदम सावधान किये रहती है—जांच-पड़ताल में एकदम तल्लीन। वह कुछ अपेक्षा करती है—अर्थ की भावना से एकदम पूर्ण! वहाँ हृदय की जगह देह का समर्पण है।.... और बुद्धि की आस्था पर प्रेम करनेवालियों का स्वतन्त्र इतिहासयुत यह अलबम है।" कन्हैया ने गोद में पड़े अलबम को टेबुल पर पटक दिया और स्वयं बरामदे में आकर टहलने लगा। आज वह आवश्यकता से अधिक उत्तेजित हो गया था; इस कारण उसे अपने ऊपर ही क्षोभ हो रहा था।

केदार की जिज्ञासा कौतूहल में परिवर्तित हो गई। वह अलबम उठाकर देखने लगा। दस-बारह लड़कियों की तस्वीरें थीं। सभी एक-से-एक सुन्दर—सम्भ्रान्त कुल की। प्रत्येक तस्वीर के नीचे सांकेतिक अक्षरों में कुछ-न-कुछ लिखा था। केदार अलबम का पृष्ठ उलटता गया। वह सोच रहा था, ये लड़कियाँ एक-एक कर कन्हैया के जीवन में आ चुकी हैं। पर इनमें से क्या एक भी उसके अभाव को नहीं भर सकी?....और यह किसकी तस्वीर है?....जयन्ती? उसने तस्वीर को बिजली के प्रकाश के बहुत पास लाकर देखा। हाँ, जयन्ती की ही है। पर उस पर कुछ लिखा नहीं है और उस तस्वीर के बाद एक और तस्वीर है। उसके बाद कुछ नहीं! पर अन्तिम दोनों तस्वीरों के नीचे कुछ लिखा नहीं है? क्यों? शायद कन्हैया इन दोनों के विषय में अब तक कुछ निर्णय नहीं कर पाया है।—तो जयन्ती....और यह अलबम तो कन्हैया का है—जयन्ती और कन्हैया!—तो तात्पर्य, कन्हैया के मार्ग में जयन्ती आ चुकी है। केदार समान भाव से यह सब सोच गया। कन्हैया तो सिड़ी है। क्या ठिकाना उसका? लड़कियों का चित्रसंग्रह करता हो और यह चित्र उसे कहीं पड़ा हुआ मिल गया हो?

और जयन्ती....खाना तैयार हो चुका होगा। कन्हैया को अब खिला देना चाहिए। वह आराम भी तो करेगा? न जाने आज सारे दिन कहाँ-कहाँ घूमता रहा है? केदार भीतर चला।

जयन्ती सोच रही थी कि अब वह विवाहिता है—गृहिणी है; कुँआरी नहीं। वह कन्हैया के विषय में कुछ भी सोचकर आदर्श से गिर रही है—केदार के प्रति विश्वासघात कर रही है—छल। वह इन्हीं बातों को सोचते-सोचते उद्विग्न हो उठी। वह चाहती थी कि अभी केदार उसके पास हो, उससे प्यार की बातें करे, जिसमें वह और सब कुछ भूल जाय। वह निश्चय-सा कर चुकी थी कि केदार अभी आवे, तो वह उसे अपने और कन्हैया के पिछले सम्बन्ध के विषय में अन्धकार में न रहने देगी। इसके बाद जैसा केदार का विचार हो!

वह प्रतीक्षा की मुद्रा में विकल-सी बाहर देख रही थी कि केदार अब आता ही होगा। वह इस तरह से कहेगी और इस तरह से चरणों में सिर रख देगी—इस तरह से! और उसने दोनों जुड़े हाथों के बीच आँचल दबाये, सिर से सटाये, भूमि में माथा टेक दिया।

और आया केदार! उसने यह सब देखा। जयन्ती के मुख पर श्रद्धा और समर्पण की विकल भावना व्यंजित थी। केदार ने इसे देखा—हाँ, देखा। उसने संयत होकर कहा—"यह क्या हो रहा है जयन्ती? खाना तैयार हो गया?"

जयन्ती उठकर खड़ी हो गई। वह पानी-पानी हो रही थी। उसे कुछ सूझा नहीं कि वह एकाएक क्या कहे। केदार कह रहा था—"खाना परोस दो, हम लोग बाहर खा लेंगे! तुम भी अब खाओ! देर हो गई है!"

जयन्ती यह सब कुछ नहीं समझी। वह सोच रही थी कि क्या वह कह दे? हाँ, कह दे! और वह अपने में बल ढूँढ़ रही थी कि अब शुरू करे कहना। केदार देख रहा था कि जयन्ती अस्त-व्यस्त हो रही है। वह अयाचित भाव से बोला—"क्या...." केदार खुद भी नहीं समझ सका कि उसका यह 'क्या' क्या और क्यों है? किस भावाभिव्यक्ति का प्रेरक? जैसे उसने कुछ कहना शुरू किया हो और भूल गया हो। जयन्ती का वाक्य अदृढ़ और अशक्त था—"मैं कन्हैया को जानती हूँ!"

केदार ने अपने उत्तर को संक्षिप्त करते हुए कहा—"मुझे मालूम है?" खाना परोस दो और कन्हैया के लिए बिछावन कोठरी में कर दो! वह थका है; अभी आराम करेगा।"

जयन्ती खाना परोसने लगी।—तो केदार सब कुछ जानता है?....फिर भी वह उसे प्यार करता है! कितना महान्! उसके जी में आ रहा था कि वह केदार के चरणों से लिपटकर खूब रोवे! थाली लेकर

जब वह केदार के सामने आई तो सिर ऊपर नहीं उठा सकी। उसे लग रहा था कि केदार की महत्ता के भार से उसका सिर झुका जा रहा है—उसकी आत्मा की ज्योति से उसकी आँखें चौंधिया गई हैं। उसमें अब केदार की आँखों से आँख मिलाने की शक्ति नहीं रह गई है।

जयन्ती को यह पता न था कि उसके अनजाने ही उसके गाल पर आँसू ढलक आये हैं। केदार ने देखा—तो जयन्ती रो रही है ? क्यों ? उसने क्षमापूर्ण शब्दों में कहा—'जयन्ती, यह सब क्यों ?" और उत्तर में जयन्ती ने एक बार केदार को देखा। आँखें मिलीं। वहाँ औदार्य का प्रकाश था। वह सिसक उठी। आँसुओं का प्रवाह रुका नहीं रह सका।

केदार चाहता था कि वह जयन्ती के आँसू पोंछ दे। पर वह रुका रहा। क्षण भर सोचकर बोला—"जयन्ती, जो अतीत है, अतीत है। वह बहुत पीछे छूट गया है। पीछे लौटकर उसे देखने की चेष्टा करना मूर्खता है।"

थाली लेकर जब वह बैठक की ओर चला, तो उसके मन में यह घूम रहा था—जयन्ती अब निष्कलुष है। वह पूर्ण रूप से केदार के पास समर्पित हो चुकी है। उसका हृदय अवधान की रेखाओं से घिर गया है। वह श्लाघ्य है—प्रेम और श्रद्धा की वस्तु है। उसने चित्त की वृत्तियों का निरोध कर उसे केदार की ओर समाधिस्थ कर दिया है। नारीत्व का सत्य तो यहीं पर उद्दीप्त हो उठा है। कोई व्याज नहीं—प्रतारणा नहीं। केदार अपने से ही पूछ उठा—पर जो बुद्धि कहती है, वह हृदय को क्यों ग्राह्य नहीं ? उसे लगा कि उसे उसके अपने शब्द ही उपहास-से लग रहे हैं—जो अतीत है, अतीत है। वह बहुत पीछे छूट गया है। पीछे लौटकर उसे देखने की चेष्टा करना मूर्खता है।....

जयन्ती बिछावन कर रही थी। उसकी आँखें भीगी थीं और हृदय गद्‌गद। उसे लगा कि कोई आ रहा है। इतनी निर्भीकता से केदार ही आ सकता है। उसने देखा—कन्हैया ! कन्हैया क्षण भर विमूढ़-सा विस्फारित नेत्रों से जयन्ती को देखता रहा। आश्चर्य के अतिरेक से उसका मुँह खुला था। उसकी आकृति कह रही थी कि वह जो कुछ देख रहा है, वह अप्रत्याशित है—अयाचित; वह उसके लिए तैयार नहीं था। उसने बहुत धीरे से कहा, मानो वह अपने हृदय को विश्वास दिलाने के लिए अपने से ही पूछ रहा हो—"जयन्ती ?"....उसका शब्द उसके अधर पर ही निर्बल पड़कर रह गया था। पर जयन्ती के कानों पर वह गूँज उठा।

जयन्ती ने तीखे स्वर में कहा—"हाँ, जयन्ती ही ! पर तुम यहाँ क्यों आये ?"—उसकी आँखों से किंचित् घृणाभरा आक्रोश टपक रहा था।

कन्हैया कुछ बोला नहीं। वह एक पैर बाहर और एक पैर कोठरी के भीतर किये शून्य दृष्टि से जयन्ती की ओर देखता रहा। जयन्ती का स्वर अब भी रुका था—"बोलो न, तुम्हारा यहाँ क्या है ?"

न जाने किस विचार का झटका पाकर कन्हैया का सिर झुक गया। उसने धीरे से अपना कोठरी के भीतरवाला पैर बाहर कर लिया और लौटने पर हुआ। जयन्ती एकाएक बहुत कोमल पड़ गई—"जाते हो क्या?"

"हाँ !" कन्हैया का स्वर उद्दीप्त था।

"सुनो तो—"

कन्हैया लौटकर सिर झुकाये खड़ा रहा।

"—तो चले जाओगे ?—कहाँ जाओगे ?"

कन्हैया कुछ बोला नहीं।

"फिर क्यों आये थे ?"

क्यों आये थे ? कन्हैया अपने आत्मा से पूछ रहा था। लेकिन वह मौन था। उसकी आकृति कह रही थी कि वह क्यों आता ? वह तो अनजाने चला आया है। उसे क्या पता कि जयन्ती यहाँ है ? पर अब तो वह चला आया है। क्या अब वह जाय ?

कन्हैया मुड़ा कि अब वहाँ से चल दे। जयन्ती जैसे कन्हैया की निरीहता पर पसीज उठी—"कहाँ जाओगे इतनी रात को ? आराम करो, थके आये हो !—कहाँ से आये हो ?"

"नहीं, जयन्ती, मुझे जाने दो !"

"लेकिन वह क्या सोचेंगे ?"

जयन्ती को बोध हुआ कि वह अत्यधिक कोमल पड़ गई है।—तो क्या कन्हैया के लिए प्यार उसके हृदय में अब भी अवशिष्ट है ? वह कन्हैया की ओर देखती रही—निर्भाव-शून्य। आँखों में दृष्टि नहीं थी। उसे मालूम नहीं हो सका कि कब कन्हैया वहाँ से चुपचाप चला गया—उसकी आँखों के सामने से।

जयन्ती दीपक तक आई। उसे कुछ उकसा दिया—दीपक जलो ! अन्तर में ज्वालावाले निधूँम जलो !

ऊर्ध्व-शिखा-मण्डित जलो ! गर्भ में समवेत अन्धकार रखकर भी आलोकपूर्ण और उज्ज्वल जलो !

जयन्ती का हृदय गलकर आँखों से बह निकला। तब वह एकाएक क्षत-विक्षत—शून्य और निष्प्राण, दीवार से टँगी केदार की तस्वीर के पाँव पर सिर टेककर खड़ी हो गई।

जयन्ती को पता भी न चला कि कब उसके हाथ-वाली चादर में दीपक की लौ लग गई है और लपट उसकी सारी देह में फैलती जा रही है। पर वह निश्चेष्ट रही। हाँ, उसे जल जाना ही चाहिए—एकदम निर्धूम, वातावरण को सुवासित करने के लिए उसकी खण्डित आत्मा दो क्षेत्रों में अंकुरित होकर अपनी शक्ति खो चुकी है। वह अपने सत्य को नहीं पा सकी। इसलिए केदार और कन्हैया और अपने को छलती रही।

एकाएक जयन्ती कहीं से टूटकर—बिखरकर बैठ गई। उसकी वेदना उसके अन्तरंग को फोड़ती हुई कुछ कह उठी—वह इस समय किसी के लिए कहाँ रोती है! वह तो रोती है अपने प्यार के लिए, जो स्वतन्त्र रूप से उसका अपना भी नहीं रहा।

केदार आँगन में खड़ा सोच रहा था—जयन्ती के जीवन का खण्डित भाग उसे मिला है, जो जूठा है। जयन्ती में रस है, पर सूखता-सा; उत्साह है, टूटता-सा; प्रस्फुटन है, जो गतिरोधावस्था में है। उसके अतीत ने उसके वर्त्तमान के स्पन्दन में व्यवधान उत्पन्न कर दिया है। इसलिए उसमें एक बड़ा-सा शून्य आ गया है, जिसे वह भर नहीं पा रही है। पर केदार के भीतर कोई कहता है—वह नहीं है अपनी! उसे अपनी करने का अधिकार नहीं है—हाँ, नहीं है अधिकार। अधिकार होता, तो वह अपंग क्यों होता! उसके हृदय में पीड़ा की एक लहर-सी उठी और निश्चेष्टता-सी उसकी शिराओं में पाती चली गई। वह अपने को देखता है और नहीं समझ पा रहा है कि वह कहाँ पर अपंग है!....

केदार ने देखा; निष्कंप पलकों से, निर्निमेष दृष्टि से देखा—देखा कि जयन्ती जलकर शान्त हो गई है! तो उसने केदार को बहुत निकट मानकर, परनीत्व को बहुत सत्य मानकर क्यों झेला? उसने अपने को नष्ट क्यों किया? वेदना की एक ज्वाला टीस बनकर उसके हृदय में सहस्रों सुई-सी चुभ रही थी। वह हारा-सा वहीं पर बैठ गया। दोनों हाथों से आँख मींचकर वह जी खोलकर रो उठा। उसके भीतर में कोई कह रहा था कि कन्हैया, जयन्ती और केदार तीनों ही के अतीत का आरम्भ मिथ्या के भ्रम पर आरोपित था!

गीत

श्री जानकीवल्लभ शास्त्री, साहित्याचार्य, साहित्य-रत्न

मेरी पीर तुम्हें अति प्यारी!
ऐसी प्रीति-रीति पर जाऊँ—
मैं तो बार-बार बलिहारी!!
स्नेह नवल नित, नव आशाएँ सँजो प्रदीप जलाऊँ,
प्रातसमय अपनी उसाँस से ही फिर उसे बुझाऊँ,
तुम मेरे पथ से जाओ तो—
सुनूँ तनिक पद-चाप तुम्हारी! मेरी पीर तुम्हें अति प्यारी!!
अरमानों का रहने दूँगा एक न शेष नमूना
छुपकर देखो, बिना तुम्हारे सब कुछ सूना-सूना
गिनो तो, तुम्हारे दाँवों पर
मैंने कितनी बाजी हारी! मेरी पीर तुम्हें अति प्यारी!!
छुए नहीं मुसकान कभी भी, होंठ रहें नित सूखे,
आँखें रहें उदासी, प्यासी; प्राण रहें नित भूखे;
तुम हल्के-हल्के तोलो तो—
अब यह जीवन कितना भारी! मेरी पीर तुम्हें अति प्यारी!!

हमारा दृष्टिकोण

१—ऋग्वेद के दस्यु और आर्य

ऐतिहासिकों का अनुमान है कि भारत में आर्यों का उपनिवेश होने के पहले जिस प्राचीन जाति ने भूमध्यसागर से वंगोपसागर तक अपना अधिकार स्थापित किया था, वही शायद ऋग्वेद में दस्यु के नाम से उल्लिखित हुई है और ऐतरेय ब्राह्मण में विजेता आर्यों के द्वारा पर्णी नाम से उसी का वर्णन हुआ है। भाषातत्व के पंडितों ने उत्तरापथ के पश्चिम प्रान्त में, बलूचिस्तान में, ब्रहुई जाति के अस्तित्व और उसकी भाषा से यह प्रमाणित किया है कि किसी समय सम्भवतः आर्यजाति के आक्रमण के पहले, आर्यावर्त्त और दाक्षिणात्य में द्राविड़जाति का विस्तृत अधिकार था। प्रत्नतत्त्वविशारद हाल साहब ने यह सिद्धान्त किया है कि द्राविड़ लोग अति प्राचीन काल से भारतवर्ष में निवास कर रहे थे और उन्होंने ही ईसा के जन्म से लगभग ३००० वर्ष पहले बाबिरुश और असीरिया की प्राचीन सभ्यता की नींव डाली थी। द्राविड़ों की प्राचीन सभ्यता के सम्बन्ध में वर्त्तमान खोज से जो कुछ आविष्कार किया जा सका है, उससे मालूम होता है कि खीष्टपूर्व ३००० वर्ष पहले द्राविड़ लोग विदेशी जातियों के साथ समुद्रमार्ग से बनिज करते थे। वे अंकित सांकेतिक चिह्नों के द्वारा अपने मनोगत भावों को प्रकट कर सकते थे। अनेक प्रकार के शिल्प-कार्य और धातुनिर्मित अस्त्रों का व्यवहार भी उनको मालूम था। बाबिरुश के अन्तर्गत प्राचीन सुमेरियन राजाओं की राजधानी और नगरी के ध्वंसावशेष के भीतर मिली हुई भारतीय सागवान की लकड़ी और ई० पूर्व चौदहवीं शताब्दी के असीरियन फलक-लिपि में सोने, मोती और बैबिलोनिया की एक वस्त्र-सूची में सिंधुदेश के बने वस्त्र का उल्लेख देखकर पंडित लोग यह अनुमान करते हैं कि ई० पूर्व ३००० वर्ष पहले विदेशों के साथ व्यापार करनेवाले द्राविड़ लोग ही इन चीज़ों को भारत के उपकूल से बाबिरुश में ले गये होंगे। इधर दाक्षिणात्य में आविष्कृत बैबिलोनिया की कीलक-लिपि ने प्रत्नतत्त्वविशारद पंडितों के पूर्वोक्त अनुमान को सत्य प्रमाणित कर दिया है।

ऋग्वेद में उल्लिखित विवरण से मालूम होता है कि दस्यु लोग धन-रत्न से परिपूर्ण, रथ, घोड़े, गऊ आदि से सम्पन्न, सौ तोरणद्वारवाले नगरों में निवास करते थे; स्वर्ण-रत्नमण्डित बहुमूल्य पोशाकों से सजधज कर, आर्यों के ही समान अस्त्र-शस्त्र आदि लेकर, रथों पर बैठकर युद्धभूमि में उपस्थित होते और युद्ध करते थे। उनके भी देवता आर्यों के देवताओं के समान सोने, चाँदी और लोहे के बने सुदृढ़ दुर्गों में निवास करते थे। दस्यु लोग अपने देवताओं की प्रसन्नता के लिए पशुओं की बलि देकर निहत पशुओं की रुधिर-धारा से अग्नि-हीन मृत्तिका की वेदी को प्लावित करते थे। (ऋग्वेद १०।१०२।८ और ४।३।६ देखो) वर्तमान समय में अब भी मुण्डा और संथाल आदि जातियों में ऐसी प्रथा देख पड़ती है।

ऋग्वेद १।१०१।१, १।१३०।८, २।२०।७, ४।१६।१३, ८।६२।८, ८।८५।१५, ६।४१।१ सूक्तों में 'कृष्ण' और ५।२६।१० सूक्त में 'अनास' शब्द रहने के कारण ऐतिहासिकों ने दस्युओं को कृष्णवर्ण और बिलकुल चिपटी नाकवाला कहा है; किन्तु वर्तमान समय में ऐतिहासिक पंडितों में उक्त दोनों शब्दों के ठीक अर्थ के सम्बन्ध में यथेष्ट मतभेद देखा जाता है। आधुनिक भारतीय तथा पाश्चात्य टीकाकारों में से अनेक उक्त सूक्तों में प्रयुक्त 'कृष्ण' शब्द का अर्थ काला बादल, कृष्णवर्ण दैत्य, इन्द्र का शत्रु एवं 'अनास' शब्द का अर्थ अन्+आस=मुखहीन अर्थात् बुरा या कटुभाषा बोलनेवाला आदि करते हैं। दाक्षिणात्यवासी द्राविड़ों के शरीर का रंग काला और नाक चिपटी देखकर वेदशास्त्रज्ञ पण्डित मैकडानेल ने अपने "वैदिक इनडेक्स" नामक ग्रन्थ में दस्यु और अनास शब्दों के अर्थ के सम्बन्ध में लिखा है—

"That the Dasyus were real people is, however, shown by the epithet anas applied to them in one passage of the Rigveda. The sense of this word is not absolutely certain; the Pada text and Sayana both take it to mean "without face" (an—as) but the other rendering "noseless" (a—nas) is quite possible and would accord well

with the flat-nosed aborigines of the Dravidian type.

किन्तु दाक्षिणात्यवासी वर्तमान द्राविड़ लोगों के बारे में अनेक लोगों का अनुमान है कि वे प्राचीन द्राविड़ और मुण्डा जाति के सम्मिश्रण से उत्पन्न हुए हैं। इसलिए मैकडानेल की ऊपर उद्धृत व्याख्या को निश्चित रूप से स्वीकार नहीं किया जा सकता।

ऋग्वेद के १।१७४।२ और २।३२।८सूक्त में दस्युगण और ७।६।३ व ७।१८।१३ सूक्त में दस्युजाति के अन्तर्गत पणिगण के प्रति 'मृध्रवाक्' विशेषण का प्रयोग देखकर अनेक लोग सायणाचार्यकृत 'अनास' शब्द की अन्+आस=मुखहीन अर्थात् बुरा या कटुभाषा बोलनेवाला, इस व्याख्या को संगत समझते हैं। ऐसा उल्लेख है कि इन्द्र की अधीनता अस्वीकार करने पर पणियों को मृध्रवाक् (The man who, neither worships the gods nor rewards the priests.—*Vedic Index I*, page 472. देखिए), दस्यु, दास आदि नामों से पुकारा जाने लगा।

पंडित मैकडानेल ऋग्वेद के ३।१८।१३ सूक्त में त्रित्सु भरतगण के साथ चिरशत्रुता रखनेवाले आर्य पुरुगण के लिए मृध्रवाक् विशेषण का प्रयोग देखकर अनास शब्द की मृध्रवाक्‌वाली व्याख्या को असंगत समझते हैं।

आर्यशब्द के ठीक-ठीक तात्पर्यार्थ के सम्बन्ध में आजकल के पंडितों में यथेष्ट मतभेद देख पड़ता है। अतएव पहले ही पुरुगण को आर्य अर्थात् आर्यजाति के अन्तर्गत कल्पना करके मैकडानेल ने जो प्रतिकूल मत के आरोप का प्रयास किया है, वह युक्तियुक्त या सुसंगत नहीं जान पड़ता।

पंडितप्रवर Hildebrandt ने दास शब्द से Dahae नामक जातिविशेष बोध होता है, ऐसा अपना मत प्रकट किया है। Zimmer Meyer और Ludwig ने दास शब्द का अर्थ क्रमशः शत्रु और आर्यों का शत्रु किया है।

ऋग्वेद के ८।४६।३१ सूक्त में एक स्तुति है, जिसमें कहा गया है कि "हे नासत्यगण, तुम दासगण के दिये हुए खाद्य अन्न का उपभोग करते हुए बहुत दूर से हमारे निकट आओ।" इससे अनुमान होता है कि इस जगह जाति के अर्थ में दास शब्द का प्रयोग हुआ है। अर्थात् दास नाम की कोई एक जाति ही थी।

वेद के हिन्दूभाष्यकार सायणाचार्य ने आर्य और दस्यु शब्द की क्रमशः "स्तोतारः कर्मयुक्तानि कर्मानुष्ठातृत्वेन श्रेष्ठानि" और "अनुष्ठातृणां उपेक्षयापयितारः—कर्महीनाः" व्याख्या की है। पाश्चात्य पंडित भी इन शब्दों को धर्मगत पार्थक्य का सूचक मानते हैं। यथा—

"Dasyu—a word of somewhat doubtful origin, is in many passages of the Rigveda, it early applied to superhuman enemies. On the other hand, there are several passages in which human foes, probably the aborigines, are thus designated. The great difference between the Dasyus and the Aryans was their religion.

Das—like Dasyu, sometimes denotes enemies of a demoniac character in the Rigveda, but in many passages refer to human foes of the Aryans. It is significant that constant reference is made to the differences in religion between Arya and Dasa or Dasyu."

(*Vedic Indix I.*)

दस्युओं के लिए अनग्नित्र, अनृच, अव्रत, अपव्रत, अन्यव्रत, अयज्ञ, अब्रह्मण, अयज्यु, अयज्यान आदि विशेषणों का प्रयोग वेद में किया गया है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि दस्यु लोग अग्निपूजा के विरोधी थे।

भारत में अग्नि-पूजा के इतिहास का अनुशीलन करने से इन्द्र के द्वारा पत्थर रगड़कर अग्नि की उत्पत्ति (ऋ० २।१२।३), आंगिरस मुनि के द्वारा अग्नियज्ञ की स्थापना (ऋ० १।७२।२।३, और २।११।६), भृगुओं के द्वारा अग्नि की स्थापना (ऋ० १।४८।६) और भरतगण के द्वारा सरस्वती और दृषद्वती नदियों के अन्तर्वर्ती स्थल में अग्नि के प्रज्वलन (ऋ० ३।२३।४) आदि के प्रमाण मिलते हैं, जिनसे भारत-भूमि में अग्नि-उपासना के नये प्रचलन का आभास मिलता है। मनु, अथर्व, दध्यङ् आदि को भी अग्नियज्ञ की स्थापना करनेवाला कई जगह कहा गया है। कर्मप्रदीप नामक स्मृतिशास्त्रसम्बन्धी ग्रन्थ में 'प्रमंथ' शब्द का उल्लेख देखकर बहुत लोग ग्रीस की पौराणिक कथा

में वर्णित प्रमेथियस के द्वारा स्वर्ग से अग्नि के लाने की घटना के साथ भारतीय अग्निमन्थन का सौसादृश्य मानते थे; किन्तु "मथ" शब्द से रगड़कर अग्नि को उत्पन्न करने का बोध होता है, इसलिए यह अनुमान ग़लत समझा गया। (देखिए मैकडानेल साहब की वेदिक माइथालोजी पुस्तक)

वास्तव में यह निर्णय करना बहुत ही कठिन है कि अग्नि की उपासना भारत में ही स्वतः प्रचलित हुई थी अथवा पुण्यभूमि सप्तसिंधु-प्रदेश में बाहर से आई थी। भारतीय अग्निमंथन और अग्निदेवता के रूप-निर्णय पर ध्यान से विचार करने पर प्राचीन ग्रीक, पर्शियन, चाल्डियन आदि जातियों की अग्नि-उपासना के साथ वैदिक आर्यों की अग्नि-उपासना का कुछ भी सादृश्य नहीं देख पड़ता।

ख़ैर, कुछ भी हो, ऋग्वेद के ३।२।१४ सूक्त में अग्नि की "तुम सूर्य हो, तुम इन्द्र हो, तुम विष्णु हो, तुम वरुण हो, तुम मित्र हो, तुम दिति हो" इत्यादि स्तुति को देखने से अनुमान होता है कि अग्नि किसी जातिविशेष के उपास्य देवता से सूर्य, इन्द्र, विष्णु, वरुण, मित्र, दिति आदि भिन्न-भिन्न देवताओं की उपासना करनेवाली जातियों के साधारण देवता बन गये थे। प्रत्येक देवता के सर्वश्रेष्ठ रूप में कल्पित होने के दृष्टान्त से विभिन्न देवताओं की उपासना करनेवाली जातियों के परस्पर सम्मिश्रण और जातिविशेष के उपास्य देवता के सब जातियों के साधारण देवता के रूप में परिगणित होने का आभास प्राप्त होता है। हिस्ट्री आफ़ रेलीजन में इसे tribal monotheism developing into inter-tribal polytheism" अथवा मैक्समूलर का henotheism कहा है।

ऋग्वेद में रुद्र (शिव), कृष्ण, वृत्र, शिश्न आदि अनार्य देवताओं की तरह आर्यदेवता मरुत्, सूर्य, वरुण आदि के साथ इन्द्र के युद्ध का उल्लेख देखकर यह अनुमान होता है कि इन्द्र भी पहले किसी जातिविशेष के उपास्य देवता थे और जातिविशेष के प्रधानता प्राप्त करने के साथ-साथ इन्द्र ने भी श्रेष्ठ देवता के रूप में प्रसिद्धि प्राप्त की थी।

ऋग्वेद के ३।४८, ४।१८ सूक्त में कही गई इन्द्र की उत्पत्ति, तथा ८।४।२ सूक्त में नासत्यगण (अश्विनीकुमार) की तरह इन्द्र के रुमा, रुशाम, स्यामक, कृप आदि दूर देशों में पर्यटन के विवरण से यह अनुमान होता है कि इन्द्र की पूजा भी ब्रह्मर्षिदेश में आविष्कृत होकर भारत के बाहरी भागों में प्रचारित हुई थी। बैकट्रिया की अधित्यका भूमि में (पहाड़ी प्रदेश में) बहुत दिनों तक एक जगह पास-पास बढ़ने पर भी अवस्ता के Vendiad नामक अंश के शेष भाग में केवल दो बार 'अन्द्र' शब्द का उल्लेख पाया जाता है। अवस्ता के गाथा-अंश में 'अन्द्र' शब्द बिलकुल ही नहीं आया। इससे ऊपर का अनुमान और भी पुष्ट होता है।

पणि-नामक अनार्य जातिविशेष के प्रति इन्द्र की दूती सरमा की उक्ति (१०।१०८) और दस्युओं के द्वारा आर्य ऋषियों के यज्ञ में विघ्न डालने और सोमरस पी जाने ए इन्द्र के द्वारा दस्युओं की हत्या और पीड़न के दृष्टान्त से यह जान पड़ता है कि अग्निमंत्र में दीक्षित वैदिक आर्यों का अग्निपूजा के प्रचार का प्रयास और अन्यान्य जातियों का उसके प्रतिकूल आचरण, इन दोनों कारणों से दोनों पक्षों में विजातीय विद्वेष का भाव उत्पन्न कर दिया था और इसी कारण कई बार आन्तर्जातिक युद्ध भी हुए।

ऋग्वेद में उल्लिखित आर्य नाम से परिचित तुर्वसु, यदु, अनु, द्रुह्यु, पुरु आदि पाँच जातियों के अलावा आगे चलकर समयानुसार अन्य जातियाँ भी आर्यों में मिल गईं और उनका भी आर्य नाम से उल्लेख हुआ। इससे यह जान पड़ता है कि अग्नि-पूजा का विरोध करनेवाली जातियाँ भी क्रमशः इन्द्र और अग्नि के मन्त्र की दीक्षा लेकर आर्य नाम से परिचित होने लगीं। उदाहरणस्वरूप नहुष को ले लीजिए। ऋग्वेद के ७।६ सूक्त में नहुषगण को इन्द्र का शत्रु, अग्नि-पूजा का विरोधी और बर्बर कहा गया है। पुराणों में लिखा है कि इन्द्रविरोधी नहुष राजा (जिन्होंने इन्द्र-पद प्राप्त कर लिया था और इन्द्राणी को भी हथियाना चाहते थे) ऋषिशाप से सर्पयोनि को प्राप्त हुए। जान पड़ता है, ये नहुषगण सर्पोपासक थे। किन्तु इन्हीं नहुष के पुत्र ययाति के वंशधर पुरु, अनु, द्रुह्यु आदि पाँच भाइयों को आर्यजाति के पूर्वपुरुषों में गिना गया है।

व्रात्यस्तोम यज्ञ के उल्लेख से भी ऐसा ही अनुमान होता है। कारण, व्रात्य अर्थात् Aryans outside the sphere of Brahmanical culture लोगों की ब्राह्मण्यधर्म में दीक्षा के लिए ही व्रात्यस्तोम यज्ञ प्रचलित किया गया था। व्रात्य शब्द नीच, पतित आदि का भी बोधक है। शायद आगे चलकर

जातिभेद के प्रचलन और वर्णसंकर की उत्पत्ति के कारण ऐसे लोगों को शुद्ध करके जाति में मिलाने के लिए ही व्रात्यस्तोम यज्ञ का विधान किया गया हो।

अदीक्षित होने पर भी व्रात्यगण दीक्षित वाणी के उच्चारण में समर्थ थे (देखिए, पंचविंश ब्राह्मण १७।१।६)। इससे यह प्रमाणित होता है कि Indo-Germanic भाषाभाषी अनेक जातियाँ पहले अग्नि और इन्द्र की उपासना नहीं करती थीं। वैदिक इंडेक्स द्वितीय भाग में मैकडानेल साहब लिखते हैं—

"That they were non-Aryans is not probable for it is expressly said that though unconsecrated, they spoke the tongue of the consecrated. They were thus apparently Aryans."

ऋग्वेद के १०।६९ सूक्त में अग्नि और इन्द्र को आर्य कहा गया है, अतएव इससे जातिविशेष के प्रति प्रयुक्त आर्यशब्द का भावार्थ यदि अग्नि और इन्द्र की उपासना करनेवाली जाति माना जाय तो कुछ असंगत न होगा। इसके सिवा केवल अग्नि और इन्द्र के स्तोत्र में प्रायः सभी जगह आर्य और दस्यु व दास शब्द का प्रयोग देखकर यह अनुमान होता है कि इन शब्दों का व्यवहार क्रम से अग्नि और इन्द्र के उपासक तथा उनके विरोधी के अर्थ में ही किया गया है।

ऐतिहासिक लोगों के पदांक का अनुसरण करके अनेक लोग आर्य और दस्यु व दास शब्द का अर्थ क्रम से विजेता और विजित करते हैं, किन्तु अनार्य शत्रुओं से युद्ध में जयलाभ करने के लिए और धन-सम्पत्ति, दीर्घजीवन और बलवान् सन्तान प्राप्त करने के लिए वैदिक मन्त्रों में विजेता के स्वभाव के अनुसार युद्ध जीतने की घोषणा नहीं मिलती। यह देखकर पूर्वोक्त मत ठीक नहीं जँचता। बल्कि आर्यों के आदि-निवासस्थान उत्तर-कुरु की किसी स्मृति के निदर्शन और भारत में आने के मार्ग के वर्णन का अभाव देखकर आर्य-गण के द्वारा आर्यावर्त-विजय होने के सम्बन्ध में मन में आपसे एक सन्देह उत्पन्न होता है। वेद की भाषा में आदि इंडोजर्मनिक भाषा के साथ दीर्घविच्छेद जतानेवाली स्वर, व्यंजन, * पद-विन्यास और वाक्य-रचना की प्रणाली में थोड़ा बहुत अलगाव और द्राविड़-भाषा के साथ सादृश्य रखनेवाले * अनेक धातु, विभक्ति और शब्द आदि देख पड़ते हैं। इस कारण पूर्वोक्त सन्देह और भी दृढ़ हो जाता है।

भारत में इंडो-जर्मनिक-भाषा के अस्तित्व का सूत्र क्या है, इसका निर्णय करने में लगे हुए अनेक पंडितों का अनुमान है कि वैदिक युग के बहुत पहले यह भाषा भारत में प्रवेश कर चुकी थी और सरस्वती के तट के समीप रहनेवालों के बीच प्रचलित थी। धीरे-धीरे जब इस जाति या जातियों को प्रधानता प्राप्त हुई, तब उसी के साथ-साथ इस भाषा की भी प्रसिद्धि और समृद्धि हुई। कारण, भाषा के इतिहास में सर्वत्र ही देखा जाता है—

"Linguistic supremacy, other things being equal, follows political" (Lamsbury, *History of English Language.*)

आर्यों में दैवी और मानुषी भाषाएँ प्रचलित थीं। वैदिक इंडेक्स में मैकडानेल ने लिखा है—The discrimination of making articulate of speech is ascribed to India by the Sanbitors. अतएव यह भाषा कब किस तरह भारत में आई, इसका ठीक निर्णय करना कठिन है। अनेक लोगों का अनुमान है कि वैदिक-युग के बहुत पहले विदेशी लोगों के साथ अन्तर्जातिक बैपार-बनिज के लिए मिलने-जुलने के फलस्वरूप यह भाषा सप्तसिन्धु-देश में आई और धीरे-धीरे फैल गई। कोई-कोई कहते हैं कि किसी इंडो-जर्मनिक जाति ने वेदों की रचना के बहुत पहले सप्तसिन्धु-प्रदेश में आकर उपनिवेश की स्थापना की होगी।

कौषीतकी ब्राह्मण से मालूम होता है कि कुरु-पांचाल की भाषा ही दैवी भाषा कहलाती थी और विद्याशिक्षार्थी लोग यह भाषा सीखने के लिए कुरु-पांचालदेश जाया करते थे।

हिन्दूसमाज में शूद्रजाति का अस्तित्व होने के कारण पंडितों का कहना है कि अनार्यों में से जिन लोगों ने विजेताओं की अधीनता को स्वीकार कर

* a e o की जगह a और स के स्थान पर श ष स।

* संस्कृत में कृतवान् और तामिल में सेतवान्। दाक्षिणात्य का मुत्त्यु नामक स्थल समुद्र से मोती निकालने का केन्द्र-स्थान है, इसी लिए तामिल भाषा में मोती को मुत्तु कहते हैं। बहुतों का अनुमान है कि मुत्तु शब्द से ही संस्कृत के मुक्ता शब्द की उत्पत्ति हुई है।

लिया, वे ही शूद्र नाम से निम्न श्रेणी में शामिल कर लिये गये। किन्तु वेद, स्मृति, पुराण, रामायण और महाभारत में इस बात का कोई उल्लेख नहीं मिलता।

वेद में जातिभेद या वर्णाश्रमधर्म की उत्पत्ति के बारे में जो कुछ मिलता है, उसका वर्णन रूपक के रूप में हुआ है। इसलिए वेद को छोड़कर अन्यान्य शास्त्र ग्रंथों को देखने से विदित होता है कि पहले सब मनुष्य ब्राह्म अर्थात् ब्राह्मण ही थे और एक ब्राह्मण-जाति से ही समाज के चारों वर्णों का संगठन हुआ है। ब्रह्माण्डपुराण में शूद्रजाति की उत्पत्ति के सम्बन्ध में लिखा है—

शोचन्तश्च द्रवन्तश्च परिचर्यासु ये रताः।
निस्तेजसोऽल्पवीर्याश्च शूद्रांस्तानब्रवीत्तु सः॥

अर्थात् जो लोग तेज से हीन, अल्पवीर्य और सेवा में रत थे, उन्हें ब्रह्माजी ने शूद्र कहा।

तैत्तिरीय ब्राह्मण में एक जगह कहा है—

असतो वै एप संभूतो यत्शूद्रः।

शूद्रों की उत्पत्ति असत् से हुई है।

ऐतरेय ब्राह्मण और कौषीतकी ब्राह्मण में कवष ऋषि का वर्णन है, जिन्होंने शूद्रयोनि में उत्पन्न होने पर भी ब्राह्मणत्व प्राप्त कर लिया था। पंडितवर मैकडानेल ने वैदिक इंडेक्स में लिखा है—

"It is reasonable to suppose that Shudra was the name given by the Vedic Indian to the nations opposing them. But it is also probable that the Shudras came to include men of Aryan race and that the Vedic period saw the degradation of Aryans to a lower social status. Shudra would cover many sorts of people who were not really slaves, but were freemen of humble character."

शूद्रों को सोमयाग करने का अधिकार देने का भी उल्लेख देख पड़ता है और ऐतरेय ब्राह्मण में ब्राह्मण आदि त्रिवर्ण और शूद्रजाति के अन्तर्गत रथकार के लिए भी अग्नि-स्थापन की पद्धति का निर्देश मिलता है।

इसके विपरीत शूद्र को कामोत्थाप्य और यथा-कामवध्य भी कहा गया है। शूद्र के यज्ञशाला में प्रवेश या अग्निहोत्र के लिए गऊ दुहने के सम्बन्ध में भी विधि-निषेध की व्यवस्था पाई जाती है। महाभारत के वनपर्व में शूद्र के ब्राह्मणत्व पाने के अधिकार का उल्लेख है तो वाल्मीकि-रामायण में इसके विपरीत यह लिखा मिलता है कि "न शूद्रो लभते धर्मं युगतस्तु नरर्षभ।" अतएव अनुमान होता है कि जातिभेदप्रथा और वर्णसंकर जातियों की उत्पत्ति के कारण ये सब कठोर विधि-निषेध चलाये गये होंगे। भगवान् मनु ने ही सबसे पहले "शूद्राचार्यौ चर्म्मणि परिमण्डले व्यायच्छेते" कहकर चातुर्वर्ण्यविभाग के विधि-निषेध का प्रचार किया।

ऐतरेय ब्राह्मण के ७।१८ सूक्त में विश्वामित्र की सन्तति को "दस्यूनां भूयिष्ठाः" कहा गया है। इससे स्पष्ट जान पड़ता है कि वेद की रचना करनेवालों ने अनास (नासिकाहीन) और कृष्ण (कृष्णवर्ण) अनार्य अधिवासियों के अर्थ में 'दस्यु' शब्द का प्रयोग नहीं किया।

मनु ने दस्यु शब्द का अर्थ 'असभ्य' किया है।

ऐतरेय ब्राह्मण में कीकट अर्थात् बंगाल और मगध-देश के निवासियों को धर्मज्ञानरहित भाषाशून्य पक्षी कहा गया है और आर्यों के लिए मगधदेश की यात्रा निषिद्ध बतलाई गई है। बंगाली विद्वान् स्व० राखालदास बनर्जी ने इसका कारण यह बतलाया है कि बंगाल और मगध की सभ्यता के प्रति ईर्ष्या रखने के कारण ही ऐसा कहा गया है। उनकी सम्मति में दस्यु भी आर्य ही थे, अनार्य नहीं।

Anthropometry द्वारा आर्य और अनार्य जातियों के आकृतिगत पार्थक्य के निर्णय की चेष्टा की गई है; किन्तु भारत के पश्चिमोत्तर पहाड़ी मार्ग (ख़ैबर दर्रे) से समय-समय पर पर्शियन, ग्रीक, बैक्ट्रियन, शक, हूण, पठान, मुग़ल, तातार आदि जातियों ने भारत में प्रवेश किया और उनके साथ भारतीयों का रक्त-सम्मिश्रण हुआ। अतएव उत्तर-कुरु की मालभूमि के निवासी गौरवर्ण, उन्नतदेह, नीलचक्षु, अप्रशस्त मस्तकवाले आर्यों के यथार्थ वंशधर (रक्त-सम्मिश्रण से दूषित न हुए) कौन लोग हैं, यह निर्णय करना इस समय अत्यन्त कठिन है। बहुतों का मत है कि वैदिक हिंदुओं के इंडो-जर्मनिक भाषाभाषी पूर्व-पुरुष वेद-रचना के बहुत पहले भारत में आये और सुसभ्य तथा संख्या में उनसे अधिक द्राविड़ लोगों में मिल गये। पहले उन्होंने अग्नि, इन्द्र, वरुण आदि वैदिक देवताओं की पूजा के प्रचार के लिए बहुत प्रयास किया, किन्तु समय बीतने पर द्राविड़ों की

संख्या अधिक होने के कारण इन्द्र आदि की पूजा बिलकुल उठ गई और रुद्र, कृष्ण आदि देवताओं की पूजा का प्रचार बढ़ गया। कृष्णचन्द्र के द्वारा इंद्र की पूजा उठा दिये जाने का यही रहस्य है। इस मत के लोग आर्यों के द्वारा आर्यावर्त की विजय और अनार्य दस्युओं की पराजय आदि को स्वीकार नहीं करते। हमारी समझ में पंडितों के ये सब मत अनुमान और संभाव्यता के आधार पर स्थित हैं। आर्यों के द्वारा सप्तसिंधु की विजय और कृष्णकाय तथा चिपटी नाकवाले दस्युओं का दुर्गम वनों में भाग जाने का इतिहास भी इसी अनुमान पर स्थित है। अतः अनुमान केवल अनुमान भी हो सकता है और सत्य भी।*

× × ×

२—परलोक

मनुष्य मरकर कहाँ जाता है और उसकी क्या दशा होती है, इस सम्बन्ध में भिन्न-भिन्न देशों और जातियों में अत्यन्त प्राचीन काल से भिन्न-भिन्न मत प्रचलित हैं।

पहले हिन्दुओं के मत को लीजिए। हिंदूशास्त्रों में उपनिषद् अत्यन्त प्राचीन ग्रंथ हैं। कठोपनिषद् में हम देखते हैं, ऋषि उद्दालक ने एक समय एक यज्ञ किया और उसमें ब्राह्मणों को दक्षिणा के रूप में बहुत बुड्ढी निकम्मी गायें देने लगे। तब उद्दालक ऋषि के पुत्र नचिकेता ने अपने मन में सोचा, ऐसी मरने के निकट निकम्मी गायें दान करने से कोई फल न होगा। उन्होंने पिता के पास जाकर कहा—पिताजी, इन गायों के बदले आप मुझे दे दीजिए। पिता के ध्यान न देने पर नचिकेता उनसे बार-बार यही कहने लगे। तब उद्दालक ने खीझकर कहा—मैं तुम्हें यमराज को दूँगा। यज्ञ समाप्त होने पर नचिकेता ने पिता से कहा—मुझे यमराज के घर भेज दीजिए। पिता का क्रोध शान्त हो चुका था। उन्होंने पुत्र को बहुत समझाया, पर उसने न माना। अन्त को नचिकेता यमलोक गये। यमराज उस समय अपनी पुरी में न थे। नचिकेता निराहार रहकर उनके आने की राह देखने लगे। लौटने पर यमराज को जब यह विदित हुआ कि एक ऋषिपुत्र अतिथि होकर उनके यहाँ अनशन किये पड़ा है, तब उन्होंने नचिकेता के पास जाकर क्षमा-प्रार्थना की और तीन वर माँगने के लिए कहा। नचिकेता ने जो दो वर माँगे, उनसे हमें कोई मतलब नहीं। तीसरा वर उन्होंने यह माँगा कि मनुष्य मरकर कहाँ जाता है, उसकी दशा क्या होती है, यह आप मुझे बतलाइए। कोई कहता है कि मृत्यु के बाद आत्मा परलोक को जाती है और कोई कहता है कि आत्मा इसी लोक में रहती है। ठीक बात क्या है, यह मैं जानना चाहता हूँ। यम ने कहा—तुम जो पूछ रहे हो, इसे देवता लोग भी ठीक-ठीक नहीं जानते। आत्मा अति सूक्ष्म पदार्थ है। तुम और कोई वर माँगो।

इस संवाद से यह मालूम होता है कि उस अति प्राचीन उपनिषद् के युग में भी यह निश्चित नहीं हो सका था कि मृत्यु के बाद आत्मा की क्या गति होती है। कोई कहते हैं कि इस लोक के उस पार परलोक है। वहाँ स्वर्ग भी है और नरक भी है। अपने-अपने कर्म के अनुसार हमारी आत्माओं में से कोई भूतप्रेत होता है, कोई स्वर्ग को और कोई नरक को जाता है। स्वर्ग या नरक भोगने के बाद हमारी आत्मा फिर इस लोक में आकर मनुष्य, पशु, पक्षी, कीट, पतंग आदि लाखों योनियों में भ्रमण करती रहता है।

यह भी सुना जाता है कि इस लोक के उस पार परलोक है। वहाँ हमारे पिता, पितामह, प्रपितामह आदि पुरखे वास करते हैं। उनकी तृप्ति के लिए इस लोक में उनके वंशधर श्राद्ध और तर्पण करते हैं। हमारे शास्त्र में यह भी लिखा है कि मरने के समय हमारी आत्मा जलौका (वह कीड़ा, जो अगले पैरों से तृण पकड़ लेने के बाद पहले पकड़े हुए तृण को छोड़ता है) की तरह अन्य शरीर ग्रहण करके इस शरीर को छोड़ती है। अगर तृणजलौका की तरह जीव अन्य देह ग्रहण करके इस शरीर को छोड़ता है, यह सिद्धान्त सत्य है तो फिर परलोक का अस्तित्व बेकार हो जाता है और पितरों की तृप्ति के लिए श्राद्ध-तर्पण करने की भी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। स्वर्ग या नरक का भोग भी इसी लोक में हो जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीता में दूसरा जन्म ग्रहण करने का उल्लेख पाया जाता है। पर यह स्पष्ट नहीं होता कि मृत्यु के साथ ही तृणजलौका की तरह पुनर्जन्म ग्रहण करना होता है या मरने के बाद स्वर्ग या नरक भोगने के बाद यहाँ फिर जन्म होता है। बहुत लोग इस मत को मानते हैं कि मरने के बाद स्वर्ग-नरक-भोग से पुण्य-पाप का क्षय होने पर ही फिर इस लोक में जन्म

* ये पंक्तियाँ श्रीनलिनीकान्त मजुमदार के एक लेख के आधार पर लिखी गई हैं।

लेना पड़ता है। कोई आदमी अगर किसी ऐश्वर्यशाली के घर जन्म लेता है तो उसने पूर्वजन्म में पुण्य किया था, यह मानकर लोग उसकी प्रशंसा करते हैं और अगर कोई अंगहीन, कोढ़ी या रोगी होता है तो लोग उसे पूर्वजन्म का पापी समझकर घृणा की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु दुर्बलहृदय मनुष्य किसी प्रलोभन में पड़कर या अज्ञानवश न जाने कितने पाप या अनुचित कर्म कर बैठता है और उसके लिए उसे नरक की यंत्रणा भोगनी पड़ती है। इसके बाद दूसरे जन्म में भी उसके लिए उसे अंगहीन, कोढ़ी या रोगी होना पड़ता है, यह मानना दयामय ईश्वर के अनुरूप नहीं जान पड़ता।

अनेक शास्त्रों में लिखा है कि पुनर्जन्म अवश्य होता है और वह इसी लोक में होता है। किसी-किसी शास्त्र में यह भी लिखा है कि पुनर्जन्म इस लोक में नहीं, परलोक में होता है। गीता में लिखा है—

> नत्वेवाहं जातुनासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
> न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्॥

हे अर्जुन, क्या मैं पहले नहीं था, या तुम नहीं थे अथवा ये राजा लोग नहीं थे? या इस जन्म के बाद मैं, तुम या ये राजा लोग नहीं होंगे?

फिर लिखा है—

> देहिनोऽस्मिन्यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
> तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति॥

यह प्राणी जैसे इस शरीर में बाल्यावस्था, युवावस्था और वृद्धावस्था को प्राप्त होता है, वैसे ही एक शरीर को छोड़कर दूसरे शरीर को ग्रहण करता है। धीर लोग मौत से घबराते नहीं हैं।

बंगाल की नवविधानमंडली से भगवद्गीता का एक समन्वय भाष्य, बहुत दिन हुए, प्रकाशित हुआ था। उसमें पूर्वोक्त श्लोक की व्याख्या में टीकाकार ने लिखा है—वैदिक संहिताओं में जीवों के इस लोक में पुनर्जन्म का उल्लेख नहीं देखा जाता। कर्मफल के भोग के लिए जिस देह का वर्णन है, वह परलोक में ही प्राप्त होता है। टीकाकार ने अपने मत के समर्थन के लिए प्राचीन ग्रंथों से जो वचन उद्धृत किये हैं, वे यहाँ दिये जाते हैं—

"फलभोग के लिए पितरों के साथ परम व्योम (स्वर्ग) में मिलित होओ। पाप को त्यागकर घर में आओ; उज्ज्वल शरीर से युक्त होओ।"

(ऋग्वेद, १० सूक्त, १४ ऋक्)

"हमारे पिता, पितामह सुविस्तीर्ण अन्तरिक्ष में प्रवेश कर गये हैं। हमारे इन पितरों का चित्त अपने में विराजमान असुनीति के द्वारा आगन्तुक आत्माओं के प्राण और शरीर का निर्माण करे।"

(अथर्ववेद १८।३।५९)

जिस शरीर के निर्माण की बात कही गई है, उसे सूक्ष्म नहीं कहा जा सकता; क्योंकि अथर्ववेद में लिखा है—

"जातवेदा अग्नि पितृलोक में ले जाने के समय तुम्हारे जिन अंगों को यहाँ छोड़ गये हैं, वे अंग हम तुममें संयुक्त करते हैं। उन सब अंगों के साथ तुम स्वर्ग में सुख भोग करो।" (अथर्ववेद १८।४।६४)

पुत्र, स्त्री आदि के साथ स्वर्ग में प्राणी का मिलन भी वर्णन किया गया है—

"स्वर्गलोक में हम लोगों को ले जाओ; वहाँ हम पत्नी और पुत्रों के साथ वास करें।"

(अथर्व० १२।२६ प्रा० १७)

"मृत व्यक्ति परलोक में जन्म लेता है।"

(शतपथ ब्रा० ११।१।८।६)

"जैसे सुनार सोने के टुकड़े को लेकर अन्य नवीन गढ़न से अलंकार तैयार करता है, वैसे ही यह आत्मा शरीर को छोड़कर पितृलोक, गन्धर्वलोक, देवलोक या अन्यान्य लोकों के योग्य अन्य नवीनतर—कल्याणतर रूप ग्रहण करता है।" (बृहदारण्यक ६।४।४)

इसी प्रकार अनेक ग्रंथों से वचन-प्रमाण उद्धृत करके गीता के समन्वय भाष्यकार कहते हैं कि मरे हुए प्राणी परलोक में ही अन्य देह ग्रहण करते हैं, यही वैदिक ऋषियों का मत है।

श्रुति में कर्मफल के अनुसार मनुष्य, पशु आदि योनियों में प्रवेश करने का उल्लेख पाया जाता है। यथा—

"हमारे द्विपदों (दो पैरवाला) का कल्याण हो; हमारे चतुष्पदों (चार पैरवालों) का कल्याण हो।"

(ऋग्वेद ६।१४।१)

इस ऋक् में और अथर्ववेद में "पार्थिव व दिव्य पशुओं" का उल्लेख होने से यह प्रकट है कि परलोक में भी पशु होते हैं। यह असंभव नहीं है कि कर्मफल के अनुसार जिन्होंने इस लोक में पशुयोनि प्राप्त की है, वे मरकर परलोक में भी पशुयोनि को प्राप्त करें।

ऊपर कहे गये दोनों मतों में, अर्थात् इस लोक में पुनर्जन्म होता है या परलोक में, कौन ठीक है, इसका विवेचन हम पाठकों पर ही छोड़ते हैं।

हमारे सोल एजेण्ट

लखनऊ—सालिग्राम मेहरोत्रा, ६, अमीनाबाद पार्क।

बरेली—यूनाइटेड कमर्शियल सिण्डीकेट, भूर

मेरठ—त्यागी ब्रदर्स, बेली बाज़ार।

आगरा—प्रियादास घनश्यामदास, काश्मीरी बाज़ार।

न्यू दिल्ली—रायल स्टोर्स, २३, गोल बाज़ार।

जबलपुर—चौरसिया ब्रदर्स एण्ड कम्पनी, गोविन्दगंज।

राजनन्दगाँव—रामनारायण हरीदास, सोनी।

जोधपुर—मेडीकल स्टोर्स, सराफ़ा बाज़ार।

महाराजगंज(सारन)—के. पी. सिनहा एण्ड कं०

प्रतिष्ठित महिलाओं की सम्मतियाँ

18th August, 1944.

In the month of June 1944 I had a V.P.P. of your Alak Pari which proved its efficacy well. Kindly send one more phial.

Kamal Devi,
Nagloi.

31st August, 1944.

I have used Alak Pari in my family and found it beneficial. Kindly send 6 bottles of Alak Pari immediately by V.P.P.

Subedar Prem Lal,
Meerut.

२—८—४४

आपकी अलकपरी का प्रयोग किया, बहुत ही उपयोगी तथा लाभदायक सिद्ध हुआ। कृपाकर ४ शीशी वी. पी. से भेज दीजिए।

श्रीमती गिरीशनन्दिनी देवी
C/O मेसर्स रूपनारायण गर्ग,
चुन्नीगंज, कानपुर

२—६—४४

अलकपरी से बहुत फ़ायदा हो रहा है। इस पत्र को देखते ही ३ शीशियाँ वी. पी. से भेज दें।

कुसुमकुमारी, छोटा मंदिर,
काँकरोली

७—६—४४

अलकपरी से बहुत लाभ हुआ। कृपया १ शीशी शीघ्र भेज दें।

पुष्पा श्रीवास्तव, अलीगढ़

१२—६—४४

अलकपरी से बहुत लाभ हुआ है। कृपया ६ शीशियाँ तुरन्त भेज दें।

मिसेज़ चौ० सरदारसिंह
हरदुवागंज, अलीगढ़

अलकपरी, नया कटरा, इलाहाबाद

Printed & Published by B. B. Kapur at the Newul Kishore Press, Lucknow.

COLLEGES & LIBRARIES IN U. P., C. P., C. I., PUNJAB, MEWAR, BEHAR & BIKANER STATE.
माधुरी
सम्पादक
रूपनारायण पांडेय

संस्थापक

स्व० श्रीविष्णुनारायण भार्गव

अध्यक्ष

रा० ब० मुंशी रामकुमार भार्गव, मुंशी तेजकुमार भार्गव

संपादक

रूपनारायण पाण्डेय

एक अंक का मूल्य ॥|)

लेख-सूची

Fabrics of Fame
LALIMLI
पूर्व की सर्वोपरि ऊनी मिलों में "लाल इमली" विशुद्ध ऊनी वस्त्रों के उत्पादन का विश्वस्त प्रमाण है। लाल इमली के विशुद्ध ऊनी वस्त्र
THE CAWNPORE WOOLLEN MILLS, ESTD 1876.
(BRANCH OF THE BRITISH INDIA CORPORATION LTD.)
CAWNPORE.U.P.

हिज़ मास्टर्स वायस
के
नये उत्तम रेकार्डस
नं० १६७२८ जगमोहन
'फिर प्यार हो रहे हैं।' "गीत"
'मुझे दिल में छिपा लो तुम।' "ग़ज़ल"
नं० १४८१९ मुमताज़ अली
'इस्लाम-ए-उमर' पहला भाग
" , दूसरा भाग
नं० १४८२० मुन्नी देवी
'डूबते सूरज को वक़्ते शाम देख'
'बेगाना दो जहाँ से वन में'
फ़िल्म रेकार्डस्
फ़िल्म "झुमके" १४८२२ से १४८२६
" "सोहनी महिवाल" नं० २६७४८ से २६७५२
" "लाखारानी" नं० २६७१८ से २६७२०
दी ग्रामोफ़ोन कम्पनी लिमिटेड
दमदम, बम्बई, मद्रास, देहली, लाहौर

वर्ष २४ खंड २] तु० सं० ३२२ ; चैत्र, सं० २००३ वि० ; एप्रिल, १९४६ [संख्या ३ पूर्ण संख्या २८५

हलचल

श्रीयुत भरत व्यास

शान्त था जीवन-जलधि, फिर हिल उठा, फिर ज्वार आया !

[१]

एक युग से विकल उर की
भावनाएँ जल चुकी थीं
अश्रु-जल में तर निरंतर
पुतलियाँ मृदु गल चुकी थीं

[२]

स्तब्ध थीं विद्युत-शिराएँ
रक्त हिममय बन गया था
प्राण थे जड़, मौन थी गति
'ज्योति' पर 'तम' तन गया था

[३]

आज फिर सिहरीं धमनियाँ
आज फिर ऊफान आया
आज फिर आँधी उठी, लो,
आज फिर तूफ़ान आया

शुष्क था जीवन-'सुमन' फिर खिल उठा फिर प्यार आया !!

[४]

लोल-लहरों के बिना
मेरी तरणि की गति अचल थी
शान्त, सम, निष्प्राण जल के
वक्ष पर बैठी विकल थी

[५]

पड़ गया पतवार था—
जैसे क़िसी 'शव' पर कफ़न हो
नाव में मैं था पड़ा
जैसे कि मुर्झाया सुमन हो

[६]

फिर हुई हलचल उदधि में
फिर अचेतन नाव डोली
फिर किसी ने बंद झंझा—
के, परों की गाँठ खोली

पारकर जिसको हँसूँ, वह फिर नया मँझधार आया !!!

पत्थर

पं० श्यामविहारी शुक्ल 'तरल'

मेरी महानता कोसती है मुझे, री उठती हैं व्यथाभरी आहें,
देख मुझे हँसतीं बड़े चाव से ये मिलनातुरा व्योम की बाँहें ;
कैसी किसी की अनिंद्य है क्रूरता, ज्ञात मुझे हैं किसी की कराहें,
किन्तु मैं हूँ जड़ पत्थर और हैं पत्थर की ये बनी हुई राहें।
मैं पदचिह्न अनेक लिये हुए हूँ, युगों की पहचान लिये हूँ,
मैं किसी की सुकुमारता और, किसी उर के अरमान लिये हूँ ;
मैं किसी अन्तर की छिपी बात, किसी मुख की मुसकान लिये हूँ,
पत्थर हूँ पथ का मैं परन्तु महानता का अभिमान लिये हूँ।
सीकचों में जकड़ा हुआ हूँ, अपनी व्यथा का अनुताप छिपाये,
मूर्ति की भाँति जड़ा हुआ हूँ, किसी पावन-पुण्य का पाप छिपाये ;
एक किनारे गड़ा हुआ हूँ, युगों की अभिलाषा अमाप छिपाये,
पत्थर हूँ मैं पड़ा हुआ हूँ, पथ में जड़ता का विलाप छिपाये।

उनके गान

पं० तुलसीदास शर्मा वकील

लिख रहा मैं गान उनके।
सिहर जाते प्रान सुनके॥

विश्व की वीणा बजाकर,
साज सुन्दर से सजाकर,
वाद्य विह्वल कर रहे हैं,
दे रहा जो शब्द चुन के।
लिख रहा मैं गान उनके॥

राग प्रतिपल के निराले
सुन रहे हैं कान पाले,
रँग चुके अनुराग में मन,
मस्त जो अलमस्त धुन के।
लिख रहा मैं गान उनके॥

गूँजती हैं सब दिशाएँ,
सुप्त अनहद को छिपाएँ,
बज रहीं जलथल तरंगें,
तार में बेतार बुनके।
लिख रहा मैं गान उनके॥

झूमते तारे गगन में,
और पंछी विहँस वन में,
मूक स्वर में लहर लेकर,
यंत्र बजते उस निपुन के।
लिख रहा मैं गान उनके॥

युद्धोत्तर व्यापार

प्रोफ़ेसर श्रीनारायण अग्रवाल एम्० ए०, बी० कॉम, कामर्स कालेज, वर्धा

युद्धोत्तर काल में व्यापार-क्षेत्र में अब इतनी भीषण एवं गला घोंटनेवाली प्रतिस्पर्धा होगी कि उसकी कल्पनामात्र से रूह काँप उठती है। पिछले महायुद्ध के बाद भी युद्ध की प्रतिक्रिया के स्वरूप चिन्ताजनक मन्दी ने संसार के सारे उद्योगों और व्यवसायों का गला घोंट दिया था। प्रथम विश्व-युद्ध बंद होने के बाद सारे संसार में उत्पादन इतने विशाल पैमाने पर हुआ कि गोदाम खचाखच भर गये, जनता की क्रयशक्ति घट गई और कारख़ानों का माल न बिक सकने के कारण मज़दूरों की मज़दूरी में कमी की गई या उनको कारख़ानों से निकाल बाहर किया गया, जिससे लाखों की तादाद में लोग बेरोज़गारी के शिकार हुए। इन बेरोज़गारों के पास क्रयशक्ति या पैसा न होने के कारण माल के ख़रीदनेवालों की और भी कमी हुई। कच्चे माल के—कपास, जूट, तिलहन आदि के—भाव भी बेहद गिरे, जिससे किसानों की दशा दयनीय हो गई और इच्छा रहते हुए भी वे जीवनोपयोगी वस्तुओं का उपभोग करने में असमर्थ रहे। इस प्रकार मन्दी के फलस्वरूप एक तरफ़ तो गोदामों में करोड़ों रुपयों का माल ख़रीदारों के अभाव में दीमकों का आहार हो रहा था और दूसरी तरफ़ करोड़ों बेकार मज़दूर-किसान इन चीज़ों को ख़रीदने के लिए लालायित होते हुए भी पैसा न होने के कारण इन्हें ख़रीद न सकते थे और घोर कष्ट, अभाव एवं दरिद्रता में जीवन-यापन कर रहे थे।

बड़े राष्ट्रों का कर्त्तव्य

प्रश्न उठता है, क्या इस महायुद्ध के बाद भी पिछली बार का दृश्य दोहराया जायगा और संसार को आर्थिक मन्दी के भयंकर खड्ड में गिरना होगा? क्या अर्थशास्त्रियों और राजनीतिज्ञों के पास इस विभीषिका को टालने के या इससे त्राण पाने के साधन हैं? और क्या वे इससे मुक्ति पाने के लिए हृदय से प्रयत्नशील हैं? इन प्रश्नों के उत्तर समय ही देगा। परंतु आज यह बात सर्वमान्य है कि उचित रूप से प्रयत्न किया जाय तो हम अपनी औद्योगिक एवं व्यापारिक व्यवस्था को इस प्रकार आयोजित और संघटित कर सकते हैं कि वह युद्धोत्तर प्रतिक्रिया का धक्का, चाहे वह कितना ही जबरदस्त क्यों न हो, सह सके। इसमें सन्देह नहीं कि इसके लिए अंतरराष्ट्रीय सहयोग और सहायता की आवश्यकता होगी। बड़े-बड़े राष्ट्रों को यह तय कर लेना होगा कि वाणिज्य-व्यापार का उद्देश्य पिछड़े हुए और छोटे राष्ट्रों को सहायता देकर उनको सभ्यता और विज्ञान की दौड़ में आगे बढ़ाना है, ताकि वहाँ के लोगों की आर्थिक समृद्धि हो और उनके जीवनयापन का स्तर ऊपर उठे। निर्धन ग्राहक से धनी ग्राहक हमेशा अच्छा होता है। अतएव अमेरिका एवं इँगलैंड को चाहिए कि वे भारत, अफ्रीका, ईरान इत्यादि को उपभोग्य वस्तुएँ देने के बजाय 'कैपिटल गुड्स'—मशीनें, रासायनिक सामग्री आदि और जो यहाँ पैदा की ही न जा सकें ऐसी चीज़ें—और शिक्षाप्राप्त दक्ष कारीगर दें, ताकि इन देशों की जनता को पूरा काम मिले और उसका सर्वाङ्गीण विकास हो। आज यहाँ की जनता अधिकतर खेती पर निर्भर रहती है, जिसका नतीजा यह होता है कि यदि एक भी साल अतिवर्षा या अनावृष्टि हुई तो अकाल का सामना करना पड़ता है और अन्य उद्योगधंधों के अभाव में वह दूसरे जीविकोपार्जन के साधनों की तरफ़ नहीं बढ़ सकती। केवल कृषि-प्रधान राष्ट्रों की आर्थिक शृंखला में यह स्थिति शांति एवं युद्ध दोनों ही कालों में एक बड़ी निर्बल कड़ी है, जिसको मज़बूत करना बहुत आवश्यक है। यदि लोभ और अदूरदर्शिता के कारण बड़े राष्ट्रों ने इस स्पष्ट स्थिति को समझने में ग़लती की तो पचीस वर्ष बाद—शायद इसके बहुत पहले ही—उपनिवेशों और व्यापारिक सुविधाओं की प्राप्ति करने के लिए ऐसे ही महायुद्ध की पुनरावृत्ति होगी।

भारतीय उद्योगपति क्या करें?

भारतीय उद्योगपतियों को भी युग-धर्म को समझने में आलस्य नहीं करना चाहिए। इस प्रगति की दौड़ में वही राष्ट्र टिक सकेगा, जिसके कर्णधारों में दूरदर्शिता होगी और होगा ऐसा साहस और अदम्य उत्साह, जिसके बल पर वे अन्धकार में भी मार्ग निकाल

सकें, सतत लगन और अथक परिश्रम द्वारा औद्योगिक क्षेत्र में स्वयं अन्वेषण करें और अन्य राष्ट्रों के अन्वेषणों से तुरंत लाभ उठावें। आज भारतवर्ष की मिलों और फ़ैक्टरियों में पुरानी और गई-बीती मशीनों से उत्पादन हो रहा है। स्वभावतः इनसे पैदा की गई चीज़ें महँगी और पुराने ढंग की होंगी, जब कि विदेशी चीज़ें नये ढंग की और सस्ती होंगी; क्योंकि वे नई मशीनों द्वारा नये आविष्कारों की सहायता से बनाई गई होंगी। इँगलैण्ड के अर्थशास्त्री आज दिलोजान से कोशिश कर रहे हैं कि उनका निर्यात-व्यापार अधिक से अधिक और शीघ्रातिशीघ्र बढ़े, जिससे फ़ौज से छुट्टी पाये हुए सिपाही कारख़ानों में लग सकें और उनको बेकारों की ज़िन्दगी न बितानी पड़े। उनकी फ़ैक्टरियाँ और मिलें, जो अब तक फ़ौजी सामान बना रही थीं, अब साधारण उपयोग की चीज़ें बनाने में लग गई हैं। उनका बृहत् उत्पादन हिन्दुस्थानी बाज़ारों को ढँक देगा और यहाँ के उद्योगपतियों को हाथ पर हाथ धरकर बैठे रहना पड़ेगा। सिर्फ़ कुछ व्यापारियों को विदेशी माल बेचने के पारिश्रमिक-स्वरूप आना दो आना प्रति रुपया दलाली भले ही मिल सकती है, यद्यपि इसका मिलना भी अब निश्चित नहीं है। अतएव उद्योगपतियों को अपने हितार्थ भी चाहिए कि वे इस परिस्थिति का मुक़ाबला करने के लिए अभी से सचेत हो जायँ।

इस दिशा में उचित तटकर-नीति (Customs duties) से काफ़ी लाभ हो सकता है। ऐसी विदेशी चीज़ों का, जो स्वदेशी चीज़ों से हमारे ही बाज़ारों में नाजायज़ प्रतिस्पर्धा करें, तटकर की चुंगी की दीवार खड़ी कर, अधिक आयात-कर लगाकर, आना रोक देना चाहिए। इससे देशी उद्योगधंधों को आवश्यक संरक्षण मिलेगा। यह संरक्षण की नीति प्रत्येक राष्ट्र व्यवहार में लाता है। भारत-सरकार को भी इसे दृढ़ निश्चय के साथ ज़रूरत पड़ते ही अमल में लाना चाहिए। काँच, रासायनिक द्रव्य, दियासलाई, साइकिल और छोटे-छोटे लोहे के सामान बनाने के कारख़ानों को युद्धोत्तर काल में संरक्षण की विशेष आवश्यकता होगी। भारत-सरकार के व्यापार-सदस्य ने इस बारे में समय-समय पर वादे भी किये हैं। परन्तु हमारी सरकार वादों को जल्द भूल जाती है। अतएव व्यापारियों को संघटित होकर सरकार पर ज़ोर डालना चाहिए। ख़ुशी की बात है कि क़रीब-क़रीब हर प्रांत में अब चेंबर्स आफ़ कामर्स (व्यापारी-संघ) की स्थापना हो गई है। इनका कार्यक्षेत्र और विस्तृत किया जाना चाहिए, जिससे इनकी माँगों को ठुकराने की हिम्मत सरकार यकायक न कर सके। विदेशी व्यापारी-संघ इतने शक्तिशाली होते हैं कि यदि सरकार उनकी किसी महत्त्वपूर्ण सलाह के विरुद्ध चली जाय तो वे उसका तख़्त तुरंत ही उलट दें। यही वजह है कि विदेशी व्यापारिया के जे सारे संसार में जमे हुए हैं। हिन्दुस्तानी व्यापारी अब इस ओर अग्रसर हो रहे हैं, यह हर्ष की बात है। परन्तु इनकी संस्थाओं में दलबन्दी, जातीयता, पक्षपात और ढीलापन आ जाने की वजह से इन्हें जितना लोकप्रिय होना चाहिए था, उतना अभी तक नहीं हो पाई। इनमें से बंबई का इण्डियन मर्चेण्ट्स चेम्बर, सबसे अधिक सुचारु रूप से चल रहा है। अन्य व्यापारी-मण्डलों को इससे सबक़ सीखना चाहिए।

औद्योगिक विकास की योजना

औद्योगिक विकास के क्रम में दूसरी समस्या है अनुभवी और ट्रेनिंगयाफ़्ता कारीगरों की। जब रूस ने अपनी पहली पंचवर्षीय योजना को कार्यान्वित किया तो उसने हज़ारों की तादाद में अमेरिकन कारीगरों और अफ़सरों की मदद से आधुनिक ढंग के विशालकाय कल-कारख़ाने खोले। सहस्रों रूसी विद्यार्थी अमेरिका, इँगलैंड भेजे गये और उत्पादन के नवीन ढंग सीखकर उन्होंने रूसी उत्पादन को कल्पनातीत रूप से बढ़ाया। जो रूस १९३० में पिछड़ा हुआ कृषि-प्रधान राष्ट्र था, उसी रूस ने दस साल के भीतर इन्हीं विदेशों में सीखे हुए अपने ही इञ्जीनियरों और रसायनज्ञों आदि के द्वारा अपना औद्योगिक संघटन कुछ ही वर्षों में इतना मज़बूत कर लिया कि जर्मनी-सरीखे प्रथम श्रेणी के राष्ट्र के दाँत भी खट्टे कर दिये।

यह खेद की बात है कि भारतीय उद्योगपति होनहार और बुद्धिमान् नवयुवकों को विदेशों में भेजने का महत्त्व अभी नहीं समझते हैं। वे या तो इसको फ़िज़ूलख़र्ची समझते हैं या गौण समझकर टाल देते हैं। परन्तु यह उनकी भयंकर भूल है। निकट भविष्य में ही कोई-न-कोई आर्थिक योजना अमल में लाई जायगी और उसके लिए ट्रेनिंग-प्राप्त कारीगरों की अत्यधिक आवश्यकता होगी। अतएव सम्पन्न व्यापारियों और उद्योगपतियों का कर्तव्य है कि वे अधिक

शिक्षार्थियों को विदेश-गमन की सुविधा प्रदान करें।

फ़िलहाल भारतीय औद्योगिक मिशन—टाटा, बिरला आदि—इँगलैंड के कारख़ानों का निरीक्षण और इँगलैंड, भारतीय उद्योग-विकास में कहाँ तक सहयोग दे सकता है—इस बारे में वहाँ के प्रसिद्ध पूँजीपतियों से विचार-विमर्श करके लौट चुका है। मिशन के सदस्य इसी उद्देश्य से अमेरिका भी गये थे। वे भारत लौटकर यहाँ पर भी विदेश के उन्नत तरीक़ों को व्यवहार में लावेंगे। यह प्रशंसनीय उद्योग है और हमारे पूँजीपतियों की दूरदर्शिता का द्योतक है। परंतु मुश्किल यह है कि दस, बीस चाँदी के कोट्याधीशों के भ्रमण से ही भारत की ग़रीबी की समस्या हल नहीं होगी। इसके लिए विशाल पैमाने पर प्रयत्न की आवश्यकता है। आशा है, इस दिशा में सामूहिक एवं व्यक्तिगत रूप में यथेष्ट प्रयत्न होंगे।

एक बात और। इस समय संसार में समाजवाद की, साम्यवाद की, जनतंत्र की लहरें उठ रही हैं, उत्ताल तरंगें जीवन के तमाम क्षेत्रों को क्षतविक्षत कर रही हैं। जनता-जनार्दन अपनी सदियों की कुम्भकर्णी निद्रा त्याग अपने हक़ों के प्रति जागरूक हो गई है; अपने छिने अधिकारों को पुनः प्राप्त करने के लिए कमर कसकर मरने-मारने पर उतारू हैं। विदेशी साम्राज्यशाही भी इस तूफ़ान से आगाह होकर इसे किसी हद तक शांत करने के प्रयत्न में अपना राजनीतिक एवं आर्थिक शिकंजा ढीला करने की मनःस्थिति में दिखाई दे रही है और इसी इरादे से प्रेरित हो ब्रिटिश मंत्रिमंडल मिशन भारत में आ गया है ताकि वे स्वयं यहाँ की परिस्थितियों से परिचित हो उलझी हुई गुत्थियाँ सुलझाने का सफल प्रयत्न कर सकें। यह मिशन १६ मार्च को लंदन से रवाना होकर यहाँ आ गया है और आते ही राजनीतिक मसलों की छानबीन के लिए विभिन्न दलों के नेताओं से मिल रहा है। फिर अपनी आख़िरी राय क़ायम करेगा। इसमें शक नहीं कि वे ईमानदारी व प्रामाणिकता से जाँच-पड़ताल कर भारतीय आज़ादी के पक्ष में ही अपना मत देंगे; भारतीय जनता को अधिक समय तक भुलावे में डालकर टालमटोल की नीति बरतना व्यर्थ समझ अपनी पुरानी हरकतों से बाज़ आवेंगे। कतिपय प्रांतों में तो लोकप्रिय मंत्रिमंडल स्थापित भी हो गये हैं; शेष भी इन्हीं का अनुकरण करेंगे। केंद्र में सत्ता मिलने में भी विलंब नहीं। संभव है, पं० जवाहरलाल नेहरू और सरदार पटेल देश की बागडोर सँभालें और इनके आते ही यह सुनिश्चित है कि साम्राज्यशाही के साथ-ही-साथ पूँजीशाही का भी अपने वर्तमान घिनौने एवं अन्यायी रूप में अंत हो जायगा। सेठों द्वारा शोषण का ज़माना अब लद गया और समय रहते ही यदि उन्होंने अपने उत्पादन के तरीक़ों में सुधार नहीं किया; कार्य-कुशलता न बढ़ाई; आधुनिकतम साधनों का उपयोग कर देश की संपत्ति बढ़ाने में यदि अयोग्य साबित हुए तो सारे उद्योगों का शनैः-शनैः, कदाचित् विद्युत्-वेग से, राष्ट्रीयकरण हो जाय; कुछ व्यक्तियों की सत्ता के बजाय सारे राष्ट्र की मालिकी कल कारख़ानों एवं अन्य उत्पादक साधनों पर क़ायम हो जाय और नवीन शासन-व्यवस्था के अंतर्गत नूतनतम तरीक़ों को अख़्तियार कर भारतीय जनता को नवजीवन प्रदान करने का प्रयत्न किया जाय। अतएव संकुचित स्वार्थपूर्ण दृष्टिकोण से भी ज़माने का यह तक़ाज़ा है कि वर्तमान उद्योगों को नई नींव पर, वैज्ञानिक आधार पर शीघ्रातिशीघ्र सुसंगठित किया जाय। इसी में समष्टि की भलाई है और समष्टि की भलाई में ही व्यक्ति का कल्याण—चाहे वह व्यक्ति कितना ही महान् क्यों न हो—निहित है।

संत कबीर पर आलोचनात्मक दृष्टि

सौ॰ सावित्री निगम

हिन्दी के सन्त कवियों में महात्मा कबीर का स्थान सर्वोच्च है। उनका अदम्य एकेश्वरवाद, अथाह रहस्यवाद, हमें यही कहने पर विवश करता है कि संतशिरोमणि कबीर महान् आत्मा ही नहीं महाकवि और उस युग के महान् नेता भी थे। उन्होंने अपनी मर्मस्पर्शी लोकोक्तियों, सर्व-सुलभ कविताओं तथा ज्ञानयुक्त दोहों द्वारा एक ऐसे कवित्व का बीजारोपण किया जो नवकवियों, जिज्ञासुओं तथा प्रत्येक जाति को मानवता का सच्चा पाठ पढ़ा करके मानव को बीहड़ उजाड़ वनरूपी मायामय संसार से निकालकर सत्य ज्ञानयुक्त सीधे मार्ग पर ला सके।

श्रेष्ठ कवि सन्त कबीर के जन्म तथा जाति का ठीक से पता नहीं, किन्तु कुछ विद्वानों का मत है कि वे एक विधवा ब्राह्मणी की कोख से उत्पन्न हुए और जब उसने लोकापवाद के डर से उन्हें जंगल में फेंक दिया तो नीमा व नीरू मुसलमान दम्पति द्वारा पोषित हुए। क्योंकि उनके निर्माता जुलाहे थे, इसलिए उन्होंने भी जुलाहे की भाँति जीविकोपार्जन करते हुए रामानन्द, शेख, पीर और अन्य सन्तों से सत्य ज्ञान तथा भक्ति-मार्ग को अपनाया। गार्हस्थ्य जीवन में रहकर भी अटूट प्रभुश्रद्धा तथा अटल भगवत्विश्वास से उनका हृदय इतना आलोकित हो उठा था कि वे कपड़ा बेचकर जो कुछ कमाते थे वह सभी साधु-सेवा, परोपकार में ही विना आगे की सोचे हुए तुरन्त ही ख़र्च कर डालते थे। उनको भगवान् पर इतनी अधिक श्रद्धा थी कि एक बार उन्होंने पूरी सन्त-मंडली को अपने यहाँ भोजन करने के लिए आमंत्रित किया, यद्यपि घर में अन्न का एक दाना भी न था। पत्नी को चिन्ता-ग्रस्त देख वे थान लेकर बेचने गये, पर उस दिन किसी ने उनका थान न लिया। वे विना अधीर हुए ही भगवान् को याद करते हुए घर लौटे, किन्तु घर आते ही उन्होंने देखा कि घर में सब प्रकार की भोजन-सामग्री उपस्थित है। उनकी पत्नी समझ रही थी कि यह सब कबीर ने भेजा है, किन्तु कबीर साहब प्रभु-कृपा जान मुस्करा रहे थे। कबीर के जन्म-मृत्यु तथा जीवन के बारे में अनेक उपदेशपूर्ण कहानियाँ प्रचलित हैं।

यद्यपि कबीर साहब को बचपन में किसी प्रकार की शिक्षा न मिल पाई थी और न उन्होंने कभी काग़ज़, क़लम, दावात को हाथ से छुआ, फिर भी वे साहित्य के महान् सेवक थे। आजकल कविता में रहस्यवाद कोटि की जो धारा चल रही है और जिससे हिन्दी-साहित्य की प्राणप्रतिष्ठा हुई है, उसके बीजारोपण का श्रेय सन्त कबीर को ही है। आजकल के प्रतिनिधि कवि पन्त, निराला, प्रसाद आदि ने उनके रहस्यवाद को समझा है और फिर उन्होंने हिन्दी-क्षेत्र में रहस्यवाद की खेती करके अक्षुण्ण कीर्तिलाभ की है। रहस्यवादी कवि कबीर ने हमारे सामने कुछ ऐसे विचार रक्खे, जिनसे हमारी विचारशक्ति को गति मिलती है। हमारा चिन्तन-क्षेत्र विस्तृत होता है और प्रतिभा खिल पड़ती है। इन्हीं बातों से मानवता को विशेषता मिलती है। कबीर की कविता का लक्ष्य विशेषतया भाव की ओर था। इसलिए इनकी रचनाओं ने मानवीय जीवन में सरसता ला दी है और कविता में भी भावों के अनुरूप माधुर्य और ओज स्वतः आ गये हैं, किन्तु भाषा की ओर विशेष ध्यान न देने के कारण कहीं-कहीं इनकी भाषा क्लिष्ट हो गई है। इनकी कविता का एक यही दोष है कि देहाती क्लिष्ट भाषा का उपयोग और इसी कारण उपजी हुई दुर्बोधता। लेकिन फिर भी कबीरजी की कविताओं में वह साहित्यिक सरसता, अन्तर्वेदना, गहरा अनुभव तथा एक सन्त के व्यक्तित्व की अद्भुत छाप विद्यमान है, जिससे वे सच्चे ऊँचे कवि ही नहीं कवियों के भी प्रेरक तथा उपजीव्य हैं। उन्होंने सब धर्मावलम्बियों को एक ही निगाह से देखा और सभी को अपनी कविताओं द्वारा शिक्षा दी। सन्त-कबीर ने अपनी कविताओं में लोकोक्तियों, उक्तियों का अपूर्व सम्मिश्रण कर अपना रुचि-वैचित्र्य स्थान-स्थान पर प्रदर्शित किया है। उनकी इन दो पंक्तियों में देखिए उनके रुचि-वैचित्र्य और सरसता का सम्मिश्रण—

"सुन्दर देह देख जिन भूलो,
झपट लेते जस बाज बटेरा।"
"या देही को गर्व न कीजौ,
उड़ पंछी जस लेय बसेरा।"

यदि हम इनकी कविताओं का आदि से अन्त तक अध्ययन करें तो हमें स्पष्ट पता लग जायगा कि इन्होंने अपनी उच्च कोटि की रचनाओं में मनुष्य-जीवन की जो सुन्दर अभिव्यक्ति की है, वह साधारण बुद्धिवाले के लिए सर्वथा अवर्णनीय है। उन्होंने अपने मन के सभी भावों को अपनी रचनाओं में रख देशकाल के कलह, धर्म-ढोंग और हिन्दू-मुस्लिम-वैमनस्य को मिटाकर अपनी शुद्ध आत्मा का सन्देश सबको सुनाया। अपने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने जिन सुन्दर भावों और विचित्र शैली को अपनाया और सर्व-सुलभ साधन का आश्रय लिया वह तो देखते ही बनता है। काव्य की बाह्य साहित्यिक दृष्टि से उनकी कविता उतने ऊँचे दर्जे की नहीं है। किन्तु सचमुच कविता में जो कुछ होना चाहिए, जिससे उसकी आत्मा की पुष्टि होती है, उससे उनकी कविता सर्वथा पूर्ण है। श्रीवियोगी हरिजी ने उनके विषय में जो उत्कृष्ट कविता लिखी है, उसकी दो लाइनें यहाँ दी जाती हैं—

"शब्द-बान हिय मारि, सुरत को खेलि खिलायो।
परमपुरुष सो हंस, सहज ही जाय मिलायो॥"

सन्त कवि कहीं सत्य ज्ञान का सत्य पथ-प्रदर्शित करते हैं तो कहीं सन्तप्त मानवता के प्रतिनिधि बनकर उसका दुःख प्रकट करते हैं और चेतावनी देते हैं—

१. "झूठे सुख को सुख कहे, मानत हैं सब मोद।
जगत चबेना काल का, कुछ मुख में कुछ गोद॥"

२. "भज ले नाम उमर जाय बीती,
कर ले काम पहर जाय रीती।"

ग़रीबों के प्रति होते हुए अनाचारों और दुर्व्यवहारों को देखना भी उन्हें असह्य था। उनकी सूक्ष्म दृष्टि धार्मिक क्षेत्र को पारकर समाज की ओर भी आकृष्ट होती है—

"दुखिया को न सताइए, वाकी मोटी हाय।
मुई खाल की साँस सों, लोह भसम ह्वै जाय॥"

कबीर की गुरुभक्ति अब भी संसार में विख्यात है। कबीर के जुलाहा होने के कारण श्रीरामानन्द उन्हें दीक्षा नहीं देते और वे अँधेरे में गंगातट पर जा लेटते हैं और अन्त में रामानन्द उन्हें कुचलकर राम-राम करते हैं और उसी को वे गुरु-मन्त्र मानकर जीवन पर्यन्त गुरु का गुण-गान करते हैं और प्रत्येक मानव को एक सच्चा गुरु खोज उस पर अटल भक्ति व विश्वास रखने का आदेश देते हैं। वे गुरु-महत्त्व का वर्णन करते हुए लिखते हैं—

१. "गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय॥"

२. "कबिरा ते नर अन्ध हैं, गुरु को कहते और।
हरि रूठे गुरु ठौर है, गुरु रूठे नहिं ठौर॥"

कहीं वे मानव को कुमार्ग पर जाता देख पथ-प्रदर्शक का काम करते हैं। कहीं सिर फुटौवल पर तुली दो जातियों को फटकार बताते हैं और कहीं रहस्य के जानकार के रूप में वे अपने निराले ढंग से समझाने का प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार महाकवियों से भी ऊँची भूमिका पर बैठे हुए कबीरजी को बड़े-बड़े तत्त्वदर्शी आलोचक भी आश्चर्यवत् देखते हैं। यही उनकी प्रधानता है। उनकी प्रत्येक रचना में सरलता, स्वाभाविकता और भावों की हृदयग्राहिता सर्वत्र विद्यमान है और उनकी विशेषताओं तथा उक्त गुणों का दिग्दर्शन उनकी कविता स्थान-स्थान पर कराती है। उनमें अलंकार-विन्यास स्वाभाविक और उत्कृष्ट है। वे अपनी आत्मा की आवाज़ को खरे शब्दों में लोगों के सामने रखते हैं। इसके लिए वे न किसी से डरे, न अपनी आत्मा को धोखा दिया। यद्यपि वे अपढ़ रहस्यवादी थे, तथापि प्रतिभा तथा विचारों में उनकी समानता रखनेवाले बहुत ही कम कवि हैं। कविता के किसी भी विभाग में उनकी कविता नहीं आ सकती अथवा यों कहें कि कबीर ने किसी भी विभाग में आना पसन्द ही नहीं किया। छोटी-से-छोटी भावना पर मनन करना, छोटी-से-छोटी बात पर शिक्षा ग्रहण कर उसका वर्णन करना ही उनकी कविता का विशेष अंग है। सत्प्रभु का सन्देश किस प्रकार जनता को दिया जाय और जाति-पाँति का भेद मिटाकर किस प्रकार ईश्वर की प्राप्ति की जाय—यह बात वे बार-बार कह गये हैं, "बिन्दु है, विश्व रचायो को ब्राह्मण को शुद्रा।" सत्य की मीमांसा किस प्रकार की जाय, मायाप्रपंच किस प्रकार दूर किया जाय और आत्मा की उन्नति कैसे हो, इसके सभी साधन सामने रखते हुए सन्त कबीर हृदय की सूक्ष्म-से-सूक्ष्म भावनाओं तक पहुँच गये हैं। इसी लिए उनकी प्रत्येक पदावली अति गूढ़ मर्म से भरी हुई है। इसी सूक्ष्मता का स्पष्टीकरण करते हुए कहीं-कहीं उनके चित्र काले बिन्दु के समान ही बन गये हैं। परन्तु कहीं प्रातःकालीन सुनहरी किरणों के समान, कहीं ऊषा के उड़ते हुए रंगीन बादलों के समान

झिलमिलाते हुए मिलते हैं। अन्त में यही एक बात उनकी कविता के विषय में कहना है कि उनकी कविता से जितना लाभ धार्मिक जिज्ञासु उठा सकते हैं, उतना दार्शनिक नहीं उठा सकते।

अब हम उनके सिद्धान्तों की ओर दृष्टि फेरेंगे। कबीरजी ने भक्तितत्त्व रामानन्दजी से, रहस्यवाद की शैली का प्रेम सूफ़ी मज़हब से, मुसलमान फ़क़ीरों से, अद्वैतवाद की बातें हिन्दू साधुओं से ग्रहण कर एक स्वतन्त्र पथ चलाया जो कबीर-पंथ के नाम से सुविख्यात है। कबीरजी धार्मिक विचारों में स्वतन्त्र, निर्भीक, स्पष्टवादी थे। वे मूर्त्ति-पूजा, हिंसा, मन्दिर, मस्जिद, नमाज़, रोज़ा आदि के कट्टर विरोधी थे। उन्होंने हिन्दू-मुसलमान दोनों के ही बाह्य आडम्बरों की कड़ी आलोचना की तथा जाति-भेद मिटाने का प्रबल प्रयत्न किया। ओजपूर्ण शब्दों में आप लिखते हैं—

"चाहे राम कहो या रहीम कहो,
बस मतलब एक प्रभू से है।"
"जात न पूछो साध की, पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का, पड़ी रहन दो म्यान॥"

इनकी तीव्र आलोचना से क्रुद्ध होकर बहुत-से सनातनी पंडित व मुल्ले उनके इतने ख़िलाफ़ हो गये कि उनकी जान लेने पर उतारू हो गये। पर फिर भी उनका उपदेशामृत-पान करके स्वयं ही बड़ी संख्या में उनके अनुयायी बन गये, क्योंकि उन्होंने दैनिक गति के साथ जो शाश्वत गति का सहज योग है, जिसे वे सहज पंथ कहते थे, सर्वोत्तम बताया। इससे जनता को बड़ी सुविधा हुई। उनकी शिक्षा थी कि संसार या गृहस्थी छोड़कर साधना करना मूर्खता है। अब हमें इस बात पर विचार करना है कि कबीर-पंथ पर किस धर्म का विशेषतया प्रभाव पड़ा है, हिन्दू, मुसलमान या ईसाई? पहले हम हिन्दू धर्म के भागवत के सिद्धान्तों की ओर चलते हैं। धर्म-इतिहास-नीतिज्ञ तथा लेखक ग्रियर्सन साहब भागवत में लिखे प्रबन्ध में लिखते हैं—वासुदेव एक है। उसके सिवा दूसरे की पूजा भारी मूर्खता है। प्रभु के निकट सब आत्माएँ एक-सी हैं। सगुण, निर्गुण दोनों में उसी एक की आराधना होती है। उसी से "चराचर" विश्व उत्पन्न हुआ है। भक्ति-ज्ञान सुकर्म से ही आत्मा मोक्ष को प्राप्त कर उसी अनन्त प्रभु से मिल जाती है। बस, यही इस भागवत का सार है। अब इन सिद्धान्तों के साथ कबीर के एकेश्वरवाद, साम्यवाद, भक्तिवाद, जन्मान्तरवाद और अहिंसावाद को मिलाइए। सभी मिलते-जुलते हैं। फिर तुलसी व वैष्णवों के साकेतलोक तथा कबीर के सत्यलोक की समता भी हमें कबीर तथा कबीर-पंथ को हिन्दू-धर्म के अन्तर्गत मानने को विवश करती है। किन्तु जिस युग में कबीर हुए, उसमें वैष्णव-धर्म ही उन्नति के सर्वोच्च शिखर पर था और इसी धर्म के अनुसार जाति-पाँति-भेद, अवतारवाद तथा मूर्ति-पूजा भी अपने उच्च शिखर पर थी। फिर कबीर साहब का इन्हीं तीनों बातों का कट्टर विरोध यह प्रकट करता है कि उन पर केवल वैष्णव-धर्म का ही नहीं, अन्य धर्मों का भी प्रभाव पड़ा। कुछ विद्वानों का कथन है कि कबीरजी ने आर्य-धर्म और वैदिक काल के उपनिषद् से अवतार-मूर्ति पूजा तथा जाति-पाँति-निषेध सीखा, किन्तु यह बात नितांत असम्भव है। एक तो आर्य-धर्म तथा वेदों को जाग्रत् करना दयानन्द सरस्वती का काम था। वैसे कबीर साहब पढ़े न होने के कारण स्वयं श्री वैदिक तथा उपनिषद् ग्रन्थों का अध्ययन न कर सकते थे, इसलिए उनके वैष्णव-धर्म-विरोधी संस्कार मुसलमानी सत्संग के प्रभाव से उत्पन्न हुए। एक तो वे मुसलमान-गृह में पोषित हुए और शिशुकाल से ही परोक्ष एवं अपरोक्ष भाव से मुस्लिम संस्कार उनके ऊपर पड़ते रहे। दूसरे, शेख़, पीर तथा मुल्लाओं का सत्संग और बलख़ आदि की यात्रा का प्रभाव ही आगे चलकर मूर्तिपूजा तथा अवतारवाद का विरोध बन गया। फिर ब्राह्मणी-पुत्र होने के कारण गर्भकाल के संस्कार, पुण्यनगरी काशीवास तथा गुरु रामानन्द-जैसे पहुँचे हुए विद्वानों और अन्य साधुओं के सत्संग के प्रभाव से उनका हिन्दू-धर्मानुराग बढ़ना स्वाभाविक था। हिन्दू-मुस्लिम दोनों संस्कारों के सम्मिश्रण ने ही कबीरपंथ को जन्म दिया। कबीर के सर्व-सुलभ तथा लोकोक्तियों से युक्त ज्ञान, उपदेश से कबीरपंथ बहुत शीघ्र ही बढ़ गया। वेसकर साहब का कथन है कि उत्तरी व मध्य हिन्दुस्तान में कबीर का प्रभाव स्थायी रूप से पड़ा। धर्म-इतिहास-नीतिज्ञ विलियम हंटर का कथन है कि वे पन्द्रहवीं शताब्दी के "लूथर" थे। "कबीर एंड दी कबीरपंथ" में इन विद्वानों ने बड़ी छानबीन के बाद लिखा है कि उन्हें दोनों धर्मों के प्रति कट्टर श्रद्धा थी। इसलिए उन्होंने दोनों धर्मों को एक करने का प्रयत्न किया, और दोनों धर्मों की पोपलीलाओं, पाखंड तथा आपसी फूट व वैमनस्य देख उन्होंने दोनों धर्मों की

कड़ी आलोचना कर दोनों के धर्मग्रन्थों तथा अनुयायियों की कड़ी आलोचनात्मक पदावलियाँ लिखीं ताकि लोगा की उनके धर्मों के प्रति अश्रद्धा और कबीरपंथ में श्रद्धा हो जाय। उन्होंने बड़े गर्व तथा जोश से अनेक स्थानों में कहा है कि "मेरे विचार से मनुष्य को सत्यपथ दर्शा मुक्ति मिलानेवाले मेरे ही शब्द हैं। और क़ुरान, वेद आदि मनुष्य को भ्रान्त करनेवाले हैं।" कबीरजी के कुछ ऐसे ही विचारों की आलोचना करते हुए कुछ विद्वानों ने उन्हें अनुपयुक्त बताया है और कहा है, किसी भी महान् व्यक्ति के विचार सदा मर्यादापूर्ण, विचारसंगत तथा धर्ममूलक होने चाहिए। कौन कह सकता है कि २० करोड़ व्यक्तियों द्वारा पूजित वेद और दुनिया के ⅓ हिस्सों में माना जानेवाला क़ुरान केवल असंगत मूर्खतापूर्ण बातों से भरा होगा। कुछ विद्वानों का कथन है कि ऐसा उन्होंने या तो अपना धर्म फैलाने के लालच से या उस समय का पोपलीला और पंडों के अनाचार को देखकर किया होगा, किन्तु उस समय भी रामानन्द और शेख़-जैसे विद्वान् पंडित मौजूद थे। फिर भी उनकी यह निन्दा करने की प्रवृत्ति थी, उनकी कुछ अश्लीलतापूर्ण लोकोक्तियों को असंगत बताते हुए विद्वानों ने लिखा है कि सन्त कबीर जैसे दार्शनिक ज्ञानी रहस्यवादी को, जो स्वयं दूसरों को ज्योतिर्मय कर ज्ञान का पाठ पढ़ाने चला हो और दया, कर्तव्य, न्याय ही जिसकी शिक्षा हो किसी भी धर्मग्रन्थ की ऐसी कटु आलोचनाएँ शोभा नहीं देतीं। उन्हें कुछ और न्यायशील, संयत, कर्तव्यपरायण, प्रेममय होकर श्रीकृष्ण की भाँति प्रेममय शब्दों में आलोचना करनी चाहिए थी। जैसे वे गीता में लिखते हैं— चाहे वे किसी धर्म को माननेवाले हों किन्तु जो मुझे धारण करेगा उसे मैं धारण करूँगा। धर्म-अधर्म का पचड़ा व्यर्थ है, या तुलसीदास की भाँति "मधुकर सरिस सबै गुनग्राही" या "संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि वारि-विकार।" वैसे तो कबीर भी तत्वज्ञान के वेत्ता थे, किन्तु फिर भी उन्होंने तीर्थ व मूर्तिपूजा के विषय में निम्नलिखित दोहे लिखे हैं—

"तीरथ गये ते बहि गये जूड़े पानी न्हाय।
कह कबीर सन्तो सुनो राक्षस है पछताय॥
पाहन पूजे हरि मिलैं तो मैं पूजूँ पहार।
ताते यह चाकी भली पीसि खाय संसार॥"

विद्वानों का कथन है कि वे तीर्थ के पीछे छिपे उद्देश्य या मूर्तिपूजा के उद्देश्य को नहीं समझ पाये। तीर्थों के पीछे कोई पर्व और पर्व के पीछे महापुरुषों की स्मृति होती है जो हमें ऊँचे आदर्श पर ले जाती और नये जिज्ञासुओं को मूर्तिपूजा द्वारा ध्यान व कर्मयोग का पाठ पढ़ाया जाता है, यानी मूर्तिपूजा नये जिज्ञासुओं का "ककहरा" या बाक लेटर्स है। यहीं लोगों ने कबीर साहब की बड़ी आलोचना की है।

कुछ भी हो, कबीर साहब बड़े दार्शनिक, महान् संत तथा रहस्यवाद के सम्राट् कवि होते हुए भी मनुष्य थे। यदि जातिभेद की जटिलता, पोपलीला तथा पाखंडा का अनाचार व भोली जनता को ठगने के भिन्न उपाय देखकर उनका स्वर कुछ विचलित या विकृत हो गया और वे कुछ अधिक निन्दा करने लगे तो क्या आश्चर्य।

इनकी निर्भीकता, लोकोपकारिता, सत्यप्रियता तथा अदम्य मिथ्याचारखंडन हमें सदैव उनके सम्मुख नतमस्तक करता रहेगा। चाहे उन्होंने किसी सिद्धान्त का खंडन किया हो, पर उन्होंने अनेक मतों में एकता कर जो एकेश्वरवाद का पाठ पढ़ाया वह धर्म के लिए ही नहीं, समाज व जाति के लिए अत्यन्त उपयोगी था। उन्होंने सज्जन पुरुषों की भाँति यश-अपयश की पर्वा किये हुए विना सत्कार्य की परवा की। कहीं-कहीं उनकी देहाती क्लिष्ट भाषा पर भी लोगों ने असन्तोष प्रकट किया है, पर उनका ध्येय भाषा नहीं था। वे भाव के प्रकटीकरण की ध्यान रखते हुए उपदेशपूर्ण रचनाएँ करते थे। निस्सन्देह "संत कबीर" सन्तपंक्ति में तो कोहनूर के सदृश चमकते ही हैं, पर रहस्यवादी कवि के मध्य तथा समाजोपकारी नेताओं के मध्य भी उनका स्थान किसी से नीचा नहीं। इसी प्रकार सत्य ज्ञान का उपदेश करते हुए महान् कवि, सन्त तथा ज्ञानी ६७ वर्ष की अवस्था में मगहर नामक स्थान में परलोकगामी हुए। कहते हैं, जब दाहक्रिया का समय आया तो हिन्दू-मुसलमान भक्तों में झगड़ा हुआ पर चादर उठाकर देखा गया तो वहाँ थोड़े से फूलों का ढेर मिला, जिसमें से हिन्दू भक्तों ने आधे काशी लाकर जलाये और उसी स्थान पर "कबीरचौरा" बनवाया और मुसलमानों की बनाई हुई क़ब्र अब भी है, जिसे कबीरग

ज़िन्दगी या मौत !

श्रीउमेशप्रसाद वर्मा एम्० ए०

भँगेड़ी को भाँग का, गँजेड़ी को गाँजे का, शराबी को शराब का और मुझे है नशा शिकार का। दिन हो या रात, सुबह हो या शाम ख़बर मिली कि अमुक स्थान पर अमुक जानवर से भेंट हो सकती है, फिर देखिए मुझे नशा चढ़ आता है ज़रूरी से ज़रूरी काम ताख पर रख देता हूँ। उस समय दुनिया की सारी आकर्षणीय वस्तुएँ भी मुझे अपनी ओर नहीं खींच सकतीं। शिकारी के सामने एक ही ध्येय है और वह है उस स्थान तक पहुँचना और अपना भाग्य आज़माना सफल हों अथवा असफल उसकी परवा एक मजनूँ को कहाँ ! यह बात ठीक है कि शिकारी अधिकतर निराशा का ही सामना करते हैं। फिर भी उसी निराशा में धैर्य की आज़माइश होती है और अनेक असफलताओं में अथवा कड़े परिश्रम के पश्चात् जब सफलता मिलती है तो ख़ुशी की सीमा नहीं रहती। सच बात तो यह है कि हर बार यदि हमें सफलता ही मिलती रहे तो शिकार का सारा मज़ा जाता रहे और सबसे बड़ी बात तो यह हो कि जंगल के तमाम जानवरों का ख़ात्मा हो जाय। मुझे भी अपने छोटे शिकारी जीवन में अनेक बार असफल होना पड़ा है। किन्तु ऐसी नाकामयाबियाँ मेरे लिए नाकामयाबी नहीं। हरबार मैंने उनसे कोई न कोई सबक़ सीखा है जो भविष्य में मेरे लिए वरदान साबित हुआ। कन्धे पर रायफ़ल, कमर में कारतूस, दिल में अरमान और दिमाग़ में मनसूबे बाँधता हुआ न जाने कितनी ही बार जंगलों, पहाड़ों, घाटियों, पहाड़ी नदियों तथा खाइयों की ख़ाक पैदल छानी है, कितनी ही कड़ाके की सर्दीवाली रातों में मचान पर बैठकर कमर तोड़ी है, बाँकबहादुर (हाथी) की पीठ पर बैठकर अनेक जंगल-झाड़ियों को रौंदवाया है, सैकड़ों धारू और धाँगड़ जाति के लोगों द्वारा घने जंगलों का खेल कराया है। आँखें फाड़-फाड़कर कितनी ही रातें ओवा में बिताई हैं और बैलगाड़ी पर बैठकर कितने प्रभात जंगली सड़कों पर क़वायद की है। इनमें अधिक बार मुझे निराश ही लौटना पड़ा है, किन्तु मुझे सच्चा शिकारी बनने की ओर अग्रसर होने में प्रत्येक यात्रा ने मेरी सहायता की है।

हिमालय की तराई में जन्म होने के कारण मुझे प्रकृति ने अपनी ओर आकर्षित किया है। यों तो अब तक मेरे जीवन का अधिकांश समय शहरों ही में बीता है; किन्तु चौरंगी, हज़रतगंज या चौपाटी में मुझे वह आनन्द नहीं मिला जो मैंने द्वारदह की तंग घाटियों, सोमेश्वर की चढ़ाई एवं भैंसाखोटन के मनोरम और सजीव दृश्यों में पाया है। कालेज में छुट्टी होती। मैं उसके दो-चार रोज़ पहले ही चम्पारन के लिए चल देता और छुट्टी ख़तम होने के दो-चार दिन बाद क्लास में नज़र आता। मेरे होस्टल के वार्डन साहब को बराबर इस बात की शिकायत थी। लेकिन उन्हें क्या मालूम एक शिकारी दिल का हाल। छुट्टी अथवा परीक्षा प्रारम्भ होने के पहले मेरे मित्र जब बाथरूम के दरवाज़े पर या मेस में मिलते तो छुट्टी में या परीक्षा के बाद के बड़े-बड़े प्रोग्राम बनते। उन प्रोग्रामों में हिन्दुस्तान का कोई भी मुख्य स्थान नहीं छूटने पाता। कभी-कभी तो रंगून तक उसमें शामिल हो जाता। पर जब मेरी राय ली जाती तो हर बार मैं चम्पारन चलने पर ज़ोर देता। पहाड़, झील, गुफा और जंगल की बातें करता। मैं रोमांटिक या अनरोमांटिक बताया जाता और साथ ही साथ हमारी मित्रमंडली का प्रोग्राम या तो बाथरूम में शरीर पर पानी पड़ने से धुल जाता या मेस की दो-चार गरम रोटियों के साथ पेट में पहुँच जाता।

मई का महीना था। आई० ए० की परीक्षा समाप्त कर घर लौटा। परीक्षाफल का अनुमान घरवालों ने पहले ही लगा लिया था; क्योंकि पढ़ने में मैं साधारणतः अच्छा ही समझा जाता था। उपहारस्वरूप मुझे जगत्-विख्यात ४३० बोर की मौज़ेर मैगज़िन रायफ़ल मिली। मेरे लिए इससे बढ़कर अधिक प्रिय वस्तु और क्या हो सकती थी। नई रायफ़ल आते ही दिमाग़ जंगल की ओर दौड़ पड़ा। गरमी के दिनों में शिकार अच्छा नहीं बन पड़ता। जंगल जल जाने के कारण जानवर बहुत भीतर पहाड़ों और ठंडे सोतों में चले जाते हैं जहाँ पानी मिले। सायंकाल बस्ती की ओर अपने चरने के लिए आते हैं और मुर्गों के बाँग देते-देते फिर इन्हीं दुर्गम स्थानों को लौट जाते हैं। दिन को उन्हें ऐसे जंगल में, जहाँ की भूमि समतल है, पाना बड़ा कठिन

हो जाता है । इसके अतिरिक्त शिकारी और उसके साथियों को भी गर्मी के दिनों में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है । टेन्ट की हालत तो जलते हुए चूल्हे की हो जाती है । पानी के अभाव से हाथियों की बड़ी दुर्दशा होती है । दिन में जंगल घूमना एक प्रकार असम्भव ही है । और किसी को क़ै दस्त शुरू हो गये तो एक दूसरी आफ़त । कारण यह है कि इन जंगलों के समीपवर्त्ती ग़रीब गाँवों ने अस्पताल और डाक्टरों को अपने से काफ़ी दूर रक्खा है । फिर भी नई रायफ़ल की उमंग के सामने इन कठिनाइयों का ध्यान कहाँ ? अपने सोनबरसा गाँव में पड़ाव डालने की बात तय हो गई । केवल दो हाथी और एक सप्ताह का सामान साथ में लेकर मैं वहाँ पहुँच ही तो गया । टेन्ट में रहना सम्भव न होने के कारण मैं गाँव की अपनी कचहरी में ठहरा । सोनबरसा और आसपास के दो-चार गाँवों में मेरे आने की ख़बर दावाग्नि के समान फैल गई । सोनबरसा धाँगड़ों की एक बस्ती है । ये लोग संथाल परगने से आकर इधर बस गये हैं । इनका मुख्य व्यवसाय शिकार ही है । यों तो इनमें से कई परिवार भैंसे जोतकर हल भी चलाते हैं और हमारी ज़मीन लेकर खेती करते हैं । कपड़े के अतिरिक्त ये कोई वस्तु बाहर से नहीं लाते । चावल की मदिरा भी घर ही की होती है । इनका अधिक समय शिकार ही में लगता है। यदि इन भाले, तीर, धनुष और जाल फेंकनेवाले शिकारियों में कहीं कोई बारूद और गोली का शिकारी टपक पड़ा तो सच मानिए उसे ये सोने में सुगन्ध समझते हैं और इनकी ख़ुशी का क्या कहना । इस जाति से बसा हुआ सोनबरसा गाँव अपनी निराली छटा रखता है । पहाड़ और जंगल से निकलते ही द्वारदह नदी का स्वागत यह गाँव सबसे पहले करता है । द्वारदह नदी के दोनों किनारे जंगल होने के कारण यह नदी एक घाटी के समान प्रतीत होती है । गाँव के उत्तर की ओर हिमालय का नयनाभिराम दृश्य है ।

रविवार को सायंकाल शिकार-मंत्रिमंडल की एक बैठक हुई जिसमें स्थानीय आधे दर्जन शिकारियों ने भाग लिया । चरवाहों की रिपोर्ट से मालूम हुआ कि एक बाघ (Bengal Royal Tiger) ने चार-पाँच रोज़ पहले ढोंगही नदी की घाटी से संध्यासमय पानी पीकर लौटते हुए गाय के झुण्ड से एक गाय को पकड़ लिया । इस रिपोर्ट की जाँच एक थारू शिकारी के ज़िम्मे की गई । कम से कम इतनी बात का तो पता चल गया कि सोनबरसा के आसपास ही एक बाघ के रहने की सम्भावना है । शिकार का दायरा पश्चिम की ओर ढोंगही नदी, जो सोनबरसा से तीन मील है और पूरब की ओर गंगूली नदी जो चार मील है, रक्खा गया । सारा दिन जंगल में घूमना तो असम्भव ही था । इसलिए यह तय पाया कि प्रातःकाल दो-तीन घंटे और सायंकाल तीन-चार घंटे भाग्य की आज़माइश की जाय । सुबह जानवरों का रास्ता काटकर पहाड़ के किनारे से बस्ती की ओर लौटा जाय और शाम को बस्ती की ओर से पहाड़ की ओर बढ़ा जाय, ताकि प्रातःकाल बस्ती की ओर से लौटते हुए अथवा सायंकाल बस्ती की ओर आते हुए जानवरों का सामना हो सके । यह भी निश्चित हुआ कि चरवाहों की रिपोर्ट यदि जाँच में खरी उतरी तो पानी की जगहों पर और बाघ के आने-जाने के मार्ग पर भैंसे और घोड़े बँधवाये जायँ । प्रत्येक शिकारी को भिन्न-भिन्न विभाग का कार्य सौंपा गया और शिकार-मंत्रिमंडल की कार्यवाही उस रात के लिए स्थगित हो गई ।

दूसरे रोज़ मुर्गों के बाँग देने के पहले ही मैं हाथी पर सवार होकर द्वारदह नदी के मार्ग से पहाड़ के किनारे सूर्य की लाली निकलते-निकलते पहुँच गया । वह समय बड़ा ही सुहावना था । ऐसा मालूम पड़ता जैसे गर्मी का दिन ही न था । किन्तु कौन जानता कि वही सूर्य दिन चढ़ने पर आग बरसावेगा । पश्चिम की ओर जाने का विचार नहीं था; क्योंकि उधर ही बाघ का पता लगा था और रायफ़ल का उस ओर गरजना ठीक नहीं । यही सोचकर हम लोग यहाँ से पूरब गंगूली नदी की ओर मुड़े । ऊबड़-खाबड़ जंगल एवं जानवरों के आने-जाने के मार्ग से होते हुए पूरब की ओर बढ़ते गये । रास्ते में जहाँ कहीं घनी झाड़ी होती उसे हाथी से दबवाते । जंगल बिलकुल स्तब्ध था । जंगली मुर्गों की बोली के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सुनाई पड़ता । जहाँ कहीं साफ़ ज़मीन मिलती उसे ध्यानपूर्वक देख लेते कि कहीं जानवरों का पदचिह्न है या नहीं । कहीं-कहीं भालू, साँभर और चीतों के पदचिह्न मिल जाते । तसल्ली के लिए गुड़ का मलीदा ही काफ़ी है । उधर ज्यों-ज्यों दिन चढ़ता गर्मी बढ़ती जाती । नव बजे दक्षिण की ओर मुड़े और ग्यारह बजते-बजते कैम्प पहुँचे । ख़बर अच्छी ही मिली । जो शिकारी ढोंगही नदी की ओर बाघ का पता लगाने गया था, उसने

रिपोर्ट की कि बाघ ढोंगही नदी से पूरब की ओर बढ़ा है और बालू पर पदचिह्न न होने से ऐसा मालूम होता है कि वह द्वारदह नदी अभी नहीं पार हुआ है। ढोंगही नदी से कुछ आगे बढ़कर उसने एक साँभर पकड़ लिया था और इसी लिए गाय मारने के पाँच दिन बाद तक बाघ ढोंगही और द्वारदह नदी के बीच ठहर गया था। अनुभव तो यह है कि बाघ गाय या किसी बड़े जानवर को मारने के बाद तीन दिन तक उसी के आसपास रहता है। कभी-कभी तो तीन दिन से अधिक भी ठहर जाता है, किन्तु उसे यदि कोई खटका नहीं हो तो प्रायः वह एक मृत जानवर के निकट तीन दिन तक रहता है। उस दिन गाय मारने का छठा दिन था और बीच में बाघ ने एक साँभर भी पकड़ लिया था, इसलिए यह अनुमान किया गया कि एक-आध ही रोज़ के अन्दर बाघ द्वारदह नदी को पार कर पूरब की ओर बढ़ जायगा। झट हमने निश्चय किया कि चार भैंसे ढोंगही और द्वारदह नदियों के बीच में बँधवाये जायँ और एक घोड़ा द्वारदह नदी के पूर्वी किनारे बाँधा जाय; क्योंकि बाघ ने यदि द्वारदह नदी को उस रात पार किया तो उसके द्वारा घोड़े के पकड़े जाने की सम्भावना रहेगी। चार बजे बाघ के ग्रास को लेकर शिकारी जंगल की ओर बढ़े। भैंसे और घोड़े को जंगल—मौत के मुँह में—जाते देखकर बड़ी दया आई। मनुष्य मनोरंजन अथवा अपनी नामवरी के निमित्त बड़े से बड़े पाप कर बैठता है। जब कभी मैं थारू शिकारियों से अनबोलते जानवरों को इस तरह जंगल में बाँधकर निःसहाय छोड़ देने के विरुद्ध आवाज़ उठाता तो वे कहते कि हज़ूर! यदि एक के मर जाने से हज़ारों की जान बच जाय तो इसमें क्या पाप? मैं भी यह कहकर दिल को हलका कर लेता कि मेरी आँखों के सामने ये जानवर बलि देने के लिए जंगल न ले जाये जायँ। फिर भी इस काण्ड का नायक तो मैं ही था और इसकी ज़िम्मेदारी से कैसे अलग हो सकता था।

तीन रात घोड़ा और भैंसे बँधवाये गये। कोई नतीजा नहीं निकला। बाघ भी अभी द्वारदह नदी के पश्चिम ही था। कारण समझ में नहीं आया कि बाघ इतने रोज उस स्थान में कैसे टिक गया है। सम्भव था, एक और जानवर मारा हो। इन तीन दिन के अन्दर द्वारदह और गंगूली नदी के बीचवाले जंगल की ख़ाक हमने छान डाली। सर्दी-गर्मी में दिन-दिन भर जंगल में बिताये। सूर्य के प्रकोप से बाँकबहादुर पागल हो उठता। रह-रहकर अपनी सूँड़ मस्तक की ओर करके पानी फेंकता। किन्तु लपकती हुई अग्नि में चुल्लू भर भी पानी का पता कहाँ? हम लोगों की दशा भी कोई अच्छी नहीं रहती। कंठ सूख जाता। बोतलों के पानी से प्यास नहीं जाती! जंगल में हवा न लगने के कारण गर्मी का प्रकोप दूना हो जाता था। इतना कष्ट सहने पर भी कोई फल नहीं निकला। जंगल वीरान मालूम पड़ता था। हाँ, कहीं-कहीं चोंच खोले हाँफते हुए मोरों से अवश्य भेंट हो जाती और कहीं-कहीं घनी झाड़ियों से "पक-पक" बोलती हुई मुर्ग़ियाँ उड़ जातीं। तीसरे दिन के बाद हमने दाँव-पेंच बदल देने का निश्चय किया। इस तरह गर्मी में दिन भर मारे-मारे फिरने से कोई फल नहीं निकलता। अब यह बात तय पाई कि दिन को जंगल में घूमने के बजाय रात में पानी के स्थान पर मचान बाँधकर बैठा जाय, जिसमें संध्या समय अथवा प्रातःकाल पानी पीने के लिए आते हुए जानवरों पर रायफ़ल दग सके। यह भी निश्चित हुआ कि भैंसे और घोड़े उसी तरह बाँधे जायँ। केवल उनके बाँधने के स्थान इधर-उधर बदल दिये गये।

चौथे दिन चार आदमी मचान बाँधने के लिए दोपहर को रवाना हुए। चार बजे दिन में मैं भी मचान के लिए हाथी से चल दिया। चार मील द्वारदह नदी का रास्ता तय किया और वहाँ से एक सोते को, जो पहाड़ से आकर द्वारदह नदी में मिलता है, पकड़कर तीन मील और अन्दर घुसा। चारों आदमी मचान ठीक कर चुके थे। मचान छः महीने पूर्व किसी अँगरेज़ शिकारी का बँधवाया हुआ था। हमारे आदमियों ने फिर से उसे मज़बूत बना हरी-हरी पत्तियों से ढक दिया। हम छः बजे मचान पर बैठ गये। हमारे साथ एक थारू शिकारी था। मचान पर रात भर बैठने का प्रोग्राम था, इसलिए हाथी सात बजे सुबह लाने को कह दिया। हाथी तथा अन्य आदमियों के वहाँ से लौट जाने पर मैंने चुपचाप उस स्थान का निरीक्षण करना आरम्भ किया। पहाड़ से निकलकर तीन सोते वहाँ मिलते हैं। उनके मुहाने पर थोड़ा पानी जमा हो गया था। तीनों के मिलने के बाद एक बड़ा सोता बन जाता है जो पश्चिम की ओर जाकर द्वारदह नदी में मिला है। इसी तिमुहाने से १५ गज़ की दूरी पर पहाड़ के जड़ से सटे एक साल के वृक्ष पर जो उस

समय दो फ़ीट से अधिक मोटा न था, मचान बनवाया गया था। हमारे सामने और पीछे पहाड़ था। हम पूरब दिशा की ओर मुँह किये बैठे थे और वह तिमुहाना हमारी बाईं ओर पड़ता था। उन तीनों सोतों से निकलकर जानवर उस तिमुहाने पर हमारी बाईं तरफ़ पहुँचते। बाईं ओर गोली चलाना सुगम होता है। जो लोग दाहने कन्धे से बंदूक़ चलाते हैं उनको अपने से बाईं ओर या सामने की चीज़ पर फ़ायर करना सहल रहता है और निशाना ठीक पड़ता है। छः बजे के बाद ही उन दोनों पहाड़ों की तंग घाटी में सूर्यास्त मालूम पड़ने लगा। सामने पहाड़ की चोटी के वृक्षों पर डूबते हुए सूर्य का सुनहरा प्रकाश पड़ रहा था और उसी से यह ज्ञात होता कि सूर्य अभी नहीं डूबा है। धीरे-धीरे चारों ओर अंधकार छा गया। हम लोग मचान पर घात लगाये डटे थे। गर्मी के मारे पसीने-पसीने हो रहे थे और उस पर मच्छड़ों का हमला भी जारी था। कर ही क्या सकते थे। हिलना-डुलना तक मना था। दस बजे। किसी जानवर का पता नहीं। हाँ, कभी-कभी पहाड़ पर साँभरों की बोली सुनाई पड़ जाती थी। ग्यारह बजे। कभी-कभी आकाश में बिजली चमक उठती। धीरे-धीरे बादल इकट्ठे होने लगे। आँधी का समा भी बँध आया। चन्द्रमा के छिप जाने से उस घाटी में घोर अन्धकार छा गया। आँधी आ ही गई। बादल की गरज, बिजली की तड़क दिल दहला देतीं। ऐसा मालूम पड़ता कि पहाड़ टूटकर हमारे सिर पर गिर जायगा। उधर आँधी के झकोरों से साल का पतला पेड़, जिस पर हम बैठे थे, नाचकर ज़मीन छू लेने पर तैयार था। मई का महीना था। ओले का पड़ना भी सम्भव था। मचान पर एक क्षण भी ठहरना संकटमय था और उस भयंकर स्थान में मचान से उतरकर कैम्प पहुँचना भी बहुत बड़े ख़तरे का काम था। हम बड़ी दुबिधा में पड़े। १५ मिनट ज्यों त्यों मचान पर बिताये। फिर उतरकर घर चलने ही का निश्चय किया। रात में मचान से उतरना भी बड़ा कठिन था। किसी-न-किसी तरह हम मचान से नीचे उतरे। कम्बल और गद्दा मचान ही पर छोड़ दिया। आगे-आगे हम रायफ़ल लिये और वह शिकारी एक हाथ में बन्दूक़ और एक में टार्च लिए हमारे पीछे चलने लगा। बड़ी सावधानी से हम आगे बढ़ रहे थे। सोता होकर हम थोड़ी ही दूर गये होंगे कि पानी और ओले एकसाथ पड़ने लगे, जिससे डर रहे थे वही हुआ। इसी समय हमारी टार्च भी फ़ेल हो गई। आफ़त अकेले नहीं आती। एक बड़े पेड़ के नीचे शरण ली। किन्तु वहाँ भी जान न बच सकी। ग़नीमत इतनी ही थी कि ओले छोटे-छोटे थे। हैट ने सिर को बहुत बचाया। शरीर में कुछ चोट लगी। बेचारे थारू को काफ़ी चोट लगी। आठ-दस मिनट के बाद ओलों का उत्पात बन्द हुआ। हम फिर सोता पकड़कर आगे बढ़े। बादल के कारण रात बड़ी अँधियारी थी। अपना हाथ तक नहीं सूझता था। यदि उस समय कोई जानवर हमला कर बैठता तो हमारी क्या दशा होती। राम-राम करते हम सोते का भयंकर मार्ग समाप्त कर द्वारदह नदी में पहुँचे। इस समय तक आँधी भी बन्द हो चुकी थी। केवल बूँदें पड़ रही थीं। सोचा ख़तरा कुछ कम हुआ। हम बड़ी तेज़ी से आगे बढ़े। बालू पर चलना था। कभी-कभी बिजली चमक जाती और हम कुछ आगे देख भी लेते। थोड़ी दूर जाने पर बेर की कुछ झाड़ियाँ मिलीं। हम बेखटके आगे बढ़ रहे थे, इतने में हमसे दस गज़ की दूरी पर झाड़ी से खरखराहट की आवाज़ आई। हम एकाएक रुके। बिजली चमकी। एक भयंकर भालू को अपनी ओर बढ़ते देखा। रायफ़ल तान ली, किन्तु फिर कुछ नज़र नहीं आया। दूसरी बार बिजली चमकी। देखा, भालू हमसे तीन गज़ आगे दोनों पिछले पैरों पर खड़ा है। समझा आज ही इस शिकारी जीवन का अन्त आ गया। मरता क्या न करता। कन्धे से रायफ़ल तो लगी ही थी। यह निश्चय किया कि भालू यदि हम पर हमला करेगा तो पहले रायफ़ल की नाल से उसके शरीर का स्पर्श होगा। उसी क्षण घोड़ा दबा दूँगा। दूसरे ही क्षण एक विचित्र घटना हुई। हमसे तीन-चार सौ गज़ पूरब की ओर एक बाघ ने बड़े ज़ोरों की दहाड़ मारी। मेरा दिल बैठ गया। एक तो सामने स्वयं काल खड़ा था और दूसरी ओर एक नई आफ़त आ पहुँची। पुनः बिजली चमकी और देखा भालू पश्चिम की ओर मुड़ा और तेज़ी के साथ चलने लगा। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि बाघ के गर्जन में "जाने दो" का आदेश हो। जब मृगराज की ऐसी आज्ञा तो फिर मुझे कौन रोक सकता था। मैं तेज़ी के साथ कैम्प की ओर बढ़ा। थोड़ी दूर जाने के बाद मेरे आदमी हाथी और रोशनी के साथ मिले। हाथी पर सवार होकर दम लिया। पानी और बालू से मैं शराबोर हो रहा था। कपड़े बदलकर

चारपाई की शरण ली । चारपाई पर पड़े-पड़े अपने बूढ़े शिकारी से सब हाल कह सुनाया। उसने झट यह बताया कि बाघ ने घोड़े को पकड़ लिया है और उसी से उसने दहाड़ मारी थी। थके होने पर भी जल्दी नींद नहीं आती। कितने बड़े ख़तरे से बचकर हम कैम्प पहुँचे थे । उस रात की अन्य भयानक घटनाएँ हमारे दिमाग़ में चलचित्र के समान आती-जाती थीं। किसी बड़े संकट के टल जाने के बाद ही मनुष्य उसका अनुमान ठीक से कर सकता है ।

सुबह हमारे बूढ़े शिकारी की बात सच निकली, बाघ ने पिछली रात घोड़े को मार दिया था और अपनी विजय पर उसने गर्जन किया था । आख़िर एक गर्म साँस लेता हुआ मैं कह ही पड़ा—क्या घोड़े ने अपनी जान देकर मेरी जान बचाई? भैंसे से अधिक बाघ का प्रिय खाद्य घोड़ा है। इसी लिए एक भैंसे के समीप से होकर भी बाघ ने घोड़े ही को पकड़ा। मैं अनुभवी शिकारियों के साथ पैदल ही उस स्थान का निरीक्षण करने के लिए चल दिया। पिछली रात पानी पड़ने से मुर्दे जंगल में भी जान आ गई थी। जंगल की नाड़ी सोतों में रक्त का संचार होने लगा था। मोर शोर मचा रहे थे। गीली मिट्टी पर रात के समय इधर-उधर आये और लौटे हुए जानवरों के पदचिह्न स्पष्ट देख पड़ते थे। जलवृष्टि ने जंगल पर जादू का काम किया और रात ही भर में सारा जंगल खिल उठा। हम घोड़े के शव के समीप पहुँचे । बाघ ने शव को पत्ते से ढकने का प्रयत्न किया था। इसका अर्थ यह था कि बाघ उस दिन संध्या समय पेट भरने वहाँ अवश्य आवेगा। मचान बाँधने की जगह ढूँढ़ी गई। शव से चालीस गज़ तक मचान के उपयुक्त कोई वृक्ष न था। इसके अतिरिक्त पिछली रात हमारी टार्च भी फ़ेल कर चुकी थी। इस हालत में बाघ यदि सूर्यास्त के बाद आता तो फ़ायर करना कठिन था। यों तो अधिकतर बाघ शव पर सूर्यास्त के पहले ही आ जाते हैं। पर कितनी बार कोई खटके या अन्य कारण से बाघ रात में किसी समय आ सकते हैं । टार्च और मचान के लिए उपयुक्त स्थान न होने के कारण दिन ही में खेदा कराने का निश्चय किया। जानवर मारने के बाद बाघ अपने शिकार को छोड़कर अधिक दूर नहीं जाता। शव से चार सौ गज़ दक्षिण की ओर खजूर और बेर का घना जंगल, लगभग ९०० गज़ उत्तर-दक्षिण लम्बा और ३०० गज़ पूरब-पश्चिम चौड़ा था। उत्तर की ओर से आकर एक सोता इस घने जंगल को चीरता हुआ दक्षिण की ओर निकल गया था। बाघ के पदचिह्न से यह मालूम हुआ कि बाघ उसी बीहड़ स्थान में है। कैम्प लौटकर खेदा (Beatiy) के लिए एक सौ से कुछ अधिक आदमियों का प्रबन्ध किया। खेदा उत्तर से दक्षिण की ओर होना निश्चित था। मेरे लिए उस घने जंगल के उत्तरी छोर पर सोते के किनारे मचान तैयार था; क्योंकि बाघ के जाने का सम्भव मार्ग वही था । बाघ अधिकतर सोता जंगली पगडंडी या घनी झाड़ी के सहारे चलता है, आदमी और दोनों हाथियों को जंगल के दक्षिणी छोर पर छोड़ हम उस घने जंगल का चक्कर काट मचान के स्थान पर पहुँचे। पूरब की ओर से खूँट * (Stop) लगाना आरम्भ किया। पूरब की ओर तीन खूँट बैठाकर हम पश्चिम की ओर बढ़े। चार खूँट मचान के पश्चिम की ओर बैठाये गये। अन्तिम खूँट बैठाने के बाद मैंने एक शिकारी को वहाँ से दौड़ाया कि वह दक्षिणी छोर पर पहुँचकर 'हँकवे' (Beating) के सिगनल-स्वरूप एक फ़ायर कर दे। अनुमान था कि इसी बीच में मैं मचान तक पहुँचकर उस पर बैठ जाऊँगा। शिकारी उधर हाँका कराने गया और इधर मैं मचान की ओर बढ़ा। मेरा अनुमान ग़लत निकला। मचान से अभी मैं तीस गज़ इधर ही था कि उधर फ़ायर हुआ और हाँका प्रारम्भ हो गया। ढोल और नगाड़े बज उठे। धाँगड़ों ने "होहो-मार मार" का शोर मचाना शुरू कर दिया। ऐसे ही समय में पूर्व-कालीन मारू बाजे का स्मरण हो आता है। अब मैं मचान की ओर नहीं बढ़ सकता था; क्योंकि कभी-कभी हाँका आरम्भ होते-होते जानवर शिकारी के सामने पहुँच जाते हैं और उस समय हिलने डुलने से जानवर की नज़र शिकारी पर पड़ जाती है जिससे वे बग़ल काटकर निकल जाते हैं। झट एक पेड़ की ओट में मैं खड़ा हो गया। मेरे पीछे एक और आदमी था। हाँके के समय मनुष्य कितना सतर्क रहता है। पेड़ से पत्ते गिरने की आवाज़ पर भी उसके कान खड़े हो जाते

---

*अधिक शिकारी न होने के कारण जानवर के सम्भव मार्गों पर अन्य आदमियों को पेड़ पर खूँट (Stop) बैठा दिया जाता है। यदि उधर से जानवर जाता है तो वे कुछ शब्द कर देते हैं, जिससे जानवर शिकारी की ओर मुड़ जाता है।

हूँ। ज़रा-सी आवाज़ पर मैं भी चौंक उठता। हाँका शुरू होने के सात-आठ ही मिनट बाद हमारे सामने झाड़ी से होकर किसी जानवर के आने की आहट मिली। हम सतर्क हो गये। झाड़ी से खरखराहट हमारे समीप होती गई। किन्तु कुछ नज़र नहीं आया। एकाएक मुझसे चालीस गज़ की दूरी पर झाड़ी से निकलते हुए बाघ का मस्तक नज़र आया—फिर उसका सारा शरीर। मेरे बदन में बिजली दौड़ गई। बड़े बाघ को जंगल में मैंने पैदल पहली बार देखा था। गोली चलाने का साहस नहीं हुआ। इतने में बाघ मस्त चाल से हमारी बाईं तरफ़ पन्द्रह गज़ की दूरी पर पहुँच गया। उसकी दृष्टि हम पर पड़ी और वह एकाएक रुका। उसने हमारे ऊपर एक घृणा की दृष्टि फेंकी। मालूम पड़ा जैसे कह रहा हो—"मूर्ख! क्यों हमारे पीछे पड़ा है। तुम्हारी जान रात हमने बचाई। उसी का बदला हमारे ख़ून से चुकाना चाहते हो। लो तुम्हारे सामने खड़ा हूँ। हिम्मत हो तो जो करना चाहो कर लो।" मैं रायफ़ल ताने काठ की मूर्ति सा खड़ा रहा। सोचा रात तो किसी तरह जान बची, किन्तु अब तो ख़ात्मा ही है। शिकारी को मचान पर मेरे बैठने के पूर्व हाँका शुरू कराने पर हज़ार बार मन ही मन कोसा। यदि मचान पर होता तो आज बाघ से निपट लेता। फिर हृदय कुछ दृढ़ हुआ। मनुष्य किसी भयानक स्थिति में पड़ जाने के बाद उसका सामना कर लेता है। लड़ाई में जाने के पूर्व प्रत्येक मनुष्य घबराता है और उसके हृदय में शंकाएँ उठती हैं। किन्तु युद्ध या मोर्चे के वातावरण में पहुँचकर उसकी घबराहट वीरता में बदल जाती है और फिर वह शत्रु का सामना बहादुरी से कर लेता है। बीस-तीस सेकेंड के बाद बाघ फिर अपनी मस्त चाल से सोते का किनारा पकड़ आगे बढ़ा। तीस गज़ पर सोता पश्चिम की ओर मुड़ा है। बाघ भी पश्चिम की ओर मुड़ा। बाघ की लम्बाई हमारे सामने हुई। मैं भी उस समय तक दृढ़ हो चुका था। मेरी उँगली ने संकेत किया, रायफ़ल ने तत्क्षण आग उगली, नगाड़ों की गड़गड़ाहट रायफ़ल की तड़तड़ाहट में छिप गई। रायफ़ल की "अररर-घम" की ध्वनि पहाड़ से टकरा-टकराकर जंगली पशु-पक्षियों के दिल को दहलाने लगी। बाघ दो-तीन कुलाँचें लेकर मेरी आँखों से ओझल हो गया। 'जाको राखे साइयाँ मार न सकिहै कोय'—यह मनुष्य एवं पशु के लिए समान सत्य है। पीछे मुड़कर देखा हमारा साथी लापता था। फिर उसे एक चिकने पेड़ पर चढ़ते और घबराहट में सरककर कई बार ज़मीन पर आते देखा। थोड़ी देर में हमारे शिकारी हाथी लिये हुए वहाँ पहुँच गये। बाघ पर गोली चलने के स्थान का निरीक्षण किया गया। ३५६ ग्रेन की गोली ज़मीन से २½ फ़ीट ऊपर एक पतले पेड़ में लगी थी और पेड़ वहीं से कट गया था। बाघ और गोली के बीच पेड़ का पड़ना हमारे लिए या बाघ के लिए अच्छा हुआ—यह मैं नहीं कह सकता। हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि इस निराशा के पीछे छिपा था उस ईश्वर को मेरा कोटिशः धन्यवाद।

जिन आहारों को आप खूप पसन्द करते हैं . . .

उनको शक्तिदायी बनाओ !

क्या आप जानते हैं कि हमारे चंद आहार हमारे लिये फायदेमन्द नहीं ? उनसे पेट तो भर जाता है लेकिन जितनी शक्तिका हम हररोज व्यय करते हैं उतनी उनसे वापस नहीं मिलती । इसके बारेमें सोचना आवश्यक है न ? हमारा आरोग्य, सुख, कामयाबी, –सभी हमारी शक्ति पर निर्भर हैं । अगर चाहिये उतनी शक्ति हम हमारे भोजन से न पा सकें तो, आज ना सही कल, हमें पछताना होगा । वैसे सभी आहार कुछ ना कुछ शक्ति देते ही हैं । लेकिन हमारे भोजन में से कई ऐसे हैं जिनसे बहुत कम शक्ति पैदा होती है । इन आहारों के साथ ज्यादा शक्तिदायी चीजों का इस्तेमाल करके हम उन्हींसे अधिक शक्ति पा सकते हैं । जीवन सत्त्व संपूर्ण डालडा इस काममें बहुत मदद करता है । यह बढ़िया चीज कुछ ऐसे "अन्नांश" देती है जो प्रकृति के सबसे ऊंचे दर्जेके शक्तिदायी हैं । सभी आहार डालडा में बनाना फायदेमन्द है–सिर्फ सुरक्षा के लिये ।

सबसे बढिया शक्तिदायी चीजें कौनसी हैं इसकी जानकारी हरएक स्त्रीको होनीही चाहिये । डालडा कुक बुक (अंग्रेजी) में आहार के बारेमें लाभकारी बातें और १५० से अधिक आहारोंका बयान किया गया है । आपके पास इसकी एक कापी होनीही चाहिये । Dept. C140 P. O. Box No. 353, Bombay के पते पर चार आने के पोस्टल स्टाम्प भेजियेगा ।
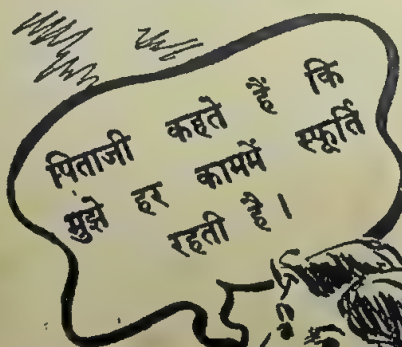
पिताजी कहते हैं कि मुझे हर काममें स्फूर्ति रहती है ।

पोषक-तत्व संपन्न **डालडा** स्फूर्ति के लिये

युक्तराष्ट्र अमेरिका की वैदेशिक नीति

श्रीवेणीमाधव कोकास एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

युक्तराष्ट्र अमेरिका वर्तमान काल का सर्वश्रेष्ठ राष्ट्र है। अपार सम्पत्ति, विशाल सामरिक बल, बृहत् कलाकौशल, अद्वितीय वैज्ञानिक विकास तथा आर्थिक साफल्य में उसकी तूती बोल रही है। जिस प्रकार उन्नीसवीं शताब्दी अँगरेज़ी प्रभुत्व का काल था, उसी प्रकार बीसवीं सदी अमेरिकी युग कहा जाय तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। अतः अमेरिकी वैदेशिक नीति का संक्षिप्त वर्णन समयानुकूल होगा। अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में किसी देश की प्रगति, प्रभुत्व तथा कीर्ति का मापदण्ड उसकी वैदेशिक नीति के साफल्य पर निर्मित होता है। देश का भव्य भवन इसके कुशल संचालन पर निर्भर है। ब्रिटेन के अन्तर्राष्ट्रीय नेतृत्व का दारोमदार उसके कुशल परराष्ट्रमंत्रियों की कूटनीति तथा प्रकाण्ड राजनीतिक विद्वत्ता पर अवलम्बित है। ब्रिटेन ने परराष्ट्रविषयक संचालन में इतना वैशिष्ट्य प्राप्त किया है कि इसी के प्रताप से उसका विश्वव्यापी साम्राज्य भीषण परिस्थितियों के होने पर भी बाह्य रूप से उसके अग्रगण्य होने का संकेत कर रहा है। प्रस्तुत लेख में युक्तराष्ट्र अमेरिका की वैदेशिक नीति को निम्नलिखित भागों में बाँटकर उस पर संक्षिप्त विवरण दिया गया है।

१. अलिप्तता का काल, १७८९—१८९८ ई०

१७८९ ई० में प्रथम प्रधान वाशिङ्गटन ने जब संघ-शासन की बागडोर अपने हाथ में ली तो १३ रियासतों में बड़ा द्वेष था। स्वातन्त्र्य युद्ध ने आर्थिक स्थिति को नाज़ुक बना दिया था। अमेरिकन राष्ट्र, जो विभिन्न योरपीय निवासियों का बना था, आन्तरिक कलह के कारण निर्बल था। मूलनिवासियों के आक्रमण का कुछ अंश में अंदेशा था। अतः नवसंघ को शक्ति-संचय के लिए योरपीय शक्तियों के निरन्तर कलह से दूर रखना ही वैदेशिक नीति का तक़ाज़ा था। वाशिङ्गटन ने जिस निरपेक्ष नीति का अवलम्बन किया वह स्थूलतः लगभग एक शताब्दी के लिए युक्तराष्ट्र की वैदेशिक नीति बनी रही।

युक्तराष्ट्र का स्थानिक विस्तार

युक्तराष्ट्र की नीति योरपीय मामलों से अलिप्त रहकर पश्चिमी गोलार्द्ध से योरपीय शक्तियों के निकाल देने अथवा निष्क्रिय करने की दिशा में प्रयत्नशील थी। युक्तराष्ट्र के संरक्षण के लिए षड्यन्त्रप्रिय योरपीय शक्तियों को विषरहित करना आवश्यक था। उस समय संघ के दक्षिण में स्पेन-नियन्त्रित ल्युसियाना तथा फ़्लोरिडा-प्रदेश थे और स्पेन मिसिसिप्पी तथा मिस्यूरी नदियों के जलमार्ग द्वारा संघ के हृदय पर करारा आघात कर सकता था। उत्तर में कनाडा-प्रदेश पर अँगरेज़ी राज्य था। लगभग पिछले ३०० वर्ष से योरप शक्तिसन्तुलन के फलस्वरूप युद्ध का अखाड़ा बना हुआ था और वहाँ की लपटें अमेरिका-स्थित साम्राज्य पर फैल जाती थीं। योरपीय दावानल से बचकर तथा आन्तरिक संगठन की भित्ति पर ही नव संघ-शासन पनप सकता था।

युक्तराष्ट्र की वैदेशिक नीति बड़े नैपुण्य के साथ संचालित की जा रही थी। एक ओर तो युक्तराष्ट्र ने योरपीय शक्तियों को पश्चिमी गोलार्द्ध में साम्राज्य-विस्तार करने अथवा बलवान् होने से रोक दिया और दूसरी ओर योरपीय शक्तियों के परस्पर कलह से उनके अमेरिका-स्थित प्रदेशों को भावी युद्ध में हस्तगत कर लेने के बहाने उन्हें ख़रीद लिया अथवा अन्य प्रकार से प्राप्त कर लिया। परराष्ट्र-विभाग ने मैडिसन, जान क्विंसे एडम्स प्रभृति कुशल दूत योरप की राजधानियों में भेजे थे। उदाहरण के लिए, नेपोलियन ने ल्युसियाना-प्रदेश स्पेन से छीन लिया था। युक्तराष्ट्र को स्वभावतः ख़तरा पैदा हो गया। प्रधान जेफ़रसन ने निःसंदिग्ध शब्दों में अमेरिका की यह नीति स्पष्ट कर दी कि यदि फ़्रांस ल्युसियाना पर क़ब्ज़ा करेगा तो अमेरिकी और अँगरेज़ी संयुक्त बेड़ा तुरन्त न्यू आर्लियांस पर धावा बोल देगा। नेपोलियन पर जेफ़रसन की चेतावनी का गहरा असर पड़ा और आइन्दा अँगरेज़ी लड़ाई में ल्युसियाना से हाथ धो बैठने के बजाय उसने १½ करोड़ डालर में उसे अमेरिका को बेच दिया। उधर मैडरिड-स्थित अमेरिकी राजदूत एडम्स के कुशल दाँव-पेंच के ज़रिये स्पेन से फ़्लोरिडा प्राप्त किया गया। अतः संघशासन की दक्षिणी रक्षापंक्ति राष्ट्र के हाथ में आ गई।

अलिप्तता की नीति द्वारा युद्ध से छुटकारा पाने की आशा करना आत्मप्रवंचन है। अँगरेज़ी-नेपोलियन युद्ध में दोनों युद्धरत राष्ट्रों ने अमेरिकी तटस्थता की अवहेलना की। जब तक अँगरेज़ी नौसेना समस्त जलराशि पर प्रभुत्व जमाये रहेगी तब तक वह युद्धकाल में अन्य देशों की तटस्थता को उसी सीमा तक स्वीकार करेगी जहाँ तक उसे नुक़सान न पहुँचे। शत्रु की सफल नाकाबन्दी पर ही ब्रिटिश द्वीपपुञ्ज का अस्तित्व क़ायम है। उस समय युक्तराष्ट्र की कमज़ोर स्थिति के कारण अँगरेज़ तथा फ्रांसीसियों ने युक्तराष्ट्र के जहाज़ों की तलाशी लेनी शुरू की। युक्तराष्ट्र का व्यापार चौपट हो गया था। उधर अगरेज़ों की संकीर्णता और ज़्यादती के कारण अमेरिका ने १८१२ ई० में इङ्गलैण्ड के विरुद्ध युद्ध की घोषणा की। इस युद्ध से अमेरिका को प्रत्यक्ष कोई लाभ नहीं हुआ, परन्तु देश के संरक्षण के लिए समस्त हित एकता के सूत्र में बँध गये।

मनरो-सिद्धान्त

युक्तराष्ट्र की आत्मशक्ति के साथ अमेरिकाद्वय की भूमि पर योरपीय शक्तियों के भावी साम्राज्यवादी मंसूबों पर रुकावट डालने के लिए व्यावहारिक रूप से क़दम उठाना ज़रूरी था। इसके लिए उपयुक्त समय भी आ पहुँचा था। रूस अलास्का के दक्षिण ५१° तक स्थित भूमि पर अपना दावा कर रहा था जिससे अमेरिका तथा ब्रिटेन दोनों सशंक हो उठे। इसके अतिरिक्त योरप के प्रतिगामी पवित्र गुट (होलीअलायन्स) ने इटली और स्पेन में नव प्रजातन्त्र-आन्दोलन को ख़त्म कर १८२२ ई० के विरोना-अधिवेशन में दक्षिण-अमेरिका में फ़ौजें भेजकर वहाँ के नव प्रजातन्त्रों को पुनः स्पेन की सत्ता में लाने तथा फ्रांस को उसके खोये हुए प्रदेश प्राप्त करने का प्रस्ताव पास किया। इस प्रतिक्रिया के विरुद्ध इङ्गलैण्ड और अमेरिका को संयुक्त रूप से कार्य करने का निमन्त्रण कुशल आंग्ल वैदेशिक मंत्री केनिंग दे रहे थे। राजनीतिक, आर्थिक तथा सांस्कृतिक साम्य दोनों राष्ट्रों को स्वाभाविकतः इस ओर आकर्षित करते थे। चतुर एडम्स ने अँगरेज़ी दाँव को स्वीकार नहीं किया, अन्यथा युक्तराष्ट्र की विदेशी नीति पर अँगरेज़ी हस्तक्षेप को वैधानिक अधिकार प्राप्त हो जाता। एडम्स ने प्रधान मनरो को योरप के प्रतिगामी गुट के विरुद्ध अकेले ही मुक़ाबिला करने की सलाह देकर अत्यन्त दूरदर्शिता का परिचय दिया। जिस सफल राजनीतिक अस्त्र द्वारा अमेरिका ने उक्त संकट से मुक्ति पाई, उसका नाम मनरो-सिद्धान्त है।

मनरो-नीति के दो पहलू हैं—(१) भविष्य में योरपीय शक्तियाँ अमेरिकी महाद्वीपों को उपनिवेश का विषय नहीं बना सकतीं और (२) लैटिन अमेरिका की रियासतों को सताने के लिए योरपीय हस्तक्षेप अथवा अन्य प्रकार उनका भाग्यनिर्णय करना युक्तराष्ट्र अमेरिका के प्रति शत्रुता का प्रमाण होगा।

सुवर्ण अक्षरों में लिखे जानेवाले इस सिद्धान्त की सवा सौ वर्षों से अन्तर्राष्ट्रीय मसलों में दुहाई दी जाती है। अमेरिका ने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन न किया होता तो अमेरिकी महाद्वीप भी एशिया तथा अफ़्रीका खण्ड के समान कुटिल योरपीय शोषण-नीति का शिकार बन जाता। योरपीय अभिशाप से बचाने के फलस्वरूप वह अमेरिकाद्वय का नेता बन गया। योरपीय शक्तियों के दूषित हथकंडों को अमेरिका से निकाल फेंकने के कारण युक्तराष्ट्र को उसके पश्चिम में स्थित जंगली प्रदेशों में उपनिवेश ख़रीदने तथा युद्ध द्वारा संघ में मिलाने का उत्तम अवसर हाथ आया। पश्चिमी उजाड़ प्रदेश के अर्द्धसभ्य निवासियों को हराना कोई कठिन न था। अलिप्तता के इसी काल में मूल १३ रियासतों के स्थान में ४८ रियासतों पर युक्तराष्ट्र की पताका फहराने लगी। यह भी एक प्रकार का साम्राज्य-विकास ही था जो योरपीय साम्राज्य को पश्चिमी गोलार्द्ध में निष्क्रिय बनकर उभारा गया था। मूलनिवासियों के अपहरण से युक्तराष्ट्र अमेरिका का भव्य भवन बना है। इस काल में युक्तराष्ट्र में इतना बल आ चुका था कि वह अपने हितों के संरक्षण के लिए योरप के किसी भी राष्ट्र से मौक़ा पड़ने पर दबना नहीं चाहता था।

जब फ्रांस ने अमेरिकी क़र्ज़ की अदाई मुलतवी कर दी तो जैक्सन-सरीखे निर्भीक प्रधान ने अमेरिका-स्थित फ्रेंच सम्पत्ति को ज़ब्त करने की सिफ़ारिश कांग्रेस से की। तुरन्त ही फ्रांस के होश ठिकाने आ गये।

२. साम्राज्यवाद का युग १८९८—१९१२ ई०

(अ) **साम्राज्यवाद**—यद्यपि युक्तराष्ट्र अमेरिका ने मिडवे द्वीप १८६७ ई० में हस्तगत किया था, परन्तु साम्राज्यवाद की लहर वास्तव में १८९८ ई० ही से चल रही थी। ब्रिटिश साम्राज्य का आकर्षक उदाहरण सामने

था। "महान्" विचारधारा का तक़ाज़ा था कि युक्त-राष्ट्र की वैदेशिक नीति को नौशक्ति के आधार पर व्यापारिक विकास के मार्ग का अनुकरण करना चाहिए और जहाज़ी अड्डे की श्रृंखलाओं से राष्ट्र का अभ्युदय करना चाहिए। राकफेलर, कारनेगी, मार्गन, हिल प्रभृति औद्योगिक विभूतियों ने संसार का व्यापार हस्तगत करने का आश्वासन दिया। औद्योगिक क्रान्ति के फलस्वरूप साम्राज्य-विकास की पिपासा का प्रादुर्भाव पाश्चात्य सभ्यता का गुण है। व्यापार के विकास के लिए ही इङ्गलैंड, फ्रांस, डच इत्यादि देशों ने संसार के दुर्बल राष्ट्रों को ग़ुलामी की ज़ंजीर में जकड़ रक्खा है। अमेरिका ने भी साम्राज्य-लिप्सा को अपनाया। युक्तराष्ट्र में समृद्धिशाली काल के पश्चात् विकट आर्थिक मन्दी का दौर सदैव आता रहता है। यह दलील भी पेश की जा रही थी कि राष्ट्र के संरक्षण के लिए करेबियन तथा प्रशान्त के सन्निकट टापुओं पर युक्तराष्ट्र का झंडा लहराना आवश्यक है।

अधिकांश जनता निरपेक्ष नीति को न्यायसंगत समझती थी। अतः मैककिनले, हे महान् इत्यादि साम्राज्यवादी स्पेनशासित क्यूबा को स्वतन्त्र कराने के पवित्र नारे की ओट में साम्राज्य-लिप्सा को प्रोत्साहित कर रहे थे। स्पेन के अमानुषिक शोषणतन्त्र ने क्यूबा-वासियों का जीवन जानवरों से भी बदतर बना रक्खा था। स्पेन का रवैया जर्मन, फ्रेन्च तथा आस्ट्रिया-हंगरी की शह से और भी कठोर हो चला। जब स्पेनियों ने युद्धपोत "मेन" डुबा दिया तो अमेरिका में स्पेन के प्रति द्वेष की आग भड़क उठी। प्रधान मैककिनले को मुँह-माँगी मुराद मिली। अलिप्तता की भावना जाती रही। युद्ध में अमेरिका को विजय मिली। क्यूबा स्पेन के चंगुल से छूटा। फ़िलीपाइन द्वीपपुञ्ज स्पेन से छीन लिया गया। क्यूबा के आर्थिक जीवन पर अमेरिकन उद्योगपतियों का जाल बिछ गया। उसके निजी मामले में भी युक्तराष्ट्र के परराष्ट्र-विभाग को दख़ल देने का व्यावहारिक अधिकार मिला। इसी प्रकार वेक, हवाई, समोआ इत्यादि टापुओं पर क़ब्ज़ा हो जाने से अमेरिका भी साम्राज्यवादी राष्ट्रों की श्रेणी में आ गया। गृह-मन्त्री हे ने बड़ी सफलता से इस नीति को सँवारा।

(ब) चीन में खुला द्वार—दुखी चीन पर पश्चिमी योरप की शक्तियों की गृद्धदृष्टि पड़ी। इङ्गलैण्ड ने हाँगकाँग ले लिया था। रूस ने उत्तरी मंचूरिया पर क़ब्ज़ा कर लिया था। जर्मनी ने क्वाचौ का बन्दर-गाह पट्टे पर हथियाकर शानटुंग प्रायद्वीप पर अपना जाल सुदृढ़ कर रक्खा था। फ्रांस ने इंडोचीन छीन लिया। जापान भी साम्राज्यवादी मंसूबों में किसी से कम न था। अमेरिका ने चीन में अपना व्यापार बढ़ाने के लिए "खुले द्वार" का प्रतिपादन किया। वह चीन में भूमि हथियाने के झंझट में न पड़कर चीन का विश्वासपात्र भी बना रहा। परन्तु यह वास्तव में आर्थिक साम्राज्यवाद था जिसके विकास में अमेरिका सिद्धहस्त है। बाह्य रूप से, "खुला द्वार" एक सच्चा व्यवहार था। चीन की भूमि पर चीन की सार्व-भौमिकता (सावरंटी) अमेरिका को स्वीकार थी। उसने चीन में कोई उपनिवेश नहीं बनाया था। "खुले द्वार" की नीति के अनुसार युक्तराष्ट्र को वे सब अधिकार प्राप्त थे जो उसने अन्य साम्राज्यिक राष्ट्रों को प्रदान किये थे। यद्यपि परस्पर विरोधी राष्ट्रों के डाह के कारण चीन भी टर्की के समान साम्राज्यवादियों के चंगुल से बच गया, तथापि विदेशी क़र्ज़, आयात-निर्यात-कर पर विदेशी रुकावट तथा निरन्तर आर्थिक शोषण के कारण चीन निर्बल बना रहा। अमेरिका भी इस दोष से नहीं बच सकता। साम्राज्य-विस्तार के लाभ बटोरने के लिए उपनिवेश बसाने ही की आवश्यकता नहीं पड़ती।

(क) पनामा नहर का अपहरण—महान् लाज बेवरिज तथा हे इत्यादि के सतत प्रोत्साहन से युक्तराष्ट्र का जहाज़ी बेड़ा काफ़ी प्रगति कर रहा था। प्रशान्त और अटलान्टिक समुद्रतट तथा अमेरिका के मध्य-प्रशान्त में स्थित साम्राज्य तथा व्यापार के संरक्षण के लिए पनामा-प्रदेश में नहर खोदकर युक्तराष्ट्र की नौ-सेनारूपी दोनों भुजाओं को सन्निकट लाना ज़रूरी था। युक्तराष्ट्र ने जिस ख़ूबी से छः मील चौड़े नहर-प्रदेश को हस्तगत किया, वह कूटनीति का अच्छा नमूना है। पनामा-प्रदेश दक्षिणी अमेरिका की रियासत को बिया का प्रान्त था। फ्रांसीसी कम्पनी नहर खोद रही थी। कोलंबिया उस प्रदेश को अमेरिका को देना नहीं चाहता था। नहर-प्रदेश को प्राप्त करने के लिए जो सन्धि वाशिंगटन में तैयार की गई थी उसे सिनेट ने नामंज़ूर कर दिया। प्रधान थियोडोर रूज़वेल्ट कांग्रेस-अधिवेशन से पूर्व ही पनामा नहर-प्रदेश को छीन लेने का संकल्प कर चुके थे; क्योंकि इसमें विलम्ब करना घातक होता। अमेरिकी पत्रों तथा राजदूतों ने पनामावासियों को कोलंबिया के विरुद्ध स्वातन्त्र्य-आन्दोलन करने का प्रोत्साहन दिया। जनता को

विद्रोह के लिए तैयार करने के हेतु रूज़वेल्ट ने राष्ट्रीय जंगी बेड़ा पनामा के निकट सुसज्जित रक्खा। ६ नवम्बर, १९०३ ई० की रात को ग़दर की अफ़वाह उड़ते ही अमेरिका ने जंगी बेड़ा पनामा में उतार दिया। पनामा-स्थित कोलंबिया के फ़ौजी और स्वतन्त्र जहाज़ी अफ़सरों को क़ैद कर लिया गया। रात ही रात पनामा-सरकार का गठन हुआ, जिसने नहर-प्रदेश को १ करोड़ डालर में वार्षिक लगान की पाबन्दी के साथ युक्तराष्ट्र को बेच दिया। प्रधान थियोडोर रूज़वेल्ट गर्व के साथ कहा करते थे—"मैंने पनामा ले लिया, कांग्रेस बहस करती रहे, बला से।" युक्तराष्ट्र का नौ-संरक्षण तो अवश्य सुलभ हो गया, परन्तु इस अपहरण-नीति से दक्षिण-अमेरिका की रियासतें सशङ्क हो उठीं।

(ख) आर्थिक साम्राज्यवाद का कुशल जाल—कुशल पूंजीपतियों तथा उद्योगपतियों ने सामरिक बल की छत्रछाया में अपना व्यापार मध्य तथा दक्षिणी अमेरिका में बिछा दिया था। क़र्ज़ों की ज़मानत इन्हीं रियासतों ने प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से ले रक्खी थी। शासकवर्ग भी विदेशी व्यापार के विकसित करने की ओर प्रयत्नशील थे। परराष्ट्र-विभाग को अपने नागरिकों के हित-संरक्षण के हेतु दक्षिण-अमेरिकी महाद्वीप में हस्तक्षेप करने का अधिकार प्राप्त था। रूज़वेल्ट की नीति खुल्लमखुल्ला साम्राज्य-पोषक थी। उनकी वैदेशिक तथा गृहनीति का रहस्य उनकी प्रख्यात कहावत से स्पष्ट था कि "वाणी नम्र हो, परन्तु लम्बी छड़ी साथ में हो।" युक्तराष्ट्र के परराष्ट्र-सचिव रूट ने इसी "लम्बी छड़ी" के सिद्धान्त का निरूपण किया जो पूर्णतः साम्राज्यवादिता की क़ायल थी। रूट ने रियोडिजनरो में तृतीय सार्वदेशिक अमेरिकन अधिवेशन के अवसर पर यह दलील की कि मनरो-सिद्धान्त ने अमेरिका के छोटे राष्ट्रों को योरपीय राज्यों के अभिशाप से बचाया है, अतः इस गहन उत्तरदायित्व के एवज़ में उन राष्ट्रों को युक्तराष्ट्र के प्रति सौजन्य का बर्ताव करना चाहिए। इसी सौजन्य के आवरण में "डालर डिप्लोमेसी" अथवा "यंकी साम्राज्यवाद" का कुशल सूत्रपात हो रहा था। रूज़वेल्ट के शासन-काल में अमेरिका प्रथम श्रेणी की शक्ति बन चुका था। पाशविक शक्ति का प्रदर्शन साम्राज्य-लिप्सा को उत्तेजन देता है। अमेरिका की वैदेशिक नीति साम्राज्य-विस्तार की ओर केन्द्रित रही।

३. विल्सन का आदर्शवाद-काल १९१२—२० ई०

प्रधान विल्सन कुशल अध्यापक, प्रकाण्ड विद्वान्, प्रखर आदर्शवादी, सफल शासक तथा प्रमुख राजनीतिज्ञ थे। उन्होंने पदारूढ़ होते ही भूतपूर्व प्रधान रूज़वेल्ट की "लम्बी छड़ी" द्वारा साम्राज्य-विस्तार की नीति और क़र्ज़ों के एवज़ टैफ़्ट के "डालर साम्राज्यवाद" को तिलाञ्जलि दे दी। उन्होंने युक्तराष्ट्र की नीति स्पष्ट कर दी कि युक्तराष्ट्र अमेरिका भविष्य में जीत के ज़रिये भूमि का विस्तार नहीं करेगा। चीन को दिये जानेवाले क़र्ज़ को उन्होंने सरकारी मान्यता नहीं दी। प्रधान विल्सन प्रजातंत्र के पुरस्कर्ता के नाते ब्राइट तथा काब्डेन के निर्बाध अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार एक मुद्राप्रसार वस्तुओं के स्वतन्त्र विनिमय और आदमस्मिथ के व्यक्तिवाद द्वारा विश्वबन्धुत्व का स्वप्न देख रहे थे। गणतन्त्र के विकास के लिए प्रयत्नशील थे। उनका पक्का ख़याल था कि रियासतों के आपसी मतभेद विचार-विनिमय तथा विश्वसंघ द्वारा सुलझाये जा सकते हैं। उन्होंने विश्वसंगठन को व्यावहारिक रूप दिया। राष्ट्रसंघ उनके आदर्शवाद का जीता-जागता नमूना था और उसकी असफलता का रहस्य उसके सदस्यों की संकीर्ण मनोवृत्ति को है। दोषी राष्ट्र के विरुद्ध संयुक्त कार्रवाई न करने से यह विश्वव्यापी संगठन मुरझा गया और राष्ट्रों के स्वार्थों ने लगातार ६ वर्षों तक रक्त की होली मचा रक्खी। पूर्व अर्जित साम्राज्य और चीन में खुले द्वार की नीति की उन्होंने भर्त्सना नहीं की। आर्थिक हितों को छोड़ना महान् आत्माओं के लिए भी मुश्किल है।

(ब) प्रजातन्त्र की सहायता में—इस पहलू पर रूज़वेल्ट-काल के खण्ड (क) में नीचे रोशनी डाली गई है।

४. द्वितीय अलिप्तताकाल और अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी

१९२० ई० के चुनाव में जनता ने रिपबलिकन प्रधान हार्डिंग को चुनकर विल्सन के आदर्शवाद को ख़त्म कर दिया। यह आश्चर्य का विषय है कि रिपबलिकन दल, जो सदैव से साम्राज्यवाद का पोषक था, अत्यन्त अलिप्तता का हामी बन बैठा। एक तरह से यह काल १९२८ ई० तक अमेरिका के इतिहास का सुवर्ण युग था। भीमकाय कारख़ाने, विश्वव्यापी व्यापार, अपूर्व आन्तरिक समृद्धि, विदेशी राष्ट्रों से प्राप्य क़र्ज़ और महाजनी व्यवसाय, सब अद्वितीय युग

का परिचय दे रहे थे। दूसरी ओर हार्डिंग की अयोग्यता के कारण राष्ट्र की निर्बल वैदेशिक नीति और सुगम आयात-कर के स्थान में संरक्षण की ऊँची दीवार निकटभविष्य में अमेरिका के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार को चौपट करने का इशारा कर रही थीं। देश के किसानों की आर्थिक स्थिति गिर रही थी और दूसरी ओर पूँजीपति और इजारेदार अपार धन कमा रहे थे। शासन में पूँजीपतियों और कारख़ानेदारों का बोलबाला था, जो पैसे के ज़ोर पर राजनीतिज्ञों को उँगली पर नचाते थे। प्रथम अलिप्तता के काल में युक्तराष्ट्र अमेरिका कुशल वैदेशिक नीति के संचालन के फलस्वरूप प्रथम श्रेणी के राष्ट्रों में आ गया था, परन्तु द्वितीय अलिप्तता के काल में वह प्रथम श्रेणी का राष्ट्र होते हुए भी अन्तर्राष्ट्रीय राष्ट्रों की गिनती में नगण्य स्थान ही प्राप्त कर सकता था।

अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक मन्दी १९२९-३७ ई०

अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी ने युक्तराष्ट्र अमेरिका का आर्थिक ढाँचा तक हिला दिया। १२० लाख मज़दूर बेकार हो गये थे। ५००० बैंकों का दीवाला निकल चुका था। अन्य राष्ट्रों ने २६ अरब डालर क़र्ज़ को धता बता दिया था। विदेशी व्यापार चौपट हो चुका था। रेलें क़र्ज़ के भुगतान में बिकने लगी थीं। किसानों का सत्यानाश हो चुका था। चारों ओर अन्धकार ही अन्धकार दीखता था। ऐसे अवसर पर फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट कार्यक्षेत्र में उतरे।

५. रूज़वेल्ट-काल १९३३-४५ ई०

अधिकार-विभाजन तथा संकीर्ण दलबन्दी के कारण अमेरिका में राष्ट्र के सूत्रधार सदैव कुशल राजनीतिज्ञ ही नहीं होते। इँगलैंड में पार्लियामेन्टी शासनपद्धति होने से चोटी के लोग ही मन्त्री बनाये जाते हैं। यह अमेरिका का सौभाग्य है कि आनबान की बेला में सदैव कुशल शासकों के हाथ में देश की बागडोर थी। वाशिंगटन, जैक्सन, लिंकन, थियोडोर रूज़वेल्ट, विल्सन और फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट किसी भी राष्ट्र के उत्तमोत्तम नेता से टक्कर ले सकते हैं। इन सबों में फ्रैंकलिन रूज़वेल्ट ने जिस प्रतिभा का परिचय दिया है उसकी मिसाल मिलना आसान नहीं। अतः हमने इस काल को रूज़वेल्ट-काल की संज्ञा दी है।

आन्तरिक आर्थिक संगठन—प्रधान रूज़वेल्ट ने अमेरिका की आर्थिक मन्दी पर क़ाबू पाने का संकल्प किया। उन्होंने इस साहस, शौर्य तथा आत्म-विश्वास से देशव्यापी मन्दी का सामना किया कि वह राष्ट्र के अपूर्व लोकप्रिय नेता बन गये। उन्हें जनता ने ४ बार प्रधान-पद पर सुशोभित किया, जिस पर कोई भी प्रधान दो बार से अधिक नहीं बैठ सका था। राष्ट्र के आर्थिक संगठन द्वारा बेकारी को दूर करने के बाद ही परराष्ट्रनीति को कुशलतापूर्वक संचालित किया जा सकता है। अन्तर्राष्ट्रीय मन्दी के दौरान में प्रजातन्त्रों के अयोग्य आर्थिक संचालन ने ही वास्तव में डिक्टेटरों के हाथों को सबल बनाया था। जबरिया भर्ती, नियन्त्रित उत्पादन और राष्ट्रीय जीवन के प्रत्येक पहलू के सफल सम्पादन ने डिक्टेटरशिप के हौसलों को बढ़ा दिया था। परराष्ट्र-क्षेत्र में कुशल नेतृत्व के लिए आन्तरिक सुव्यवस्था तथा सम्पूर्ण बेकार जनता के लिए काम निकालना आवश्यक है। बेकारी के अभिशाप को सदैव के लिए निर्मूल करने का बीड़ा अमेरिका ने उठाया है।

(अ) फ़ासिस्ट-विरोधी शक्तियों से मेल—जापान प्रशान्त महासागर तथा समस्त एशिया में सर्वश्रेष्ठ शक्ति बनने का दावा कर रहा था। वह "एशिया एशियावासियों के लिए" के नारे की ओट में प्रशान्त ही क्या, समस्त एशिया का भाग्य-विधाता बनना चाहता था। युक्तराष्ट्र के साम्यवादी जन जापान के विस्तार को रोकने के लिए उसके शत्रु रूस से हेल-मेल करने का आदेश कर रहे थे। दूसरी ओर विल्सन के प्रजातन्त्र के मोह के अनुसार एकतन्त्रवादी रूप से पवित्र युद्ध करना संसार को गणतन्त्रवाद के लिए सुरक्षित करना था। विल्सन के उत्तराधिकारी हार्डिंग, कूलिज और हूवर रूस को समय-समय पर नीति का पहाड़ा पढ़ाने से बाज़ नहीं आते थे। इधर इटली और जापान की मैत्री पुष्ट हो रही थी। रूज़वेल्ट ने प्रत्येक देश को अपना निजी राज्य-शासन का ढाँचा बनाने का स्वातन्त्र्य दे रक्खा था। उन्होंने नवम्बर, १९३३ ई० में रूस से मैत्री कर जापान के विरुद्ध भविष्य युद्ध में एक बलशाली मित्र प्राप्त किया। उनके इस क़दम से परराष्ट्रसचिव श्रीहल तक अप्रसन्न हुए, परन्तु राष्ट्र के प्रतिभाशाली नायक रूज़वेल्ट ने दक़ियानूसी ख़यालों का राष्ट्रहित के विरुद्ध कोई अस्तित्व नहीं समझा।

(ब) अच्छे पड़ोसी की नीति—योरप के डिक्टेटर मुसोलिनी तथा हिटलर दक्षिण-अमेरिका में

प्रचार-कार्य के ज़ोर पर वहाँ के राष्ट्रों को डिक्टेटर-प्रणाली का पोषक बनाना चाहते थे। दक्षिण-अमेरिका के राष्ट्र जर्मन राष्ट्र की तरह युक्तराष्ट्र के आर्थिक प्राश तथा हस्तक्षेप से मुक्ति चाहने का मार्ग एक तन्त्रवाद ही समझते थे। साम्राज्यवाद-काल में युक्तराष्ट्र की अपहरण-नीति से दक्षिण-अमेरिका असंतुष्ट था ही। आदर्शवादी विल्सन तक उससे क़र्ज़ की क़िस्तें उगाहने के लिए जगह-जगह सामरिक केन्द्र बनाने में नहीं चूके। फ्रैंक्लिन रूज़वेल्ट ने दक्षिण-अमेरिका का विश्वास पाने के लिए "अच्छे पड़ोसी" की नीति का श्रीगणेश किया। उन्होंने यंकी साम्राज्यवाद की नीति को परराष्ट्रीय नीति का आधार नहीं बनाया। स्वदेश-हित के संरक्षण हेतु शक्ति प्रयोग द्वारा क़र्ज़ वसूल करना बन्द कर दिया गया। दक्षिणी अमेरिका के घरेलू मामलों में हस्तक्षेप न करने की घोषणा प्रथम बार १९३३ ई० में मान्टिवीडियो में अखिल अमेरिकन अधिवेशन के अवसर पर की गई और यही नीति १९३६ ई० में ब्यूनोसरिज़ में दुहराई गई। पश्चिमी गोलार्द्ध में अब युक्तराष्ट्र अमेरिका के सम्बन्ध केवल सद्भावना पर निर्भर हैं।

"अच्छे पड़ोसी" की नीति को कार्यरूप में परिणत करने के लिए रूज़वेल्ट ने १९३४ ई० में निकारागवा से अमेरिका की फ़ौजें हटा लीं। सन्धि के आधार पर क्यूबा के घरेलू मामलों में दख़ल देना बन्द कर दिया गया। पेरू तथा बोलिविया से जबरन् क़र्ज़वसूली नहीं की गई। यद्यपि दक्षिणी अमेरिका में फ़ौजी डिक्टेटरशिप का बाज़ार गर्म था, परन्तु रूज़वेल्ट ने अच्छे पड़ोसी के सिद्धान्तानुसार प्रत्यक्ष रूप से कोई दख़ल न दिया।

(क) हिटलरशाही के विरुद्ध राष्ट्र को सुसज्जित रखना—अमेरिका की अधिकांश जनता हमेशा से अन्य राष्ट्रों के परस्पर संघर्षों से अलिप्त रहना चाहती है। निसर्ग ने उसे समस्त साधन प्रचुर मात्रा में दिये हैं। यही उसके अन्तर्राष्ट्रीय झमेलों से दूर रहने का पर्याप्त कारण है। अब इस देश को पहले से युद्ध के लिए सुसज्जित करना बहुत कठिन है। वरिष्ठ धारा-सभा के सिनेट को विधानानुसार प्रधान की विदेशी नीति में हस्तक्षेप करने का अधिकार है। कनिष्ठ धारा-सभा को युद्धविषयक ख़र्च के मंज़ूर या नामंज़ूर करने का अधिकार है। रूज़वेल्ट तथा उनके वैदेशिक मन्त्री श्रीहल की विश्वव्यापी कल्पनाओं पर नियन्त्रण रखने के लिए कांग्रेस ने १९३५ ई० में तटस्थता का क़ानून पास कर युद्धरत देशों को युद्ध-सामग्री बेचने की मनाही कर दी। जानसन-क़ानून द्वारा उन देशों को क़र्ज़ देने की मनाही कर दी गई, जिन्होंने युक्त-राष्ट्र का क़र्ज़ नहीं पटाया था। कांग्रेस ने प्रथम तथा द्वितीय महासमरों के समय देश को युद्ध की लपटों से बचाना चाहा था। परन्तु रूज़वेल्ट को द्वितीय महायुद्ध की रूपरेखा बादलों के आवरण में छिपी दिखती थी।

५ अक्तूबर, सन् १९३७ ई० को शिकागो नगर में प्रधान रूज़वेल्ट ने अमेरिकावासियों को भावी युद्ध के प्रति सावधान हो जाने का संकेत किया। उन्होंने डिक्टेटरों की नीति का खण्डन करते हुए कहा—"संसार का १० प्रतिशत जनसमुदाय शेष ९० प्रतिशत को ख़तरे में डाल रहा है। विश्व-शान्ति भंग करनेवालों को शान्तिप्रेमी राष्ट्र यदि सामुदायिक रूप से रोकने का प्रयास करें तभी संसार का कल्याण होगा। अमेरिका भी इस दावानल से बच न सकेगा। कोई यह न सोचे कि शत्रु अमेरिकावासियों के साथ दया का बर्ताव करेंगे।" राष्ट्र-संघ मरणासन्न स्थिति में था। इँगलैंड के प्रधान मन्त्री चेम्बरलेन उन्हीं विश्व-शान्ति के शत्रु हिटलर तथा मुसोलिनी को अन्य देशों के बलिदान द्वारा प्रसन्न करने की निष्फल चेष्टा कर रहे थे।

प्रथम तथा द्वितीय महायुद्ध के अवसर पर अमेरिका युद्ध से अलिप्त रहने का प्रबल आकांक्षी था। वह अन्य राष्ट्रों के हित-संरक्षण के हेतु अपने लालों का ख़ून बहाना नहीं चाहता था। इस विचारधारा के होते हुए भी उसे युद्ध में क्यों कूदना पड़ा ? विचार-साम्य तथा समानहित व्यक्तियों तथा राष्ट्रों को आकृष्ट करते हैं। विशुद्ध अलिप्तता के दिन ख़त्म हो चुके हैं। दोनों युद्धों में जर्मनी ने इँगलैंड तथा फ्रांस को प्रायः समाप्त ही कर दिया था। प्रजातन्त्र का पोषक अमेरिका उनके ख़ात्मे को अलिप्तता से नहीं देख सकता था। अतः उसने दोनों युद्धों में योरपीय प्रजातन्त्रों को युद्ध-सामग्री जुटाना अपना कर्तव्य समझा। जनमत के आग्रह से पहले तो तटस्थता के क़ानून में संशोधन किया गया। बाद में नक़द दाम के एवज़ में सामग्री ले जाने की आज्ञा दी गई। फिर उधार और पट्टे के क़ानून के अधीन इँगलैंड की खुल्लमखुल्ला मदद की गई। पुराने डिस्ट्रॉयरों के एवज़ में इँगलैंड ने

करैबियन सागर के सामरिक अड्डों को ९९ वर्ष के पट्टे के मातहत अमेरिका के हवाले कर दिया। इँगलैंड की सफल नाकाबन्दी के लिए जर्मनी ने आंग्ल अमेरिकन नौसेना पर डुबकनी क़िश्तियों की भयानक मोहिम शुरू की। अतः अमेरिका युद्ध की लपटों में आ रहा था। पश्चिमी प्रजातन्त्रों पर जब-जब घातक वार होने की सम्भावना होगी तब-तब युक्तराष्ट्र अमेरिका उनके संरक्षण के लिए अवश्य कूद पड़ेगा। संसार में राजनीतिक विचारसंघर्षों का हल अन्तिम अवस्था में पाशविक शक्ति पर निर्भर है। डिक्टेटर-विचारधारा प्रजातन्त्र-शैली को निर्मूल कर रही थी। अतः अमेरिका गणतन्त्र की रक्षा के लिए इँगलैंड को क्यों न मदद देता। युक्तराष्ट्र के असीम साधन के कारण योरप के गणतन्त्रवादी राष्ट्र उसे युद्ध में खींचने के आकांक्षी होते हैं; क्योंकि यह देश जिसको सहायता देता है, उस दल की अन्तिम विजय सुनिश्चित हो जाती है। इसी अमेरिका ने चीनी प्रजातन्त्र को सहायता देने के बजाय १९३७ ई० में जापान को युद्ध-सामग्री बेची। हो सकता है कि अमेरिका की बाहरी कमज़ोरी का भुलावा देकर रूज़-वेल्ट उसे भविष्य में अमेरिका पर वार करने का प्रोत्साहन दे रहे थे, जिसमें फँसकर जापान का ख़ात्मा हो गया। प्रधान रूज़वेल्ट ने जिस प्रकार युक्तराष्ट्र को संसार का प्रथम शक्तिमान् राष्ट्र बनाकर आज इसे शक्ति, समृद्धि तथा नेतृत्व का हक़दार बनाया है उसका रहस्य उनकी कुशल वैदेशिक नीति है।

६. वर्तमान अनिश्चितता का काल और अमेरिकी नेतृत्व

हाल ही में प्रधान श्रीट्रुमन ने अमेरिकी नीति का विश्लेषण किया है, जिसकी रूपरेखा रूज़वेल्ट ने पहले ही आँक रक्खी थी। श्रीट्रुमन ने तीन बातें कहीं हैं—(१) अमेरिका की बेकारी का सदा के लिए अन्त करना, (२) देश को स्वावलम्बी बनाना और (३) अन्तर्राष्ट्रीय आर्थिक, राजनीतिक इत्यादि परिषदों में पूर्ण सहयोग देना।

(अ) बेकारी का नाश तथा देश को स्वावलंबी बनाना—प्रत्येक समृद्धिशाली काल के पश्चात् अमेरिका में भीषण बेकारी का दौर हमेशा आता ही रहता है। रूज़वेल्ट ने बेकारी को बहुत अंश तक निर्मूल करने का रास्ता दिखा ही दिया है। उन्होंने कृषि की उपज के मूल्य को ऊँचा रखकर, राष्ट्रीय जंगलों, सड़कों, पुलों, कलाकारों, बुढ़ापे में पेंशन, बेकारी की पेंशन, किसानों के संरक्षण, उद्योग-धन्धों व बैंकों के राष्ट्रीय नियन्त्रण द्वारा अमेरिका में स्वावलम्बन का युग आरम्भ किया था। बड़े पैमाने पर उत्पादन का दारोमदार विदेशी मण्डियों पर आश्रित है। जापान के सर्वनाश से तथा ब्रिटेन के पुनर्निर्माण के कारण अमेरिकी व्यापार को विकसित होने की सुवर्णसन्धि प्राप्त है। संसार का सर्वोत्तम हवाई तथा जहाज़ी बेड़ा उसके व्यापार के संरक्षण तथा यातायात के लिए उपलब्ध है। व्यापारिक क्षेत्र में अमेरिकी सिद्धहस्त होते भी हैं। वर्त्तमान समय में अमेरिका समस्त संसार में "खुला द्वार" नीति का प्रतिपादन कर सकता है।

(ब) अन्तर्राष्ट्रीय क्षेत्र में अमेरिका का नेतृत्व—दोनों महायुद्धों में युक्तराष्ट्र ने जिस बहादुरी, बलिदान, शौर्य और कुशल नेतृत्व का परिचय दिया है, उससे वह स्वाभाविकतया संसारव्यापी संगठन का नेता बनने का हक़दार है। परन्तु संयुक्तराष्ट्र संगठन में उसे कोई महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त नहीं। रूज़वेल्ट-जैसे कुशल सूत्र-धार ने जिस वैदेशिक नीति के आधार पर स्टैलिन तथा चर्चिल-सरीखे कट्टर विरोधियों को अपने व्यक्तित्व तथा प्रतिभा से युद्धकालीन युग में एकता के बन्धन में बाँध रक्खा था, वही नीति अब ५१ रियासतों की सामूहिक समिति के समक्ष कितनी फीकी दीखती है। यह भी सच है कि योरप अमेरिका का नेतृत्व शायद ही स्वीकार करे। इसी लिए शायद सेक्रेटरी जनरल के पद के लिए कोई अमेरिकी नहीं खड़ा किया गया। प्रथम महायुद्ध के पश्चात् भी विल्सन के नेतृत्व से लॉयड जार्ज, क्लिमेन्सो, फॉश तथा आरलेन्डो प्रभृति कूट-नीतिज्ञ ख़ुश नहीं थे। श्रीपेफर का कथन भी ठीक जँचता है कि "वाल्गा से लेकर अटलान्टिक तक समस्त योर-पियनों की एक राय है कि राजनीति के क्षेत्र में अमेरिका-वासी बच्चे ही हैं।"

राजनीतिक वातावरण विस्फोटमय सम्भावनाओं से परिपूर्ण है। रूस अजरबेजान को ईरान के अन्तर्गत स्वतन्त्र प्रान्त बनाकर ईरान से तेल की रियायतें लेना चाहता है और रूस आंग्ल-अमेरिकी सन्धि के बावजूद अपनी सेनाएँ हटाने से इनकार कर रहा है। इसी प्रकार रूस अर्मीनी, यूनानी तथा जार्जी अल्प-संख्यक जनता के हित की आड़ में मान्ट्रो-समझौते

के विरुद्ध अपने जंगी जहाज़ों के लिए बासफोरस तथा डार्डिनेलस से बेरोकटोक आवागमन का मार्ग चाहता है। इस विषय में अमेरिका का कड़ा रुख़ सराहनीय है। कोरिया, चीन और मंचूरिया में रूसी नीति पर अमेरिका का कटाक्ष न्यायसंगत ही है। यद्यपि रूस ने अन्य राष्ट्रों के मज़दूरवर्ग को उनकी पूँजीवादी सरकारों के विरुद्ध उभाड़कर विश्वव्यापी मज़दूरसंघ की भावना को अँगरेज़ और अमेरिका की शंका-निवृत्ति के हेतु शाब्दिक रूप से छोड़ दिया है, परन्तु कम्यूनिस्ट मास्कोनियन्त्रित विश्वव्यापी मज़दूरसंघ की कल्पना को कभी तिलाञ्जलि नहीं दे सकते। इस मौलिक सिद्धान्त को त्यागकर वे विश्वबन्धुत्व का मायाजाल काल्पनिक दृष्टि से छोड़ नहीं सकते। वर्तमान विश्वव्यापी संगठन में भी इसी पूँजीवाद तथा साम्यवाद का संघर्ष स्पष्टतः दिखता है। अमेरिका तथा इङ्गलैण्ड की वैदेशिक नीति का निष्कर्ष है कि प्रजातन्त्रवादी राष्ट्रों को कम्यूनिस्ट विचारधारा के विरुद्ध सगठित किया जाय। इसी नीति से प्रेरित होकर अमेरिका ने चीन को संगठित करने के लिए क्युमिन्टांग और कम्यूनिस्टों में ऐक्य कराने का प्रयत्न किया; क्योंकि प्रधान सेनापति च्यांगकाई शेक चीन के सबल होते ही १९२७ ई० की भाँति पुनः कम्यूनिस्टों को चीन से निकालने में न चूकेंगे। कम्यूनिस्ट इस दाँव को पूर्णतः समझते हैं। अतः समझौते के बावजूद दोनों दलों में मंचूरिया, बाह्य चीन इत्यादि प्रश्नों पर बड़ा मनमुटाव तथा झड़प जारी है। श्रीशेक को विभिन्न अराष्ट्रीय शक्तियों तथा स्वतन्त्र उपनिवेशों को प्रखर राष्ट्रीयता के ज़ोर से निकाल बाहर करने का हक़ है। युद्ध के ज़माने में आंग्ल-अमेरिकन सरकारों ने चीन में स्थित स्वतन्त्र योरपीय उपनिवेशों को ख़त्म करने का आश्वासन चीन-सरकार को दिया था। हाल ही में फ्रांस ने चीन में अपने उपनिवेशी हक़ छोड़ दिये हैं। परन्तु क्या अमेरिका "खुले द्वार" को छोड़ सकेगा?

भावी तृतीय युद्ध की रूपरेखा स्पष्टतः अँक रही है। योरप पूँजीवाद तथा कम्यूनिज़्म जैसे दो दलों में विभक्त हो रहा है। विश्व-संगठन-समिति में भी यही नज़ारा दिखता है। एशिया भी अपने हितसंरक्षण के लिए इन्हीं दो दलों का पोषक बना रहा है। टर्की तथा ईरान यद्यपि गणतन्त्र के हामी नहीं हैं तो भी अपने राष्ट्रीय हितों के संरक्षण के लिए पूँजीवादी शक्तियों के पोषक बन रहे हैं। मिश्र, पैलेस्टाइन और लवांट अपने कल्याण के लिए रूस की ओर आकृष्ट हो रहे हैं। वर्तमान अणुबम के घातक काल में कोई भी देश अलिप्तता की नीति पर कदाचित् ही अमल कर सके। अविश्वास से अविश्वास की सृष्टि होती है। कूटनीतिज्ञ गुट बनाकर शक्ति-संवर्द्धन करते हैं और गुटों की शक्तिह्रास के हेतु प्रतिगामी गुट तैयार होते हैं। जब तक युद्ध का श्रीगणेश नहीं होता तब तक कूटनीति का बाज़ार गर्म रहता है। गुटों के निर्माण से युद्ध की सम्भावना कम नहीं होती, थोड़े समय के लिए चाहे वह टल भले ही जाय। योरप के पिछले चार सौ वर्षों का इतिहास इसी शक्ति-सन्तुलन का घातक उदाहरण है।

अमेरिका के वैदेशिक मंत्री श्रीजेम्स बर्न्स ने लन्दन के १९४६ ई० के संयुक्तराष्ट्रों की समिति के अधिवेशन के विषय में राष्ट्रों में परस्पर अविश्वास का रोना रोया है। वर्तमान विश्वव्यापी संगठन अन्तर्राष्ट्रीय मसलों को हल करने का अच्छा साधन सिद्ध हो सकता है। एक छोटा देश सोवियट रूस से विराट् देश के विरुद्ध अपनी पुकार निर्भीकतापूर्वक पहुँचा सकता है, परन्तु केवल भाषणस्वातन्त्र्य अथवा विद्वत्ता द्वारा ही अविश्वास को निर्मूल नहीं किया जा सकता। जब तक रियासतों की सार्वभौमिकता (सावरेन्टी) को विश्व-शान्ति के दृष्टिकोण से किसी अन्तर्राष्ट्रीय केन्द्रीय समिति के नियन्त्रण में न रक्खा जावेगा और जब तक प्रत्येक राष्ट्र के एकाधिपत्य सिद्धान्तानुसार अन्य रियासतों पर धावा बोलने पर व्यावहारिक प्रतिबन्ध नहीं लगाया जाता तब तक परस्पर विश्वास तथा विश्वशान्ति की आशा करना निरी थोथी दलील है। अटलान्टिक चार्टर, चार स्वातन्त्र्य इत्यादि को वस्तुतः कार्यरूप में परिणत किये बिना श्रीचर्चिल की सलाह के अनुसार आंग्ल-अमेरिकी सामरिक ऐक्य द्वारा विश्वास-सम्पादन करना असम्भव है। विश्वशान्ति तथा सभ्यता-संरक्षण के लिए बड़े राष्ट्रों को छोटे और निर्बल राष्ट्रों पर सर्दारी करना त्याग देना होगा। अमेरिका को भी आर्थिक साम्राज्यवाद का अन्त करना होगा। श्रीविन्डेल विल्की का कथन था कि युक्तराष्ट्र अमेरिका और सोवियट के बीच सच्चे और अबाध रूप से वस्तु तथा विचार-विनिमय पर संसार का भविष्य निर्भर है। इतने सस्ते मार्ग से संसार का भविष्य उज्ज्वल नहीं हो सकेगा।

अणुबम के ध्वंसकारी युग में शान्ति प्रस्थापित करने का केवल एक उपाय है। वह है पूँजीवाद को साम्राज्यवाद का अन्त करना होगा और साम्यवाद को अन्य राष्ट्रों के मज़दूरों को उभाड़कर विश्वविप्लव के सिद्धान्त को तिलाञ्जलि देनी होगी, जिसकी ओट में रूस आज नव साम्राज्यवाद का श्रीगणेश कर रहा है। अनादि काल से मनुष्य ने अपने ही भाइयों को दास बनाने का मोह नहीं छोड़ा है और स्वार्थलिप्सा की वृत्ति मानव-समाज से जाती रहेगी—यह भी कोरी कल्पना ही है; परन्तु भीषण रोगों के लिए उपचार भी भीषण होते हैं। संसार के कल्याण के लिए उक्त मार्ग का अवलम्बन करना ही होगा, अन्यथा प्रलय दूर नहीं।

आज संसार की तीन बड़ी शक्तियों, अर्थात् अमेरिका, ब्रिटेन तथा रूस, में से सबसे अधिक विश्वसनीय शक्ति अमेरिका है। फ़िलीपाइन को इस वर्ष जूलाई ४ को स्वतन्त्रता देकर उसने संसार के सामने एक अच्छा उदाहरण रक्खा है कि अणुबम से सुसज्जित राष्ट्र एक निर्बल राष्ट्र को दासत्व की बेड़ी से मुक्त कर सकता है। योरप व एशिया से फ़ौजें हटाकर अमेरिका ने छोटे-छोटे देशों का विश्वास-सम्पादन किया है। मानव-स्वार्थपरता तथा अदूरदर्शिता के कारण विज्ञान के आविष्कार मानव-जाति ही के सामुदायिक ध्वंस में लगाये जा रहे हैं। ध्वंसकारी अस्त्र-शस्त्रों की घुड़दौड़ में अमेरिका या ब्रिटेन ही सबसे आगे रहेंगे—इसकी आशा नहीं की जा सकती। गान्धीवाद और अहिंसा चाहे बीस वर्ष पहले न्यायसंगत भले ही न जँचते रहे हों, परन्तु आज विश्वशान्ति के संरक्षण के लिए यही एक मार्ग नज़र आता है। विश्वसंगठन के साफल्य के लिए समस्त राष्ट्रों को साम्राज्यवाद का अन्त करना ही होगा, चाहे वह आर्थिक, सामरिक अथवा भूमि-विस्तार के लिए हो अथवा अन्य स्वार्थ के लिए।

ग्राम्य-गीतों में इतिहास

पं० भगवतीचरण शर्मा 'निर्मोही' साहित्यरत्न

यह तब की बात है, जब भारतवर्ष में छोटे-मोटे कई स्वतंत्र राजा थे, और वे राजा समय पाकर एक दूसरे को हड़पने की कोशिश में लगे रहते थे। उन दिनों पर्वतीय प्रदेश गढ़वाल के राजा की राजधानी श्रीनगर थी, और सारे गढ़वाल पर उसका एकछत्र राज्य था। पर दुर्भाग्यवश उसके पड़ोसी पहाड़ी राजाओं ने उसे कभी चैन से नहीं बैठने दिया। समय-समय पर वे गढ़वाल पर आक्रमण करते रहे। पड़ोसी राज्य कमायूँ के राजा लक्ष्मीचंद ने तो सात बार गढ़वाल पर चढ़ाई की और वह सदैव गढ़वाल के राजा से हारता ही रहा, पर आठवीं बार की लड़ाई में वह जीता और उसने काफ़ी लूट-पाट की। कमायूँ के राजा बाज-बहादुरचन्द, राजा उद्योतचन्द, राजा जगतचन्द वग़ैरह ने भी अपने-अपने राजकाल में गढ़वाल पर आक्रमण किया और जितना हो सका उसे लूटा। पर गढ़वाल के राजा भी चुप नहीं रहे, और वे भी अपने-अपने समय पर कमायूँ पर चढ़ाई करने से चूके नहीं, और उनसे भी जहाँ तक हो सका बदला चुकाते रहे। एक बार तो गढ़वाल का राजा प्रद्युम्नसाह बहुत वर्षों तक विजयी बनकर कमायूँ की गद्दी पर प्रद्युम्नचन्द नाम से राज्य करता रहा। पर उन दिनों राजकर्मचारियों के षड्यंत्रों के कारण कोई भी राजा अधिक दिन तक गद्दी पर नहीं टिकने पाता था, और इन्हीं कारणों से प्रद्युम्नसाह को भी वहाँ की गद्दी ख़ाली करनी पड़ी। उस समय की इन लड़ाइयों की वीरगाथाएँ, 'पँवाड़े' और 'भड़गारुड़े' तथा गीतों के रूप में गढ़वाल में अब भी गाये जाकर इतिहास की कमी को पूरा किये जा रहे हैं।

सबसे बाद का आक्रमण गढ़वाल पर गोरखों का था, और यह आक्रमण इतना भीषण था कि तब से आज तक 'गोरख्याणी' शब्द गढ़वाल में अत्याचार और आतङ्क का पर्यायवाची ही बन बैठा है। जहाँ कहीं अत्याचार हो रहा हो, लोग कहते हैं यहाँ 'गोरख्याणी' मची हुई है। उनके अत्याचारों की कहानियाँ वहाँ गाँव-गाँव में फैली हुई हैं। इन गोरखों के आने की सूचना पाते ही गाँववाले गाँव छोड़कर पहाड़ों में जंगलों के बीच जा छिपते थे। ये उन असमर्थ—बूढ़ों और स्त्रियों से, जो भाग नहीं सकते थे, भागनेवालों का पता पूछते, और न बताने पर उनकी काँखों में जलते कंडे रखकर हाथों को कस देते और तब पता पूछते। अत्याचारों की सीमा नहीं थी।

जनश्रुति है कि एक बार इन आततायियों को जहाँ वे गये वहीं गाँव ख़ाली मिले। इससे खीझकर उन्होंने उन दिनों की हरीभरी खेती को नष्ट करने की सोची और गाँववालों के हल-बैल लेकर मँडुवा के खेतों में हल चला दिये। इनकी यह मंशा थी कि जब फ़सल ही नष्ट हो जायगी तो ये गाँववाले लौटकर क्या खायेंगे? और तब भूख से व्याकुल होकर स्वतः ही नष्ट हो जायँगे। पर ईश्वरेच्छा, उस वर्ष गाँववालों को मँडुवा की फ़सल से दुगना लाभ हुआ, कारण कि उस हल चलाने से मँडुवा के साथ की घास तो सूख गई, पर मँडुवा ख़ूब लहलहा उठा। तब से आज तक भी गढ़वाल में मँडुवा के खेतों—छोटे-छोटे मँडुवा के पौदों—में एक प्रकार के हल, जिसे दन्दाला कहते हैं, लगाने की प्रथा चल पड़ी। इससे मँडुवा की खेती को लाभ होता है।

ख़ैर, मेरे इस लेख का आशय इस 'गोरख्याणी' से नहीं, बल्कि कमायूँ के राजा के आक्रमण से है, और इसका आधार गढ़वाल में गाये जानेवाला एक गीत है। पर यह ठीक नहीं कहा जा सकता कि यह किस राजा के आक्रमण के समय का गीत है। हो सकता है, यह संवत् १७७७ के क़रीब की बात हो, जब राजा जगतचन्द ने श्रीनगर पर चढ़ाई कर उसे लूटा था, या सन् १७०३ और १७०७ या उससे भी आगे की लड़ाइयों से यह गीत सम्बन्ध रखता हो। पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि गीत बहुत पुराना है और इससे भी इतिहास की एक छिपी हुई वार्ता की झलक दृष्टिगोचर हो जाती है। गीत का आशय इस प्रकार है—

कमायूँ के राजा ने गढ़वाल पर आक्रमण किया, उसकी सेनाएँ बढ़ती चली आ रहीं थीं। उसी सेना का एक सेनानायक काला[1] अपनी सेना को लेकर

---

1. हो सकता है इस सेनानायक का नाम काला न होकर दूसरा रहा हो, और काली कुमाऊँ के होने से लोग इनको काला कुमय्याँ कहते हों।

विजय और लूटपाट करता हुआ देवप्रयाग के समीप कुण्डी गाँव तक पहुँच गया और कुछ दिन के लिए वहाँ पड़ाव डाल दिया। यह देवप्रयाग उन दिनों की राजधानी श्रीनगर से ११ मील और हरद्वार से ४८ मील है। कुण्डी यहाँ से क़रीब तीन मील है। देवप्रयाग प्रसिद्ध तीर्थ है और बदरीनाथ के रास्ते में पड़ता है।

इधर से गढ़वाल के राजा ने भी अपने वीर सेनानी दयालू झींजाणा को इनके मुक़ाबले को भेजा। इस सेनानी का गाँव गंगा के उस पार था और वह देवप्रयाग में रस्सी के झूले (उन दिनों पक्के पुल नहीं थे, और रस्सियों के बने हुए पुल को झूला कहा जाता था) को पारकर घुड़ेत गाँव में पहुँच गया। उसका इरादा था कि हम सीधे कुण्डी की ओर न जाकर बग़ल के रास्ते घुड़ेत होके जायँगे और कुमावनी सेना पर चुपके से आक्रमण कर उसे खदेड़ देंगे और विजयी होकर लौट जायँगे।

किन्तु उधर वीर काला के गुप्तचर भी चुप नहीं बैठे थे। उन्हें पता लग गया कि हमारे मुक़ाबले को दयालू झींजाणा सेना लेकर आ रहा है और वह कुण्डी से क़रीब दो मील घुड़ेत गाँव में पहुँच चुका है। फिर क्या था, काला ने भी रातोरात अपनी सेना सजाई और रात ही घुड़ेत से एक मील दूर पहाड़ की चोटी मैठाँग में आकर छिप रहा, और आक्रमण की प्रतीक्षा करने लगा। उन दोनों सेनाओं की तैयारी तथा लड़ाई का वर्णन इस गीत में बड़े सुन्दर ढंग से किया गया है। पाठकों के मनोरंजनार्थ उस गीत की कुछ पंक्तियाँ मैं यहाँ दे रहा हूँ—

दयालू झींजाणो ढालुड़ी ढसकौन्द
घुड़ेत ऐ गये ढालुड़ी ढसकौन्द॥ १ ॥
घुड़ेत की देवी ढालुड़ी ढसकौन्द
तोई थोलो देवी ढालुड़ी ढसकौन्द॥ २ ॥
चौंख्याभौरचा बेला ढालुड़ी ढसकौन्द
जो जीती ऐ जौलो ढालुड़ी ढसकौन्द॥ ३ ॥

× × ×

वो कालो कुमाँया ढालुड़ी ढसकौन्द
रौंतेलो की फौज ढालुड़ी ढसकौन्द
मैठाँग ऐ गये ढालुड़ी ढसकौन्द॥ ४ ॥

अर्थात्—दयालू झींजाणा अपनी ढाल से सुरक्षित होकर घुड़ेत पहुँच गया है और वहाँ की ग्रामदेवी दुर्गा से मानता मान रहा है। मा, अभयदात्री दुर्गे! यदि विजयी होकर लौटा तो तुझे महिष तथा बकरों की बलि प्रदान कर तेरी पूजा करूँगा॥ ३॥

× × ×

और इधर काला कुमायाँ और रौतेलों की फ़ौज भी अपनी ढाल से सुरक्षित होकर मैठाँग पहुँच गये हैं॥ ४॥

तख का ले उठा ढालुड़ी ढसकौन्द
चोरगली ऐ गैने ढालुड़ी ढसकौन्द॥ ५ ॥

अर्थात्—वहाँ से चलकर दोनों सेनाएँ चोरगली पहुँच गई॥ ५॥

यह गीत की पंक्तियाँ हैं।

दूसरे दिन सुबह दयालू की फ़ौज ने घुड़ेत से प्रस्थान किया। घुड़ेत गाँव उस पहाड़ के मध्य में है, और वहाँ से ऊपर आने को काफ़ी चढ़ाई चढ़नी पड़ती है। वीर दयालू ने ठीक ही सोचा था कि बग़ल से आक्रमण करूँ। सामने दूसरे रास्ते कुण्डी जाने से तो पता लगने का भय था, पर उसे क्या पता था कि दुश्मन को पहले ही मेरी गतिविधि का पता लग चुका है। वह चोरगली पहुँच गया। यह चोरगली घुड़ेत और मैठाँग के बीच है और दो ऊँचे टीलों के बीचोंबीच कुछ दूर तक चली गई है। यह घाटी देवप्रयाग से तीन मील आजकल के ब्रिटिश गढ़वाल के पट्टी कंडवालस्यूँ के सिराला गाँव की सरहद में पड़ती है। उन दिनों वहाँ भयानक जंगल था, और घाटी के बीच होकर पथ पार करना पड़ता था। अब तो वहाँ जंगल काटकर खेत बना लिये गये हैं। पर घाटी ज्यों की त्यों है। इस घाटी की भयानकता के कारण ही इसे चोरगली कहा जाता था।

दयालू झींजाणा चला तो पर विजयश्री उसके भाग्य में नहीं थी। वह अपनी वीरता के ही नशे में चूर था। प्रतिद्वन्द्वी सेना की गतिविधि न ले पाया। उसे भान ही नहीं हुआ कि दुश्मन पास ही टीलों में छिपा बैठा है।

इधर चतुर काला पहले से ही चोरगली के टीले पर सेनासहित आकर छिप गया। झींजाणा की फ़ौज जब गली के बीचोंबीच पहुँची तो कुमावनी सेना ने एकाएक उस पर धावा बोल दिया और पत्थर बरसाने शुरू कर दिये। इस अचानक आक्रमण से झींजाणा की फ़ौज घबरा गई और उसमें भगदड़ मच गई। झींजाणा को अब अपनी असावधानी ज्ञात हुई, पर अब क्या हो सकता था। वे ऊपर टीले पर थे और ये तंग घाटी

में। पर तब भी भींजाणा घबराया नहीं। उसने सेना को साहस बँधाया और डटकर मुक़ाबला करते-करते आमने-सामने हो गये। तलवारें चलीं, पर दयालू की अधिकांश फ़ौज पत्थरों से ही कुचल दी गई थी। आख़िर लड़ाई करते-करते ही वीर भींजाणा और उसके साथी अपने गढ़वाल की रक्षा करते-करते उसी चोरगली में वीर-गति को प्राप्त हो गये। विजयश्री कुमावनी सेना के हाथ रही। गीत यहीं समाप्त हो जाता है।

कहा जाता है, वहाँ से विजयी कुमावनी सैनिक देवप्रयाग की ओर चले और गंगातट पर पहुँचे। पर देवप्रयाग के नागरिकों ने इस भय से कि ये सैनिक नगर न लूटें, भूले की रस्सियाँ काट दीं और भूला बेकाम बना दिया। सेना उसी पार पड़ी रही।

पर सेना के लोग उस पार जाकर श्रीरघुनाथजी का दर्शन और अलकनन्दा, भागीरथी का सङ्गम-स्नान करना चाहते थे। इसलिए उन्होंने पत्थर पर बाँधकर एक सन्देश पार के नागरिकों को भेजा कि हम विश्वास दिलाते हैं कि हम नगर नहीं लूटेंगे, सिर्फ़ दर्शन-स्नान करके लौट जायँगे। आख़िर नगरनिवासी मान गये और उन्होंने भूला बाँधने में सैनिकों को मदद दे दी। सेना वहाँ पहुँची, स्नान-दर्शन कर पड़ाव की ओर लौट चली। आगे क्या हुआ, इतिहास ही यह बता सकता है।

हाँ, पर, उस रक्तस्नात चोरगली का सन्नाटा अब भी भाँय-भाँय करके पथिकों के हृदय में भय-संचार करता रहता है। उस गली में आते-जाते पथिकों को दयालू भींजाणा के गीत की याद दिलाता रहता है। वे टीले मानव की भूल पर अट्टहास करके हँसते-से मालूम पड़ते हैं!

चाँदनी में

श्रीगोपाल शर्मा बी० ए०

चाँदनी है, बह रही वातास शीतल,
ओसभीनी हो रही है घास झलझल।

* * * *

बाँध मन की व्यग्रता पाथेय में अब,
रे विदा होते दिवस के, विश्व थककर—
गोद में जैसे रुपहली यामिनी की
हो गया है मौन सुख की साँस भरकर।
श्रम-शिथिल हूँ मैं; वहाँ तट की शिला पर
एक रह-रहकर लहर छहरा रही है।
और उपवन से जुही फैला सुरभि-कर
प्राण मेरे प्यार से सहला रही है।
भान होता है कि उस धुँधले सिरे पर—
दूर, निशि की शान्ति में कब से न जाने,
मत्स्यबाला-सी सुनी अब तक न देखी
भर रही है स्वर मधुर मुझको बुलाने।
किन्तु मैं अब तक नहीं कुछ सुन सका हूँ
एक झंझा छा रही थी, घोर, मुझ पर।
हर समय रे द्वार तक आकर वहीं से
लौट जाते थे स्वयं भयभीत वे स्वर।
आज जब शशिरश्मियों के चुम्बनों पर.
हँस रहे हैं कुमुद-दल दृग खोल धीरे,
आम पर प्रतिपल जगाती जा रही है
लाख मौरें जब हवा मधुमास की रे।
वह, अचानक घुल अरे मेरे लहू में—
रागिनी, रोमाञ्च बनकर आ रही है।
विश्व की हर सीप का सोया हुआ अब
ताल पर मोती हिलाती जा रही है।
रङ्ग ले मन और उपवन की उमङ्गें,
कर रही हैं सत्य-पट पर स्वप्न-रचना।
तत्त्व मेरे हो गये सहसा विकल हैं
खोजने स्त्री-रूप सामञ्जस्य अपना।

चाहती है आज मेरी ही कठनता
बाँध ले नवनीत मृदु कोई उसे क्षण,
और जो अस्तित्व में मेरे कमी है!
हो उठे स्पन्दित कि वह धरकर सुघर तन।
क्या यही स्वर थे प्रिये जिन पर अचानक
राधिका के गाल हो जाते अरुणतर?
क्या यही वह प्रेरणा थी, वर्ष चौदह,
उर्मिला को थी जिलाए प्राण बनकर?
यदि यही है प्रेम, तो कितना मधुर है!
इन्द्रधनु-सा व्याप्त संसृति में, रँगीला,
स्वर्ग की कोई किरण ले सरस-मन-घन
खींच देती रूप है जिसका छबीला।
प्रेम के इन मधुक्षणों में मत बुलाना
स्मृति-झरोखे खोलकर ओ दुर्ग खँडहर!
मन कि घर के सामने स्थिर अश्व-जैसा
है अतत्पर घूमने इतिहास-पथ पर।
और वह इतिहास-पथ, जिसके किनारे
दम्भ, प्रतिहिंसा, घृणा, तृष्णा, पुरातन
वे सदा भूखे भयानक भिक्षुकों से,
माँगते हैं रोज़ मानव-मांस-भोजन।
मत परे की पूछना सप्तर्षि इस पल!
प्रश्नसूचक चिह्न बनकर क्षितिज-द्वारे,
मैं अधर पर धर उँगलियाँ फेंक दूँगा
एक चुम्बन-प्रश्न का उत्तर तुम्हारे!
खोल कदली-दण्ड की तह-सा, प्रकृति-स्तर
श्वेतकेतु थका हुआ, है माँगता अब—
"सोम दो, कुछ घूँट, कोई सोम दो रे!
पार पाना है असम्भव है असम्भव!"
चाँद नभ में है, धरा पर एक मर्मर।
गिरि, कुचों से हैं खड़े नभ वक्ष सन्मुख,
चाहता हूँ कुञ्ज केशों की बनाकर,
भोग लूँ मैं भी किसी के प्यार का सुख।

* * * *

चाँदनी है बह रही वातास शीतल,
ओसभीनी हो रही है घास झलमल।

अनुरोध

साहित्यवाचस्पति पं० परमानन्द शास्त्री

विभावना अलंकार के सम्बन्ध में विभिन्न आचार्यों ने विभिन्न मौलिक विचारों से साहित्य-क्षेत्र को पल्लवित किया है। उन विचारों के संघर्ष से कुछ हमारे विचार भी विकसित हुए। इन विचारों को उन विचारों के साथ सहिष्णु सामाजिकों की सेवा में प्रस्तुत करने की चिरकाल से उत्कट उत्कंठा थी। सुयोगवश उन्हीं दिनों चतुर्वेदीजी का एक लेख निकला। उसकी आलोचना के रूप में हमने अपने विचारों को विनियुक्त करते हुए समर्थ साहित्यिकों से, जो इस प्रसंग में निकष हैं, कुछ याचना प्रकट की। इसी परम्परा से हमारे दो दीर्घ दीर्घतर निबन्ध माधुरी के अनेक कालमों पर लीपा-पोती कर चुके हैं।

पंडितेंद्र जगन्नाथ ने अप्पय्य दीक्षित की कृति में जिन दोषों की उद्भावना कर किसी सहृदय से जो आशा की थी, उसी स्तुत्य आशा को लेकर प्राचीन आचार्यों के मत में जो दोष हमें दिखाई दिये, उनकी विवेचना करते हुए हम समर्थ पाठकों की सेवा में प्रस्तुत हुए थे। पंडितेंद्र की आशा का आभास इन शब्दों में मिलता है—

सूक्ष्मं विभाव्यमय्यका समुदीरितानाम्
अप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम्।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्यात्
तस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि !!!

इस विषय में हमारा और पंडितेंद्र का केवल इतना ही अन्तर रहा है कि उनके सामने किसी को चूँ तक करने का साहस न हो सका। यद्यपि उनके समनन्तर उनकी आलोचना की प्रत्यालोचनाएँ हुईं, तथापि इनसे उनका खंडन हुआ कि नहीं, पंडितेंद्र अपने नख-पांडित्य का कैसा अनोखा दृश्य दिखाते, यह सब कुछ तिमिराच्छन्न है। हमें, परन्तु, भगवान् ने यह सौभाग्य दिया है कि हम 'ननु नच' के द्वारा अपने अभिप्राय को और अधिक स्पष्ट रूप से समर्थ पाठकों की सेवा में उपहृत कर सकें और यह आशा रख सकें कि हम और हमारे प्रतिपक्षी जो जो कह रहे हैं, उनमें किसकी उक्ति में सार है?

इस प्रसंग में हमें केवल यही खेद हो रहा है कि जिस शैली से हमारे विचारों का उपक्रम हुआ था, उस शैली से उपसंहार तो नहीं, साक्षात् संहार करने का प्रयत्न किया गया है। यह इस समय केवल ऐसे विवाद के भय से स्थगित-सा किया जा रहा है, जो उर्वर साहित्य-क्षेत्र में नितरां अवांछनीय है। हम केवल इसी लिए अपनी समुत्सुक स्रोतस्विनी लेखनी से भी इस समय पंडितेंद्र के ही इस पद्य का अवलम्बन कर शान्त रहने का अनुरोध कर रहे हैं—

तावत् कोकिल ! विरमान्
यापय दिवसान् वनान्तरे निवसन्।
यावन्मिलदलिमालः
कोऽपि रसालः समुल्लसति !!!

इस तरह धोने से फटखे जाने के नुकसान से बचाव होता है

छेद, उधेड़ या फट जाना......
यदि कपड़ों को स्वच्छ करने के लिए उन्हें पुराने तरिके से कूटा जायगा तो कपड़ों को ऐसा अनावश्यक (और खर्चीला) नुकसान पहुँचता रहेगा।

1

2

3

4

इन चित्रों को देखिये, ये आपको बिना नुकसान पहुँचाए कपड़ों को धोने का तरीका बताती हैं।

(१) जिस कपड़े को धोना हो उसे पहले खूब भिगो लीजिए। यह आप नल के नीचे, टब में, तालाब में या नदी में कर सकते हैं-इससे कोई फर्क नहीं पडता। (२) जब कपड़े को खूब भिगो चुकें तो सारे कपड़ें में सनलाईट साबुन मलें। जो भाग अधिक मैला हो वहां सनलाइट जरा ज्यादा मलें। (३) साबुन लगे हुए कपडे को हाथों से धीरे-धीरे गूँथिये। (इसे कूटिये नहीं) तबतक गूँथिये (ठीक उसी तरह जैसे रोटी का आटा गूँथा जाता है) जब तक साबुन की झाक कपडे के हरेक तन्तु में प्रवेश पाजाए। कपड़े को जोर से रगड़ने की या बुरीतरह कूटनेकी अवश्यकता ही नहीं है। सनलाइट का "स्वयंकाम करनेवाला" फेन सरलता से सारे मैल को बाहर निकाल देगा-यदि आपको यह विश्वास हो जाये की गूँथने से यह फेन कपडे के मैल में घुस चुका है। इस शक्तिशाली फेन में जो साबुन है वह मैल को धूते ही तत्काल फुला देता है। फेन उसे जज़ब कर लेता है। ऐसे जब आप कपड़े को खूब धोऐंगे तो फेन के साथ २ सब मैल निकल जायेगा। (४) फेन-जिसमें की अब सारा मैल आचुका है-छुटाने के लिए कपड़े को खूब मलकर धो डालिए।

ऐसे सनलाइट के तरीक़े से धोए हुए कपड़े बहुत समय तक चलते हैं।

सनलाइट साबुन कपड़ों की बचत करता है

SUNLIGHT SOAP

LEVER BROTHERS (INDIA) LIMITED

S-74-23 III

परीक्षा

श्रीराजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

(१)

"वाह ! अभी तक तुम्हारा काम समाप्त नहीं हुआ ? पाँच बज गये !"

ब्रजराज बाबू एकाग्रचित्त से एक लेख का संशोधन करने में लगे हुए थे। पत्नी माया के तीखे स्वर की झनकार उनके तन्मयता के दुर्भेद्य दुर्ग को तोड़कर कानों के भीतर प्रवेश नहीं कर सकी।

माया अपने पति के स्वभाव को जानती थी। अब की और कुछ ऊँचे स्वर में उसने कहा—कैसी आफ़त है । मैं चीख़ रही हूँ और आप सुनते ही नहीं।—अजी, सुनते हो ?

ब्रज बाबू ने आँख उठाकर विस्मित दृष्टि से पत्नी की ओर देखा। उनके मुख पर प्रसन्नता की चमक आ गई। बोले—क्या मुझसे कुछ कह रही हो ?

माया को हँसी आ गई। लेकिन हँसी को दबाकर तीखे स्वर में उसने कहा—तुमसे नहीं कह रही हूँ तो और कौन यहाँ बैठा है, जिससे कहूँगी ? तुम भी ख़ूब आदमी हो !

लाल स्याही में डूबी हुई क़लम को रोककर ब्रजराज ने मुसकिराकर कहा—क्या कहती हो ?

माया ने कहा—तुम भी ख़ूब हो ! आज छः बजे चीत्पुर रोड जाना है, इसका होश ही तुमको नहीं है ? नन्हे इतना कह गया था, सो क्या भूल गये ?

अब मामला ब्रज बाबू की समझ में आया। सामने रक्खे हुए लाल स्याही से चित्रित लेख की ओर देखते हुए ब्रज बाबू ने कुछ असमंजस के साथ कहा—लेकिन अभी तो मेरा जाना हो नहीं सकता माया। इस लेख को अभी काटकूटकर ठीक करके छापेख़ाने भेजना बहुत ज़रूरी है। नहीं तो काम रुक जायगा। कल सवेरे कम्पोज़ करने को कुछ नहीं है। इस लेख के लिए बाहर बैठक में छापेख़ाने का आदमी बैठा है। एक घंटे के बाद मुझे इससे छुट्टी मिलेगी।

अब की माया टेबिल के सामने आकर खड़ी हो गई। उसने स्थिर दृष्टि से स्वामी के मुख की ओर ताककर कहा—लेकिन मैं तो अब ठहर नहीं सकती। मुझे तो दोपहर को ही चले जाना चाहिए था। आज नन्हे की बरसगाँठ का दिन है। मैं बहन होकर भी अगर सबके बाद पहुँचूँगी तो क्या अच्छा लगेगा ? नन्हे का तुम्हारा सम्बन्ध साले-बहनोई का नहीं है। वह तुम्हारा शिष्य भी है। तुमको तो सबके पहले पहुँच जाना चाहिए था।

ब्रज बाबू ने दीवार में लगी हुई घड़ी पर एक लाचारी की नज़र डालकर कहा—लेकिन—लेकिन—अच्छा, एक काम करो। तुम मनुआ (नौकर) के साथ तब तक चलो। मैं इस लेख को यथासम्भव जल्दी ही ठीक करके अभी आता हूँ।—नाराज़ न होना; यह लेख अभी देखकर न भेजूँगा तो पत्रिका तीन दिन लेट हो जायगी। यह लेख अब की ज़रूर चला जाना चाहिए।

माया ने तिनककर कहा—कौन ऐसा ज़रूरी लेख है कि उसे अभी ही ठीक न करोगे तो सब चौपट हो जायगा ? लौटकर ठीक कर लेना और सवेरे भेज देना।

ब्रज बाबू ने ज़ोर देकर कहा—यह नहीं हो सकता जी ! आदमी बैठे रहेंगे। सवेरे यह लेख लेकर कौन प्रेस जायगा। अब तक मैं आधा लेख शुद्ध कर चुका होता। जाओ, तुम मनुआ को लेकर मोटर पर चली जाओ। मैं न होगा, ताँगा कर लूँगा।

माया ने कहा—हाँ, हाँ, सो मैं जानती हूँ। मेरे साथ बाहर कहीं जाना अब तुम्हें अच्छा नहीं लगता ! देखूँ, किसका लेख है ?

कहने के साथ ही माया ने लेख को उठा लिया और देखने लगी। उसके चेहरे पर विद्रूप की हास्य-रेखा खिंच गई। तिरछी दृष्टि से पति की ओर ताकते हुए माया ने कहा—श्रीमती कल्याणीदेवी ! एक औरत का लेख है, इसी से इतना तन्मय हो रहे हो ! लेखिका तुम्हारी जान-पहचान की है क्या ?

सम्पादक ब्रजराज बाबू ने सजधज किये हुए सुन्दर वेषवाली पत्नी की ओर स्थिर दृष्टि से देखकर निःस्पृह भाव से कहा—नाममात्र से परिचय है, आँखों से कभी नहीं देखा। सम्पादकों के पास इस तरह से कितने ही लेख आया करते हैं। इनका लेख अच्छा है और दो-तीन महीने से पड़ा हुआ है। मैंने इसी

अंक में इसे छापने का वादा कर लिया है। पढ़कर देखो, बड़ी अच्छी संयत रचना है।

माया के विशाल नेत्रों की दृष्टि कई सेकिंडों तक स्वामी के मुख पर स्थिर भाव से टिकी रही। उसकी नासिका से एक लम्बी साँस निकलने को हुई; पर न जाने किस प्रचण्ड बाधा से टूट-टूटकर धीरे-धीरे बाहर निकली।

व्रज बाबू की दृष्टि उस समय उसी लेख के ऊपर जमी हुई थी। वह एकाग्र मन से उसका संशोधन करने में लगे थे।

माया कमरे से निकलकर अपने भाई के यहाँ चली गई। कुछ दिनों से व्रज बाबू के प्रेमपरिपूर्ण स्वच्छ दाम्पत्य जीवन पर हलके असन्तोष की धुँधली छाया पड़ने लगी थी। माया के मन में यह सन्देह घर करता जा रहा था कि वह स्वामी के हार्दिक सहयोग और साहचर्य को खोती-सी जा रही है।

व्रजराज बाबू पिता की एकमात्र सन्तान थे। उनके पिता की सम्पत्ति काफ़ी थी। पिता की मृत्यु के बाद वही उसके मालिक हुए। उनका ब्याह हुए थोड़े ही दिन हुए थे। जवानी की शुरुआत थी। उन दिनों सुन्दरी प्रियतमा पत्नी के पास रहने में ही उन्हें अपार सुख मिलता था। पति और पत्नी दोनों एक दिन के लिए भी अलग नहीं रह सकते थे। कहीं जाना होता था तो साथ ही जाते थे। इष्ट मित्र और नाते-रिश्तेदार उदाहरण के रूप में इन दोनों का उल्लेख करते थे।

नायब-गुमाश्ते जायदाद का काम-काज देखते थे और व्रज बाबू पत्नी के मुखचन्द्र के चकोर बने रहते थे। जायदाद होने पर उसके सम्बन्ध में मुक़दमेबाज़ी का होना भी अनिवार्य होता है। नतीजा यह हुआ कि बैंक में जो रुपये जमा थे, उनके अंक भी घटने लगे। तब मुक़दमेबाज़ी से ऊबकर व्रज बाबू ने इधर-उधर बिखरी हुई जायदाद को बेचकर नक़दी जमा कर लेना ही उचित समझा। माया की भी यही राय ठहरी। व्रज बाबू ने कलकत्ते के कुछ मकानों को, जो किराये पर उठते थे, रख लिया, और बाक़ी जायदाद बेच डाला। इससे जो मोटी रक़म हाथ लगी, उसे उन्होंने बैंक में जमा कर दिया। उन्हें जन्म से ही साहित्य-सेवा का शौक़ था। उस शौक़ को पूरा करने के लिए उन्होंने एक छापाख़ाना खोलकर उससे एक मासिकपत्रिका निकालना शुरू कर दिया। आज दस साल से वह "साधना" नाम की मासिक पत्रिका निकाल रहे थे।

उनके परिवार में स्त्री और एक कन्या थी। कन्या सुलेखा का ब्याह उन्होंने एक सुपात्र के साथ कर दिया था। दामाद सरकारी नौकर है। दिल्ली में रहता है। वह एक सरकारी ऊँचे ओहदे पर है। तनख़्वाह भी अच्छी है।

किन्तु जायदाद की देखरेख के झंझट से छुटकारा मिलने पर भी मासिक पत्र को नियमित निकालने और उसकी उन्नति करने की चिन्ता सिर पर सवार रहती है। पहले की तरह हर घड़ी पत्नी के पास रहने और प्रेम जताने का अवसर अब उन्हें कम मिलता है। घर में रहते हैं तो डाक देखने, पत्रों का उत्तर देने और लेख पढ़कर उनका संशोधन करने से अवकाश नहीं मिलता और प्रेस में लेखकों, पाठकों और ग्राहकों से मिलने तथा प्रेस और पत्र का प्रबन्ध करने में सारा समय बीत जाता है। मतलब यह कि पत्नी के साथ एकान्त में अपनी कहने और उसकी सुनने का मौक़ा बहुत कम मिलता है।

इससे माया यह समझने लगी कि उसके प्रति स्वामी का आकर्षण अब घट रहा है, स्वामी उससे दूर हटते जा रहे हैं। उसके और स्वामी के बीच मासिक पत्र, लेखक और पाठकवर्ग क्रमशः एक दीवार सी खड़ी करते जा रहे हैं। व्रज बाबू भी कभी-कभी इस परिवर्तित परिस्थिति पर विचार करते थे। वह कभी यह अनुभव करके कुछ खिन्न भी होते थे; किन्तु सम्पादन का, साहित्य-सेवा का नशा जो उन पर चढ़ा था, उसमें कमी नहीं हो पाती थी। भुक्तभोगी के सिवा और कोई इस अवस्था को नहीं समझ सकता।

लेख का संशोधन समाप्त करके कापी चपरासी को देकर व्रज बाबू ने देखा। साढ़े छः बज चुके थे। चटपट हाथ-मुँह धोकर कपड़े बदलकर जब वह चीत्पुर जाने-वाली ट्राम पर जाकर बैठे, उस समय गत दस वर्ष के जीवन की घटनाएँ सिनेमा-चित्रों की तरह उनके मानस-पटल पर फिरने लगीं।

(२)

चैत का महीना था। आकाश में बादल का नाम-निशान भी नहीं था। घोर उमस के मारे लोग त्राहि-त्राहि कर रहे थे। व्रज बाबू बाहर की गरम हवा के झोंकों से बचने के लिए कमरे की खिड़कियाँ बन्द किये बिजली के पंखे के नीचे बैठे थे। आज काम करने को उनका जी नहीं चाहता था। तापमानयंत्र १०६ डिग्री गर्मी बता रहा था। मासिक पत्रिका कल प्रकाशित हो चुकी थी। आज कुछ विशेष काम भी नहीं था।

भोजन से छुट्टी पाकर माया कमरे में आई। स्वामी को पान देकर गर्मी की अधिकता पर मामूली टीका-टिप्पणी करने के बाद माया ने कहा—अब की हरिद्वार में कुम्भ का मेला है। मेरी बड़ी इच्छा है कि मैं भी जाऊँ। बोलो, चलोगे ?

व्रज बाबू ने कहा—राम कहो। कैसी बेवक़ूफ़ी की बात कर रही हो ? हरिद्वार में यों ही भीड़ रहती है। फिर कुम्भ का क्या कहना। यह विचार छोड़ दो। तुम नहीं जानतीं, कुम्भ और कालरा का साथ होता है। क्या जान फ़ालतू है ?

मुख पर अप्रसन्नता का भाव लाकर माया ने कहा—तुम ऐसी ही बातें किया करते हो। जब मैं कहीं जाने का नाम लेती हूँ तो बस तुम कोई न कोई बहाना न जाने का निकाल लेते हो। परसाल पुरी चलने के लिए कहा तो तुमने यही कालरे का डर दिखाया। असल बात यह है कि तुम मुझे साथ लेकर कहीं जाना ही नहीं चाहते। अब की मैं तुम्हारा कोई बहाना नहीं सुनूँगी। छत्तीस वर्ष बाद यह कुम्भ पड़ता है। तुम्हें हरिद्वार चलना ही पड़ेगा।

पत्नी के दृढ़निश्चयव्यंजक मुख की ओर देखकर व्रज बाबू हँस दिये। बोले—बड़ी भीड़ होगी माया। ऐसी भीड़ में जाना ठीक न होगा। जाना ही है तो कार्त्तिकी पूर्णिमा को तुम्हें हरिद्वार नहला लाऊँगा।

माया ने कहा—तुमको पत्र निकालते दस वर्ष हो गये। एक बार भी कहीं बाहर गये हो ?

व्रज बाबू ने कहा—फ़ुरसत ही नहीं मिलती। मेरा क्या दोष ?

माया ने कहा—जाने को तुम्हारा जी ही नहीं चाहता। जी चाहे तो फ़ुरसत होते कितनी देर लगती है ? ख़ैर, अब तक नहीं गये तो नहीं गये; पर अब ज़रूर चलना पड़ेगा।

व्रज बाबू पत्नी का हठ देखकर घबराये। बोले—देखो, मैंने अख़बार में पढ़ा है कि इस बार कुम्भ में भारी भीड़ हो रही है। कालरा शुरू हो गया है। इसलिए जाना ठीक नहीं। अगर वहाँ तुमको कुछ हो गया—

हँसकर माया ने कहा—फिर वही बहानेबाज़ी ! ख़ैर, अगर मुझे कुछ हो गया तो अच्छा ही होगा। स्त्री के लिए इससे बढ़कर सौभाग्य की बात और क्या होगी ?—तुम क्यों इससे घबराते हो। तुम अभी जवान हो, विद्वान् हो, प्रसिद्ध सम्पादक हो; धनी भी हो। कितने ही लड़कियों के बाप ख़बर पाते ही तुम्हारे दरवाज़े पर आकर धरना देंगे।

हँसमुख पत्नी के हृदय से व्रज बाबू सुपरिचित थे। माया प्रायः बातों-बातों में इस तरह की दिल्लगी किया करती थी। इसी लिए इस बात को उन्होंने गम्भीर रूप में ग्रहण नहीं किया। नौकर हुक़्क़ा भरकर रख गया। वह लेटकर हुक़्क़ा गुड़गुड़ाने लगे।

माया ने कहा—अब दिन थोड़े ही रह गये हैं। अब की कुम्भ में तीन नहान हैं। पहला नहान तो हो गया। दो नहान और बाक़ी हैं।

व्रज बाबू चुपचाप कश पर कश खींचने लगे।

माया ने कहा—बोलते क्यों नहीं ? किस दिन चलोगे ?

व्रज बाबू ने धीमे स्वर में कहा—लेकिन पत्रिका की संख्या निकाले बिना मैं कैसे जा सकता हूँ। तुम जानती हो, महीने के अन्त में पत्रिका निकलती है। आख़री हफ़्ते में तो दम मारने की भी फ़ुरसत नहीं रहती।

माया ने कहा—क्यों, आपके सहकारी मोहन बाबू तो हैं। वह क्या एक महीने की पत्रिका भी अकेले नहीं निकाल सकते ?

व्रज बाबू ने कहा—देखो, यह संख्या नये वर्ष की पहली संख्या होगी। इसे विशेष रूप से उत्कृष्ट बनाना होगा, नई सजधज से निकालना होगा। इसका भार अकेले मोहन बाबू पर नहीं छोड़ा जा सकता। इसके सिवा एक सम्पादकीय लेख और टिप्पणियाँ मुझे ही लिखनी पड़ेंगी। बाक़ी केवल आठ ही दिन हैं।

माया ने तिनककर कहा—तो तुम मुझे नहीं ले जाओगे ? तुम मुझसे पत्रिका को अधिक समझते हो ! अच्छी बात है, अगर तुम मेरे साथ जाना नहीं चाहते, मेरे साथ जाना तुम्हें अच्छा नहीं लगता तो तुम न जाओ। तुम्हारे मित्र सुन्दरलाल जा रहे हैं, मेरी सहेली उनकी स्त्री भी जा रही है। मैं उन लोगों के साथ जाऊँगी।

माया अधिक उत्तेजना के मारे उठ खड़ी हुई। पत्नी का हाथ पकड़कर व्रज बाबू ने बिठा लिया। प्रेमपूर्ण स्वर में उन्होंने कहा—तुम मेरी अर्धाङ्गिनी होकर भी ठीक-ठीक मेरी बात को नहीं समझ रही हो। यह सच है कि मैं किसी का नौकर नहीं हूँ; पर अपनी पत्रिका के पाठकों के प्रति मेरी ज़िम्मेदारी तो है। उन्हें ठीक समय पर अच्छी से अच्छी चीज़ मिलनी चाहिए। वे मेरी सुविधा-असुविधा का ख़याल क्यों करें; क्योंकि

वे ठीक समय पर पत्रिका का मूल्य दे देते हैं। इसके सिवा तुम्हारा स्वास्थ्य भी तो ठीक नहीं है; तुम्हारा हृदय कमज़ोर है। ऐसी भीड़ में तुमको भेजना मैं किसी तरह ठीक नहीं समझता। तुम समझदार हो और बालिका भी नहीं हो। नासमझी न करो। मैं तुमसे प्रार्थना करता हूँ, कुम्भ में जाने का विचार छोड़ दो। कार्त्तिकी पूर्णिमा को जब भीड़ न होगी, मैं तुमको अवश्य ले चलूँगा।

स्त्री का, राजा का और बालक का हठ तो प्रसिद्ध ही है। माया के ऊपर पति के समझाने का कुछ भी असर नहीं हुआ। उसने दृढ़ स्वर में कहा—मैं अवश्य जाऊँगी। सुन्दरलाल बाब की स्त्री अभी आती होंगी। मैं उनसे जाने का वादा कर चुकी हूँ।

इतने ही में बाहर एक ताँगा आकर रुका और सुन्दरलाल व उनकी स्त्री सावित्री भीतर आईं। माया और सावित्री, दोनों एक ही स्कूल में पढ़ी थीं; इसलिए दोनों में गहरी मित्रता थी।

सावित्री ब्रज बाबू से पर्दा नहीं करती थीं। उन्होंने आते ही माया से कहा—बहन, गाड़ी में सीट रिज़र्व करा ली है। कल चलना होगा।

ब्रज बाबू ने सुन्दरलाल से पूछा—तुम लोग क्या सचमुच जा रहे हो?

सुन्दरलाल ने कहा—जाना ही पड़ेगा भाई! मालकिन का कड़ा हुक्म है, मानना ही पड़ेगा।

सावित्री ने ब्रज बाबू से कहा—आप भी चल रहे हैं न? हमने पूरा कंपार्टमेंट रिज़र्व करा लिया है। कोई कष्ट न होगा।

माया ने रूखे स्वर में कहा—वह नहीं जायँगे। उनकी पत्रिका—

सुन्दरलाल बीच ही में बोल उठे—सो तो ठीक ही है भाभी। यह नववर्षाङ्क निकाले विना ब्रज बाबू कहीं नहीं जा सकते। ख़ैर, कोई चिन्ता न करना भाई। हम लोग भाभी को कोई कष्ट न होने देंगे। इनकी बड़ी इच्छा है, इसलिए रोकना ठीक नहीं। मेरे एक मवक्किल की धर्मशाला हरिद्वार में है। उसमें ऊपर का एक कमरा रहने के लिए मैंने पहले ही से ख़ाली करा लिया है।

ब्रज बाबू ने कहा—मगर—

सुन्दरलाल ने हँसकर कहा—अरे भाई, इसमें अगर-मगर कुछ नहीं है।—भाभी, आप तैयार रहिएगा कल। मैं इधर ही से आपको लेकर स्टेशन जाऊँगा।

(३)

स्टेशन जाकर पत्नी और सपत्नीक मित्र को गाड़ी पर चढ़ाकर ब्रज बाबू घर को लौटे। उनका चित्त प्रसन्न नहीं था। बिदा के समय पत्नी की उदास मलिन दृष्टि ने उनके हृदय में एक उथल-पुथल मचा दी थी। उनके विवाह को बीस वर्ष हुए। इतने दिनों में यही पहला मर्तबा था, जब उन्होंने पत्नी को अकेले परदेस भेजा था। वह एक दिन भी पत्नी को छोड़कर अकेले कहीं नहीं रहे। दूर कहीं नातेदारी से निमन्त्रण आता था तो वह वहाँ अकेले नहीं जाते थे।

घर लौटकर वह अनमने से मासिक पत्रिका के बहुत ज़रूरी कामों को यथासम्भव तेज़ी के साथ करने लग गये। उन्होंने अपने मन में सोचा, अगर दो-तीन दिन के भीतर पत्रिका का सब मेटर तैयार कर लें तो कम से कम आख़री नहान के समय हरिद्वार पहुँच जायँगे। तब उनकी पत्नी उनके मन की व्याकुलता समझ सकेगी। वह अपने मन में सोचने लगे कि उनकी पत्नी यह नहीं समझ पाती कि सैकड़ों कर्तव्यों के बीच भी वह उसको नहीं भूलते।

यह सच है कि इधर दस साल से वह हृदय में छिपे हुए प्रेम का प्रकट परिचय पत्नी को नहीं दे सके। किसी नये काम को सफल बनाने में कल्पनाविलासी, भावुक हृदय की रसमाधुरी को प्रकट करना असम्भव हो जाता है; मनुष्य को संयत होकर कामकाज के प्रवाह में अपने को मग्न कर देना पड़ता है। किन्तु हृदय के गोपन स्थान में प्रियजन के लिए जो आसन रहता है, उस पर पार्थिव जगत् की कोई वस्तु क्षण भर के लिए भी स्थान नहीं पा सकती। उस आसन पर प्रेम [illegible] सजीव मूर्त्ति ही विराजमान रहती है। बाहर के कि[illegible] मनुष्य को उसका पता नहीं होता।

तीसरे दिन रात भर जागकर, कठिन परिश्रम करके, ब्रज बाबू ने पत्रिका का आख़री मेटर भी तैयार कर लिया। उनकी व्यवस्था के अनुसार दूसरे दिन सवेरे से ही ओवरटाइम करके कम्पोज़ीटर कम्पोज़ में जुट गये। ११-१२ बजे ब्रज बाबू जाकर प्रूफ़ देख आवेंगे। बाक़ी सब काम सहकारी-सम्पादक मोहन बाब कर लेंगे।

ग्यारह बजे ब्रज बाबू प्रेस गये। उनके संयत जीवन में ऐसा व्यस्त भाव किसी ने पहले नहीं देखा था। बाहर से धीर और स्थिर देख पड़ने पर भी उनके कार्य और स्वर में चंचलता का आभास मिल रहा था।

दो बजे काम ख़तम करके व्रज बाबू ने अपने सहकारी मोहन बाबू से कहा—आज शाम की गाड़ी से मैं हरिद्वार जा रहा हूँ। मोहन बाबू को सब हाल मालूम था, इसलिए व्रज बाबू की बात सुनकर उन्हें विस्मय नहीं हुआ।

बैंक से रुपये निकालने थे, इसलिए व्रज बाबू मोटर पर बैठकर बैंक चले गये।

मोहन बाबू भी व्रज बाबू के सहपाठी और घनिष्ठ मित्र थे। व्रज बाबू उनसे गृहस्थी के मामलों में भी सलाह लिया करते थे। मोहन बाबू को यह मालूम था कि माया के साथ न जा सकने के कारण व्रज बाबू बहुत उद्विग्न हो रहे हैं। मोहन बाबू ने पत्रिका का आख़री फ़ार्म प्रेस पर छपने के लिए भेज दिया। फ़ाइनल प्रूफ़ हमेशा व्रज बाबू ख़ुद देखा करते थे; पर अब की जल्दी के कारण आख़री फ़ार्म का फ़ाइनल प्रूफ़ उन्होंने नहीं देखा। मोहन बाबू ने बड़ी सावधानी के साथ फ़ाइनल प्रूफ़ को पास करके जब छपने का आर्डर दिया, उसी समय घड़ी में टन-टन करके चार बजे। साथ ही टेलीफ़ोन की घंटी बज उठी। मोहन बाबू ने रिसीवर उठा लिया।

टेलीफ़ोन पर बोलनेवाले के प्रश्न के उत्तर में मोहन बाबू ने कहा—हाँ, वही साधना-कार्यालय है। आप किसे चाहते हैं?—सम्पादक व्रजराज बाबू को? वह तो इस समय आफ़िस में नहीं हैं—आप कहाँ से बोल रहे हैं?

उत्तर सुनकर मोहन बाबू को बड़ा विस्मय हुआ। उन्होंने कहा—कहाँ से? दिल्ली से? आप कौन हैं? सावित्री देवी? बाबू सुन्दरलालजी की धर्मपत्नी? आप तो हरिद्वार गई थीं?—ऐं, क्या कहा, आप आज दिल्ली आ गई हैं—बेटी सुलेखा के पास?

इसके बाद मोहन बाबू ने जो सुना, उससे वह बहुत घबरा गये। उनके हाथ काँपने लगे, माथे पर पसीना निकल आया। मोहनलाल ने भर्राई हुई आवाज़ में कहा—आप क्या कह रही हैं? व्रजराज बाबू की स्त्री का स्वर्गवास हो गया? कैसे? क्या हार्ट फ़ेल हो गया? क्या कहा? दाहकर्म हो गया? हाय भगवान्! बाबूजी तो आज शाम की गाड़ी से हरिद्वार जाने को तैयार थे! यह दारुण समाचार उन्हें कैसे दूँगा? बेटी सुलेखा का बुरा हाल है? क्या कहा, पत्रिका में उनकी मृत्यु का शोक-समाचार छाप दिया जाय? पत्रिका का तो आख़री फ़ार्म मशीन पर है। अच्छा, अच्छा, मैं अभी बाबूजी से जाकर कहता हूँ। वह जो उचित समझेंगे, करेंगे। अच्छा, वन्दे।

काँपते हुए हाथ से रिसीवर को रखकर मोहन बाबू कुछ देर तक कुर्सी पर सन्नाटे में बैठे रहे। पत्नी की अचानक अकालमृत्यु की ख़बर से व्रज बाबू की क्या दशा होगी, इसकी कल्पना करके वह काँप उठे। बारह वर्षों से वह ख़ुद बिना पत्नी के जीवन का कष्ट भोग रहे हैं। पाँच वर्ष से वह अपने एकमात्र बालक का पालन-पोषण करते आ रहे हैं। प्रियतमा पत्नी के वियोग की वेदना कितनी असह्य होती है, इसका उन्हें ख़ुद पूरा अनुभव है। अब भी प्रतिदिन पत्नी का अभाव उनके हृदय को पीड़ित और व्यथित करता रहता है। पत्नी-वियोग से होनेवाला उनके हृदय का घाव अभी तक सूखा नहीं।

पत्रिका के छपने का प्रबंध करके और डिस्पैच के लिए पैकट बनाने का आदेश देकर मोहन बाबू चटपट व्रजराज बाबू के घर की ओर चल दिये। वह गंभीर और कम बोलनेवाले आदमी थे। इस एकाएक आ पड़नेवाली शोचनीय दारुण विपत्ति का हाल उन्होंने आफ़िस में किसी से नहीं कहा। उस समय उनकी मानसिक दशा भी इस लायक़ नहीं थी।

वह एक टैक्सी करके भवानीपुर की ओर चल दिये। भवानीपुर में ही व्रज बाबू का घर था। यह ख़बर किस तरह व्रज बाबू को देंगे, यही उनके लिए एक विकट समस्या थी।

टैक्सी से उतरकर लड़खड़ाते हुए मोहन बाबू ने व्रज बाबू के बाहरी बैठकख़ाने में प्रवेश किया। व्रज बाबू के घर में टेलीफ़ोन नहीं था। हर घड़ी वक़्त-बेवक़्त लेखक लोग अपनी कविता, कहानी और लेखों के छापने का तगादा किया करते थे, इसी से खीझकर माया की सलाह से व्रज बाबू ने घर के टेलीफ़ोन का कनेक्शन कटवा दिया था। मोहन बाबू ने अपने मन में सोचा, टेलीफ़ोन अगर होता तो आज मुँह पर प्रत्यक्ष भाव से यह दारुण ख़बर उन्हें व्रज बाबू को न देनी पड़ती।

मोहन बाबू के आने की ख़बर पाकर व्रजराज बाबू बैठकख़ाने में आये। सहकारी मोहन बाबू के उतरे हुए चेहरे की ओर देखकर उन्होंने पूछा—कैसे आये मोहन बाबू?

मोहन बाबू ने नीची नज़र करके बड़ी मुश्किल से सब हाल धीरे-धीरे कह सुनाया।

व्रज बाबू के सुन्दर मुख की सौम्यश्री दम भर में बदल गई। वह शून्य दृष्टि से केवल ताकते रह गये। उनका गंभीर हृदय इस आकस्मिक आघात से जैसे सुन्न हो गया। प्रचण्ड शोक की आँच ने उनके आँसुओं को भी जैसे सुखा दिया। बड़े यत्न से अपने को सँभालकर व्रज बाबू ने कहा—मुझे हरिद्वार जाना ही होगा। वह तो मेरे लिए अब बहुत बड़ा तीर्थ है।—मोहन बाबू अभी अर्जेंट तार कर दीजिए। मैं आता हूँ, वे लोग मेरी अपेक्षा करें। हाय माया!

मोहन बाबू व्रजराज के पास आकर खड़े हो गये। रूमाल से अपने आँसू पोछकर गद्‌गद कण्ठ से उन्होंने कहा—बाबूजी, मैं भी भुक्तभोगी हूँ। यह कष्ट—

व्रज बाबू ने कहा—आप ज़ाइए मोहन बाबू, जनरल पोस्ट आफ़िस में जाकर अभी तार दे दीजिए।

मोहन बाबू "बहुत अच्छा" कहकर तार देने चले गये।

(४)

एक्सप्रेस गाड़ी अविराम गति से तेज़ी के साथ चली जा रही थी। एकान्त में बैठकर सोचने के लिए, पत्नी के दारुण अभाव की स्मृति का अनुभव करने के लिए व्रज बाबू ने फ़र्स्ट क्लास की एक बर्थ रिज़र्व करा ली थी। एक अँगरेज़ यात्री उस डिब्बे में था। वह भी बर्दवान में उतर गया। व्रज बाबू खिड़की के पास संज्ञाहीन से बैठे रहे।

व्रज बाबू के मन में विचार उठने लगे—वह चली गई? इस तरह एकाएक इतने दिनों के सम्बन्ध को तोड़कर चुपचाप चल दी? अन्तिम समय देख लेने का भी मौक़ा नहीं दिया! उन्होंने माया को अकेले जाने क्यों दिया? अगर न जाने देते तो अन्त समय प्राणों से भी प्यारी पत्नी के पास तो रहते।

साथ चलने के लिए पत्नी की प्रार्थना और आग्रह को याद करके व्रज बाबू व्याकुल हो उठे। उनके हृदय में वेदना उमड़ पड़ी। तुच्छ मासिक पत्रिका के लिए वह अपनी जीवन-संगिनी की अन्तिम प्रार्थना पूरी नहीं कर सके, इस पछतावे की जलन से वह अस्थिर हो उठे।

वह अपने मन में सोचने लगे—मुझे तो किसी बात की कमी न थी। मैंने धन कमाने के लिए तो मासिक पत्रिका निकाली नहीं थी। जो कुछ धन मेरे पास जमा था, वह मेरे निर्वाह के लिए, पति और पत्नी की सब ज़रूरतों को पूरा करने के लिए यथेष्ट था। रह गई साहित्य-सेवा। सो वह तो घर में बैठकर भी अच्छी तरह की जा सकती थी। पत्रों में लेख छप सकते थे; पुस्तकें भी दूसरों के द्वारा प्रकाशित कराई जा सकती थीं। उस हालत में पत्नी की इच्छा पूर्ण करने में—उसे अपने साथ हरिद्वार ले जाकर कुम्भ नहला लाने में कोई बाधा न होती।

किन्तु यह क्या हुआ? अब मन को प्रबोध देने का तो कोई सहारा नहीं रहा। हँसते-हँसते पतिव्रता पत्नी ने गंगा के गर्भ में अन्तिम समाधि ले ली। ओह! अब और नहीं सहा जाता भगवन्!

मा को खोकर बेटी सुलेखा की इस समय क्या दशा होगी? मेरे और माया के एकमात्र सन्तान यही सुलेखा थी। हम दोनों की आँखों की ज्योति और हृदय का धन यही सुलेखा थी। आकृति और प्रकृति में सुलेखा अपनी माता की ही अनुहार है। तीर्थक्षेत्र में जननी के आकस्मिक देहत्याग की वेदना से वह कैसी यन्त्रणा भोग रही होगी, इसका अनुभव व्रज बाबू को अपनी हार्दिक वेदना से ही हो गया। शोक का असीम समुद्र हृदय के भीतर उमड़ पड़ा। अभी तक जो आँसू रुके हुए थे, वे अब बाँध टूट जाने पर नदी के प्रबल प्रवाह की तरह सहस्र धारा में बह चले।

पहले दिल्ली में उतरकर सावित्री देवी से—सुन्दरलाल से माया के मरण का सब वृत्तान्त सुनेंगे; फिर कन्या और दामाद से मिलकर दामाद को साथ लेकर हरिद्वार जायँगे। वहाँ उनकी प्रियतमा जीवन-संगिनी का शरीर भस्म हुआ है। उस पवित्र स्थान पर लोट-पोटकर वह अपने अमार्जनीय अपराध का थोड़ा-सा प्रायश्चित्त करना चाहते हैं।

माया की चिता जहाँ बनी होगी, उस स्थान की थोड़ी-सी मिट्टी वह ले आवेंगे। वही मिट्टी उनके जीवन के अवशिष्ट दिनों का अवलम्बन होगी। इसलिए उन्हें हरिद्वार जाना ही होगा। दामोदर (दामाद) उन्हें वह स्थान बतला देंगे, जहाँ माया का शरीर भस्म किया गया होगा।

कितने ही छोटे-मोटे स्टेशन नाँघती हुई गाड़ी चली जा रही थी। आकाश में तारे निकल आये थे। व्रजराज बाबू की आँखों में नींद नहीं है। वह उन नक्षत्रों की ओर ताककर माया की खोज करने लगे। एक बार ही अगर माया का मुख आकाश में दिखाई पड़ जाय और वह जी भरकर देख लें।

क्षमा करो, क्षमा करो, साध्वी! तुम्हारा अन्तिम

अनुरोध मैं नहीं पूरा कर सका। इस अपराध की आग जीवन भर मुझे जलाती रहेगी। बीस वर्ष से तुम तन और मन से जो मुझे असीम पवित्र आनन्द और स्वर्गीय सुख देती रहीं, वह क्या भूलने की चीज़ है? तुमने निःस्वार्थ भाव से अपना सब कुछ मुझे दे डाला, बदले में कुछ भी नहीं चाहा, कुछ भी नहीं पाया। जान पड़ता है, इसी से रूठकर परदेश में सदा के लिए मुझे दुःख-कष्ट भोगने के लिए छोड़कर स्वर्ग सिधार गईं।

जब मानसिक यन्त्रणा असह्य हो उठी, तब व्रज बाबू उठकर डिब्बे के भीतर टहलने लगे। एक स्टेशन पर आकर गाड़ी ठहरी। उस समय अच्छी तरह दिन चढ़ आया था। हाकर लोग प्लेटफ़ार्म के ऊपर ताज़े अख़बार बेंच रहे थे। व्रज बाबू ने अभ्यासवश हाकर को बुलाकर अमृतबाज़ार पत्रिका ख़रीद ली। पत्रिका के शीर्षकों पर एक बार दृष्टि डालकर उसे एक ओर डाल दिया। अख़बार पढ़ने लायक़ उस समय उनके मन की दशा नहीं थी।

यथासमय दिल्ली स्टेशन पर गाड़ी आकर रुकी। अस्तव्यस्त पैर रखते हुए व्रज बाबू गाड़ी से उतरे। सामान कुछ था ही नहीं। एक ताँगा करके रायसीना की ओर चले। रायसीना में उनके दामाद का डेरा था।

दामाद के घर पर आकर उन्होंने देखा, खिड़की-दरवाज़ा सब बंद। वहाँ कोई नहीं था। पास ही एक मदरासी रहता था। वह भी सरकारी नौकर था। उससे पूछने पर मालूम हुआ कि उनके दामाद कलकत्ते गये हैं। दो महीने की छुट्टी ले गये हैं। अधिक पूछ-ताछ करने योग्य उनकी मानसिक दशा नहीं थी। वह उसी ताँगे पर बैठकर स्टेशन लौट आये। घंटे भर बाद उन्हें कलकत्ते के लिए ट्रेन मिलेगी।

टिकट लेकर व्रज बाबू बेंच पर बैठकर सोचने लगे—अब हरिद्वार जाकर क्या होगा? सुन्दरलाल, सावित्रीदेवी कलकत्ते गये। दामोदर भी सुलेखा को लेकर कलकत्ते चल दिये। अब वह स्थान कौन बतलावेगा, जहाँ उनकी अर्द्धाङ्गिनी का सुकुमार शरीर भस्म हुआ है। माता के वियोग से विह्वल कन्या घर गई है। इस दारुण शोक में उसे सान्त्वना देनेवाला, आँसू पोछनेवाला और कौन है?

कर्त्तव्य अत्यन्त कठोर है। उन्हें कर्त्तव्य का पालन करना ही होगा। व्रज बाबू समझ गये, उनका भेजा हुआ तार दामोदर या सुन्दरलाल को नहीं मिला। वे पहले ही कलकत्ते चल दिये ह[illegible]।

मनुष्य कैसा असहाय, कितना निरुपाय है। वह सोचता कुछ है और होता कुछ है।

विधाता के विधान का लंघन कौन कर सकता है?

(५)

रूखे बाल और सूखे मुख को लिये व्रज बाबू जब कलकत्ते में अपने घर पहुँचे, तब दस बजे थे। प्रातः-काल की धूप चारों ओर बिखरी हुई थी। वैशाख का महीना था। कलकत्ते में इन दिनों अकसर पानी पड़ जाता है। आज भी बहुत तड़के पानी का एक झीला पड़ चुका था।

व्रज बाबू किसी तरह सीढ़ियाँ चढ़कर दोमंज़िले में अपने पढ़ने-लिखने के कमरे में पहुँचे। बरामदे में उनका छः वर्ष का नाती लल्लू खड़ा था। व्रज बाबू को देखते ही वह "नाना, नाना!" चिल्लाता हुआ दौड़ा।

व्रज बाबू के पैरों में जैसे दम नहीं था, देह में जैसे सत नहीं था। वह एक आरामकुर्सी पर पड़ गये और नाती को छाती से लगाकर आँखें मूँद लीं।

पुत्र के कंठस्वर से आकृष्ट होकर सुलेखा जल्दी से उस कमरे में आ गई। पिता की दशा देखकर वह विस्मय से आर्त्तनाद कर उठी।

बेटी की आवाज़ सुनकर व्रज बाबू ने आँखें खोल दीं। उनके मुख से केवल एक बार "हाय!" निकली। एक बार उद्भ्रान्त दृष्टि से उन्होंने कन्या की ओर देखा। उनका सिर एक तरफ़ लटक गया।

"बाबूजी! बाबूजी!" कहकर सुलेखा चिल्ला उठी।

बरामदे में कोई तेज़ी से आता हुआ जान पड़ा।

सुलेखा ने घबराई हुई आवाज़ में कहा—बाबूजी को क्या हो गया है, देखो तो अम्मा?

जैसे बिजली का धक्का लगा हो, इस तरह चौंककर व्रज बाबू ने आँखें खोल दीं।

यह कौन है? व्रज बाबू की सहधर्मिणी का रूप रखकर, माया का शरीर धारण करके यह कौन उनके सामने सिर झुकाये खड़ा है?

व्रज बाबू के मुख से "तुम! तुम हो!" केवल ये ही शब्द निकल पाये।

माया—हाँ, सचमुच वह जीवित माया ही थी—माया ने व्रज बाबू के सिर को सँभालकर शंकित कातर स्वर में कहा—तुम ज़रा होश में आओ। अजी मैं मरी नहीं हूँ। जीती-जागती तुम्हारे सामने खड़ी हूँ। तुम इस तरह क्यों देख रहे हो? मैं तुमको छोड़कर—

कन्या को सामने देखकर माया आगे कुछ नहीं कह सकी। ज़रा ठहरकर माया ने फिर कहा—यह तुम्हारा चेहरा क्या हो गया है। आँखें गढ़ों में धँस गई हैं, चेहरे पर स्याही छा गई है! आओ भीतर चलो। हाँ, मेरे कंधे का सहारा ले लो। सुलेखा, तू इनका बायाँ हाथ पकड़कर सहारा दे।

माया नल के पास स्वामी को ले जाकर बोली—पहले नहा-धोकर कुछ खा-पी लो। उसके बाद सब सुनना। सुलेखा, तू जाकर जल्दी से चाय बना ले। उसी चूल्हे में खाने के लिए गरम-गरम चार पूड़ियाँ भी उतार ले।

व्रजराज बाबू ने स्नान करके भोजन किया। जब वह कुछ सुस्थ हुए, तब माया ने कहा—दूसरे नहान को स्नान करके जब मैं धर्मशाला में आई, उसी समय वहाँ दो मौतें चटपट हो गईं। यह देखकर मैं घबरा गई। मैंने सुना, कालरा बड़े ज़ोरों से फैल रहा है, धड़ाधड़ मौतें हो रही हैं। मैंने निश्चय कर लिया कि अब यहाँ नहीं ठहरूँगी। सावित्री और उनके पति की भी यही सलाह ठहरी। दामोदर और सुलेखा पहले ही से चलने के लिए कह रहे थे। तुम सुशील बाबू को तो जानते ही हो। वह तुम्हारी पत्रिका के नियमित लेखक हैं। अपने मोहल्ले में ही रहते हैं। वह भी अपनी पत्नी के साथ नहान में गये थे और हमारी धर्मशाला की बग़ल में ही ठहरे थे। थोड़ी देर बाद ख़बर मिली कि उनकी पत्नी सवेरे बीमार पड़ी थीं और तीन-चार घंटे में ही मर गई।

माया स्नेहपूर्ण दृष्टि से स्वामी की ओर देखकर चुप हो गई!

व्रज बाबू ने कहा—तो इसी घटना से तुमको यह नाटक रचने की सूझी—क्यों न? अच्छा, तुम्हारी सखी ने ऐसी झूठी बात फ़ोन पर मोहन बाबू से क्यों कही?

माया ने—अपराधिनी माया ने स्वामी का हाथ हाथ में लेकर उनकी उँगलियों से खेलते हुए कहा—नहीं जी, मेरी सहेली का इसमें कोई दोष नहीं है। फ़ोन मैंने ही किया था। सुशील बाबू की स्त्री की मृत्यु के समाचार ने ही मेरे मन में यह ख़याल पैदा कर दिया कि मैं तुम्हारे प्रेम की परीक्षा लूँ। इसी कारण सबसे छिपाकर मैंने फ़ोन किया था। मैं यह जानना चाहती थी कि इस समाचार का क्या प्रभाव तुम पर पड़ता है; मेरी मृत्यु का समाचार पाकर तुम क्या करते हो, यह मैं देखना चाहती थी।

व्रज बाबू ने एक लंबी साँस छोड़कर कहा—ऐसा सांघातिक आघात पहुँचाते तुमको तनिक भी झिझक नहीं हुई? तुमको मुझ पर तनिक भी दया नहीं आई? तुम्हारी सखी ने, दामोदर ने, सुन्दरलाल ने, किसी ने तुमको नहीं रोका? सभी निठुर बन गये?

माया का मुखमण्डल लज्जा से लाल हो उठा। उसने कोमल स्वर में कहा—किसी को ख़बर नहीं थी। सुन्दरलाल बाबू को और दामोदर को गाड़ी का टिकट लाने के लिए मैंने भेज दिया था। उनसे यह भी कह दिया था कि मैं तुमको अपने सकुशल लौटने का समाचार फ़ोन से दूँगी, इसलिए वे टेलीफ़ोन-आफ़िस में कलकत्ते फ़ोन करने का जो चार्ज हो, वह जमा कर आवें। दामोदर के घर में टेलीफ़ोन का कनेक्शन है, यह मैं जानती थी। सुलेखा और मेरी सहेली जिस समय राह में जलपान करने का सामान तैयार कर रही थीं, उसी अवसर में मैंने तुम्हारे आफ़िस को फ़ोन किया था। तुम्हारे आफ़िस का फ़ोन-नंबर मैंने किताब में देख लिया था।

व्रज बाबू ने कहा—कैसा निष्ठुर खेल वह तुमने खेला। अगर यह दारुण ख़बर पाकर मैं आत्महत्या कर लेता तो?

माया ने कहा—जी हाँ! यह भी ख़ूब कही तुमने। स्त्री के मरने पर कहीं मर्द भी आत्महत्या कर लेते हैं।—अच्छा, सच बताओ, अगर मैं सचमुच मर जाती तो तुम दूसरा ब्याह करते या नहीं?

व्रज बाबू ने स्त्री की ओर व्यथित दृष्टि से देखकर कहा—तुम्हारा मन क्या कहता है माया? क्या सचमुच तुम मुझे इतना नीच समझती हो? क्या मैं तुमको प्यार नहीं करता?—मैं सच कहता हूँ, मोहन बाबू के मुख से यह समाचार सुनने के बाद से अब तक जितना दुःख और यन्त्रणा मैंने भोगी है, उसको मैं ही जानता हूँ; शब्दों से व्यक्त करना असंभव है।

स्नेह-व्याकुल दृष्टि से स्वामी की ओर देखकर पश्चात्ताप-परिपूर्ण स्वर में माया ने कहा—अब तक मेरे अनेक जाने-अनजाने अपराध तुमने क्षमा किये हैं स्वामी! अब की और क्षमा कर दो। अब कभी ऐसी ग़लती न होगी।*

---

* श्रीसरोजनाथ घोष की "अकाल झंझा" कहानी का हिन्दी रूपान्तर।

१—बादल

श्रीयुत पन्नालाल गर्ग एम्० ए०

(१)

निहारतीं वियोगिनि मेरी ओर
मेरा बस इतना ही परिचय।
उतरी नभ से किरण-पुञ्ज
बिखरी आशाओं-सी क्षण में,
चूमा फेनिल लहरों को
पाया मुझको कण-कण में,
सहसा उष्ण बयार बही
मैं लगा मँडराने चारों ओर—
खुली आँखें पाया क्या
मैं था किरणों के ही तन में,
फिर हुई वहीं पर प्रणयकेलि
तू क्यों करता इतना विस्मय?
निहारतीं वियोगिनि मेरी ओर
मेरा बस इतना ही परिचय।

(२)

किरणों को थी अपनी मस्ती
मेरा था यौवन का उफान,
इतस्ततः फिरा सब ओर
गाती वह थी सुन्दर गान,
सहसा वज्राघात हुआ—
भाग्यचक्र ने पलटा खाया
छूटा किरणों का संग हाय
सुना मैंने चपला का गान,
उठाया मैंने कष्ट कठोर—
मिलाया लय से मैंने लय,
निहारतीं वियोगिनि मेरी ओर
मेरा बस इतना ही परिचय।

(३)

सह न सका जब कष्ट कठोर
आया भू पर बन जलधार,
चपला चमकी मैं चिल्लाया,
बचाओ होने को संहार।
एकाएकी बिजली आई
समाई धरती के बीचोंबीच
मची चिल्लाहट चारों ओर
मैं भी गिरा मूसलाधार—
उस धरती पर आया मैं—
उठते जिससे सब कर अभिनय
निहारतीं वियोगिनि मेरी ओर
मेरा बस इतना ही परिचय

(४)

प्रेमपथ पर आया जब
मिला मुझे रोना ही गाना,
बहाता अश्रु चारों ओर
याद कर किरणों का फुसलाना।
जब उसने ही मुझे ठुकराया
तब फिर सुख-विश्राम कहाँ—
वह देख सूर्य ने फिर भेजा,
मुझे ले चलने का परवाना,
ऐसा ही चलता जगत् सदा
मानव! कर मत इसमें संशय
निहारतीं वियोगिनि मेरी ओर
मेरा बस इतना ही परिचय।

२—उन चरणों का नूपुर हूँ

श्रीछोटेलाल भारद्वाज

जिनकी गति-गति में जीवन है
मैं उन चरणों का नूपुर हूँ।

(१)

प्रतिनिमिष कसकता रहता है
अंतर में कोई चिर अभाव
तृष्णा न समझ पाती, इतना
दुर्गम यह आँसू का बहाव
युग-युग से सुनता आया हूँ
'मानव अस्थिर, मानव अपूर्ण'
जिसकी लय-लय पूर्णत्व भरी
मैं उस वीणा का लघु सुर हूँ
जिनकी गति-गति में जीवन है
मैं उन चरणों का नूपुर हूँ।

(२)

जीवन-भर की सारी पीड़ा
मुझको फिर-फिर आँका करती
जग की सुन्दरता बार-बार
मेरा कुरूप झाँका करती
अपनी ही माया के रहस्य में
विश्व उलझता जाता है
जो मुक्ति-कथा कहता चलता
उस निर्झर का कलकल सुर हूँ
जिनकी गति-गति में जीवन है
मैं उन चरणों का नूपुर हूँ।

(३)

मेरी आँखों की अमर ज्योति
मरता के तम को हर लेती,
पतझर वसन्त के पहले ही
अपना जीवन लय कर लेती
इस अमर जगत् में मर जीवन
चर का मुख ताका करता है
जो निज कर कुआँ खोद पीता
उस राही का प्यासा उर हूँ
जिनकी गति-गति में जीवन है
मैं उन चरणों का नूपुर हूँ।

(४)

परिवर्तन के हामी जग में
फिर युग-परिवर्तन आया है,
आगे-पीछे दर्पण लखकर
भोला मानव भरमाया है
अन्तर फूलों का प्यासा है
कर शूलों से भयभीत बता,
जिसके शूलों में फूल खिले
मैं उस लतिका का मर्मर हूँ।
जिनकी गति-गति में जीवन है
मैं उन चरणों का नूपुर हूँ।

३—वसन्त-गीत

कुँअर चन्द्रप्रकाशसिंह एम्० ए०

(१)

यह शिशिर का अन्त !
पल रहे प्रति वृन्त पर
पतझार और वसन्त !
पत्रहीन मधूक, सूनी डाल
फूल को, फल को रही है पाल,
खड़ा पीपल किये ऊँचा भाल,
प्रज्वलित किसलय-कदम्ब अनन्त !
पीत पत्रों के शयन पर आज
ले रहा अँगड़ाइयाँ ऋतुराज,
मुखर शुक, नर्त्तित मयूरसमाज
विकल यौवन, सुरभि-शिथिल दिगन्त !

(२)

मंजरित डाल रसाल की !
जग क न [illegible] यौवन मला,
मधु-हास सुमनों में खिला,
रे मुक्त उर-उर की कला,
टोली मुखर पिक बाल की !
अलि-कुल विकल-सा घूमता,
कलि-कुसुम-चय को चूमता,
आता समीरण झूमता,
गति मन्द मत्त मराल की !

४—गीत

श्रीमती रूपकुमारी वाजपेयी एम्० ए०

क्यों न अपने साज पर निशि रागिनी गाती ?
रजनिगंधा के नगर में,
क्यों अवश सा शिथिल डोला,
शून्य का चिर कुहुक बोला ?
क्यों न शशि से ज्योत्स्ना आ मधु बरस जाती ?
मंद, झीने दीप बाले,
क्षिति-परिधि पर हँस सँभाले,
कौन लुक-छिप लाज से फिर आ बुझा जाती ?
इन्द्रधनुषी बेलियों में,
क्यों घटाएँ उलझ जातीं ?
क्यों न मेरे पास आतीं ?
प्राण प्यासे को हविस की तृप्ति दे जातीं ?
पारदर्शी सित तरंगें,
एक क्षण रुक, फिर पड़ीं चल,
वही कल-कल, वही छल-छल,
क्यों अनन्त प्रवास का न विराम ये पातीं ?
एक बस यह क्लान्त लहरी,
साथियों से कब अलग हो,
रेत पर आ थक गई सो,
बुझा शीत उसास में उन्माद की बाती ?
छलमयी चुप मुग्धता में,
क्यों भला इतना प्रलय है ?
एक ऐसा भी समय है—
जब कि सुख-दुख की परिधि मिल एक हो जाती।

५—सीख
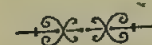
कुँअर आरपी बी० ए०

सीख बटोही ! गाँठ बाँध लो—नयन किसी से चार न करना।
दर्पण की परछाहीं से भी
नयन बटोही चार न करना,
अपनी ही परछाहीं भी वह—
साथ न देगी; प्यार न करना।
प्यार न करना, गाँठ बाँध लो—प्यार कभी स्वीकार न करना।
सीख०

पथ में राही कई मिलेंगे
किन्तु बनाना मत तुम साथी,
दिन भर संग चली जो तेरे
साथ रही वह क्या छाया भी ?
दुःख तिमिर में साथ न देगा साथी, अंगीकार न करना।
सीख०

दूर बहुत तेरी मंज़िल है,
दूरी लम्बी है तय करना,
बैठ किसी के साथ बटोही !
व्यर्थ समय बरबाद न करना।
एकाकी चलना तो दूभर, साथी ले सिर भार न करना।
सीख०

सम्हल-सम्हल कर चलना होगा
पग-पग पर छलना है राही !
लम्बा पथ है, है अनजाना
फिर भी तय करना है राही !
पथ काँटों से भरापुरा है, फूलों से शृङ्गार न करना।
सीख बटोही ! गाँठ बाँध लो—नयन किसी से चार न करना॥
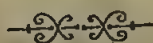
कर्नाटक के दासपन्थी

वी० वी० काशीराम शास्त्री

हमारे देश में ऐसी प्रथा-सी हो गई है कि पुराने धार्मिक विषय बिना इतिहास एवं पुराणों के आधार के माने ही नहीं जाते ; कभी-कभी पौराणिक आधार भी झूठ साबित हो जाते हैं, फिर भी पुराण सचाई से ख़ाली नहीं। अन्यान्य विषयों की तरह भक्ति के भी आधार पुराण एवं इतिहास से प्राप्य हैं। फ़रवरी की 'माधुरी' में इसी उपर्युक्त शीर्षक लेख में हमने बता दिया है कि कर्नाटक आर्य-द्राविड़-संघर्ष का माध्यम बना है। यह न केवल प्राचीन समय की बात है, बल्कि आधुनिक ज़माने में भी इसका वही रूप-रंग चालू है और रीति-रिवाजों के साथ भक्ति-मार्ग का संधिपथ भी कर्नाटक ही है। द्राविड़ एवं आर्य-शाखाएँ या धाराएँ कर्नाटक से होकर उत्तर-दक्षिण में पहुँच सकी हैं। हो सकता है कि आज इस नवीन युग में उसका पथ स्पष्ट न हो; परंतु इतना तो अवश्य है कि कर्नाटक ने दोनों के विधि-विधान को अपनाया और दोनों को भरसक परिपुष्ट किया।

भक्ति का ऐतिहासिक पहलू यह है कि उसकी उत्पत्ति द्राविड़देश में हुई, जैसे पद्मपुराण में बताया गया है—

"जाताऽहं द्राविड़े देशे कर्णाटे यौवनं गता।"

पुराण ही नहीं, दक्षिण के चोलदेश के संतों (नायनार) का इतिहास भी यही बतलाता है। बहुत प्राचीन समय से चोलदेश में संत हुए हैं और उन्होंने भक्ति के मधुर-मधुर गीत गाये हैं।

तामिलदेश के शैव-संतों का अनुसरण कर्नाटक के वीर शैवों ने किया। कर्नाटक एवं चोलदेशों में शैव भक्ति ख़ूब फूली-फली। विष्णुभक्ति धीरे-धीरे प्रकाश में आई। शिव और विष्णु की परमोच्चता के संबंध में दोनों भक्ति-मार्गों का आपसी संघर्ष शुरू हुआ।

श्रीरामानुज एवं मध्वाचार्य, दोनों के अथक परिश्रम और अकाट्य तार्किक सिद्धान्तों से वैष्णव भक्ति पुष्ट हो गई। यद्यपि इन दोनों आचार्यों में आपसी सैद्धान्तिक मत-भेद हैं, पर नींव दोनों की एक ही थी, भित्ति भी एक-सी उठी ; आकार-प्रकार दूसरा हो ; परन्तु लक्ष्य पहुँचने के मार्ग और उद्देश्य साधारण जनता के लिए उतना भिन्न नहीं था।

पूज्य रामानुज के सिद्धान्तों ने ही उत्तर में राम-भक्ति-शाखा की सृष्टि की। मध्वाचार्य का मत परिस्फुटित हो बंगाल, वृन्दावन, महाराष्ट्र, गुजरात आदि में फैल गया। आगे इन सिद्धान्तों में बहुत-से आंतरिक परिवर्तन हुए, जिनके कारण कई एक पन्थ प्रचलित हुए।

इस परिवर्तन एवं विकास-क्रम का संबन्ध कर्नाटक के ही व्यक्ति एवं प्रदेशों से बराबर रहा है। इन बातों का साक्ष्य देते हुए कर्नाटक के सीमा-प्रान्तों के मंदिर जो खड़े हैं, वे ही इनके प्रमाण हैं। पंढरपुर का विट्ठल मंदिर, गोकर्ण का गोकर्णेश्वर, श्रीशैल का शंभुलिंग, उडुपि का श्रीकृष्ण, तिरुपति का वेंकटरमण, मैसूर की चामुण्डांबिका, शृंगगिरि की शारदाम्बा तथा हम्पे का विरूपाक्ष आदि इसी भक्ति के उद्गम-स्थान हैं।

यह तो इतिहास की बात हुई; अब पुराणों की तरफ़ देखिए। विष्णु के जितने भी अवतार हुए हैं, वे सब शैव-भक्तों को मारने के लिए ही हुए हैं। ये भक्त भी अर्थात् राक्षस (आर्यों के शब्दों में) एक निर्दिष्ट राज-वंश के हैं। इनको मारने के लिए विष्णु को लगातार अपना अवतार-क्रम जारी रखना पड़ा। हिरण्याक्ष को वाराह ने मारा तो उसके भाई हिरण्यकशिपु के लिए नृसिंह उतर आये। दोनों विष्णु के अवतार बताये गये हैं। फिर बलि आदि बहुत-से राजाओं तक यही क्रम चलता है।

शिलालेख एवं खोजों से अधिकतर यही सिद्ध हुआ है कि कर्नाटक एवं बलि-बाणों में बड़ा भारी संबन्ध रहा। ज़्यादातर जो राक्षस विष्णुविरोधी के नाम से बताये गये हैं, सब के सब बलि-बाणासुर-वंश के ही रहे। इनमें कई एक महाभक्त भी हुए हैं—प्रह्लाद, बाण, बलि आदि। रावण भी बड़ा शिवभक्त था। विष्णु-भक्ति एवं शिव-भक्ति का संघर्ष इन्हीं नामों से संबंध रखता है। ये बड़े कट्टर शिव-भक्त थे। वैष्णव भक्ति के झोंकों से इनके पुत्र-पौत्र भी बाज़ न आ सके, फिर क्या! संघर्ष, विद्वेष शुरू हुआ। तब जाकर अपने भक्त को बचाने एवं अपने मत की रक्षा के वास्ते विभिन्न रूप एवं अवतारों से विष्णु पृथ्वी में उतर आये।

इन वैष्णव भक्तों में नर, नारायण एवं नारद के नाम बहुधा आते हैं। इन नर, नार आदि राजवंशों का

संबन्ध भी कर्नाटक से बताया जाता है। 'मोहंजोदड़ो' की खोजों से 'कण जनांग' का पता चला है, जिसको कन्नड या कर्णाटों की मूल जाति बताया गया है। इसी 'कण' जनता के वंशज कोलय हैं, जिनका नाम बारंबार पुराणों में आता रहता है। इस जनता का बड़ा भारी इतिहास है जो इस प्रसंग के लिए व्यर्थ है। इतना अवश्य है कि कर्नाटक द्वारावती से लेकर पूरे दक्षिण में फैला था। इसी के प्रतीक आज यहाँ भागवत के दोनों पहलू चालू हैं और यहाँ के शरण और दास शिव और विष्णु की परमोच्चता को लेकर ही चले हैं।

जैमिनि का भारत दक्षिण के इतिहास का दर्पण है। भक्ति की धारा कर्नाटक में बराबर बहती आ रही है। कभी शैवधारा प्रबल हुई तो कभी वैष्णव; परन्तु ख़ाली तो कभी नहीं रहा।

दास-कूट

मध्वाचार्यजी ने भक्ति-मार्ग में परिवर्तन किया। नाम-स्मरण एवं सेवा से ही भगवत्सान्निध्य प्राप्त होगा। इसके लिए उन्होंने कई एक नियम, आचार आदि की व्यवस्था बताई है। उनके तत्त्वों का आधार समस्त प्राक्तन पुस्तकों से है, जैसे ऋग्वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र, भक्तिसूत्र, पंचरात्रसंहिता आदि। मध्वाचार्य ई० १२३८ से १३१८ तक रहे। इनसे बहुत पहले ६वीं सदी में ही भक्तिमार्ग का आरम्भ हो गया था; परन्तु वह अन्तर्वाही ही रहा। मध्वाचार्य ने उसकी फिर से प्रतिष्ठा की। इनके शिष्य नरहरितीर्थजी ने इसको आगे चलाया। उनके कई एक पद आजकल भी उपलब्ध हैं। ये तेरहवीं सदी में हुए थे। फिर भी बहुत दिनों तक यह भक्ति अज्ञातावस्था में ही रही और उसी गुरुपीठ के आचार्य श्री श्रीपादराय ने उसको बढ़ा-चढ़ाकर लोगों के सामने रक्खा। श्रीपादजी संस्कृत के बड़े पण्डित थे। कन्नड में भी इन्होंने बहुतेरे पद बनाये। इनके शिष्य ही प्रतिष्ठित व्यासरायजी हैं। आप विजयनगर के छः राजाओं के गुरु रहे। आपकी विद्वत्ता अपार थी। संस्कृत के प्रकाण्ड पण्डित थे ही; साथ ही दक्ष एवं निपुण कार्य-कुशल भी थे। साधारण जनता की रुचि जानकर इन्होंने उन लोगों की सुविधा के लिए भक्ति के गीत कन्नड में गाये। कुछ समय तक उत्तर में भी यह प्रथा चल पड़ी थी। व्यासरायजी ने साधारण, संस्कृतभाषा के मर्मों से वंचित जनता को उपदेश देने के लिए एक संस्था भी खोल डाली, जिसका नाम 'दास-कूट' रक्खा गया। 'दास-कूट' का अर्थ है 'हरि-भक्तों का समूह'। इसी दास-कूट के प्रथम आचार्य हुए 'पुरंदरदास'।

दास-साहित्य

दास-साहित्य असीम है। आज कर्नाटक की गली-गली में दाने-दाने के लिए तरसनेवाले भिखमंगे भी दासों के पद गाया करते हैं। कारण स्पष्ट है। पद ललित, सुश्राव्य एवं स्पष्ट हैं। भाव या विचारों की बुझौवल इनमें नहीं; न वह पहेलियों की गाँठ है। दास हरिसेवक थे ही और साथ ही अज्ञान मानव-पशु के सामने दुनिया के तत्त्वों को खोल रखना भी उनका काम था। दासों ने देखा कि लोग जाति-मत के भेदों में पड़ मूर्ख बन गये हैं। दुनिया का तत्त्व परमात्मा का अस्तित्व तक भूल गये हैं। पुरंदरदासजी ही इसके उदाहरण थे। वे परम लोभी जौहरी रहे। इसी तरह लोग सांसारिक माया-मोह में पड़ अपने अमूल्य जन्म को निरर्थक बना रहे हैं। ऐसी ज्ञानहीन जनता का उद्धार उन्हें करना था। अतएव दुनिया की अनुभवी आपदेखी बातों को सामने रखकर उन्होंने उपदेश दिया। वे ही उपदेश आज भी ताज़े हैं। आज भी ऐसा मालूम होता है कि हमारे ही जीवन को देख दासवर्ग गा रहे हैं। वे कभी इस दुनिया की नश्वरता को लेकर रोते हैं, तो कभी मानव की नासमझी पर हँसते हैं।

दास स्वभाव से ही दुनिया के प्रति अनासक्त रहे। उनका तन-मन-धन परोपकार के लिए अर्पित था। कहते हैं, पुरंदर ने अपनी नौ करोड़ की संपत्ति इसी संस्था को दान कर दी थी। शैव-शरणों ने वचनमय उपदेश दिये हैं। वचन गद्यरूप में होते हुए भी मधुर हैं। दासों ने गीत गाये। इनमें कई एक संगीत-शास्त्र के पारंगत रहे। पुरंदरदासजी का स्थान कर्नाटकीय संगीत में शास्त्रकार की श्रेणी में है।

पहले ही बताया गया है कि दास-भक्ति में जाति एवं पंथ का कोई भेद नहीं रक्खा गया है। जैसे गीता में भगवान् श्रीकृष्ण बता गये हैं—

"मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्॥"

इसी तरह भगन्नामस्मरण एवं कीर्तन सर्वसुलभ मार्ग बन गया। कितनी ही स्त्रियाँ मुक्ति पा गईं और वैसे ही कई अज्ञानी मूढ़ जातियों ने प्रकाश पा, आँखें सफल कर लीं। इस मार्ग में योग के जटिल यम-नियम आदि साधन भी नहीं, बल्कि प्रेम है, जिसका

प्रत्येक प्राणी के हृदय से संबंध है, जो कि प्रतिक्षण इस संसार में पति, पत्नी, पुत्र, बन्धु, बान्धव आदि के रूप में प्रकट होता रहता है। उसी का अलौकिक संबंध या भावप्रवाह भगवान् की ओर बताया गया है। यही भागवत भक्ति है। इसका मतलब अकर्मण्यता या कर्तव्यविमुखता कदापि नहीं होगी। देखिए—

भक्ति बेकु[1], विरक्ति बेकु, शक्ति बेकु,
मुन्दे[2] मुक्तिय बयसुवगे[3]।
जपदि जाणुवेयु[4] बेकु तपदि बलविर बेकु,
उपवास व्रत बेकु, उपशान्तियिर बेकु॥
संग वर्जिस[5] बेकु, अंगशोधने बेकु,
रंग विट्ठलन पाद हिंगदे[6] भजिस[7] बेकु॥ (कन्नड)

अर्थात् कोई आगे मुक्ति चाहता हो तो उसे यह चीज़ अवश्य ही याद रखनी होगी। भक्ति, विरक्ति एवं शक्ति के विना कोई इस दुनिया से मुक्त हो ही नहीं सकता। जप करने में भी अभ्यास या बुद्धिमानी चाहिए। तप करना हो तो वह भी दृढ़ता से करना चाहिए। कभी-कभी उपवास-व्रत की भी ज़रूरत होती है। इन्द्रियशान्ति भी अपेक्षित है। दुर्जनों का संग छोड़ना चाहिए; शारीरिक तप भी आवश्यक है। इन सबके साथ रंगविट्ठल के चरणों का भजन-कीर्तन भी करना चाहिए।

यह दासोपदेश का सार है। दासों ने नाम-भजन की महिमा ख़ूब गाई है। पुरंदरदासजी तो नाम-स्मरण के आगे नारायण को भी कुछ नहीं समझते—

"नीनेको[8] निन्न[9] हंगेको[10]।
निन्न नामद बलवोंदिद्दरे[11] साको[12]॥" (कन्नड)

तुम्हारे नाम की शक्ति रहे तो मेरे लिए काफ़ी है। उसके सामने तुम्हारी क्या परवा!!

इसी भावावेश में झूमते हुए पुरंदरदास कह डालते हैं कि हाँ, मैं चोर हूँ। तुम्हारे ख़ज़ाने से मैंने चोरी की है; ले जाओ मुझे अपने लोक! भक्ति की बेड़ियाँ डाल दो, अपने सेवकों (दास) के हाथ में सौंप दो। अपनी मुद्रा को तपाकर मुझ पर लगवाओ और अपने वैकुण्ठ में सेवा के लिए क़ैद कर लो; यही मेरी विनती है। यहाँ पर दासजी बड़ी धृष्टता के साथ कहते हैं, तुम्हारी क्या परवा! परन्तु वे फिर चोरी करके भी वैकुंठ पहुँच जाना चाहते हैं। कैसा सरल मार्ग! चोर और वैकुंठ!

कहीं-कहीं मूर्त्ति-ध्यान भी किया चाहते हैं। वस्तुतः वे मूर्त्ति को भी साधन-सम्पत्तियों में मानते थे। इसी लिए उन्होंने नवधा भक्ति मानी है। यह तो सच है कि दास्य-भाव ही इनका परम ध्येय था। कभी-कभी सर्वस्वार्पण के भी भाव जाग्रत् हुए हैं। तब वे भगवान् के बहुत समीप पहुँच जाते हैं। ऐसा लगता है, जैसे सामने खड़े हो बातें कर रहे हों। देखिए—

तनु निन्नदु, जीवन निन्नदु।
अनुदिनदलि बह[1] सुख दुःख निन्नदय्या!
सविनुडि[2] वेदपुराण शास्त्र वनेल्ला,
किविगोट्टु[3] केलुव[4] कथे निन्नदु।
नवमोहनांगिय रूपव कण्णदे[5]।
एवेयिक्कदले[6] नोडुव[7] नोट[8] निन्नदय्या।

यह शरीर, यह जीवन, इसका सुख-दुःख जो दैनिक है और मधुर वाणी, वेदशास्त्र आदि जो हम रोज़ सुनते हैं वे सब तुम्हारे ही हैं। मोहनांगी युवतियों को टकटकी लगाकर देखनेवाली यह नज़र भी तुम्हारी ही है। इस दुनिया में सब तुम्हारा दिया है।

इसी तरह के विचार शैवों ने भी कहे हैं। इस आत्मार्पण की दिशा में दोनों समान हैं। वीरशैव-मतस्थापक बसवजी कहते हैं—

"एन्न[9] तनुविगे[10] नीनोडेय[11], एन्न मनविंगे नीनोडेय,
एन्न धनेकम् नीनोडेयनाद बलिक[12] एन्न अरिवु[13] निन्नदु,
एन्न मरहु[14] निन्नदु
कूडल संगमदेवा" (कन्नड)

जब यह कहते हैं—कि तुम मेरे तन, मन एवं धन के मालिक हो, तब यह तो सत्य है कि मेरे ज्ञान और अज्ञान या भूल-चूक के लिए भी तुम्हीं ज़िम्मेदार हो।

यह आधिकारिक सतर्क वाणी देखिए। श्रीकृष्ण की उक्ति को इन लोगों ने पूरा-पूरा सार्थक बनाया है, जिसमें वे बताते हैं कि जहाँ "हमारे भक्त रहते हैं, हम वहीं हाज़िर हैं और भक्तों के हम सदा रक्षक हैं। इसी तरह

१. चाहिए। २. आगे भविष्य में। ३. चाहनेवाले को। ४. अक़्लमंदी। ५. छोड़ना। ६. विना बेजार के। ७. भजन करना। ८. तुम क्यों? ९. तुम्हारी। १०. क्या परवा! ११. बल एक रहे। १२. काफ़ी है।

१. होनेवाले। २. मधुर वाणी। ३. कान लगाकर। ४. सुननेवाला। ५. आँखों से। ६. टकटकी लगा। ७. देखनेवाला। ८. दृश्य (नज़र)। ९. मेरा। १०. तन के लिए। ११. तुम्हीं अधिपति हो। १२. बाद, पश्चात्। १३. जानकारी। १४. भूल-चूक।

तो उन्होंने पांडवों की रक्षा की थी। इसी पर सूरदासजी ने कहा है—"भक्तन के हम भक्त हमारे"।

पुरंदरदासजी के अलावा अन्य दासों ने भी भगवान् की विस्तृत महिमा गाई है। दासजी तो भगवान् की सर्वसुलभता बताते हुए कहते हैं कि तुम चाहे जैसे भी रहो, बल्कि गाओ, नाम-स्मरण करो; भगवान् सन्तुष्ट हो जायगा। देखिए, वह नाम सुनने के लिए इतना उत्सुक है—

"मलगि[1] परमादरदि पाडलु[2] कुलितु[3] केलुव[4]।
कुलितु पाडलु निलुव[5], निंतरे नलिव[6]।
नलिदरे ओलिवे[7] निमगे[8] एंब[9] सुलभना हरि
तन्नवर[10] बिट्टु[11] अलुगनु[12]॥" (कन्नड)

हरि ने विश्वास दिलाया कि अपने आदमियों को छोड़ कहीं नहीं जाऊँगा। तुम सोते गाओ तो वह बैठकर ही सुनता है; बैठकर गाओ तो खड़ा होता है; खड़े होओ तो प्रसन्न हो झूमता है; तुम भी प्रसन्न हो वह भी प्रसन्न हो जाय तो वह तुरन्त वरदान देता है। इस तरह हरि भक्तों के लिए सुलभ है। चाहे किसी भी अवस्था में कैसे ही तुम, उसे अपने वश में रख सकते हो।

इतना ही नहीं!—उसे मालूम है यह संसार है; मेरे भक्त भी सांसारिक जीव हैं; अतः वे भी संसार के प्रभाव से बच नहीं सकते। इसी लिए भक्त-त्राणपरायण भगवान् इस तरह भी तैयार है—

"मक्कलाडिसुवाग,"
तुम बच्चों को खेलाते रहो,
"मडदियोलक्करदिनलिवाग,"
भार्या के साथ प्रेम-प्रसंग करते भी रहो,
"हम-पल्लकि गज मोदलाद वाहनवनेरि मेरेवाग,"
घोड़े, पालकी, हाथी आदि पर तुम सवार हो डोलते रहो।
"बिक्कुवाग,"
"आकलिसुतलि"
जँभाई लेते समय भी,
"देवकीनंदनन नेनेवनरतु सिक्कनेमदूतगे"

यदि तुम श्रीकृष्ण का स्मरण करोगे तो कभी यमदूतों के हाथ नहीं पड़ सकते।

भगवान् सुलभ हैं; हद हो गई! दुनिया की सारी बुराई, समस्त उच्छृङ्खलता, उद्दंडता उसके सामने माफ़ है। किसी बड़े-बूढ़ों के सामने जो काम धृष्टता समझा जाता है, उस काम में भी एक बार केवल एक बार, भगवान् का नाम लो भवसागर के पार लग जाओगे।

जाति-कुल का भी रोड़ा नहीं—कुल, देश, समय कोई हो, हरिभजन में सब भागी हो सकते हैं।

दासों में बड़े-बड़े पंडित भी हुए हैं, जिन्होंने वेद-वेदांग एवं उपनिषद् आदि का सारा सार अपने गीतों में भर दिया है। इस तरह के ग्रन्थों में "अनुभवामृत" सबसे उत्कृष्ट है। श्रीजगन्नाथदास ने भागवत की कथाओं का एक संग्रह 'हरिकथामृतसार' नाम से लिखा है। दासों की एक सर्वमान्य बात है पद, चाहे छंदोमय हो चाहे नीतिमय; परन्तु बड़ी सरलता के साथ गाया जा सकता है। संस्कृत की छटा से एकदम मुक्त होकर स्वच्छन्द कन्नड-गति में बिचरे हैं। भाषा की हीनता का निराकरण करते हुए "अनुभवामृत-कार" सहवासि रंगनाथ ने कहा है, हमारे लिए कन्नड तो तैयार की गई मिठाई है। उठाया मुँह में डाल लिया। उनकी उपमाओं की अद्भुतता देखिए—

"सुलिद बालेय हण्णिनंददि,
कलेद सिबरिन कब्बिनंददि,
यलिद उष्णद हालिनंददि सुलभवागिर्दा॥
ललितवह कन्नडद नुडियलि
तिलिदु तन्नोलु तन्न मोक्षव
गलिसि कोंडरे सालदे? संस्कृत दलिन्नेनो॥"
(कन्नड)

कन्नड उस केले के जैसे है जिसका छिलका निकाल दिया गया हो। वह इस तरह खाने (चखने) को सुलभ है जैसे छिली हुई ईख। वह इस तरह सरलता से पी जा सकती है जैसे ठण्डा किया हुआ दूध। ऐसी सरल, ललित एवं मधुर भाषा को छोड़ संस्कृत में तुम्हें क्या मिलेगा।

पदों के लालित्य से ही दासवर्य कर्नाटक के लिए पूज्य हैं। फिर उनका कन्नड के प्रति अभिमान भी कहने लायक़ है। ऐसे सुमधुर साहित्य को संगीत के साथ मिलाकर पुरंदरदासजी ने दाक्षिणात्य संगीत में कन्नड को चिरस्थायी बना दिया। हरिकथा के माधुर्य ने तो लोगों को जैसे सोते से जगाया हो। नहीं तो कभी के दक्षिण के सभी ख़ासकर कर्नाटक के लोग शैव या शाक्त बन गये होते।

---

१. सोकर। २. गाने से। ३. बैठकर। ४. सुनता है। ५. खड़ा होगा। ६. झमता है। ७. प्रसन्न हो। ८. तुम लोगों को। ९. इस तरह कहनेवाला। १०. अपने आदमी। ११. छोड़कर। १२. दूर नहीं होगा।

आधुनिक कवि-सम्मेलन

पं० श्रीलाल शुक्ल

किसी समय अपनी कविता को कवि-सम्मेलन में सुनाकर, उस पर श्रोताओं की अगाध प्रशंसा पाकर मैं भी बहुतों की भाँति अपने को वह समझने लगता था, जो न था और न हूँ। समय के साथ-साथ बुद्धि में परिवर्तन हुआ और जब अपनी असलियत जानने की चेष्टा की तो कवि-सम्मेलनों की भी असलियत का पता चला। बहुतों को वह अब भी नहीं मालूम है। इस कारण यह छोटा-सा लेख लिखना आवश्यक हो गया।

कवि होने का अर्थ है प्रभावशाली काव्य-पाठक होना, न-जाने जनता को इस दुर्विश्वास ने कैसे भ्रान्त बना दिया है। इस मूर्खतापूर्ण और बहुमान्य परिभाषा के अनुसार श्रीमैथिलीशरण गुप्त अच्छे कवि नहीं और रामेन्द्र दामोदर, जो कल्पना कीजिए, हैं और संगीत-विशारद के दूसरे साल के विद्यार्थी हैं, 'जयन्तु ते सुकृतिनः' की श्रेणी में आ जाते हैं। आपको ऊँचा कवि बनना है तो एक बात सीखिए, मोहक ढंग से कविता पढ़ना। बहुत-से मुझे भी ऊँचा कवि मानते हैं, क्योंकि मुझमें कुछ हद तक यह बात भी है।

कवि होने का, तात्पर्य यह, महाकवि—प्रख्यात कवि होने का दूसरा मार्ग है, अपने आपको बदलिए। मैंने 'कुरुक्षेत्र' सुनाकर बहुतों की दृष्टि में अपने को उठा हुआ नहीं पाया। 'कुरुक्षेत्र' में एक बुराई है, वह शुद्ध हिन्दी में है। उसमें एक और बुराई है, उसमें 'जवानी' 'तूफ़ान' 'इन्क़लाब' 'मौत' 'ख़ून' 'सर्मायादार' 'मज़दूर' ऐसे शब्द नहीं। मेरी प्रशंसा तब हुई जब मैंने एक कविता सुनाई—"आज के कवि से।"

तात्पर्य यह कि मैंने अपने को बदला। जान-बूझकर या आप-ही-आप—यह दूसरी बात है। इतना विश्वास है, यदि इस कविता में उक्त शब्दों को डाल दूँ तो उसका मूल्य दसगुना हो जाय। इस प्रकार आधुनिक कवि-सम्मेलन ने जनता को अन्धी बना दिया। उसके आगे साहित्य में वस्तुविषयक हीनता (Historical fallacy) तथा व्यक्तिविषयक हीनता (Personal fallacy) का इतना प्रचार हुआ कि 'जय हिन्द' पर कुछ भी लिख दीजिए अथवा बंगाल का नाम लेकर स्तनों का बीभत्समय चित्र खींचिए, आपके 'यशः-काय' को क्षति न पहुँचेगी।

देश का वातावरण ऐसा है, और यह अच्छा ही है कि हम राष्ट्रीय कविताओं के अतिरिक्त कुछ भी नहीं सुनना चाहते। किन्तु तब हम अपने मनश्चक्षुओं को मूँद लेते हैं जब हम राष्ट्रीयता के नाम पर यह भी नहीं देखते कि यह कविता है या साहित्यिकता का जनाजा। एक कविता का प्रमाण यह है—

"दिल्ली है क्षितिज के पार।
वहाँ सोया है हमारा प्यार,
वहाँ खोया है हमारा मानवी संसार,
वहाँ करना है हमें अभिसार का मनुहार।"

कवि ने गले की टाई ढीली की, एक गिलास पानी पिया, सिर ऊपर उठाया, हाथ नीचे झुकाया, फिर सुमधुर स्वर में कहा—

'दिल्ली है क्षितिज के पार।'

इसके बाद इन अमर पंक्तियों को मैंने मनोदेश में कर लिया और चुपचाप उठकर चला आया।

पहले कवि-सम्मेलन चाहे जिस रूप में होते हों, वे आवश्यक थे; क्योंकि विचार-विनिमय का यही एक साधन था। कवि तीन अधन्ने या पाँच इकन्नी ख़र्च करके, कविता को 'माधुरी' या 'युद्धसमाचार' में छपाकर प्रसिद्ध हो जाय—ऐसी स्थिति न थी। किसी ने क्या लिखा, कोई विना सम्मेलन के जान न पाता था। अब कवि-सम्मेलन भी 'गार्ड' की ड्यूटी बजानेवाले कान्यकुब्जों के स्वयंपाकित्व की भाँति ढोंग और बुद्धि के दिवालियेपन का प्रमाण रह गये हैं।

किसी साहित्यिक के यहाँ कवि-गोष्ठी हो जाय, दस-पाँच चुने साहित्यिक आ जायँ, यह उचित है। कवि-सम्मेलन ही जिनका पेशा है, जैसा कि बहुतों का है और जो गाँव के 'सेतवराहकल्पे' कहनेवाले पुरोहितों की भाँति ही जघन्य हैं, मुझे भीतर से गालियाँ देकर बाहर से पूछेंगे "तो जनता महाकवियों के दर्शन कैसे पावेगी ?" जनता जब महाकवियों के दर्शन का मूल्य समझने लगेगी तो कवि-सम्मेलन ऐसे न होंगे कि उन्हें मैं तक बुरा-भला कहूँ। तब गुप्तजी मञ्च देखकर घबरावेंगे नहीं और न तब निरालाजी की लम्बी माँग पर कवि-सम्मेलन करानेवालों को वात-प्रकोप ही होगा। जब जनता की रुचि, जिसे अनधिकारी कवियों ने

बिगाड़ दिया है, शुद्ध साहित्यिक होगी, तब राह चलते हुओं को 'कवयः किं न पश्यन्ति' के साथ 'किं न खादन्ति वायसाः' जोड़ने का साहस न होगा।

कविता राष्ट्रीयता के प्रचार का साधनमात्र नहीं। उसका प्रयोग राष्ट्र-आत्मा की अभिव्यक्ति कर दे, यहीं उसका कृत्य समाप्त नहीं। कवि-सम्मेलन ने—आज के कवि-सम्मेलन ने, जो रंडी का नाच, कठपुतली का तमाशा, नौटंकी आदि का समकक्ष है, साहित्य-देवता को उसके सिंहासन से ढकेलना चाहा है। निरालाजी ने इसके महत्त्व को बढ़ाना चाहा है और रुपयों की ऐसी संख्या, सुनते हैं, कही है, जिससे छदाम भर अक़्ल न रखनेवाले संयोजकों का मुँह अँगरेज़ी-अक्षर 'ओ' की तरह का बन गया है।

मैं किसी भी प्रगतिवादी से बढ़कर इस बात का समर्थक हूँ कि साहित्य युग का परिभाषक है। परन्तु युग की आड़ में अपने साहित्य को नीचे गिराना और अपनी प्रख्याति को ऊपर उठाना नीचता है। आज 'ज्ञानलवदुर्विदग्ध' कवियों का एक छोटा समुदाय उदायुध होकर कवि-सम्मेलनों की टोह में घूमता है और अपनी दुर्विदग्धता छिपाने के लिए तथा अपनी देशभक्ति दिखाने के लिए युग-वृत्ति का अनुचित लाभ उठाता है। कवि-सम्मेलन को किसी भी उत्सव का अंग माननेवाले इस समुदाय को पूजते हैं, ठीक उसी तरह जैसे यह समुदाय पैसे से पूजता है।

यह समुदाय कोई संस्था नहीं, स्वयम्भूत स्वार्थ-पूजकों का परिवर्तमान समाहार है। सब 'समानधर्मा' उत्पन्न हुए हैं और समान रूप से नये विषय मिलें, इस आशा से राजनीति के आकाश की ओर अधखुली आँखों मुँह बाये देखा करते हैं।

विद्वान् साहित्यिक मेरे शब्दों की कटुता पर न जायँ; इनके अपराध की गुरुता पर जायँ। मुझे बड़ी प्रसन्नता होगी, यदि ऐसे कवियों तथा ऐसे कवि-सम्मेलनों के विरोध में कोई मेरा सहयोगी—

'उत्पत्स्यते च मम कोऽपि समानधर्मा' को चरितार्थ करता हुआ प्रकाश में आवेगा।

कवि-सम्मेलन नाम की वस्तु से मैं नहीं चिढ़ता। उसका वास्तविक वैज्ञानिक रूप, वर्तमान प्रकार तथा उसका समीचीन भाव क्या है और कैसा हो, यह सब यदि अवसर मिला, किसी एक अगले लेख का विषय बनाऊँगा।

कहानी

क्यों सलाम करूँ ?

स्वामी सत्यभक्तजी

(१)

सुरेश मेरा सहपाठी था। व्यावहारिक बातों में हम उसे बुद्धू समझते थे, पर तर्क-वितर्क और विचार में उसका पहला नम्बर था। कभी-कभी वह ऐसी अद्भुत और मौलिक बातें कहता था कि हम लोग दंग रह जाते थे। हमसे उसकी बातों का न तो कुछ उत्तर बनता था, न पूरी तरह समझ में आती थीं, इसलिए उसे पागल समझ लेते थे।

आज क़रीब बीस वर्ष बाद जब वह रेल में दिखाई दिया, तब क्षण भर तो मैं उसे देखता रहा। इन बीस वर्षों में सुरेश का चेहरा कहीं-से-कहीं जा पहुँचा था। फिर भी पहचानने में बहुत देर न लगी। मैंने पुकारा—सुरेश। सुरेश चौंककर मेरी अपेक्षा कुछ अधिक देर तक मुझे देखता रहा। मैंने कहा—लड़कपन के साथी को भूल गये सुरेश ?

अब की बार सुरेश का चेहरा खिल गया। वह लपककर मेरे गले से लिपट गया और बोला—भैया भानु! माफ़ करना मुझे, मैं तुम्हें जल्दी न पहचान पाया।

"वर्ष भी तो बीस निकल गये भैया! और मालूम होता है, तुम नेता बन गये हो। नेताओं को इतने आदमियों से मिलना पड़ता है कि उनके सूक्ष्म चित्रों के लिए भी दिमाग़ में जगह नहीं रहती। वे भी क्या करें ?"

सुरेश ने कहा—नेता तो नहीं बना हूँ भैया! पर एक साप्ताहिक ज़रूर निकालता हूँ। सम्पादक भी मैं ही हूँ। सम्पादक के दिमाग़ की दुर्दशा नेता के दिमाग़ से कुछ अधिक ही होती है। हाँ, पर बताओ तो कहाँ जा रहे हो ?

मैं—बम्बई।

सुरेश—तब तुम आज न जा पाओगे, रास्ते में तुम्हें मेरे घर ठहरना होगा।

मैं राज़ी हो गया, पर हँसते हुए पूछा—वहाँ और किस-किसके दर्शन होंगे ?

सुरेश—भाभी के, भतीजों के।

मैं—बधाई!

सुरेश—इसके लिए बधाई मत दो भानु, कुछ सहानुभूति प्रकट करो। भारत के लेखकों और संपादकों का कुटुम्ब बढ़े तो वे दयनीय होते हैं।

मैं—पर मैं समझता हूँ, अब वह बात नहीं है।

सुरेश—है, वही बात है, सत्य के पुजारियों के लिए वही बात है। अधिकार और धन के तांडव में से उन्हें ग़रीबी और आत्मगौरव की रक्षा की सतर्कता के बिना आगे बढ़ना असम्भव होता है।

मैं अच्छी तरह न समझा, और 'हूँ' करके रह गया।

(२)

सुरेश का घर सड़क पर है। बाहर के भाग में प्रेस है और उसी से लगा हुआ है उसका आफ़िस। उसके पीछे दो कमरे हैं। एक में रसोई बनती है। दूसरे में सोने की जगह है। बाहर एक छपरी और आँगन है। जाते ही पता लग गया कि सुरेश धन का अमीर नहीं है। फिर भी शहर में उसका प्रभाव है। स्टेशन से घर तक आते-आते क़रीब एक दर्जन आदमियों ने उसे सलाम किया था।

देखा, खाने-पीने की और कपड़ों आदि की जैसी चाहिए वैसी सुविधा नहीं है। फिर भी किसी के चेहरे पर मुझे दुःख न दिखाई दिया। भाभी को देखकर तो तबियत ख़ुश हो गई, इसलिए नहीं कि वे सुन्दर थीं, किन्तु उनकी कर्मठता, स्नेहशीलता और सहिष्णुता देखकर। साधारणतः ग़रीब-घरों में यह देखा जाता है कि पति को घर में घुसते ही पत्नी द्वारा अभाव की शिकायतें सुननी पड़ती हैं और पति को अपनी विवशता बताकर कुछ क्षमा माँगने का ढौंग करते हुए या कुछ बहाना बनाते हुए तसल्ली करानी पड़ती है। पर यहाँ बात ही दूसरी थी।

जब हम रोटी खा रहे थे, सुरेश ने भाभी से कहा—शारदा, नागपुर में प्रेस का सामान ख़रीदने के लिए ही पैसे पूरे न हुए, तुम्हारी सारी तो रह ही गई।

शारदा—तो जल्दी क्या है, अभी इन सारियों में ही एक-दो माह बिता दूँगी।

शारदा की इस उदारता से सुरेश के चेहरे पर कुछ

लज्जा और दीनता-सी नाचने लगी। पर मेरी अपेक्षा अधिक समझा शारदा भाभी ने, इसलिए उन्होंने प्रकरण बदलने के लिए कहा—हाँ, कल वह विज्ञापन-वाला आया था।

सुरेश ने बिना उत्साह के ही कहा—क्या कहता था?

शारदा—कहता था कि मेरे विज्ञापन की अगर सम्पादकीय टिप्पणी बना दी जाय तो साधारण विज्ञापन के रेट से दूने दाम दूँगा।

सुरेश—फिर तुमने क्या कहा? ले लिया क्या वह विज्ञापन?

शारदा—क्या बात करते हो? पाठकों के साथ ऐसी बेईमानी मैं करूँगी? मैंने मना कर दिया।

सुरेश के चेहरे पर क्षण भर प्रसन्नता नाची, पर तुरन्त ही दब गई। उसने कहा—अगर ले लेतीं तो तुम्हारी सारियों का इन्तज़ाम हो जाता।

शारदा—हिस! मैं ऐसी बेईमानी करने की अपेक्षा चिथड़े पहनकर बरसों बिताना अधिक पसन्द करती हूँ।

सुरेश चुप रह गये। मेरा गला भर आया, आँसू रोकने के लिए मुझे भीतर ही काफ़ी कोशिश करनी पड़ी। अगर शिष्टाचार बाधक न होता या ठीक अवसर होता तो मैं भाभी के पैर पकड़कर अपने हाथ पवित्र कर लेता।

भोजन करके जब हम दोनों आफ़िस में आये, तब मैंने कहा—सुरेश! तुम बड़े सौभाग्यशाली हो।

सुरेश—क्यों मेरी ग़रीबी का मज़ाक़ उड़ा रहे हो भैया? पर मैं कहे देता हूँ कि मुझे इस ग़रीबी का रंज नहीं है। मैं ऐसी ग़रीबी पर........

मैं—ठहरो जी! कहाँ से कहाँ बहे जा रहे हो? मैं तुम्हारा मज़ाक़ उड़ाऊँगा! मैं सच कहता हूँ, शारदा भाभी को पाने से तुम इतने सौभाग्यशाली हो कि एक लखपति, करोड़पति अपने धन के कारण इतना सौभाग्यशाली नहीं हो सकता।

सुरेश ठंडे पड़ गये। कुछ क्षण रुककर बोले। इसमें सन्देह नहीं भाई कि इस बात में मैं अपने को अमीर मानता हूँ। मैं ग़रीब हूँ, पर ग़रीबी की दीनता मुझमें नहीं आने पाई। मुझे किसी अमीर के आगे या बड़े-से-बड़े अफ़सर के आगे सलाम करने को विवश नहीं होना पड़ता। इसका जितना श्रेय मेरी विचारधारा को है, उतना ही श्रेय शारदा को है।

(३)

सुरेश के मकान के आगे चबूतरा था। शाम के समय कुर्सियाँ डालकर हम लोग बैठे थे। थोड़ी देर में एक मोटर आती हुई दिखाई दी। वह बैलगाड़ी की चाल से चल रही थी। उसे दोनों तरफ़ से कुछ आदमी घेरे हुए थे। मोटर में बैठे हुए महोदय उनका मुजरा ले रहे थे। मोटर सुरेश के घर के आगे भी आई। वहाँ कुछ क्षण रुकी भी। सुरेश की नज़र उन महोदय पर पड़ी और उनकी नज़र सुरेश पर। फिर भी दोनों में शिष्टाचार का कोई प्रदर्शन न हुआ। मोटर के निकल जाने पर मैंने पूछा—कौन महाशय थे ये?

सुरेश—यहाँ के नवाब।

मैं—नवाब? पर यह तो अँगरेज़ी इलाक़ा है, यहाँ नवाब कहाँ से आये?

सुरेश—जहाँ प्रजातन्त्र नहीं है, वहाँ सब जगह नवाब पाये जाते हैं।

मैं—पर अँगरेज़ लोग तो प्रजातन्त्रवादी हैं।

सुरेश—सिर्फ़ इँगलैंड के लिए, या उपनिवेशरूपी अपने गोरे बच्चों-कच्चों के लिए। हिन्दुस्तान में तो नवाबी ही है। यहाँ के बड़े नवाब हैं वायसराय, छोटे नवाब हैं गवर्नर, और सबसे छोटे नवाब हैं कलेक्टर, जो अभी मोटर में बैठकर तशरीफ़ ले गये हैं। इस तरह आदि से अन्त तक यह नवाबी शासन ही है।

मैं—नवाबों के हाथ में तो सब तरह के अधिकार होते हैं। पर इनके हाथ में कहाँ हैं?

सुरेश—तुम्हें मालूम नहीं है भैया? सभी बातें नवाबी हैं। ज़िले भर की मालगुज़ारी का प्रबन्ध इनके हाथ में । पुलिस, प्रेस, बाज़ार आदि सब इनके इशारे पर काम करते हैं और फिर ये ही ज़िले भर के मजिस्ट्रेट हैं।

मैं—तब तुमने इन्हें सलाम क्यों नहीं किया?

एकदम बदली हुई बात सुनकर सुरेश चौंककर मेरे मुँह की तरफ़ देखने लगे। फिर बोले—देखो भैया! सलाम के बारे में मेरी नीति यह है कि जो अपने उपकारी हैं या अपना उपकार करने के लिए जिनका द्वार खुला है, या अपने से अधिक जनता के उपकारी हैं अथवा जिनका जीवन गुण और सदाचार में अपने से उच्च है, उन्हें सलाम करना चाहिए। अधिकार या धन के कारण किसी को सलाम न करना चाहिए।

मैं—पर सरकारी कर्मचारी जनता के सेवक तो हैं ही।

सुरेश—सेवक तो वह ताँगेवाला भी है, जो हमें अपने ताँगे में स्टेशन से घर तक पहुँचा गया है। क्या तुमने उसे सलाम किया था?

मैं—क्या पागल-सरीखी बातें करते हो भाई, क्या ताँगेवाले ने मुफ़्त में अपनी सेवा दी है ? क्या नक़द आठ आने नहीं लिये हैं ?

सुरेश—तो हमारे ये नवाब महीने में नक़द दो हज़ार रुपये लेते हैं, जब कि इनसे अधिक योग्यता-वाले जनसेवक ठोकर खाते फिरते हैं। इस प्रकार अपनी सेवा का मूल्य ये इतना अधिक ले लेते हैं कि ये जनता के सेवक नहीं, जनता के क़र्ज़दार कहे जा सकते हैं। अब क्या तुम यह चाहते हो कि साहूकार क़र्ज़दार को सलाम करे ?

मैं तो उसकी बातें सुनकर चकरा गया। आँखों के सामने बाल्यावस्था का वही सुरेश नाचने लगा, जिसकी बातें तब भी पहेली थीं और अब भी पहेली हैं। उसकी बातों में सचाई छलकती मालूम होती थी, पर साथ ही यह भी मालूम होता था कि इसमें व्यावहारिकता का अभाव है। इस प्रकार तो शिष्टाचार की हत्या हो जायगी। मैंने पूछा—क्यों भाई, क्या तुम कचहरी में जाकर भी हाकिम को सलाम करना उचित नहीं समझते ?

सुरेश—बिलकुल नहीं। हाकिम पैसा लेकर न्याय तोलने का काम करता है, इसमें उसका कौनसा उपकार है, जिससे उसे सलाम किया जाय ? तराज़ू बिना वेतन के तौलने का काम करती है, घड़ी बिना वेतन हर समय समय बतलाती है। उसे कितने लोग सलाम करते हैं ? इसलिए सरकारी नौकरों को सलाम करना न केवल अनावश्यक है, किन्तु यह एक तरह की रिश्वत है।

मैं—सलाम करना भी रिश्वत ?

सुरेश—हाँ, सलाम करना भी रिश्वत। और पैसे से भी बड़ी रिश्वत। पेट भरने के बाद पैसे का उपयोग सिर्फ़ यही तो है कि मनुष्य उसके बल पर अपनी मान-प्रतिष्ठा बढ़ावे। मान-प्रतिष्ठा के लिए लोग लाखों रुपये ख़र्च कर देते हैं। इसलिए सलाम पैसे से भी क़ीमती चीज़ है। जो हाकिम इस सलाम की इच्छा करता है, वह रिश्वत ही लेता है। रिश्वत में आख़िर यही तो बुराई है कि उसके न मिलने पर कोई ज़रूरी कर्तव्य नहीं करता और मिलने पर वह ज़रूरी या अन्यान्य सुविधाएँ दे डालता है। इस तरह वह बेईमान बनता है। सलाम में भी यही बात है।

मैंने कहा—देखो भाई ! अँगरेज़ी सरकार तो चार दिन की है, लेकिन हम लोग अपने राजा-महाराजाओं को हज़ारों वर्षों से सलाम करते आये हैं !

सुरेश—हज़ारों वर्षों से चोरी-डकैती और झूठ आदि भी चले आये हैं तो क्या ये ठीक हैं ?

मैं—पर देखो, अफ़सर को या राजा को किया जानेवाला सलाम तुम उसे ही क्यों समझते हो ? वे लोग तो उस सत्ता के प्रतीक हैं, जो प्रजा ने स्थापित की है। उन्हें सलाम करने का अर्थ उन व्यक्तियों को सलाम करना नहीं, किन्तु उस सत्ता को सलाम करना है। उसमें बुराई क्या है ?

इस तर्क-युद्ध में चलाने के लिए मेरे हाथ में यह सबसे बड़ा शस्त्र आ गया था। पर इससे सुरेश ज़रा भी विचलित न हुआ। उसने कहा—अगर उस सलाम में व्यक्तियों का मूल्य नहीं है, प्रजा की सत्ता का ही मूल्य है, तो उस सत्ता के सामने उन अफ़सरों और राजाओं को भी झुकना चाहिए। तब वे उस सत्ता को सलाम कैसे करते हैं ? क्या वे इसलिए अपने को ही सलाम करते हैं ? यदि नहीं करते तो उस सत्ता को वे जिस तरह सलाम करते हैं, उसी तरह सब लोग करें। व्यक्तियों को प्रतीक बनाने का क्या अर्थ है ? इससे तो व्यक्ति ख़ुद अपने को ही वह सत्ता समझ बैठता है, जिसे उसे भी सलाम करना चाहिए और इसी से घमंड में आ जाता है। अपने को सेवक नहीं, मालिक समझने लगता है। इसलिए मैं तो यह मानता हूँ कि राजकर्मचारियों को सलाम करना सिर्फ़ रिश्वत देना ही नहीं, किन्तु प्रजा की सत्ता का नाश करना है।

अब मैं बिलकुल निरुत्तर हो गया था, फिर भी गिरते-पड़ते दो-चार दुलत्तियाँ झाड़ने के समान मैं कुछ और भी बोलना चाहता था। मैंने कहा—अच्छा, बताओ सुरेश ! गांधी, नेहरू आदि अगर स्वराज्य प्राप्त कर सरकारी पदों पर पहुँच जायँ तो उन्हें सलाह करोगे या नहीं ?

सुरेश—ज़रूर करूँगा, पर इसलिए नहीं कि वे सरकारी पदों पर पहुँच गये हैं, किन्तु इसलिए कि देश को स्वतंत्र करने के लिए उन्होंने वर्षों या जीवन भर तपस्या की है। मेरा मतलब यह है कि सरकारी अफ़सर को सरकारी अफ़सर समझकर सलाम न करो। हाँ ! अगर वह वयोवृद्ध है तो वयोवृद्ध समझकर सलाम कर सकते हो। अपने से बड़ा विद्वान् है तो विद्वान् समझकर सलाम कर सकते हो। पर यह सब वैयक्तिक गुणों की बात है, सरकारी मशीन के कल-पुर्ज़े होने की हैसियत नहीं।

(४)

जी चाहता था कि इस सात्त्विक स्वर्ग में कुछ दिन और बिताऊँ, पर टिकट बम्बई का था। बीच में अधिक ठहरने से बेकार हो जाता और काम भी कुछ ज़रूरी था, इसलिए मैंने बिदा ली। बिदा लेते समय मैंने सजल नयनों से कहा—भैया सुरेश! जब मैं रेल से उतरकर तुम्हारे साथ आया, तब सोचता था कि देखूँगा तुमने क्या कमाई की है? पर देखता हूँ, तुमने खूब कमाई की है, सब साथियों को मात कर दिया है।

सुरेश ने हँसकर कहा—कमाई का क्या पूछना? वह तो इतनी अधिक की है कि बीस वर्ष बाद अगर मेरा बालसाथी आवे तो उसे भी रूखी रोटियाँ खिलाता हूँ।

मैं—पर वे इतनी पवित्र हैं कि झूठ, ठगी आदि से सने हुए लखपति, करोड़पति लोगों के लड्डू, पेड़े उनके पासंग में भी नहीं ठहर सकते। वे इतने गौरव-पूर्ण हैं कि बड़े-से-बड़े अमीर और अफ़सर को भी वर्षों तप करने पर भी दुर्लभ हैं।

सुरेश ने सिर झुका लिया। उनकी आँखें भीगी थीं। पर जब मैंने उनके पैर छुए तो वे चौंक पड़े और डपट-कर बोले—यह क्या करते हो जी!

मैं—वही जो छोटा भाई बड़े भाई को करता है।

इतना कहकर मैं शारदादेवी की तरफ़ मुड़ा और उनके पैर छूने को झुका। पहले तो उन्होंने अपने हाथों से मुझे रोकने की कोशिश की, पर नारीत्व की मर्यादा के कारण उनके हाथ रुक गये और वे पीछे हटीं। पर मेरे सौभाग्य से पीछे दीवार थी, वे कुछ इंचों से अधिक न हट सकीं। उनके पैर छूकर मैंने हाथ पवित्र कर लिये। पर वे लज्जा के मारे घबरा गईं। उन्होंने दीनता से कहा—यह क्या करते हो लाला?

मैं—देवर-भौजाई के शिष्टाचार का जो पाठ रामायण हमें पढ़ा गई, वही सुना रहा हूँ। सौभाग्य से आज मैंने सीताजी के दर्शन किये हैं।

शारदा—आप सीताजी का अपमान कर रहे हैं लाला?

मैं—महामाता सीताजी का अपमान करने के पहले मैं चाहूँगा कि मेरी जीभ के सौ टुकड़े हो जायँ, पर मैं जानता हूँ कि उनका अपमान नहीं कर रहा हूँ। जब मैंने यह सुना कि "मैं ऐसी बेईमानी करने की अपेक्षा चिथड़े पहनकर बरसों बिताना अधिक पसंद करती हूँ।" तभी मैंने समझ लिया कि फटी सारी से ढकी हुई यह नारी नारीत्व के सत्व से बनाई गई है। इसी लिए मेरे हाथ उसके चरण छूकर पवित्र होने को तड़प रहे थे। पर विश्वास रक्खो भाभी, अब ये हाथ तुमसे उधार ली हुई इस पवित्रता का कहीं अपमान न करेंगे। ये हाथ अफ़सर के नाते किसी अफ़सर के आगे और अमीर के नाते किसी अमीर के आगे सलाम न करेंगे।

भाभी अंचल से आँसू पोंछ रही थीं। अन्त में चलते-चलते उन्होंने कहा—कभी-कभी आते रहना लाला।

मैंने कहा—यह कहने की बात नहीं है भाभी। लोग मुर्दा तीर्थों की यात्रा के लिए हज़ारों मील का चक्कर काटते हैं। अब अगर मैं इस ज़िन्दा तीर्थ को भूलूँ तो मुझसे बढ़कर अभागा और नास्तिक कौन होगा?

उस दिन मैंने रोते-रोते बिदा ली और उन्होंने रोते-रोते बिदा दी।

तीन महीने हो गये, अभी तक मैं उस तीर्थ की यात्रा को नहीं जा पाया हूँ। पर मुझे ऐसा मालूम होता है कि वे दोनों दिन-रात मेरे साथ रहते हैं। मैं जब किसी अफ़सर या अमीर को देखता हूँ तो अभ्यास-वश हाथ सलाम करने को उठते हैं, पर ऐसा लगता है कि सुरेश ने मेरा हाथ पकड़ लिया है और भाभी अपनी भीगी आँखों से मुझे देख रही हैं और तभी दिल चिल्ला उठता है—क्यों सलाम करूँ?

सिन्धी-भाषा का संस्कृत से सम्बन्ध*

अनुवादक श्रीरघुनन्दन विद्यार्थी

सिन्धी का उद्गम संस्कृत से हुआ है। सौभाग्य से यह अब भी विदेशी शब्दजाल से सुरक्षित है। प्राकृत के मर्मज्ञ वैयाकरण आज भी अपभ्रंश के स्फुट एवं निखरे हुए स्वरूप का दर्शन वर्तमान सिन्धी बोली में बिना हिचकिचाहट के कर सकते हैं। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से एवं भारतीय भाषाओं के तुलनात्मक अध्ययन से सिन्धी की हिन्दी, मराठी और बँगला से भी बढ़कर संस्कृत और प्राकृत से घनिष्ठता दृष्टि-गोचर होती है। ठेठ प्राकृत धातुओं एवं शब्दों के विद्यमान प्रचुर प्रयोग इसकी अत्यन्त सन्निकटता व्यक्त करते हैं। सुतरां सिन्धी अपनी संस्कृतपरायणता के कारण अन्य बहनों की स्पर्धा की पात्री बनी हुई है। अन्य भारतीय भाषाओं की तरह अपनी परम्परागत शैली का समुचित सम्मान कर, तथा प्रचलित ढीली-ढाली और सीधीसाधी नवीन बनावट को न अपना, तदर्थ व्याकरण के नियमों को भी अनुकूल बना, परिष्कृत एवं मार्जित शब्दों के गठन में अपनी एकतारिता (Internal-harmony), मधुरता, रुचिरता एवं सुन्दरता में यह अन्य भाषाओं से अधिक समुन्नत है।

प्राकृत के मर्मज्ञ वैयाकरण क्रमादीश्वर ने जो-जो नियम अपभ्रंश के सम्बन्ध में निर्धारित किये हैं, उन सब नियमों का पालन सिन्धी-भाषा में ठीक-ठीक हो रहा है, जब कि दूसरी भाषाओं में किसी भी प्राकृत के नियमों का पालन नहीं हो रहा है। अतएव एक उद्गम होने पर भी सिन्धी एक स्वतन्त्र भाषा बन गई है, जो स्वरूप में दूसरों से सर्वथा भिन्न है।

सिन्धी सिन्ध में बोली जाती है, जो तीन भागों में विभाजित है। व्याकरण की दृष्टि से विशेष अन्तर न रखते हुए भी तीनों का उच्चारण प्रायः भिन्न-भिन्न है। 'लारी' पश्चिमी सिन्ध (Lower-Sind) में, 'सिराइकी' हैदराबाद के पश्चिमोत्तर प्रदेश (Upper-Sind) में, और 'थरेली' थरपारकर प्रदेश (Thar) में बोली जाती है।

लारी अधिकांशतया गद्य में प्रयुक्त होने पर भी सर्वथा शुद्ध नहीं है, जिसमें स्वरों को खूब तोड़मरोड़ और व्यंजनों को भी उसके अनुरूप बनाने के लिए कोमल बना दिया है।

'सिराइकी' बोली ने 'लारी' से अत्यधिक शुद्ध होने के बावजूद भी अपने उच्चारण को बिलकुल बिगड़ने नहीं दिया है। 'सिराइकी' की सरसता एवं शुद्धता के फल-स्वरूप सिन्धी में एक कहावत प्रचलित है—"लारजो पढ़्यो, सिरेजो ढगो"। इसका तात्पर्य यह है कि लार का पंडित भी सिराकी का बैल ही है। 'थरेली' भाषा जोशीली और इन दोनों से निराली ही है। वह प्रायः मारवाड़ी में मिल गई है जिसको शिकारी एवं जरायम पेशा लोग बोलते हैं। 'थरेली' का अपना विशिष्ट साहित्य नहीं है। ये उपर्युक्त वाक्य डॉ० ई० ट्रम्प के "सिन्धी-भाषा के व्याकरण का अन्य भारतीय भाषाओं से सम्बन्ध"-नामक पुस्तक से लिये गये हैं, जिसको १८७२ में भारत-सरकार की आज्ञा से लिपजिग (Liefzig) जर्मनी में छपवाकर ट्रबनर एण्ड कंपनी ने प्रकाशित किया था। संस्कृत की प्राकृत अवस्था से ही अपभ्रंश का आविर्भाव हुआ है। अपभ्रंश दो भागों में विभक्त है—नागरी और विराचद (व्राचड़)। यह 'विराचद' अपभ्रंश ही घिस-घिसाकर सिन्धी-भाषा में परिणत हुई है। प्राकृत के वैयाकरण मार्कण्डेय ने भी इसको स्पष्ट किया है कि जो अपभ्रंश सिन्धुदेश में प्रचलित है, उसे 'विराचद' कहते हैं। दुर्भाग्य से सिन्ध के बाहर बहुत ही थोड़ा शिक्षित-समाज सिन्धी के इस इतिवृत्त को जानता है। अधिकतर लोग इसका प्रादुर्भाव अरबी तथा फ़ारसी से मानते हैं। इस भ्रान्त धारणा का मूलस्रोत इसकी अरबी-सिन्धी-लिपि है। अतः यह बतलाना नितान्त आवश्यक है कि सिन्धी-भाषा अरबी-लिपि में कैसे लिखी जाने लगी और इसी को प्रमाणित करने के लिए आपका ध्यान हम भारत के प्राचीन इतिहास की ओर आकृष्ट करते हैं।

सिन्ध में ७१२ A. D. तक आर्यों का शासन था। बौद्धधर्म के प्रभाव से भी यह अछूता नहीं रहा था। बौद्धकाल के भग्नावशेष, जो भिन्न-भिन्न स्थानों में पाये जाते हैं, इसके ज्वलंत प्रमाण हैं। भारत का सीमा-

* डी० बी० मीरचंदानी के अँगरेज़ी लेख का अनुवाद।

प्रदेश यह बृहस्पतिक्षेत्र सर्वप्रथम ७१२ A. D. में अरबों के शिकंजों मे प्रथित हो रौंदा जाने लगा। हिन्दू मुसलमान बनाये जाने लगे। परिणामतः बहुत थोड़े काल में सिन्ध की अधिकांश जनता अरबी संस्कृति एवं सभ्यता का स्वागत कर मुसलमानी रीति-रिवाजों को अंगीकृत करने लगी। लगभग ग्यारह सौ वर्ष तक सिन्ध की यही दशा रही, बल्कि उत्तरोत्तर बिगड़ती ही गई। तथापि हिन्दू रूढ़िवादी एवं सनातनी होने के कारण बचे हुए अति अल्पसंख्यक भी अपनी संस्कृति को सुरक्षित रखने में समर्थ हुए। सन् १८४३ में जब अँगरेज़ों ने सिन्ध को जीता, उस समय हिन्दू-संस्कृति अपने जीर्णशीर्ण स्वरूप में विद्यमान थी।

सिन्ध की लिपि उस समय वणिकी देवनागरी थी, जो बहीखातों आदि में लिखी जाती थी। संस्कृत भी पाठशालाओं में पढ़ाई जाती थी, जिनकी संख्या बहुत थोड़ी थी। मीरों के शासनकाल में शिक्षा का कोई प्रबन्ध न था। मुल्ले और मौलवी, क़ुरानशरीफ़ को रटाया करते थे। ऐसे मदरसों की संख्या अँगरेज़ी राज्य के प्रारम्भ में छः सौ थी। अँगरेज़ों ने जब शिक्षाप्रसार की ओर ध्यान दिया तो उन्हें ख़ूब कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। हिन्दू और मुसलमानों की एक भाषा होने पर भी लिपि एक न थी। राजभाषा फ़ारसी थी। हिन्दू अपना हिसाब-किताब मोड़ी वणिकी में रखते थे, जिसमें मात्राओं का अभाव होने से पढ़ने में कठिनता पड़ती थी।

अँगरेज़ों ने फ़ारसी के स्थान में सिन्धी को राज-भाषा बनाना चाहा, किन्तु उनकी दृष्टि में कोई स्वतन्त्र सिन्धी-लिपि न थी। सिन्धी की वास्तविक और ठीक लिपि देवनागरी ही थी, परन्तु सर रिचर्ड बर्टन ने अरबी-लिपि को, जो सिन्धी के विशिष्ट उच्चारण से समन्वय नहीं रखती थी, नये-नये लात और नूनों का आविष्कार करके भी अपनाने का आग्रह किया। केप्टेन स्टेक (Stack) जो सिन्धी के सर्वश्रेष्ठ विद्वान् थे तथा जिन्होंने सिन्धी-अँगरेज़ी-कोष 1854, अँगरेज़ी-सिन्धी-कोष 1847 और सिन्धी-व्याकरण 1849 नामक तीनों पुस्तकों का देवनागरी में ही निर्माण किया था। नागरी को ही सिन्धी की अधिकारिणी जतलाते हुए प्रान्त में चलती वणिकी को आवश्यक सुधार के साथ स्वीकृत करने की प्रार्थना की। पर उस समय के सिन्ध के कमिश्नर सर बार्टल फ्रेअर ने इस पर अपनी विवशता प्रकट की। उनका मत था कि न हिन्दू अरबी-लिपि को मानने को तैयार होंगे और न मुसलमान नागरी को ही स्वीकार करेंगे।

एक भाषा के बिना कारोबार चलना कठिन था, अतः सन् १८५३ में ईस्ट इंडिया कम्पनी के कोर्ट आफ़ डाइरेक्टर्स ने अरबी-लिपि को प्रयोग में लाने का निश्चय किया; तदर्थ दस सहस्र रुपयों का प्रचार-व्यय भी सेंकशन कर दिया। उसी वर्ष मि० इलियस (Mr. Ellias) के नेतृत्व में सिन्धी के कतिपय विद्वानों की एक समिति ने अरबी के उनतीस अक्षरों को सिन्धी बोली की विशिष्ट कण्ठ्य-तालव्यादि ध्वनियों का प्रतिपादन करने में असमर्थ जान बावन वर्णों की एक लिपि अरबी-सिन्धी निर्धारित की। तत्पश्चात् उसी लिपि में फ़ारसी, मराठी, अरबी और गुजराती ग्रन्थों के अनुवाद होने लगे। वही अरबी-सिन्धी १८६६ में पुनः दुहराई गई। इसी तरह सुरभारती से उद्भूत सिन्धी का राज्य-कारणों से अना-वश्यक लिपि-परिवर्तन मोटी भूल ही नहीं, सिन्धी का अधःपतन था। ठीक डाक्टर ट्रम्प ने घोषणा की—

No alphabet suits the Sindhi letters, than the Sanskrit alphabets, the Sindhi being the genuine daughter of Sanskrit.

सिवा देवनागरी के सिन्धी बोली को कोई भी लिपि अनुकूल नहीं हो सकती। सिन्धी-व्याकरण (1972) के २६वें पृष्ठ पर फिर उसी बात को दुहराते हुए डाक्टर साहब ने लिखा है कि भारतीय भाषाओं को अरबी अथवा अन्य विदेशी लिपि में लिखना उनकी हत्या करना है।

सिन्धी के विदेशी लिपि में लिखी जाने का मुख्य दुष्परिणाम यह हुआ है कि इतरप्रांतीय इसका आविर्भाव अरबी तथा फ़ारसी से मानते हैं। यहाँ तक कि भाषाशास्त्रज्ञ भी सिन्धी की इस वंशपरम्परा को नहीं जानते। दूसरे हम सिन्धी हिन्दुओं का भारत के अन्य हिन्दुओं से सांस्कृतिक सम्बन्धविच्छेद हो गया है। हम धार्मिक ग्रन्थों के परिशीलन से सर्वथा वंचित रहते हैं, जो केवल संस्कृत और हिन्दी में ही पाये जाते हैं। यही तो कारण है कि सिन्ध के हिन्दू नये-नये मत-मतान्तरों को अपनाते हैं; पाश्चात्य सभ्यता के उपासक बन आमोद-प्रमोद में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं।

सिन्ध में हिन्दुओं की अल्प संख्या होने के कारण देवनागरी को ठुकराना इष्ट नहीं था, जब कि संस्कृत से आविर्भूत अन्य भारतीय भाषाएँ देवनागरी में ही लिखी जाती हैं। साम्प्रदायिकता का कारण केवल बहाना-मात्र था; क्योंकि बंगाल में बँगला, महाराष्ट्र में मराठी और गुजरात में गुजराती को तत्-तत्प्रांतीय ईसाइयों, मुसलमानों और यहूदियों ने प्रेम से अपनी-अपनी मातृभाषाओं के रूप में अपनाया है। सिन्ध में भी सिन्धी मुसलमान इसे प्रेम से अपनाते, यदि यह स्वीकार की जाती। सुतरां इसके दोषी अँगरेज़ ही हैं।

यह भी ध्यान में रखने योग्य बात है कि सिन्धी केवल सिन्ध में ही बोली नहीं जाती। सिन्ध के निकटवर्ती कच्छ और काठियावाड़ के उत्तरी प्रदेश में बोली जानेवाली कच्छी भी सिन्धी ही है। ठीक इसी तरह उत्तर में भावलपुर से मुलतान तक बोली जानेवाली लहँदा भी सिन्धी से घना सम्बन्ध रखती है। १८६२ ई० में सिन्धी-भाषा के नवीन व्याकरणकार श्रीभ्रमटमल नारूमल ने अपनी पुस्तक के उपोद्घात में बतलाया है कि यद्यपि सिन्धी शुद्ध संस्कृतभाषा है, तथापि आठवीं शताब्दी से अरबी के साथ सम्पर्क होने के कारण सिन्धी में फ़ारसी तथा अरबी-शब्दों का सम्मिश्रण हो गया है। उनके मतानुसार सिन्धी की शब्दसंख्या बीस हज़ार है, जो इस तरह से विभाजित है—

१२००० संस्कृत

३५०० देशी (संस्कृत के तत्सम शब्द)

२००० फ़ारसी

२५०० अरबी

इस सम्बन्ध में हमें यह बतलाते हुए प्रसन्नता होती है कि सिन्धी की समस्त क्रियाएँ, सर्वनाम, विशेषण, अव्यय, प्राकृतिक और भौगोलिक नाम, पशु और पक्षियों की बोलियाँ, उद्योग-धन्धों के नाम तथा अन्यान्य आवश्यक शब्द, जो भाषा के मुख्य अंग हैं, केवल संस्कृत के ही शब्द हैं। फ़ारसी और अरबी के केवल राजकीय, शिकार, युद्ध, सेना और ओषधियों के नाम सिन्धी में स्थान पा सके हैं।

अतः यह निर्विवाद सत्य है कि प्रचलित अरबी-सिन्धी-लिपि अप्राकृतिक (unnatural) और अयोग्य होने के साथ-साथ अग्राह्य भी थी। किन्तु यह लगभग अस्सी वर्षों से प्रयोग में आ रही है। प्रान्त की बहुसंख्यक मुसलिम जाति भी इसी के पक्ष में है। इस वक़्त लिपि-परिवर्तन के प्रश्न को हल करना अतीव दुष्कर ही नहीं, असाध्य भी है।

अतः भारतीय संस्कृति की रक्षा के लिए पाश्चात्य सभ्यता को श्रेयस्कर माननेवाले, पतन के कगारे पर खड़े हुए भी विनाशकारिणी तन्द्रा में झूमते हुए आर्य सन्तानों को बचाना हमारा पुनीत कर्तव्य है। उसके लिए हम अधोलिखित कार्यक्रम को यथाशक्य अपनाना चाहते हैं—(१) सिन्धी-भाषा में लिखी जानेवाली समस्त धार्मिक, सामाजिक और शिक्षाप्रद (moral) पुस्तकें देवनागरी में लिखी जायँ। (२) समस्त घरेलू पत्रव्यवहार नागरी में हो। (३) सम्पूर्ण कन्या-शालाओं में सिन्धी देवनागरी-लिपि में लिखाई-पढ़ाई जाय। (४) इतरप्रान्तीय बन्धु, जैसे कि गुजराती, पंजाबी, दक्षिणी, संयुक्तप्रान्तीय और मारवाड़ी आदि, जो सिन्ध के निवासी बन चुके हैं, अनिवार्य रूप से सिन्धी को देवनागरी में पढ़ें।

इन सब बातों की ओर ध्यान देकर ही आज सिन्ध ने अपने प्रांगण में हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का आवाहन किया है। अतएव हम भारती हिन्दी के कर्मनिष्ठ अनन्य उपासकों का ध्यान इस ओर आकर्षित करते हैं कि इस शुभ अवसर पर समस्त आपदाओं को झेलते हुए भी आप सिन्ध में पधारें और भारतीय संस्कृति एवं राष्ट्रभाषा हिन्दी को समुन्नत एवं पल्लवित बनाने के लिए गन्तव्य पथनिर्देश करें।

एक स्वप्न—एक अध्ययन

श्रीसरस वियोगी बी० ए०

इस समय रात्रि के दो बजे हैं। मैं सोते से अभी-अभी इस स्वप्न को अंकित करने के लिए उठा हूँ। स्वप्न सचमुच भयंकर है। जिस समय मैं यह स्वप्न अंकित कर रहा हूँ, पास ही तीन फ़ुट की दूरी पर मेरा नवजात तीन मास का शिशु व बीस वर्ष की पत्नी सो रही है।

स्वप्न है—जैसा मैंने देखा। शाम का समय है। मैंने पत्नी से कहा 'बच्चे को तेल मलकर नहला दो।' उसने कहा 'सुबह तो नहलाया था।' मैंने कहा 'फिर नहला दो।' उसने कहा 'तेल नहीं है।' मैंने कहा 'कल आया था।' उसने कहा 'वह ख़राब है।' मैंने कहा 'पड़ोस के मकान से बदले में अच्छा तेल भी आया था।' उसने कहा 'वह नहीं है।' मैंने कहा 'मैं देखता हूँ वह क्यों नहीं है।' मैं अन्दर चल पड़ा। उसने सोचा कहीं न कहीं से ढूँढ़ निकालेंगे। मुस्कराने लगी। बोली, 'है, अभी लाकर लगाती हूँ।' मुझे उसके इस झूठ पर क्रोध आ गया। घर में घुसा। जितनी काँच या चीनी की चीज़ें थीं—मय कंडील के तोड़ डालीं। जिस-जिस चीज़ को उसने मना किया उसे और भी तोड़ा। हाँ, कहीं स्याही की दावात फोड़ी हो—इसका मुझे ध्यान नहीं। सामने से बाबू नन्दकिशोरजी * आये। उस समय मेरे हाथ में काँच का गिलास था जिसमें आधा सेर दही था। मैंने उससे आधा दही निकाला और लगा उन पर फेंकने। वह बोले 'हाँ, हाँ, यह क्या करते हो?' वह बड़े थे। इसलिए उन पर तो फेंका नहीं। दीवारों पर मार फेंका। दाल की डेगची को अपने बिस्तरे पर उलट दिया। ज्यों-ज्यों मेरी घरवाली ने मुझे मना किया, त्यों-त्यों मैंने और किया। जब घर की सारी चीज़ें मिटा चुका तो घर से चला गया।

कुछ वर्षों बाद। मुझे ध्यान आया। मेरे घर में श्रीकृष्णजी की मढ़ी हुई तस्वीर है। उसे तो मैंने तोड़ा नहीं। घर को लौट पड़ा। जब पास-पड़ोस के लोगों ने मुझे आते देखा तो मेरे घर की ओर सनकारा। मेरी पत्नी मुझे आते देखकर ख़ुशी हुई। पत्नी थी या कौन, मैं नहीं कह सकता। परन्तु स्त्री अवश्य थी। श्वेत रंग था। तीस और पैंतीस वर्ष के बीच की आयु थी। घुसते ही उसने कहा 'आख़िर कहाँ ही था घर लौटकर आओगे? झक मारकर आये ही न।' मैंने कहा 'मैं श्रीकृष्णजी की तस्वीर फोड़ने आया हूँ। पिछली बार जब मैं घर से निकला था, मैंने सब चीज़ें तोड़फोड़ डाली थीं। वही रह गई है। इसलिए मैं उसे भी तोड़ना चाहता हूँ।' पास ही कोई संन्यासी खड़े थे। उन्होंने कहा 'बच्चा, तू यह नहीं कर सकता।' मैंने कहा 'करूँगा।' उन्होंने कहा 'देखूँ कैसे करेगा?' स्त्री ने संघर्ष बढ़ते देखा। बोली 'गुरुदेव, मैं स्वयं कृष्ण के चित्र को अपने हाथ से जलाऊँगी।' सखी से कहा 'दिया जलाओ।' उसने दिया जलाया और वह स्त्री उस चित्र के साथ ही जल गई। हाँ, उसके जल जाने पर मुझे बहुत अनुताप हुआ। मैं सोचने लगा, यह सब मेरे कारण हुआ। इस दुःख में ही मेरी निद्रा भंग हुई और उस समय मैंने अपनी दुर्बल आत्मा को भय के रूप में पाया। बत्ती जलाई। उठकर बैठा और ऊपर लिखा हुआ स्वप्न अंकित करने लगा। इस स्वप्न में केवल यह पता नहीं चलता कि मेरे स्त्री और बच्चे का क्या हुआ तथा वह नई स्त्री और गुरुदेव कौन थे तथा यह स्त्री मेरे पीछे उस चित्र को लेकर क्यों जली? जाग्रत् अवस्था का विचार है। संभवतः वह विद्यापति हों तथा वह राधा हो। मगर स्वप्न में तो यही प्रतीत होता था जैसे घर का कोई बड़ा-बूढ़ा हो, जो यह कह रहा हो 'अजीब नालायक़ लड़का है। बहुत इसकी हो जाने दी। अब देखें यह ऐसे कैसे करता है?' और स्त्री जिसका युवक से स्नेह हो—पत्नी या मा के रूप में—उसके हठ की पूर्ति के लिए स्वयं जलना या मरना पसन्द करे।

स्वप्न मैंने क्यों लिखा? इसलिए कि जागने पर इस स्वप्न में मुझे सत्य का अंश प्रतीत हुआ। मुझे सत्य से स्नेह है और असत्य के प्रतिकार के लिए ही मुझे क्रोध आता है। यहाँ भी एक छोटे-से घरेलू असत्य के लिए ही मैंने अपना घर उजाड़ दिया। यह बात नहीं कि यह स्वप्न में ही हुआ हो। बचपन में

---

* मेरे सुपरिचित।

जब मैं दस या बारह वर्ष का था, एक बार जब मैं अपनी बहन के साथ इन्दौर जाना चाहता था और संभवतः मेरी मा न जाना चाहती थी। मैंने अपने घर के सारे पात्र क्रोध में आकर देहात में पेशाब करने के स्थान पर डाल दिये थे। कानपुर में बिना-बुनाया अच्छा खासा पलँग चक्कू से काट दिया था। काँच की प्यालियाँ व शीशे के गिलास तो सयाना होने पर आज तक अनेक बार तोड़ चुका हूँ। चूल्हे को फोड़ देना व पकी हुई चीज़ को राख में मिलाना या बिना खाये फेंक देना, इसके भी उदाहरण मेरे सम्मुख हैं। हाँ, स्वप्न में वर्णित घटना मेरे क्रोध की पराकाष्ठा है, जहाँ मैं एक बार एक भरेपुरे परिवार को भी—एक असत्य से उकताकर तथा उसके प्रतिकाररूप—मिटाकर छोड़ देता हूँ।

स्वप्न की दूसरी सचाई मेरा साहित्य के प्रति अनुराग है। कहीं भी मैंने इसमें स्याही की दावात नहीं फोड़ी जब कि लौटती बार घर छोड़कर भी मैं श्रीकृष्ण के चित्र को तोड़ने के लिए घर आया था। यदि इस चित्र को लेने के लिए आता तो कहीं सौभाग्य था। परन्तु मैंने मानवीय विकारों के आगे सदा ही दैवी शक्तियों की उपेक्षा की है। यौवन के गीतों में से 'रूठे देवता से' कविता इस भावना की प्रतीक है। हाँ, साहित्य के इस स्नेह के पीछे बहुत कुछ श्रीकृष्ण-विषयक वैष्णव भावना का हाथ है। मुझे विद्यापति के गीतों से अतीव अनुराग है। सोचता हूँ, कविता का लिखना मैंने इसी कवि से सीखा। संवत् १९९२ की बात है। 'माधुरी' के किन्हीं पृष्ठों पर उनका वसन्त गीत * "नव वृन्दावन, नवनव तरुगण, नवनव विकसित फूल" देखा। तब से आज तक मैं रस के इस अजस्र स्रोत से अपनी प्यास बुझाता रहा। परन्तु न तो मेरी प्यास ही बुझी और न रस का यह स्रोत ही हलका पड़ा। विद्यापति के पश्चात् मैंने हिन्दी में कृष्ण-विषयक साहित्य पर सूर तथा मीरा को पसन्द किया है।

स्वप्न का तीसरा सत्य मेरी भोजन-विषयक रुचि है। मुझे दूध से दही कहीं अधिक पसन्द है। चाय की प्याली का तो मैं मशहूर ग़ुलाम हूँ और घर में मैं दाल का भक्त कहलाता हूँ। जिन चीज़ों को मैंने तोड़ा या फेंका, उनमें यह सब चीज़ें आ जाती हैं। इस प्रकार यह स्वप्न प्रत्येक दृष्टिकोण से सत्य के निकट पहुँच जाता है।

हाँ, एक बात जिसका मुझे क्लेश है, वह है स्वप्न देखने के पश्चात् मेरे ऊपर भय का आतंक क्यों था? संभव है असत्य, क्रोध, संहार, मृत्यु आदि इन सब वस्तुओं को देखकर मेरी आत्मा को क्लेश हुआ हो; परन्तु इस आतंक के सम्बन्ध में—स्वप्न टूटते ही तथा जाग्रत् अवस्था में आते ही—मेरा अपना बोध भौतिक बंधनों की आत्मा पर विजय थी। मुझे ऐसा लग रहा था, जैसे मेरी आत्मा संसार के बंधनों के कारण ही इस क्लेश को पा रही है। सत्य क्या है? केवल भविष्य जानता है। मैं तो केवल अपने जीवन के २६वें वर्ष में देखे हुए इस सपने को ज्यों का त्यों एक टिप्पणी के साथ उसी समय अंकित कर पौषकृष्ण १०, सं० २००२ को रात्रि के तीन बजे लेखनी को विश्राम दे रहा हूँ।

* गी० ६०६ विद्यापति ठाकुर की पदावली श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त [१९१० संस्करण]

कहानी

चर्खे के बाद

पं० गंगाप्रसाद मिश्र एम्० ए०

चौखट के सूराख़ों में ताने का तागा पिरोते हुए त्रियुगी ने कहा—'क्यों रे पल्ला, क्या कोई ऐसी तर्कीब नहीं निकल सकती जिससे हम लोगों को इतनी मेहनत न करनी पड़े?'

पल्ला कुछ विचारमग्न-सा था, त्रियुगी की आवाज़ सुनकर विचारधारा टूटी; ज़रा गर्दन टेढ़ी करके त्रियुगी की बात सुनी और बोला—'यार, हम लोगों की तो कोई बात नहीं, जो कुछ भी करना होता है अपनी ताक़त से काम लेकर उलटा-सीधा कर ही डालते हैं, पर स्त्रियों का कष्ट देखकर तो छाती फटती है। राक्षसों की तरह जुटकर हम लोग तो सुबह से शाम तक बीस गज़ कपड़ा पूरा कर डालते हैं, लेकिन स्त्रियों के लिए दो हज़ार गज़ सूत एक दिन में कातना कितना कठिन काम है! मेरी सुरुचि जिस समय

काम करके घर लौटती है तो देखता हूँ उसकी उँग-लियों के पोर सूज आते हैं।'

त्रियुगी का हृदय भी आर्द्र हो आया, वह बोला—'वाक़ई उन लोगों को हमसे ज़्यादा कष्ट है। उस रोज़ यहाँ से घर जाते वक़्त बड़े भाग्य से सविता से रास्ते में भेंट हो गई। उसका गुलाबी चेहरा कुम्हलाया हुआ था, और आँखों में आँसू भरे हुए थे। मेरे समाचार पूछने पर फूट-फूटकर रोने लगी। फिर अपनी पीठ मुझे दिखाई, नीले-नीले अनगिनती बर्त पड़े हुए थे। पूछा—क्या बात हुई? तो बोली—आज हाथ में दर्द होने की वजह से मैं साढ़े सत्रह सौ गज़ सूत ही कात पाई। इसी पर जमादारिन ने पीठ की यह हालत कर दी। मेरा ख़ून उबला, लेकिन कोई चारा न था। तब से मैं भी अक्सर यह बात सोचा करता हूँ कि अगर कोई ऐसी तर्कीब निकलती जिससे कम वक़्त में ज़्यादा सूत कत पाता तो कितना अच्छा होता।

पल्ला त्रियुगी की आँखों में आँखें डालकर बोला—कुछ तकलीफ़ भी उठा सकते हो कि ख़ाली बातें ही बातें?

'नहीं, यह बात नहीं है। जो कुछ कहो करने को तैयार हूँ।'

'सुनो, उस रोज़ जो जहाज़ अपने द्वीप के किनारे लगा था उसका एक यात्री मुझसे कहता था कि अपनी मातृभूमि भारतवर्ष में एक आदमी ने तकली के तकुवे को एक पहिये में ऐसा लगाया है कि तकली के बनिस्बत कई गुनी तेज़ी से सूत कत सकता है। उस यन्त्र को क्या कहते हैं, यह मुझे ठीक याद नहीं रहा। अगर हिम्मत हो तो आओ, भारत चलकर वह यन्त्र ले आवें।'

त्रियुगी के मुख पर एक क्षण के लिए प्रसन्नता की रेखा आई, पर वह बहुत शीघ्र विदा हो गई। उसने उदासी से कहा—'हाँ, अगर हम लोग उसे ला सकते तो बड़ा अच्छा होता। लेकिन पहली बात तो यह है कि यह महाजन, जो हम लोगों को भारत से ख़रीदकर लाया है, अपने हाथ से हमें क्यों निकलने देने लगा। और मान लो वह जाने भी दे, तो यहाँ कौन-सा जहाज़ धरा है जिस पर सवार होकर हम तुम इस विशाल हिन्दमहासागर को पार कर सकेंगे।'

'महाजन को तो मैं समझा लूँगा, और जागेश्वर की वह बड़ी नाव माँग लेंगे। मुझे वह देने से इनकार न करेगा। बस, तुम्हारे कमर कसने की देर है।'

'अच्छी बात है, तो मैं भी तैयार हूँ, लेकिन नाव में है बड़ा ख़तरा; कहाँ महाहिन्दसागर की यह ऊँची-ऊँची लहरें और कहाँ वह नौका! ख़ैर, कोई बात नहीं, मैं तैयार हूँ।

दोनों काम में लग गये। शाम होते-होते जमादार अपना गज़ लेकर आ गया। कपड़ा नापा, दो-चार इधर-उधर की खुचेड़ निकाली, 'यह इस जगह इतना खुर्दरा क्यों है?' 'यह सूत क्यों निकला हुआ है?' मज़दूर के सूत की ख़राबी बताने पर बिगड़ उठा। उसे ज़ोर से बाहर ढकेल दिया और दूसरे का कपड़ा नापने में लग गया।

× × ×

सूर्य की किरणों ने अभी-अभी आकाश को लाल रंग में रँगना शुरू किया था। लेकिन उस महाजन के द्वीप के किनारे उन क्रीत दासों की एक बहुत बड़ी भीड़ एक नाव के पास बालू पर खड़ी हुई थी।

हवा प्रसन्नता से नाव के पालों को हिला रही थी और सूर्य एक-एक बालू के कण को सुनहला बना रहा था। पर सुरुचि और सविता के हृदयों में, उनके लाख प्रयत्न करने पर भी, आँधी-सी चल रही थी। उन्हें सब तरफ़ अँधेरा-सा होता दिखाई पड़ता था और सब चीज़ें घोर काले रंग में रँगती हुई दिखलाई पड़ती थीं।

त्रियुगी और पल्ला सब लोगों से मिल-मिलकर बिदा ले रहे थे। पुरुष आपस में कह रहे थे—'ये लोग कितने चतुर हैं कि महाजन से भी इन्होंने छुट्टी ले ही ली।' और स्त्रियाँ देवी-देवताओं को हृदय में मनाती हुई कहती थीं—'परमात्मा इनका कल्याण करे। ये हम लोगों की सुविधा के लिए ही तो इतना कठिन प्रयास करने जा रहे हैं।'

नाव चली। जिन लोगों ने कठिनता से अपने आँसू रोक रखे थे, वे भी फूट पड़े। त्रियुगी और पल्ला के हृदय में उत्साह के स्थान पर थोड़ा-सा मोह उत्पन्न हो ही गया तथा वे एकटक अपने उन निरन्तर साथ रहने के कारण बने हुए आत्मीयों की ओर देखते रहे।

पल्ला का छोटा बच्चा मा की गोद से उतर-उतरकर पिता के पास जाने को मचल रहा था। सुरुचि अपने दुःख को हृदय में ठेलकर उसे पुचकारने में लगी थी और सविता, वह तो मूक भावहीन खड़ी थी। उसके

मुख पर किसी प्रकार का भाव दृष्टिगोचर न होता था, पर उसके हृदय में—आह ! एक बड़ी गहरी वेदना थी। त्रियुगी और उसमें उस समय से ही प्रेम हो गया था, जब वे दोनों भारतवर्ष के उस गाँव में नीम-तले खेलते थे। दोनों को मन्त्री के, जो राजा की चोरी से लोगों को पकड़कर गुलाम के तौर पर दूर के द्वीपों के लिए बेचा करता था, नौकर साथ ही उस गाँव से गुलाम बनाने को पकड़कर लाये थे और दोनों उस द्वीप में एक साथ ही दांगे गये थे। इन सौभाग्य और दुर्भाग्य के खेलों में सदा साथ ही रहने के कारण उनका प्रेमबन्धन गाढ़ा हो गया था और जब समय आया था कि वे सदा के लिए प्रेमरज्जु में बँध जाते, त्रियुगी त्याग-शील और परमार्थी होकर हिन्दमहासागर में वह छोटी-सी नाव लेकर चल दिया था और सविता अपने एक-एक आँसू को ख़ून बनाकर हृदय में पीकर रह गई थी।

× × ×

उनकी नाव उत्तर की ओर बढ़ती चली जा रही थी, ठीक उत्तर की ओर। सूर्य पश्चिम की ओर उतरता चला जा रहा था। आकाश ख़ाली था। स्थल की भाँति उस समय वहाँ चिड़ियाँ अपने घोंसलों को न लौट रही थीं। डाँड़ चलाते हुए त्रियुगी अपने द्वीप की उस मीठी सन्ध्या के विषय में सोचता था, जब वह और सविता महाजन के यहाँ से काम करके आते वक़्त कभी-कभी मार्ग में मिल जाते थे और दोनों किसी एक के घर जाकर एक साथ हाथ-पैर धोकर अपना श्रम दूर करते और बातें करते हुए जलपान करते थे।

पल्ला मन में सोचता था, 'मैं इस वक़्त कैसे उत्साह से घर की ओर लौटता था। चरवाहे जानवरों को लिये हुए आते दिखाई देते थे, लोगों के घर से धुआँ निकलता हुआ आकाश में चक्कर लगाकर ऊँचा उठता था। काम से आई हुई सुरुचि मन्नू को लेकर खेलने लगती थी। मुझे आते देखकर मन्नू मेरे पैरों से लिपट-कर कितना ख़ुश होता था। वे संध्याएँ कितनी सुखद आज मालूम हो रही हैं। वैसी और कभी क्यों न मालूम हुई थीं।' इतने में पाल कुछ ज़ोर से फड़-फड़ाया, और पल्ला ने उसकी ओर देखकर त्रियुगी की ओर दृष्टिपात किया। फिर बड़े स्नेह से बोला—'क्या सोच रहा है तिया ?'

'कुछ नहीं, यही कि हम लोगों का भाग्य ही तो हमें यहाँ तक बुला लाया, नहीं भला वह दुष्ट महाजन किसी को ऐसे छोड़ सकता था।'

पल्ला ने कहा—'ठीक कहते हो। मैं जब उससे कहने गया तो बोला—देखो, भागने की चेष्टा मत करना। मेरे मित्र मन्त्री की आँखों से तुम्हारा यह कन्धे का निशान न छिपेगा और तब तुम्हें कुत्ते की मौत मरना होगा। तुम्हीं बताओ, मैं भागकर जाऊँगा कहाँ। जन्मभूमि में पास का कोई रिश्तेदार तक नहीं। मा-बाप सब मर गये। द्वीप में अपना कहने को सुरुचि और मन्नू तो हैं, उन्हें छोड़कर कहाँ जाऊँगा।'

त्रियुगी ने सम्मतिसूचक सिर हिलाया। डाँड़ छपाक-छपाक करके नाव को बढ़ाते रहे।

× × ×

दीवे की बत्ती को जलाने के लिए ठीक करते हुए सुरुचि ने कहा—'आज उन लोगों को गये हुए अट्ठाइस दिन हुए, क्यों न सविता ?'

दोनों विरहिणी एक दूसरे की ओर आकृष्ट होकर आपस में सहानुभूति ही नहीं, स्नेह करने लगी थीं। यहाँ तक कि सविता को सुरुचि के घर में आकर रहना पड़ा था।

सविता बोली—'हाँ, अब तो वे लौटते होंगे, लेकिन कौन जाने कैसे होंगे, कहाँ होंगे, समुद्र की वे उत्ताल तरंगें और वह छोटी नाव। मैं अब मन में बहुत पछताती हूँ कि तिया के मन की साध पूरी न करके मैंने शायद भूल की।'

सुरुचि सविता को आश्वासन देते हुए बोली—'नहीं-नहीं, भूल किस बात की ? गृहस्थी तो जितनी देर में की जाय उतना ही अच्छा है।' सुरुचि के मुख पर हाथ रखकर मन्नू बोला—'मा, पिता कब आवेंगे ?'

सुरुचि ने मुसकराकर कहा—'देख, मुझे यह बोलने तक नहीं देता, गृहस्थी के यही सुख हैं।'

× × ×

'पचास स्वर्णमुद्रा इन दोनों के कुछ बहुत तो नहीं दिये, क्यों पल्ला ?'

पल्ला डाँड़वाला हाथ रोककर बोला—'नहीं, बहुत काहे को दिये। फिर ये कोई ख़ाली चर्खे के ही थोड़े ही हैं। मैं उस कारीगर के पास तीन रोज़ लगातार बैठकर इनका बनाना भी तो सीख गया हूँ। यह तो बड़े मज़े की बात है न !'

रुई की पोनी तकुवे में लगाकर त्रियुगी बोला—'इससे सूत कातने में कैसा मज़ा आता है। रेशे अपने आप खिंचते से चले आते हैं, और तागा कैसा मज़बूत बनता है। मैं तो इसे सविता को देकर कहूँगा कि मैंने अपनी सारी पूँजी इसमें लगा दी। यह तेरा हो गया, अब तू मेरी होने में देर न कर।'

पल्ला बोला—'…तो महाजन से कपड़ा बुनने से छुट्टी ले लूँगा और चर्खे बना-बनाकर सुन्दरियों के हाथ बेचा करूँगा। यह चर्खा मेरी दूकान के आगे नमूने के तौर पर रक्खा रहेगा।'

'देख चाँदनी में लहरें लेता हुआ पानी कैसा मालूम होता है, जैसे हवा मलमल की चादर को हिला रही हो। इस वक़्त सविता साथ होती तो क्या बात थी।'

'बीस दिन बाद पहुँचोगे तब चाँदनी ही होगी। तब सविता के साथ ब्याह करके सुख से रहना।'

× × ×

'हे भगवान्, ऐसी घोर आँधी! कैसी कालिमा छा रही है। सविता, चलो घर चलें, मन्नू कहीं जग जायगा तो आसपासवालों का सोना हराम कर देगा।'

द्वीप के किनारे उस निर्जन में, ठीक उसी जगह जहाँ उस रोज़ नाव खड़ी थी, खड़ी हुई सविता एक लम्बी साँस लेकर बोली—हम तुम आँधी को क्या जानें, आँधी तो उन्हें लग रही होगी। इस अन्धकार में भूलकर भगवान् कहीं उन्हें भी रास्ता न भुला देना।

× × ×

पाल को ज़रा और तिरछा कर दो तिया। देखो, फटा जा रहा है। मैं डाँड़ मज़बूती से लगा रहा हूँ। ओहो! नाव कैसी हिल रही है! मोम तूने डब्बों की सन्धों में ठीक लगा दिया है न? अब पानी तो न पहुँचेगा? हाँ, बताया नहीं, तूने क्या लिखा है अपनी चिट्ठी में?

'यही कि सविता मेरी तुमको यह अन्तिम भेंट है। देखो, आज पैंतालीस दिन हो गये कभी कुछ न हुआ। आज तीन दिन का रास्ता रह गया तो यह तूफ़ान उठा है। मोम की तरफ़ से तो निश्चिन्त रह, इनमें एक बूँद पानी भी नहीं पहुँच सकता। ये डब्बे ठीक उसी जगह जाकर लगेंगे जहाँ अपनी नाव खड़ी थी।'

'ओहो! यह पानी की बौछार है कि तीरों की वर्षा! अब अफ़सोस होता है कि महाजन को साथ आने को न कहा। ये सुख तो उसी के लायक़ थे। देख, ज़रा पैर से आड़ कर तिया, कगर का वह पटरा उखड़ा जा रहा है।'

'अरे, अरे, पाल तो वह गया फटके। पल्ला, बचाना इस झोंके से नाव।'

× × ×

अभी समुद्र-तट से लौटे एक घड़ी भी न बीती थी कि दोनों अपनी कोठरियों के बाहर निकल आईं।

'क्यों क्या है सुरुचि, सोई नहीं?'

'लेटी तो थी, लेकिन एक ऐसा बुरा सपना देखा कि पसीने-पसीने हो गई। देख, इस आँधी-पानी में पसीने से वस्त्र भीग गये। और तू कैसे उठ आई?'

'मेरे तो छाती में बड़े ज़ोर का दर्द उठा है, ओह!'

× × ×

सविता खड़ी रो रही थी, आँसू बहाकर नहीं, हृदय ही में। इतने में बिलखती हुई सुरुचि पहुँची—'वह लोग डूब गये मालूम होता है।'

सविता ने ऐसी दृष्टि से सुरुचि की ओर देखा, जैसे उसे यह सब बहुत पहले से मालूम था।

सुरुचि सिर के बाल नोचती हुई बोली—'उन लोगों ने डब्बों में बन्द करके दो चर्खे पानी में डाल दिये थे। वह यहाँ आ गये हैं। मुन्नू के बाप ने चर्खा बनाने की सब तरकीब लिखकर भेजी है और तिया ने काग़ज़ में लिखा था कि मेरावाला चर्खा सविता को अन्तिम भेंट है। पर महाजन ने कुछ नहीं माना। दोनों चर्खे रख लिये और बढ़इयों से वैसे ही चर्खे बनवा रहा है। कहता है, अब औरतों से दस हज़ार गज़ सूत रोज़ कतावेगा। कैसा दुष्ट है यह!' वह फिर रोने लगी।

सविता का रुदन बन्द हो गया, आन्तरिक और बाह्य सब। मज़दूर (स्त्री-पुरुष) महाजन के कारख़ाने की ओर बढ़े चले जा रहे थे कि सविता उनके सामने आकर खड़ी हो गई—'तुमने अपना ख़ून बहुत दिनों पिलाकर इस महाजन को मोटा किया है, और ख़ुद दुर्बल हुए हो। अगर इस प्रकार ख़ून देकर भी तुम जीने के क़ाबिल नहीं समझे जाते तो दूसरों को उससे जिलाने की कोई आवश्यकता नहीं। हम कारख़ाने में काम न करेंगे। बला से हम भूखों मरेंगे, लेकिन आततायी को भी मारकर ही छोड़ेंगे।' मज़दूर लौट पड़े।

इसी प्रकार उसी दिन पहली बार हड़ताल की प्रवृत्ति एक महिला-हृदय में जाग्रत् हुई। उसने जो भाषण दिया, उससे ही लेनिन और मार्क्स ने अपने वाद निकाले।

× × ×

सूर्य की चमकती हुई धूप में बालू पर दो लाशें उस निर्जन अनजान प्रदेश में पड़ी हुई थीं। दुःख या चिन्ता का कोई भाव उनके मुख पर न था। बस, थी एक मुस्कराहट। पता नहीं, अपने द्वीप में चर्खा पहुँचा देने की ख़ुशी में या हड़ताल की प्रवृत्ति में।

ओह ! युद्ध के ये छः वर्ष ! नाश और प्रलय के छः वर्ष ! कितनी मेहनत, कितनी कोशिश, कितने उपाय करने पड़े, तब कहीं जाकर शान्ति की झलक दिखी । पुनर्निर्माण भी कम दुःसाध्य न होगा । फिर भी, हमारी मेहनत सफल हुई, हम कामयाब हुए, हमारा लड़ना हमारे काम आया ।
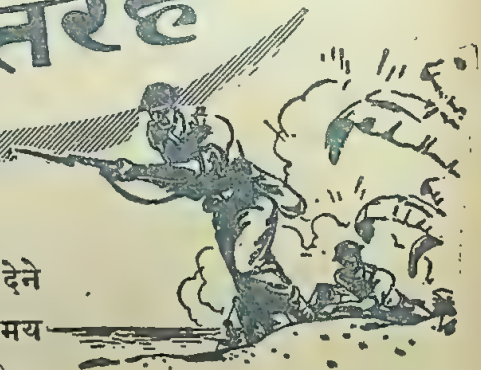
करोड़ों सिपाहियों को आज तक सर्वदा सहारा देने व आराम पहुँचाने वाली चाय, अब शान्ति के सुखमय दिनों में भी अपना फर्ज अदा करेगी। चाय का भरोसा कीजिये ; इसके समान दोस्त नहीं ; आप थके हों, उदास हों, अनमने हों, निर्जीव-से हो रहे हों, चाय आपको जो साहस देगी वह और कोई पेय नहीं दे सकता । मानव जाति की प्रगति में चाय आपकी सहायता करेगी ।

आचार्य भक्त श्रीहरिरायजी का
भक्तिकाल का एक भूला हुआ प्राचीन भ्रमरगीत

पौ० वासुदेव शास्त्री तैलंग विशारद

अभी तक भक्तिकाल के हिन्दी-साहित्य में हमें दो भ्रमरगीत प्रतीत हो रहे हैं—एक सूरदासजी का और दूसरा नन्ददासजी का। इधर भी वर्तमान काल के हिन्दी-साहित्य में एक रत्नाकरजी का उद्धवशतक और दूसरा सत्यनारायणजी का भ्रमरदूत। सूर के भ्रमरगीत में वर्णन की विविधता है और नन्ददास का भ्रमरगीत वर्णन की विविधता नहीं रखने पर भी निबंधरूप से रसधारा का अवश्य आनन्द दे देता है, साथ ही वह शास्त्रार्थ तथा विवाद-रूप से हमारे सामने आता है। रत्नाकरजी का शतक भ्रमरवृत्त से ख़ाली है और कवित्वशक्ति द्वारा नवीन उद्भावनाओं का द्योतक है। इसी प्रकार सत्यनारायणजी का भ्रमरदूत देश-प्रेम का द्योतक है। यहाँ हम इन सब पर विवेचना नहीं करते हुए एक नवीन दर्शनीय पुस्तक का, जो आज से ४०० वर्ष का प्राचीन है और भक्तिकाल का प्रतिनिधित्व रखता है, साहित्यिक महारथियों को परिचय दे रहे हैं। हमारी समझ से आलोचकगण इसमें साहित्यिक विविधता का कम ध्यान रक्खें और प्रेम, भक्तिप्रधानता का विशेष। फिर भी जो कुछ अप्रकाशित वस्तु है उसे प्रकाश में लाना ही हमारा काम है और समालोचना करना पाठक-वृन्द के हाथ है। यह पुस्तक विद्याविभाग सरस्वती-भण्डार काँकरोली की है, जो बन्धसंख्या ६३ पु० सं० २ आकार ६×५ की है। इसमें दोहा ११४ हैं। इसका प्रारम्भ इस प्रकार से है—

"भ्रमरगीत" अथवा सनेहलीला

"एक समै ब्रजबास की सुरति भई हरिराय।
निजजन अपनो जानिकै ऊधव लये बुलाय॥"
"श्रीकरसन बचन एसे कहै ऊधव तुम सुनि लेहु।
नंदजसोदा आदि दे जाय बरज सुख देहु॥"
"ब्रजवासीवल्लभ सदा मेरे जीवनप्रान।
वातें निमिष न बीसरूँ मोहि नन्दराय की आन॥"
"हम उनसे एसे कह्यो आवेंगे रिपु जीति।
अब तोरें कैसे बने पिता मात की प्रीति॥"
"ऊघव वे ब्रजगोपिता उनके मेरो ध्यान।
उनहि जाय उपदेस द्यो पूरन परम जो ग्यान॥"
"बागो अपने अंग को क्रीट मुकुट पहराय।
सुरति कुण्डल माला दई अपनो भेष बनाय॥"
"अरु अपनो रथ साजिके सूत सारथी दीन।
ऊधव चरन प्रणाम करि रथ आरोहन कीन॥
विद्यावंत विवेकवंत सीलवंत मन सुद्ध।
चित्त चहन जाने सबे सो पठये श्रीउद्ध॥
परम सखा श्रीकृष्ण को सुरगुरु सखा प्रबीन।
तातें लायक पाठयो ब्रज कूँ आयेसु दीन॥"

"दीखत में छोटे लगें घाव करें गम्भीर" वाली उक्ति यहाँ भी पाठक देख सकते हैं। महानुभाव श्रीहरिराय (सं० १६४७) ने छोटे-छोटे पदों में जो भक्तिरस के साथ-साथ हास्य, करुण, वात्सल्य, शृंगार, धर्मवीर आदि का वर्णन किया है, उसे कवि की लेखनी ही समझ सकती है और उसी का हृदय चाहिए। यह अवश्य कहा जा सकता है कि वर्णन संक्षेप से किया है। फिर भी थोड़े में गहरी बात कह जाना, यही तो भक्त आचार्यों की वर्णनशैली है और इसे ही महाप्रभु वल्लभाचार्य (सं० १५३५) ने ग्रहण किया है। जो भागवत टीका सुबोधिनी में देखनी चाहिए।

"ब्रजबासीवल्लभ सदा" पद में भगवान् ने भक्त-रक्षा की प्रतिज्ञा की है। जो प्रतिज्ञा 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' में गीता में कही है, इसी का अनुवाद फिर हरिरायजी ने कृष्ण के स्मरणार्थ करा दिया है। इसके आगे का वर्णन इस प्रकार से हुआ है। सन्ध्यासमय उद्धवजी नन्द के घर जाते हैं। घर-घर से गोधन आ रहा है, जो गोधन वृषभान की गाय-बछड़ों के बीच मानो सुरराज के स्थान की शोभा बढ़ा रहा है। ग्वालमण्डली परस्पर गोविन्द का गुणगान कर रही है। मोहनसखी, प्रत्येक गाय का नाम ले-लेकर गोदोहन किया करती है। यह वर्णन स्वाभाविक, सरल पदों द्वारा होता हुआ पाठकवृन्द को उलझन में नहीं डालता। प्राचीन काल से भारतवर्ष में गोधन का महत्त्व चला आ रहा है। पुनः उसी का स्मरण करा

देना भी तो आचार्यवर्ग का धर्म-रक्षा का कार्य ही है। इसी प्रकार जब किसी स्त्री का पति परदेश चला जाता है तो उस प्रोषितपतिका का यही कर्तव्य हो जाता है कि वह अपना समय किसी ऐसे कार्य में लगा दे जिससे पतिविरह का ध्यान दूर हो जाय। यहाँ मोहनसखी प्रत्येक गाय का नाम ले-लेकर जो सेवा किया करती है, इसका भी एक विशेष कारण प्रतीत हो रहा है। शास्त्रों में कहा है कि जिस कार्य को पति विशेष रुचिकर समझे उसी में स्त्री को भी चाहिए कि अपना मन लगा दे। यहाँ यही मोहनसखी कर रही है। इसके आगे कहा है कि गायों की रज उड़-उड़कर आकाश में लग रही थी और उसी से नन्दगाँव की शोभावृद्धि हो रही थी। जब तक गोसमूह काफ़ी संख्या में न हो तब तक उपर्युक्त वर्णन अशक्य हो जाता है और इसी से हमें तात्कालिक गोधन परिपालन की परिपाटी स्पष्ट प्रतीत हो सकी है।

अब हरिरायजी उद्धव का रथ सीधे नन्द की पौँरि पर ले जाते हैं। वहाँ जब नन्द-यशोदा देखते हैं तो दौड़कर रथ के समीप आ जाते हैं। अब उद्धव भी प्राचीन व्यावहारिक पद्धति का परिपालन करते हैं—

"ऊधव रथ ते उतरिके मिले नन्द को धाय।
नैन सजल जलसूँ भरे आनँद उर न समाय॥
करग्रह गृह कूँ ले चले सुतसनेह के भाय।
असन बसन बहुबिधि दिये निज मन्दिर पधराय॥"

इसके बाद नन्दादि आवश्यक सत्कार करते हैं, फिर सूरसेन की तथा उसके पुत्र कंस की बातें पूछने अथच द बालकों की निधनवार्ता के साथ ही वसुदेवजी के प्रति हार्दिक सहानुभूति दिखाते हैं और कहते हैं कि कृष्ण द्वारा कंस मारा गया, यह ठीक हुआ। अब कहिए उद्धवजी, कृष्ण यहाँ लौटकर कब आवेंगे? हम अपना जीवननिर्वाह तो यहाँ देह और वहाँ प्राणवाली कहावत से यथाकथंचित् कर रहे हैं।

"सुफलक सुत आये इहाँ राम कृष्ण ले जान।
तब ते तनगति दोय भई इहाँ देह उहाँ प्रान॥"

यहाँ यद्यपि सूरदास की भाँति नन्दचरित्र की ओर विशेष ध्यान नहीं दिया है, फिर भी यशोदा के चित्रण में एक प्रकार से नन्द का भी चित्रण हो जाता है। सूरसाहित्य की भूमिका में रामरतन भटनागर एम्० ए० पृष्ठ १११ पर लिखते हैं कि "यशोदा माता नारी होने के कारण कुछ अधिक भावुक हैं। नन्द पिता और पुरुष हैं, इसलिए वे कृष्ण-वियोग के समय कुछ कठोर ही बने रहे हैं।" ठीक है, फिर भी हरिरायजी के नन्द बाबा बहुत कुछ अपना विरही हृदय उद्धव के सामने रख देते हैं और आवश्यक प्रष्टव्य विषय सभी सूर के नन्दबाबा से अधिक पूछ लेते हैं। साथ ही "तनगति दोय भई" वाली चुटीली एवं मार्मिक बात नन्द-जैसे भावुक वृद्ध पिता के लिए बहुत है। अब यशोदा की दशा देखिए—

"जसोदा नैन सजल भरे कंठ स्वास नहिं लेत।
कहि-कहि बातें पुत्र की हीयो भरि-भरि देत॥"

अब बाल्य-स्मृति की बीती बातें एक यशोदा माता का हृदय लेकर देखिए—

"निमिष-निमिष में झगरते वे मोसूँ दोऊ भ्रात।
अब कहियो कब देखिहूँ चोरि-चोरि दधि खात॥
वे तो भूखे होत हैं प्रातकाल की बानि।
अब कहि धौं को राखिहै घी में रोटी सानि॥"

कहती-कहती पश्चात्ताप करने लगती हैं और ऊखलबंधनादि स्मरण करती हुई कहती हैं—"ता दिन ते खटकत सदा मोहि मेरो अविवेक।"

उपर्युक्त पदों से हम यशोदा का हृदय चित्रित कर सकते हैं। जहाँ यशोदा गहरे पश्चात्ताप के द्वारा अपने मन को दुःखित करती हैं, वहाँ सीधी-सादी बाललीला की बातें, लड़ने-झगड़ने की बातें और घी-रोटी खाने की बातें भी कह जाती हैं। सूरदास की तरह महानुभाव श्रीहरिरायजी ने भी अपने मौलिक ग्रन्थों में ख़ूब अपनी प्रतिभा एवं मेधाशक्ति का उपयोग किया है। हिन्दी, संस्कृत, गुजराती आदि भाषाओं में हरिरायजी ने अनेक ग्रन्थ लिखे हैं। सहस्री भावना आदि में जहाँ भी बाल-चरित्र का वर्णन किया है वहाँ सूरदास से बढ़े नहीं हैं तो घटे भी नहीं हैं। हिन्दीसेवकों को कभी हरिरायजी की रचना के साथ ही मौलिक प्रतिभा का प्रमाण अन्यत्र भी दिया जायगा। आप गहरे भावुक, दार्शनिक और चरित्रचित्रण के स्वामी हैं।

जब नन्द-यशोदा अपनी बीती कह देते हैं तब उद्धवजी नन्द-यशोदा से कृष्णसंदेश कहते हैं—

"तब ऊधव ऐसे कह्यो सुत के सुनहु सँदेस।
उनकूँ नाहिन बीसरू या ब्रज को आवेस॥
तुमहि पाय लागन कह्यो जलसूँ नैन भराय।
मइया मोहि न बीसरै जिन बड़ो कियो पै प्याय॥"

कृष्ण उद्धव द्वारा कहलाते हैं कि जिस दिन से हम यहाँ आये हैं उस दिन से कान्ह-कान्ह कोई नहीं

कहता और उसी दिन से प्रातःकाल और सायंकाल कोई छैया नहीं पिलाता और कहा है कि धौरी-धूमरी गायों को अच्छी तरह से रखना। हम पाँच दिन पीछे बलराम-सहित शीघ्र ही आवेंगे। यहाँ यद्यपि राजपाट का सब आनन्द है, फिर भी वन में जो गोचरण करते थे, वह कहीं अच्छा था। यहाँ कृष्ण-सन्देश स्वाभाविक होता हुआ दो हृदयों को जोड़नेवाला और शान्ति देनेवाला है। यशोदा का जिस प्रकार का प्रेम कृष्ण के प्रति है, उसी प्रकार का प्रेम यहाँ कृष्ण का भी माता के प्रति है। इसी बात की यहाँ हरिरायजी ने सूचना दी है जो वेदान्त कर्म की द्योतक है और गीता से सम्बन्धित है। वह यह है—ये यथा मां प्रपद्यन्ते, सकृदेव प्रपन्नाय इत्यादि। अर्थात् जो भक्त मुझे भजता है, उसे मैं भी भजता हूँ और भक्तिदान करता हूँ। यही हरिरायजी का दार्शनिक तत्त्व है। यहाँ तक हमें जो गोधन-रक्षा, भक्त-रक्षा, अथच व्रज-रक्षा का उदाहरण मिलता है उससे हम हरिरायजी के आन्तरिक विचारों पर भी दृष्टि डाल सकते हैं और देशप्रेमियों के समक्ष 'भ्रमरदूत' की झलक भी दिखा सकते हैं, जो झलक वहाँ देशप्रेम को लेकर दिखाई गई है।

इसके बाद उद्धव यमुना-स्नान और नित्यकृत्यादि करने जाते हैं। फिर नन्दपौंरि पर आते हैं। यहाँ वर्णाश्रमादि धर्मों का पालन भी हमारा कर्तव्य है जो "स्वधर्माचरण शक्त्या" से कहा है। उसे ही हरिरायजी ने यहाँ दिखाया है। जब उद्धवजी अपने काम से निवृत्त हो जाते हैं, तब कहीं गोपियों को रथ द्वारा मालूम होता है कि कोई सन्देशवाहक होगा।

"अपने-अपने धाम तें बाहरि आईं ग्वार।
रथ देख्यो गोपाल को महर नन्द के द्वार॥"

जब गोपियों को पता चल जाता है कि ये कृष्ण-सखा हैं तब कुशल-प्रश्न पूछती हैं और साथ ही कृष्ण-प्रेम को व्यभिचारी प्रेम कहना चाहती हैं। अब गोपी कहती हैं—

"उहाँ जाय कीनी भली कहो कछु उत्तम बात।"

और—"प्रानन को हरि ले गये पिण्डदान तुम देत" से उद्धव पर भी चोट पड़नी लगती है। इसके अनन्तर गोपियाँ फिर अपनी बीती कहने लगती हैं—

"ऊधव हम तो बावरी करिहैं कोन सों प्रीति।"

हम भोली-भाली गोपियों ने कृष्ण का आश्रय लिया था, किन्तु कृष्ण ने वहाँ जाकर नन्दग्राम को सदा के लिए भुला दिया। यही दुःख है। अब उद्धवजी अपना ज्ञान गोपियों को सिखाना चाहते हैं और उसे कृष्णसन्देश के रूप में सामने लाते हैं—

"छाया माया सूँ रहत होत नहीं उनमान।
हरि तुमसूँ ऐसे कह्यो भजिए सो भगवान॥
जा पद कूँ जोगेसुरा लागि रहत अनुराग।
सो साधन कीजे सदा नाँव गहो बैराग॥
नैन मूँदि मुखमूँदिके त्रिगुण रहत गुणधाम।
सो तुममें ही देखिए आपहि आत्माराम॥"

सूर के गीत में ज्ञानघमंड की वार्ता का उल्लेख आया है। उस ज्ञानघमण्ड का उल्लेख यहाँ हरिरायजी नहीं करते। और न उनसे इस प्रकार की चर्चा कृष्ण द्वारा व्रज भेजते समय कराते हैं। यहाँ केवल हम हरिरायजी के पदों से ही ज्ञानगरिष्ठता का अनुमान लगा सकते हैं। जैसा कि—

"विद्यावन्त विवेकवन्त, सुरगुरु सखा प्रबीन।"

आदि में कहा है।

जब गोपियाँ ज्ञानशिक्षा की उपाधि आती देखती हैं तब अपना सच्चा हृदय खोल देती हैं और कहती हैं—

"मधुकर अन्तर हो कठिन कठिन बात कहि जात।
भूख मरे दिन सात लों तऊ सिंघ घास नहिं खात।
जदपि जोग प्रसिद्ध है तो तुमहीं ले जाव।
बहोर नाहिंन पाइ हो ऐसो उत्तम दाव।
....तुमही साधो नाहिं।
यह तो तिनको चाहिए जाके अन्तर राग।
दादुर तो जल बिन जिये मीन तुरत मरि जाय॥
हैं दोऊ एक ठौर के.............. ....
वह जल बिन मारुत भये वै बिछुरत दे प्रान॥"

यहाँ गोपियाँ ज्ञान की निरर्थकता और प्रेम की सार्थकता बताती हैं और दादुर और मीन का सुन्दर उदाहरण दे रही हैं, जो सच्चा प्रेम दिखाता हुआ अपने आश्रयरूप श्रीकृष्ण की ओर ध्यान खींचता है। "मधुकर अन्तर कठिन" से गोपियाँ भ्रमर को सन्देश तो करती हैं किन्तु उद्धव को सुना रही हैं। इससे यह भी तात्पर्य निकलता है कि जिसका जैसा हृदय होता है, समय पड़ने पर प्रत्यक्ष हो जाता है। अब फिर गोपियाँ उद्धव को अड़ंग-बड़ंग बातें मनाना चाहती हैं—

"पठये आये कौन के कौन मित्र पै जान।
इहाँ तुम्हारी कौन सूँ कहो कौन पहिचान॥"

अब फिर अपना निःस्वार्थ प्रेम और मधुकर का स्वार्थी प्रेम दिखा रही हैं—

"बचन-बचन बाढ़े बिथा नहिं जानत परहेत।

मधुकर दाधे अंग पर कहा लून घसि देत ॥"
"मधुकर लुब्धी बास के निमिष एक के मित्त।
तुम तो स्वारथ के सखा...............
अब तो चरनन जिन छुवो ऐसी गति के बीच।"

अब गोपियाँ उस दशा पर पहुँच जाती हैं जिसे दुःख की सीमा कहते हैं, जहाँ कोमल-विरही के हृदय पर टीसें फूटने लगती हैं। वेदान्त में इसी प्रेम की तीन दशाएँ कही हैं--प्रेम, आसक्ति और व्यसन।

आगे गोपियाँ अपने शरीर को ही मोहनरूप से देख रही हैं—

"कित बिधना सिरजी हमहिं कित दीनो ब्रजबास।
कित मिलाप श्रीकृष्ण को कित बिछुरन की आस॥
सब अंग मोहनरूप है।"

जब किसी की किसी के प्रति लगन हो जाती है तब प्रत्येक अवस्था में वह अपने प्रेमी को ही देखता है। चाहे स्तुतिभाव से देखता हो, चाहे ईर्ष्याद्वेष के भाव से देखता हो। यहाँ गोपियों की यही दशा है—

"मोहन पढ़ि कछु मोहनी लै मोही ब्रजनार।
बचन-बचन मोही त्रिया हम तुम कितियक बात।
सुरन सहित सुरजोषिता थकी धाम नहिं जात।"

जब उद्धव किसी प्रकार भी अपना ज्ञान-गौरव नहीं भूलते, तब गोपियाँ उद्धव को भी इस रंग में रँगने के लिए कुछ अपनी और विशेषता दिखा रही हैं, जिससे उनकी अनन्यप्रियता सिद्ध हो जाय—

"लीला गोकुल गाँव की हम जानत मन माहिं।
ऊधव तुम श्रवणर्न सुनी आँखिन देखी नाहिं॥
जो तुम लाये जोग कूँ जदुपति के परधान।
या रस सों सींची सबै नहिं भावत रस आन॥
मानसरोवर तें उठे आन भूमि चलि जाय।
विधिवाहन बुद्धारथी तऊ सरट नहिं खाय॥
× × ×
मेघबूँद चातक पिये और सब झूठ समान।
ये दोउ नैन विराट के निगम कहत है नित्य।
उठि चकोर अन्तर कियो दिनकर अरु ससि नित्य॥
× × ×
प्रान गये छाँड़े नहीं उत्तम जन की प्रीति॥
हमहूँ तो नरदेह हैं हम कह जानत नाहिं।
रस तजि भजिए जोग कूँ भंग होत व्रत माहिं॥
× × ×
हम कबहूँ नाहिंन कियो इष्टभाव में भंग॥"

उपर्युक्त हंस, चातक, उत्तम जन, चकोरादि उदाहरणों से गोपियाँ अपने इष्ट को अब उद्धव के सामने स्पष्ट रख देती हैं। इन उदाहरणों से जहाँ गोपियों की कृष्ण-रति दृढ़ हो जाती है वहाँ वर्तमान शिक्षा-पद्धति से फैले हुए दूषित वातावरण में स्त्री-शिक्षा पर भी अच्छा प्रभाव पड़ सकता है। 'हमहूँ तो नरदेह हैं, भंग होत व्रत माहिं' 'इष्टभाव में भंग' आदि हरिरायजी की तत्कालीन विकट समय की धर्मप्रणाली थी, जिस पुष्टि-सम्प्रदाय की धर्मप्रेरणा ने अनेक भूले-भटके हिन्दुओं को आश्रय दिया था। इसी प्रकार "प्रान गये छाँड़े नहीं उत्तम जन की प्रीति" भी सिर कटा देना स्वीकार है किन्तु धर्म देना स्वीकार नहीं है; यह उस समय का विधर्मियों से टक्कर लेनेवाला जोश था जो हिन्दुओं की सतत रक्षा में लगा हुआ था।

अब गोपियाँ कृष्ण पर कलंक लगा रही हैं—

"लच्छन ते नाहिंन डरो बड़े भूप के पूत।
उहाँ जाय कुबजा रचे हमहिं जोग सिख देत।"

प्रचलित लोकरीति के अनुसार अन्त में जब मनुष्य प्रयत्न में असफल हो जाता है तो अपने को ही दूषित ठहराता है। यहाँ यही गोपियाँ करती हैं—

"...........बिछुर मिलन संजोग।
............दोस कोन को दीजिए।
देह धरी जा कारने लगिहै जाके काम।
मनघट तो रस सूँ भर्यो नहीं जोग कूँ गाम॥"

जब मनुष्य किसी बात से चिढ़ जाता है तो प्रायः उसी बात से चिढ़ानेवाला उसको बार-बार चिढ़ाता है। यहाँ गोपियाँ कभी उद्धव के सामने कृष्ण-स्वरूप का वर्णन करती हैं, कभी योग की निन्दा करती हैं। अब उद्धव अपना ज्ञान भूल जाते हैं और गोपियों की स्तुति करने लगते हैं—

....धन्य-धन्य व्रजनारि।
(उद्धव) "प्रेमभक्ति रसबस भये स्याम भुजा उरधारि
यह लीला तुम कारने गोपबेस अवतार।
निरगुन ते सरगुन भये तुमसों कियो बिहार॥
निगम जाहि खोजत फिरे...............
सो तुम्हरी जूठन गहे श्रीपति श्रीभगवान॥"

षट्मास के अनन्तर जब उद्धवजी कृष्ण के पास जाते हैं तो यही कहते हैं—

"नन्द जसोदा हेत की कहिए कहा बनाय।
वे जाने कै तुम भले हम पै कही न जाय॥
अरु गोपिन के प्रेम की महिमा कछू अनन्त।
मैं बूझी षटमास लौं तोउ न आयो अन्त॥"

"संत भक्त भूतल जिते ते सब व्रज की नारि।
चरनसरन रहिए सदा मिथ्या जोग विचारि॥"
"मैं नाहीं देखी कहूँ व्रजबासिन की रीति।"

योगनिष्णात उद्धव कहाँ तो ज्ञान की शिक्षा देने व्रज गये थे और कहाँ अब आते समय कह रहे हैं—"हम पै कही न जाय"—उद्धव इस प्रकार प्रेम-विह्वल हो गये थे कि अब व्रजवर्णन भी नहीं कर सकते।

अब उद्धव श्रीकृष्ण से जैसा कि सखाभाव में हास्य-विनोद का व्यवहार होता चला आया है, वही करते हैं और साथ ही भक्त के लक्षण भी कृष्ण के द्वारा हरिरायजी दिखा देते हैं—

"ऊधव तुम जानी सबै प्रेम भजन की रीति।
गोपिन के सम्बन्ध करि उपजी प्रेम प्रतीति॥"
"कृष्णभक्त सो जानिए जाके अन्तर प्रेम।"

यहाँ उद्धव के ज्ञान-गर्व को नष्ट करते हुए हरिरायजी यह दिखाना चाहते हैं कि यही गर्व भक्त को भगवान् से विमुख रखता है और इसी गर्व ने अनेक भक्तों को इधर-उधर भटकता फिराया। जब दीनता आ जाती है तो वही कृष्ण-मिलन का बड़ा भारी साधन हो जाती है (यही वल्लभाचार्य का सिद्धान्त है)। इस सबका सार यही निकलता है कि हरिरायजी हमें ज्ञानभक्ति द्वन्द्व की तात्कालिक घटना, सगुण ब्रह्म की उपासना, अनन्य प्रेम, बाल्यस्मृति आदि सगुण की आन्तरिक दशाओं के साथ ही, कहावत, लोकोक्तियों पर ले जा रहे हैं और शिक्षा का पाठ पढ़ा रहे हैं। यहाँ जो कुछ भी यावद्बुद्धिबलोदय लिखा गया है, उस पर हिन्दी-संसार के विधाता अपना अभिप्राय देकर लेखक का श्रम सार्थक करेंगे, जिससे वह भविष्य में भी कुछ नवीन साहित्य लेकर पाठकों का मनोरंजन कर सके।

कृष्णाकुमारी

(ऐतिहासिक एकांकी अभिनय)

श्रीचतुर्भुज

पात्र-परिचय

जगतसिंह—जयपुर के राजा।
भीमसिंह—मेवाड़ के महाराणा।
अजीतसिंह—मेवाड़ के राजकुमार।
अमीरख़ाँ—डाकू सर्दार।
कृष्णाकुमारी—मेवाड़ की राजकन्या।

प्रथम दृश्य

स्थान—महल। समय—रात्रि।

(दीवार पर जगतसिंह का चित्र टँगा है। सामने कृष्णाकुमारी खड़ी है। हाथ में पुष्पमाला है।)

कृष्णा—जीवन-धन! तुमने मेरे सूने हृदय में प्रवेश करके एक नया भाव उत्पन्न कर दिया है। मुझे प्रेम का पाठ पढ़ाया है। मेरी कल्पना को जीवन दिया है! प्राणपपीहे! तुमने मुझे एक नये रंग में रँग डाला है। मेरे ही कारण तुम्हारे चारों ओर आपदाओं के बादल गरज रहे हैं। तुम उसी तरह स्थिर और प्रण-वीर बने हो। जगत, तुम सदा मेरे हो!—(माला पहना देती है।)

(चुपके से जगतसिंह का प्रवेश)

जगत—यह क्या कर रही हो राजकुमारी?

कृष्णा—कौन? जगत?

जगत—हाँ, मैं जगतसिंह ही तो हूँ! तुम मुझे पहचानने की चेष्टा कर रही हो?

कृष्णा—(विस्मित) तुम!—आज—अचानक यहाँ—?

जगत—हाँ!

कृष्णा—बहुत दिनों पर आये हो!

जगत—क्या, इसी से तुम मुझे भूल गई थीं क्या ?

कृष्णा—मैं भूलूँगी ? तुम्हें ? इधर देखो ! यह तसवीर तुम्हारी है। तुम्हारी अनुपस्थिति में यही मेरे साथ थी ! मैं इसी के साथ हँसती और बोलती थी। रोज़ इसकी पूजा करती थी। मैं तुम्हें भूल सकती हूँ ? तुम भुलाये नहीं जा सकते, जगत !

जगत—तो तुम मेरी तसवीर की पूजा किया करती थीं !

कृष्णा—हाँ जगत, यह तसवीर ही मेरे एकान्त की संगिनी, मेरे विषाद का धैर्य और दुःख के आँसू थी।

जगत—जानती हो, मारवाड़ के राजा मानसिंह ने तुम्हारे पिता के पास एक दूत भेजा है ?

कृष्णा—किस लिए ?

जगत—मानसिंह का हुक्म है कि जगतसिंह का साथ मेवाड़ छोड़ दे। नहीं तो मेवाड़ तहस-नहस कर दिया जायगा।

कृष्णा—इसका मतलब ?

जगत—मतलब यही कि कृष्णा का विवाह मानसिंह से हो।

कृष्णा—पिताजी ने क्या उत्तर दिया ?

जगत—वे बेचारे क्या कहेंगे ? इसका निर्णय मैं करूँगा !

कृष्णा—तुम ? कैसे ?

जगत—यदि मैं मेवाड़ से ख़ुद सम्बन्ध-विच्छेद कर लूँ तो मेवाड़-भूमि रक्त-रञ्जित होने से बच जायगी। मानसिंह की भी इच्छा पूरी हो जायगी। शायद तुम भी कुछ हद तक ख़ुश हो जाओगी।

कृष्णा—यह कैसी दिल्लगी है जगत ?

जगत—मैं ठीक कह रहा हूँ कृष्णा ! राजस्थान में इस समय मारवाड़ (जोधपुर) ही सबसे प्रबल राज्य है। मानसिंह के सहायक मराठों के सर्दार दौलतराव सिन्धिया और डाकुओं के सर्दार अमीरख़ाँ हैं। मानसिंह जिधर चाहे, उधर ही आँधी मचा सकता है। ऐसे पुरुष से सम्बन्ध स्थापित करने में गौरव है ! मेवाड़ निर्भय रहेगा ! मैं क्या हूँ ? जयपुर क्या है ? कुछ नहीं !

कृष्णा—जगत, तुम बड़े बेदर्द हो ! तुम नहीं जानते कि इस नारी के हृदय में दारुण व्यथा है ! तुम्हारी ये बातें उस दुःख की आग में घी का काम कर रही हैं। तुम क्या मेरे जिगर को कुचलने का इरादा करके ही अम्बेर (जयपुर) से चले थे ?

जगत—(रुद्ध स्वर) तुम क्या समझती हो कि मेरे हृदय में कुछ हो ही नहीं रहा है ? मैं भी मनुष्य हूँ, कोई देवता नहीं। मुझे भी इस त्याग का पूरा शोक है। पर क्या करूँ ? मैंने देश और जाति की रक्षा के लिए ही ऐसा त्याग करने का निश्चय किया है ! राजपूतों के ख़ून से राजस्थान की भूमि लाल होगी। ईर्ष्या की आग में हम पतिंगे की तरह जल मरेंगे ! अँगरेज़ों, मराठों और पिंडारियों को इससे बढ़कर और कौन मौक़ा मिल सकता है ? वे हमारी पवित्र सुवर्ण-भूमि को लूटेंगे ! कई राजा मरेंगे !—यह सब किसके लिए होगा ? तुम्हारे लिए ! तुम पर भी आफ़त आ सकती है !

कृष्णा—तुम राजपूत हो जगतसिंह ! क्षत्रिय-कुल में तुम्हारा जन्म हुआ है। उसी क्षत्रिय-कुल में, जिसमें जन्म लेकर अर्जुन ने अपने पितामह पर आघात किया था ? क्यों किया था ? कर्त्तव्य की भावना से प्रेरित होकर; अत्याचार की नौका डुबाने के लिए। तुम्हारी नसों में भी तो उसी अर्जुन की रक्त-धारा लहरें मारती हैं, जिसने सुभद्रा का हरण किया था; जिसने अपने बड़े भाइयों और पूज्यजनों के सामने पाञ्चाली का हाथ पकड़ा था। क्षत्रिय मरने से नहीं डरते। वीरों का रुधिर देश की भूमि को उर्वर बनाता है। तुम कायर मत बनो जगत ! मानसिंह राजस्थान का विषैला सर्प है। इसका वध करो; मुझे अपनाओ !

जगत—कृष्णा !

कृष्णा—जगत ! अधीर मत बनो। कायर मत बनो ! हाथ में तलवार लो ! वीरत्व प्रकट करो। कृष्णा तुम्हारी है, दूसरे की कदापि नहीं हो सकती। तुम्हारी मौत के बाद मैं सती हो जाऊँगी। मैं तुम्हारी स्त्री हो चुकी हूँ, क्योंकि मेरा हृदय तुम्हारे पास है। अब बाहरी दिखावे की ज़रूरत क्या है ?

जगत—तुमने ठीक कहा कृष्णा ! क्षत्रिय मरने से नहीं डरते ! और डरूँगा भी क्यों ? मरूँगा तुम्हारे लिए। उस मौत में जीवन से ज़्यादा सुख है ! ठीक है ! हो युद्ध। मैं लड़ूँगा। ज़रूर लड़ूँगा। (प्रस्थान)

द्वितीय दृश्य

महल—जयपुर—दोपहर।

(अकेले राजा जगतसिंह टहल रहे हैं।)

जगत—वह सौंदर्य ! वह भोलापन !! वह कोमलता !!! वह ईश्वर की सृष्टि का सबसे मूल्यवान् रत्न

है ! संसार की खान का सबसे सुन्दर हीरा है। वह इस मर्त्यलोक की नहीं, स्वर्ग की एक देवी है। उसमें ब्रह्मांड का सारभूत सौन्दर्य है ! वह पुण्य की जीवित प्रतिमा है। उसका पृथ्वी से कोई सम्बन्ध नहीं है, सांसारिक भोग-विलास से कोई सम्बन्ध नहीं है। वह एक दूसरी ही तरह की वस्तु है जो सर्वदा सौन्दर्य, यौवन और लज्जा से ढकी रहती है। पहले मेरा उससे क्या सम्बन्ध था ? एकाएक प्रेम की डोर में हम दोनों बँध गये। और शायद सदा के लिए बँध गये। जाय देश रसातल में। बहे ख़ून की धारा ! हमारे ऊर्जस्वी प्रणय की तसवीर सबके ऊपर प्रभात के चमकते सूर्य की भाँति चमकती रहेगी।

(धीरे-धीरे अमीरख़ाँ का प्रवेश)

जगत—कौन हो तुम ?

अमीर—पिंडारी डाकुओं का सरदार अमीरख़ाँ।

जगत—(भौंहों में बल डालकर) अमीरख़ाँ ? डाकुओं का सर्दार ? यहाँ किस मतलब से आये हो ?

अमीर—मैं बिना मतलब के नहीं आया हूँ। है मतलब।

जगत—क्या ?

अमीर—उसके बतलाने के पहले यह कह देना ज़रूरी है कि मैं मानसिंह का दूत हूँ।

जगत—(सक्रोध) मानसिंह का दूत बनकर आये हो मेरे पास ? तो मैं समझ गया तुम्हारा मतलब ! तुम्हें विफल होकर लौटना पड़ेगा डाकू सर्दार !

अमीर—मैं आपको यह बता देना चाहता हूँ कि आप मानसिंह की राह के सबसे ख़तरनाक काँटा हैं ! बेहतर हो, आप हट जायँ !

जगत—यह उनकी धमकी है। क्यों ?

अमीर—मेरी धमकी है !

जगत—तुम्हारी ? तुम क्या हो ? तुमको मालूम होना चाहिए कि मैं क्षत्रिय हूँ, राजा हूँ, तुम्हारी तरह चोर या डाकू नहीं।

अमीर—उन बातों को छोड़ो। बोलो, मेवाड़ से सम्बन्ध-त्याग करोगे या नहीं ?

जगत—यह पूछनेवाले तुम कौन हो ? एक दूत से मैं इस तरह की बातें करना नहीं चाहता। अमीरख़ाँ, अविवाहित लड़की पर उसके पिता का अधिकार होता है ! वह जिसे चाहे सौंप दे। इसमें मानसिंह का क्या बिगड़ता है ?

अमीर—मानसिंह का कृष्णा पर दावा है।

जगत—दावा किस बात का ? विवाह करने का दावा मैंने पहली बार सुना है। राजा साहब से जाकर कह दो कि पहले वे अपने दिमाग़ का इलाज करावें।

अमीर—जगतसिंह, मैं दिल्लगी करने नहीं आया हूँ। मैं तुमको समझाने आया हूँ ! जिस मानसिंह के पक्ष में मराठों का सबसे बड़ा दल—सिन्धिया की फ़ौज हो, जिसके पक्ष में पिंडारियों की तूफ़ानी सेना हो, उस मानसिंह से लोहा लेना निश्चय ही मौत को बुलाना है। तुम्हारी शक्ति कितनी है ? मेवाड़ तुमको कितनी सेना से मदद कर सकेगा ? सोच लो ! जीवित आग में कूदने की कोशिश मत करो। पतिंगे की तरह जल मरोगे ! याद रक्खो—

जगत—अमीरख़ाँ, तुम मुझे मेरे पथ से विमुख करने की चेष्टा मत करो ! नाकामयाब होओगे। मैं मरने से नहीं डरता। मुझे मानसिंह, सिन्धिया और तुम्हारी फ़ौजों का बिलकुल डर नहीं है। राजपूतों का तो लड़ना ही पेशा है। फिर डरने की क्या ज़रूरत ? तुम डाकू हो। मेरी कृष्णा को मुझसे छीनकर तुम मानसिंह को देना चाहते हो। लेकिन यह हो नहीं सकता। आँखें निकाल लूँगा। छाती तोड़ डालूँगा। समझे ?

अमीर—राजा, तुम मेरी तौहीन कर रहे हो।

जगत—चाहे कुछ हो। मैं कार्य चाहता हूँ। यदि कार्य नहीं कर सका तो प्राण दे दूँगा। मुझे कुछ क्षोभ नहीं होगा। यदि मानसिंह सचमुच क्षत्रिय हैं तो मैं उन्हें जयपुर पर चढ़ाई करने के लिए ललकारता हूँ। यदि तुम और सिन्धिया भी सच्चे मर्द हो तो उनके साथ जयपुर पर धावा बोल दो। तुम देखोगे कि यह जगतसिंह इस समय जो कुछ कह रहा है, वे बातें ठीक उतरेंगी।

अमीर—मुहब्बत लोगों को ज़हर पिला देती है ; जिसका अंजाम है मौत ! ज़रा होश से काम लो। कृष्णा की मुहब्बत में तुम पागल हो रहे हो और वही कृष्णा गुप्त रूप से मानसिंह से शादी करने को तैयार है।

जगत—फ़िज़ूल की बातें मत करो अमीरख़ाँ ! मेरा हुक्म है, महल के बाहर निकलो।

अमीर—अमीरख़ाँ ऐसी बात सुनने का आदी नहीं है।

जगत—मैं पागल हो रहा हूँ। बाहर निकलो, वरना मुझे तुम्हारा ख़ून करना पड़ेगा।

अमीर—हाः हाः हाः ! तुम ख़ून करोगे ? मेरा ? अमीरख़ाँ को क़ैद करनेवाला या उसका ख़ून करनेवाला अभी जन्मा कहाँ है जगतसिंह ?

जगत—अमीर, बाहर निकलो।

अमीर—ख़बरदार ! जगतसिंह, मैं ही तुम्हारी हत्या कर डालूँगा।

जगत—तुम ? दूत, तुम अवध्य हो ! नहीं तो अभी—

अमीर—(पिस्तौल दिखाकर) देखते हो, इसे मैं तुम्हारे लिए लाया हूँ। मैंने मानसिंह के सम्मुख क़सम खाई है कि जगतसिंह को किसी भी तरह से उनके रास्ते से हटा दूँगा। कहने से तुम नहीं माने ; समझाने से तुम नहीं समझे ! अब तुम्हारी जान लेकर मैं तुम्हें हटाऊँगा।

जगत—अमीरख़ाँ !

अमीर—ख़बरदार ! (जगत उसकी ओर झपटता है। इसी बीच अमीर पिस्तौल चला देता है। जगत घायल होकर गिरता है। अमीर का पलायन।)

तृतीय दृश्य

जगतसिंह का शिविर। रात।

(राजा जगतसिंह और राणा भीमसिंह बातें कर रहे हैं।)

जगत—लार्ड मिन्टो ने क्या उत्तर दिया ?

भीम—उन्होंने लिखा है कि पार्लियामेन्ट की अनुमति पाये बिना वे देशी झगड़ों में हाथ नहीं बँटा सकते, और पार्लियामेन्ट की अनुमति मिलने में कम से कम एक महीना लगेगा। इतने दिनों में सारा मामला ही तय हो जायगा।

जगत—आख़िर उपाय क्या है ? सिन्धिया और अमीरख़ाँ की सेना ने तो हमारे दुर्ग तक को गिरा डाला !

भीम—मैंने सुना है कि सिन्धिया और मानसिंह में झगड़ा हो गया है !

जगत—कब ?

भीम—अभी-अभी दूत से यह ख़बर मिली।

जगत—ईश्वर करे, यह ख़बर सत्य हो। सिन्धिया के हटते ही मानसिंह निर्बल हो जायगा। फिर हम उसको देख लेंगे

भीम—मेरा इरादा है कि अजीत को अब मेवाड़ भेज दें। सिन्धिया मेरे द्वारा किये गये अपमान को अभी भूला नहीं होगा। हो सकता है, मेवाड़ को अरक्षित पाकर वह उस पर टूट पड़े।

जगत—अजीत को मेवाड़ भेज दीजिए। हर बात की ख़बर भेजता रहेगा।

भीम—निश्चय ही ! अच्छा, अब तुम आराम करो। मैं जाता हूँ। रात अधिक बीत गई है। सुबह होते ही रणक्षेत्र में पहुँचना है। (प्रस्थान)

(जगतसिंह उठकर चिन्तित भाव से टहलने लगते हैं)

जगत—सुना है, महाराणा के साथ कृष्णाकुमारी भी मेवाड़ से आई है। परन्तु वह मुझसे अभी तक मिली क्यों नहीं ?—इस भयावने जयपुर में इस समय उसके आने का कोई विशेष प्रयोजन है !

(धीरे-धीरे कृष्णाकुमारी का प्रवेश)

कृष्णा—महाराज !

जगत—कौन ? (हँसकर) मेवाड़ की राजनन्दिनी !

कृष्णा—कृष्णाकुमारी !

जगत—तुम एकाएक, इस घनीभूत रजनी में, मेरे सैन्यशिविर में क्यों आई हो ?

कृष्णा—एक ख़ास काम से !

जगत—क्या आज्ञा है ? बोलो—

कृष्णा—मैं यह पूछना चाहती हूँ कि यह संग्राम क्यों हो रहा है ? रोज़-रोज़ असंख्य वीर सैनिकों की बलि रणदेवी के सामने क्यों दी जा रही है ? तुम क्या चाहते हो ? मानसिंह क्या चाहता है ?—सिन्धिया और अमीरख़ाँ क्या चाहते हैं—उत्तर दो !

जगत—इतने प्रश्नों का उत्तर एकसाथ देना तो ज़रा मुश्किल है ! आख़िर तुम्हारे पूछने का मतलब क्या है ?

कृष्णा—मतलब जानना चाहते हो, तो सुनो ! मैं इस रक्तपात से ऊब उठी हूँ। इसको बन्द कर देना चाहती हूँ।

जगत—(कुछ हँसते हुए) लेकिन यदि मैं भूलता नहीं हूँ तो कदाचित् एक दिन तुम्हीं ने मुझे यह भीषण कार्य करने के लिए प्रेरित किया था।

कृष्णा—तब मैं नहीं जानती थी कि बात यहाँ तक पहुँच जायगी।—युद्ध शीघ्र बन्द होना चाहिए।

जगत—यह क्या मेवाड़ की राजकुमारी की आज्ञा है ?

कृष्णा—निश्चय ही !

जगत—लेकिन युद्ध बन्द करने का उपाय क्या है ?

कृष्णा—मैं मानसिंह से विवाह करूँगी।

जगत—(मानों सिर पर वज्र गिरा हो) कृष्णा ! यह क्या तुम बोल रही हो ? यह क्या महाराणा

भीमसिंह की कन्या का वचन है ?—यह क्या एक क्षत्राणी का निश्चय है ?........(हताशा के स्वर में) मैं भूला ! तुम मेरी स्त्री नहीं बन सकतीं । मैं इस योग्य हूँ भी नहीं कि मेवाड़ की राजकन्या का पति बन सकूँ ! मेरी हैसियत छोटी है ! मेरा राज्य छोटा है ! कोई मेरी मदद करनेवाला नहीं है !—मैं मूर्ख, धनहीन और अनाड़ी व्यक्ति हूँ ।—मैं हताश प्रेमी हूँ ! कृष्णा, तुम मानसिंह की ही राज-महिषी होने योग्य हो ! मैंने तुमसे एक दिन यह कहा भी था ! मैं उस समय पराजय स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत भी था । किन्तु तुमने ही मुझे युद्ध की आग सुलगाने की उत्तेजना दी थी !—ख़ैर, अब भी कुछ बिगड़ा नहीं है । मैं तुम्हारे सुख के लिए, तुम्हारे आराम के लिए सब कुछ न्योछावर कर सकता हूँ । मैंने प्रेम का मन्त्र ग्रहण करते समय यह समझ लिया था कि इस प्रेम-यज्ञ में मुझे अपनी जान की आहुति देनी पड़ेगी । इस साधना की सिद्धि में अपना सब कुछ भेंट चढ़ाना पड़ेगा !—तुम मानसिंह की अर्द्धांगिनी बनो । मानसिंह विजयी है ; मैं पराभूत हूँ । उसकी सहायता करनेवाले अमीर और सिन्धिया हैं ; मेरी मदद करनेवाले केवल भीमसिंह हैं । वह ऐश्वर्यशाली है ; मैं भिखमंगा हूँ ।—वह तुमको अपने सिर पर उन्मुक्त रक्खेगा ; मैं तुमको अपने हृदय में बन्द रक्खूँगा !—कल होगा इस युद्ध का अन्त !—कल सन्ध्या के बाद तुम जगतसिंह को नहीं पा सकतीं । वह चिरनिद्रा के अंक में, रक्त में सना हुआ, विश्राम करता रहेगा !—अब तुम जाओ !........पत्थर की तरह खड़ी क्यों हो ?—जाओ न !—कल युद्ध का अन्त होगा !—जाओ !—

कृष्णा—(एकाएक जगत के पैरों पर गिरकर) तुम नहीं जानते कि मैं क्यों ऐसा चाहती हूँ ! (कंठावरोध) जगत, तुम मूर्ख नहीं हो, भिखारी नहीं हो ! पराभूत नहीं हो । मेरे निकट तुम सर्वदा ज्ञानी, सम्राट् और विजयी हो !—लेकिन........

जगत—मैं ख़ूब समझता हूँ देवी ।—तुम इस नरहत्या से ऊब गई हो । कल इसका अन्त हो जायगा, तुम अपने शिविर में जाओ !

कृष्णा—जगत ! यह मेरा दुर्भाग्य है कि तुम मुझसे विमुख हो रहे हो !

जगत—नहीं, यह मेरा दुर्भाग्य है कि तुम मुझसे विमुख हो रही हो ।—परन्तु मैं यह पूछना चाहता हूँ कि मेरा अपराध क्या है ?

कृष्णा—तुम्हारे अपराध का मेरे निकट कुछ मूल्य नहीं है ! जगतसिंह, तुम यह युद्ध करो । मैं फिर कहती हूँ कि यदि तुम विजयी होओगे, तो मेरी वरमाला तुम्हारे गले में जायगी ।—यदि तुमने वीरगति पाई तो मैं संग सती हो जाऊँगी !—तुम इस पृथ्वी पर आनन्द भोग करने नहीं आये हो ! आये हो संसार की भीषणता को दूर करने ! मानसिंह दस्यु है ! वह विजयी नहीं हो सकता !—तुम उस पर जयलाभ करो ! मुझसे निश्चिन्त रहो !—(शीघ्र प्रस्थान)

जगत—कृष्णकुमारी क्या है ?—इसकी प्रकृति में साक्षात् नारीत्व का निवास है !—वही ओज, वही भय, वही आतंक, वही मर्मभेदिनी दृष्टि, वही अन्तर्भेदिनी आवाज़ !—इसमें शान्ति है पर अशान्ति भी, प्रेम है पर क्रोध भी, विनय है पर आज्ञा भी !—यह कैसी मूर्त्ति है ?— (अजीत का प्रवेश)

जगत—अजीत, तुम कल उदयपुर को लौट जाओ !

अजीत—क्यों ?

जगत—सिन्धिया उदयपुर पर आक्रमण करेगा ।—जान लो । सँभल जाओ । मेवाड़ की यशोराशि की रक्षा का भार तुम पर है !

अजीत—मुझ पर ? मैं किस योग्य हूँ ?

जगत—तुम्हारी अवस्था कम है । परन्तु तुम मेवाड़ के भावी राजा हो ! याद रक्खो ! हाँ, कृष्णा भी तुम्हारे साथ जायगी ! इस युद्ध के मैदान में उसका न रहना ही अच्छा है !—अब तुम जाओ !—

चतुर्थ दृश्य

स्थान—उदयपुर का महल । समय—सन्ध्या ।

(कक्ष में चिन्ताग्रस्त अकेली कृष्णकुमारी बैठी है । सामने एक ऊँचे स्थान पर विष का एक प्याला रक्खा है ।)

कृष्णकुमारी—घोर युद्ध हो रहा है । मेवाड़ की गलियों में और सड़कों पर शत्रु-दल अत्याचार कर रहा है । पिताजी और अजीत प्राणों की बाज़ी लगाकर शत्रुओं से मोर्चा ले रहे हैं । जयपुर की लड़ाई भी समाप्त नहीं हुई है । इन आफ़तों की जड़ मैं हूँ । मेरे कारण यह आग भभकी है ! मैं राजस्थान की शत्रु हूँ । देश की दुश्मन हूँ । देश की इस तबाही का कारण मैं हूँ । (कुछ देर के बाद) नहीं, मेरा न रहना ही ठीक है । मैं भारस्वरूप हूँ । मैंने निश्चय कर लिया है; प्राण त्याग करूँगी । अपने रक्त से प्रचंड

अग्नि की इस भयावनी शिखा को शान्त करूँगी। (विष-पात्र उठाकर) विष है ! हलाहल है !! मेरी मौत है !!!—बुरी क्या है ?—आज ही इससे मिल लूँ ! अपनी उद्भ्रान्त जीवनधारा को यहीं रोक दूँ ! जगतसिंह, तुम कहाँ हो ?—मैं जा रही हूँ, सदा के लिए, एक ऐसे लोक में जहाँ तुम ही तुम हो ! इस जन्म में मैं तुम्हारी नहीं हो सकी। इसके लिए खेद है। मैं सर्वनाशिनी हूँ ! मेरा जीवन राजस्थान का शत्रु हुआ।—मैं विष-पान करूँगी !—किसी से नहीं मिलूँगी !—अन्यथा ममता में फिर फँस जाऊँगी !—मा—पिताजी—अजीत—नहीं कुछ नहीं ! सब माया के रूप हैं ! बन्धन हैं !—(विष पी लेती है) विष पी लिया !—(प्याला पटक देती है।) सुख पाने की कैसी अच्छी दवा है !—दुःख से छुटकारा पाने का कैसा अच्छा साधन है ! इसके आविष्कारक की बुद्धि पर आश्चर्य है !—यह क्या ?—बदन नीला हो गया !—नसें फट रही हैं !—विष का असर है ! विष नहीं, अमृत है ! हाः हाः हाः !—जगतसिंह ! अब भी आ जाओ ! मुझसे मिल लो !— मैं अब जा रही हूँ !—(गिर जाती है।) जगत ! आओ !—आओ !—

(आवेश में भीमसिंह का प्रवेश)

भीम—कृष्णा ! कृष्णा !!

कृष्णा—पिताजी ! आइए !

भीम—यह तुमने क्या किया कृष्णा ? आँखें बाहर निकली आ रही हैं। शरीर स्याह रंग का हो गया है !—क्या हुआ तुम्हें !

कृष्णा—मैंने विषपान किया है।

भीम—विषपान !—यह क्या किया तुमने ?

कृष्णा—मैं देश की अब और बर्बादी नहीं चाहती हूँ।

भीम—तुमने कुछ किया नहीं !—युद्ध बन्द हो गया ! "मानसिंह को मारकर जगतसिंह उदयपुर को आ रहा है—" यह सुनकर सिन्धिया और अमीरख़ाँ ने मुझसे सन्धि कर ली ! बत्तीस लाख रुपये दोनों मिलकर मुझे देंगे !—तुम्हारा मेवाड़ विजयी है !

कृष्णा—यह ख़बर आपने पहले नहीं दी ! अब कुछ हो नहीं सकता। विष का असर मेरे शरीर में पूरी तरह छा गया है !—मैं थोड़ी देर की मेहमान हूँ।

भीम—ओह ! कृष्णा ! तुम बड़ी नादान हो !—यह क्या कर डाला तुमने ? मैं तुम्हारी मा को बुला दूँ !—

कृष्णा—नहीं, आप न जायँ। उतनी देर तक मैं ठहर नहीं सकती !—ओह ! बड़ी यन्त्रणा है !—हे भगवान् !

भीम—(रोते हुए) बेटी !—कृष्णा !—

कृष्णा—पिताजी, आशीर्वाद दीजिए !—मैं चली !

भीम—तुम्हारी आत्मा को शान्ति मिले।

कृष्णा—आह !—जगत !—ज-ग-त !—मा——(हिचकी; मृत्यु)

भीम—(रोते हुए) कृष्णा ! बेटी ! तुम कहाँ हो ? मुझ अन्धे बाप को बिलखते छोड़कर कहाँ चली गई ?

(आवेश में पागल की भाँति, रक्त-रञ्जित तलवार के साथ, जगत का प्रवेश)

भीम—जगत !—बेटा !—कृष्णा ने विषपान कर लिया !—वह चल बसी !—

जगत—महाराणा ! यह आप क्या कहते हैं ? (कृष्णा की ओर देखकर) यही मेवाड़ की राज-कन्या है ?—इसने विषपान कर लिया (करुण स्वर से) मेरी आशा पर तुषारपात हो गया ! मेरे अरमानों की दुनिया में आग लग गई ! मेरा हृदय इन आघातों को सहता-सहता शक्तिहीन हो गया। हाय रे भाग्यहीन जगतसिंह ! तेरा जीवन कष्ट और निराशा ही में बीता। तेरे स्वप्नजगत् ख़ाक में मिल गये। तेरा भाई तुझसे बिछुड़ गया; आज तेरी प्रियतमा भी तुझे छोड़ चली। अब और तू चाहता क्या है ?—तेरे वीरत्व ने, तेरी प्रतिज्ञा ने, तेरे स्नेह ने, तेरे प्रेम ने कितने लोगों का सर्वनाश कर डाला ! तू वैसा ही दुखी रह गया ! कृष्णाकुमारी ! तुमने कहा था कि जय प्राप्त करने के बाद मैं तुम्हें वरमाल पहनाऊँगी, नहीं तो तुम्हारे साथ सती हो जाऊँगी। फिर तुमने इतनी जल्दी क्यों की ? तुम्हारा जगत अपने शत्रु का हनन करके तुम्हारे पास आया है ! पर तुम कहाँ चली गईं ?— तुमने देश के लिए अपनी जान दे दी। मैं क्या कर सका ? मैं मर्द होकर भी कुछ नहीं कर सका ! (छाती पर बार-बार हाथ मारकर) यहाँ ऐसा विप्लव क्यों हो रहा है ?—क्यों हो रहा है ?—मन में शोक है, पर आँखों में आँसू नहीं ; आत्मा में कम्पन है, पर शरीर में जान नहीं ; मस्तक में आवेग है, पर बदन में प्राण नहीं ! कैसा विकट जीवन है !—शीघ्र समाप्त भी नहीं होता ? अब मेरे दिल में हाहाकार, मन में विषाद और रुदन में पुकार है ! कृष्णा !—हा कृष्णा !!—

(कटे वृक्ष की नाईं कृष्णाकुमारी के शव पर गिरते हैं। महाराणा पत्थर की तरह स्थिर, एक ओर दृष्टि किये खड़े रहते हैं।)

यवनिका-पतन

रैक्सॉना
चर्म-सौन्दर्य को पैदा करता है
... चर्म-स्वास्थ्य को सुरक्षित रखकर

हाँ क्योंकि रैक्सॉना चर्म स्वास्थ को जो कि चर्म को आकर्षक बनाने का एक मात्र आधार है - बड़ी शीघ्रता से बढाता है। रैक्सॉना चर्म सौंदर्य देने का दावा कर सकता है।

रैक्सॉना से ये सब कैसे होता है ?

क्योंकि यह चर्म किटाणु विनाशक 'कैडील' के मिश्रण से बनाया गया है और क्योंकि रैक्सॉना का शीघ्र बनने वाला सघन फेन स्फूर्ति और स्वास्थदायक 'कैडिल' को शरीर के प्रत्येक रौंगटे में जहाँ से प्राय : सब चर्म रोग और दाग शुरू होते है - पहुँचा देता है।

रैक्सॉना घरेलू साबुन

घर का हर एक, शख्स इस आकर्षक हरे, शीघ्र फेन देने वाले साबुन की सराहनी करेगा। स्त्रीयाँ इसलिए कि उनके चर्म में शीघ्र सौन्दर्य उत्पन्न होगा — पुरुष इसलिए कि वह यह जानते हैं कि चर्म को स्वस्थ रखना कितना आवश्यक है।

बच्चों के लिए तो इससे अच्छा कोई साबुन है ही नहीं। रैक्सॉना का कोमल फेनशरिर के दाग मिटा देता है, चर्म में रूखापन नहीं आने देता और बच्चों के चर्म को ठंडा और कोमल बनाता है। घरके सभी आदमियों को चर्म स्वस्थ लाभ करने के लिए रैक्सॉना निमितय रूप से प्रयोग में लाना चाहिए।

★ रैक्सॉना में मिलाया गया कैडिल किटाणु - विनाशक, स्वास्थदायक और ताजगी देनेवाले तेलो का मिश्रण है जो कि चर्म को स्वास्थरखने में बहुत गुणकारी सिद्ध हुआ है। साइसदानो नेभी इसके गुणो के कारण इसकी सराहना की है।

रैक्सॉना मरहम प्रयोग कीजिये।

फुन्सी, फोड़े, ऐकजीमा, मुँहासे, आँख की कलौंस, झुर्रियाँ, ददौरे आदि सभी चर्म रोगों में रैक्सॉना मरहम लगाये। यद्यपि अभी सप्लाई कम है फिरभी बहुत से दूकानदारों के यहाँ यह तिकोने टिन मिल सकते है।

Rexona OINTMENT

RP. 29-23-40 HI

REXONA PROPRIETARY LIMITED

पार्टी-सम्मेलन

पं० पुत्तूलाल शर्मा "उद्दंड"

सर्वसाधारण हिन्दी-प्रेमियों के सूचनार्थ आज हम एक ऐसी मुकम्मिल रिपोर्ट दे रहे हैं जिसकी ओर उनका ध्यान स्वप्न में भी नहीं गया होगा। इस संघर्ष के युग में रहस्यवाद, छायावाद, यथार्थवाद, प्रगतिवाद आदि को माध्यम बनाकर विभिन्न छन्दों, कवित्त-सवैयों एवं गीतों के अन्तराल में कविता कैसी हो, इसका एक अरसे से वाद-विवाद चल रहा है। हिन्दी-साहित्य-संसार में वर्तमान महायुद्ध की तरह सभी अपना एक साम्राज्य स्थापित करना चाहते हैं। कहीं गीतकारों को कवित्तकार, तुकबन्द और छिछला कहते हैं, तो कहीं कवित्तकार, गीतकारों को तुक्कड़ और गलेबाज़। तिथि-तारीख़ का तो पता नहीं। लेकिन अभी हाल ही में छायावादियों और प्रगतिवादियों ने जिस प्रकार मित्रराष्ट्र और रूस काहिरा पहुँचे थे; उसी प्रकार हिमालय की उपत्यका में पहुँचकर इस बात का प्रयत्न किया है कि हिन्दीवालों के संतोष के लिए एक वैसा ही चार्टर प्रकाशित किया जाय जैसा कि विश्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में एटलांटिक चार्टर है। आश्चर्य है कि चार्टर अभी तक हिन्दी-जगत् के सामने क्यों नहीं आया। इधर फिर एक और पार्टी-सम्मेलन सभी पार्टियों ने मिलकर कविता-जैसी जटिल समस्या पर विचार करने के लिए कुछ-कुछ रामगढ़-कांग्रेस के समान तिब्बत की रमणीक भूमि पर कर डाला। सभापतिनिर्वाचन के सम्बन्ध में झगड़ा रहा। (हिन्दी की बागडोर पुराने वयोवृद्ध साहित्य-सेवियों के हाथ में होने से) कुछ घनाक्षरी के घोंघापंथियों ने गीतकारों का 'तुकबन्दी' के कवि कहकर अपमान किया; अस्तु। गीतकारों ने फ़ारवर्ड ब्लाक की तरह श्रीगोपालसिंहजी नेपाली के सभापतित्व में एक पृथक् सम्मेलन किया। इस सम्मेलन में स्वामी सहजानन्दजी की तरह नई कविता के सम्बन्ध में श्रीनन्ददुलारे वाजपेयी ने (आपने तृष्णा-विशेष के कवियों का वितृष्णादल नाम से संगठन किया है) अपना एक विश्लेषणात्मक भाषण पढ़कर सुनाया। प्रायः जितने भी नवयुवक थे, सब इस सम्मेलन में उपस्थित हो रहे थे। सम्मेलन के भारी-भरकम समारोह ने वाजपेयीजी की भूरि-भूरि प्रशंसा की। अन्य पार्टियों के एक-आध अर्धनवयुवक कवि कुछ कांग्रेस सोशलिस्टों के समान इधर आ मिले थे। कविता का ढंग और नमूना उपस्थित करने के लिए कवियों के भाषण उनकी कविता में ही हुए। जिस प्रकार कांग्रेस-वर्किंग-कमेटी मंच पर शोभा पाती है उसी तरह अपटूडेट फ़ैशन में श्री श्रीनारायण चतुर्वेदी, साक्षात् गणेशजी के सदृश दिव्य रूप में श्रीसनेहीजी, उन्नीसवीं सदी की झलक से सुशोभित श्रीअम्बिकाप्रसादजी वाजपेयी आदि महानुभाव समुपस्थित थे। सम्मेलन तीन दिन तक निरन्तर चलता रहा। सफलता-असफलता की बात छोड़कर हम उनके कविता-भाषणों के उल्लेख का यहाँ दुष्प्रयास कर रहे हैं। पाठकों से निवेदन है कि सुनने के लिए तत्पर हो जायँ। हाँ, तो श्रीयुत बेधड़क बनारसी धड़कते हुए कलेजे से बोले, और क्या बोले कि सबकी बाँछें खिल गईं—

> मिलती नहीं कविता में है जिसकी कड़क,
> कवि उसे क्योंकर कहें हम बेधड़क?
> रहती परस्पर आज कवियों में मड़क,
> बस एक को लख दूसरा जाता भड़क।
> की है क्या ईजाद कविता की सड़क,
> लो देख लो, उठते हैं दिल सबके फड़क।

बेधड़कजी की कड़कदार कविता पर पंडाल का हास्य आसमान पर गूँज रहा था। श्रीदुलारेलालजी भी बोले और ख़ूब बोले!—

> चर्चिल चाहत युद्ध मैं, औरनहूँ कौ रोष;
> सम्मेलन तेहरान कौ, दै न सक्यो पै तोष।
> चर्चिल पै सब करत हैं, क्यों अकाल-आरोप;
> ईश्वर ही ने जब कियो, बंगालिन पै कोप!
> लखि भूखे बंगाल कौ, व्यर्थ सबै बतराहिं;
> केन्द्रीय सरकार की, जुम्मेदारी नाहिं!
> भलो बनत जापान है, कहि हिंदिन कौ मीत;
> बम बरसावत तहूँ पै, कैसी उलटी रीति!
> सम्मेलन ने इन्द्र कौ, मनोनीत करि लीन;
> पै प्रयाग के गुट्ट ने ख़ूबै चकमा दीन!

श्रीदुलारेलालजी के कविता-भाषण पर हिन्दी-हितैषियों ने आगामी देव-पुरस्कार को पुनः श्रीदुलारेलालजी को प्रदान करने की सिफ़ारिश करने का निश्चय किया, और भविष्य में दुलारेलाल-अभिनन्दन-

ग्रन्थ समर्पित करने के आयोजन पर विचार। आपने इस बात को प्रमाणित करके दिखला दिया कि नये भावों पर सफलता के साथ व्रजभाषा में अब भी कविता हो सकती है। श्रीलक्ष्मीशंकर मिश्र 'निशंक' भी सर्वथा अशंक रहे। लोगों ने आग्रह किया कि बैठे हैं सुनाइए !, बैठे हैं सुनाइए !; परन्तु आपने कहा कि बैठे हैं तो बहुत सुना, 'पैठे हैं' सुनिए !—

जीवन-विपची के जो शिथिल पड़े थे तार,
वह अरे जाने किस हेतु आज ऐंठे हैं।
गाना चाहता है पर राग बेसुरा ही कोई,
बस खिलवाड़ के लिए ही तो उमैठे हैं।
जो कुछ भी गाना हो न, क्यों न उसे गा ले वह,
हम निज को ही जब भूले हुए बैठे हैं।
ऊपर भी होंगे या कि नीचे ही रहेंगे सदा,
तल-हीन सागर जान-बूझ पैठे हैं !

लोगों ने सुनकर दाँतोंतले अँगुली दबा ली ! करते ही क्या ? अगम गहराई जो ठहरी ! उधर कवियों ने 'आह !' 'आह !' और जनता ने 'वाह !' 'वाह !', 'कमाल है !' 'कमाल है !' कहकर आकाश गुँजा दिया। श्रीनाथसिंहजी का भाषण भी मनोरंजक रहा—

तुम्हें सुनायेंगे सही, क्यों न खूब चिल्लाओ,
हम ठाकुर हैं ठसक के हमसे तो भय खाओ।
सीखा-समझा है बहुत, हमसे लाभ उठाओ,
सम्पादक बनना चाहो तो आकर सीख जाओ।
पब्लिक के कन्ट्रोल को कब है हमने माना ?
बैठे हैं सब मूर्ख ही बस ऐसा है जाना !
बात सुनाते हैं तुम्हें सबसे बढ़कर सीधी,
सब पत्रों में देखिए कैसी उत्तम दीदी।

सम्मेलन में गड़बड़ मच गई ! मुशकिल से शान्ति हुई। पश्चात् गोपेशजी बड़ी नाज़ोअदा के साथ बोलने के लिए खड़े हुए। आप अनूप गी को संकेतों से अभिहित करते हुए बोले—कविता का शीर्षक है 'पिसनहारी'। सुनिए—

था समय आठ का,
प्रातः के
सिर पर रक्खे डलिया छोटी,
अध-उघरे अंगोंवाली वह,
मैले-फटे वस्त्र पहने
लेकर आई थी कुछ पिसना।
वह वय में थी कुछ ढली हुई,
अपने अंगों से गली हुई।
थी रही शीत से सिमिट-ठिठर,
मुँह से न बात भी कर पाती।
मलिकिन ने ज्यों ही देखा है,
चट, तड़प-कड़ककर बोल उठीं—
था कल ही क्या मैंने न कहा
आटा बिल्कुल है बचा नहीं,
सूरज निकले से पहले ही,
बस आकर के तुम दे जाना ?
अब लाई हो !
मुनुआँ मेरा खिचड़ी खाकर स्कूल गया !
तुम रहने दो !
मैं कल से ही बस लूँगी और लगा कोई !
गेहूँ में जौ मिला-मिला,
तुम रोज़ पीसकर लाती हो ;
बटिया-भर घाट अलग रहता,
मोटा-मोटा दे जाती हो !
कातर आँखों को उघार,
वह बोली—
मलिकिनि देर हुई !
कल भैंसे ने उनको मारा,
है रहा रात भर दर्द बड़ा,
कुछ दिया सबेरे सेंकसाँक,
इसलिए सबेरे आने में
मलिकिन है मुझे अबेर हुई।
'अब आज पिसौनी नहीं मिले,
मैं अटकी हुई रसोई में,
कल किसी वक्त हाँ, आना तुम,
कल-परसों की भी दे दूँगी।'
वह बोली हाथ जोड़
मलिकिन, कल भी वे भूखे पड़े रहे,

× × ×

कविता की पूँछ लम्बी होने के कारण, उसे गोल कर देना पड़ा है। 'दूधवाली' के पश्चात् यह आपकी 'पिसनहारी' नामक दूसरी कविता है, जिसने प्रगतिशीलता का रिकार्ड तोड़ दिया है। प्रगतिशील-संघ ने इसके उपलक्ष्य में आपको अप्रतिहत प्रगतिशील कवि की उपाधि से विभूषित किया है ! श्रीसुभद्राकुमारी चौहान का कहना ही क्या, आप स्वयं समझ सकते हैं—

रोता-रोता मुन्ना मेरा, मेरे पास दौड़ आया;
जापानी बबुआ जब उसने, मुनिया से था छिनवाया।
मैंने उसे गोद में लेकर, हँसते-हँसते चूम लिया,

इधर-उधर की कुछ कह-सुनकर, उसको है संतोष दिया।
बोली यों—मुन्ना ले, सुन ले, कान इधर तू अपना ला,
चुपके से ही बतलाऊँगी, कहकर ताज्जुब में डाला।
उसने अपना कान लगाया, मेरे मुँह पर ले जाकर,
दौड़ी-दौड़ी मुन्नी आई, बोली है वह चिल्लाकर।
द्वारे एक पिपिहिरीवाला, बेच रहा है मा बजा, बजा,
जल्द एक चलकर के ले दे, नहीं रहा है अब वह जा।
तब मैंने उससे दो लेकर, एक, एक को एक दिया,
उन दोनों को इसी तरह से समझा-समझा खुशी किया।

सुनने के उपरान्त सम्मेलन में कोई एक कह रहा था—कहती अच्छा हैं, मगर यह बाल-सम्मेलन की चीज़ है। शान्तिप्रिय द्विवेदी भी अच्छे रहे—

आज छिपाये बैठा है वह, अपने में अपना इतिहास;
सेवा के प्रति जग से पाया, क्या? विद्रूप-पूर्ण उपहास!
उसने अन्तस् से निकालकर, शुभ सत् जग को दान किया;
पर जग ने मुँह पाकर सस्मित, ख़ाली है सम्मान किया!
सेवा में—साहित्य-सृजन में, जिसके हैं बलिदान छिपे;
सह-सह जग के आघातों को उसने हैं वह प्राण दिये!
जग उससे लेना चाह रहा, है देने का नाम नहीं;
ढूँढ़ फिरा वह खोज-खोजकर मिली न करुणा उसे कहीं!
उसके जीवन में जग का है, न्याय यही, परिणाम यहीं;
धन्य तुम्हें साहित्य-प्रेमियो! यह प्रियता भी धन्य रही!

दुलारेलालजी सुनकर बावले हो गये। प्रसन्नता की सीमा न रही। यहाँ तक करुणार्द्र हुए कि अपनी प्रसन्नता के प्रतिकार में द्विवेदीजी को अपनी घर-गृहस्थी का भार भी सिपुर्द कर दिया! श्रीशिवरत्नजी "सिरस" शुक्ल के बोलने को क्या कहा जाय। आपके भाव कोमल ज़रूर थे, पर कंठ कोमल नहीं—

फैलि रही चारों ओर शालि की सुगंध भीनी,
मंद-मंद मारुत परम सुखदाई है।
हंस चक्रवाक-ध्वनि-पूरित सरोवर हैं,
फूली कास, हास-सम परत लखाई है।
बादर-बिहीन नील नभ सोभापुंज महा,
पंक-हीन पथ-भूमि सुषमा सवाई है।
जन-मन-रंजन चहक रहे खंजन हैं,
नवल नवेली बनि शरद सुहाई है।

आपका कहना उत्तम रहा, पर कुछ ने सुना, कुछ ने नहीं सुना। नवयुवक 'पुरानी चीज़ है' कहकर अवहेलना कर रहे थे। श्रीठाकुर गोपालशरणसिंहजी बोले—

तेरी रूप-राशि ही वितत विश्व-भर में है,
कमनीय कान्ति अणु-अणु में समाई है।
चकित सभी हैं, हैं विमोहित उसी में सब,
ललित ललाम लीला लोक-मन भाई है।
कैसे गुण-गान हो न ज्ञान इतना है प्राप्त,
गौरव गरीय शक्ति अगम लखाई है।
तेरी तो महत्ता की इयत्ता मिलती है नहीं,
अध-ऊर्ध्व दसों दिशि सभी ठौर छाई है।

आप अपनी शैली के अनुपम रहे। तत्पश्चात् आशुकवित्व का परिचय देते हुए देवेंद्रनाथ शास्त्री ने पीयूष-वर्षा की—

आज बन रही है तिब्बत की भूमि मंजु अमराई!
चहल-पहल चारों दिशि छाई
कूक रहे कवि वाणी,
थिरक रही इंगित पर जिनके
है कविता कल्याणी।
साज अनोखे सजे देखकर
जो मन को हैं भाते,
उछल रहे आनन्द मनाते
जन-जन हैं रँग-राते।
शोभा स्वयं विमोहित होकर इसे निरखने आई!
आज बन रही है तिब्बत की भूमि मंजु अमराई!
अदा दिखाते चाल-ढाल से
कुछ जन आते-जाते,
बैठ मंच पर यहाँ सनेही
हैं सनेह सरसाते।
हैं डाक्टर आनन्द पधारे
श्रवण सुधा वर्षाते,
झूम रहे हैं कवि मस्ती से
कल्पना-विमुग्ध सुहाते।
समता इसकी कहाँ किसी से छटा निराली छाई!
आज बन रही है तिब्बत की भूमि मंजु अमराई!

× × ×

सम्मेलन में एक ऐसा सन्नाटा छा जाता था, जैसे कोई उपस्थित ही न हो! सनेहीजी हाथों उछल रहे थे। वाह-वाह के तुमुल हर्ष में आप शान्त हुए। तदनन्तर डाक्टर आनन्द का नम्बर आया। पूर्व महाकाव्य 'झाँसी की रानी' की रवानी भूलकर आप बोले—अभिनव महाकाव्य 'वीर ब्रिटेन' के बम-पात और 'रणस्थल' नामक स्थलों को सुनाता हूँ—

ख़तरे का भोंपू बजा नहीं,
खलबली एक मच जाती थी।

जन-जन के चेहरे पर अद्भुत,
नाचती उदासी छाती थी ॥
हो गई सूचना लोगों में,
नभ में युद्धक मड़राये हैं ।
सब आपस में कह-कह बोले,
यह आये हैं, वह आये हैं॥
कुछ गये शरण-गृह के भीतर,
कुछ भाग रहे हैं राहों में।
कुछ युद्धदृश्य अनुभव करते,
हैं पथ पर पड़े, कराहों में॥
बम बरस पड़े नभ से अनेक,
कुछ यहाँ गिरे, कुछ वहाँ गिरे।
चौकन्ने हाकिम हुए तुरत,
हैं किन हल्कों में कहाँ गिरे॥
भागो, भागो का शोर हुआ,
नीचे, ऊपर भर्राहट है।
हैं महल गिरे, मीनार गिरे,
लग गया एक क्षण में ठट है॥
धज्जियाँ लटकतीं तारों में,
लपटें उठतीं आगारों में।
है पड़ी दराज दिवारों में,
हो गये सुराख़ किवारों में ॥
तोपों का गड़गड़नाद हुआ,
झमझम गोले आकाश गये ।
गिर पड़े धरा पर वायुयान,
जो जर्मन-निर्मित नये-नये॥
फिर सिविकगार्ड की टोली पर,
टोली उस थल उमड़ाई है ।
है दौड़-धूप मच गई वहाँ,
झट होने लगी सफ़ाई है ॥

जब शत्रुजनों के आने का,
कुछ समाचार मिल जाता था।
हर एक ब्रिटिश का सैनिक फिर,
तब ख़बरदार दिखलाता था॥
अरि-अनी जोश में आ करके,
भर भर करती जब धाती थी ।
वीरता-सहित तब ब्रिटिश फ़ौज,
झटपट पीछे फिर आती थी॥
जब मुल्क कहीं छिन जाते थे,
चर्चिल 'है चाल' बताते थे ।
जापानी पहुँच सताते थे,
वह अंधाधुन्ध मचाते थे ॥
इस तरह युद्ध का खेल हुआ,
है ब्रिटिश-रूस का मेल हुआ।
फिर ऐसा ठेलमठेल हुआ,
जर्मनी, जंग में फ़ेल हुआ ॥

कानपुर-कालेज के सत्यनारायण पाण्डेय कविरत्न का भी भाषण चोखा रहा । एक तो कालेज के प्रोफ़ेसर दूसरे कविरत्न ; क्या कहना ?

भारती भरति भावना में जो प्रखर तान,
चित्त पै क्यों चारुता चढ़ति सुमिरन की ?
कवि कमनीयता का करते प्रकास कैसे,
जो न सक्ति पाते प्रतिभा में औतरन की ?
कैसे मन-मधुप सरस रस-बस होते,
बानि जो बनावति न मधु बितरन की ?
चरन न होते जो पै मंगल करनहारे,
परती प्रथा तो कैसे मंगलाचरन की ?

मंगलाचरण का प्रभाव प्रत्यक्ष है । हिन्दी के क्षेत्र में यदि चतुर्वेदीजी आपको लेकर न चलते तो शायद इतनी सफलता मिलना असम्भव था । लन्दन की डिग्रियाँ लेकर भी चतुर्वेदीजी ने वाणी-वन्दना का कुछ महत्त्व समझा, यह कुछ कम नहीं । अनन्तर ख्याति-प्राप्त श्रीजगमोहननाथजी अवस्थी ने आशु कविता की फुलझड़ी छोड़ते हुए अपना भाषण यों प्रारम्भ किया—

भूमि पै तिव्वत की लखो तो,
शुभ दृश्य मनोरम देते दिखाई ।
हिन्दी-हितैषी जुटे यहाँ हैं,
जगमोहन देता उन्हें है बधाई ॥
अब जान लो क्यों न किसे कहते,
बस वास्तव में हैं अरे कविताई ।
मोहन आज स्वयं ही यहाँ,
कविता रख के निज रूप है आई ॥

मस्ती के मारे चतुर्वेदीजी का चश्मा हिल रहा था। लोग सुनकर आश्चर्यचकित हो रहे थे । उधर कवियों में कानाफूसी हो रही थी कि पुनरुक्ति दोष है, लय में खींच ले जाते हैं, तुकान्त ठीक नहीं बैठते । 'नैको मुनिर्यस्य वचःप्रमाणम्' के अनुसार व्याकरण और मुहावरों को प्रमाण-रहित प्रयोग करनेवाले प्रख्यात हल्दीघाटी के सिद्धहस्त कुशल कवि श्यामनारायण पाण्डेय ने कहा—सज्जनो, आप लोगों को 'रणमत्त रूस' महाकाव्य से एक स्थल सुनाता हूँ—

ख़ूँख़्वार जर्मनी मोर्चों पर,
करता था जब भीषण धावा ।
सोवियट सिपाही शीघ्र उन्हें,
दे जाते थे तत्क्षण कावा ॥
थे युद्ध गुरिल्ला करते वे,
क्षण में वन में छिप जाते थे ।
फिर पता न ख़ुफ़िया जर्मन भी
उनका बरसों तक पाते थे ॥
उस थल से जब वे जाते थे,
सैनिक इस्टाक जलाते थे ।
नगरों में आग लगाते थे,
पानी विषपूर्ण बनाते थे ॥
सब खड़ी फ़सल बरबाद करें,
मन में कुछ भी न विषाद करें ।
आपस में मिलकर वाद करें,
निज देश शीघ्र आज़ाद करें ॥
वे छापामार लड़ाई का,
कौशल अपूर्व दिखलाते थे ।
अरि-दल पर जाकर टूट पड़ें,
बिजली-सा बनकर जाते थे ॥
बारह सौ मीलों का मोर्चा,
घनघोर लड़ाई होती थी ।
रण-चण्डी करती नग्न नृत्य,
शोणित से पृथ्वी धोती थी ॥
सर कटते चप्पे चप्पे पर,
पीछे हटने का नाम नहीं ।
रँग गया रुधिर से नीपर नद
कर-पद उतराते कहीं-कहीं ॥

लोग सुन-सुनकर उछल रहे थे। इतने अंश से परितृप्ति नहीं हुई। समयाभाव के कारण आनन्दजी को उसी जगह समाप्त कर देना पड़ा। सम्मेलन में कुछलोग बातचीत कर रहे थे कि हमें विश्वस्त सूत्र से पता चला है कि इस वर्ष देवपुरस्कार पाण्डेयजी को न मिलकर डाक्टर आनन्द को मिलेगा। अब पाठक, गोपालसिंह नेपाली के सभापतित्व में होनेवाले कवियों के भाषणों को पढ़ें। सर्वप्रथम श्रीभगवतीप्रसादजी वाजपेयी उठे। आपने नये नमूने की कविता पेश की। नोटबुक उलटते-पलटते हुए कहा—सुनिए! 'हम मिलते-मिलते मिल न सके', नहीं। 'हम गलते-गलते गल न सके' सुनिए!

सहृदय जो निज को कहते थे
संहृदयता उनकी याद रही ।
जो चोट हृदय पर है करती !
इस कोमल-से मन पर हाँ, वह
हम बता सके अपने को क्या ?
है पुष्प या कि पत्थर धरती !
कितनी ही तो चोटें खाईं
पथ से फिर भी तो टल न सके !
हम गलते-गलते गल न सके !
जग से अनुभव सब कुछ सीखा
थे उससे लाभ उठा सकते
बल इतना अपने में माना ।
सहृदय सहृदय हैं बने हुए
पर हाय, सरलता का उनने
कब है आदर करना जाना ?
जग के साँचे में पड़कर भी
जगवालों-से हम ढल न सके !
हम गलते-गलते गल न सके !

आपकी वेदना से सम्मेलन व्यथित हो उठा, पर उसी समय के लिए। सहृदयों के अखाड़े में इतना भी बहुत था! पर हाँ, उस समय वेदना शान्त कहाँ होने पाई? श्रीमोहनलाल महतो वियोगी दर्दभरे स्वर में बोले—

देख मैं चुका प्रेम-प्रतिकार !
जो कि थे जीवन के दिन-चार,
बन गये वे ही निज को भार,
समझ ली अपनी पहली हार,
न अब हो कोई और प्रमाद
मिल गया हमको उसका सार !
देख मैं चुका प्रेम-प्रतिकार !
गया समझा मैं स्वारथ-लीन,
हुआ जीवन में जीवन-हीन,
सत्य यह प्राप्त हुआ है पीन,
मुझे मेरा घातक बन गया—
किसी से करना मृदु व्यवहार !
देख मैं चुका प्रेम-प्रतिकार !
वेदना मिली बिना ही मोल,
व्यथा का अन्तर-कोष अतोल,
कसक रह-रहकर उठती हो बोल,
शेष क्या रहा मिले जो और—
पास अब तक आँसू-उपहार !
देख मैं चुका प्रेम-प्रतिकार !

महतोजी का महत्त्व प्रतिपादित होने में किसी को

सन्देह नहीं रहा ! सबने मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की । इसके पश्चात् श्रीआरसीप्रसादसिंहजी बोलने के लिए खड़े हुए । आपने पंत-पद्धति का अनुसरण करते हुए अपने उच्छृंखल अधिकारों का प्रयोग कुछ इस प्रकार से किया—

फुल्ल सुमनों की बनी यह माल,
सखि, कहो ? किसके गले में दूँ इसे मैं डाल ?
फुल्ल सुमनों की सुघर यह माल !
गूँथकर तैयार की है मोद मान सचाव,
किन्तु रह जाते तड़प कर हैं हृदय में भाव !
पत्र आया, प्रिय न आये, है प्रतीक्षा भार,
लौट आती द्वार तक जा मैं विवश मन मार !
भावना का नित्य ही यों दीर्घ होता जाल !
फुल्ल सुमनों से सजी यह माल !
रात की रोई हुई है झड़ गई शेफालि,
प्राणधन इसके कहीं क्या रम गये हैं आलि !
पड़ गया पीला इसी से गात इसका आज,
है निराशा में विकल अति खोल डाले साज !
पूछ आ सखि क्यों न बढ़कर हाय इसका हाल !
म्लान सुमनों की पड़ी वह माल !
कर प्रतीक्षा वपुष के सारे शिथिल हैं तार,
कह, करूँ किसके लिए फिर मैं भला शृंगार ?
क्या हुए हैं राह लखते दिन मुझे दो-चार ?
आज तक आये न वे हैं अब गई हूँ हार !
हाय मेरी झड़ गई है मन-उमंग रसाल !
विकच सुमनों की मृदुल यह माल !

× × ×

श्रीदिनकर भी सामने आये । भाषण भी सुनिए—

जिस दिन से तुमको देख लिया,
है दूर कहाँ हैरानी ।
क्यों तुम हो करती ही जाती,
हा ! अपनी मनमानी ।
कुछ तो आशाओं को छू लो,
खिल जावें वे बेचारी ।
यह रूखापन उचित अरे क्या,
तुम्हीं कहो मेरी रानी ।
तुम्हें समझने में हमने हैं,
कितने वर्ष बिता डाले ।
तब भी दिल की गाँठ न खोली,
फिरते हैं हम मतवाले ।
कटे समय क्या इसी तरह से,
कुछ तो सोच-विचार करो ।
अपनाओ बस बहुत हो चुका,
अब अधीर हूँ हाँ, बाले ।
पाप-पुण्य भी होते हैं कुछ,
मुझको है परवाह नहीं ।
दुनिया के ये सब झंझट हैं,
होनेवाले दूर कहीं ।
क्यों न तुम्हें लख जग को भूलूँ,
जग का क्या न तुम्हारे में ।
इतने पर भी बोलो तो तुम,
अरे किस लिए रूठ रहीं ।

× × ×

नवयुवक-मंडली में वाह-वाह का शोर मचा हुआ था, परन्तु व्रज-भाषा के कवि बड़बड़ा रहे थे कि ख़ूब ! यह लोग प्राचीन काल की व्रज-भाषा के भावों को खड़ीबोली में योग्यता के साथ प्रयोग कर रहे हैं । आश्चर्य है कि नायिकाभेद के कवि इन्हें नहीं कहा जाता ! व्रज-भाषा को ही फिर क्यों बदनाम किया जाता है ? इतने में श्रीचन्द्रप्रकाश वर्मा 'चन्द्र' उठ खड़े हुए । आपने कहा, कविता-भाषण का विषय है, "पथ पर का अंधकूप" ।

मुझमें भी जीवन था पहले जग रहता था ललचाया,
आज वही निर्जीव पड़ी है ईंटों से निर्मित काया ।
कितने ही प्रिय अरमानों की है प्रतिकृति यह मेरी देह,
मैंने भी पाया है पहले बहुतों का नव निर्मल नेह ।
संस्कार जिस दिवस हुआ था भीड़ हुई थी अति भारी,
निर्माता ने समारोह की की थी पहले तैयारी ।
धूम-धाम से सब लोगों ने प्यार-सहित था अपनाया,
उत्सव एक चाव से सबने आकर था निकट मनाया ।
अंधकूप पथ का कहते हैं आज वही सम्बोधन कर,
सुख लुट गया, गई शोभा भी, फिर भी शेष रहा पथ पर ।
दुर्दिन के दुख देख रहा हूँ जग से लुप्त नहीं होता,
बीते दिन की याद करूँ अपने अभाग्य को रोता ।
कभी दूर ही से पानी की इच्छा करके राही,
आते निकट हर्ष से मेरे प्यास बुझाते मनचाही ।
कभी मलिन तन का या मन आ जाता पथहारा,
मैं अपने जल से कर देता उसका क्लेश दूर सारा ।
अब तो सभी पास हो करके आते और चले जाते,
मन में नहीं भूल करके भी मेरा ख़याल कहीं लाते ।

चन्द्रजी के बाद अज्ञेयजी को अवसर दिया गया । आपने प्रारम्भ किया । कविता का शीर्षक है, "लता-गुल्म" ।

प्रिय, आओ तो, इस लता-गुल्म में,
ठहरें, तनिक करें
इसके अन्तर में उपराम
दूर हो उर का वह उत्ताप
सरस शीतलता सुखद भरें !
कम्पन-श्लथ स्निग्ध शान्त छाया यह
है चुपके-चुपके कुछ कहती
क्या ? जीवन की झंझा में विकल न होना
वह आप जिस तरह रहती।
प्रिय, बैठो इस व्रतति-गृह में
और निज को भूल जाओ !
खींच लूँ, फिर अंक भर लूँ,
तुम ज़रा तो इधर आओ !
आता है इसके गृह जो भी
यह करती है उसका सस्मित सम्मान
हर लेती है स्वप्निल जग का
दुख-फेनिल अपमान !
फिर हम-तुम क्यों पार्थक्य रक्खें ?
तन-मन हो न जायें एक ?
हम दोनों न हैं क्या जानते—
यह जगत जितना नेक ?

सम्मेलन ने सर्वसम्मति होकर अज्ञेयजी को 'विज्ञेय' की उपाधि से विभूषित किया। अपने राम को भी इससे पुष्कल प्रसन्नता है। अब नरेन्द्रजी का कविता-भाषण आपके सामने है—

शान्त मेरे भाव !
चल जगत - पथ पर निराश्रित शान्त मेरे भाव !
आज अपनी हो गई प्रिय हार,
आज अपने पर लिया है आप अपना भार,
समझ ली दुनिया, न अब हैं रहे शेष लगाव !
कौन किसका, किसे किससे प्यार ?
सब बँधे हैं हाँ, मगर वे हैं सभी लाचार !
सब भला कैसे करें हम मेल या कि तनाव ?
हो सकें पूरे कहाँ, कब साज ?
अरमान मन के ये अरे कैसे सरेंगे आज ?
मिट सका है किसी का भी यहाँ हाय अभाव ?
चल रहे जग-सम लिया जग-ज्ञान,
बहुत कुछ बनकर मिला है आज यह जग जान,
घात औ प्रतिघात में यह मिला एक सुझाव !

सम्मेलन में बहुतों का मत था कि नरेन्द्रजी प्रगतिवाद के आचार्य हैं, पर अनायास ही इस पदवी के मिल जाने से स्वयं नरेन्द्रजी को सन्तोष नहीं था। स्यात् वे स्वयं अभी यह निर्णय नहीं कर सके हैं कि उनकी कविताएँ किस 'वाद' के भीतर आती हैं। या जो भी हों ! नरेन्द्रजी के बाद पं० परमानन्द शुक्ल बी० ए० बोलने के लिए खड़े हुए—

इस जीवन की क्या यही राह ?
दुख-नभ में नित चक्कर खाना,
पर अन्त न कुछ उसका पाना,
जगती यह देख समझ करके
केवल दे मुझको वाह - वाह !
इस जीवन की क्या यही राह ?
मैं पीड़ा से हूँ चूर - चूर,
सब अपने बन भी दूर - दूर,
फिर भी स्वागत को खड़ी सदा—
बस एक-न-एक है नई आह !
इस जीवन की क्या यही राह ?
कितने रहस्य हैं भरे हुए,
अपने अन्तर में धरे हुए,
सबके मानों का मान लिये
निज में ही उठती है कराह !
इस जीवन की क्या यही राह ?

शुक्लजी के मर्मस्पर्शी गीतों को सभी ने पसन्द किया। अब सर्वश्री शम्भूनाथसिंहजी, महेन्द्र और मोती बी० ए० अपने-अपने स्थानों पर से ही गुनगुनाते हुए उठे और सब लोगों ने एकसाथ ही मिलकर अपना कविता-भाषण यों उपस्थित किया—

आँसुओं से खेल ले मन !
भाग्य में तेरे कहाँ सुख ?
देख तो, जग का चुका रुख ?
कौन - सा है देखना मुख ?
अपनी व्यथाएँ झेल ले मन !
आँसुओं से खेल ले मन !
अश्रु तेरे रत्न - सम हैं,
विश्व की निधि से न कम हैं,
और क्या पहुँचें ? अगम हैं,
जीवन - तरी को ठेल ले मन !
आँसुओं से खेल ले मन !
अश्रु-कोष सम्हाल खुद यह,
भार जग पर डाल मत यह,
सह यह जीवन बस, सह,

निज को उन्हीं में मेल ले मन !
आँसुओं से खेल ले मन !

अवसन्न दशा में सम्मेलन की अवाक् मूर्त्ति दर्शनीय थी। आप लोगों के संवेदनशील गीत को सुनकर कुछ नवयुवकगण झूम-झूमकर रस ले रहे थे, कुछ ईर्ष्या में फूल रहे थे। जो प्रसन्न थे, उनमें एक कह रहा था—"तेरी महफ़िले नाज़ से उठनेवाले ; निगाहों में तुझको लिये जा रहे हैं।" दूसरा कह रहा था—"जज़्बये निगाहे शोबदा गर देखते रहे। दुनिया उन्हीं की थी वो जिधर देखते रहे।" ग़ज़ब का जादू था ! प्रथा के अनुसार सम्मेलन के अन्त में गोपालसिंहजी नेपाली ने अपना कविता-भाषण दिया—

पथ दोनों के हैं अलग-अलग
अपने-अपने पथ है जाना।
रह पास-पास अन्तर इतना
फिर सहज कहाँ रहस्य पाना ?
कोमल अन्तर हम, जग कठोर
फिर साथ निभेगी तो कैसे
यदि मिले कभी भी राहों में—
कब किसने किसको पहचाना !
हम छल-विहीन व्यवहार सरल
जग कपट-भरा नित नया-नया
समझा पीड़ा भी चाल एक
यदि कभी हमारे पास गया।
विनिमय की वस्तु समझता वह
ममता की भी क़ीमत आँके।
पर हम न प्रणय को बेच सके
सौदा न हमारी बनी दया।
हम जग से हैं अनभिज्ञ निरे
जग हमसे है अनभिज्ञ महा।
जग ने हम पर सन्देह किया
जग को हमने भ्रम-पूर्ण कहा।
अच्छा बन जगत बुरा रहता
हम बनकर बुरे रहे अच्छे।
हम दोनों चलते जाते हैं
पथ अपना-अपना अलग रहा।

नेपालीजी का कहना ही क्या ? लोग मस्त हो रहे थे ! रामगढ़ से इस सम्मेलन में केवल इतना ही अन्तर रहा कि इसके दोनों अधिवेशन एक ही मंच पर एक के बाद एक हुए। अन्त में तेहरान-सम्मेलन की सफलता के साथ यह सम्मेलन समाप्त हुआ। विस्तार-भय से इस काग़ज़ की महँगी के ज़माने में हम बहुविस्तृत रिपोर्ट नहीं पेश कर सके। आशा है, पाठकगण उदारतापूर्वक क्षमा करेंगे।

गद्य-काव्य

शय्या के पुष्प

श्री० लक्ष्मीचन्द्र वाजपेयी

सुख-सामग्रियाँ श्रीहीन हो गईं और शय्या के पुष्प मुरझा गये, किन्तु तुम सारी रात नहीं आये ! जाने कहाँ विचरण करते रहे ?

असंख्य तारों को बादलों ने ढक लिया, चपला कई बार काले बादल के अधरों के बीच से मुस्कराकर, मुझे भयभीत कर गई, मेघों की टोलियाँ मेरे ऊपर दहाड़ती रहीं और आँधी मेरे साथ खिलवाड़ करने के बहाने सम्पूर्ण संसार को अपने विशाल पंखों के झूले पर बिठाकर उड़ा ले जाने पर तुल गई....किन्तु हा ! तुम सारी रात कब आ सके ?

प्रत्येक अंग शिथिल होकर टूट गया। नेत्र अनिमेष देखते पथरा चले। हृदय की भाव-लहरियाँ पीड़ा का करुण-सागर बन गईं और स्मृतियों के ज्वार-भाटे आ गये और सारी रात—तुम्हारी प्रतीक्षा में—श्वेत चन्द्रिका-सी फेनिल शय्या लगी रही किन्तु तुम सारी रात न आये और न आये !

इसी प्रकार जाने कब तक यह विश्राम-शय्या सूनी पड़ी रहेगी....सुख-सामग्रियाँ श्रीहीन हो गईं और शय्या के पुष्प मुरझा गये....

प्रकाशक-संघ-संगठन का यह अपूर्व अवसर है

श्रीकस्तूरमल बाँठिया बी० काम०

आज देश स्वतन्त्र होने जा रहा है। इस युद्ध ने, नहीं-नहीं पिछले पाँच बरसों ने देश को स्वतन्त्रता के इतना नज़दीक ला दिया है कि अब इसको गुलाम कोई नहीं रख सकेगा। हमारे लोकप्रिय नेता डंके की चोट ऐलान कर रहे हैं कि यदि ब्रिटेन इस देश को अब स्वतन्त्र नहीं करेगा तो हम उससे स्वतन्त्रता छीन कर ही रहेंगे। वह दिन हम सबके लिए अवश्य ही बेहद ख़ुशी का होगा। सदियों की पड़ी गुलामी की बेड़ियों को तोड़कर स्वतन्त्र होते भला किसे ख़ुशी न होगी? पर इस ख़ुशी में हमें अपनी आनेवाली ज़िम्मेदारियों को भुलाने से या दर-गुज़र करने से काम नहीं चलेगा। स्वतन्त्रता की सबसे बड़ी ज़िम्मेदारी होगी उसे पाकर टिकाये रखना, उसका समाज और राष्ट्र के हित के लिए पूर्ण सदुपयोग करना।

यह बात सच है कि देश के नेताओं और उद्योगपतियों का ध्यान इन ज़िम्मेदारियों की ओर गया है, वे सब पूर्ण सजग हैं। इसी लिए स्वतन्त्र भारत के लिए आवश्यक योजनाओं के ब्ल्यू प्रिंट अपने-अपने दृष्टिकोण से बनाकर देश के सामने उन्होंने रख दिये हैं। इन ब्ल्यू प्रिंटों में देश को जल्दी से साक्षर करने और हर विषय का उच्च-से-उच्च कोटि की शिक्षा दिये जाने पर जो ख़ास ज़ोर दिया गया है, उसने आपका ध्यान अवश्य ही आकर्षित किया होगा। यह तो कहने की आवश्यकता ही नहीं कि स्वतन्त्र भारत की शिक्षा का माध्यम अँगरेज़ी से बदलकर पूर्णतया हिन्दी और प्रान्तीय भाषाएँ होंगी। इस ओर क़दम बढ़ाये भी जा चुके हैं और राष्ट्रीय सरकारें बनने के कारण यह रफ़्तार और भी तेज़ हो जानेवाली है।

हमारे छोटे-बड़े सभी उद्योगपति जिन उद्योगों से देश का दारिद्रय दूर होकर जनता के सुखी और समृद्ध होने का विश्वास करते हैं, उन्हें स्थापित करने के लिए पूर्ण प्रयत्नशील हैं; पर हम प्रकाशक, जिन पर देश के लिए सब विषयों का साहित्य तैयार करने और कराने की प्रधान ज़िम्मेदारी है, अब तक इस भारी ज़िम्मेदारी का सम्मिलित और संगठित रूप से विचार ही नहीं कर रहे हैं। यदि विचार करते होते तो अवश्य ही हमने भी देश के सामने इस ज़िम्मेदारी को सम्हालने और पूरा करने का ब्ल्यू प्रिंट अब तक रख दिया होता। इस तरह का ब्ल्यू प्रिंट जल्दी-से-जल्दी तैयार कर देश और जनता के सामने रक्खा जाना अत्यन्त आवश्यक है।

इस तरह का ब्ल्यू प्रिंट तैयार करना किसी एक के बूते का काम नहीं है। इसमें लेखक, प्रकाशक, पुस्तकविक्रेता, साहित्यमर्मज्ञ और शिक्षा-विशारद, सभी का सहयोग ज़रूरी है। पर फिर भी यह मानना पड़ेगा कि इन सबमें बहैसियत प्रकाशक के हमारी ही ज़िम्मेदारी सबसे अधिक है; क्योंकि हम ही नये लेखक पैदा करते हैं, पुराने लेखकों को लिखते रहने के लिए प्रेरणा व प्रोत्साहन देते हैं। नये-नये विषयों के ग्रन्थ गण्यमान्य लेखकों से ख़ास तौर पर लिखवाकर छपाते व प्रकाशित करते हैं। पुस्तकों के विस्तृत प्रचार के लिए पुस्तक-विक्रेताओं को बाज़ार में लाते हैं। उन्हें पुस्तक-विक्रय से आजीविका प्राप्त हो और इस तरह वे पुस्तकों का प्रचार और विक्रय उत्तरोत्तर बढ़ाते रहें, यह प्रबन्ध भी हम ही करते या कर सकते हैं।

यह बात सत्य है कि हमारे इस देश में पुस्तक-व्यवसाय की बहुत ही बुरी दशा है। प्रकाशक को एक ओर लेखक लुटेरा, शोषक आदि कहता और मानता है, तो दूसरी ओर पुस्तक-विक्रेता भी उसे अपना हितैषी नहीं, वरन् शोषक ही देखता है। इसी अविश्वास ने लेखक और पुस्तक-विक्रेता को स्वयम् प्रकाशक बनने को उकसाया है। इससे पारस्परिक समस्या उलझी ही अधिक है। यही नहीं, जनता के हाथ में अच्छा साहित्य न जाकर निम्न कोटि का साहित्य ही अधिकतर पहुँचा है। इस साहित्य ने हमारे हिन्दी-साहित्य और प्रकाशकवर्ग का मस्तक ऊँचा नहीं किया है। प्रकाशकों में सम्माननीय अँगरेज़ प्रकाशक सर स्टैनले अनविन का यह कहना सर्वथा ठीक है कि "जनता जो माँगे वह देना, सामयिक निकृष्ट भावनाओं को चरितार्थ करने में सहायता करना, अन्य व्यवसायों की तरह यहाँ भी शीघ्र धनी होने का आसान तरीक़ा है। पर उस व्यक्ति के लिए यह

अशिष्ट मार्गानुसरण है जो मार्गप्रदर्शक के साथ-साथ नवीन पथों का पथिक होने को तैयार हो, जो मुर्दादिली, अज्ञान और अन्धविश्वासों को दूर करने में सहायता करने को उत्सुक हो और जो सर्वोपरि सत्य का दीपक सदा प्रज्वलित रहना चाहिए इसके लिए चिंतित रहे। उसे प्रकाशन-व्यवसाय में अधिक-से-अधिक रोमांचकारी साहस व्यापार मिलेंगे। भले ही इनसे उसे उतना अधिक लाभ न हो, परन्तु वह शान्ति और सन्तोष अवश्य मिलेगा जो कहीं ख़रीदा नहीं जा सकता।"

आप इसी महत् उद्देश्य को अपने प्रकाशन-व्यवसाय में सामने रखकर अब तक चले हैं और अब आगे आनेवाले समय के लिए भी आप इसी को अपने सामने रक्खे हुए हैं। इसलिए हमें मिलकर भावी भारत की साहित्यिक समस्याओं को समझने और उन्हें हल करने के समुचित साधनों को विचारना और उसका ब्ल्यू प्रिंट शीघ्र-से-शीघ्र तैयार करना चाहिए। जितना यह स्वतन्त्र भारत के लिए ज़रूरी है, उतना ही हमारे लिए भी है। इसमें स्वतन्त्र भारत का परमार्थ और हमारा स्वार्थ निहित है। इस महायुद्ध ने राष्ट्रों तक को संगठित होकर रहने का सबक़ सिखा दिया है। आज सब कोई परस्पर मिलकर रहना चाहते हैं और रक्षा के संयुक्त संगठन के लिए प्राणपण से सचेष्ट हैं।

जब राष्ट्रों का ही यह हाल है तो व्यापारियों का तो कहना ही क्या। वे कब इस घोर प्रतिद्वन्द्विता के और विज्ञान के ज़माने में अलग-अलग रहकर सफल हो सकते हैं। हमारे देश के अन्य व्यापारी संगठन को अनिवार्य समझकर बरसों पहले ही संगठित हो गये थे। आज उनकी संगठित आवाज़ को ठुकराना हमारी ग़ैरज़िम्मेदार सरकार के लिए भी उतना सहज नहीं रहा है, जितना पहले कभी था। खेद यही है कि हम पुस्तक-व्यवसायी आज भी असंगठित हैं और अपनी डफली पर अपना राग अलापने में ही मस्त हैं। इसी असंगठन के कारण आज न तो व्यापार-संसार में ही हमारा कोई मान है और न बौद्धिक संसार में। लोग हमारे व्यवसाय को निठल्लों का व्यवसाय समझते हैं। जनता को बुरा मार्ग बतानेवाला कहते तक भी नहीं हिचकिचाते। सरकार में भी हमारी कठिनाइयों पर सहानुभूतिपूर्ण विचार नहीं किया जाता। यह सब इसी लिए कि हमने देश के सांस्कृतिक जीवन को जगाने और बनाने में न अब तक कुछ किया है और न आज ही कर रहे हैं। यह बताने की सम्मिलित रूप से कभी कोई चेष्टा नहीं की गई।

इस देश में हिन्दीपाठी जनता ही अधिक है। फिर भी हिन्दी की सबसे कम प्रतिशत पुस्तकें शायद प्रकाशित होतीं और बिकती हैं। यह क्यों? इस युद्ध ने हिन्दी-पुस्तकों के प्रकाशन व विक्रय को कोई ख़ास प्रोत्साहन दिया हो, ऐसा भी नहीं मालूम देता। अँगरेज़ पुस्तक-प्रकाशकों की इस युद्ध के पहले सबसे प्रधान समस्या थी पुस्तकों की पर्याप्त बिक्री कर पाना। आज यह समस्या लुप्त ही हो गई है। अब अँगरेज़ प्रकाशकों की पुस्तकें छपने के पहले ही इतनी बिक जाती हैं कि माँग बनी रहती है। अँगरेज़ी-पुस्तकों की क़ीमतें भी हिन्दी-पुस्तकों की अपेक्षा बहुत अधिक होती हैं। फिर भी अँगरेज़ी-पुस्तकों की हमारे इस देश में भी धड़ाधड़ बिक्री होती है। पक्षान्तर में हिन्दी-पुस्तकें आज भी रुक-रुककर बिकती हैं। पुस्तकों के विषय, उनकी बिक्री के साधन व आयोजन पुराने पड़ गये हैं। उनमें नया जीवन, नया दृष्टिकोण लाये बिना हमारी गाड़ी आगे नहीं चलेगी। यह अत्यन्त आवश्यक ही नहीं, अपितु हमारे व्यवसाय के जीवन-मरण के प्रश्नों पर हमारा आपस में विचार-विनिमय जल्दी-से-जल्दी होना आवश्यक है।

ग्राहकों को कमीशन देने के रिवाज ने पुस्तक व्यवसाय को लाभ पहुँचाया है या हानि, यह भी हमारे व्यवसाय का अत्यन्त आवश्यक प्रश्न है। प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं में अधिकाधिक कमीशन देकर पुस्तकें बेचने की लागडाँट चलती है। पाश्चात्य देशों के लेखकों, प्रकाशकों और पुस्तक-विक्रेताओं ने वर्षों के अनुभव के बाद लिखी क़ीमत से कम में कोई पुस्तक नहीं बेचने का ठहराव किया था और उसी पर वे दृढ़ता के साथ चल रहे हैं। क्या इस तरह का ठहराव कर उस पर चलने का उपयुक्त समय हम हिन्दी-पुस्तकव्यवसायियों के लिए आज नहीं आ गया है?

व्यवसाय की ऐसी अनेक समस्याएँ हैं, जिन पर सम्मिलित रूप से विचार किया जाना चाहिए। इसलिए हिन्दी-लेखकों, प्रकाशकों, पुस्तक-विक्रेताओं और समस्त हिन्दी-प्रेमियों से मेरी प्रार्थना है कि वे किस केन्द्रीय स्थान में इन प्रश्नों पर विचार करने के लिए एकत्र हों और भविष्य के लिए अपना एक संघ स्थापित

करें। संगठन का प्रारम्भ कुछ ही विचारशील सज्जन मिलकर करते हैं और जैसे-जैसे संगठन शक्तिशाली होता जाता है और भी उसमें सम्मिलित होते जाते हैं। कांग्रेस की शुरुआत इने-गिने व्यक्तियों ने ही की थी, पर आज वह देशव्यापी संस्था है। जो मेरे इन विचारों से एकमत हों, उन्हें मैं इस संगठन के लिए निमन्त्रण देता हूँ। वे सूचित करें कि उन्हें देहली में इसका विचार करने के लिए कौन दिन उपयुक्त होगा। मैं हिन्दी-पत्रों व मासिकों के सम्पादकों से भी प्रार्थना करता हूँ कि वे मेरी इस विज्ञप्ति का अपने-अपने पत्रों में समर्थन करें और हिन्दी-सेवियों को ऐसे संगठन के लिए तैयार करें।

भारतीय साहित्य में सन्त-साहित्य का वैलक्षण्य

पं० गोविन्दनारायण शर्मा विशारद

किसी का कथन है कि साहित्य की प्रत्येक रचना, इतिहास के युगविशेष में होनेवाली परिस्थिति-विशेष में जीनेवाले व्यक्तिविशेष के आत्मीय अनुभवों का वागात्मक प्रकाशन है। फलतः उसमें निर्माता के व्यक्तित्व का प्रतिफलन होना स्वाभाविक है। केवल इतना ही नहीं, साहित्यकार के व्यक्तित्व पर उस समाज का भी, जिसमें वह जीता है, पर्याप्त प्रभाव पड़ता है। अन्य शब्दों में कह सकते हैं कि साहित्य का उस युगविशेष के आत्मा के साथ, और साहित्यकार या एक कलाकार का अपने समसामयिक जगत् के साथ अभिन्न सम्बन्ध होता है। युगविशेष के आत्मा का आदर्श है उस युग का साहित्य, जिसे कलाकार अपनेपन के पिटारे में सुरक्षित रखता है।

उपर्युक्त तथ्य के आधार पर भारतीय साहित्य का आलोड़न करने पर ज्ञात होता है कि इतिहास की लड़ियाँ कभी विच्छिन्न नहीं होतीं, प्रत्युत उनका ताँता युग-युग को मिलाता रहता है और इसी लिए इतिहास का और साहित्य का समाज में समान महत्त्व है। बल्कि साहित्य इतिहास का कारणभूत होने से कहीं अधिक मूल्यवान् है। साहित्य, साहित्यकार और समाज बहुत कुछ मिलजुल जाने पर ही इतिहास का सर्जन करते हैं। जिस साहित्य पर इतनी बड़ी ज़िम्मेदारी आती हो, उसके रचयिता का दायित्व कितना नाज़ुक होगा, यह कहने की बात नहीं।

साहित्यकार किसी मुख्य देश अथवा समाज के लिए ही नहीं, समस्त विश्व के लिए एक प्रकार का दैवी संदेश-वाहक होता है, जो सर्वसाधारण से भिन्न, किन्तु सर्वसाधारण के साथ उनके जैसे ही प्राकृतिक बन्धनों में रहकर जीवित रहने के लिए बाध्य होता है। पर विचारों की दुनिया उसकी अपनी निराली होती है, जिसे वह स्वयम् बनाता है। इस प्रकार निर्मित इस साहित्यकार की दुनिया की बोली भी कुछ निराली ही होती है। इस बोली के विषय में आगे, जहाँ सन्त-साहित्य में अभिव्यञ्जना पर कुछ कहेंगे, प्रकाश डाला जायगा। यहाँ तक तो यह सिद्ध है कि साहित्य की उपादेयता निर्विवाद है। जिस प्रकार इतिहास एककालिक विवरण होते हुए भी सर्वकालीन आकर्षण का साधन बना रहता है, उसी प्रकार साहित्य भी वही कहलाता है, जो मानव-समाज की सर्वकालीन भावनाओं का निरन्तर पोषण करता हुआ संसार के क्लेश, अशान्ति, रक्तपात, उद्वेग एवं संघर्ष के विचारों को निर्बल बनाकर मानव के आत्मा में स्वाभाविक शान्ति, प्रेम-स्फूर्ति और सर्जना-शक्ति को उत्पन्न करता रहे।

"व्यक्ति का जो रूप सामने आता है, वह सच्चा रूप नहीं और उसका व्यवहार में आनेवाला विचार भी वास्तविक नहीं" यह केवल दार्शनिक वाक्य नहीं है। इसी वाक्य की बुनियाद पर सारा संत-साहित्य खड़ा हुआ है। संत-साहित्य का वैलक्षण्य इसी तत्त्व को समझाना रहा है। संत-साहित्य में काव्य-रचना और सांसारिकता एक दूसरे के प्रतीपी हैं। यही कारण है कि सन्तों की उक्तियों की रहस्यात्मकता उनके लोक-नियोजित शब्दार्थ में नहीं। सन्त-साहित्य में लोकनियोजित शब्दों का प्रयोग लोक को समझाने के लिए केवल संकेतमात्र ग्रहण करने के उद्देश्य से किया गया है। यही कारण है कि सन्तों की दुनिया में, रसिकों के लिए अर्थात् शुद्ध सांसारिकों के लिए माधुर्य भाव फीका लगता है। संतों ने संसार की भाषा के संकेत लेकर संसार को उसका नश्वर स्वरूप बतलाकर स्थायी तत्त्व की ओर आकर्षित किया है। सुनिए, कबीर औद्यानिक भाषा में सांसारिक जीवन की क्षणभंगुरता का प्रभावशाली चित्र खींच गये हैं—

> मालन आवत देखि करि, कलियाँ करी पुकार।
> फूले-फूले चुणि लिए, कालिह हमारी बार॥

यों तो संत-साहित्य कुछ न कुछ तारतम्य से संसार की सभी भाषाओं के साहित्य में उपलब्ध है, किन्तु भारतीय साहित्य में, मुख्यतः हिन्दी-भाषा को ही सन्त-साहित्योत्पादन का विशेष सौभाग्य प्राप्त है। हिन्दी को ही यह सौभाग्य अधिक क्यों प्राप्त है, इस प्रश्न के मूल में हिन्दी-भाषा की व्यापकता के साथ-साथ ऐतिहासिक घटनाओं का प्रबल एवं सतत सहयोग है।

इतिहास का विद्यार्थी भली भाँति जानता है कि भारतीय संत-साहित्य एक युग-विशेष की अन्तरात्मा की विशेष प्रकार से प्रस्फुटित अन्तस्तलस्पर्शी वह पुकार है जो सदा अपने तारस्वर पर ही स्थित रहती है, और

१४ वीं शताब्दी से आज तक इस संगीतमयी वेदना की तीव्रता में वही टीस और वही कसक बनी हुई है जो उसके श्रीगणेशवाले दिन में थी। यही वह तत्त्व है जिसका सत्य चिरन्तन है और संत-साहित्य को अन्य साहित्य से विलक्षणता प्रदान करता है। जिस सत्य को संसार वचसा इतना महत्त्व देता हो और कर्मणा जिसका वह कोई मूल्य न आँकता हो, वह संसार गुमराह नहीं तो क्या है? हमारे सन्तों ने संसार की इसी दयनीय दशा पर तरस खाकर पराई पीर जानने का व्रत लेकर अपने को भुलाकर भी संसार का हित किया है। वे अपने को संसार के जीवन के साथ मिला कर चले हैं। इसी लिए उनकी विषय-सम्बन्धिनी शुष्कता उपादेयता से ख़ाली नहीं रह पाई है।

इसके विपरीत जिन साहित्यकारों ने संसार के नाम-रूप को प्रधानता देकर काव्यनिर्माण किया है, वे सत्य के सहज सौंदर्यमय प्रकाश को दबाते चले जाने को सत्यं, शिवं, सुन्दरम् से दूर रह जाने के कारण शिवता से भी पिछड़ गये हैं, तभी तो आज सन्त-साहित्य से भिन्न जितना भी साहित्य है, वह सामयिक साहित्य की परिधि में क़ैद होकर रह गया है, त्रिकालाबाध नहीं बन पाया, जब कि सन्त-साहित्य शाश्वत रूप से एकरस आज भी यथावत् जीवन-संदेश को सुनाने में समर्थ है।

सन्तों की वाणी (साहित्य) निठल्लों की बौखलाहट नहीं, समाज के हितैषियों की गंभीर चिन्तना है। उसमें समाज की शाश्वत समस्या, ऊँच-नीच का भाव, वर्णभेद, छुआछूत का छूँछा विचार आदि सब वे बातें हैं, जिन्हें सन्तों ने सरलता से और शान्तिपूर्वक निपटाया है।

सन्त-साहित्यकार सन्तों के समक्ष मूर्ति रही है लक्ष्य, और काव्य के ऊपरी गुणधर्म और अलङ्करादि रहे हैं उपलक्ष्य। जब कि अन्य साहित्यकारों की दृष्टि इससे ठीक विपरीत रही है। इस अन्तर का कारण यही है कि व्यवहारक्षेत्र की भाँति विचारक्षेत्र में भी विषयी लोगों की कमी नहीं और यह निर्विवाद है कि विषयी लोग सत्यान्वेषी नहीं हो सकते। व्यवहार में जिसे सत्य कहते हैं, विचारक्षेत्र में उसी को 'रस' नाम से पुकारा जाता है। अब हमें देखना है कि 'रस' जो साहित्य की आन्तरिक चेतना है, वह साहित्य के बाह्याडम्बरों के न रहते भी, अन्य साहित्य की अपेक्षा सन्त-साहित्य में क्यों अधिक परिमाण में आ गया है?

किसी भी सन्तवाणी का अवलोकन कीजिए, और किसी भी भाषा में कीजिए, 'रस' अर्थात् विशुद्धानन्द की मात्रा अधिक मात्रा में होगी; क्योंकि सत्यान्वेषण की वृत्ति से ही प्रेरणा लेकर उसका निर्माण हुआ है। सन्तों की मनोवृत्ति की सबसे बड़ी विलक्षणता निर्हेतुक आनन्द की सृष्टि करना ही है, जो उनके साहित्य की सबसे बड़ी विशेषता है। यदि इसी तत्त्व का निष्कलन किया जाय तो यों कह सकते हैं कि सन्त-साहित्य में चित्रित भगवान् निर्हेतुक भगवान् हैं। इन्हीं भगवान् को लेकर आत्मा की वाणी गीत गा सकती है, जब कि शास्त्रों के भगवान् को लेकर आत्मानन्द लोकविडम्बना में तिरोहित हो जाता है।

जो ज्ञान, ज्ञानक्षेत्र में मन का बोझ हो जाता है, वही सन्तवाणी में वास्तव तथ्य के निकट पहुँचकर लोकनियोजित शब्दावली के सहारे हृदय के भीतरी स्तर पर एक उसी तरह की पूर्णता का अनुभव कराता है और संत-साहित्य का यह मर्म अविलम्ब बोधगम्य है। यही उसकी सबसे मूल्यवान् विशेषता है। इसी विशेषता के कारण सन्त-साहित्य में रस सघन होकर बह निकला है, उसमें भगवान् निराकार रहकर भी एकान्त सत्य के रूप में सामने आकर दर्शन देते हुए से ज्ञात होने लगते हैं। यहाँ काव्य-कला की कसौटी पर पूरा उतरनेवाला कोई भी काव्य सन्त-साहित्य की रस-धारा से ईर्ष्या नहीं कर सकता। कहा जा सकता है, लोक की स्वाभाविक तृप्ति के लिए सन्तकाव्य में कोई स्थान नहीं, पर इस कथन में बल नहीं। प्रथम तो काव्य में लोकरुचि का व्यावहारिक अर्थ ही नहीं, और यदि मान भी लिया जाय तो मानना पड़ेगा कि वहाँ विशुद्ध आनन्द, जो कि काव्य का लक्ष्य है, प्राप्त नहीं हो सकता। और यदि लोकरुचि का तात्पर्य आनन्दास्वादन से ही है तो अन्य काव्यों में रस की मात्रा बाहरी आडम्बरों से प्रायः तिरोहित रहती है, अतः विशुद्धानन्द में व्याघातक हो जाती है, जब कि सन्त-साहित्य लोकरुचि के दोनों ही—व्यावहारिक और रसात्मक—पहलुओं को लेकर सफलता से चला है। देखिए, कबीर समाज की ऊँच-नीच सम्बन्धी विषाक्त भावना को किस आसानी से चूर-चूरकर, समभावना की मन्दाकिनी के साथ मनोजगत् में सत्य की खोज के लिए व्याकुलता पैदा कर देते हैं—

फागुण आवत देखि करि, बन रूपा मन माहिं।
ऊँची डाली पात हैं—दिन-दिन पीले थाहिं॥

काश नीची स्थितिवालों के ही लिए नहीं, उसकी दाढ़ ऊँचे बने फिरनेवालों पर भी है, ऊँचा-नीचा उस काल की दाढ़ में पहुँचकर कृत्रिम सा रह जाता है। प्राणी चेत !

और कहानी किस चमत्कारपूर्ण ढंग से है ! समाज में उच्चता के दर्प से पूर्ण लोगों से कबीर बात नहीं करते। वे तो वृक्षों की ऊँची शाखाओं पर हवा के साथ थिरककर नीची शाखाओं पर सुस्त पड़े, पत्तों पर गर्व करनेवाले पत्तों को सुना रहे हैं। ये पत्ते नहीं सुनते, पर मसनद और गद्दों पर पड़े कानों में यदि यह वाणी एक बार भी घुस गई तो उस स्थायी तड़पन को पैदा कर देती है जो इस भेदभाव को मिटाये विना कभी नहीं मिट सकती।

सन्त-साहित्य के सावधान अध्ययन से ज्ञात होगा कि दूसरे लोग जहाँ जगत् के साथ ऊपर-ऊपर का सम्बन्ध रखते हैं, वहाँ ये मर्मी या साधक सन्तकवि उसकी अन्तरात्मा में पैठकर निकले हैं, इस कथन में तनिक भी असत्यांश नहीं है। इसी से कह सकते हैं, जगत् को जितना सन्तों ने देखा है, उतना किसी ने नहीं देखा। ये लोग अपने ढंग के एक ख़ास प्रकार के लोग होते हैं। इनके पास सत्य का बाहरी प्रमाण तो नहीं होता पर उसका आन्तरिक साक्षात्कार उन्हीं की अपनी वस्तु होती है, इसमें अत्युक्ति नहीं। इन लोगों ने छिपे रहकर, दूर रहकर, तिरस्कृत रहकर समाज की लोक-दृष्टि से हीन कहे जानेवाले वर्ग में जन्म लेकर भी विराट् जगत् के मानस में सत्य की लगन पैदा कर देने में परम सफलता प्राप्त की है !

मध्ययुग एक प्रकार से सन्तयुग कहा जा सकता है। हिन्दी-भाषा के लिए ख़ासकर यही युग स्वर्णयुग था। इस युग में जिन लोगों के लिए बाहरी मंदिरों के द्वार बंद थे, जिन्हें समाज के आँचल में मुँह छिपाने का अधिकार न था, उन मर्मी लोगों ने राम और कृष्ण के दिव्य दर्शनों की आकुलता से भीतरी मिलन-मंदिर का गुप्त द्वार खोज निकाला और मानस के आसन पर बिठाकर उस 'एक' को अनेक में देखने की निश्छल साधना द्वारा समाज के अन्तस् में अपने को सदा के लिए घुला-मिला दिया। परन्तु स्वार्थी समाज के कठोरहृदय आडम्बरियों ने तो फिर भी इन्हें समाज के बाहरी दायरे में ही खड़ा करके देखा। यह परम दुर्भाग्य का विषय है। भारतीय धर्मवाद के भेदभाव-पूर्ण कलंक को इन लोगों ने कथनी और करनी का ऐक्य करके काफ़ी दूर तक धो डाला।

भारत धर्मबहुल देश ही नहीं, समाजबहुल व भाषाबहुल भी है। परन्तु सन्तवाणी में भारत के ऐक्य की आत्मा सन्निहित है। उनकी यह अमर वाणी राष्ट्र के ऐक्य की प्रतीक है। साहित्य का उद्देश्य 'एक आत्मा से दूसरे आत्मा का सेतुकरण', यदि देखा जाय तो इन मर्मी या साधक सन्तों द्वारा ही सफल हुआ है।

मध्ययुग की भाँति आज भी बाहर का प्रभाव अधिक पड़ रहा है। इस बाहर के प्रभाव को, यदि किसी प्रकार कम किया जा सकता है तो उसी सन्त-वाणी का आसरा पकड़ना पड़ेगा, जिसने अन्दर के सत्य को स्वीकार करके बाहरी आडंबर को ठुकराया है। यही सन्तसाहित्य की वह कसौटी है, जिस पर यह खरा उतरा है। इस साहित्य की शाश्वतता ही इसका मूल्य है। अतीत और भविष्यत् दोनों इस साहित्य में सदा वर्त्तमान बनकर विराजते हैं। यही वह वैलक्षण्य है जो इसे इतर साहित्यिक सामग्री से भिन्न करता है, और काल तथा देश के भेद को पंगु बनाकर आज भी समाज में एकरसता का स्रोत बहाकर व्याकुल विश्व को चिर शान्ति प्रदान कर सकता है। लोहे का धनी तलवार की धार के बल पर बड़े-बड़े मंसूबे बाँध सकता है, परन्तु वास्तविक विश्राम व शान्ति का निवास किस ख़ास मंसूबे में है—यह जानने के लिए उसे इन मर्मी सन्तों के बनाये हुए मार्गों से ही गुज़रना होगा; क्योंकि संसार का अंतिम मार्ग यही है और इन्होंने ही उसे पहचाना है।

सम्मान-प्राप्ति के उपाय

श्रीरामचन्द्र गौड़ एम्० ए०, बी० टी०; विज्ञानरत्न

मानव-संसार का प्रत्येक मनुष्य स्थायी तथा आदर्श सम्मान का अभिलाषी है। वह क्या है और कैसे प्राप्त हो सकता है, इन प्रश्नों का विश्लेषणात्मक उत्तर ही इस लेख का हेतु है। इस विशद व्याख्या के लिए निम्नलिखित दोहे के अंतरंग भावों का स्पष्टीकरण आवश्यक है—

"दीपशिखा जलती हुई, विमल सिखाती ज्ञान।
जब तक नर जलता नहीं, पाता नहिं सम्मान॥"

दीपक मिट्टी से बनता है। वह पृथ्वी से प्राप्त होती है। उस पर वर्षा होती है। उस पर पहाड़ अनेक की संख्या में अपार बोझ लेकर विराजमान है। कृषक उसे हल से विदीर्ण कर खेती करते हैं। अन्य लोग उसे खोदते हैं। उस पर भयंकर गरमी पड़ती है और उस पर भयंकर शीत के प्रहार भी होते हैं। पर वह विचलित नहीं होती। सब प्रकार के समयों में उसकी समानता ही उसकी महत्ता है। उसकी सहनशीलता भी अपनी पराकाष्ठा को पहुँची हुई दिखती है। इन सब बातों के कारण हम उसे माता के दुलारभरे नाम से पुकारकर उसका सम्मान करते हैं। संसार भी बड़ी विचित्र जगह है। मानव-समाज सत्कार्यों का विरोधी है। परछिद्रान्वेषण ही उसका स्वभाव है। वह मानुषिक कमज़ोरियों का, सामयिक उपयोग कर, सफलता के पथ पर आरूढ़ व्यक्ति को पथ-भ्रष्ट करने का भरसक प्रयत्न करता है। इनके अतिरिक्त संसार किसी का नहीं हुआ। वह जड़ है और मनुष्य चेतन। फिर दोनों में सहानुभूति कैसी? संसार द्वन्द्वमय है। सुख, दुःख, उत्थान, पतन, हर्ष, शोक, जन्म, मृत्यु, संयोग, वियोग, अन्धकार, प्रकाश, सम्मान, अपमान इत्यादि कुछ द्वन्द्व हैं। इन द्वन्द्वों का क्रम सदा जारी रहता है। एक के अन्त में दूसरे का प्रारम्भ रहता है। अतः समय भी किसी का एक-सा नहीं रहता। इनके बाद मनुष्य को अपने शरीर में स्थित शत्रुओं को वश में रखना पड़ता है। आत्मप्रशंसा अपनी बाल्यावस्था में ख़ुशामद, यौवनावस्था में अहंकार तथा अन्त में सन्निपात की दशा होती है और उसका सर्वनाश ही कर डालती है। निन्दक अपने भड़कीले तथा उत्तेजनापूर्ण शब्दों का सहारा लेकर मानव-हृदय में क्रोध-रूपी अग्नि को प्रकट करके उसे मदोन्मत्त कर देते हैं। वह अनर्गल कार्यों द्वारा अनेक पापों का भागी होता है। अतएव सम्मान के इच्छुक मानव-हृदय में अपनी सम्पूर्ण दशाओं में समान रूप से रहने का गुण अवश्य होना चाहिए। उसमें सहनशीलता का स्थिति अत्यावश्यक है। इससे "योग्यायोग्य" का विचारकर वह अपने मार्ग में संशोधन तथा दृढ़ता को प्राप्त कर सकता है।

मिट्टी तैयार है। कुंभकार उसमें पानी, भूसा आदि मिलाकर उसे ख़ूब गूँदता है। फिर उसे चाक पर चढ़ाकर दीपक तैयार करता है। मानव-समाज में मिट्टी की दशा कब प्राप्त होती है? यह बच्चों का वह समय है, जिसमें माता-पिता के आदेशों के अनुसार अथवा संसार द्वारा उत्पन्न परिस्थितियों से प्रभावित होकर वह मानवता से दानवता को प्राप्त होता है अथवा दानवता से मुक्त होकर मानवता का सौभाग्य लाभ करता है। यह शिक्षा का कार्य है। मिट्टी की इच्छा न रहने पर भी उसमें अनेक वस्तुएँ मिलाकर गूँदा जाता है। उसी प्रकार मानव-जीवन में ऐसी दुर्घटनाएँ होती हैं, जो मनुष्य की आशाओं के परे होती हैं, जो उसकी इच्छाओं के प्रतिकूल होती हैं, जो उसके बनाये हुए कार्यों को मिट्टी में मिला देती हैं, जो मानव-कल्पना के परे कार्यों को कर डालती हैं। इससे हम इस निर्णय पर पहुँचे कि मनुष्य की व्यक्तिगत शक्तियाँ, उसका शारीरिक सौंदर्य तथा पाशविक बल, पदाधिकार का क्षणिक उन्माद थोड़ी देर की चमक है, रेत की भित्ति के समान धोका देनेवाला है। मृगतृष्णा के समान आकर्षक है, पर है निस्सार।

जिस प्रकार मिट्टी स्वयं दीपक, नाँद, मटका तथा सुराही नहीं बन सकती, उसे कुंभकार की सहायता चाहिए, ठीक उसी प्रकार मनुष्यों का समय सदा एक-सा नहीं रहता। अतः परिस्थितियाँ मनुष्यों के हाथ में नहीं हैं। मनुष्य का इस संसार में कुछ भी नहीं है। वह ख़ाली हाथों आया था और उसे ख़ाली हाथों ही जाना पड़ेगा। चेतन अग्नि के अंगारों को जड़तारूपी राख ने ढक लिया है। उसके चक्कर में

आकर मनुष्य इस संसार में मेरी और तेरी की रचना कर ममतारूपी भयंकर ग्राहिणी को पाल लेता है। मोहरूपी शराब पीकर मस्त हो जाता है। ममता के कारण संयोग सुखदायी और वियोग दुःखदायी हो जाता है। अतः हमें यह समझना चाहिए कि जो कुछ भी हमारे पास है, वह ईश्वरीय धरोहर है। हम केवल उसके रखवाले हैं। उसके प्राप्त होने पर प्रसन्न होना और उसके विछोह में दुखी होना हमारा काम नहीं। अतः प्रत्येक सम्मान के प्रेमी को सांसारिक द्वन्द्वों से परे रहना चाहिए। सब समयों में समान रहने के लिए उसे सादा जीवन अपनाना चाहिए। वह भी प्राकृतिक हो और उसकी आवश्यकताएँ कम-से-कम हों। मानव-जीवन की आवश्यकताएँ ही उसके दुःख की भीषणता का मुख्य आधार हैं। वे ही उसके लिए सोने की बेड़ियाँ हैं, जिन्हें वह स्वयं पहनकर स्वेच्छा से गुलाम बनता है। समस्त प्राप्त वस्तुओं को ईश्वर-दत्त समझकर उन्हीं में सन्तोष करना चाहिए। अपनी जीविका को सीमित रखकर उसे न्यायपूर्वक कमाना प्राकृतिक जीवन के लक्षण हैं। सम्मानप्रेमी के लिए सर्वप्रथम अपना उत्थान आवश्यक है, अतः उपर्युक्त नियमों का पालन स्वयं करना चाहिए। पहले वह अपनी व्यक्तिगत गुलामी से मुक्त हो और फिर दूसरों को मुक्त करे। आनेवाली परिस्थितियों का स्वागत करे, जानेवाली प्रिय परिस्थितियों के वियोग से अपने को दुखी न बनावे। समस्त कार्य ईश्वर की प्रेरणा से ही हो रहे हैं। मनुष्य तो उसके हाथ का एक साधन है। जिस प्रकार तलवार रक्षक बनकर अभिमान नहीं करती और हत्या करने पर नहीं रोती; उसी प्रकार हमें सम्मान तथा अपमान के परे रहना पड़ेगा; क्योंकि सांसारिक सम्मान क्षणिक है, उसका अन्त अपमान है। वह सांसारिक स्वार्थसाधन की एक ढाल है।

कच्चे दीपक तैयार हैं। उनका संस्कार हो चुका है। उन्हें भट्ठी में रखकर पकाया जाता है। वैसे ही संसार शिक्षासम्पन्न सांस्कारिक व्यक्तियों का परीक्षा-स्थल है। यहाँ संसार भट्ठी है। भट्ठा में अग्नि की विशेषता है। अग्नि समस्त ईंधन को जलाकर स्वयं नष्ट हो जाती है। उसी प्रकार मनुष्य को दुःख प्राप्त होता है। वह हरएक मनुष्य के लिए आवश्यक है।

पर दुःख में कई गुण हैं। वह दोषों के कारण उत्पन्न होता है और उन्हें भस्म करके स्वयं भी नष्ट हो जाता है। अतः दुःख मनुष्य को उज्ज्वल बनाने के लिए आता है। दुःख के कारण संसार को अनेक लाभ हुए हैं। ऐसी कोई अच्छाई नहीं, जो दुःख से न निकलती हो। अतः हमें दुःखरूपी अग्नि से डरना नहीं चाहिए। उस समय तक सहन करना चाहिए कि जब वह स्वयं विलीन होकर सुख में न परिणत हो जाय।

भट्ठी का काम समाप्त होने पर अच्छे पके दीपक उठाकर रख लिये जाते हैं। शेष टूटे-फूटे अधकचरे तथा अधिक जले हुए दीपक निरर्थक समझकर फेंक दिये जाते हैं। वैसे ही संसार में शिक्षित समाज की परीक्षा होती है। ऊपर कही विफलता का मुख्य कारण सांसारिक प्रलोभन है। इन प्रलोभनों से सदैव मुक्त रहने की अथक योजना करना और उसे पूरा निभाना प्रत्येक सम्मान-प्रेमी के लिए अनिवार्य है।

दीपकों में तेल या घी डालने से पहले हम उन्हें पानी में भिगोते हैं। क्यों? वे तेल अथवा घी को सोख लें। यहाँ पर शोषण की ओर मानव-समाज का ध्यान आकृष्ट किया गया है। ज्ञान और शोषण का योग अत्यन्त हानिकारक है। लोभ ही मनुष्य को शोषण के कार्यों में अग्रसर करता है। शोषण में अनुरक्त मनुष्य अपने स्वार्थ के वशीभूत होकर अनेक को सताने का भागी बनेगा और शनैः-शनैः स्वयं भी बड़े भारी दुःख का पात्र होता चला जायगा।

अब दीपक तैयार है। उसमें तेल अथवा घी और बत्ती भी उपस्थित कर दी गई है। दीपक जला दिया जाता है। दीपक यही मनुष्य का हृदय है। उसमें आयुरूपी तेल है और श्रद्धा उसकी बत्ती है। दीपक की लौ यही ज्ञान का प्रकाश है।

दीपक की लौ अग्नि का सूक्ष्म रूप है। उसी प्रकार संसार के समस्त पदार्थों में चाहे वे जड़ हों अथवा चेतन, ईश्वरीय अंश विद्यमान है। अतः संसार के समस्त प्राणियों का पिता एक ही है और वे हैं उसके पुत्र। यही विश्व-प्रेम की आधारभूत भावना है। जिस प्रकार काठ की पुतलियाँ चाहे किसी भी रंग में रँगी हुई हों, पर वे काठ से भिन्न नहीं, जिस प्रकार समुद्र की लहरें, उसका फेन, उसकी बूँदें पानी से भिन्न नहीं हैं, ठीक उसी प्रकार संसार की समस्त जातियाँ, चाहे वे काली हों या गोरी, चाहे वे पूर्वी हों या पश्चिमी, चाहे वे धनवान् हों या निर्धन, चाहे वे अधिकारी या भिखारी हों, सब समान हैं, अपने-अपने स्थान पर महत्त्वपूर्ण हैं। कोई छोटा तथा बड़ा

नहीं है। सब एक ही पिता के पुत्र और भाई भाई हैं। उपर्युक्त समानता को ध्यान में रखकर ही दीपक राजा और रंक के महलों और झोपड़ियों में समान प्रकाश करता है। इसलिए जितने धर्म हैं, वे इन पुत्रों के भिन्न मार्ग हैं, जिनसे वे अपने पिता को प्रसन्न करते हैं। जितने धार्मिक नाम हैं, चाहे उसे आप ईश्वर, राम, अल्लाह, क्राइस्ट, मोहम्मद कुछ भी कहें, वे एक ही प्रभु के नाम हैं। एक ही वाटिका में भिन्न-भिन्न फूल पैदा होते हैं, उनके रंग अलग-अलग होते हैं। इसी प्रकार भिन्न भिन्न जातियाँ अपने धार्मिक कर्तव्य करती रहें। कोई किसी के धर्म में बाधा न उपस्थित करे और वह भी तनिक से स्वार्थ अथवा प्रलोभन के कारण। प्रत्येक में भ्रातृ-प्रेम हो, पारस्परिक सहानुभूति हो। हमारा प्रेम स्वार्थ की भित्ति पर न टिका हो। पारस्परिक उपकार, प्रत्युपकार तथा त्याग उसका मूल आधार हो। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न फूल अपनी-अपनी छटा से माला की शोभा बढ़ाते हैं, वैसे ही समस्त भारत की जातियाँ एकत्र हों और भारतमाता के गौरव को बढ़ावें। यही प्रत्येक सम्मान-प्रेमी का कर्तव्य है। पर यह हो कैसे सकता है?

दीपक की जीवनी का मुख्य लक्ष्य परोपकार है। दीपक से प्रकाश होता है, लोग सुखी होते हैं, उनके कार्यों में सुविधा होती है। पर दीपक को क्या लाभ? कुछ भी नहीं। तेल जलता है। बत्ती जलती है। इन दोनों का नाता होता है। उनके नाश में स्वार्थ की बू का नामनिशान तक नहीं। वे निछावर हैं परमार्थ की वेदी पर। ठीक इसी प्रकार मानव-समाज के प्रत्येक सम्प्रदाय, जाति तथा राष्ट्र का यह कर्तव्य है कि वह सबको समान समझे। सबको ईश्वर का अंश माने। वह अपनी शारीरिक शक्तियों को परोपकार में बलिदान कर दे। मानव-जीवन का सदुपयोग ही परोपकार है। संसार में दुष्ट तथा सज्जन, दो प्रकार की सृष्टि पाई जाती है। सज्जनों के साथ उपकार की भावना यथार्थ ज्ञात होती है। पर दुष्टों के साथ भी परोपकार करना कहाँ तक ठीक है? इस प्रश्न का उत्तर निम्नलिखित में छिपा है—

"जो तोकों काँटा बुवै, ताहि बोइ तू फूल।
तोकों फूल के फूल हैं, वाको हैं तिरसूल॥"

समय तो इस क्रिया में अवश्य लगेगा, लेकिन सुधार स्थायी होगा। हम पहले कह चुके हैं कि दुःख मानव-जीवन के साथ लगा है, वह इस शरीर के साथ है। फिर दुःख को हम परमार्थ के लिए क्यों न उठावें। "आत्मवत् सर्वभूतेषु" के सिद्धान्त को क्यों न मानें? दूसरों के दुःख को अपना दुःख क्यों न समझें? स्वयं दुःख उठाकर दूसरों को सुखी बनावें। उनके द्वारा दिये गये कष्टों को भूलकर हम उन्हें सुख दें। पहले तो वे हमें मूर्ख मानेंगे, पर उनके विचारों में धीरे-धीरे प्रगति होगी। वे सुख लेते-लेते दूसरों को सुख देना अवश्य सीख जावेंगे और हमें भी सुख प्राप्त होगा। पर प्रत्युपकार सम्मानप्रेमी का विषय नहीं। वह उसकी सेवाओं का आधार नहीं बन सकता। वह उसे पतित बना देगा। और "नेकी कर कुएँ में डाल" के सिद्धान्त के अनुसार वह दुखी हो जावेगा। अतः यह सिद्ध हो गया कि दूसरों को सुख पहुँचाने में जो सुख प्राप्त होता है, वह अवश्य ही कभी न कभी बड़े सुख में परिवर्तित हो जाता है।

संसार वर्तमान युग में इस सिद्धान्त के प्रतिकूल काम कर रहा है। वह अपना-अपना सुख जुटाने में लगा है। धनवानों के गालों की गुलाबी में कई ग़रीबों के ख़ून की झलक है। पदाधिकारियों के अधिकांश भाग में पद-दलित सहायकों की वेदनाओं की मस्ती है। उनके चेहरे पर अधिकार के भयंकर भूत के पाशविक बल तथा रोष की दमक है। उनके टेढ़े-बाँके बाल हृदय के बाँकेपन को प्रकट करते हैं। उनकी वेशभूषा एक बड़े असंतुष्ट व्यक्ति को अपने में छिपाये हुए है। फल भी भयंकर ही है। असंतोष की भयंकर लपटें मानव-समाज को आज नष्ट कर रही हैं। फूट ने प्रत्येक गृहस्थी को संतप्त कर दिया है। स्वार्थ की भयंकर टक्करें आज अभिमान, द्रोह, द्वेष को उत्पन्न कर रही हैं। उनकी दयनीय दशा आज किसी से छिपी नहीं है। ऐसे दुखियों के लिए परोपकार ही एक अमृत है। वही उनके रोग का प्रतिकार है। इससे दुष्टों की दुष्टता का सदा के लिए अंत होगा। उनके कोमल हृदय में सरसता आवेगी। उनकी उजड़ी हुई बगिया फिर लहलहा उठेगी। सहानुभूति के आधार पर स्वाभाविक संगठन होगा। शत्रु मित्र बन जावेंगे। संसार में ही उन्हें स्वर्ग-तुल्य देवत्व की प्राप्ति होगी। यदि कोई दुष्ट इस सीमा के परे हो तो उसे ईश्वर के हवाले करके अपना कर्तव्य करते रहना चाहिए। अच्छा तो यह होगा कि सम्पर्क की सीमा कर दी जावे। इससे उसकी दुष्टता आपमें दुष्टता उत्पन्न करने में सफल नहीं होगी। वह तो डूब ही रहा है। आप

डूबने से बच जावेंगे। आम के वृक्ष पर लोग पत्थर फेंकते हैं और प्रत्युत्तर में वे स्वादिष्ट फल प्रदान करते हैं। मानव-समाज की स्वार्थपरता, उसका पतन बड़ा भयंकर है। वह आँखें होते हुए भी अंधा है। लोग इन जड़ जीवों के परोपकार की कृतियों को देखकर भी, उनका दैनिक अनुभव करके भी अपनी क्रूरता को नहीं छोड़ते। भाई, भाई का शत्रु बन रहा है। एक जाति दूसरी जाति को अधिकार तथा संपत्ति की वेदी पर बलिदान करने को तैयार है। बलिदान का प्रतिशोध बलिदान में हुआ। वे भी कुछ समय के बाद प्रकृति की समता के कठोर नियम पर बलिदान हुई। व्यापारिवर्ग अपनी धन कमाने की मस्ती में दूसरों को चूसने के लिए तत्पर है। वह भी ठीक इसी प्रकार दूसरों के शोषण का शिकार बनता है। पर दोषी कौन? इस शोषण के रोग का प्रारंभ करनेवाला व्यक्ति। दुनिया में छुआछूत के रोग तो बहुत हैं। पर मानव-समाज तथा उसके विचार सागर में बेतार के तार हैं। व्यक्तित्व के गुण तथा दोष व्यक्तित्व की सीमा को पारकर बिजली की तरह सारे समाज को उन्नत कर देते हैं अथवा उसके पतन का कारण बनकर सारे समाज को नष्ट कर डालते हैं। सम्मानप्रेमी का सर्वप्रथम कर्तव्य दूसरों को उन्नत करना है। सर्वप्रथम उसे व्यक्तित्व की गुलामी से मुक्त होना आवश्यक है। तभी उसके शब्दों में वह ओज होगा। वह जोश होगा, वह शक्ति होगी जो समस्त संसार के हृदय में प्रवेश कर उन्नति के मंत्र को फूँककर उनका उद्धार कर सकेगी। इसी शक्ति के आधार पर वह दूसरों को गुलामी के भयंकर पंजों से मुक्त कर सकेगा।

कुछ लोगों का यह विचार है कि पूजा तथा नमाज़ से ही ईश्वर की प्राप्ति होती है। इससे शुद्धि तो अवश्य होती है, पर वह उत्थान का अंत नहीं है। जो व्यक्ति संसार की यथार्थता को समझने में असफल हैं, जो किसी मूर्ति के बिना किसी में श्रद्धा नहीं रख सकते, जो संसार की भयंकरता के समक्ष विचलित हो चुके हैं, उन्हें सुमार्ग पर रखना, उन्हें ईश्वर तत्त्व के योग्य बनाकर विश्व-प्रेम-जैसी कठिन साधना में शनैः शनैः लगाना ही मूर्तिपूजा का मुख्य हेतु है। जिनमें लगन उत्पन्न हो गई, जिन्होंने धार्मिक आदेशों का उनके सच्चे रूप में मनन किया, वे पार हो गये, अपने लक्ष्य को प्राप्त हो गये। जो केवल पूजा तक ही रहे और हृदय-शुद्धि की ओर अग्रसर न हो सके, उन्होंने धर्म को अपने स्वार्थ-साधन का एक मार्ग समझा। अपने सम्मान के लिए दूसरों के निष्पक्ष आदेशों को ठुकराया और उनके शत्रु बनकर विद्रोह की आग फैलाई। जनता को पथ-भ्रष्ट किया।

इससे आगे निराकार-पूजा है। हमें ईश्वर के साक्षिभूत मानव-समाज को सुख पहुँचाना है। हमें उसके बंदों को ख़ुश करके उसे ख़ुश करना है। रहिमन कवि ने इसी भाव को लेकर कहा है कि "रहिमन जो दीनहिं लखै, दीनबंधु सम होय।" ब्रह्मानंदजी ने भी "मुखड़ा क्या देखे दरपन में, तेरे दया धरम नहीं मन में" कहकर उस स्थिति को स्वीकार किया है। यही ईश्वर की सच्ची पूजा है, यही देश-प्रेम है, यही राष्ट्र-सेवा है, यही मानव-हृदय की महत्ता है। सम्मान-प्रेमी का मुख्य कर्तव्य निराकार-पूजा है। वही उसका धर्म है, वही उसका व्रत है, वही उसका सर्वस्व है, वही उसकी आत्मा है। यही सम्मान का सच्चा मूल्य है।

कहावत भी प्रसिद्ध है कि दीपक-तले अँधेरा रहता है। मनुष्य चाहे जितना परोपकारी हो, उसमें अहंभाव नहीं उत्पन्न होना चाहिए। मनुष्य-मात्र अपूर्ण हैं। अतः अपनी अपूर्णता सदा उसके लक्ष्य में रहनी चाहिए। मनुष्य का शरीर दोषों की खान है। सांसारिक तूफ़ान उसे कब पथ-भ्रष्ट कर देंगे, इसका उसे पता तक नहीं है। उसे सदा यह समझना चाहिए कि प्रत्येक पतन का कारण वह स्वयं है। दूसरों को दोषी ठहराने के पहले प्रत्येक व्यक्ति यह सोचे कि उसे दुःख क्यों हुआ, उससे कौन-सी भूल हुई और उसे दूर करने का प्रयत्न करे। संसार का स्वार्थपूर्ण व्यवहार, उसकी दुधारी नीति, उसके समाज तथा व्यक्तियों के पतन को सदा ध्यान में रखकर सुमार्ग पर अड़ा रहे। संसार का विनाश इस शरीर के विनाश के साथ ही हो जाता है। अतएव अपनी समस्त कृतियों में स्थिरता को लक्ष्य न बनावे। चाहे उसका हृदय शुद्ध हो, पूर्णतया शुद्ध हो, पर संसार अपना कुत्सित प्रभाव डालकर मानव-समाज को पथ-भ्रष्ट करता है। अतएव संसार की इस चाल को उसके भयंकर परिणामों सहित रखकर उत्थान की ओर अग्रसर होना ही दिया-तले के अंधकार का गुप्त आदेश है।

इस अंधकार को देखकर हमें घबराने की आवश्यकता नहीं है। इसका उपाय भी साथ ही है। जिस

प्रकार एक दीवे से दूसरे अनेक दीवे प्रज्वलित किये जा सकते हैं, उसी प्रकार हमें अपने प्राप्त आत्मज्ञान को दूसरों तक पहुँचाकर उनके हृदयों को उन्नत बनाकर उनके हृदयरूपी दीपक को जला देना चाहिए। इसलिए ज्ञानियों का संसर्ग अवश्य प्राप्त करना चाहिए। इससे ज्ञानियों का ज्ञान बढ़ता है। बुझे हुए दीपक प्रज्वलित हो जाते हैं। दो प्रज्वलित दीपकों की निकटता के कारण दोनों दीपकों के तले रहनेवाला अंधकार भी नष्ट हो जाता है।

अंधकाररूपी अज्ञान संसर्ग से प्राप्त है। उसका श्रीगणेश इंद्रियों से होता है। इंद्रियाँ ही जगत् को देखती हैं। उसका संसर्ग मनुष्य का पतन अथवा उसका उत्थान करता है। प्रत्येक मनुष्य को दुष्टता से बचना है। इसका उपाय भी दीपक के द्वारा प्राप्त होता है। दीपक दुष्टों के घरों में अत्याचार के भीषण दृश्य देखता है। उनकी हृदयहीनता तथा क्रूरता से सम्पन्न लीलाओं का साक्षी बनता है। सज्जनों के यहाँ उसे सरलता, सहानुभूति, परोपकार, सहिष्णुता के ज्वलंत उदाहरण मिलते हैं। उसने प्रकाश देना सीखा है। वह दुष्टों की दुष्टता से परे रहकर सज्जनों और दुर्जनों में कोई अंतर नहीं करता—समान ही प्रकाश देता है। ठीक इसी प्रकार मनुष्य को व्यक्तियों की दुष्टता से अपना सम्पर्क नहीं रखना चाहिए। उनका विचार भी दुष्टता का श्रीगणेश होगा। अतएव अपनी इंद्रियों का उपयोग इस प्रकार करो कि वे स्वार्थ की भावना के मिश्रण से परे रहें। स्वार्थ ही इंद्रियों को कुमार्ग पर ले जाता है। वही दुष्टता के रूप में देखकर प्रतिशोध के मार्ग को अपनाता है। अंत में स्वयं दुष्ट बनकर अपना सर्वनाश कर बैठता है। संसार का साक्षी बनना, संसर्गों से अलग रहना तथा सबका परोपकार करना ही समस्त धर्मों का तत्त्व है।

अब हमें "जब तक नर जलता नहीं" के गूढ़ार्थ पर विचार करना है। मनुष्य अग्नि में जलता नहीं है। अग्नि में उसका शरीर जल जाता है। संसार भी जड़ है और शरीर भी जड़ है। इसी साम्य के कारण शरीर ही संसार का उत्पन्न करनेवाला है। समस्त शरीरों के स्वार्थपूर्ण संबंध ही संसार के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे ही शरीर के नामसंस्करण का कारण होकर अनेक बंधन का मूलाधार हैं। ये संबंध ममता को उत्पन्न कर मनुष्य को स्वार्थ के रोग में बरबस उतार देते हैं। वह दानवता को अपनाकर, उसे बिजली की तीव्र गति से फैलाकर समस्त संसार को त्रस्त कर देता है। ममता असंतोष की सृष्टि करती है। अतएव ये सीमित रूप में ही सम्मान-प्राप्ति के रोग में सहायता कर सकते हैं, अन्यथा ये बाधक ही हैं। अतएव मनुष्य को अपने शरीर-भाव से ऊपर उठने का आदेश दिया गया है। स्वार्थ-त्याग बिना हम प्रेम-योग में अग्रसर नहीं हो सकते। निःस्वार्थ सेवा ही यह लक्ष्य है। वह उसी समय हो सकता है जब कि सम्मानप्रेमी व्यक्ति का हृदयरूपी दीपक उक्त ज्ञान से प्रज्वलित हो जावे।

अंत में हमें विमल ज्ञान के दिग्दर्शन का सूक्ष्म रूप यहाँ उपस्थित करना आवश्यक है। मनुष्य इंद्रियों का गुलाम है। उन्हें तटस्थ रखकर दुष्ट संगों से बचना हमारा प्रथम कर्तव्य है। आवश्यकताओं की कमी ही दुःख को घटाने में सफल हो सकती है। वह मनुष्य को परोपकार करने में तत्पर कर सकती है। अतएव सादा जीवन और उसका प्राकृतिक रूप ही हमारा लक्ष्य होना चाहिए। समस्त संसार ईश्वर-रूप ही है। सारी जातियाँ और धर्म उसके हैं। उनमें विभिन्नता होते हुए भी एकता है। अतएव दूसरों को अपने समान समझकर उनका उपकार करना ही हमारा धर्म है। दुष्टों की दुष्टता से स्वयं प्रभावित न होकर उनके साथ भी भलाई करना हमारा कर्तव्य है। संतोष मानव-समाज का भूषण है। उसे अपनाना कर्तव्य है। सदा धैर्य और सहिष्णुता के साथ रहना, सांसारिक द्वंद्वों से परे रहना, सबमें समानता की दृष्टि रखना हमारा धर्म है। शरीर क्षणभंगुर है। अतएव शीघ्रातिशीघ्र हमें अपना कार्य तन, मन, धन से प्रारंभ कर देना चाहिए। अपने त्याग के बिना यह नहीं हो सकता। दूसरों के सुख में ही अपना सुख देखना हमारा लक्ष्य हो। हमारी सेवाएँ निःस्वार्थ हों। यही विमल ज्ञान है। यही प्रेम है। यही त्याग है। यह जलते हुए दीपक का आदेश है। यही धर्म है। यही तत्त्व है और यही एक ग्रहण करने की योग्य वस्तु है। यही सच्चे सम्मान की क़ीमत है। जो चाहे इसे ले। इस पर सबका समान अधिकार है। इससे मनुष्य ईश्वर-तुल्य हो जायगा और यही सबसे बड़ा मान है—यही उत्कृष्ट श्रेणी का सम्मान है।

हमारा दृष्टिकोण

कविता का स्वरूप

दार्शनिक पंडित हेगेल ने रूपकर्म की सूची में कविता को ही प्रथम—सर्वश्रेष्ठ—स्थान दिया है। इसका कारण यह है कि और सब रूपकर्मों का अवलम्बन एकान्त वास्तव वस्तुएँ होती हैं, किन्तु कविता का अवलंबन बिलकुल दूसरे ही प्रकार का होता है। कविता का उपकरण है सुंदर मनोहर छन्दोबद्ध भाषा। यह भाषा संपूर्ण रूप से मन की सृष्टि है, मनुष्य की मानसी कन्या है। इसी कारण इस स्थान पर कविता का वास्तव के साथ बहुत थोड़ा ही संबंध है। मनुष्य के हाथ में कविता के सोलह आने में पंद्रह आना है, अर्थात् कविता मनुष्य की पंद्रह आना अपनी सृष्ट वस्तु है। जान पड़ता है, इसी कारण कविता मनुष्य के मन को सभी रूपकर्मों से अधिक आकृष्ट करती है और शायद मुग्ध भी अधिक करती है। कविता का उपभोग करने के लिए धन का प्रयोजन नहीं होता, किसी वास्तव अवलंबन की आवश्यकता नहीं होती; यहाँ तक कि पुस्तक की भी ज़रूरत नहीं होती। ज़रूरत होती है केवल स्मरणशक्ति की और एकान्त स्थान की। जिस युग में छापेख़ाने की कौन कहे, लेख की भी उद्‌भावना नहीं हुई थी, उस युग में भी मनुष्य कविता की रचना करता था और स्मृतिशक्ति की सहायता से लोग पुश्तों तक उसे याद रखते थे। वेद की रचना और रक्षा इसी प्रकार हज़ारों वर्षों तक होती रही है। केवल यही नहीं, कविता का उपभोग केवल किसी एक इंद्रिय के द्वारा नहीं किया जा सकता। उसका उपभोग सभी इंद्रियों से, समस्त बुद्धिशक्ति और समग्र आत्मा से किया जाता है। चित्र का आँखों से, पत्थर की खुदाई कटाव या मूर्त्ति का आँखों से और स्पर्श से, नाच का आँखों से और कानों से तथा गीत का कानों से उपभोग किया जाता है। किन्तु कविता समग्र आत्मा को ख़ूराक पहुँचाती है, मानव के मन की सारी प्यास बुझाकर उसे तृप्त कर देती है। कविता दुखिया के मन को स्निग्ध करती है, विरही को शोकाकुल को सान्त्वना देती है, आनंदी पुरुषों के आनंद को बढ़ाती है, कल्पनाप्रवण की कल्पना को स्फूर्ति देती है, गवैये के मन में प्रेरणा उत्पन्न करती है। एक शब्द में यह कहा जा सकता है कि जो मनुष्य कविता का उपभोग करने में असमर्थ है, वह मनुष्य ही नहीं है—साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।

कविकुलगुरु वाल्मीकि ऋषि की जिह्वा पर कविता सरस्वती उसी दिन अधिष्ठित हुई थी, जिस दिन महाकवि का हृदय क्रौंचदम्पति के दुर्भाग्य को—विछोह की वेदना को देखकर सहानुभूति से, करुणा से विगलित व्याकुल हो उठा। कविता की उत्पत्ति कहाँ से होती है, इसका इशारा रामायण के आरंभ की इस छोटी सी घटना में मिलता है। कविता हृदय की वस्तु है, मस्तिष्क की नहीं। हृदय का उच्छ्वास जब इतना प्रबल हो उठता है कि वह भीतर नहीं समाता, अपने को प्रकट किये बिना नहीं रुक पाता, तभी वह छंद और भाषा के भीतर से अपने को प्रकट करने की चेष्टा करता है। तब मस्तिष्क उसे भाषा देता है, अर्थात् उसके अनुरूप पोशाक पहनाता है, किन्तु प्राण वही रसार्द्र हृदय देता है। कविता एक धनीमानी बुनियादी घर की स्त्री है, साधारण घर की नहीं; इसी कारण उसे विशेष वेश की, ख़ास पोशाक की ज़रूरत होती है। जिसमें उसकी प्रतिष्ठा झलक उठे, वही उसके योग्य वेश है। उसे साधारण सादी सारी नहीं सोहती, उसे चाहिए रंगीन रेशमी ज़री-किनारे की सारी। उसके अंग में एक-दो भारी क़ीमती अलंकार भी होने चाहिए। कविता की रंगीन सारी है सुंदर भाषा और अलंकार हैं अलंकार और छंद।

हम लोग जिन वस्त्रों का आठो पहर इस्तेमाल करते हैं, वे अठपहरू कहलाते हैं। जो अत्यन्त साधारण है, उसकी कोई विशेषता रखने का प्रयोजन नहीं होता। ठीक उसी तरह गद्य हमारी अठपहरू भाषा है। इस भाषा में हम दैनिक आलाप-परिचय की बातें करते हैं, साधारण जीवन की बातें लिखते हैं, चिट्ठी-पत्री लिखते हैं। और पद्य हमारी पोशाकी भाषा है, साधारण चिन्तन के द्वारा साधारण घटना गद्य में ही लिपिबद्ध होनी चाहिए। कारण, वह अठपहरू भाषा है। उसका हम हर घड़ी इस्तेमाल करते हैं। और असाधारण अनुभूति या असाधारण चिन्तन पद्य में लिखा जाना चाहिए; क्योंकि वही उसके अनुरूप पोशाक है। कालिदास जैसे महाकवि यद्यपि लिख गये हैं कि "किमिव हि मधुराणां मण्डनन्नाकृतीनाम्।" अर्थात् सुन्दर आकृति के लिए क्या मंडन (शोभा बढ़ानेवाला) नहीं होता?,

तथापि यह बात सर्वांश में ठीक नहीं जँचती। किसी सुन्दरी को चीथड़े पहना देने से उसकी शोभा कभी नहीं बढ़ सकती। सुंदर के लिए कोई भी पोशाक होने से काम चल सकता है, उस उक्ति का समर्थन करने को जी नहीं चाहता। बल्कि ऐसा देखकर मन विद्रोह ही कर बैठता है। ग़रीब के घर सुंदरी कन्या नहीं सोहती, यही तो लोगों की साधारण धारणा है। इतना रूप, इतने गुण! इसका उपयुक्त स्थान तो राजा के ही घर में है, ऐसा ही तो लोग कहते हैं। कोकिला का ऐसा मधुर स्वर है, किन्तु उसका रंग घोर काला है—इसके लिए कितने ही लोगों ने क्षोभ प्रकट किया है। एक कवि ने तो इसके लिए ब्रह्मा को मूर्ख कहने में भी संकोच नहीं किया—"है तो चतुरानन पै चूकतै चलो गयो।" इसी तरह गुलाब के काँटे कितने ही सहृदयों के आँखों में खटकते हैं। एकदम निर्दोष होना चाहिए। जैसा जिसे सोहता है, भला लगता है, वैसा ही होना चाहिए; तभी तो देखने में भला लगता है, इसी से तो हम लोग सुंदर को सुन्दर पोशाक से, सुन्दर पारिपार्श्विक से और भी सुन्दर बनाने की चेष्टा करते हैं। इसी लिए तो असाधारण चिन्तन या असाधारण अनुभूति का वेश गद्य नहीं, पद्य है।

पद्य का प्राण अनुभूति है, चिन्तन या सोचना नहीं। एक गहरी अनुभूति जो हृदय को आलोड़ित करती है, वही कवि की वेदना या सहानुभूति है और उस अनुभूति की अभिव्यक्ति ही कविता है। कविता का छन्द, कविता की भाषा जैसे उस वेदना को—अनुभूति को प्रकट कर सकती है, वैसे गद्य नहीं। यही तो कविता की विशेषता है और इसी कारण कविता गद्य से अधिक दिन तक जीवित रहती है। अगर ऐसा न होता तो गद्य और पद्य में भेद रखने की ज़रूरत ही क्या थी? इसी कारण दर्शन या नीतिशास्त्र की पुस्तक गद्य में ही सुव्यक्त होती है। पद्य में उसकी जटिलता बढ़ने के सिवा घटती नहीं। अवश्य ही काव्य साहित्य में दर्शन या नीति को कविता का विषय बनाने के कुछ उदाहरण पाये जाते हैं; पर वहाँ हमारी समझ में उक्त विषयों को कण्ठस्थ करने के लिए पद्य का सहारा लिया गया है, और सच तो यह है कि उन्हें एक साधारण पद्य के सिवा कविता कहा भी नहीं जा सकता।

ठीक इसी कारण काव्य या महाकाव्य भी असल कविता नहीं हैं। पिछले ज़मानों में, जब छापेख़ाने का आविष्कार नहीं हुआ था, इन चीज़ों की ज़रूरत थी उस समय लोग रटकर घटना या उपाख्यानों को स्मरण रखते और लोगों को सुनाते थे। उस समय पद्यबद्ध होने के कारण उन घटनाओं को याद रखने में अथवा लोगों को सुनाने में सुविधा होती थी। यही एक पद्य के उपयोग की प्रयोजनीयता थी। अब यह बात नहीं है। इस समय ऐसी पुरातन या नवीन कथाएँ सुन्दर कहानी या उपन्यास के आकार में छापे के सुलभ अक्षरों में प्रकाशित होकर लोगों का मनोरंजन और ज्ञानवृद्धि भी कर सकती हैं। इस समय बड़े राजवंशों की कथा इतिहास के आकार में प्रकाशित की जा सकती है। इसी कारण इस समय इतिहास और उपन्यास ने काव्य या महाकाव्य का स्थान ग्रहण कर लिया है। इसी तरह अँगरेज़ी में जिसे बैलेड (Ballad) कहते हैं, उसका भी अनुरूपवेश पद्य नहीं, गद्य है। आजकल उसका स्थान छोटी कहानियों ने ले लिया है।

कविता का एकदम असल रूप हमें गीति-कविता में मिलता है, जिसे सुर-संयोग करके संगीत के रूप में गा सकते हैं। यह कविता जिस वस्तु का आधार है, उसे गद्य में रूप नहीं दिया जा सकता। गद्य में कभी गान नहीं होता; कविता के आकार में ही वह रहता है; पद्य ही उसका सहज रूप है। अन्य सब प्रकार की कविताओं का विषय आसानी से गद्य में रूपान्तरित हो सकता है; किन्तु गीति कविता का गद्य में सफल अनुवाद सर्वथा असंभव है। स्वर्गीय रविबाबू की गीताञ्जलि इसका प्रकृष्ट उदाहरण है। यही इसका रूप है; इसका रूपान्तर नहीं हो सकता।

जिस कारण से उत्सव के दिन अठपहरू पोशाक नहीं चलती, सुन्दर धराऊ पोशाक का प्रयोजन होता है; जिस कारण से शकुन्तला जैसी कुसुम-कोमल-कलेवरवाली युवती को बल्कल पहने देखकर हमारे मन को कष्ट होता है; उसी कारण से सुन्दर चिन्तन या मनोहर अनुभूति को ललित छन्दोबद्ध भाषा में प्रकट करने की आवश्यकता है। छन्द के साथ कविता का अभेद्य सम्बन्ध हो गया है—हर-गौरी के सम्बन्ध के समान, वाक्य और अर्थ के सम्बन्ध के समान वह अविच्छेद्य है। कविता की अनुभूति या भाव अगर प्राण है तो छन्दोबद्ध भाषा उसका शरीर है। इस शरीर के बिना वह प्रकट नहीं हो सकती; इस आधार के बिना उसकी अभिव्यक्ति असम्भव है। इस बात को संस्कृत-रसशास्त्र के पंडितों ने अच्छी तरह समझ लिया था। साहित्य दर्पण में "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" कहा गया है

किन्तु यहाँ पर काव्य शब्द से जिसका निर्देश किया गया है, वह एक रचना-विशेषमात्र है, कविता या पद्य कहने से हम जो समझते हैं, वह नहीं। महाकवि दंडी के काव्यादर्श के प्रथम अध्याय में हम ऐसा अर्थ करने का समर्थन पाते हैं। दण्डी ने वहाँ पर काव्य के स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा है कि काव्य को गद्य या पद्य दोनों में लिख सकते हैं; पद्य की विशेषता केवल यही है कि वह छन्दोबद्ध है—"छन्दोनियमबद्धावयं पद्यमित्यभिधीयते" और "छन्दोबद्धपदं पद्यम्", यह रीति संस्कृत में प्रचलित है। संस्कृत छन्द में अधिकतर हिन्दी या उर्दू के छन्दों की तरह क़ाफ़िये का बन्धन नहीं पाया जाता; किन्तु मात्रा या अक्षर की गणना के आधार पर छन्द का बन्धन सर्वत्र पाया जाता है। संस्कृत में छन्दोविहीन कविता के लिए स्थान नहीं है।

चित्त को हरनेवाली भाषा और निर्दोष छन्द को संस्कृत-साहित्य के रसिकों की मण्डली इतना महत्त्व देती थी कि इसके लिए विशेष अनुशीलन की व्यवस्था की गई है। कवित्वशक्ति दो वस्तुओं से संगठित होती है—एक, कविता में प्रकाश योग्य भाव और दूसरी उसे छन्दोबद्ध भाषा में प्रकट करना। पहली चीज़ तो नैसर्गिक प्रतिभा या जन्मगत वैशिष्ट्य की अपेक्षा रखती है; पर दूसरी के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह जन्मजात ही हो। छन्दोबद्ध भाषा में भाव को प्रकट करना चर्चा के ऊपर, निरन्तर अभ्यास के ऊपर निर्भर है। कवि के लिए छन्द बाँधने की तत्परता और उसमें निपुणता भी परमावश्यक है। दण्डी तो यहाँ तक कहते हैं कि यह छन्द बाँधने की क्षमता इतनी प्रयोजनीय वस्तु है कि जो मनुष्य चर्चा या अभ्यास के ज़ोर से इस शक्ति में व्युत्पत्ति प्राप्त कर लेता है, उसमें सहज कवित्वशक्ति अल्प होने पर भी वह बड़ा कवि होने की आकांक्षा का पोषण कर सकता है। दण्डी के ही शब्दों में सुनिए—

तदस्ततन्द्रैरनिशं सरस्वती
श्रमादुपास्या खलु कीर्तिमीप्सुभिः।
कृशे कवित्वेऽपि जनाः कृतश्रमा
विदग्धगोष्ठीषु विहर्तुमीशते॥
(काव्यादर्श)

केवल कविता के चिन्तन या भाव को अनुरूप वेश देने में ही छन्द की सार्थकता नहीं है। और भी एक कारण से छन्द की विशेष प्रयोजनीयता है। स्वप्न के साथ कविता का बहुत कुछ सादृश्य है। कविता और स्वप्न, दोनों में अनुभूति और कल्पनाशक्ति का प्राधान्य अधिक है। स्वप्न में बुद्धिशक्ति एकदम सोई हुई रहती है, किन्तु कविता में यह बात नहीं। कवि उस समय जागता रहता है। तथापि कविता में अबाध सहज लीला लाने के लिए कवि के मन में एक भावावेश अवश्य आना चाहिए; तभी कविता का स्वतः स्फुरण सम्भव होगा। छन्द ही इस अर्धजाग्रत् स्वप्नावेश की अवस्था लाने में कवि के मन को सहायता करता है। गीतलेखक के मन में पहले सुर जगता है, उसके बाद वह वाक्ययोजना करता है। कवि का मन भी वैसा ही है। पहले उसके मन में छन्द का उदय होता है, बाद को उसी छन्द की सहायता से आप ही शब्द-योजना होती चली जाती है। नदी की स्वच्छन्द गति के लिए जैसे निर्दिष्ट खात का प्रयोजन होता है, उसी के बीच वह बहती चली जाती है, यह भी वैसा ही है। छन्द की शृंखला के बीच में ही गुनगुनाते हुए कवियों की लेखनी चलती है; छन्द के बिना नहीं।

अब तक की आलोचना से हम कविता के स्वरूप के सम्बन्ध में एक धारणा बना सकते हैं। कविता दो वस्तुओं से बनती है। एक मनोभाव या अनुभूति और दूसरी सुकुमार छन्दोबद्ध भाषा में उसका रूपग्रहण। अनुभूति या भाव उसका आधेय है और छन्दोबद्ध भाषा उसका आधार; अनुभूति या भाव कविता का प्राण है, और छन्दोबद्ध भाषा उसका स्वरूप। इनमें जो सम्बन्ध है, वह प्राण और देह के सम्बन्ध की तरह ही अविच्छेद्य है। आदर्श सुन्दर कविता की रचना के लिए इन दोनों की आवश्यकता है। जैसे मर्मस्पर्शी भाव का प्रयोजन है, वैसे ही छन्द और भाषा के माधुर्य का भी प्रयोजन है। छन्द और भाषा का प्रयोजन भाव को रूप या आकार देने के लिए है—उसे मधुरतम भाव से अभिव्यक्ति देने के लिए है। जो कवि इस नियम को मानकर कविता लिखते हैं, उनकी कविता भाव और भाषा से सर्वांग सुन्दर होती है। ऐसी कविता ही आदर्श और प्रथम श्रेणी की कविता होती है।

लेकिन असल में सर्वदा ऐसा नहीं होता। कोई समझते हैं कि एकमात्र भाव ही कविता का आधार है, इसलिए छन्द या भाषा के ऊपर ध्यान देने की आवश्यकता नहीं है। कोई सोचते हैं कि छन्द की निपुणता के ही द्वारा कवित्वशक्ति की निपुणता मापी

जाती है; अतएव छन्द और भाषा के ऊपर ही सोलहों आने ध्यान देने की आवश्यकता है। इस तरह दो विभिन्न दलों की सृष्टि हुई। जगत् में ऐसा ही हुआ करता है। अपनी प्रवृत्तियों का सम्यक् परिचालन करने की क्षमता प्राप्त करने के लिए ही संयम के अभ्यास का प्रयोजन है, उन प्रवृत्तियों का उन्मूलन करने के लिए नहीं। किन्तु संन्यासी का लक्ष्य वही हो उठता है। स्वास्थ्य और सौन्दर्य के लिए ही कसरत की ज़रूरत है; किन्तु एक पहलवान की दृष्टि में ये दोनों ही वस्तुएँ गौण हो जाती हैं और शारीरिक बल ही कसरत करने का एकमात्र उद्देश्य रह जाता है। मनुष्य के कर्म की धारा इसी तरह मुख्य उद्देश्य को खोकर गौण की ओर आकृष्ट होती है। बहुतों की दृष्टि में कविता के भाव की अपेक्षा छन्द की विचित्रता ही बड़ी चीज़ हो जाती है।

जो दल भाव को ही अधिक प्रधानता देता है, उसे हम भावप्राधान्यवादी कह सकते हैं। जो लोग छन्द और भाषा को अधिक प्रधानता देते हैं, उन्हें हम भाषाप्राधान्यवादी कह सकते हैं। किन्तु दोनों ही पक्ष एकदेशदर्शी हैं। जो कवि मनोहर भाषा और चित्ताकर्षक छन्द की ज़रूरत ही मुख्य मानते हैं, उनकी कविता में भाव का स्फुरण अच्छी तरह नहीं होता। इसी कारण वह कविता प्रथम श्रेणी की कविता नहीं मानी जा सकती। उसी तरह जिस कवि की सारी शक्ति, सारा कौशल केवल विचित्र छंद की सृष्टि और खोज तक ही सीमित रहती है, उसकी कविता का भाव छन्द के आडम्बर के नीचे ही दब जाता है। सुन्दरी नारी के सौन्दर्य को विकसित करने के लिए आभूषण का प्रयोजन अवश्य है, परन्तु उसके रूप को अत्यधिक अलंकार—सजाव-सिंगार से ढक देना ठीक नहीं है। जो कोई आदर्श कविता लिखना चाहता है, उसे इस उभय संकट से बचकर चलना सीखना चाहिए।

आदर्श कविता के उदाहरण में हम यहाँ पर भारत के गौरव महाकवि कविकुलगुरु कालिदास की कुछ चर्चा करेंगे। संस्कृत-साहित्य में रचना की रीति प्रधान रूप से दो प्रकार की मानी गई है। एक गौड़ीय दूसरी वैदर्भी। पुरुषोत्तम के मत से गौड़ीय रीति का स्वरूप यह है—उसमें लम्बे समास होते हैं, अक्षर महाप्राण होते हैं और वह रचना अनुप्रासयुक्त होती है। यथा—

बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौड़ीया।
रीतिरनुप्राससमहिमपरतन्त्रा स्तोमवाक्या च॥

साधारणतः यह कहा जा सकता है कि गौड़ीय रीति का लक्ष्य भाषा का सौन्दर्य बढ़ाने की ओर है। उदाहरण के रूप में बाणभट्ट की कादम्बरी का नाम लिया जा सकता है। हम पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार इसे भाषाप्राधान्यवादी रचना कह सकते हैं। दण्डी के मत से वैदर्भी रीति का लक्षण यह है कि उसमें प्रसाद, सुकुमारता, माधुर्य, अर्थव्यक्ति आदि गुण रहने चाहिए। मुख्य रूप से उसका लक्ष्य रस या भाव के माधुर्य को विकसित करना है। उसमें भाषा के सँवार-सिंगार की अपेक्षा अर्थगांभीर्य के ऊपर ही अधिक ध्यान दिया जाता है। हम अपनी पूर्वोक्त परिभाषा के अनुसार वैदर्भी रीति को भावप्राधान्यवादी कह सकते हैं।

साहित्य के समालोचक लोग साधारणतः कालिदास के काव्य को वैदर्भी रीति में लिखा हुआ बतलाते हैं। ऐसा कहने का कारण यह है कि कालिदास की कविता में वर्णविन्यास की चेष्टा का आभासमात्र नहीं है। इसका कारण उनकी अनुपम प्रतिभा और कवित्वशक्ति है। कविता लिखने में उन्हें तनिक भी कष्ट नहीं करना पड़ता था, कोशिश नहीं करनी पड़ती थी। मन में अनुभूति जगती थी; वह अनुभूति आप ही अपने अनुरूप भाषा को खोज लेती थी। इसी कारण उन्हें सरस्वती का वरपुत्र कहा जाता है। उनकी कविता में एक सहज सुन्दर स्वाभाविक गति है। पहाड़ के गह्वर से उछले हुए झरने के समान ही वह हलकी और स्वच्छंद गति है। इसी लिए कुछ लोग उन्हें ग़लत समझते हैं। समालोचक उन्हें केवल भावप्राधान्यवादी तथा वैदर्भी रीति का पृष्ठपोषक कहते हैं। किन्तु ऐसा कहना उनके प्रति अविचार करना है। कारण, वह इस द्वन्द्वावस्था से बहुत ऊपर थे। उनका आदर्श भाषा और भाव के बीच विरोध नहीं मानता। उनका आदर्श भाषा और भाव, दोनों की आवश्यकता समझता है। कविता को आदर्श रूप देने के लिए दोनों का असहयोग नहीं, सहयोग ही अत्यन्त आवश्यक है। केवल सहयोग ही नहीं, अविच्छिन्न सम्बन्ध का, अंगांगीभाव का प्रयोजन है। ठीक इसी कारण तो उन्होंने हर-गौरी के अर्धनारीश्वर रूप के सम्बन्ध की वाक्य और अर्थ के सम्बन्ध के साथ तुलना की है। उनके रघुवंश का मंगलाचरण ही यह है—

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥

वह इस जगत् के माता-पिता पार्वती-परमेश्वर

को—जो कि वाणी और अर्थ के समान संपृक्त, एक में मिले हुए हैं—वाणी और अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए, सिद्धि के लिए, दोनों के शोभनविकास के लिए, प्रणाम करते हैं। कविता को वह वाक्य और अर्थ के साहचर्य से उत्पन्न सन्तान की दृष्टि से ही देखते हैं। यही उनकी कविता का आदर्श है, यही उनकी कविता के स्वरूप के सम्बन्ध में धारणा है। केवल अर्थ या केवल वाक्य की प्रधानता वह नहीं स्वीकार करते।

ठीक इसी कारण उनकी कविता की भाषा भाव को अच्छी तरह व्यक्त करती है और भाव भाषा के भीतर अपनी स्वाभाविक अभिव्यक्ति को खोज लेता है। उनकी कोई भी कविता ले लीजिए, वही हमारे इस कथन का प्रमाण होगी। उदाहरण के तौर पर हम यहाँ मेघदूत से दो श्लोक उद्धृत करते हैं—

मन्दं मन्दं नुदति पवनश्चानुकूलो यथा त्वां
वामश्चायं नदति मधुरं चातकस्ते सगन्धः।
गर्भाधानक्षणपरिचयान्नूनमाबद्धमालाः
सेविष्यन्ते नयनसुभगं खे भवन्तं बलाकाः॥
तन्वी श्यामा शिखरिदशना पक्वबिम्बाधरोष्ठी
मध्ये क्षामा चकितहरिणीप्रेक्षणा निम्ननाभिः।
श्रोणीभारादलसगमना स्तोकनम्रा स्तनाभ्यां
या तत्र स्याद्युवतिविषये सृष्टिराद्येव धातुः॥

देखिए, इनमें भाषा के आडम्बर की चेष्टा नहीं है, तो भी भाषा में लालित्य है; कष्टकल्पना नहीं नज़र आती, तथापि कल्पना की मनोहर लीला लीलायित है। उनकी हरएक कविता ऐसी ही भाषा और भाव से परिपूर्ण और परम मनोहर है।

जो कवि भाव को या भाषा को अधिक प्रधानता देते हैं, उनसे हम यही आशा करते हैं कि वे अपने-अपने क्षेत्र में अपनी शक्ति की पराकाष्ठा दिखावेंगे। किन्तु आश्चर्य है कि यह भी नहीं होता। उन्हें भी अपने-अपने क्षेत्र में कालिदास जैसे कवि के निकट पराजय स्वीकार करनी पड़ती है। इसका कारण यही है कि भाषा का सच्चा सौन्दर्य सुन्दर भाव के बिना संभव नहीं और सुन्दर भाषा के बिना भाव की अनुरूप अभिव्यक्ति नहीं होती। कालिदास की काव्य-शक्ति का यह उत्कर्ष हम यहाँ दो उदाहरण देकर अच्छी तरह समझाने की चेष्टा करेंगे।

महाकवि भवभूति संस्कृतसाहित्य के एक प्रधान कवि हैं। कुछ लोग कालिदास के बाद ही उनका स्थान मानते हैं और कुछ लोग तो भवभूति को कालिदास से भी श्रेष्ठ आसन देने के लिए प्रस्तुत हैं। इन कवि की विशेषता यह है कि वह मर्मस्पर्शी भाव-धारा की सृष्टि करते हैं। वह ऐसी करुणरस की मन्दाकिनी बहाते हैं कि उसमें ग़ोता लगाकर उन्हीं के शब्दों में "अपि ग्रावा रोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्" पत्थर भी रो देता है और वज्र का हृदय भी फट जाता है! कालिदास और भवभूति की रससृष्टि की तुलना की जा सकती है। प्रेयसी नारी का चित्र दोनों ने ही खींचा है। दोनों के दोनों चित्रों को हम आँखों के सामने रखकर, उनकी परीक्षा करके यह देख सकते हैं कि कौन हमारे हृदय को अधिक आलोड़ित करता है, कौन हमारे मन को अधिक मुग्ध करता है। कवि भवभूति की भाषा में प्रेयसी नारी—

त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयं द्वितीयं
त्वं कौमुदी नयनयोरमृतं त्वमङ्गे।

"तुम मेरा जीवन हो, तुम मेरा दूसरा हृदय हो, तुम आँखों को ठंडक पहुँचानेवाली चाँदनी हो, अंगों को अपने स्पर्श से जीवित—पुलकित करनेवाला अमृत हो।"

कालिदास के अज की दृष्टि में उनकी प्रेयसी इन्दुमती क्या हैं?

गृहिणी सचिवः सखीमिथः प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वदकिन्न मे हृतम्॥

"तुम मेरी गृहिणी (घर सँभालनेवाली), सचिव (सलाह देनेवाली), एकान्त की सखी (मन बहलानेवाली—सुख-दुःख की बात कहने-सुननेवाली), ललित कलाओं की प्रिय शिष्या थीं। निष्ठुर मृत्यु ने तुम्हें छीनकर मेरा क्या नहीं हर लिया, बोलो? सभी कुछ तो हर लिया।"

पाठक विचार करें, किस रचना में भाव की गंभीरता अधिक है, कौन अधिक हृदय को स्पर्श करता है। भवभूति की प्रेयसी द्वितीय हृदय-स्वरूप है, सुन्दर अनुभूति का अवलंबन है; किन्तु कालिदास की इन्दुमती तो अपने प्रियतम का सर्वस्व ही हैं।

शब्दमाधुर्य और छंद की विचित्रता में सुकवि जयदेव शायद बेजोड़ हैं। अँगरेज़ी-साहित्य के शेली या टेनिसन, हुड या ब्राउनिंग कोई उन्हें इस विषय में हरा नहीं सकता। जयदेव की मधुर कोमलकान्त पदावली कितने ही लोगों का मनोरंजन करती है और करती रहेगी। किन्तु कालिदास की कविता शब्द

अथवा छन्द के गौरव में इन जयदेव की कविता के आगे भी हार नहीं सकती। प्रमाण लीजिए।

जयदेव के छन्दोवैचित्र्य से सभी सुपरिचित हैं। उनका राधाविरह का वर्णन लीजिए—

पश्यति दिशिदिशि रहसि भवन्तम्।
तदधर - मधुर - मधूनि पिबन्तम्॥
विहितविशदविसकिसलयबलया,
जीवति परमिह तव रतिकलया।
मुहुरवलोकितमण्डनलीला,
मधुरिपुरहमितिभावनशीला॥

इसके साथ कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् नाटक के उर्वशीविरही पुरूरवा के विरह-दृश्य के वर्णन की तुलना की जा सकती है। उसमें पुरूरवा प्रकृति के आस-पास विरह का चित्र देख रहे हैं—

चिन्तादूनमानसा सहचरीदर्शनलालसा।
विकसितकमलमनोहरे विहरति हंसी सरोवरे॥

विरह के और एक दृश्य में—

दयितारहितोह्यधिकदुःखितो
विरहानुगतः परिमंथरः।
गिरिकानने कुसुमोज्ज्वले
गजयूथपतिस्तथा क्षीणगातः॥

दोनों में कौन अधिक मनोहर है, कहना कठिन है।

जयदेव के कान्तकोमल शब्दयोजनानैपुण्य को सभी ने देखा है; किन्तु कालिदास में क्या यह शक्ति कम है? सिद्धहस्त कवि जयदेव प्रकृति का वर्णन करते हैं—

ललितलवंगलतापरिशीलनकोमलमलयसमीरे।
मधुकरनिकरकरम्बितकोकिलकूजितकुञ्जकुटीरे॥
विहरति हरिरिह सरसवसन्ते।

इसके साथ कालिदास के इस वर्णन की तुलना की जा सकती है—

अभिनवकुसुमस्तवकिततरुवरस्य परिसरे
मदकलकोकिलकूजितमधुपझंकारमनोहरे
नन्दनविपिने निजकरिणीविरहानलेन सन्तप्तो
विचरति गजाधिपतिरैरावतनामा।

कालिदास का शब्द-चयन-नैपुण्य क्या कुछ कम है? अन्यत्र विक्रम कहते हैं—

स्फटिकशिलातलनिर्मलनिर्झर
बहुविधकुसुमैर्विरचितशेखर।
किन्नरमधुरोद्गीतिमनोहर
दर्शय मम प्रियतमां महीधर॥

यह सब देखकर हमें तो जान पड़ता है, कालिदास के विक्रमोर्वशीयम् से ही जयदेव को ऐसे शब्दचयन की प्रेरणा मिली हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

प्रतिष्ठित महिलाओं की सम्मतियाँ

१०—९—४४

अलकपरी की २ शीशियाँ लगाईं, बहुत लाभ हुआ है। कृपा कर २ शीशियाँ शीघ्र और भेज दीजिएगा।

कुमारी पुष्पा साहनी,
C/O दीवान जयलाल साहनी, तहसीलदार,
गुजरात (पंजाब)

पहले मैंने १२ शीशी अलकपरी मँगाई थीं। उन्होंने मुझे फायदा किया। कृपा करके ६ शीशी अलकपरी की भेजने की कृपा करेंगे।

शान्ती कुमारी. शाहानपुर स्टेट्

25th June, 1945.

I have been using your Alak Pari and Alak Bhari Hair Oils for the last four months and I found them quite satisfactory. Kindly send two bottles more at your earliest convenience.

Mrs. J. B. Khan,
41 Nai Abadi,
Muzaffarnagar.

26th Jun, 1944.

I have used your Alak Pari Oil in my family and found it refreshing and beneficial. Please send by V.P.P. 2 bottles of Alak Pari at an early date.

Thakur Rup Narayan Singh,
Thikana Jone,
Jaipur State.

२९—६—४४

अलकपरी से बाल बढ़ रहे हैं। कृपया २ शीशियाँ तुरन्त भेज दें।

मुकुन्दसिंह मंगलदेव
निकट पावर हाउस, अजमेर

९—७—४४

अलकपरी की १½ शीशी लगा चुकी हूँ। मेरे बाल बढ़ रहे हैं। और भी लाभ हो रहा है। ८ शीशियाँ और भेज दें।

सरला, बोहट बीरम, मछरेटा, सीतापुर

हमारे सोल . . . .

लखनऊ—सालिग्राम मेहरोत्रा, ६, अमीनाबाद पार्क।

बरेली—यूनाइटेड कमर्शियल सिण्डीकेट, भूर

मेरठ—त्यागी ब्रदर्स, बेली बाज़ार।

आगरा—प्रियादास घनश्यामदास, काश्मीरी बाज़ार।

न्यू दिल्ली—

जबलपुर—चौरसिया ब्रदर्स एण्ड कम्पनी, गोविन्दगंज।

राजनन्दगाँव—

जोधपुर—मेडीकल स्टोर्स, सराफा बाज़ार।

महाराजगंज(सारन)—के. पी. सिन्हा एण्ड कं०

अलकपरी, नया कटरा, इलाहाबाद

Regd. No. A.—313

कामिनिया आइल (रजिस्टर्ड)
के दैनिक प्रयोग से अपने बालों की छिपी हुई सुन्दरता को जगा दो।
और इस तरह अपने सौन्दर्य के वैभव की रक्षा करना सीखो। कामिनिया आइल बालों के लिये एक सुन्दर सजावट है बालों में छिपी हुई स्वाभाविक कोमलता और चमक इससे और भी खिल उठती है। इससे बाल में कोई ख़राबी नहीं आने पाती और उसमें बाल अच्छे जमते हैं। कामिनिया आइल बालों को गिरने से रोकता है।

COLLEGES & LIBRARIES. IN U. P.,
C. P., C. I., PUNJAB, MEWAR, BEHAR
& BIKANER STATE.
माधुरी
सम्पादक
रूपनारायण पांडेय

माधुरी

संस्थापक

स्व० श्रीविष्णुनारायण भार्गव

अध्यक्ष

रा० ब० मुंशी रामकुमार भार्गव, मुंशी तेजकुमार भार्गव

सम्पादक

रूपनारायण पाण्डेय

एक अंक का मूल्य ॥।)

लेख-सूची

महात्माजी का चमत्कार

प्रेमवटी ने अपनी ख़ूबी से सारी दुनिया में तहलका मचा दिया

कांग्रेस की राय

(प्रेमवटी वास्तव में एक अद्वितीय औषधि है। पहले हमें इस औषधि पर इतना विश्वास न था, किन्तु जब हमने इसका स्वयं परीक्षण किया तब हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह औषधि विज्ञापन में दिये गये तमाम रोगों की केवल एकमात्र अचूक औषधि है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में यह कम्पनी इससे भी उत्तम औषधियों का निर्माण कर जनता को लाभ पहुँचायेगी।—कांग्रेस, देहली)

भारत के योगियों ने वनों और पर्वतों की कन्दराओं में रहकर वे चमत्कार दिखलाये हैं जिनसे बड़े-बड़े वैज्ञानिक और चिकित्सक हैरत में आ गये हैं। आधुनिक चिकित्सकों को जब कोई रोग की औषधि से सफलता नहीं मिलती तब वह उसे लाइलाज घोषित कर देते हैं। परन्तु महात्मा लोग जड़ी-बूटियों की सहायता से मुर्दे को भी जिला देने का दावा करते हैं। भाइयो, इसे ध्यान से पढ़ो तथा अपने इष्ट-मित्रों को सुनाओ। यह लेख जो लिखा गया है, कोई गप्प नहीं है बल्कि मेरे जीवन की चन्द घटनायें हैं जो आपके सम्मुख रखता हूँ। मेरा जन्म एक धनी परिवार में हुआ। अपने पिता का लाड़ला पुत्र होने के कारण मैं धन और व्यसन में घिरा रहता था, लेकिन फिर भी मैं सुखी नहीं था। कुसङ्गति में पड़कर मुझे जरियान और प्रमेह रोग हो गया। पहले तो एक दो साल मैंने लोकलाज के कारण अपना भेद छिपाये रखा, परन्तु रोग ने भयानक सूरत अख़्तियार कर ली। अब मैं घबरा उठा। संसार में चारों ओर अँधेरा मालूम होने लगा, तब मेरी आँखें खुलीं। इलाज शुरू किया गया। बड़े-बड़े डाक्टरों, हकीमों, वैद्यों के फ़ीसरूप में और क़ीमती दवाइयों के ख़रीदने में पानी की तरह रुपया बहाने लगा, फिर भी मैं निराश ही रहा। अब मैं घबरा उठा और चारों तरफ़ से अन्धकार दिखलाई देने लगा और सोचने लगा कि इस दुःखमय जीवन से मर जाना बेहतर है।

पर यह बीस साल पहले की बात है। अब आज मैं ख़ुश हूँ। आज उस परमात्मा की कृपा से आरोग्य हूँ और मेरे तीन स्वस्थ बच्चे भी हैं जो बिलकुल आरोग्य हैं।

हुआ क्या! मुझमें इतना परिवर्तन कैसे हो गया? यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि मैंने एक दवा सेवन की। जो दवा मैंने सेवन की, वह एक महान् त्यागी परोपकारी साधु की बनाई हुई थी जो समय काटने के लिए गाँव से कुछ दूर एक ईंट के खेड़े पर रम रहे थे। यह मेरा सौभाग्य था कि और लोगों के साथ मैं भी दर्शनों के लिए जा पहुँचा। दैवी शक्ति से मेरे दुःखी जीवन के पिछले अध्याय उनके हृदयपट पर खिंच गये और मेरी आँखों ने हृदय का सारा भेद अपने आप उस महान् पुरुष पर प्रकट कर दिया। मेरी कच्ची उम्र पर महात्मा को दया आई और उन्होंने मुझे कुछ जड़ी-बूटियाँ एकत्र करने की आज्ञा दी। मैंने वैसा ही किया और तब उनके सम्मुख ही मुझे उनके आदेश और निजी देख-रेख में 'प्रेमवटी' तैयार करनी पड़ी। यद्यपि मुझसे ४० दिन लगातार 'प्रेमवटी' का सेवन करने को कहा गया था, तथापि केवल बीस दिन के सेवन से ही मुझमें परिवर्तन हो गया। मेरी कमज़ोरी और तमाम गुप्त बीमारियाँ जड़ से दूर हो गईं। पीले और उदास मुख पर लाली दौड़ने लगी, आँखों में उन्माद झूमने लगा और हृदय में जवानी का जोश उमड़ आया। महात्माजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के साथ ही अपने वादे को पूरा करने के लिए दुःखीजनों के निमित्त पिछले बीस साल से लगातार मैं इस प्रयोग को मुफ़्त बाँट रहा हूँ। यह अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भी छप चुका है। मुझे हर्ष है कि इस अमृत-तुल्य प्रयोग ने सैकड़ों की प्राण-रक्षा की, हज़ारों को मौत के मुँह से निकाला और लाखों का इससे भला हुआ। महात्मा-प्रदत्त 'प्रेमवटी' का नुस्ख़ा इस प्रकार है। नोट कर लें—

शुद्ध त्रिफला २ तोला, त्रिकुट चूर्ण २ तोला, शुद्ध सूर्यतापी शिलाजीत २ तोला, शुद्ध बङ्गभस्म ६ माशा, असली सूर्यछाप केसर ३ माशा, असली अकरकरा ६ माशा, असली नेपाली कस्तूरी ३ रत्ती। इन सब औषधियों को कूट-छानकर खरल में डालकर ऊपर से शीतलचीनी का तेल २० बूँद, सन्दल तेल २० बूँद, बिरोजे का तेल २० बूँद एक-एक करके मिलाये। उसके बाद ताजी ब्राह्मी बूटी के अर्क में १२ घण्टा घोटकर झरबेरी बेर के बराबर गोलियाँ बनावें और छाया में सुखा लें। एक-एक गोली सुबह-शाम पाव भर गाय के दूध में एक तोला शकर मिलाकर सेवन करें। इसकी प्रशंसा हम अपने ही मुँह से नहीं करते, बल्कि बड़े-बड़े वैद्यों, डाक्टरों, हकीमों, सेठ-साहूकारों तथा रईसों, ज़मींदारों, सरकारी आफ़िसरों तक ने इसकी सराहना की है। वैद्यराज श्रीयमुनादत्त शर्मा, झोंकर का कहना है कि यह बूटी धातु के पतलेपन, २० प्रकार के प्रमेह के लिए अक्सीर है।

'प्रेमवटी' में कोई हानिकारक चीज़ नहीं पड़ती और गुणकारी चीज़ें नुस्ख़े से ही प्रकट हैं। यह औषधि वीर्य का पतलापन, बीसों प्रकार के प्रमेह, पेशाब के साथ चूने की तरह वीर्य का जाना, पाख़ाने के समय धातु का जाना, स्वप्नदोष, सुस्ती, कमज़ोरी, नामर्दी, डाइब्टीज़, मधुमेह, सूज़ाक, जवानी में बुढ़ापे की-सी हालत हो जाना, असली ताक़त की कमी, स्मरणशक्ति कमज़ोर पड़ जाना तथा स्त्रियों के भी प्रदरसम्बन्धी रोग दूर करके अत्यन्त ताक़त देती है और नस-नस में नवजीवन का सञ्चार करती है। अन्त में उन भाइयों को, जिन्हें फ़ुरसत नहीं मिलती या शुद्ध औषधि प्राप्त नहीं कर सकते, यह प्रयोग स्वयं बनाकर दाम के दाम में भेजने की व्यवस्था की है। ४० दिनों के लिए पूरी ख़ूराक विधिवत् ८० गोलियों का मूल्य ४॥=) रु० और २० दिन के लिए ४० गोलियों के दाम ३=) डाकख़र्च ।॥-)

... प्रेमवटी आफ़िस नं० (M. L.) धनकुट्टी, कानपुर

वर्ष २४ खंड २] तु० सं० ३२२ ; वैशाख, सं० २००३ वि० ; मई, १९४६ [संख्या ४ पूर्ण संख्या २८६

नयनों में प्यार तुम्हारा है

श्रीयुत "निशंक"

मैं कैसे परिचय दूँ अपना कंपित अधरों की भाषा है ;
श्रीचरणों तक न पहुँच पाई मेरी बेसुध अभिलाषा है।
मैं शान्ति कहाँ पाऊँ जाकर सारा संसार तुम्हारा है ;
नयनों में प्यार तुम्हारा है।

जब मैं पागल होकर गाता तुम मेरी मस्ती बतलाते,
पर मेरे उर की उलझन को अनजान नहीं सुलझा पाते,
सोचो तो मेरे प्रति कितना निर्मम व्यापार तुम्हारा है ;
नयनों में प्यार तुम्हारा है।

जाने क्यों तृप्ति समझ बैठे मेरी इस मौन विकलता को ?
क्यों अन्त प्रणय का मान रहे प्रतिपल मेरी असफलता को।
बंदी को मुक्त करो न करो यह तो अधिकार तुम्हारा है ;
नयनों में प्यार तुम्हारा है।

मेरे गीतों में पा न सके तुम अपने निठुर प्रहारों को,
सपने में भी अपना न सके कवि के पावन उद्‌गारों को,
मेरी आकुल आशाओं को केवल आधार तुम्हारा है ;
नयनों में प्यार तुम्हारा है।

ग्वालियर का तोमरवंश और उसकी कला

श्रीयुत हरिहरनिवास द्विवेदी एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

सन् १३७५ में भारत पर तैमूरलंग ने आक्रमण किया और भारत में मुस्लिम सत्ता डाँवाडोल हो गई। इसी समय अवसर पाकर तोमर-वंश के वीरसिंह ने ग्वालियर-गढ़ पर अधिकार कर लिया। इसके पश्चात् उद्धरणदेव (१४००) विक्रमदेव, गणपतिदेव (१४१६) और मानसिंह (१४८६) तोमरवंश के अधिकारी हुए। मानसिंह के बाद तोमरों को लोदियों ने हरा दिया और मानसिंह के बेटे विक्रम-सिंह पानीपत के युद्ध में इब्राहीम लोदी की ओर से लड़े थे।

तोमरों को मुसलमान सुल्तानों से प्रारंभ से ही लोहा लेना पड़ा था। मालवे का हुशंगशाह और दिल्ली का मुबारकशाह डूगरेन्द्रदेव को सतत कष्ट देते रहे थे। हुशंगशाह से पीछा छुड़ाने को उन्हें मुबारकशाह की सहायता लेनी पड़ी थी और उसे कर भी देना पड़ा था। परन्तु डूगरेन्द्रसिंह अपना स्वतंत्र अस्तित्व रख सके थे। यहाँ तक कि उन्होंने सन् १४३८ में नरवर के गढ़ को घेर लिया, जो कुछ समय को मालवे के सुलतानों के अधीन हो गया था। परन्तु डूगरेन्द्रसिंह इस प्रयास में असफल रहे। (फ़रिश्ता-ब्रिग्स १, २१६)।

डूगरेन्द्रसिंह के समय में राजनीतिक रूप से तोमर बहुत प्रबल हो गये थे। उत्तर-भारत में उनकी पूरी धाक थी और दिल्ली, जौनपुर एवं मालवा के मुस्लिम राज्यों के बीच में स्थित इस हिन्दूराज्य से सब सहायता भी माँगते थे और समय पाकर उसे हड़प जाने की चिंता में भी थे। ग्वालियर-गढ़ की विशाल जैन-मूर्तियाँ इनके राज्य-काल में बनने लगी थीं।

डूगरेन्द्रसिंह के तीस वर्ष के राज्य के पश्चात् उनके पुत्र कीर्तिसिंह का राज्य प्रारंभ हुआ : इन्हें भी अपने २५ वर्ष के लम्बे राज्य में कभी जौनपुर और कभी दिल्ली को अपना अस्तित्व बचाने के लिए मित्र बनाना पड़ा। इनके राज्य-काल में ग्वालियर-गढ़ की मूर्तियाँ बन चुकी थीं।

कल्याणमल के राज्य-काल की किसी घटना का उल्लेख नहा है। परन्तु उसके पुत्र मानसिंह ने ग्वालियर के मान को बहुत ऊँचा उठाया। इनके राज्य-काल में दिल्ली के बहलोल लोदी ने ग्वालियर पर आक्रमण प्रारंभ कर दिये। कूटनीति से और कभी धन देकर मानसिंह ने इस संकट से पीछा छुड़ाया। बहलोल १४८६ में मरा और इसके पश्चात् सिकंदर लोदी गद्दी पर बैठा। इसकी भी ग्वालियर पर दृष्टि थी। परन्तु उसने इस प्रबल राजा की ओर प्रारंभ में मैत्री का ही हाथ बढ़ाया और राजा को घोड़ा तथा पोशाक भेजी। मानसिंह ने भी एक हज़ार घुड़सवारों के साथ भेंट लेकर अपने भतीजे को सुलतान से मिलने बयाना भेजा। इस प्रकार महाराजा मानसिंह सन् १५०१ तक निष्कंटक राज्य कर सके। १५०१ में तोमरों के राज-दूत निहाल से क्रुद्ध होकर सिकंदर लोदी ने ग्वालियर पर आक्रमण किया। मानसिंह ने धन देकर एवं अपने पुत्र विक्रमादित्य को भेजकर सुलह कर ली। परन्तु १५०५ में सिकंदर लोदी ने फिर ग्वालियर पर आक्रमण कर दिया। अब की ग्वालियर ने अच्छी तरह सिकंदर के दाँत खट्टे किये। उसकी रसद काट दी गई और बड़ी दुरवस्था के साथ वह भागा। सन् १५१७ तक फिर राजा मान को चैन मिला। परन्तु अब की बार सिकंदर ने पूर्ण संकल्प के साथ ग्वालियर पर आक्रमण किया, पर वह तैयारी कर ही रहा था कि मर गया।

सिकंदर के बाद इब्राहीम गद्दी पर बैठा। राज्य सँभालते ही उसके हृदय में ग्वालियर-गढ़ लेने की महत्वाकांक्षा जाग्रत् हुई। उसे अपने पिता सिकंदर और प्रपिता बहलोल की इस महत्वाकांक्षा में असफल होने की कथा ज्ञात ही थी। अतः उसने अपनी सम्पूर्ण शक्ति से तैयारी की। जब गढ़ घिरा हुआ था, उसी समय मानसिंह की मृत्यु हो गई। मानसिंह के पश्चात् तोमर लोदियों के अधीन हो गये। विक्रमादित्य तोमर अपने नाम में निहित स्वातंत्र्य की भावना को निभा न सके।

मानसिंह जितने बड़े योद्धा एवं राजनीतिज्ञ थे, उतने ही बड़े कला के पोषक भी। उन्होंने तोमर-कीर्ति को अत्यधिक बढ़ाया। उन्होंने सिंचाई के लिए अनेक झीलें बनवाईं। उनके द्वारा निर्मित मानकौतूहल संगीत की प्रामाणिक पुस्तक समझा जाता रहा है। उन्होंने स्वयं अनेक रागों को रूप दिया।

मानसिंह का निर्मित 'चित्रमहल', जिसे अब मानमंदिर कहते हैं, हिन्दू-स्थापत्य-कला का, ग्वालियर ही नहीं, संपूर्ण भारत में अप्रतिम उदाहरण है। मध्यकाल के भवनों में हमें धार्मिक भवन पूर्ण या ध्वंस के रूप में मिले हैं। राजपूतों के जो प्रासाद मिले भी हैं, वे मुग़लकालीन हैं और उन पर मुग़ल-स्थापत्य का प्रभाव लक्षित है। यह पूर्व-मुग़लकालीन राजमहल ही एक ऐसा उदाहरण है जो विशुद्ध हिन्दूशैली में बना है और जिसने मुग़ल-स्थापत्य को प्रभावित किया। इस स्थापत्य को सजाने के लिए अत्यंत सुन्दर मूर्तियों का निर्माण किया गया है। विशेषता यह है कि यह रंग-बिरंगे प्रस्तरों से भी बनी है।

मानमंदिर के आँगनों में खंभों, भीतों, तोड़ों, गोखों आदि में अत्यंत सुन्दर खुदाई का काम हुआ है और पुष्पों, मयूरों, सिंहों आदि की सुन्दर आकृतियाँ बनी हुई हैं। दक्षिणी एवं पूर्वी पार्श्व में नानोत्पल-खचित हंसपंक्ति, कदलीवृक्ष, सिंह, हाथी आदि अत्यंत मनोरम बने हुए हैं। इनके रंग आज इतनी शताब्दियाँ बीत जाने पर भी अत्यंत चटकीले बने हुए हैं। यह महल अपेक्षाकृत छोटा है, द्वार आदि भी बहुत छोटे हैं और बाबर ने अपने जीवन-संस्मरणों में जहाँ इसकी कला की भूरि-भूरि प्रशंसा की है, वहाँ इसके छोटेपन की शिकायत की है। परन्तु यह न भूलना चाहिए कि यह कलाकृति उस मानसिंह ने खड़ी की है, जिसे प्रतिक्षण शत्रुओं से लोहा लेने के लिए तत्पर रहना पड़ता था और जिसे अपने चित्रमहल को भी यही सोचकर बनाना पड़ा कि यदि अवसर आवे तो राजपूत-रमणियाँ भी आक्रमणकारी को, छोटे-छोटे द्वारों की बग़ल में तलवार लेकर खड़ी होकर, पाठ पढ़ा सकें।

इस महल की नानोत्पल-खचित चित्रकारी, इसमें मिलनेवाली उत्कीर्णक की छेनी का कौशल इसे भारत की महत्तम कलाकृतियों में रखता है। इसके दक्षिणी पार्श्व को देखते हुए एक दिन अचानक हमारे मुँह से यह निकल गया था कि यह कृति मानसिंह को, 'हिन्दू शाहजहाँ' कहने को बाध्य करती है। उसके पास न तो शाहजहाँ का साम्राज्य था और न शांति, अन्यथा वह उससे कहीं अच्छे निर्माण कर जाता। निश्चय ही इस प्रासाद के निर्माण से मुग़ल बादशाहों ने पर्याप्त स्फूर्ति ग्रहण की होगी और आगरा की नानोत्पल-खचित मीनाकारी के लिए ग्वालियर के उन कारीगरों के वंशजों को बुलाया होगा, जिन्होंने मानमंदिर के निर्माण में भाग लिया था।

मूर्तिकला की दृष्टि से तोमरों की ग्वालियर-गढ़ की जैन-प्रतिमाएँ ही उल्लेखनीय हैं। ग्वालियर-गढ़ के चारों ओर ये जैन-प्रतिमाएँ निर्मित हुई हैं। इनकी चरण-चौकियों पर खुदे लेखों से ज्ञात होता है कि ये सब सन् १४४० (संवत् १४९७) और १४७३ (सं० १५३०) के बीच डूगरेन्द्रसिंह एवं कीर्तिसिंह के राज्य-काल में खोदी गई हैं। ये मूर्तियाँ उत्कीर्णक के अपार धैर्य की द्योतक हैं। ग्वालियर-गढ़ की प्रत्येक चट्टान जो खोदने योग्य थी उसे प्रतिमा के रूप में बदल दिया गया, और यह सब हुआ ऊपर लिखे बत्तीस-तैंतीस वर्ष के समय में।

इनके बनने के १०० वर्ष बाद ही १५२७ में बाबर ने अपनी आज्ञा से उरवाही द्वार की प्रतिमाओं को ध्वस्त कराया। इस घटना का बाबर ने अपने आत्म-चरित्र में बड़े गौरव के साथ उल्लेख किया है। इन प्रतिमाओं के मुख तोड़ दिये गये थे, परन्तु चूने के द्वारा वे अब फिर बना दिये गये हैं।

इन मूर्तियों को पाँच समूहों में विभाजित किया जा सकता है—१. उरवाही-समूह, २. दक्षिण-पश्चिम-समूह, ३. उत्तर-पश्चिम-समूह, ४. उत्तर-पूर्व-भाग और ५. दक्षिण-पूर्व। उरवाही-समूह अपनी विशालता से और दक्षिण-पूर्व का अपनी अलंकृत कला से ध्यान आकर्षित करते हैं।

उरवाही में २२ प्रतिमाएँ हैं, जिनमें से छः पर संवत् १४९७ (सन् १४४० से १५१० ई० सन् १४५३) के बीच के अभिलेख खुदे हैं। इनमें सबसे ऊँची खड़ी प्रतिमा २० नम्बर की है। बाबर ने इसे बीस गज़ की अनुमान किया था, परन्तु वास्तव में वह ५७ फ़ीट ऊँची है। चरणों के पास यह ९ फ़ीट चौड़ी है। २२ नम्बर की नेमिनाथ की मूर्ति बैठी हुई बनाई गई है और ३० फ़ीट ऊँची है। १७ नम्बर की आदिनाथ की प्रतिमा पर डूगरेन्द्रदेव के राज्य का संवत् १४९७ (सन् १४४०) का लम्बा अभिलेख खुदा हुआ है। इनके अतिरिक्त इस ओर अन्य जैन-मूर्तियाँ हैं, जिनके पास पहुँचने का अब मार्ग नहीं रहा।

दूसरा दक्षिण-पश्चिम का समूह एकखंभा-ताल के नीचे उरवाही दीवार के बाहर की शिला पर है। इसमें पाँच प्रधान मूर्तियाँ हैं। २ नम्बर की स्त्री

प्रतिमा लेटी हुई ८ फ़ीट लम्बी है। इस पर ओप किया हुआ है। यह प्रतिमा त्रिशला की ज्ञात होती है। तीन नम्बर में एक पुरुष और स्त्री है, जिसके पास एक बालक है। यह संभवतः सिद्धार्थ, त्रिशला तथा महावीर हैं।

उत्तर-पश्चिम-समूह में केवल आदिनाथ की एक प्रतिमा महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि उस पर सं० १५२७ (सन् १४७०) का एक अभिलेख खुदा हुआ है। इसी प्रकार उत्तर-पूर्व-समूह भी महत्त्वपूर्ण है। मूर्तियाँ भी छोटी-छोटी हैं और उन पर कोई लेख नहीं है।

दक्षिण पूर्वी समूह मूर्तिकला की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। यह मूर्ति-समूह फूलबाग़ के ग्वालियर गेट से निकलते ही लगभग आधे मील तक गढ़ की चट्टानों पर खुदा हुआ दिखता है। इनमें से लगभग २० प्रतिमाएँ बीस फ़ीट से तीस फ़ीट तक ऊँची हैं और इतनी ही ८ से १२ फ़ीट तक ऊँची हैं। इनमें आदिनाथ, नेमिनाथ, सुपद्म, चन्द्रप्रभ, शम्भूनाथ, महावीर, कुन्थनाथ की मूर्तियाँ हैं, जिनमें से कुछ पर सं० १५२५ (सन् १४६८) से १५३० (सन् १४७३) तक के अभिलेख हैं।

कला की दृष्टि से विशाल मूर्तियों में विशालता को कला माना जा सकता है। मानव-भाव का सुन्दर मूर्तिकरण ही कला है। इन प्रतिमाओं में दाता की श्रद्धा की विशालता को मूर्ति की विशालता के रूप में प्रकट किया गया है और एक श्रद्धापूर्ण वातावरण की सृष्टि की है। छोटी मूर्तियों में जिस बारीकी एवं कौशल की आवश्यकता है, उतनी ही इन विशालतम प्रतिमाओं में अनुपात रखने की शक्ति की आवश्यकता है। जहाँ यह अनुपात रखा जा सका है, वहाँ मूर्तियाँ अत्यंत सुन्दर हो गई हैं।

ग्वालियर-गढ़ पर इनके अतिरिक्त भी अन्य जैन-प्रतिमाएँ हैं। तेली के मंदिर के हाते में रक्खी हुई कुछ विशाल जैन-प्रतिमाएँ इनमें विशेष महत्त्वपूर्ण हैं। उनमें भुजवल्ली की एक मूर्ति लगभग २० फ़ीट ऊँची है। उसकी बाहुओं और जंघाओं पर लिपटी हुई बेलें उसका परिचय देती हैं। इसकी तुलना श्रमण-बेल-गोला की प्रसिद्ध प्रतिमा से की जा सकती है।

मलिक मुहम्मद जायसी का विरह-वर्णन

श्रीभगवानचन्द्र गुप्त "विनोद"

पेमहिं माँह बिरह-रस रसा।
मैन के घर मधु अमरित बसा॥—जायसी

प्रेम की जलन का अनुभव अगर कभी होता है, तो वह विरहावस्था में ही। प्रेम के काठिन्य का अनुभव यदि प्रेमी करता है, तो प्रिय-वियोग में ही। जब तक प्रिय के पास प्रेमी रहता है, तब तक उससे और दुःख से क्या मतलब? जब तक वह प्रिय के चन्द्र-मुख की शीतलता का अनुभव करता है, तब तक उसे जलन से क्या सरोकार? प्रिय के पास में रहने से तो प्रेमी को समस्त विश्व ही प्रसन्न और हराभरा दिखाई पड़ता है। अपने प्रिय के सौन्दर्य, लावण्य और सुषमा को वह संसार की प्रत्येक वस्तु से छलकते देखता है। प्रिय के समीप रहने पर तो उसको चतुर्दिक् आनन्द-गीत ही सुनाई पड़ते हैं। प्रिय की सुरभिनिःश्वास से वह मलय-पवन को सुरभित करता है; प्रिय की चंचल मुस्कान से वह लहरियों में अठखेलियाँ भरता है; प्रिय की बाँकी चितवन से वह नील-निलय में इन्द्र-धनुष खींचता है। विश्व के अस्तित्व को वह प्रिय के एक-एक हाव-भाव के व्यक्तित्व में मिला देता है।

परन्तु प्रेमी के जगत् का वह प्रकाश, प्रिय के बिछुड़ते ही न-जाने किस ओर विद्युत्-वेग से अदृश्य हो जाता है। अपने साथ ही उसका प्रियतम उसका समस्त सुख और प्रकाश ले जाता है। उससे बिछुड़कर ही प्रेमी उस विरह का अनुभव करता है, जिसमें प्रेम की समस्त जलन और भयंकरता भरी रहती है। प्रिय-वियोग के साथ ही प्रेमी पर अंगारों की निरंतर वृष्टि प्रारम्भ हो जाती है। उसके हृदय-प्रदेश में वह अग्नि जल उठती है, जो आँखों के पानी से बुझने के स्थान में उत्तरोत्तर प्रबल ज्वालामयी बन जाती है—उसका उत्तप्त बालुका-राशि में तड़पते हुए लौटना प्रारम्भ हो जाता है। इस अवस्था में उसको समस्त संसार जलता-सा जान पड़ता है, प्रत्येक वस्तु झुलसी हुई दिखाई पड़ती है। पवन आहें भरता है, लहरियाँ सिसक-सिसककर रोती हैं, उषा-सुन्दरी आँसू गिराती है।

परन्तु, इस व्यथा में भी एक माधुर्य भरा रहता है। इसी माधुर्य के कारण प्रेमी, विरह-ज्वाला से जलने में भी सुख का अनुभव करता है। विरहानल से तपते हुए प्रेमी के हृदय में प्रियतम की जो छवि अंकित रहती है, उसे देखते-देखते वह उस जलन में भी एक मिठास का अनुभव करने लगता है। बिछुड़न की उत्तप्त अंगार-वृष्टि में भी उसके नेत्र प्रिय-छवि की झलक देखने में मस्त रहते हैं। वह मस्ती, उस अग्नि-वृष्टि में भी, सुधा की शीतलता ला देती है। सम्मिलन की अवस्था में, आनन्द के उद्दाम प्रवाह में प्रेमी चाहे प्रिय का ध्यान कुछ क्षणों के लिए विस्मृत भी कर दे; परन्तु वियोगावस्था में प्रिय की छवि-स्मृति ही तो उसका एकमात्र आधार है। बिछुड़न में प्रिय का निरन्तर ध्यान ही तो उसका एकमात्र कार्य है। इस प्रकार विरह में प्रिय के साथ जिस मानसिक मिलन का अनुभव होने लगता है, उसका आनन्द, उसका माधुर्य, साक्षात् मिलन के आनन्द और मिठास से कहीं बढ़ा-चढ़ा होता है। इसी मिठास का अनुभव कर तो जायसी ने वह उक्ति कही है, जिसे हम प्रारम्भ में लिख चुके हैं।

ऐसे मीठे विरह का वर्णन करना सहज नहीं है। प्रेमी की ऐसी मीठी जलन के चित्र खींचना कल्पना का काम नहीं। विरह की मिठास का अनुभव तो वही कर सकता है, जो स्वयं प्रिय-वियोग में तिल-तिल करके जल चुका हो। कल्पना को उसकी मिठास की अनुभूति नहीं हो सकती। जलन और शीतलता, मिठास और बड़प्पन-जैसे विरोधी तत्वों के संयोग से जो सलोना, जो करुण चित्र प्रादुर्भूत होता है, उसे कल्पना कैसे खींचेगी! उसकी टेढ़ी-मेढ़ी, पर प्रथम दृष्टि में ही हृदय पर असीम प्रभाव डालनेवाली रेखाओं को तो उसी कलाविद् का हाथ खींच सकता है, जिसने स्वयं उसका अनुभव किया हो, जिसकी भावना उस रङ्ग में शराबोर हो चुकी हो।

जायसी एक ऐसे ही कलाविद् थे। अपनी तूलिका में करुणा, वेदना और अनुराग के मिश्रित रङ्ग को भरकर उन्होंने विरह के अत्यन्त ही लुभावने तथा हृदय-स्पर्शी चित्र खींचे हैं। अनन्त के प्रेम से लबालब भरी आत्मा ने, इस रक्त-मांस के बन्धन में पड़े-पड़े, प्रिय-वियोग की करुण वेदना का जो आध्यात्मिक अनुभव किया था, उसी अनुभव की विशदता को

जायसी ने 'पद्मावत' के विरह-वर्णन में भाषा का समस्त माधुर्य और भावना की समस्त मृदुलता को लेकर भर दिया है। जायसी के विरह-वर्णन में प्रेम की जो उत्कृष्टता, वेदना की जो तीव्रता और विरही की दशा तथा आकांक्षाओं का जो कोमल, भावनात्मक, मीठा चित्रण मिलता है, वह उन्हीं का होकर रह गया।

जायसी ने 'विरह' शब्द का प्रयोग एक विशेष अर्थ में किया है। साधारणतया 'विरह' शब्द उस अवस्था का द्योतक होता है, जिसमें प्रिय-मिलन के बाद प्रेमी का वियोग हो। परन्तु जायसी 'विरह' में प्रियतम से आमिलन भर लेते हैं। वह 'रत्नसेन' में वहीं से विरही का चित्रण करने लगते हैं, जहाँ से हीरामन तोते द्वारा 'पद्मिनी' का रूप-वर्णन सुनकर वह उस पर मुग्ध हो जाता है। इसी प्रकार वे पद्मिनी में भी रत्नसेन से मिलने के पूर्व ही विरहिणी की अवस्था ला देते हैं। विरह का उचित वर्णन तो प्रायः वहीं से हुआ है, जहाँ पद्मिनी के दर्शनों से मूर्छित राजा रत्नसेन को चेतना आती है।

दूसरी विशेषता जायसी के विरह-वर्णन में है नायक और नायिका, दोनों ही का विरह में व्याकुल होना।

हिन्दी के शृंगारी कवियों में यह एक परम्परा-सी है कि वे केवल विरहिणी की व्याकुलता दिखाते हैं। उनकी विरहिणी ही को चन्द्र-रश्मि से जलन, कोयल की कुहुक से पीड़ा और पपीहा की 'पी कहाँ' से ईर्ष्या होती है। उनके विरही का तो कोई अस्तित्व ही नहीं। मानो विरह का सारा प्रकोप नायिका पर ही होता है, नायक को उसका अनुभव तक नहीं होता।

परन्तु जायसी में यह अस्वाभाविकता बिलकुल नहीं है। उसका रत्नसेन विरह में उतना ही दुखी दिखाई पड़ता है, जितना कि उनकी पद्मिनी या नागमती। यदि विरहिणी पद्मिनी की ऐसी दशा हो जाती है—

"विरह काल होइ हिये पईठा।
जीउ काढ़ि लै हाथ बईठा॥
खिनहिं मौन बाँधै, खिन खोला।
गही जीभ मुख आव न बोला॥
खिनहिं बेधि कै बानन्ह मारा।
कँपि-कँपि नारि मरै बेकरारा॥"

अथवा नागमती ऐसी दयनीय दशा को पहुँच जाती है कि—

"दहि कोइला भइ कंत-सनेहा।
तोला माँसु रही नहिं देहा॥
रकत न रहा, बिरह तन गरा।
रती-रती होइ नैनन्हि ढरा॥"

तो विरह में उधर उसके रत्नसेन भी—

"तस रोवै जस जिउ जरै, गिरै रकत औ माँसु।
रोवँ-रोवँ सब रोवहिं, सूत-सूत भरि आँसु॥"

की दशा को पहुँचता है।

तीसरी विशेषता जो जायसी के विरह-वर्णन में है, वह है उसमें विरह की आभ्यन्तरिक दशा के चित्रण की ओर विशेष ध्यान। जायसी विरह के परिमाण का उतना ध्यान नहीं रखते, जितना उसके प्रभाव का। वे विरह की दारुणता चित्रित करने की उतनी चिन्ता नहीं करते, जितनी विरह-ताप द्वारा उत्पन्न असह्य जलन के चित्रण की। विरह-व्यञ्जना की यह रीति उनके वर्णन में भावनात्मक तत्त्व का आधिक्य कर उसे अधिक हृदय-स्पर्शी बना देती है। इसी से विरह-वर्णन में "इनकी अत्युक्तियाँ बात की करामात नहीं जान पड़तीं, हृदय की अत्यन्त तीव्र वेदना के शब्द-संकेत प्रतीत होती हैं।" "विरह-ताप के वेदनात्मक स्वरूप की अत्यन्त विशद व्यञ्जना ही जायसी की विशेषता है।" विरह-वेदना का प्रभाव चित्रण करते-करते वे इतने बेसुध हो जाते हैं कि उन्हें अखिल विश्व ही विरह-ताप से जलता दीखने लगता है। उन्होंने अपनी सच्ची और तीव्र भावुकता का परिचय यह दिखाकर दिया है कि बिछोह में विरही को अपने व्यक्तित्व का विस्मरण हो जाता है। यदि वह साधारण-जनों से कुछ विशेषता भी रखता हो तो उसे वह भूल जाता है। उस समय वह अपने में और एक साधारण मनुष्य में कोई अन्तर नहीं देखता। सुख के क्षणों में जिस पर उसने भूलकर भी दृष्टिपात न किया होगा, उसी के साधारण से साधारण सुख पर अब वह ईर्ष्या का अनुभव करने लगता है। एक भावुक की दृष्टि के अतिरिक्त और किसकी दृष्टि विरही के इस भाव पर जाती? जायसी ने विरही में इस भावना का अंकन किया है। रत्नसेन के वियोग में उनकी नागमती अपना रानीपन भूलकर नारीपन की ही याद रखती है।

विरह और यौवन का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। यदि यह कहना अत्युक्ति समझा जाय कि विरह की अनुभूति यौवन में ही हो सकती है, तो इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं कि विरह की समस्त प्रबलता और

मिठास का अनुभव युवक प्रेमी ही कर सकता है। यौवन ही में प्रिय-वियोग हममें वह विरह-वह्नि जला सकता है, जिसमें तिल-तिल जलने को भी प्रेमी अपना सौभाग्य मानता है। प्रेमी विरह का समस्त माधुर्य लेकर उसकी समस्त जलन यौवन के लिए छोड़ देता है। इसीलिए जायसी कहते हैं—

"कनक पानि कित जोबन कीन्हा।
औटन कठिन विरह ओहि दीन्हा॥
जोबन-जलहि विरह-मसि छूआ।
फूलहि भौंर फरहि भा सूआ॥"

तो क्यों यौवन-कमल को इतना सुन्दर और मृदुल बनाया गया? और यदि बनाया ही गया तो उसका खौलते हुए विरह-जल से अनिवार्य सम्बन्ध क्यों कर दिया गया? यौवन के सुन्दर और निर्मल जल को विरह ने अपनी कालिमा से बिगाड़ डाला—वैसे ही, जैसे भौंरे फूलों का और तोते फलों का रस लेकर उन्हें नष्टप्राय कर देते हैं। यौवन-चन्द्र अपनी समस्त कलाओं से प्रकाशित होकर मधुर शीतलता का संचार कर रहा था, विरह ने अपने में भरी अग्नि-राशि में से एक चिनगारी उस पर डाल दी—

"जोबन-चाँद जो चौदस भरा।
बिरह के चिनगी सो पुनि जरा॥"

विरह की एक ही चिनगी में अत्यन्त निदाघ छिपा रहता है। उसकी ज्वाला सहन करने का सामर्थ्य बड़े-बड़े शक्तिशालियों में भी नहीं। परन्तु उसी ताप को प्रेमी, अपने प्रेम के बल पर प्रसन्नतापूर्वक सहन करता है—

"गिरि, समुद्र, ससि, मेघ, रबि,
सहि न सकहिं वह आगि।
'मुहमद' सती सराहिए,
जरै जो अस पिउ लागि।"

विरह की जिस आग में प्रेमी जलता है, उसकी दारुणता का पूर्ण अनुभव हम उपमान दे-देकर नहीं करा सकते। उन उपमाओं के सहारे हम भले ही अस्पष्ट चित्र खींच दें, परन्तु विरह-ज्वालाओं की तपन तो विरही ही जानता है—

"कहेसि बिरह दुख जान न कोई।
बिरहिनि जान बिरह जेहि होई॥"

जायसी ने कुछ ऐसी वस्तुएँ ढूँढ़ निकाली हैं, जिनसे उस विरह की कठिनता का कुछ आभास मिल सके। विरह, काल से तो निश्चय ही कहीं अधिक दारुण है। काल प्राण लेकर चला जाता है, परन्तु विरह तो मरे पर भी मारता है, आग पर और भी आग डालता है, घाव पर घाव किये जाता है, बाण पर बाण बेधते जाता है; जलकर भस्म हो जाने पर भी विरही को जलाना नहीं छोड़ता—

"बिरहा कठिन काल कै कला।
बिरह न सहै, काल बरु भला॥
काल काढ़ि जिउ लेइ सिधारा।
बिरह काल मारे-पर-मारा॥
बिरह आग पर मेलै आगी।
बिरह घाव पर घाव बजागी॥
बिरह बान पर बान पसारा।
बिरह रोग पर रोग सँचारा॥
बिरह साल पर साल नवेला।
बिरह काल पर काल दुहेला॥
तब रावन होइ सिर चढ़ा, बिरह भयउ हनुमंत।
जारे ऊपर जारेसि, चित मन करि भसमंत॥"

ऐसे काल से भी कठिन बिरह की खड्ग से कौन सी समता? विरह की धार तो उससे बहुत ही अधिक असह्य है—

"जग महँ कठिन खड्ग कै धारा।
तेहि ते अधिक बिरह कै झारा॥"

विरह की यह झार अत्यन्त भयावह है। इस—पानी से न बुझनेवाली, दिन-दिन बढ़ती ही जानेवाली—अग्नि की एक लपट सूर्य तक जा पहुँची। वह मारे जलन के काँप उठा—

बिरह कि आगि सूर जरि काँपा।
रातिहि दिवस जरै ओहि तापा॥
खिनहिं सरग खिन जाइ पतारा।
थिर न रहै यहि आगि अपारा॥

सूर्य-सदृश शक्तिशाली की ऐसी अस्थिर दशा करनेवाली विरह-वज्राग्नि के प्रचण्डत्व की कल्पना तो कीजिए! यदि संसार का समस्त चन्दन और जल एकत्र होकर उस पर उड़ेल दिया जाय, तब भी क्या वह बुझ सकेगी?

"जहँ लगि चन्दन मलयगिरि औ सायर सब नीर।
सब मिलि आइ बुझावहि बुझै न आगि सरीर॥"

यह विरह की आग तो एक दफ़ा जल उठने पर फिर बुझना जानती ही नहीं। इसकी लपटें संसार भर को अपना शिकार बनाती हैं। राहु-केतु झुलस जाते हैं, सूर्य-चन्द्र जल जाते हैं, नक्षत्र जलते हैं और

टूट पड़ते हैं, समस्त पृथ्वी भभक उठती है, पलाश दहककर लाल हो जाता है, पर्वत अंगार-सा भभूका बन जाता है। भ्रमर, पतंग, नाग जलकर काले पड़ जाते हैं, पक्षी भागते हैं, जल-जीव तड़फड़ाते हैं—

"अस पर जरा बिरह का गठा।
मेघ साम भये धूम जो उठा॥
दाढ़ राहु, केते गा दाधा।
सूरुज जरा, चाँद जरि आधा॥
औ सब नखत तराईं जरहीं।
टूटहिं लूक, धरति महँ परहीं॥
जरै सो धरती ठाँवहि ठाऊँ।
दहकि पलास जरै तेहि दाऊँ॥
बिरह-साँस तस निकसै झारा।
दहि-दहि परबत होहि अँगारा॥
भँवर, पतंग जरै औ नागा।
कोकिल, भुजइल, डोमा, कागा॥
बनपंखी सब जिउ लेइ उड़े।
जल महँ मच्छ दुखी होइ बुड़े॥"

इन्हीं 'जिउ लेइ उड़े' के पक्षियों में से एक ने अपनी आग समुद्र में बुझानी चाही, परन्तु परिणाम क्या हुआ? समुद्र का जल जलकर नमकीन हो गया और पक्षी के शरीर से निकले हुए धुएँ से समस्त संसार आच्छादित हो गया—

"महूँ जरत तहँ निकसा, समुद बुझायउँ आइ।
समुद पानि जरि खार भा, धुआँ रहा जग छाइ॥"

इतना ही नहीं, विरह की जलन मरने पर भी नहीं जाती। विरहाग्नि के प्रभाव से जंगलों में मृग जल जाते हैं और जो उन मृगों के चर्मासन पर बैठते हैं, वे भी जल-भुन जाते हैं—

"जरहिं मिरिग बन-खँड तेहि ज्वाला।
औ ते जरहिं बैठि तेहि छाला॥"

विरह की जलन सभी को व्यग्र कर देती है। हनुमान् पर्वत पर बैठे-बैठे लंका की रखवाली कर रहे थे। विरही रत्नसेन के शरीर से उठी विरह-ज्वाला के लगते ही बेचैन हो झट शिव-पार्वती के पास भागे-भागे गये और कहने लगे—

"तेहि बज्रागि जरै हौं लागा।
बजर अंग जरतहि उठि भागा॥
रावन लंका हौं दही, वह हौं दाहै आव।
गे पहार सब औटिकै, को राखै गहि दाव॥"

ऐसे विरह के प्रभाव की कल्पना करते-करते कवि ने अनुभव किया कि प्रत्येक प्रकार की कालिमा की उत्पत्ति वियोगाग्नि की जलन से ही हुई है। ये भौंरे और कौवे क्यों काले हैं? निश्चय ही इन सब तक भी उसी अग्नि का धुआँ जा पहुँचा है, जिसकी जलन से सूर्य और हनुमान्-जैसे शक्तिशाली भी व्याकुल हो उठे। नागमती सन्देश देती हुई भ्रमर और कौए से कहती है—

"पिउ सौं कहेहु सँदेसड़ा, हे भौंरा, हे काग।
सो धनि बिरहै जरि मुई, तेहिक धुआँ हम लाग॥"

इन भौंरों और कौओं को बड़ा भाग्यवान् समझना चाहिए कि केवल काले होकर ही विरह की झार से छुटकारा पा गये, नहीं तो विरहिणी नागमती जिसके निकट जाकर अपनी करुण-विरहकथा सुनाना चाहती है, वही जल-भुनकर राख हो जाता है। अपनी मनोवेदना न सुना सकने के कारण वह रक्त के आँसू बहाने लगती है, उनसे घुँघचियाँ बन जाती हैं। कहीं उन घुँघचियों की दृष्टि नागमती के नेत्रों पर पड़ गई, बस, मारे झार के उनका मुँह भी झुलस गया। विरहिणी की करुण दशा से वे इतनी प्रभावित हुईं कि वे भी 'पिउ-पिउ' करने लगीं। विरहिणी के इन्हीं रक्ताश्रुओं में भीगकर पलाश लाल हो गया है। उन्हीं में भीग जाने से बिम्बाफल भी रक्त-वर्ण बन गया है। विरहिणी ने अपनी विरह-व्यथा से परवल को पकाया और गेहूँ के हृदय भी विदीर्ण कर दिये—

"जेहि पंखी के निअर होइ, कहै बिरह कै बात।
सोई पंखी जाइ जरि, तरिवर होइ निपात॥
कुहुकि-कुहुकि जस कोयल रोई।
रकत-आँसु घुँघची बन बोई॥
भइ करमुखी नैन तन राती।
को सेराय? बिरहा-दुख ताती॥
जहँ-जहँ ठाढ़ होइ बनबासी।
तहँ-तहँ होइ घुँघचि कै रासी॥
बूँद-बूँद महँ जानहुँ जीऊ।
गुंजा गुंजि करै पिउ-पीऊ॥
तेहि दुख भये परास निपाते।
लोहू बूड़ि उठे होइ राते॥
राते बिम्ब भीजि तेहि लोहू।
परवर पाक, फाट हिय गोहूँ॥"

यह तो विरही के संसर्ग में आनेवाले की अवस्था होती है। उसके सन्देश की अग्नि तो बड़ी ही सर्व-

नाशिनी होती है। नागमती का विरह-सन्देश लेकर विहंगम के चलने पर समस्त सिंहल में अग्नि जल उठी। उसका धुआँ मेघों तक पहुँचा; वे श्याम-वर्ण हो गये. उससे आकाश भर गया, नक्षत्र टूटने लगे। उसी की एक चिनगारी चन्द्रमा पर भी जा गिरी। सन्देश-वाहक पक्षी के समुद्र-तट पर करुण चीत्कार-मात्र से मत्स्य जल उठे। पानी खारा हो गया। जल की सीपें भुन गईं--

"लेइ सो सँदेश विहंगम चला।
उठी आगि सगरौं सिंघला॥
बिरह-बजागि बीच को ठेवा?
धूम सो उठा साम भये मेघा॥
भरिगा गगन लूक अस घूटे।
होइ सब नखत आइ भुइँ टूटे॥
जहँ-जहँ भूमि जरी भा रेहू।
बिरह के दाघ भई जनु खेहू॥
राहु, केतु, सब लंका जरी।
चिनगा उड़ी चाँद महँ परी॥
जाइ बिहंगम समुद डफारा।
जरै मच्छ, पानी भा खारा॥
दाधे बन बीहड़, जल सीपा।
जाइ नियर भा सिंहल दीपा॥

विरह-संदेश में विरह से भी अधिक ज्वाला भरी रहती है। नागमती के विरह-सन्देश की प्रचण्डता कही जा चुकी; परन्तु रत्नसेन का विरह-सन्देशयुक्त पत्र भी कुछ कम ज्वालामय नहीं। नेत्ररूपी स्याही भर बरुनी लेखनी द्वारा रोते-रोते लिखे गये पत्र के जलते अक्षरों को कौन छुए? हीरामन तोते ने बड़ा साहस कर यह सन्देश पहुँचाने पर कमर कसी, तो उसकी जो दयनीय दशा हो गई, उसका वर्णन वह 'पद्मावती' से रो-रोकर इस प्रकार कहता है--

"गीउ जो बाँधा कंचन तागा।
राता साँप कंठ जरि लागा॥
अगिनि साँस सँग निसरै ताती।
तरुवर जरहिं ताहि कै पाती॥
रोइ-रोइ सुआ कहै सो बाता।
रकत कै आँसु भयउ मुख राता॥
देखु कंठ जरि लाग सो गेरा।
सो कस जरै बिरह अस घेरा॥"

विरह की इस विश्व-दाहक अग्नि को अपने रक्त-मांस की तनिक-सी सीमा के भीतर सहर्ष जलाना और उसे निरंतर प्रिय-प्रेम-घृत से उत्तरोत्तर प्रबल करते रहना प्रेमी का ही काम है। इस अनुष्ठान में प्रेमी मानसिक, करुण एवं व्यथित सुख का चाहे कितना भी अधिक अनुभव क्यों न करे; परन्तु शारीरिक अवस्था तो उसकी दिन-प्रतिदिन हीन ही होती जायगी। उसकी रक्त-मांसहीन ठठरी पर लोग विद्रूप हँसी भले ही हँस लें; परन्तु जब वे उसकी करुण-कहानी सुनेंगे तब उन्हें ज्ञान होगा कि कितने ऊँचे आदर्श पर उसने अपनी शारीरिक प्रसन्नता की बलि चढ़ा दी है--जब वे उस हृदय की विरह-जनित करुण आकांक्षाओं को सुनेंगे, तब बरबस उनके नेत्र जलपूर्ण हो जावेंगे--

"मुहमद कबि जो बिरह भा, ना तन रकत न माँसु।
जेइ मुख देखा तेइ हँसा, सुनि तेहि आयउ आँसु॥"

विरह की इस करुण व्यथा को जिसे सुन उस पर हँसनेवालों की आँखों में भी आँसू आ जायँ, उसकी जिह्वा भर ही नहीं कहती वरन् उसके रोम-रोम से उसी व्यथा की तानें निकलती हैं, उसकी नस-नस से उसी वियोग-जनित कष्ट के स्वर निकलते हैं, उसकी एक-एक हड्डी भेरी-निनाद में उसकी जलन-कहानी सुनाती है। नागमती, विहंगम को विरह-सन्देश देने के समय कहती है--

"हाड़ भये सब किंगरी, नसैं भईं सब ताँति।
रोवँ-रोवँ ते धुनि उठै, कहौं बिथा केहि भाँति॥"

विरही अपनी करुण अवस्था कहने में असमर्थ है। वह कहता है कि उसकी हड्डियाँ, नसें और रोएँ ही उसकी कष्ट-कथा कह रहे हैं। उनकी भाषा यदि समझ सकते हो, तो समझ लो। कवि ने उस भाषा को बड़ी ही सहृदयता के साथ समझा है। रत्नसेन के वियोग में व्यथित पद्मिनी चित्त बहलाने और रात्रि को शीघ्र बिताने के लिए वीणा-वादन करने लगी। फलस्वरूप शशिवाहन मृग संगीत सुनने को रुक गये; रात्रि और भी बढ़ गई; तब व्याकुल-चित पद्मिनी इन्हें भगाने के लिए सिंह का चित्र खींचने लगी--

"कलप समान रैन तेहि बाढ़ी।
तिल-तिल कर जुग-जुग जिमि गाढ़ी॥
गहै बीन यकु रैनि बिहाई।
ससि-वाहन तहँ रहै ओनाई॥
पुनि धनि सिंघ उरेहै लागै।
ऐसिहि व्यथा रैनि सब जागै॥"

जिसकी ऐसी बेचैनी होगी, उसे वेश-भूषा का कहाँ ध्यान हो सकता है ? वह तो दिन-रात प्रिय का ही ध्यान करती रहेगी।

"बिरह न आपु सँभारै, मैल चीर, सिर रूख।
पिउ-पिउ करत राति-दिन, जस पपिहा मुख सूख ॥"

अहर्निश 'पिउ-पिउ' रटनेवाले का गुलाब-सा हलकी लालिमावाला श्रीमुख तो रक्त-रहित श्वेत-वर्ण हो ही जायगा। ऐसी दशा में यदि चलते-चलते नेत्र की पुतलियाँ हतचेत हो जायँ, तो क्या आश्चर्य ? रत्नसेन के वियोग में पद्मावती का हाल देखिए—

"राता बदन गयउ होइ सेता।
भँवत भँवर रहि गये अचेता ॥
चित्त जो चिन्ता कीन्ह, धनि रोवैं रोवँ समेत।
सहस साल सहि, आहि भर, मुरुछ परी गा चेत ॥"

चेतना लौटने पर तो उसकी अवस्था और भी दयनीय हो जाती है। मूर्च्छा छूटते ही वह फिर विरह के हाथों सताई जाने लगी। प्रयास करने पर भी मुँह से बोल नहीं निकलता; रह-रहकर समस्त शरीर में कम्पन उठता है—

"खिनहि मौन बाँधै, खिन खोला।
गही जीभ मुख आव न बोला ॥
खिनहिं बोझिकै बानन्ह मारा।
कँपि-कँपि नारि मरे बेकरारा ॥"

"उदधि समुद जस तरँग देखावा।
चख घूमहिं, मुख बात न भावा ॥"

यह सब उसी अग्नि की लीला है, जिसे प्रेमी ने अपने हृदय में सुलगाया है। विरह ने प्रेमी के मांस को काट-काटकर सलाख में पिरो लिया है। क्षण भर में उसे भूनकर, सिंह-सा चबाता हुआ, दहाड़ रहा है। एक बार ही विरही की जान नहीं ले लेता, थोड़ा-थोड़ा कर दाग रहा है—

"लंका बुझी आगि जो लागी।
यह न बुझाइ आँच बज्रागी ॥
जनहुँ अगिनि के उठहिं पहारा।
औ सब लागहिं अंग अँगारा ॥
कटि-कटि माँसु सराग पिरोवा।
रकत कै आँसु माँसु सब रोवा ॥
खिन एक बार माँसु अस भूँजा।
खिनहिं चबाइ सिंघ अस गूँजा ॥"

तिल-तिल नष्ट होने से तो एकबारगी प्राण दे देना ही सरल है। परन्तु विरही तो तन की भट्टी में हाड़ की लकड़ी से अग्नि जलाता है, नयन-नीर से पात्र पर लेप कर देता है और इसी भट्टी में विरह उसका मांस भूनता है—

"विरह के दगध कीन्ह तन भाठी।
हाड़ जराइ दीन्ह जस काठी ॥
नैन नीर सौं पोता किया।
तस मद चुआ बरा जस दिया ॥
विरह सरागन्हि भूँजै माँसू।
गिरि-गिरि परै रकत कै आँसू ॥"

विरही ऐसी दारुण वेदना को सहकर भी प्रियतम का स्मरण करने से छुटकारा नहीं चाहता; क्योंकि सुख-दुःख तो उसे समझ पड़े, जो सजीव हो—सज्ञान हो। विरही में ज्ञान कहाँ ? उसे भला सजीव कहेगा ही कौन ? उसकी आत्मा तो विरहाग्नि की पहली लपट लगते ही भाग गई है।

"आहि जो मारै विरह कै, आगि उठै तेहि लागि।
हंस जो रहा शरीर महँ, पाँख जरा, गा भागि ॥"

विरह की यह अग्नि बुझाये तो बुझती ही नहीं। विरही नयन-डोल भर-भरकर उड़ेल रहा है; परन्तु सब व्यर्थ—

"नैन डोल भरि ढारै, हिये न आगि बुझाइ।
घरी-घरी जिउ आवै, घरी-घरी जिउ जाइ ॥"

हृदय की जलन सब जलनों से बुरी होती है। जितनी तड़प इसमें होती है, उतनी अन्य किसी जलन में नहीं। हृदय की ऐसी दशा में भला विरही का रोम-रोम क्यों न रोवे ?

"तस रोवै जस जिउ जरै, गिरै रकत औ माँसु।
रोवँ रोवँ सब रोवहिं, सूत सूत भरि आँसु ॥"

विरह-व्यथा के इन आँसुओं को आँसू कहना ही ग़लत है। विरही का मांस-मज्जा ही गल-गलकर तरल हो-हो आँखों की राह निकल रहा है—

"रकत न रहा, विरह तन गरा।
रती-रती होइ नैनन्ह ढरा ॥"

आँसुओं के इस निरंतर प्रवाह में विरही का विलाप प्रारंभ होता है। प्रेम की एकान्त निष्ठा, ललक की अथाह तीव्रता, सलोनी करुणा और मर्मान्तक व्यथा की आह लेकर यह विलाप बड़ा ही हृदय-स्पर्शी हो जाता है। रत्नसेन से बिछुड़ी हुई पद्मावती का विलाप इसी कोटि का है—

"बाउर होइ परी पुनि पाटा।
देइ बहाइ कन्त जेहि घाटा ॥

को मोहि आगि देइ रचि होरी।
जियत न बिछुरै सारस जोरी॥
जेहि सिर परा बिछोहा, देहु ओहि सिर आगि।
लोग कहैं यह सर चढ़ी, हौं सो जरौं पिउ लागि॥"

प्रिय के हेतु जलने में भी प्रेमी को सुख का अनुभव होता है। हृदय जैसी निकटतम वस्तु में प्रियतम के रहने पर भी प्रिय-समागम की तीव्र ललक विरही के हृदय में उत्पन्न होती है। पद्मिनी कहती है—

"जनहुँ आहि दरपन मोर हीया।
तेहि महँ दरस दिखावै पीया॥
पीउ हृदय महँ, भेंट न होई।
को रे मिलाव, कहौं केहि रोई॥"

'को रे मिलाव' में प्रिय-मिलन की ललक अत्यन्त ही गम्भीरता से व्यक्त हुई है। इस अवस्था में विरही के साथी-संगी भी उसका कार्य नहीं करते। साँस तो प्रियछवि तक जाती है परन्तु जाने पर कोई सन्देश नहीं कहती। नेत्र कौड़िल्ला होकर उस रूपराशि के चारों ओर मँड़राते हैं, परन्तु लौटकर आते नहीं। मन भी उसमें बस गया, जैसे कमल में भौंरा; परन्तु अब वह भी किसी दूसरी ओर मुड़कर देखता ही नहीं। प्रिय-सन्देश मिले तो कैसे? पद्मिनी कहती है—

"साँस पास नित आवै जाई।
सो न सँदेस कहै मोहि आई॥
नैन कौड़िया होइ मँड़राहीं।
थिरकि मार पै आवै नाहीं॥
मन-भँवरा भा कँवल बसेरी।
होइ मरजिया न आवै हेरी॥"

परन्तु यह कहना भी ठीक नहीं कि विरही के साथी उसका साथ नहीं देते। भले ही वे प्रिय-सन्देश न लावें, परन्तु विरह-सन्देश भेजने में वे पूरी सहायता करते हैं। नेत्र स्याही प्रस्तुत करते हैं, बरुनी लेखनी का कार्य करती है। रत्नसेन ने—

"मसी नैना, लिखनी बरुनि, रोइ रोइ लिखा अकत्थ।
आखर दहै, न कोइ छुवै, दीन्ह परेवा हत्थ॥"

हीरामन तोते पर सन्देश-पत्र के स्पर्श का जो प्रभाव हुआ, ऊपर कहा जा चुका है। विरही ने जो रो-रोकर लिखा, उसका क्या प्रभाव हुआ, सो तोते ने पद्मिनी से इस प्रकार कहा—

"नैनहिं चली रकत कै धारा।
कंथा भीजि भयउ रतनारा॥
सूरुज बूड़ि उठा होइ ताता।
औ मजीठ टेसू बन राता॥
भा बसन्त, राती बनसपती।
औ राते सब जोगी जती॥
पुहुमि जो भीजि, भयउ सब गेरू।
औ राते तहँ पंख पखेरू॥
राती सती अगिनि सब काया।
गगन मेघ राते तेहि छाया॥
ईंगुर भा पहार जौ भीजा।
पै तुम्हार नहिं रोवँ पसीजा॥
तहाँ चकोर कोकिला, तिन्ह हिय मया पईठि।
नैन रकत भरि आये, तुम्ह फिरि कीन्ह न दीठि॥"

हीरामन कहता है कि उसके रक्ताश्रुओं में डूबकर सूर्य लाल हो गया। मजीठ, टेसु, वनस्पति, यहाँ तक कि संसारमुक्त योगी-यती भी रक्त-वर्ण हो गये। पृथ्वी उनसे भींगी और गेरू ही गेरू नज़र आने लगा। पक्षी, सती, गगन और मेघों पर उन आँसुओं की छाया पड़ी, वे भी लाल हो गये। पहाड़ भींगा, वह ईंगुर हो गया। उन्हें देखकर चकोर और कोकिल व्यथित होकर रो पड़े। रोते-रोते उनके नेत्र भी लाल हो गये। अब भी इसे स्मरण कर कोकिल, चातक और मोर रो पड़ते हैं—

"अबहूँ बोलैं तेहि कुहुक, कोकिल, चातक, मोर।"

केवल वे ही नहीं, विरही की दीन दशा देखकर वृक्ष नंगे सिर रोते हैं, पृथ्वी और समुद्र दुःख से भर जाते हैं। कौड़ी का हृदय भी फट जाता है—

"तेहि दुख लेत बिरिछ बन बाढ़े।
सीस उघारे रोवहिं ठाढ़े॥
पुहुमि पूर सायर दुख पाटा।
कौड़ी केर बेहरि हिय फाटा॥"

प्रेमी का जीवन ही 'प्रिय' में निहित रहता है। प्रिय के दूर होने पर वह कैसे उसका चिन्तन करना छोड़ दे? वह भड़भूँजे के भाड़ की तरह प्रज्वलित हो उठता है। वह दानों की तरह बार-बार तप्त बालू में भूँना जाता है, फिर भी उसमें रहना नहीं छोड़ता। उसका हृदय, ग्रीष्म के सरोवर की तरह, नित्यप्रति अधिकाधिक फटता जाता है। विरहिणी नागमती की ऐसी ही दशा है। वह कहती है—

"लागिउँ जरै जरै जस भारू।
भूँजेसि भूँजेसि, तजिउँ न बारू॥

सरवर हिया घटत नित जाई।
टूक-टूक होइ कै बिहराई॥"

तृण की-सी अति क्षीण दशा को पहुँची अबला को विरह जलाकर उसकी भस्म तक को उड़ा देना चाहता है। विलाप करती हुई नागमती रत्नसेन का स्मरण कर कहती है—

"तुम बिन काँपै धनि हिया, तन तिन उर भा डोल।
तेहि पर बिरह जराइ कै, चहै उड़ावा झोल॥"

विरहिणी इस दयनीय दशा पर पहुँच गई है कि काग और गिद्ध तक का मन उसके मांस पर नहीं चलता। वे प्रार्थना करने पर भी उस पर चोंच नहीं चलाते। पद्मिनी कहती है—

"काग औ गिद्ध न खंाहिं, का मारहिं, बहु मंदि ?"

उसको वे क्या मारते ? वह तो स्वयं ही मर गई थी। समस्त रक्त और मांस नेत्रों की राह निकल चुका था। अस्थिपंजर शंख-सा पोला और खड़-खड़ ध्वनि-युक्त हो गया था। वह पिउ-पिउ रटते मर गई। अब भले ही प्रिय आकर उसके पंख समेट ले—

"रकत ढुरा माँसू गरा, हाड़उ भयउ सपंख।
धनि सारस होइ ररि मुई, पीउ समेटहि पंख॥"

विरह-दग्ध की बाह्य दशा का चित्रण एक तीव्र कल्पनापूर्ण मनुष्य तो सफलतापूर्वक कर लेगा, परन्तु आभ्यन्तरिक दशा का प्रभावोत्पादक चित्र वही खींच सकेगा, जो अपनी कल्पना को अपनी भावनात्मक वृत्ति में लीन कर सकता हो। ऐसे चित्रण में जायसी विशेष सिद्धहस्त प्रतीत होते हैं। "नागमती का बारहमासा" जायसी की उत्तम रचना है। यहाँ हम न तो सम्पूर्ण बारहमासा दे सकेंगे, और न उसका अधिकांश ही, केवल पाँच-छः चुनी हुई विरही की आकांक्षाओं का उल्लेख करके आगे बढ़ेंगे; क्योंकि लेख आवश्यकता से अधिक बढ़ता जा रहा है।

प्रिय आया और चला गया। तब से अब तक लौटकर न आया। वसन्त व्यर्थ ही बीता जा रहा है। प्रेमी को अपना जीवन निस्सार प्रतीत होता है। प्रियहीन जीवन रखकर ही वह क्या करेगा ? होली आ रही है। होलिका पर वह अपने शरीर की भेंट चढ़ा देगा—

"आइ जो प्रीतम फिरिगा, मिला न आइ बसन्त।
अब तन होली घालिकै, जारि करौं भसमन्त॥"

अपने को भस्मसात् करते-करते भी विरही की एक ही अभिलाषा रहेगी। क्या हुआ, यदि अपने जीवन में वह प्रिय-दर्शन न कर सका ? अब भी यदि पवन उसकी राख को उड़ाकर उस मार्ग पर डाल दे, जिधर से उसका प्रियतम निकले, तो अहोभाग्य ! वह कहता है—

"यह तन जारौं छार कै, कहो कि पवन उड़ाव।
मकु तेहिं मारग उड़ि परै, कन्त धरै जहँ पाव॥"

मरने पर भी भस्म के रूप में ही सही, प्रिय के चरण-स्पर्श की यह मीठी ललक विरही के वियोग-तत्त्व का सार पदार्थ है।

अपनी अर्ध-दग्ध अवस्था में भी, जब शरीर का मांस खाकर बुभुक्षित विरह हाड़ों को चबाना आरम्भ कर देता है तब विरही प्रिय-आगमन के लिए अत्यन्त ही करुण प्रार्थना करता है। इस अवस्था में भी यदि उसका प्रिय आ जाय, तो उसके शुभागमन-समाचार के श्रवण-मात्र से ही यह दुर्द्धर्ष काल-रूपी विरह अवश्य भाग जायगा—

"अधजर भयउँ माँसु तन सूखा।
लागेउ बिरह काल होइ भूखा॥
माँसु खाइ अब हाड़न्ह लागै।
अबहुँ आव, आवत सुनि भागै॥"

परन्तु यह करुण प्रार्थना भी व्यर्थ गई। उस समय भी प्रिय न आया। तो क्या विरही की समस्त तपस्या व्यर्थ जायगी ? जीवन भर जिसके नाम की रट लगाये रहा, क्या वह इस अन्तिम समय में भी न मिलेगा ? कोई आश्चर्य नहीं, यदि वह न मिले। तब विरही, प्रिय-दर्शन की लालसा के साथ ही, अपने प्राणों को आराध्यदेव पर न्योछावर कर देगा। प्राण त्यागने के बाद, सम्भव है, गिद्ध, काग आदि उसके शरीर का मांस नोच-नोचकर खाना पसन्द करें। ऐसे काग से विरही की यही प्रार्थना होगी कि वह उसके मांस को वहीं ले जाकर खाय, जहाँ उसका प्रियतम उसे देख सके—

"कहौ काग अब तहँ लेइ जाहीं।
जहँवाँ पिउ देखै मोहि खाहीं॥"

विरही धन्य है ! उसका प्रेम धन्य है ! उसका शरीर राख हो गया है, फिर भी वह सजीव हो जायगा, यदि इस अवस्था में भी प्रिय-स्पर्श हो जाय। प्रिय-मिलन से उसकी भस्म नवीन और सुन्दर शरीर धारण करने लगी—

"अबहुँ जियावहु कै मया, बिथुरी छार समेट।
नइ काया, अवतार नय, होइ तुम्हारे भेंट॥"

जब विरही, प्रिय-स्पर्शमात्र से ही, अपना समस्त कष्ट दूर कर सकता है, तब प्रियतम के पास क्यों नहीं चला जाता ? इसका भी कारण है। प्रेमी के पैर और पंख होते हैं। परन्तु विरही के पैर नहीं होते, तो पंख की कौन-सी बात ! प्रिय-वियोग उसकी समस्त भावनाओं पर अधिकार जमाकर उसे पंगु कर देता है वह कठिनाइयों से न डरकर भी, अपनी असमर्थता का अनुभव कर प्रिय की ओर अग्रसर नहीं होता। नागमती कहती है—

"परबत समुद अगम बिच, बीहड़ घन बन ढाँख।
किमिकै भेंटौं कंत तुम्ह ? ना मोहिं पाँव न पाँख॥"

किन्तु इस असमर्थता की दशा में भी यदि कोई आकर विरही के प्रियतम का समाचार दे बतावे, कि उसका प्रियतम अमुक स्थान पर है तो वह बड़ी आतुरता से विनयपूर्वक, उस सन्देशवाहक से मार्ग-प्रदर्शन की प्रार्थना करेगा। दिल्ली से योगिन के आकर रतसेन का समाचार कहने पर पद्मिनी कहती है—

"पाँय देहि दुइ नैनन्ह लाऊँ।
लेइ चलु तहाँ कंत जेहि ठाऊँ॥
जिन्ह नैनन्ह तुम देखा पीऊ।
मोहि देखाउ देहुँ बलि जीऊ॥
सत औ धरम देहुँ सब तोही।
पिउ के बात कहै जो मोही॥"

प्रियतम का तनिक-सा सन्देश सुनानेवाली के चरणों पर अपना 'सत' और 'धरम' सहर्ष चढ़ाने को प्रस्तुत विरहिणी को अपने अंग-वस्त्रों की स्वच्छता आदि का ध्यान क्यों रहने लगा ! भला शृंगार-सामग्री को देखने मात्र से ही पूर्व की सुखद स्मृतियों का जो प्रचार झंझा बहेगा, उसमें पड़ने की शक्ति विरहिणी में कहाँ ? पद्मिनी की भी कुछ ऐसी ही दशा है:—

"सेंदुर चीर मैल तस, सुखी रही जस फूल।
जेहि सिंगार पिय तजिगा, जनम न पहिरै भूल॥"

प्रिय-विरह की अवस्था में विरही के लिए किसी प्रकार के सुख का अस्तित्व नहीं रहता। जिसके कारण जीवन में रस था, जब वही नहीं, तब आनन्द कहाँ ? उसके लिए तो प्रत्येक वस्तु सुषमा-शून्य, मिष्टान्न भी कड़वा, सुचिक्कन वस्तु भी रूखी लगती हैं। देवपाल की दूती से पद्मिनी कहती है —

"का तोर छुवौं पकावन, गुरु कड़वा, घिउ रूख।
जेहिमिलि होत सवाद रस, लेइ सो गयउ पिय भूख॥"

विरह की इस दशा में एकमात्र प्रिय का सन्देश ही मीठा लग सकता है। उसकी आँखें सदैव सन्देश-वाहक के मार्ग पर ही लगी रहती हैं। संभव है, कोई आता हो। पक्षी को विरह-व्यथा सुनाते समय नागमती कहती है—

"पखि ! आँखि तेहि मारग, लागी सदा रहाहिं।
कोइ न सँदेसी आवहिं, तेहिक सँदेस कहाहिं॥"

वर्षा आती है, रस बरसाकर चली जाती है। वसन्त और हेमन्त आते, अपना सुख दिखाकर चले जाते हैं। कोयल और पपीहा भी गीत सुनाते ही रहते हैं। इन सबके कारण विरहिणी अत्यन्त व्यथित होती है। क्या उसके प्रिय को ये सब दुखी न करते होंगे ? परन्तु यदि ऐसा होता, तो उसका प्रियतम सन्देश क्यों न भेजता ? उसे निश्चय सा होने लगता है कि वहाँ वे सब होते ही नहीं !

"नहिं पावस ओह देसरा, नहिं हेवंत वसंत।
ना कोकिल न पपीहरा, जेहि सुनि आवै कंत॥"

प्रिय-मिलन के अभाव में विरहिणी को चारों तरफ़ अँधेरा-ही-अँधेरा दिखाई पड़ता है। उस अंधकार से चन्द्रमा छिप जाता है, नक्षत्र रो उठते हैं, पृथ्वी आकाश कालिमामय हो जाते हैं—

"कैसेहु विरह न छाँड़ै, भा ससि गहन-गरास।
नखत चहूँ दिशि रोवहिं, अंधर धरति-अकास॥"

इस तरह से संसार के प्रत्येक पदार्थ पर विरही के दुःख की छाया पड़ते देखना केवल कल्पना का काम नहीं। अत्यधिक भावनामयी कल्पना ही विरह के विशद प्रभाव का मधुर व्यंजना कर सकती है।

कहानी
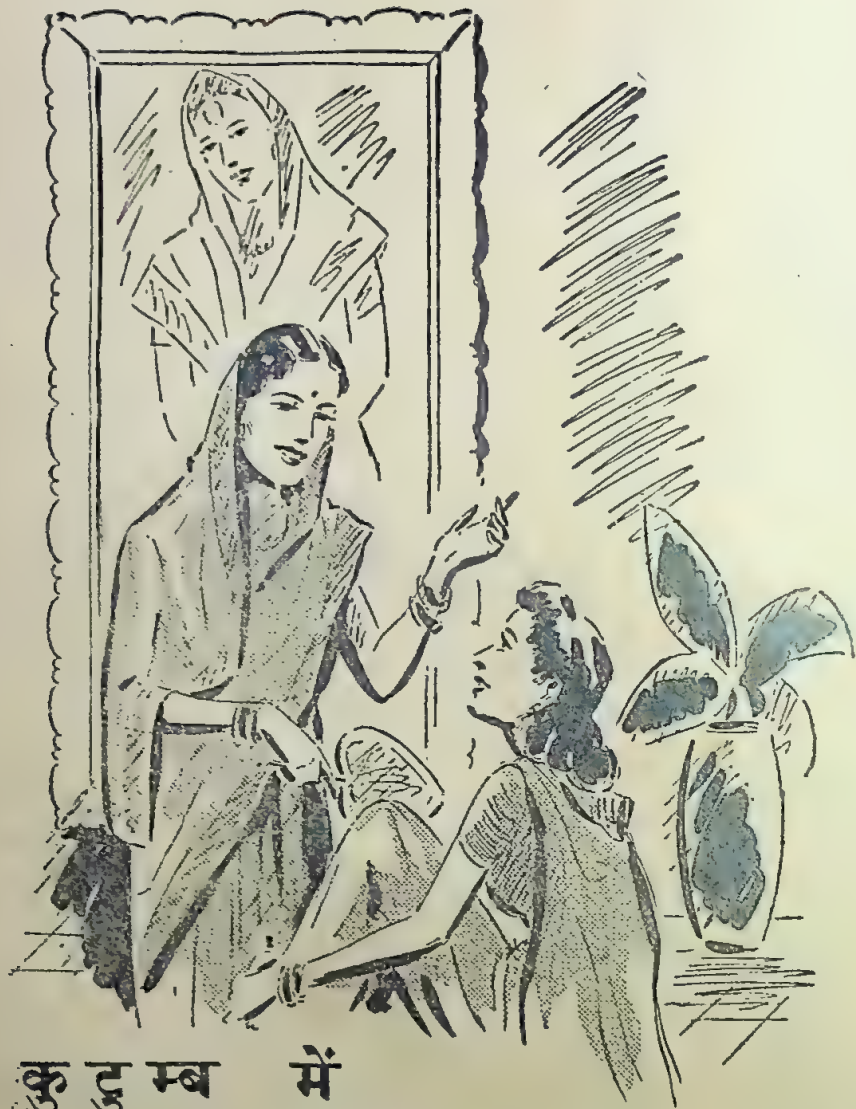
पत्रों का चमत्कार

श्रीनरेंद्रलाल साह जगाती

"कहीं काम ढूँढ़ लो, जहाँ भी मिले, मुझसे तो रोज़-रोज़ के ताने नहीं सहे जाते।" राम की पत्नी करुणा ने पति से कहा।

राम बिना कुछ उत्तर दिये चला गया। जुलाई का महीना था और राम दिन भर नौकरी पाने की आशा में दर-दर की ख़ाक छानता रहा, किन्तु हर जगह से उसे यही इनेगिने शब्दों में उत्तर मिलते—'आवश्यकता नहीं है', 'जगह ख़ाली नहीं है', 'वेरी सॉरी', 'आगे बढ़ो', 'यहाँ जाओ, वहाँ जाओ' इत्यादि-इत्यादि। राम कोशिश करता और अपना-सा मुँह लेकर निराश लौट आता।

यह क्रम जारी रहा। राम रोज़ जाता और ख़ाली हाथ लौट आता।

एक दिन राम निराश कड़कती धूप में लौट रहा था। तमाम कपड़े पसीने से तरबतर हो गये थे। माथे से पसीने की धाराएँ छूट रही थीं और प्यास के मारे दम निकला जा रहा था। वह साइकिल रखकर ज्यों ही अन्दर घुसा, कृष्णचन्द्र ने अपने पास बुलाकर हुक़्क़े का एक लम्बा कश खींचते कहा—"राम, सांड़ की भाँति पड़े-पड़े रोटी तोड़ते शरम नहीं आ रही। यदि तुम्हीं काम करने से जी चुराओगे तो तुम्हारा अनुज भी फिर अजगर की भाँति डोलने लगेगा।"

राम का मुँह उतर गया। उसने हाथ मलते हुए डरते-डरते उत्तर दिया, "मैं तो भरसक प्रयत्न कर ही रहा हूँ किन्तु.... ..."

बात पूरी समाप्त होने के पहले ही कृष्णचन्द्र बोल उठे, "किन्तु-किन्तु सुनते-सुनते तो मेरे कान भर गये हैं। इतनी बड़ी दुनिया में कहीं काम ही नहीं मिल रहा है। साफ़-साफ़ यह क्यों नहीं कहते कि काम करने की लगन नहीं है। बाप की कमाई देख ही रक्खी है। तोड़े जा रहे हैं. माले मुफ़्त दिले बेरहम उड़ाये जाओ। राम, मैंने तुम्हें पढ़ा-लिखा दिया तुम्हारा ब्याह कर दिया, आदमी बना दिया, अब ज़रा हाथ-पाँव हिलाना भी सीखो।" एक कश लम्बा-सा और लिया।

यह सुनकर राम पानी-पानी हो गया। चेहरा पीला पड़ गया और नेत्र झुक गये। "ओह्!" राम सोचने लगा, "इस बेइज़्ज़ती की ज़िन्दगी से तो मौत अच्छी।" राम अपने कमरे में जाकर बिस्तरे में लेट गया।

राम को अपने जीवन से घृणा हो गई थी। आजकल की शिक्षा से नफ़रत हो गई थी। अपने घर से भी वह विमुख हो गया था। कई बार आत्महत्या करने वह रेल की पटरी की ओर बढ़ा और फिर न-जाने क्या सोचकर वह जीवित ही लौट आया।

× × ×

आज कृष्णचन्द्र प्रसन्न थे। उन्होंने राम को बुलाया और एक पत्र उसे पढ़ने को दिया। पत्र पढ़ चुकने पर कृष्णचन्द्र ने पूछा, "क्या कहते हो?"

"ठीक है, जाऊँगा।"

"आज २९ ता० है। पहली तारीख़ से काम हाथ में लेना पड़ेगा। इसलिए मेरी राय में परसों चले जाना, यही ठीक रहेगा।"

राम अपने कमरे में वापस आया तो हँसी मुँह में खेल रही थी। "क्यों क्या बात है? बड़े ख़ुश हो रहे हो।" करुणा ने पूछा, "क्यों बुलाया?"

"करुणा, भगवान् ने सुन ली, मुझे नौकरी मिल गई।"

"नौकरी मिल गई! आह, प्राणनाथ", करुणा ने राम को अपने बाहुपाशों में आबद्ध कर लिया। वह राम के कपोलों को सहलाने लगी। "कितने रुपये मिलेंगे?"

"एक सौ पाँच और दो सौ तक बढ़ सकते हैं।"

"एक सौ पाँच! एक सौ पाँच, दो सौ! एक सौ पाँच!" करुणा हर्षोन्मत्त हो गई और राम के अधरों से अपने अधर मिला लिये।

करुणा का प्यार का पात्र लबालब भर गया था और ज़रा-से भी आवेश में छलक पड़ता था।

"मुझे परसों जाना है करुणा।"

"कहाँ?" करुणा चौंकी।

"कानपुर। नौकरी पर।"

"कानपुर!" करुणा का खिला चेहरा कुम्हला गया। "मैं ...।" करुणा दीनता से राम की आँखों को देखने लगी।

"घबराओ मत करुणा, मैं घर मिलते ही तुम्हें बुला लूँगा।" राम ने प्यार करते हुए करुणा को ढाढ़स दिया।

करुणा की आँखें डबडबा आईं।

× × ×

—भवन
आगरा
१४—९—३३

हृदयेश्वर,

........मेरे लिए चारों दिशाओं में अब कालिमा का राज्य छा गया। श्मशान से अधिक निस्तब्धता.... आह, प्यारे प्रीतम आँखों से ओझल होते ही मुझे दो घंटे तक अपनी सुध ही न रही। प्राणनाथ, तुम मुझे अकेले कैसे छोड़ गये? तुम्हारा हृदय....। पहले मिलन था, अब बिछोड़ हो गया। मैं दिन में कई बार तुम्हारी फ़ोटो से बातें करती हूँ किन्तु तुम्हारी फ़ोटो मूक बनी रहती है, मेरी बातों का उत्तर नहीं देती। जब मैं दर्पण में अपना आनन देखती हूँ तो मुझे तुम्हारा ही रूप अपने नैनों की पुतलियों के अन्दर दृष्टिगोचर होता है........श्याम से भी बातें करने को जी नहीं करता। वह मेरे पास 'भाभी-भाभी' कहते हुए आता है और........तुमने लिख रक्खा था एक घर मिल गया। पास-पड़ोस भी अच्छा है, सस्ता भी है, तो अब मुझे कब बुलाते हो........मेरा मन भी पत्र के अन्दर घुसकर कानपुर आने को कर रहा है........शीघ्र बुलाइए नाथ........।

तुम्हारी प्रेम बावरी
करुणा

× × ×

—भवन
आगरा
१—११—३३

प्राणनाथ,

........तुमने पत्र में लिखा था, "नौकरी ही हुई। फिर मिल की नौकरी। कानपुर की जलवायु, तमाम धूल ही धूल और धुआँ ही धुआँ। काम बहुत। सवेरे दस बजे से शाम के छः-सात बज जाते हैं। मेरा स्वास्थ्य भी दिन पर दिन गिरता जा रहा है........" यह पढ़कर मुझे बहुत चिन्ता हो गई। तब से तुम्हारे ही सोच में घुली जा रही हूँ। तुम मुझे बुला क्यों नहीं रहे हो। मैं कब तक तारे गिन-गिनकर रात काटूँ.... ....काम अधिक, सेवा-टहल करनेवाला कोई नहीं। तभी तो अधिक बोझ पड़ने के कारण तुम स्वास्थ्य खो रहे हो........मुझे तनख़्वाह भेजने की कोई आवश्यकता नहीं। जब जान तब जहान। ख़ूब फल, दूध, घी, मक्खन, अण्डे, शाक-भाजी, तर-तर माल खाया करो। तभी स्वास्थ्य लाभ होगा........मुझे रुपये-पैसे, सारियाँ ज़ेवर कुछ नहीं चाहिए। मैं सिर्फ़ तुम्हें चाहती हूँ, सिर्फ़ तुम्हें नाथ........फिर मैंने तुम्हारी फ़ोटो से कहा, 'मेरे प्यारे प्राणनाथ, एक बार तो मुझसे करुणा कहो" क्या यह पत्र मेरे बिछुड़े प्रीतम के प्यारे-प्यारे हाथों में होगा?

तुम्हारी प्यासी
करुणा

× × ×

इसी भाँति राम और करुणा के पत्र-व्यवहार जारी रहते, किन्तु इधर दो महीने से राम का करुणा को कोई पत्र नहीं आया। करुणा ने दो-तीन पत्र राम को भेजे, किन्तु उनका भी कोई उत्तर न आया।

करुणा के हृदय में अशुभ आशंकाएँ उठने लगीं। उसके हाल बेहाल हो गये। वह चिन्ता के मारे दिन-प्रतिदिन घुलने लगी। अब जब हँसती भी तो कपोलों में गढ़े पड़ जाते। गुलाबी कपोल पीतवर्ण हो गये। निरन्तर आँखों में आँसू ही विद्यमान रहते। हँसी विषाद में छिप गई थी। उसे रह-रहकर यही याद आता—'अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी, आँचल में है दूध और आँखों में पानी।'

कृष्णचन्द्र प्रसन्न थे। सोचते थे, रोज़गार में लग गया। कमाने लग गया। मेरी लालसा पूरी हो गई। अब बिगड़ने भी नहीं पावेगा। एक-आध साल में पूर्ण गृहस्थी बन जायगी। तरक़्क़ी भी हो जायगी। आटे-दाल का क्या भाव होता है, रुपया कैसे कमाया जाता है—सब मालूम हो जायगा, इत्यादि-इत्यादि।

आशाओं और आशंकाओं के मध्य दिवस दौड़ते जा रहे थे कि एक दिन अकस्मात् कानपुर से राम के एक मित्र का तार कृष्णचन्द्र के नाम आया। 'कम सून, कंडीशन सीरियस' (जल्दी आओ, हालत नाज़ुक है।) तार कृष्णचन्द्र के हाथ से गिर गया। वे सिर थामकर रह गये। जब करुणा से कृष्णचन्द्र ने यह अशुभ-सन्देश कहा तो वह सुनते ही अचेत हो गई। जब सचेत हुई तो रोने लगी। कृष्णचन्द्र ने करुणा को आश्वासन दिया—"बेटी घबरा मत, शीघ्र

ही ठीक हो जायगा। चल तैयार हो.......।" इससे करुणा को सान्त्वना तो पहुँची किन्तु हृदयपटल में पानी के बुलबुलों की भाँति अनेक भाव उथल-पुथल मचाने लगे। कुविचार सुविचार को दबाने लगे। करुणा का हृदय दहल गया और एक आह निकलकर रह गई।

× × ×

कृष्णचन्द्र, करुणा-श्याम और एक नौकर को लेकर कानपुर पहुँचे × × × राम पलँग पर अचेत लेटा था। आज तीसरा दिन था अचेतनावस्था का।

राम की यह दशा निहारकर करुणा पति के चरण पकड़कर रोने लगी। बड़ी कठिनता से समझा-बुझाकर अन्य लोगों ने करुणा को अलग किया।

× × ×

पाँच दिन हो गये, न प्राण ही निकल रहे थे और न चेतनता ही आ रही थी। बस, वही अचेतन अवस्था थी। दुर्बल इतना हो गया था कि एक-एक हड्डियाँ गिनी जा सकती थीं। कृष्णचन्द्र ने दिन का चैन रात की नींद सब अपने पुत्र की प्राणरक्षा में न्योछावर कर दी। रोते-रोते करुणा की आँखें सूज आई थीं। अशुभ भावना दोनों के हृदय में बलवती हो गई थी। रुपया पानी की भाँति बहाया जा रहा था। प्रायः सब ही विख्यात डाक्टरों को दिखला दिया था और वे जवाब दे चुके थे।

"बस, एक-दो घड़ी का मेहमान है।" यह जब कानपुर के सिविल सर्जन ने कृष्णचन्द्र से कहा तो उनके पाँवों से ज़मीन खिसकने लगी। करुणा फूट-फूटकर रोने लगी। कृष्णचन्द्र के भी आँसू आ गये। वे धम् से मुर्दार हो पास ही रक्खी कुर्सी में बैठ गये।

एक दिन और निकल गया और हालत वैसी की वैसी ही रही। करुणा को न भूख थी, न प्यास, बस, उसका एक ही काम था दिन-रात रोना। कृष्णचन्द्र तो राम के जीवन से निराश हो ही चुके थे। वे तो सब कुछ करके हार चुके थे।

किन्तु अभी एक डाक्टर निराश न हुआ था। वह आविष्कारक था और उसने अपनी आविष्कार की हुई कई दवाइयाँ इंजेक्शन आदि राम पर आज़माईं। यथार्थ में वह इलाज नहीं, बल्कि अपनी दवाइयों की परीक्षा कर रहा था। वह डाक्टर दिन भर मरीज़ के निकट बैठा रहता और उसे निहारा करता। न मालूम क्या देखता था। फिर रात को अपने घर में जाता और काफ़ी रात तक अपनी लेबोरेटरी (Laboratory) में रहता।

"डाक्टर साहब बचने की आशा है ?" कृष्णचन्द्र ने डाक्टर से दवा पिलाने के उपरान्त पूछा।

"देखो, प्रयत्न तो मैं भरसक कर रहा हूँ। कह नहीं सकता।"

"डाक्टर साहब जैसे भी हो, अब हमारी आँखें सिर्फ़ आप........"

"घबराइए मत। भगवान् ने चाहा तो अच्छे हो जायँगे।"

"अच्छे हो जायँगे" ये शब्द करुणा को अमृत-तुल्य लगे। पल भर के लिए उसके आनन से विषाद की छाया मिट गई। उसकी इच्छा हो रही थी कि वह डाक्टर से एक बार और पूछे। करुणा से रहा नहीं गया और पूछ ही तो लिया—"डाक्टर साहब कब तक अच्छे हो जायँगे।"

"बिटिया, घबराओ मत, शीघ्र ही अच्छे हो जायँगे।"

सातवें दिन राम को कुछ-कुछ चेतना आने लगी। डाक्टर का चेहरा खिल उठा। कृष्णचन्द्र को भी आशा बँधी। करुणा का हृदय डाक्टर को मन ही मन में सहस्रों आशीष देने लगा। डाक्टर ध्यानपूर्वक राम की परीक्षा ले रहा था।

राम ने आँखें खोलीं और उसकी दृष्टि करुणा पर पड़ी। वह टकटकी बाँधे करुणा को देखता ही रह गया। एक क्षीण मुस्कान राम के अधरों में दौड़ गई। करुणा से न रहा गया और वह "नाथ" कहती हुई पलक मारते-मारते राम के हृदय से लिपटकर रोने लगी।

"बेटा राम।" कहकर कृष्णचन्द्र की आँखों से भी आनन्दाश्रु छलक पड़े।

पाँच-छः मिनट के पश्चात् राम पुनः अचेत हो गया। विकसित आनन फिर मुर्झा गये। चारों ओर ग़मी का साम्राज्य छा गया। क्या वह बुझते दीपक की अन्तिम लौ थी ?

कृष्णचन्द्र तो अब शत-प्रतिशत निराश हो चुके थे। उन्हें राम के बचने की अब कोई आशा न रह गई थी। परन्तु डाक्टर अब भी जी-जान से प्रयास कर रहा था। उसने होश में लाने की कई दवाइयाँ आज़-माईं, किन्तु फल कुछ न निकला। अब डाक्टर का भी साहस हार गया। उसने कृष्णचन्द्र से कहा, "No hope now. Last attempt tomorrow

it...." (अब कोई आशा नहीं है। कल मैं अन्तिम प्रयत्न करूँगा अगर........)

डाक्टर घर वापस आ गया। खा-पीकर वह सीधे लेबोरेटरी में जा घुसा और रात-भर न-जाने क्या करता रहा। सोया भी नहीं।

सवेरे डाक्टर पुनः मरीज़ के पास पहुँच गया। उसकी परीक्षा ली और "Last attempt" (अंतिम प्रयास) कहते हुए कल रात का बनाया इंजेक्शन दिया और थोड़ी देर बाद एक शीशी दवा पिला दी।

"देखो बोलना मत, मरीज़ बहुत दुर्बल है। यदि अब की बेहोशी न आई तो मुझे विश्वास है, आपका पुत्र बच जायगा।" यह आज्ञा देते हुए डाक्टर दवा का असर देखने लगा। देखते-देखते राम होश में आने लगा। उसकी नाड़ियाँ और हृदय की धड़कन तेज़ होने लगी। फिर थोड़ी देर बाद ही उसने आँखें भी खोल दीं। एक बार पुनः हर्ष का वातावरण छा गया।

× × ×

पाँच दिन व्यतीत हो गये। राम शनैः-शनैः चंगा होने लगा। फिर बात ही बात में एक हफ़्ता और निकल गया। राम शीघ्रता से स्वास्थ्यलाभ करने लगा। वह अब उठने-बैठने, चलने-फिरने योग्य हो गया। यह देख डाक्टर की प्रसन्नता का ठिकाना न रहा। करुणा भी हर्ष से उन्मत्त हो गई। अब उसका रूप फिर निखरने लगा। कृष्णचन्द्र तो डाक्टर साहब के चरणों में नतमस्तक हो गये, आशीर्वादात्मक वचनों से डाक्टर को लाद दिया और पाँच सौ का एक चेक, दवा के दामों के अलावा, डाक्टर को उपहार-स्वरूप भेंट किया।

यह तो सब हुआ, किन्तु एक अत्यंत आश्चर्यजनक परिवर्त्तन राम के मस्तिष्क में हो गया। वह अपने अतीत की सब बातें भूल गया। यहाँ तक कि न तो वह पिता को पहचान सका और न करुणा और श्याम को।

राम कृष्णचन्द्र से कहता, "आपने मेरी जान बचाई है। इस उपकार के ऋण से मैं जन्म भर उऋण नहीं हो सकता।"

"बेटा, तो एक बात हमारी भी मान लो।" कृष्णचन्द्र ने कहा।

"कहिए, आप जो कुछ कहेंगे मैं उसे शिरोधार्य करूँगा। मैं कृतघ्न नहीं बनूँगा।"

"अब तुम हमारे ही घर में रहोगे। आशा है, तुम ना नहीं कहोगे।"

राम की आँखों में प्रेमाश्रु छलछला आये। वह कृष्णचन्द्र के चरणों में नतमस्तक हो गया और मौन सम्मति प्रकट कर दी।

डाक्टर चकित था, यह सब अतीत की बातें भूल क्यों गया। डाक्टर सोचने लगा, "यह सब उसके इंजेक्शन का फल तो नहीं है? अब इसकी क्या दवा हो....।" परन्तु कृष्णचन्द्र, करुणा और अन्य सगे-सम्बन्धी इतने में ही अति प्रसन्न थे कि जान बच गई और डाक्टर को कोटिशः धन्यवाद दे रहे थे। उनका कहना था कि राम का पुनर्जन्म हुआ, तभी वह भूतकाल की सब बातें भूल गया।

× × ×

राम आगरे आ गया। वही आगरा शहर था। वही पुराना घर था। वही चिरपरिचित मुहल्ला था। वही सड़कें थीं। किन्तु राम के लिए हर वस्तु नई थी। वह हरएक वस्तु ऐसे देखता, मानो वह आगरे पहले-पहल आया हो।

× × ×

करुणा का सौन्दर्य निखर आया था। राम भी पूर्ण स्वस्थ हो गया था। करुणा को अब सिर्फ़ यह चिन्ता सताती थी कि राम सब कुछ भूल गया और उसे भी भूल गया। परन्तु इससे क्या, करुणा का सुहाग तो लौट आया था। अब करुणा को सिर्फ़ एक काम रह गया, किसी-न-किसी भाँति राम को अपनी ओर आकर्षित करना। वह आठों पहर राम के पास रहती। उससे खेलती, हिलमिलकर बातें करती। उसका काम करती। उसको कभी ताजमहल दिखाती तो कभी लाल क़िला। कभी सिकन्दरा तो कभी फ़तेहपुर सीकरी। राम भी करुणा से अब खूब हिलमिल गया था। कभी करुणा के आने में देर हो जाती तो वह व्याकुल हो जाता। उसका दिल छटपटाने लग जाता। उसे प्रतीत होता, मानो कुछ खो गया है। कभी-कभी वह सोचने लग जाता, "आह, यदि मेरी और करुणा की शादी हो जाती।" कभी सोचता और निश्चय करता, "अच्छा, आज मैं करुणा के आगे शादी का प्रस्ताव रक्खूँगा।" किन्तु जब करुणा आती तो लाज के मारे राम के मुँह से ऐसा एक शब्द भी नहीं निकलता।

दिन गुज़रने लगे और संकोच भी दूर होने

लगा। प्रेम का पौदा भी बढ़ने लगा, टहनियाँ भी उगने लगीं और अंत में पौदा बड़े वृक्ष में परिणत हो गया।

एक दिन राम ने हँसते-हँसते करुणा को अपने भुजपाशों में आबद्ध कर प्यार से उसका चुम्बन ले लिया और तदुपरान्त वक्ष से लगा लिया। करुणा तो यह चाहती ही थी। उसकी मनोवांछित इच्छा पूर्ण हो गई। अब उसे कोई चिन्ता न रही, उसे उसका प्रियतम मिल गया था। उसने राम का आलिंगन कर लिया। राम निहाल हो गया। "करुणा, मैं तुमको प्यार करता हूँ। और...."

"और क्या ? बोलो।"

"मैं तुमसे ब्याह....राज़ी हो।"

करुणा ने सिर हिलाकर अपनी सम्मति दे दी।

"करुणा !" राम ने उसे हृदय से चिमटा लिया।

× × ×

जब राम और करुणा में ख़ूब प्रगाढ़ घनिष्ठता और प्रेम हो गया तो करुणा ने खेल ही खेल में राम से कहा, "मैंने तुम्हारे लिए एक चीज़ बड़े यत्नपूर्वक छिपाकर रक्खी है, बताओ क्या होगी ?"

"क्या है दिखाओ तो।"

"वाह, क्यों दिखाऊँ, बताओ पहले।"

"नहीं दिखाती हो ?"

"नहीं।"

राम ने करुणा को पकड़ लिया और गुदगुदाने लगा। "नहीं बताती हो, बोलो, बोलो।"

"अच्छा-अच्छा, छोड़ दो। बहुत हो गया। हँसते-हँसते दम निकला जा रहा है। अब मत करो। बताऊँगी।"

राम ने छोड़ दिया। करुणा उठी, बक्स खोला और राखी से बँधे, यत्न से सँभाले राम के प्रेम-पत्रों को उठा लाई।

"दिखाओ-दिखाओ, क्या है।"

"नहीं।" करुणा राम को छकाने भाग गई। राम भी कब छोड़नेवाला था। वह भी करुणा के पीछे दौड़ा। उसने पत्रों का बण्डल ब्लाउज़ के अन्दर डाल लिया। राम ने उसे करबद्ध कर लिया और ब्लाउज़ के अन्दर से पत्र निकालने लगा। करुणा आनाकानी करने लगी। किन्तु राम ने पत्र निकाल ही लिये। करुणा तो खेल रही थी और वास्तव में उसके लिए यह खेल ही था। वह भी राम से सटकर बैठ गई, अपना एक हाथ राम की गरदन में डाल दिया और राम को देखकर मन्द-मन्द मुस्कुराने लगी।

राम एक-एक पत्र पढ़ता जाता था और इसके साथ ही उसके चेहरे का रंग भी बदलते जाता था। अन्तिम पत्र पढ़ते-पढ़ते राम की मुद्रा कठोर हो गई और यह देखकर करुणा का भी दिल बैठने लगा।

सब पत्रों को पढ़ चुकने के उपरान्त राम क्रोध से उन्मत्त हो गया और "चरित्रहीन, कलंकिनी" कहते हुए अपने ही हाथों से लिखे पत्रों को अपनी ही करुणा के मुँह पर दे पटका। "मैंने तुझे बदचलन नहीं समझा था, मैं अभी तक तुझे निर्मल, पवित्र तथा चरित्रवती समझे था। मैं तुझसे ब्याह करना चाहता था। परन्तु तू ऽ, तू ऽ ऽ....।" राम दाँत पीसते हुए उठकर चला गया।

करुणा हतबुद्धि खड़ी देखती रह गई। तत्पश्चात् तत्काल ही वह "नाथ-नाथ" कहती हुई राम के पीछे दौड़ी और दरवाज़े पर राम के चरणों को पकड़ लिया।

"क्या है, छोड़ मुझे।"

"नाथ, यह तुम्हारे ही पत्र हैं।"

"मेरे पत्र ! अब मुझे कलंक का टीका लगा रही है ? अभी मेरी शादी भी हुई है, जो मैं तुझे पत्र लिखता ?"

"नाथ तुम भूल गये, मैं तुम्हारी पत्नी हूँ करुणा।"

"मेरी पत्नी ! बिना शादी हुए पत्नी ! एक नीच औरत। मैं और तुझ-जैसी कलंकिन से शादी करता, छोड़ मेरा रास्ता, मुझे बहकाती है ? चल दूर हट।" करुणा को पैर से ठुकराकर राम चला गया। करुणा देखती रह गई। उसके नेत्रों से अश्रुओं की अविरल धारा बहने लगी।

× × ×

इस घटना को एक महीना बीत गया। किन्तु राम ने एक दिन भी करुणा से प्रेमपूर्वक बातें न कीं। वह रोई, गिड़गिड़ाई, माफ़ी माँगी, परन्तु राम का हृदय न पिघला।

राम रात तक ताजमहल की निकटवर्ती बेञ्च पर बैठा रहता और ताज की शोभा निहारा करता। "मुमताज तुम धन्य हो। तुम्हारा प्रेम धन्य है, जो तुमने शाहजहाँ-जैसा पति पाया।" राम सोचता। "तुम्हारे प्रेमी ने तुम्हारा नाम अमर कर दिया। सम्पूर्ण संसार में तुम्हारी कीर्ति फैला दी। तुम्हारी याद में ताज-जैसी अद्वय-अपूर्व चीज़ का निर्माण कर गया।"

राम रात को घर देर से पहुँचता और करुणा का दिल बैठने लग जाता। वह इसका मतलब और लगाती। कई दिन तो उसने स्वयं ही राम से पूछा, परन्तु राम सीधे मुँह बात ही नहीं करता था। उत्तर देना तो दूर रहा। कभी तबियत आ गई तो झिड़क दिया, "तुझसे मतलब? त कौन है मुझसे बातें पूछनेवाली। नीच औरत, कुलटा। जैसी आप है वैसा ही दूसरों को समझती है। पतित।"

करुणा के आँसू आ जाते। झूठे लांछन लगाये जाने पर वह दिल मसोस कर रह जाती।

× × ×

अंत में करुणा से न रहा गया। वह कृष्णचन्द्र से राम का दूसरा ब्याह कर देने का हठ करने लगी। "यदि आप उनका ब्याह न कर देंगे तो भयंकर परिणाम होगा।" वह रोने लगी, "आजकल वे न जाने कहाँ रहते हैं और रात को बहुत देर से आते हैं।"

कृष्णचन्द्र ने करुणा को ऊँच-नीच समझाया, "बेटी, अपनी सोच, तेरा क्या हाल होगा। मुझसे तो ऐसा अमानुषिक कार्य न हो सकेगा........"

किन्तु करुणा न मानी। "बापू, उनकी शादी में ही मुझे प्रसन्नता होगी। उनकी ख़ुशी मेरी ख़ुशी है, उनका दुःख मेरा दुःख है। उनका जीवन ही मेरा जीवन है। उनकी भलाई करना मेरा कर्तव्य है।"

"बेटी, यदि तुम ऐसा ही कहती हो तो मैं वही करूँगा, जिसमें तुम्हें ख़ुशी हो। तुम्हारा हृदय प्रसन्न हो। किन्तु फिर भी मेरा दिल............"

"नहीं बापूजी। मुझे भी उठने-बैठने, हँसने-बोलने को एक साथी मिल जायगा। मेरी बात आपको स्वीकार करनी ही पड़ेगी। 'हाँ' कह दीजिए।"

"अच्छा।"

× × ×

राम का शीला से ब्याह हो गया। बहू घर में आई और करुणा को बड़ी शान्ति मिली। राम भी प्रसन्नचित्त नज़र आता। शीला भी राम से प्रसन्न थी। दोनों एक-दूसरे को पाकर ख़ुश थे। इधर कृष्णचन्द्र और करुणा भी प्रसन्न थे। श्याम तो अति प्रसन्न था। उसकी अब दो भाभियाँ हो गई थीं।

शीला करुणा से ख़ूब वार्तालाप करती। ऐसा प्रतीत होता था मानो शीला और करुणा बचपन ही से सहेलियाँ हैं। परन्तु शीला और करुणा का मेल-जोल राम को फूटी आँखों भी नहीं सुहाता था। एक दिन राम ने करुणा को डाँट ही तो दिया। "तू कुलटा और पतित है। तेरी छूत का रोग कहीं शीला को न लग जाय। संगति का फल बुरा होता है। ख़बरदार यदि आज से मेरी पत्नी से बोली।"

करुणा सिर झुकाये हुए चली गई और शीला अवाक् देखती रह गई।

करुणा का अब संसार ही परिवर्तित हो गया। अब हर समय वह कृष्णचन्द्र के साथ रहती। उन्हीं का कार्य करती, उन्हीं से वार्तालाप करती और उन्हीं की सेवा करती। जब कभी वे घर में न होते तो उसका साथी श्याम होता।

× × ×

वर्षाऋतु थी। पानी की झड़ी लग रही थी। सब जगह सीलन ही सीलन पैदा हो गई थी। सात दिन बाद आज भास्कर भगवान् के दर्शन हुए थे। गगन निर्मल हो गया था। राम ने सोचा, "चलो आज अपने ऊनी कपड़े ज़रा धूप में सुखा लूँ। सीलन की बू आदि मिट जायगा।"

शीला को बुलाया और अपने सूटकेस की चाबी मँगवाई। शीला दराज़ से चाबी का गुच्छा ले आई। राम ने सूटकेस खोला और एक-एक कपड़े निकालकर शीला को देने लगा। "इन्हें धूप में सुखाने डाल आओ। सीलन चली जायगी।" शीला उन्हें एक-एक करके धूप में डालती गई। अंत में कपड़ों के नीचे राम ने सूटकेस में कुछ लिफ़ाफ़े पड़े देखे। राम को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने उन्हें उठाया और एक-एक पत्र पढ़ने लगा। यह करुणा के पत्र थे जो उसने आगरा से कानपुर भेजे थे। राम विस्मय में पड़ गया। ये पत्र उन्हीं पत्रों के उत्तर थे जो राम ने करुणा से छीनकर ज़बरदस्ती पढ़े थे। राम सोचते-सोचते सोच में डूब गया।

"किसके पत्र हैं?" शीला ने पूछा।

राम मूक रहा।

"अब कौन से कपड़े सुखाने डालूँ?"

राम पुनः मूक रहा।

"क्या मुझसे नाराज़ हो गये हो?"

राम मूक ही रहा।

"क्या मैं पत्रों को देख सकती हूँ?"

इस बार राम बोला, "नहीं।"

"क्यों?"

"मेरे निजी हैं।"

"किसके हैं ?"

राम चिढ़ गया। "सोचने भी दोगी या नहीं। काँव-काँव लगा रक्खी है। तुमसे क्या मतलब ?" कहता हुआ राम उठकर चला गया। पत्रों को जेब में डाला, साइकिल उठाई और सीधे ताजमहल के पार्क में जाकर विश्राम लिया।

इधर शीला राम के बर्ताव को देखकर किंकर्तव्य-विमूढ़ रह गई।

राम पत्रों को पढ़ता। फिर सोच में डूब जाता। पुनः पढ़ता और सोच में पड़ जाता। यह कार्य-क्रम सूर्यास्त तक चलता रहा। तत्पश्चात् शनैः-शनैः रजनी भी अपनी बाँहें फैलाने लगी। नक्षत्र भी उदय होने लगे और इसके साथ ही अतीत के स्मरण भी मस्तिष्कपटल में धुँधले-धुँधले छाया की भाँति चक्कर लगाने लगे।

राम ने पुनः पत्र पढ़े। साइकिल उठाई और घर को लौट पड़ा। रास्ते में एक कुत्ते के ऊपर साइकिल दौड़ा दी। एक इक्के से भी वह टकराया। एक बुढ़िया को ढकेल दिया। कई आदमियों से टकराते-टकराते बचा। पल-पल पर उसे 'अन्धे' की उपाधि मिलती थी। घर पहुँचते-पहुँचते एक खोनचेवाले का खोनचा गिरा दिया।

राम घर में पहुँचा। शीला बाट जोह रही थी। राम को देख उसका मन कुछ शान्त हुआ। किन्तु राम तो खोया-खोया सा था। उसने कुछ ध्यान न दिया और न एक शब्द ही बोला। वह सीधे आँगन में पड़ी कुर्सी पर बैठ गया। साइकिल रखने की भी सुध न थी। वह तो शीला ने राम के हाथ से लेकर खुद ही रख ली थी।

"खाना ले आऊँ ?" शीला ने पूछा।

राम ने कुछ उत्तर न दिया।

शीला कुछ देर देखती रही। तत्पश्चात् वह अपने ही मन से सब कुछ करने लगी। राम के आगे एक मेज़ रख दी। उसके ऊपर एक पानी का गिलास रख दिया और खाना भी ले आई।

किन्तु राम तो बस अपने हाथों की उँगलियों से माथा रगड़ रहा था।

शीला राम की कुर्सी के पीछे खड़ी हो गई और कुर्सी में लदकर अपने दोनों हाथ राम के कन्धों में रखकर बोली, "कुछ ग़लती हो गई हो तो क्षमा कर दो। या सज़ा ही दे लो। मेरा दिल न तोड़ो। नाथ, भोजन कर लो।"

राम चुप रहा। शीला वैसी ही रही। रात्रि की कालिमा बढ़ने लगी। नक्षत्रों की ज्योति तेज होने लगी। चाँद भी निकल आया। इन सबके साथ ही राम की स्मरणशक्ति भी जागने लगी। होते-होते अंत में सब धुँधलापन हट गया और अतीत की स्मृति की रेखाएँ बिलकुल निर्मल हो गईं। अब राम को स्मरण हुआ कि यह उसी का घर है जहाँ वह खेलकर इतना बड़ा हुआ। कृष्णचन्द्र उसके पिता हैं। उन्होंने उसे पढ़ाया-लिखाया। आगरा-कालेज से उसने बी० ए० पास किया। मा का देहान्त हो गया था। श्याम उसका छोटा भाई है। करुणा पत्नी०। फिर कानपुर में नौकर हुआ। इत्यादि-इत्यादि।

शीला सोच रही थी, "आज इन्हें क्या हो गया है। बोल क्यों नहीं रहे हैं। और दिन तो बग़ैर मेरे एक मिनट भी नहीं रह सकते थे। हे भगवान्...." सोचते-सोचते उसके आँसू आ गये और दो-चार बूँदें टपटप खाने की थाली में आ गिरीं।

राम ने ऊपर आँखें उठाकर देखा तो शीला रो रही थी। राम के कन्धों में उसके हाथ थे और कुर्सी के पीछे खड़ी थी।

"शीला, नहीं-नहीं करुणा-करुणा।" राम ने शीला का हाथ अपने कन्धों से हटाया और शीला से बिना दो शब्द कहे हुए करुणा के कमरे की ओर बढ़ा।

करुणा राम की आवाज़ सुनकर दौड़ी-दौड़ी वहीं आ रही थी। करुणा राम को वहीं पर मिल गई। "आपने मुझे पुकारा ?" करुणा ने राम से पूछा।

"हाँ करुणा। मेरी करुणा, मुझे क्षमा कर दो। करुणा !" राम ने करुणा को अपनी भुजाओं में आबद्ध कर लिया, तथा अपने अधर उसके अधरों से मिला लिये।

शीला आँखें फाड़-फाड़कर देखती रह गई।

"परिहास-विजल्पितम्"

(कवियों का दंगल)

श्रीपुत्तूलाल शर्मा "उद्दंड"

सम्प्रति साहित्य के क्षेत्र में कलह का तांडव हो रहा है। कवियों, लेखकों, साहित्यिकों और समालोचकों की अनुकूल-प्रतिकूल सम्मति में पारस्परिक प्रतिस्पर्द्धा से सीमातीत राग-विराग, ईर्ष्या-द्वेष एवं धड़-पकड़ मची हुई है। फलतः आधुनिक साहित्य को गुटबन्दी के गर्त अथवा दलबन्दी के दलदल में डाल दिया गया है! फिर भी शान्ति नहीं। नये-नये तर्ज़, नये-नये 'वाद' प्रत्यह प्रकाश में आ रहे हैं। ऐसी खींचतान मची हुई है कि कभी कोई निर्णय निर्विवाद नहीं हो पाता। यह सब देखकर कविकंठीरव कलानन्द ने बड़े दुस्साध्य प्रयत्न से विगत महालया की तमिस्रा में उपर्युक्त समुदाय का एक अखिल-भारतवर्षीय महासम्मेलन बुलाकर सर्व-सम्मति से यह प्रस्ताव पास करवाया कि सभी लोग अपनी कृतियों को भगवती वागीश्वरी के पास भेज दें और उनके सभापतित्व में स्वर्गीय साहित्यिकों द्वारा इसका बहुमत से निश्चय हो। अच्छा हो कि उर्दू के पारंगत पारखी भी इसमें सम्मिलित कर लिये जायँ। इस प्रस्ताव में कुछ ने यह संशोधन उपस्थित किया था कि सरस्वतीजी से इस बात की भी प्रार्थना की जाय कि वह हम सबके भावों को स-प्राण मूर्त रूप दें। कलानन्दजी ने दुराग्रह छोड़कर संशोधन को अपने मूल प्रस्ताव में शामिल कर लिया। पास होने के पश्चात् ही तत्क्षण प्रस्ताव एरोप्लेन से वीणापाणि के पास भेज दिया गया। अब टेलीफ़ोन से उन्होंने सूचित किया है कि सभी प्रणेताओं के प्रणयन 'होलिकाप्राग्दिनाष्टकम्', यानी होली से आठ दिन पूर्व आ जाने चाहिए। फाल्गुनी रजत राका की निशीथ-बेला में होली के पुनीत पर्व पर निर्णय स-विवरण ब्राडकास्ट कर दिया जायगा, और सभी को अपने आत्म-यन्त्र में सुनाई पड़ेगा। अस्तु, सभी कवियों ने अपनी-अपनी बुद्धि का व्यायाम प्रारम्भ कर दिया है, जिसका आगे दिग्दर्शन है। साथ ही स्वर्गीय साहित्यिकों के स्वर्ग से उत्साह-सम्बर्धनार्थ सभी कवियों के नाम जो तार-पर-तार आ रहे हैं, उनका उल्लेख भी द्रष्टव्य है।

श्रीवचनेशजी ने अपनी बुद्धि का बाना फेरना इस प्रकार प्रारम्भ किया है—

फीको परो रस मेरो भट्ट,
  पर वा रसवारी रसान भई;
भूषन की छवि मेरे छिपी,
  वह भूषन की है छटा न छई।
मोहन मन्त्र गुनागरी वा,
  अब वंचिता हौं गुन सों ह्वै गई;
मेरी भला किमि चाह करैं,
  कविता उनकी जो प्रिया है भई।

हास्यरसाचार्य श्रीजगन्नाथप्रसादजी चतुर्वेदी ने आपको तार दिया है कि आप धन्य हैं। हिन्दी-साहित्य में सुरुचि-पूर्ण मधुर हास्य की जो बहुत कुछ कमी थी, उसकी अब आपसे यथेष्ट श्रीवृद्धि हो रही है। आपका श्रम सर्वथा श्लाघनीय है।

श्रीवियोगीहरिजी का रोटी का राग पढ़िए—

  रोटी के गुन गैये!
'रोटी-रोटी!' रोर मच्यौ है
  रोटी भूलि न जैये!
  रोटी की बातैं हैं सारी,
  रोटी की घातैं हैं सारी,
आज मच्यो रोटी कौ रन है,
  रोटी पै रारि मचैये।
  रोटी के गुन गैये!
  रोटी सुनिए, रोटी कहिए,
  रोटी की तदबीरन रहिए,
रोटी लिखिए, रोटी पढ़िए,
  रोटी गाय सुनैये।
  रोटी के गुन गैये!
  रोटी में संसार बस्यो है,
  रोटी में सब राग धँस्यो है,
अब तो युग रोटी कौ आयो
  रोटी बिनु पछितैये।
  रोटी के गुन गैये!

श्रीसूरदासजी ने आपुकों तार दियो है कि आपु महान् अहैं! आपनी युग-परिधितैं कोऊ बाहरि नाहिन

जाइ सकत भयौ। हमारे समै कौ अपनो वह युग और रह्यो, आपु के समै कौ एई युग है। ईश्वर करै, आपुकी दिन-दिन उन्नति होय! हमारौ आशीर्वाद प्राप्त करौ।

तरलजी भी अपनी बुद्धि के जिमनास्टिक पर व्यस्त हैं। यथा—

हम ढूँढ़ते प्रेम ही प्रेम रहे,
पर प्रेम दिखाई पड़ा न कहीं;
भटके रहे प्रेम की चाहना में,
सुन पाया जहाँ, पहुँचे हैं वहीं।
कहते तुम क्या हो अरे मुझसे,
सहनी जो न थीं वह भी हैं सहीं;
इस प्रेम के तो पथ में पड़ के,
हम हाय रहे हैं कहीं के नहीं।

श्रीरसखानजी का तार है कि आप अमित सरस हैं। भविष्य में सफलता प्राप्त करेंगे। तरल किसे नहीं तरल करते?

विधुरजी बेचारे बुद्धि के टेनिस में जुटे हैं। यथा—

कुछ प्रेम की आदत ऐसी पड़ी,
कुछ प्रेम का ऐसा नशा यहाँ छाया;
सुनना ही पड़ा है सभी कुछ हा!
सब ही कुछ देखने में बस आया।
यह हाल है प्रेम का मेरे सुनो,
सपने में सुखी अपने को न पाया,
फटकारा गया, दुतकारा गया,
फिर भी इस प्रेम से बाज़ न आया।

श्रीघनानन्दजी तार देते हैं कि आपका लक्ष्य अत्युच्च है। मेरी आपसे पूर्ण सहानुभूति है। मेरे प्रयाण के पश्चात् साहित्य में प्रेम का अभाव-सा हो चला था; परन्तु आपका कार्य प्रशंसनीय है। मेरे प्रेम के तपस्वी, ख़ूब प्रेम की बहिया बहाओ! बस, यह विश्व आलोड़ित-विलोड़ित हो उठे।

श्रीबेढब बनारसी को पहले की सभी कसरतें फ़ेल नज़र आईं; तब बहुत कुछ सोचने-समझने के बाद उन्होंने निम्न-लिखित पटेबाज़ी को पसन्द किया है—

तुम वसन्त मतवाली कोयल,
मैं सहरा का काग प्रिये;
क्या इसी लिए रहता तुमको—
है मुझसे सदा विराग प्रिये?
मैं आगे-पीछे साथ-साथ—
चलनेवाला बुलडॉग प्रिये;
फिर कहो अकेले क्यों चल दीं,
वाकिंग करने को बाग़ प्रिये?

जनाब अकबर ने आपको तार दिया है कि शाबाश! शाबाश! आप अपने रंग-ढंग में यकता हैं, लामिसाल हैं। भाषा में बेधड़क अँगरेज़ी अलफ़ाज़ों का हुनरमन्दाना इस्तेमाल आपके सिवा और कौन कर सकता है? हमारी दुआ क़बूल हो। दंगल में कामियाबी हासिल करो!

श्रीकलानन्दजी इस दंगल में भाग नहीं लेना चाहते थे; क्योंकि पिस्से खा-खाकर अभी पुट्ठे परिपुष्ट और मांसल नहीं हुए हैं। परन्तु प्रतियोगिता का युग समझकर कटिबद्ध होने के लिए बाध्य होना पड़ा। अस्तु, कलानन्दजी भी मैदान में कला लगा रहे हैं—

टाइम हुआ है जाग री!
तू कहाँ नारी? बनी लेडी सराहे भाग री!
उठ चुका हसबैंड तेरा, ठीक करता सूट है;
हाथ में ब्रुश भी सुशोभित, धन्य प्रेम अटूट है।
मारनिंग में किस तरह विकसित हुआ अनुराग री!
टाइम हुआ है जाग री!
ब्यडस्टेट ही के पास टी-टेबुल धरी है जा चुकी;
पेग में टी गर्म-श्यामल, केतली से आ चुकी।
घूमता चारों तरफ़ तेरा डियर बुलडॉग री!
टाइम हुआ है जाग री!
कुक किचिन में घुसा बेरर शूज़ पर पालिश करे,
देख, मिडवाइफ़ लिये बेबी टहलती है अरे!
सोप वाशरमैन घिसता, उठ रहा है झाग री!
टाइम हुआ है जाग री!

श्रीप्रतापनारायणजी मिश्र अपने तार में कहते हैं कि आपका साहस स्तुत्य है। प्रतियोगिता में अवश्य विजय-लाभ करिएगा। हमारी मंगल-कामना आपके साथ है।

श्रीसोहनलाल द्विवेदी को 'सहृदय! अपना हाथ बढ़ाओ, दान करो, कुछ दान करो' यह नव्यातिनव्य बुद्धि की कसरत असन्तोषकर जँची; एतावता आप एक और नई कसरत कर रहे हैं—

मनुष्यता का क्रूर करा से,
अब न अधिक अवसान करो;
निष्ठुर! अपना ध्यान बटाओ,
कान करो, कुछ कान करो।
आर्त हो रहे मध्यवित्तजन,
विपन्नता में प्राण फँसे;

है जीवन-निर्वाह कठिन अति,
यह महर्घता नित्य डसे।
किन्तु आय-पर-आय कर रहे,
हो तुम लूट मचाये;
त्राहि-त्राहि के कातर स्वर पर,
भी न नेत्र हैं भर आये।
षड्यन्त्रों से अब न अहर्निश,
शोषक! लाभ-विधान करो;
निष्ठुर! अपना ध्यान बटाओ,
कान करो, कुछ कान करो।

श्रीबदरीनारायण चौधरी 'प्रेमघन' आपको तार देते हैं कि भाई द्विवेदीजी, मुनाफ़ाख़ोरों को अपना लाभ ही महत्त्वपूर्ण जँचता है, न कि यह चिल्ल-पों। आपके दर्द से मैं भी परेशान हूँ। ख़ैर, अपने पथ पर चलते चलिए। हमारी समवेदना अंगीकार हो। दंगल आप ही के हाथ है!

श्रीकृपाणजी ने अपनी अभ्यस्त बुद्धिबैठकों से "कैसी होली, कैसा वसन्त" को आज़मा देखा। फिर नई बैठकें चालू की हैं—

आई होली! आई होली!
है इधर युद्ध, है उधर युद्ध,
हो रहे परस्पर सभी क्रुद्ध,
गति हुई प्रगति की अमित रुद्ध,
है दृश्य आज का अह, विरुद्ध,
सब गले मिलें खा-खा गोली!
आई होली! आई होली!

श्रीकिशोरीलालजी गोस्वामी ने आपको तार भेजा है कि हमारा नमस्कार लीजिए। मोर्चे पर डटे रहिए। आपके द्वारा साहित्य और सम्मेलन दोनों सफल और श्रीसम्पन्न होते हैं। आपकी विजय अनिवार्य है।

श्रीहृदयेशजी सब कुछ भूल-भालकर सरस सहृदयता के साथ बुद्धि का क्रिकेट खेलने में निरन्तर निमग्न हैं—

आते ही अरामकुरसी पै पड़े रह गये,
मस्तक पै स्वेद के कणों को छितराये हो;
लोचनों को मूँदते-उघारते हो बार-बार,
उफन रही है साँस चिन्तित लखाये हो।
शिथिल शरीर, मौन हो रहे हो सोचते-से,
उलझा-सा उर है, विचारों में समाये हो;
साइकिल लड़ी है कहीं ताँगे से किसी के या कि
निज लोचनों को हृदयेश लड़ा आये हो?

श्रीबोधाजी ने तार द्वारा आपको अवगत किया है कि प्रिय हृदयेशजी, आप सचमुच सरस भावुक हैं। ऐसी लगन विरल है! हम आप पर परम प्रसन्न हैं। जीतिएगा अवश्य।

श्रीहितैषीजी बुद्धि-हाकी में जुटे हुए हैं। आपको अपनी पुरानी पैंतरेबाज़ी "गुलरू दिलदार न देना था जो ये अनादिल-सा दिल ही क्यों दिया?" नज़र अन्दाज़ कर देनी पड़ी। अब लिखते हैं—

उस हुस्न की शीरीं सिवा लखके
दिल-ही-दिल में ललचाना पड़ा;
चखने को मिली नहीं ख़्वाब में भी,
बस व्यर्थ ही लार बहाना पड़ा।
उठे भाव जो भागते थे उस ओर
उन्हें कस के है दबाना पड़ा;
फिर भी जग में वह ख़्वारी हुई
कि अवाम में गुण्डा कहाना पड़ा।
गर दाम थे लेने नहीं तुमको
तो मुहब्बत का बिल ही क्यों दिया?
दिया हाथ न छूने ज़रा तो मुझे,
दिखा हुस्न का साहिल ही क्यों दिया?
पहनूँ नहीं चाह की शर्ट कभी तो
उसे तुमने सिल ही क्यों दिया?
अब चाह रहे मरने की जो तो
निज दीद का था 'पिल' ही क्यों दिया?

श्रीसीतलजी ने तार द्वारा अपनी बेचैनी का इस तरह से इज़हार किया है कि हम आपको बिलकुल अपने समान समझते हैं। आपकी तड़प उत्साहयोग्य है। आशा है, आप दंगल में अपना रिकार्ड क़ायम कर देंगे।

श्रीमैथिलीशरणजी गुप्त इतनी परेड के बाद भी धैर्य नहीं धारण कर सके और बुद्धि की क़वायद में संलग्न हैं—

वह पुरातन अभ्युदय, अभिमान जिस पर है रहा;
युग-धर्म तो यह देखिए, जाता निकृष्ट वही कहा।
यदि है यही युग-धर्म एवं यदि यही उत्थान!
तो हमारा घोर से यह घोरतर अज्ञान है!

श्रीयुत श्रीधर पाठक और मुमताज़ व ममदूह क़ौमी शायर जनाब हाली महोदय का हिन्दोस्तानी ज़बान में मुश्तर का तार है कि फ़िलसफ़य ज़बान के आप मुअज़्ज़िज़ कलाकार हैं! हमारे वक्त में व्रजभाषा के सहन में खड़ी-बोली अपने क्रीड़ा-कौतुक से तुतलाई-

सी थी। अब वह मुकम्मिल युवा है। उसके बलन्दे अक़बाल का बहुत कुछ श्रेय आपको है। आपने उसे उठाकर खड़ा किया है। अतएव आपके मुक़ाबिल कौन है? [हिन्दोस्तानी के हिमायतियों को यह जानकर बेहद प्रसन्न होना चाहिए कि जब स्वर्ग तक में हिन्दोस्तानी की इज़्ज़त अफ़ज़ाई हुई है तो इसके चलन का निषेध कर यहाँ कौन सफल हो सकता है?—लेखक]

श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र (कौशल-किशोर के रचयिता) अपने बुद्धि-वालीबॉल के साथ भावों के पीछे इतस्ततः दौड़ लगा रहे हैं। यथा—

मुक्ति मिलती है जहाँ, भुक्ति भागती है दूर,
डगर गहेंगे शुचि सौम्य उस ओर की;
आसरे रहेंगे औ रहेंगे ध्यानमग्न सदा,
करेंगे प्रतीक्षा उनकी ही कृपाकोर की।
चरणकमल के मधुप बन जायें मंजु,
चंग बन जायेंगे उन्हीं की प्रेमडोर की;
अमित हुए हैं अहो अमित हुए हैं अति,
याद में रहेंगे हम कौशल-किशोर की।

रायश्रीदेवीप्रसादजी पूर्ण तार से सूचित करते हैं कि आप खड़ी-पड़ी दोनों के श्रेष्ठ और सफल कवि हैं। महाकाव्य लिखनेवालों का नम्बर कभी पीछे नहीं रह सकता। इतना ही बस समझिए!

श्रीरामनरेश त्रिपाठी भी बुद्धि के फरी-गदका में तल्लीन हैं—

पुष्प, तुम्हारी कोमलता का जग ने गान किया है;
कितने सरस, मंजु हो कितने, सबने मान लिया है।
तुम्हें देखकर कौन है कि वह मोद नहीं जो पाता?
और न इस नश्वर जीवन में शिक्षा-लाभ उठाता?

आपके पास श्रीपं० अम्बिकादत्त व्यास का तार आया है कि आप धन्य हैं! आपने साहित्य और समाज का अमित कल्याण किया है। हमारा सम्मान अवश्य ग्रहण करें। विजिगीषा के लिए आशावान् रहें।

श्रीहरिऔधजी भी चुभते चौपदे, चोखे चौपदे आदि नापसन्द करके चौकन्ने चौपदों द्वारा बुद्धि-बैडमिंटन में उछल रहे हैं। यथा—

प्रगति के युग का तू कवि है,
न दी गति कविता को तूने;
चला है क्या कविता करने,
जम्प जब भर न सका दूने।
तुझे कब याद 'वाद' कोई,
दाद फिर मिले भला कैसे;
गीत को गा न सके कुछ भी,
आजकल के कवियों - जैसे।
किया कविता को बन्द नहीं,
'वाद' की बनी पिटारी में;
तुझे पूछे फिर कोई क्यों,
मिले अवसर की बारी में।
आज की कविता 'वादों' में,
रूप तै हुआ विवादों में;
तुझे इसकी कुछ ख़बर नहीं,
बने कितने कवि 'दादों' में।

श्रीरत्नाकरजी ने आपको तार भेजा कि अद्वितीय और अनुपम हैं।

जयन्ति ते सुकृतिनो रससिद्धाः कवीश्वराः।
नास्ति येषां यशःकाये जरामरणजं भयम्॥

परन्तु रससिद्ध कवीश्वर कम ही हुआ करते हैं। हिन्दी-साहित्य ने आपको हरिऔध-अभिनन्दनग्रन्थ समर्पित करके वास्तव में अपना कर्तव्यपालन किया है और अपने को स्वयं गौरवान्वित किया है। आपने जो 'रस-कलश' दिया है, वही क्या कम है? इसलिए नये व्यायाम की कुछ वैसी आवश्यकता न थी। फिर भी कोई बात नहीं! आप पछाड़ खानेवालों में हैं ही नहीं। हमारी शुभाकांक्षा आपके साथ है।

श्रीनागरजी के नवीन प्रयास को भी देखिए—

हो करके भी उपेक्षित शिष्य
रहा गुरु के पद का अनुरागी;
ज्ञान-प्रसार हुआ अति सौम्य
कि अन्तर से भ्रम भावना भागी।
काव्य का रंग चढ़ा जब से
तब से हमने सभी चाहना त्यागी;
विश्व के प्रेम की ज्योति अखण्ड
चिरस्थिर है उर में शुभ जागी।

श्रीनाथूरामजी शर्मा 'शंकर' का आपके पास तार आया है कि आप पुराने खिलाड़ी पहलवान ठहरे। फिर आप अपने प्रतिद्वन्द्वी को परास्त करने में कैसे समर्थ नहीं हो सकते? हमारी शुभाशंसा साथ है। मैदान मारिएगा! श्रीप्रचण्डजी को जब और कोई खेल नहीं भाया तब आप नित्य सायं-प्रातः दौड़ लगा रहे हैं—

मौक़ा जानकर फ़ारवर्ड हम बन जाते,
किन्तु बैकवर्ड मन में हैं रहते सदा।

नीति है हमारी बहुरंगी अग्रसोची हम,
अतएव कुछ बनने से हैं रुके कदा ?
विश्व परिवर्तनीय बात है हमारी कौन,
जानते सभी हैं यह सत्य एक है यदा।
कम्यूनिस्ट सोशलिस्ट रायटिस्ट कुछ कहो,
जैसी हो ज़रूरत वैसे ही हम हैं तदा।

श्रीबालमुकुन्दजी गुप्त का तार है कि आप पूर्ण-रूपेण धन्यवाद के पात्र हैं। आपका प्रचण्ड बने रहना नितान्त आवश्यक है। साहित्य में आये दिन कूड़ा-करकट बहुत इकट्ठा हो रहा है। अच्छा है कि साफ़ करते रहिए। प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए बधाई है!

श्रीउमेशजी की बुद्धि-कबड्डी भी अवलोकनीय है—

जावक पान पै कोऊ अरी
कछू रारि करैं न तौ पीछे परैं।
अंजन मंजन भूषण औ
अँगरागहु पै न कबौं बिगरैं।
दीने दिठौना न था घर के
बिन काज ही नाहक मैं उभरैं।
दीबो दिठौना न भावै भटू
वे लटू कह्यो चन्दमुखी जो करैं।

श्रीसत्यनारायण कविरत्न का तार है कि आपने मेरे पश्चात् व्रजबानी का पानी रख लिया है! आप कल्पना-सक्षम हैं; इसलिए आपसे बड़ी-बड़ी आशाएँ हैं। हर्ष है कि कुछ दिनों से आप निराश बैठे हुए भी दंगल में आ रहे हैं। अपने स्वाभिमान की रक्षा करना परम धर्म है। दंगल में आने के लिए स्वागत।

श्रीअनूपजी जो बुद्धि की चकर-डण्ड लगा रहे हैं वह इस प्रकार है—

कवि-प्रतिभा का है प्रमाणित प्रताप-पोष,
वेग समता को कभी पाती नहीं वायु है।
मल-मल मानव मलीमसा मिटाती महा,
आप अनपायिनी है पर को भी पायु है।
ओज से अदब्ध कर देती है शरीर सारा,
मन के विकास-हेतु प्रातःकालमायु है।
ईड्य है, इरा है, रोदसी पै रम्य राजती है,
अपने समान आप वह संततायु है।

श्रीकेशवदासजी और भूषण ने आपको संयुक्त तार प्रेषित किया है कि आप हिन्दी-वाङ्मय-विश्व के एकच्छत्र वीर हैं। हमारा अयुत-अयुत अभिनन्दन अभ्युपेत हो। दंगल में पधारने के लिए वीरवाद ! आप सिद्धार्थ ही लिखकर सिद्धार्थ हैं, फिर भी विजयोद्योग के लिए हमें तुमुल हर्ष है। भाषा में आपने वैदिक शब्दों का अभिनिवेश उत्तमता और सूक्ष्मता के साथ किया है। हम लोगों से तो केवल संस्कृतशब्द ही उपदिष्ट हो सके। आप दंगल में पधार रहे हैं, हमें यह जानकर वह आह्लाद है कि कहना ही क्या ? 'मेरा ग्राम' रचना में आपने यह यथार्थ ही लिखा है—'कोई कवि केशव की भारती के हामी थे।' इस प्रकार आपने जो मेरा सम्मान वर्धित किया है, उससे मुझे आपके प्रति प्राकृतन प्रकृत प्रेम है। आचार्य-प्रवर श्रीसनेहीजी को अपने चिर अभ्यस्त अच्छे-से-अच्छे व्यायाम कोई भी पसन्द नहीं पड़े; अतः अब आप अपनी बुद्धि का रबड़ रिंग फेंक रहे हैं—

न प्रकाश जहाँ पर था वहाँ पै
हमने जल के है प्रकाश किया।
तम में जो अदृश्य पड़े हुए थे
हैं प्रत्यक्ष हुए निज अंक लिया।
जलते हुए नेह में भी मुझसा
वह कौन है जो हँस के है जिया ?
जग में हुए जो दिया तो क्या लिया
सब ही कुछ तो अपना है दिया ?

श्रीहरिश्चन्द्रजी ने आपको तार दिया है कि आप अपने समय में एकाकी हैं। भाषा का परिष्कार, भावों की उड़ान और शैली—सभी कुछ तो आपका अपना है! आपकी सेवा की समानता कौन कर सकता है ? पर नहीं, सोचा होगा कि यदि किसी ने ललकार दिया तो सामने आना होगा। सनेही होकर भी त्रिशूल जो ठहरे! हमारा प्रेमाभिवादन प्रति-श्रवित हो। आप प्रतियोगिता में बिना भाग लिये विजयी हैं।

काग़ज़ाभाव के कारण बहुत-सी कसरतां और तारों का उल्लेख शेष रह गया। अस्तु, रोष और असन्तोष के लिए क्षमा-याचना है

संतान होने की औषधि

अब

हर स्त्री को

बच्चा

हो सकता है

यदि किसी स्त्री के विवाह को कई वर्ष बीत गये हों और उसको बालबच्चा न होता हो तो उसे केवल एक शीशी दवा **मुहाफिज़ औलाद** खिला देनी चाहिए । इस औषध के सेवन से अन्दर की वह ख़राबी ठीक हो जायगी और उसके ही संतान होने लगेगी । दवा **मुहाफ़िज़ औलाद** के सेवन से आज हजारों स्त्रियों की गोद में बालक खेल रहे हैं। इस दवा की एक शीशी की क़ीमत दो रुपया आठ आना २॥) है। नीचे के पते पर पत्र लिखकर वी० पी० पारसल द्वारा मँगा लीजिए । पारसल पर केवल ॥-) महसूल लगेगा ।

लेडी डाक्टर ज़नाना दवाख़ाना एम० एम० बी० नं० ३४ देहली ।

दीपक के प्रति, पतंग

श्रीयुत जगनसिंह सेंगर

अरविंद तजे मकरंद-भरे अलि-वृन्द जहाँ मँडराते रहे;
बलि जाते रहे एक दूसरे पै, दोनों प्रेम-पियूष लुटाते रहे।
अलि पंख फुला कुछ गाते रहे, यह पंखड़ियों पै विठाते रहे;
तेरे रूप पै ए रे प्रदीप वृथा, हम प्राणों की भेंट चढ़ाते रहे।

हमें आया समीप विलोक कभी, तूने आदर भाव दिखाया नहीं;
उर में भरा स्नेह का भार अपार उदारता से छलकाया नहीं।
सिर ही को हिलाता-डुलाता रहा, भुज भेंटने आगे बढ़ाया नहीं;
जलता ही रहा जलाके भी हमें, जलने का स्वभाव भुलाया नहीं।

तेरे रूप ही के हम प्यासे सही, पर रूप की है किसे प्यास नहीं;
क्या सुहाता चकोर को, सिंधु को, कैरवों को शशि का कलहास नहीं।
कर कोटि बढ़ा के सुधाधर भेंटता, जाते ये यद्यपि पास नहीं;
तेरी भाँति वह नव प्रेमियों का करता अरे दीपक ग्रास नहीं।

खर कंटक केतकी के अलियों को नहीं डस जाते, बचाते ही हैं;
रख बंद निशा भर कोष में कंज पराग पिलाते, सुलाते ही हैं।
भुज-वल्लरियाँ भी विंधाकर कीचक राग रसीला सुनाते ही हैं;
तेरी भाँति कहीं कोई चाहकों को न सताते, जलाते, मिटाते ही हैं।

मुख काला औ लाल किये ही रहा, क्या हुआ यदि स्नेह-सना ही रहा;
उसका तूने मान घटाया सदा, उर मध्य भरा कितना ही रहा।
बढ़ना नहीं भाया किसी को कभी, प्रिय तेरा सदा जलना ही रहा;
क्या हुआ जो उजाला किया घर में, तेरे नीचे अँधेरा बना ही रहा।

तूने पाद-प्रहार कुदार सहे, चढ़ा चक्र पै खूब घुमाया गया;
फिर लाल अँगारों में डाल तुझे, कितने दिन जाने तपाया गया।
कब प्रीति की रीति को जान सका वह, जन्म ही से जो जलाया गया;
तूने पाया न प्रेम किसी का कभी, जलने ही को स्नेह दिखाया गया।

कब पास पपीहा गया घन के, कब शीश झुकाकर पानी दिया;
धुन 'पी कहाँ' 'पी कहाँ' की सुन, मेघ घने घुमड़े, भर आया हिया।
झुक-झूम के भूमि भरी, इतना एक बूँद के प्यासे का मान किया;
तेरी भाँति न चाहक चातक के पद-पंख पजार के प्राण लिया।

अलि प्रेम के गीत अलाप उठे, जिन्हें कंज सभी सुन के विकसे;
इस प्रेमी के मान से मान मिला, बन प्रेमियों की गल-माल लसे।
विधि-वाणी रमा के निवास बने, कवियों के हिये, हरि-हाथ बसे;
बढ़ते ही हुआ मुख काला तेरा, अरे दीप, हमारे अनादर से।

सब ओर प्रभा पसरी लख के समझा तुम्हें दिव्य उदार सखे;
शुचि स्नेह का सागर जान के आये थे पाने को प्यार दुलार सखे।
मन के मन में अरमान रहे, जल के क्षण में हुए क्षार सखे;
जल में पड़ते-पड़ते झष का मन टूटा उसासों का तार सखे।

सब ओर प्रकाश अथोर तो था, पर था कोई देव महीप न तू;
उर में भरा स्नेह अपार रहा, मन ला सका किंतु समीप न तू।
मर के हम मुक्तों के साथी हुए, हो सका सुख-सिंधु का सीप न तू;
हमें प्रेम का पंथ प्रशस्त मिला, निकला पर हा, पथ-दीप न तू।

जल जायँगे-जायँगे बन्धु वहाँ, जलते को जहाँ हैं जलाते नहीं;
जलते मणि-दीप जहाँ नित ही, खिल स्वर्ण-सरोज सुखाते नहीं।
जहाँ प्रेम-प्रसंग उमंग रहे, हम जाते वहीं. हम जाते वह
रह जायगी किंतु कथा कहने को कि थे तुमको हम भाते नहीं।

हम बालक वृद्ध युवा युवती तव रूप-पियूष पिया करते;
अधिकार हमारा ये जन्म का है, बढ़ पीछे न पाँव धरा करते।
उर-वंधन को नर जाने विना, प्रतिबंध अनेक किया करते;
तुम्हें काँच की कारा में बन्द किया, हम बाहर शीश धुना करते।

धरती हमारि

श्रीचन्द्रभूषण त्रिवेदी "रमई काका"

धरती हमारि, धरती हमारि।
है धरती परती गउवन कै, औ ख्यातन कै धरती हमारि॥
धरती हमारि, धरती हमारि।
हम अपनी छाती के बल ते, धरती माँ फारु चलाइत है।
माटी के नान्हें कन-कन माँ, हमहीं सोना उपजाइत है॥
अपने लोनखरे पसीना ते, ख्यातौ माँ ख्यात बनावा हम।
मुरदा माटी जिन्दा होइगै, जहँ लोखर अपन छुवावा हम॥
कँकरील उसर बीजर परती, धरती भुड़गरि नींवरि जरजरि।
बसि हमरे पौरुख के बल ते, होइगै हरियरि दनगरि बलगरि॥
हम तरक सहित स्यावा सिरजा, सो धरती है हमका पियारि।
धरती हमारि, धरती हमारि॥
हमरे तरवन कै खाल घसी, औ रकतु पसीना एकु कीन।
धरती मय्या की सेवा माँ, हम तपसिन का अस भेसु कीन॥
है सहित ताप बड़ बूँद घात, परचंड लूक कट-कट सरदी।
ख्वावँन ख्वावँन माँ रमति रोजु, चन्दनु असि धरती कै गरदी॥
ई धरती का जोते-जोते, कितने बैलन के खुर घिसिगे।
निखवखि[1] फरुहा फारा खुरपी, ई माटी माँ हैं घुलि-मिलिगे॥
अपने चरनन कै धूरि जहाँ, बाबा दादा धरिगे सँभारि।
धरती हमारि, धरती हमारि॥
हम हन धरती के वरदानी, जहँ मूठी भरि छाँड़ित बेसार।
भरि जात कोंछु माँ धरती के, अनगिनत परानिन के अहार॥
ई हमरी मूठी के दाना, छ्यालन की छाती फारि-फारि।
हैं कचकचाय कै निकरि परत, लइ पौरुख बल फुरती हमारि॥
हमरे अनडिगे पैसरम के, हैं साच्छी सूरज औ अकास।
परचंड अगिनि जी बरसायिनि, हम पर दुपहरि माँ जेठ मास॥
ई हैं रन ख्यात जिन्दगी के, जिन माँ जीतेन हम हारि-हारि।
धरती हमारि, धरती हमारि॥

---

1. अनेक।

महाकवि 'निराला' के प्रति

श्रीविजयबहादुर वर्मा "मतवाला"

जय हे चिरनमस्य अनमोल
रहे सफल, मा चुकी तुम्हें अब अग्नि-तुला पर तोल
धन्य हुई भारती ! धन्य तुमसे सारा भूगोल
जय हे चिरप्रणम्य अनमोल
तुम वाणी के वरद पुत्र, तुम कवि-कुल-कमल-दिवाकर
बहु भाषाविद्, परम मनस्वी, सूर्य-सोम-सम भास्वर
तुम निर्धूम अनल, कलिमल से दूर, उदय-पथ-चारी
भावों के सुषमा निकुंज, वन, उपवन, वीथि-विहारी
वर्चस्वी कवि ! हिन्दी के सिर के तुम मुकुट सुहावन
संस्कृति के आलोक, दीप्ति के तुम लोकोत्तर चारण
तृण, तरु, पत्र, पुष्प, वन, उपवन सबमें विभा तुम्हारी
भू को स्वर्ग बना देने की तुमने की तैयारी
तुम गायक हो उदय-लोक के, सिद्धि तुम्हारी चेरी
कीर्त्ति तुम्हें चूमती, तुम्हारी बजती जय की भेरी
मुक्त किया तुमनें कविता को कटु कृत्रिम बंधन-से
चमक उठा साहित्य तुम्हारे अर्चन से, सर्जन से
दीप्त सद्म, वाणी का तुव गीतों के नीराजन से
दशों-दिशाएँ, मुखरित तुव उर - वीणा के स्पंदन-से
रहें जगत में कवे ! गूँजते तब तक गीत तुम्हारे
जब तक सूर्य, चन्द्र, ग्रहमण्डल, नील गगन औ' तारे
युग-युग तक हम करें तुम्हारा अभिनंदन दिल खोल
सदा तुम्हारे कीर्त्ति-नाद से गुञ्जित रहे खगोल
जय हे चिरप्रशंस्य अनमोल

आँखों के आगे

श्रीप्रताप साहित्यालंकार

यतीन असिस्टेंट सर्जन बनकर आया। वह स्वतंत्र विचार का था। उसने नौकरी करने से साफ़ इनकार कर दिया और अपने गाँव के निकट ही एक बाज़ार में दूकान खोल दी।

वह छोटा-मोटा बाज़ार बड़ी तरक़्क़ी पर था। रेलवे स्टेशन, पुलिस स्टेशन और डाकघर तो थे ही, वहाँ सबरजिस्ट्री ऑफ़िस भी था और इस ज़माने में—जब कि बीमारियाँ बढ़ती ही जा रही हैं—वैद्यों, डाक्टरों और हकीमों का अभाव क्यों होने चला! इसी लिए उस छोटे-से बाज़ार में उन लोगों की संख्या एक दर्जन से अधिक ही थी। फिर भी यतीन की प्रैक्टिस चल निकली। जिस-जिस केस को उसने लिया, सभी को चंगा कर ही छोड़ा। अच्छा इलाज, बढ़िया स्वभाव तथा सुन्दर व्यवहार ने लोगों को मुग्ध कर लिया था। उसकी दूकान में सदा मरीज़ों की भीड़ रहती और वर्षा होती रहती रुपये-पैसे की।

इसी प्रकार वह मरीज़ों से उलझता-सुलझता अपने जीवन-पथ पर बढ़ता जा रहा था।

एक दिन जब वह बाहर से आया, तब दूकान पर मरीज़ों की उमड़ती बाढ़ देखकर काँप उठा। उसके दिल में हुआ, स्टेथेस्कोप, बेग आदि को एक ओर फेंक दे और चुपचाप बिछावन पर पड़ रहे, मगर लाचारी थी। यही तो उसका पेशा है और इसी के द्वारा तो उसकी रोटी चलती है। फिर वह ऐसा कैसे कर सकता है!

उसने लंबी साँस ली और रोगियों की जाँच कर नुस्ख़ा लिखने लगा। जब दीवार की घड़ी ने बारह की घंटी बजाई तब उसका ध्यान टूटा। अब केवल दो-तीन मरीज़ रह गये थे। उन लोगों से निपटकर उसने सिगरेट जलाया और पीने लगा। इसी समय उसकी दृष्टि कोने में बैठी एक बुढ़िया पर गई, जो गंदी-फटी सारी के बीच सिमटी थी और किसी चीज़ की याचना करती-सी प्रतीत होती थी। यतीन झुँझला उठा। वह बोला—क्या है बुढ़िया?

बुढ़िया नज़दीक चली आई। उसने कहा—बड़ी देर से बैठी हूँ आपके आसरे में।

सिगरेट का धुआँ फेंकते हुए यतीन ने पूछा—क्या चाहती हो तुम?

"बाबूजी, मेरा लड़का बीमार है। भगवान् ने एक ही लाल दिया है मुझे। लेकिन उसकी बहुत ख़राब हालत है। रात से ही ख़ून की क़ै हो रही है उसे। मैं एक पड़ोसिन को बैठाकर दौड़ी आई हूँ। अगर आप दया करें तो मेरा लड़का बच जाय डाक्टर बाबू!"—दुःख से बुढ़िया का गला भर आया और उसकी आँखों में आँसू के बादल उमड़ पड़े।

"दवा के दाम दोगी न?"

"क्यों न दूँगी बाबूजी! आप मेरे बच्चे की जान बचाइएगा और मैं दवा के दाम भी नहीं दूँगी!"

"देखो, अभी तक मैं भूखा ही हूँ। सवेरे ही एक बीमार देखने को निकल जाना पड़ा। तुम आगे बढ़ो। मैं खाकर तुरंत ही साइकिल पर आ जाता हूँ।" यतीन ने सिगरेट को फेंकते हुए कहा और भीतर चला गया।

"जैसी मर्ज़ी" कहकर बुढ़िया अपने घर की ओर दौड़ी।

उसने घर पहुँचकर देखा—उसके लाड़ले का बुरा हाल है। उसकी छाती ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगी। उसकी आँखों के सामने अँधेरा छाने लगा। वह न रो सकती थी और न कुछ बोल ही। उसकी विचित्र दशा थी। वह कभी बाहर आकर डाक्टर की बाट जोहती तो कभी अपने बेटे के नज़दीक जाकर धम्म से बैठ रहती।

थोड़ी देर के बाद उसके क़ानों में साइकिल की घंटी की आवाज़ आई। वह दौड़कर घर के बाहर निकली। सामने डाक्टर खड़ा मिला—पसीने से लथ-पथ। उसकी विपत्ति का बोझ कुछ हलका हुआ और दिल में आशा की किंचित् रेखा खिंच गई।

यतीन ने टट्टी से लगाकर साइकिल रख दी। उसने रूमाल से ललाट के पसीने को पोंछा और उस झोपड़ी में घुस गया।

मैले-कुचैले चीथड़े में लिपटा एक बीस-पच्चीस वर्ष का नवयुवक दम तोड़ रहा था। उसकी दोनों आँखें

धँस गई थीं, गाल पिचक गये थे और चेहरे पर खून का नामनिशान भी न था। उसकी नाड़ी डूब रही थी और हृदय की गति मंद पड़ती जा रही थी। यतीन घबरा उठा। उसने बुढ़िया की ओर नज़र उठाकर देखा और लंबी साँस छोड़ी।

बुढ़िया जैसे ताड़ गई। वह बोली—क्या देखते हैं डाक्टर बाबू ?

"हालत तो ख़राब है, लेकिन मैं कोशिश करता हूँ। तुम घबराओ मत।"—कहकर डाक्टर अपना बेग खोलने लगा।

यतीन ने उसकी बाँहों में दो सुइयाँ लगाईं। उसकी जीवनी-शक्ति लौट आई और आँखें खोलकर वह चारो ओर देखने लगा।

डाक्टर की आँखें आनंद से चमक उठीं। वह बोला—मुझे उम्मीद नहीं थी बुढ़िया, मगर अनहोनी बात हो गई। अब तुम्हारे लाड़ले को कोई नहीं छीन सकता।

"आपकी दया है बाबूजी !"—बुढ़िया का सिर कृतज्ञता का भार नहीं सह सका, झुक गया।

यतीन चलने को हुआ। बुढ़िया बोली—ठहरिए बाबूजी ! दाम ले लीजिए न।

डाक्टर ने लापरवाही के साथ जवाब दिया—तुम्हारे तो खाने का ठिकाना नहीं है, फिर दाम कहाँ से दोगी ?

"नहीं बाबूजी, ऐसा नहीं हो सकता।"—कहकर बुढ़िया भीतर गई और तुरंत ही लौटकर बाहर आई। तब तक डाक्टर आगे बढ़ गया था। बुढ़िया उसके पीछे दौड़ी। डाक्टर ने मुड़कर देखा और साइकिल खड़ी कर दी। बोला—क्यों दौड़ी आई बुढ़िया ?

"दवा के दाम...." बुढ़िया हाँफ रही थी।

यतीन सोचने लगा—यह क्या दाम दे सकेगी ! उसकी फ़ीस के पाँच रुपये ....और दवा के दाम.... लड़ाई का यह ज़माना जब सभी चीज़ों की क़ीमत कई गुनी बढ़ गई है।....अगर फ़ीस के रुपये छोड़ भी दिये जायँ तो भी इंजेक्शन और दवा के दाम दस रुपये होते हैं।........दस रुपये क्या कम होते हैं।.... फिर इन ग़रीबों के लिए पैसे का ही मोल रुपये के बराबर है और........

"फ़ीस तो नहीं हो सकेगी, मगर दवा के दाम तो दूँगी ही। आपने मेरे बेटे की जान बचाई और मैं दाम भी न दूँ ! ऐसी कृतघ्न नहीं हूँ मैं ! आपके उपकार को मैं जन्म भर नहीं भूल सकती।" बुढ़िया कह रही थी।

यतीन बोला—मुझे दाम नहीं चाहिए। मैंने कह दिया पहले ही। मैंने अपना काम किया। अगर दाम देने की कोशिश करोगी तो मैं नाराज़ हो जाऊँगा।

"नहीं बाबूजी ! मैं...."

"जाओ, रोगी को देखो।" कहकर यतीन जाने लगा।

मगर बुढ़िया नहीं मानी। उसने यतीन की जेब में दाम गिरा ही दिये।

डाक्टर ने पीछे लौटकर देखा। बुढ़िया ख़ुश थी—उपकार का बदला चुकाकर वह सलाम कर झोपड़ी की ओर बढ़ी। यतीन ने जेब से बुढ़िया के दाम निकाले—दो चौअन्नी और दो एकन्नी।

कहाँ दस रुपये !....और कहाँ दस आने !

डाक्टर मुसकिरा उठा। उसकी साइकिल आगे बढ़ गई।

युगप्रवर्तक कबीर

श्रीयुत जी० सुन्दरम् रेड्डी आंध्र-विश्वविद्यालय

हिंदुस्तान के साहित्य के इतिहास में कबीर एक युग-प्रवर्तक हैं। हिंदुस्तान की प्रचलित पुरानी विचार-धारा की निष्क्रियता और निर्जीवता को दिखाते हुए एक नवयुग को आमंत्रित करनेवाला पहला हिंदुस्तानी कवि कबीर है। यहाँ के अव्यवस्थित समाज में परिवर्तन के लिए संदेशवाहक महात्मा बुद्ध के बाद महात्मा कबीर ही हैं। एक अव्यवस्थित समाज—जो रीति-रिवाजों की दास्य-शृङ्खला से बँधा है—धार्मिक कट्टरपन से पूरित है; पंडित और मौलवियों के कारनामों से पीड़ित है। उस समाज के पुनर्निर्माण के लिए भारतीय साहित्य में क्षेत्र तैयार करने का श्रेय कबीर को प्राप्त है। अंधी भक्ति, अंध अनुकरण और अंध विश्वासों के ख़िलाफ़ स्वतंत्र रूप से और निर्भीकता से आवाज़ उठाने का गौरव कबीर को प्राप्त है। अज्ञान-सागर में डूबी हुई जनता की आंतरिक आँखें खोलनेवाला, उनकी सुषुप्त भावनाओं को जगानेवाला और उनमें सच्ची धार्मिक लहर को दौड़ानेवाला व्यक्ति बुद्ध के बाद कबीर ही हैं। हिंदुस्तान की अन्य भाषाओं के पुराने और नवीन कवि कबीर के भावों से जिस तरह प्रभावित और प्रेरित हैं उस तरह और किसी कवि से नहीं; क्योंकि वह एक मौलिक विचारक, क्रांतिकारी और जनता के कवि थे जिनकी अमिट छाप दूसरों पर पड़ना ज़रूरी था।

काव्य का पहला उद्देश्य यह होता है कि वह हमें एक स्थायी संदेश दे और हमारे चित्त को अलौकिक आनंद प्राप्त करने में सहायक बने। अपने भावों की महत्ता से पाठकों की सुषुप्त भावनाओं को जगाकर जीवनोन्नति के लिए उनकी आंतरिक आँखें खोल दे। इस दृष्टि से जब हम कबीर की कविता पढ़ते हैं तो वे एक महाकवि के रूप में हमारे सामने आ जाते हैं। उनकी कविता से यह स्पष्ट है कि उन्होंने अपनी कविता——केवल कविता के लिए या स्वान्तःसुखाय, या चाँदी के टुकड़ों के लिए या अपने आश्रयदाताओं की कामुक वासनाओं की संतृप्ति के लिए नहीं, किन्तु समाज की उन्नति के लिए, समाज को कल्याण के पथ पर ले जाने के लिए लिखी। वह अपने को समाज का एक अंग मानते थे और समाज की उन्नति को अपनी उन्नति समझते थे। आत्मिक उन्नति सामाजिक उन्नति पर निर्भर होती है, इसलिए वह सामाजिक समस्याओं को हल करना अपना फ़र्ज़ समझते थे।

कबीर की कविता के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि वह एक ओर सुधारक प्रचारक, और दूसरी ओर साधक और उपासक थे। कबीर ने देखा कि हिंदू और मुसलमान अपने धर्म की विभिन्नता के कारण एक दूसरे को दुश्मन समझते हैं। एक दूसरे से नफ़रत करते हैं। एक निराकार निर्गुण ख़ुदा के बंदे हैं। दूसरे सगुण साकार भगवान् के भक्त हैं। एक पूरब की तरफ़ खड़े होकर ध्यान करते हैं। दूसरे पश्चिम की तरफ़ मुँह करके नमाज़ पढ़ते हैं। एक मन में ही भगवान् से विनती करते हैं। दूसरे ऊँची आवाज़ से ख़ुदा को पुकारते हैं। एक सूर्य के बड़े उपासक हैं। दूसरे चंद्र के बड़े भक्त हैं। एक आँख बंद कर प्रार्थना करते हैं। दूसरे कान बंद कर नमाज़ पढ़ते हैं। इस प्रकार धार्मिक क्षेत्र में आकाश-पाताल का अंतर है। सामाजिक क्षेत्र में भी बहुत बड़ा भेद-भाव इन दोनों में पाया जाता है। तब कबीर ने अनुभव किया कि हिंदुस्तान की उन्नति के लिए हिंदू-मुसलमानों की एकता ज़रूरी है। हिंदू-मुसलमानों में एकता तभी आ सकती है, जब इनमें धार्मिक, सामाजिक और सांस्कृतिक विभिन्नता न हो।

दोनों अज्ञान में हैं। दोनों एक दूसरे को समझने के लिए प्रयत्न नहीं करते। दोनों को मानवता की एकता में और परोक्ष सत्ता की एकता में विश्वास नहीं है। मानवता की एकता और परोक्ष सत्ता की एकता में विश्वास की कमी ही झगड़ों की जड़ है। इसलिए उन्होंने इस मानवता और परोक्ष सत्ता की विभिन्नता को दूरकर उनमें एकता स्थापित करने के लिए सबसे पहले प्रयत्न किया, जिसे आज भी हम कर रहे हैं। दीन-दुखियों के उद्धार के लिए, ऊँच-नीच भाव को मिटाने के लिए, जाति-पाँति को तोड़ने के लिए शताब्दियों पहले ही कबीर ने अपने मिशन को चलाया। इन्हीं सिद्धांतों के विकसित रूप को हम गांधीजी के मिशन में पाते हैं। यह सच है कि आज भी हम इस काम में सफल नहीं हैं। लेकिन इसकी सफलता में ही हिंदुस्तान का कल्याण है।

मानवता की एकता और परोक्ष सत्ता की एकता को दिखाने के लिए इन्होंने मंदिर-मसजिद, काबा-काशी, वेद-क़ुरान, देवी-देवता और भूत-प्रेतों का विरोध किया। मुसलमानों का विश्वास निर्गुण ब्रह्म के अस्तित्व में है। उसी निर्गुण ब्रह्म के अस्तित्व को हमारे उपनिषदों में कई शताब्दियों पहले ही माना गया है। इन दोनों के मेल से उन्होंने निर्गुण संतमत को स्थापित किया। उसका प्रचार करने में इन्होंने पंडितों और मौलवियों के कट्टरपन और उनके ढोंग और ढकोसलों का भंडाफोड़ किया। इससे वे लोग आगबबूला हो गये और कबीर के ख़िलाफ़ लोगों को भड़काने लगे। लेकिन कबीर ने परोक्ष सत्ता की और मानवता की एकता का आभास देते हुए लोगों के प्रत्यक्ष जीवन में एकता और समानता स्थापित करने के लिए आजीवन अथक परिश्रम किया।

संतमत

हिंदी-साहित्य के पूर्व-मध्यकाल में भक्ति की चार प्रमुख धाराएँ प्रवाहित हुईं—

१. ज्ञानाश्रयी शाखा
२. प्रेमाश्रयी शाखा
३. कृष्णभक्तिशाखा और
४. रामभक्तिशाखा

ज्ञानाश्रयी शाखा का ही दूसरा नाम संतमत है जिसका प्रवर्तक कबीर है। प्रेमाश्रयी शाखा का दूसरा नाम सूफ़ीमत है जिसका प्रवर्तक जायसी है। इस विभिन्नता का कारण इन शाखाओं में भक्ति या उपासना की प्रधानता होते हुए भी अपने-अपने विशेष धर्मों के सिद्धांतों का अधिक समावेश होना ही है।

संतमत का आशय था कि समाज में हिंदू-मुसलमान जो अपने को अलग-अलग समझे हुए थे, उनके धर्मों का समन्वय करके उनमें आपस में समत्व बढ़ाया जाय। वह देश की तत्कालीन परिस्थितियों की विषमता दूर करके अपने ढंग से उनका समन्वय करने में प्रवृत्त हुआ।

हिंदुस्तान में मुसलमानों का राज्य स्थापित हो गया था। नूतन विजय से उनकी उद्धत प्रकृति जनसामान्य की चित्तवृत्तियों से मेल नहीं खा सकी। दोनों में—हिंदू और मुसलमानों में—अविश्वास का प्रबल राज्य था। एक दूसरे को संदेह की दृष्टि से देखते थे। मुसलमान इतने कट्टर हो गये कि वे हिंदुओं को काफ़िर कहने लगे और उनके मंदिर तोड़ने लगे। हिंदू अपने को उत्कृष्ट कहते हुए मुसलमानों को म्लेच्छ कहने लगे।

ऐसी परिस्थितियों में समता और एकता कैसी? दोनों राम-रहीम, इन दो नामों के वास्ते झगड़ने लगे। मगर सारभूत तत्त्व को किसी ने न पहचाना।

इन विषमताओं के समाधान के लिए ही संतमत का जन्म हुआ। हिन्दू-धर्म एवं इस्लाम के आधारभूत मूल-तत्त्वों को लेकर इसकी सृष्टि हुई।

ईश्वर एक है, वही अनश्वर है। उसके लिए सब प्राणी बराबर हैं। वह मंदिर में, मसजिद में, समस्त ब्रह्मांड में व्याप्त है। उसका कोई नाम नहीं है। वह निर्गुण और निराकार है। वह निर्गुण और सगुण से भी परे है। पुष्प की सुगंधि से भी सूक्ष्म है। ये संतमत के सामान्य नियम हैं।

इस मत में जाति-पाँति का या ऊँच-नीच का या छूत-अछूत का कोई प्रश्न ही नहीं है।

संतमत उपासना में एक तरफ़ शंकर के अद्वैतवाद व वैष्णवों के भक्तिवाद से प्रभावित है और दूसरी तरफ़ सूफ़ीमत से। संतमत पर शंकर के अद्वैतवाद का प्रभाव स्पष्ट है। जहाँ तक परमात्मा, माया आदि का संबंध है, सब अद्वैतवाद से ही लिये गये हैं। मगर कबीर अनपढ़ हैं। वे मसि कागद छुए नहीं थे। इसलिए उनकी रचनाओं में जो कुछ दार्शनिक विवेचना मिलती है वह केवल अनुभूति पर निर्भर है। इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि उनकी माया में और शंकर की माया में कुछ अंतर हो।

अद्वैतवाद

अद्वैतवाद में ब्रह्म निर्गुण सत्ता है। वही परमात्मा है। आत्मा और परमात्मा एक ही तत्त्व है। फ़र्क़ इतना है कि परमात्मा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है। सत्त्व, रज, तम—इन तीनों गुणों से भी परे है। उसका जो अंश आत्मा है वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप होते हुए भी सतोगुण, रजोगुण तथा तमोगुण से लिप्त है। उसके ऊपर माया का आवरण है। माया प्रकृतिस्वरूपा है। जो कुछ हमें इस चेतन या अचेतन सृष्टि में दिखाई देता है वह सब प्रकृति है। वही माया है। सत्त्व, रज और तम ये तीनों गुण इसी माया के हैं। यह माया हमें परमात्मा से अलग कर देती है या अपने आत्मस्वरूप ज्ञान का बोध हमें नहीं होने देती। उस माया का निराकरण

ज्ञान से ही संभव है । ज्ञान से जब माया का तिरस्कार किया जाता है, तभी सोऽहम् की अनुभूति होती है ।

कबीर की माया कुछ विषयों में इससे भिन्न थी। कबीर उसकी उत्पत्ति एक निराले ढंग से बताते हैं। उसका रूप इतना कुत्सित और वासना-पूर्ण है कि जो उसके पंजे में जाता है, उसे सर्वनाश के अलावा और कुछ न हाथ लगेगा ।

यदि हम कबीर के समय की और उसके पहले के ज़माने के समाज में प्रचलित परिस्थितियों पर ग़ौर करें तो स्पष्ट हो जायगा कि क्यों उन्होंने माया की इतनी निंदा की है।

बौद्ध मत का अंत हुआ । समाज पर चौरासी सिद्धों और बनावटी साधु-संन्यासियों की धाक जम गई । चारों ओर समाज में उच्छृङ्खलता से वासनाओं का विहार हो रहा था । मद्य-मैथुन आदि का सेवन सिद्धि के वास्ते आवश्यक हो गया । स्त्री-पुरुषों के स्वच्छन्द विहार समाज को पतन के गर्त के पास खींचकर ले जा रहे थे। ऐसी परिस्थितियों में तभी कल्याण की आशा होगी जब कि लोगों को ऐसी उच्छृङ्खलता से और मानसिक पतन से बचाया जाय । इसी लिए कबीर ने ठगिनी माया को ऐसे बीभत्स रूप से चित्रित किया कि लोग अपने को उससे बचा लें ।

सूफ़ीमत

सूफ़ीमत में भगवान् एक हैं । जीव उसका बंदा है । ईश्वर प्रियतमा है और साधक प्रीतम । जीव उस परमात्मा के मिलन के वास्ते प्रस्थान करता है। इस महायात्रा में चार मंज़िलें पार करनी पड़ती हैं, जिन्हें शरीयत, तरीफत, हकीकत और मारफत कहते हैं। मारफत ही सिद्धावस्था है । वहाँ पहुँचकर साधक बका के लिए फ़ना हो जाता है ।

सूफ़ीमत में प्रेम के लिए बड़ा स्थान है । प्रेम से ही उस परमात्मा की अनुभूति प्राप्त होती है। इसके कारण वस्तुतः इस मत में विरह का प्राधान्य है । साधक या प्रीतम अपनी प्रियतमा के विरह में तड़प कर मरता है । उसके लिए हज़ार बार मरता है। ख़ून के आँसू बहाता है। आख़िरकार अपनी प्रियतमा से मिलकर शराब में पानी की तरह हो जाता है और अनंत काल तक सुख एवं आनंद-सागर में विलीन हो जाता है।

रहस्यवाद

यह ध्यान देने की बात है कि संतमत में ईश्वर पुरुष है जीव स्त्री और सूफ़ीमत में ईश्वर स्त्री है जीव पुरुष । कबीर अद्वैतवाद की ओर जितना झुके उतना सूफ़ीमत की ओर नहीं । वे उसका केवल स्पर्श करते हैं । यत्र-तत्र सूफ़ीमत के ढंग की उपासना विरह-वेदना उनमें दिखाई देती है । इतना होते हुए भी कबीर का रहस्यवाद अपनी वस्तु है । वह न तो शुद्ध अद्वैतवाद ही है और न सूफ़ीमत ही । दोनों के मिश्रण से उसमें अनुभूति की तीव्रता पैदा हुई । विरह की ज्वाला अधिक हुई । वह कोरी कल्पना या भावना-मात्र न रहकर गहरी अनुभूति से पूर्ण है । उनके रहस्यवाद की कविता की पंक्ति-पंक्ति में वेदना की तड़प, विरह के आँसू, वियोग का दुःख और मिलन का आनंद झलकता है ।

जो कुछ देख पड़ता है वह परमात्मा ही है। समस्त चेतन और अचेतन सृष्टि में वही व्याप्त है। यह प्रकृति स्वरूपा है । वह सदा अपने प्रीतम के लिए व्याकुल है । "घट-घट व्यापि रहा विरहागी ।" भगवान् निर्गुण है, निराकार है—ऐसी भावना कबीर को अद्वैतवाद से मिली । अद्वैतवाद ही कबीर की वाणी में रहस्यवाद हो गया । अद्वैतवाद के दार्शनिक तत्व जब काव्य के चोले में व्यक्त होते हैं तो रहस्यवाद की सृष्टि होती है: क्योंकि स्वयं वह एक रहस्य है। रहस्य की कथा रहस्य के सिवा और क्या हो सकती है ?

जल में कुंज कुंज में जल है
बाहर भीतर पानी ।
फूटा कुंज जल जलहि समाना, आदि ।

बाहर और भीतर पानी है, लेकिन कुंजरूपी माया जीवात्मा और परमात्मा को अलग कर देती है। वास्तव में जीवात्मा और परमात्मा में भिन्नता नहीं है ।

जल में उतपति जल में बास,
जल में नलिनी तोर निवास ।

परमात्मा में ही जीवात्मा की सहज स्थिति है । जीव, ब्रह्म और माया अलग-अलग होने पर भी, सब आत्मस्वरूप हैं ।

"ना मैं मंदिर ना मसजिद ।"

समस्त सृष्टि में उस अव्यक्त सत्ता का दर्शन करते हैं और वे उसके ऊपर इतने मुग्ध होते हैं कि उसके बिना उन्हें अपनी सेज सूनी दिखलाई देती है ।

"हरि मेरा पीव माई हरि मेरा पीव,
हरि बिन रहि न सकै मेरा जीव।
हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया,
राम बड़े मैं छुटक लहुरिया।"

कबीर की उपासना माधुर्य-पूर्ण थी। जीव प्रियतमा बनकर प्रीतम-परमात्मा के वास्ते व्याकुल हो उठता है। उसकी राह जोहता रहता है। उसकी प्रतीक्षा में तड़पता रहता है। इससे स्पष्ट है कि कबीर अभी तक साधक हैं। वे अभी तक उस सिद्धावस्था में, जिसमें सोऽहम् की अनुभूति होती है, नहीं पहुँचे।

कविता की दृष्टि से इसमें कबीर का हृदय पूर्णतया झलकता है। इनकी उद्दंडता छिप जाती है। वे प्रेम से इतने पूर्ण हैं कि उनके हृदय में परमात्मा के सिवा और किसी के लिए स्थान नहीं। प्रीतम बड़े हैं, मैं छोटी हूँ। वे समुद्र के समान हैं, मैं लहर के समान। उनकी प्रतीक्षा में मैं सोलहों शृंगार करके बैठी हूँ। अभी तक वे मुझसे क्यों नहीं मिले। अगर एक बार उन्हें देख पाऊँ तो मैं कभी इस संसार में आने का नाम न लूँ।

कैसा विश्वास? विश्वास में स्वच्छता दृढ़ता—प्रेम में निष्कपटता देखने लायक़ है। धीरे-धीरे मंज़िलें पार करते हुए वहाँ तक पहुँच जाते हैं, जहाँ पर वे जाना चाहते हैं—

हम सब माँहिं सकल हम माँहिं।
हमको और दूसरा नाहिं।
तीनो लोक हमार पसारा।
आवागम सब खेल हमारा।
हमहीं आप कबीर कहावा।
हमहीं अपना आप लखावा।

यह सिद्धावस्था है। वह अपने प्रीतम से मिल गये। सोऽहम् की अनुभूति हुई। प्रीतम ही प्रियतमा है और प्रियतमा ही प्रीतम। वे ही कबीर हैं और वे ही परमात्मा हैं।

इसमें उस सार्वभौमिक अनुभूति की संपूर्ण झलक है जो एक साधक के लिए परम आवश्यक ही नहीं, ध्येय ही होती है। यहाँ पर भिन्नताद्योतक वे सर्वनाम भी ग़ायब हो गये जिनके ज़रिये मैं और तू का भेद देख पड़ता है। यह साधना की तुरीयावस्था है।

उपर्युक्त उदाहरणों से रहस्यवाद की तीन अवस्थाएँ स्पष्ट हैं—

१—साधक परमात्मा की ओर आकृष्ट होता है, उसके अतुल वैभव और अनिर्वचनीय सत्ता को देखकर अभिभूत हो जाता है।

२—परमात्मा से प्रेम करने लगता है। उसके विरह में व्याकुल बना रहता है।

३—परमात्मा से एकाकार हो जाता है। सोऽहम् की अनुभूति होती है—

लाली मेरे लाल की जित देखो तित लाल;
लाली देखन मैं गई मैं भी हो गई लाल।

इस तरह का उत्तरोत्तर बढ़ता हुआ प्रेम, प्रेम में व्याकुलता-वेदना और उसमें अपने को भूल जाना एवं अपने अस्तित्व को मिटा देना। शायद ही इस तरह का चित्त दुनिया के और किसी साधक में मिले।

कबीर एक युगप्रवर्त्तक हैं। वे समाज और साहित्य में क्रांतिकारी भावों को लानेवाले, लोगों की हृदयस्थित भावनाओं को जगाकर जीवन-विकास के लिए मार्ग दिखानेवाले हिंदुस्तान के पहले महाकवि हैं। सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक एकता की इमारत की बुनियाद को डालनेवाले पहले दूरदर्शी विचारक हैं। पतितों के उद्धार के लिए, जाति-पाँति को मिटाने के लिए प्रचार करनेवाले पहले सुधारक हैं।

वे एक सिद्ध फ़क़ीर थे। उनका हृदय परमात्मा के नाम से विह्वल एवं द्रवीभूत हो जाता था। तब उनकी उद्दंडता ग़ायब हो जाती, और वे इतने नम्र हो जाते कि बालक की भाँति उस परमपिता की गोद में सिर रखकर आनंद के आँसू बहाते थे। तन्मय और तल्लीन होकर अपने अस्तित्व को खो बैठते थे। तभी तो उनका रहस्यवाद अपनी वस्तु है, जिसका अनुकरण क्या, जिसकी छाया भी परवर्ती कवियों को नहीं मिली।

पटखे जाने के नुकसान को रोकये ...इस तरह धोइये

शायद ही कोई हप्ता ऐसा जाता होगा जबकि आपके घर का कोई व्यक्ती या आपका कोई मित्र कपडो के अनावश्यक रूप से फट जाने और कभी तो काफी कीमती नुकसान हो जाने की शिकायत न करता हो। और इस का कारन है कपड़ों को साफ़ करने के लिए उन्हें अप्रचलित और विनाशक तरीके से कूटना।

हाँ यदि आपने इस तरीके पर अमल किया जो निम्नाकित चित्रों द्वारा समझाया गया है, और निमिन लीखित हिदायतों काभी भी ठीक-ठीक पालन किया तो आप निस्सन्देह अपने कपड़ों पर बिना कोई क्षति पहुँचाये साफ़-सुथरा रख सकेंगे

(१) जिस कपड़े को धोना हो उसे पहले खूब भिगो लीजिए। यह आप नल के नीचे, टब में, तलाब में कर सकते हैं-इससे कोई फर्क़ नहीं पड़ता।

(२) जब कपड़ें को खूब भिगो चुकें तो सारे कपड़ें में सनलाइट साबुन मलें। जो भाग अधिक मैला हो वहाँ सनलाइट जरा ज्यादा मलें।

(३) साबुन लगे हुए कपड़े को हाथों से धीरे-धीरे गूँथिये। (इसे कूटिये नहीं) तबतक गूँथिये (ठीक उसी तरह जैसे रोटी का आटा गूँथा जाता है) जब तक साबुन की झाग कपडे के हरेक तन्तु में प्रवेश पाजाए। कपड़ें को जोर से रगड़ने की या बुरी तरह कूटने की आवश्यकता ही नहीं है। सनलाइट का "स्वयंकाम करनेवाला" फेन सरलता से सारे मैल को बाहर निकाल देगा-यदि आपको यह विश्वास हो जाये कि गूँथने से यह फेन कपड़े के मैल में घुस चुका है। इस शक्तिशाली फेन में जो साबुन है वह मैल को छूते ही तत्काल फुला देता है। फेन उसे जज्ब कर लेता है ऐसे जब आप कपड़े को खुब धोएँगे तो फ़ेनके साथ सब मैल निकल जायेगा।

(४) फेन-जिसमें कि अब सारा मैल आचुका है-छुटाने के लिए कपडे को खूब मलकर धो डालिए।

ऐसे सनलाइट के तरीक़े से धोए हुए कपडे बहुत समय तक चलते है।

सनलाइट साबुन कपडों की बचत करता है

S. 75 - 23 HI

LEVER BROTHERS (INDIA) LIMITED

युद्धकालीन साहित्य और कला

श्रीचन्द्रचूड़

कला और साहित्य दोनों के मूल में क्रियाशील चेतन-वृत्तियाँ तथा सौन्दर्य-बोध की मानसिक धाराएँ बड़े वेग से बह रही हैं। जब तक चेतना में क्रियमाण शक्ति का विकास और मानसिक स्तर में सौन्दर्य-बोध न होगा, तब तक न तो साहित्य ही निर्मित हो सकता है और न किसी प्रकार की उपयोगी अथवा ललितकला का ही सर्जन। कला और साहित्य के लिए चेतना और सौन्दर्य चाहिए।

जब देशों में आन्तरिक कलह अथवा स्पष्ट रूप से युद्ध छिड़ जाता है, उस समय किसी भी देश के इतिहास में पतन की छाया दृष्टिगत होने लगती हैं। देश की शान्ति नष्ट हो जाती है और उसके सुख-समृद्धि की अवधि भी बीत चलती है। उस समय मनुष्य को अपने प्राणों की अधिक चिन्ता रहती है; उसे किसी प्रकार की कला तृप्त नहीं कर सकती। एक ऐसी परिस्थिति में जब देशों का भाग्य रणांगण में आ टिकता है और युद्ध के ही विजय अथवा पराजय पर किसी भी देश की स्वतन्त्रता या पराधीनता का प्रश्न आ उपस्थित होता है, उस समय मनुष्य स्वतः अपने देश और जाति के लिए मरने-मारने को सन्नद्ध हो जाता है। उस समय उसे 'प्राणों की तन्त्री' झंकृत करने अथवा 'गान्धार' या 'धैवत' अलापने की सुध नहीं रहती। युद्ध के समय कला सर्वथा अनुपयोगी हो जाती है। इसी प्रकार साहित्य भी उस रूप में नहीं बढ़ता जैसा कि सुख और शान्ति के दिनों में और यदि उसका सर्जन घटता नहीं तो वह भी एकांगी एवं एकमुखी रह जाता है। राजनीति के अतिरिक्त साहित्य के क्षेत्र में कोई दूसरा आदर्श दिखलाई ही नहीं पड़ता। 'जनतन्त्रवाद', 'साम्राज्यवाद', 'साम्यवाद' आदि वादों से वह साहित्य भी इस प्रकार दब जाता है कि उसमें से मानसिक, सामाजिक, धार्मिक तथा दार्शनिक तथ्य बिलकुल उड़ जाते हैं। जो साहित्य केवल एकांगी होकर जनता में आता है, उसे ही लोग 'प्रोपेगैण्डा' (Propaganda) आदि नामों से विभूषित करते हैं। सच्चा साहित्य कभी एकमुखी अथवा एकदेशीय नहीं होता। वह निखिल विश्व का होता है और उसमें निखिल मानवता के कल्याणकारी चिरन्तन आदर्श भरे पड़े होते हैं।

युद्ध कला और साहित्य का भीषण शत्रु है। युद्ध के समय न तो कला और न साहित्य ही सार्वभौमिक हो सकता है। जो वस्तु सार्वभौमिक नहीं हो सकती वह स्थायी भी कैसे हो सकती है। इसका इसी से अनुमान लगाया जा सकता है कि मानव-समाज का प्रत्येक नैतिक नियम विश्व के सकल देशों में एक ही तरह से प्रचलित है और इसी लिए स्थायी है। परन्तु युद्ध का काल ऐसा भीषण और संकटमय होता है कि उसमें मनुष्य की सारी मानसिक तथा नैतिक चेतनाएँ लुप्त हो जाती हैं, जिनके अभाव में वह अपने साहित्य या कला का निर्माण नहीं कर सकता और जिस प्रकार युद्ध के आदि में वैसे ही अन्त तक साहित्य और कला को महान् क्षति पहुँचती है। वर्तमान योरप का महायुद्ध क्या इसका उदाहरण नहीं है?

पर साहित्यिकों और समाजशास्त्रियों (Sociologists) में एक ऐसा भी मत प्रचलित है कि शान्त नहीं, युद्ध के समय में ही कला और साहित्य की उन्नति होती है। यह मत प्रोफ़ेसर ब्रॉडन तथा वॉल्ट ह्विटमैन का है जो जीवन की 'गति' छोड़कर कुछ मानते ही नहीं। उनका कहना है कि शान्ति के समय मनुष्य स्त्रैण हो जाता है और वह मृत हो जाता है; यदि कुछ लिखने का प्रपंच भी करता है तो नपुंसक साहित्य का ही निर्माण करने बैठता है। फ्रेंच राज्य-क्रान्ति, रूसी क्रान्ति, अमेरिकन क्रान्ति, जर्मनी एवं इटली की स्वाधीनता, इन सबके मूल में एक गत्यात्मक (Dynamic) प्रभाव और प्रवहमान शक्ति का विकास था जिसके बल पर निर्मित वहाँ का साहित्य इतना गतिपूर्ण और प्रगतिशील है। बहिःदृष्टि से देखने से तो ये बातें सच ही जान पड़ती हैं; किन्तु जब हम यह पता लगाने बैठते हैं कि क्या मानवता का सर्वोत्तम आदर्श केवल भौतिक विजय ही प्राप्त करना है या और कुछ तो हम स्पष्ट देखते हैं कि यह साहित्य और ये कलाएँ, जो युद्ध के परिणामस्वरूप विकसित होती हैं, कभी मानव-इतिहास में चिरन्तन

और स्थायी नहीं हो सकतीं। कला और साहित्य दोनों जीवन की मीमांसा हैं। उनका जीवन के उत्थान और पतन में बड़ा भारी हाथ है।

भारतवर्ष में तो जब-जब युद्ध हुए हैं उनका यहाँ की तत्कालीन कलाओं पर, और जीवन-साहित्य पर संक्रामक आघात हुआ है। इसके विपरीत जब यहाँ शान्ति रही है, उस समय समाज में ऐसे धुरंधर विद्वान्, समाज-सुधारक और धर्माचार्य हुए हैं जिनके परमोपदेशों पर अखिल भारत को गर्व है। हिन्दी-साहित्य का "स्वर्ण-काल" (भक्तिकाल) यद्यपि विभिन्न संस्कृतियों के संघर्ष के बीच से निकला, पर कितना शान्तिपूर्ण और मधुर था वह जीवन जब सूर और तुलसी ने जनता के मधुर सूखे हृदयों को सरस बनाया और अपने राम-कृष्ण जैसे शील-सौन्दर्यसमन्वित आदर्शों से मानवता को ऊपर उठाया।

युद्ध कला और संस्कृति का सबसे बड़ा विरोधी और घातक शत्रु है। साहित्य कभी उन्नति नहीं कर सकता, जब तक कि युद्ध के बादल उस पर मँडरा रहे हों। साहित्य के लिए जीवन में एक माधुर्य और शान्ति की विमल स्रोतस्विनी चाहिए, जिसके किनारे बैठकर वह अपनी बौद्धिक एवं हार्दिक प्रेरणाओं से मानवता को आदर्शों का दान कर सके। साहित्य और कला की यही आकांक्षा चिरकालीन 'सत्य' है।

खदेरू की गृहस्थी

श्रीयुत कालीचरण चटर्जी एम्० ए०

सवेरे का चित्र

[खदेरू और उसकी स्त्री खेदनी]

खदेरू—(बिस्तर पर बैठकर) "राम-राम-राम।"

खेदनी—"बेकार की बातें तो ख़ूब याद रहती हैं। काम की बातों में क्यों इतनी ग़लती हो जाती है?"

"क्या ग़लती हुई भई, ज़रा मालूम तो हो?"

"अभी तक मालूम नहीं हुआ, क्या ग़लती हुई?"

"अरे हाँ-हाँ, तुम्हारी हँसुली के बारे में न?"

"सो इस वक़्त क्यों याद रहेगा? ज़ेवर के बारे में कुछ कहने से ही लोगों की नानी मर जाती है!"

"नहीं-नहीं, मुझे ठीक याद है, और कुछ दिन निकल आवे, सोनार की दूकान खुले........"

"अभी दिन निकलेगा क्यों? अपना काम होता, तो अब तक दफ़्तर जाने के लिए रोटी की जल्दी पड़ जाती। दूसरे के काम के लिए दिन थोड़े ही निकल सकता है।"

"बाहर ज़रा झाँककर देखो तो सही, अभी तक उजेला नहीं हुआ।"

"सो क्यों होगा? मेरा काम आ जाने से लोगों की आँखें कहीं चरने जाती हैं—तब चौबीस घण्टे की रात हो जाती है।"

"अच्छा-अच्छा, मैं अभी जाता हूँ; वाहियात बक-बक कर मेरा दिमाग़ न चाटो।"

"दिन-रात मैं बकती रहती हूँ, यही तुम देखते हो? सुना, बे-सिर-पैर की बात ज़रा सुना!"

"ग़लती हो गई, बाबा, ग़लती हो गई; बक-बक करना मेरी ही आदत है. इसलिए मेरे मुँह से वह बात निकल गई।"

"मुँह से क्यों नहीं निकलेगी? मेरा-सा लावारिस माल तो कहीं मिलेगा नहीं। मुँह है, कहे जाओ; परमेश्वर ने कहने को मुँह दिया है, जो ख़ुशी हो, कह लो।"

(जाने की चेष्टा)—"कभी कुछ न बोलूँगा। क़सम है, घर में एक बात भी न बोलूँगा।"

"क्यों बोलोगे? घर में बोलने से पैसा ख़र्च होता न, घर में क्यों बोलोगे?"

(मन में)—"क्या आफ़त है! बोलो तो आफ़त, न बोलो तो आफ़त; एक ओर खाई, तो दूसरी ओर चट्टान। इस ज़िंदगी से मैं तो आजिज़ आ गया। किसी तरह से अब नहीं बोलूँगा।"

[नीरव होकर जाने की चेष्टा]

"मुझसे अगर बोलना हुआ, तो लोगों के मुँह में आग लग जाती है; लग जाय, आग लग जाय; परमेश्वर करे जनम-जनम में ऐसा ही हो!"

(कुछ गुस्से में आकर)—"देखो, सवेरे-सवेरे सराप-वराप न देना!"

"क्यों, मारोगे क्या? मारो तो, कैसे मारते हो! देख लूँ ज़रा। हाथ तो उठाओ!"

(अपने मन में)—"धत् तेरे की! यः पलायति स जीवति।"

[जाता है]

"उफ़्! मैया री! बप्पा रे! तुम लोग इस वक़्त कहाँ हो? ऐसे घर में मुझे डालकर, तुम लोग कहाँ चले गये? एक मर्तबा देख जाओ, यहाँ मेरी कैसी दुर्दशा हो रही है।"

[बिस्तर पर लेटना और फूट-फूटकर रोना।]

दोपहर का चित्र

खदेरू—(खेदनी का हाथ पकड़कर)—"थोड़ा खा लो मेरी रानी, थोड़ा खा लो। वैसे ही तुम कमज़ोर हो, फिर अभी उस दिन बीमारी से उठी हो, थोड़ा-सा खा लो।"

खेदनी—"जब तक जान है, इस घर में मैं एक बूँद पानी तक नहीं पिऊँगी।"

"हाथ जोड़कर कहता हूँ—थोड़ा खा लो। जानती हो न, मैं तुम्हारा पति हूँ—तुम्हारा देवता हूँ; फिर भी तुमसे विनती करता हूँ—थोड़ा खा लो; मेरी बात मान जाओ—मेरी लाज रख लो।"

(अभिमान से)—"तुम्हारी बात रख लेने से क्या फ़ायदा?"

"देखो तुम सीता-सी, सावित्री-सी मेरी साध्वी पत्नी हो; शुरू से ही मेरी इज़्ज़त आबरू बचाती आई हो; फिर क्यों मेरा कहना टालकर प्रायश्चित्त करने के फेर में पड़ोगी?"

"क्यों ? मुझे क्या कोढ़ हुआ है या मैंने धर्म छोड़ दिया है, जो प्रायश्चित्त के फेर में पड़ूँगी ?"

"गो-हत्या का पाप लगेगा, तो ?"

"ऐं ! यह कैसे ?"

"सभी लोग मुझे 'रामजी की गौ' कहा करते हैं न ; सो अगर मैं आत्म-हत्या कर लूँगा, तो वह गो-हत्या के बराबर होगा न ?"

"ज़रा सुनो इनकी बातें ! क्यों, मैंने तुम्हारा क्या बिगाड़ा है, जो तुम मुझे गो-हत्या का पाप लगा रहे हो, इस दोपहर को ? (ग़ुस्से से उठ खड़ी होती है) इस घर में अब कभी पैर धरूँ, तो मरे मानुस का मांस....।"

"दुहाई तुम्हारी, तुम हो इस घर की लक्ष्मी ; ऐन दोपहर को घर से निकलना ठीक नहीं।"

"कभी नहीं ; मैं इस घर में और एक लहमा भी नहीं रहूँगी।"

[जाती है।]

[इतने में ज़ेवर लेकर सोनार आता है।]

"अच्छा, तुम अगर सचमुच जाना ही चाहती हो, तो जाओ ; लेकिन मुहल्ला छोड़कर न जाना। इतना एहसान मुझ पर करना।"

(कुछ आनाकानी कर)—"अगर मैं गई, तो सीधे मैके चली जाऊँगी, तुम्हारे गाँव में कभी नहीं ठहरूँगी।"

(मन-ही-मन हँसकर)—"तो जाओ, दो दिन के लिए अपने मैके जाओगी, तो जाओ ; इसमें मुझे कोई एतराज़ हो ही नहीं सकता।"

"मैं किसी के एतराज़ की परवा ही नहीं करती।"

"बहुत अच्छा, तो गाड़ी बुलाऊँ ?"

(टालमटोलकर ज़ेवर के बक्स के पास बैठती है) "आज रहने दो ; मैं भी समझती हूँ, बिलकुल भद्रा योग में घर की लक्ष्मी को कहीं जाना नहीं चाहिए।"

"ख़ैर, यह तुम जानो ; लेकिन फिर भी मैं कहता हूँ कि तुम्हारे मैके जाने में मुझे कोई उज़र नहीं—तुम आज जाओ या कल।"

"नहीं, आज तुम्हारा अमंगल कर किस प्रकार जाऊँ ?"

(मुसकराकर)—"तब ज़ेवर देखकर खाना खा लो।"

[ज़ेवर लेकर ख़ुशी-ख़ुशी खाना खाने जाती है।]

रात का चित्र

खेदनी—"कहाँ थे इतनी देर ?"

खदेरू—"तुमसे मतलब ?"

"काहे, इतना ग़ुस्सा काहे को ? मैं किसी के ग़ुस्से की तनिक भी परवा नहीं करती। ग़रज़ हो बोलोगे ; न हो, न बोलोगे।"

"क़सूर हुआ बाबा ! कान पकड़ता हूँ, अब ऐसा काम न करूँगा। (कान पकड़ना) बस !"

"जी चाहे करो, न चाहे न करो। मैं ऐसी अपाहिज नहीं कि चुटकी-भर आटे के लिए दिन-रात गाली-गलौज सहकर पड़ी रहूँगी। मैं कोई ऐसी-वैसी नहीं हूँ।"

"देखो, नाहक़ तुम बकवाद करती हो ; कान छूकर माफ़ी माँगने से कुत्ते तक नहीं बोलते।"

"फिर मैं कुत्ते से भी बदतर हूँ, क्यों ? मेरे माता-पिता क्या ऐसे ही नीच थे ! (रोना) अरी अम्मा री, अब मैं कहाँ जाऊँ ? मौत, तू अभी मुझे बुला ले, ताकि मैं रोज़-रोज़ की झायँ-झायँ से छुटकारा पा जाऊँ।"

[ज़मीन पर पछाड़ खाकर ज़ोर-ज़ोर से रोना।]

"देखो, मैंने अपने को कुत्ता कहा है। तुम्हारे पैरों पर पड़कर प्रार्थना करता हूँ, चुप रहो। रात बहुत हो चुकी है ; वैसे ही तो लोगों ने इस मकान में 'भूत-प्रेत का भय है' कहकर मशहूर कर रक्खा है।"

"क्यों, इतना क्यों बर्दाश्त करूँगी ? कुत्ता कहा, जी नहीं भरा ; फिर भूत-प्रेत तक पहुँच गये। मैं भूतनी हूँ या प्रेतनी ?"

(ग़ुस्से में आकर)—"दोनों, नहीं तो दोपहर रात को मुझ पर चढ़ सकता है कोई ?"

(सिर कूटने जाकर)—"हाँ ! तो सिर फोड़कर आज ही मैं मरूँगी ; मरकर भूतनी हूँगी ; होकर, तुम पर चढ़कर तब मानूँगी।"

(गर्व के साथ)—"सो अब नहीं हो सकता। जानती भी हो, रेल की बदौलत गयाजी अब मुट्ठी के अन्दर हैं।" (मुट्ठी दिखलाना)

(ज़मीन पर सिर ठोंकते-ठोंकते)—"बेटे की क़सम, निर्वंश होगे, अगर मेरा पिंडदान तुमने गयाजी में दिया।"

"ऐसी क़सम से कुछ नहीं हो सकता। तुम भूतनी होकर मुझ पर चढ़ोगी और मैं इससे बचने के लिए गयाजी में पिंडदान न दूँगा ? ऐसी क़सम का कुछ असर हो ही नहीं सकता। मैं ठाकुरजी को ४०) की पूजा चढ़ाऊँगा, मगर तुम्हारी क़सम का कुछ असर न होने दूँगा, याद रखना।"

(चिल्लाकर)—"अरे बाप रे, मार डाला ! मुझे ज़हर देकर मार डाला ?"

"ऐं, यह कैसी बात ? सीधे-सादे नख़रे तो ख़ूब कर रही थीं, उसी को जारी रक्खो न ; अदालती कार्रवाई करने का इन्तज़ाम आधी रात को क्यों ?"

[इतने में 'अबला-आश्रम' के दो सदस्यों का आना ।]

प्र० स०—"छिः ! खदेरू बाबू, छिः ! हमें नहीं मालूम था, आप बिलकुल आवारा हो गये हैं । पत्नी Guardian angel, गृह-देवी, गृह-लक्ष्मी होती है ; आप उन्हें ज़हर दे रहे हैं !"

खदेरू—"अच्छा भई, दुहाई धर्म की ; तुम लोग सज्जन हो, तुम्हीं लोग फ़ैसला करो । अच्छी तरह ढूँढ़कर देखो तो, इस मकान में कहीं ज़हर है भी ?"

प्र० स०—"शीशी-समेत शायद उस कुएँ में डाल दिया होगा ।"

द्वि० स०—"उफ़् ! Horrible ! shoching ! उफ़् खदेरू बाबू, छिपे रुस्तम निकले, what a monster, what a derron you are !"

खदेरू—(अवाक् होकर कुछ क्षण बाद)—"हाँ भई, ठीक है । अब पुलिस को बुलाओ, मेरे हथकड़ी डलवा दो ; मुझे काले पानी भेजवा दो, ताकि मुझे शान्ति मिले । यह तकलीफ़ और सही नहीं जाती ।"

प्र० स०—"अच्छा, अच्छा ; कल सवेरे आपकी मुराद पूरी हो जायगी । इस वक़्त आप इन्हें कहीं भेज दीजिए । वह निश्चिंत हो जायँ, हम लोग भी निश्चिन्त हो जायँ ।"

खदेरू—"जहाँ ख़ुशी हो, वहाँ वह जा सकती हैं ; मुझे भी आराम हो जाय ।"

द्वि० स०—"आप आइए, हमारे साथ ।" (कहकर खेदनी का हाथ पकड़ने के लिए हाथ फैलाना)

[आदर्श हिन्दू-नारी की विशेषता एकदम उमड़ आती है ।]

खेदनी—"ख़बरदार ! नीच कुत्तो ! पराई स्त्री का हाथ पकड़ने में शर्म नहीं आती ? तुम लोगों ने क्या मुझे आजकल की स्त्रियों में से समझ लिया है, जिन्हें धर्म-हीन, मर्दानी शिक्षा देकर, युवकों की तरह कसरतें सिखाकर, राजनीति-क्षेत्र में घसीटकर तुम लोग स्त्रीत्व का नाश कर रहे हो । जो भारतीय स्त्री-सुलभ लज्जा की मर्यादा की हत्या कर, पुरुषों के सामने अपने को परी बनाकर झुण्ड-की-झुण्ड अल्हड़पन से उछलती-कूदती फिरती हैं, अश्लील सिनेमा देखने, नाच नाचने, फ़ैशन में भारतीय सभ्यता की विशेषता को पैर से कुचलने से नहीं हिचकिचाती, जो विदेशी सभ्यता के आदर्श से अनुप्राणित होकर मातृत्व से बचे रहने के लिए सदा चाहती हैं, तितली का-सा जीवन व्यतीत करना, जिनको पार्टी, बाल-भोज—एक-न-एक नया शौक़ रोज़ लगा रहता है—न होने से दिल को शान्ति नहीं मिलती, जिनको नित्य नई चीज़ों—यानी ऊँची एड़ी का जूता, लज्जा-रहित ब्लाउज़, आकर्षित करनेवाली रंग-बिरंगी साड़ी, लिप्स्टिक, पाउडर तथा पफ़ और न जाने क्या-क्या, सबकी माँग रहती है ! अरे बेशर्म, बेहयाओ, मेरा चरित्र इन महिलाओं के समान नक़ली काग़ज़ का फूल नहीं । अगर तुम लोग अपमानित होना नहीं चाहते, तो मेरे सामने से अभी दूर हो जाओ ।"

द्वि० स०—(पहले सदस्य से)—"By Jove, यह तो है साक्षात् काली साँपिन, ख़ैरियत हुई, डस नहीं लिया । भैया, यहाँ से भागने में ही कल्याण है—यहाँ दाल नहीं गलने की ।"

(दोनों भाग जाते हैं)

सेलुलायड का बबुआ

श्रीरामसरन शर्मा

रजनी चारपाई पर पड़ी थी। चुपचाप, सूनी दृष्टि से छत की ओर देख रही थी।

पीली, मानो मुँह पर किसी ने हल्दी पोत दी हो।

बड़ी-बड़ी आँखें—मुँह पर आँखें ही आँखें—दिखाई देती थीं—आँसुओं से भरी हुई।

चारपाई से लगी सी........हड्डियों का ढाँचा।

रजनी तपेदिक़ से बीमार थी। शादी हुए अभी साल भर भी तो नहीं हुआ था अभी से........यह भयानक रोग!

सोलह वर्ष की छोटी-सी उम्र में ही रजनी जीवन के सुन्दर-सुन्दर सपनों को छोड़कर मौत के भयानक मुँह को देख रही थी।

पति का नाम था अविनाश। कालिज के बी० ए० क्लास में पढ़ते थे। जवानी—कीट्स की सी भावुकता—आँखों में मादकता, ऐसा अविनाश जीवन की पहली बेला में ही अपने जीवन-साथी को मृत्यु की ओर बढ़ता देखकर दिल मसोसकर रह जाता था—लाचार, बेबस।

कब से बीमार थी रजनी? महीनों से रजनी चुपचाप चारपाई पर लेटे हुए सपने देखा करती थी—रंग-बिरंगे, सुन्दर, भयानक, मोहक, डरावने।

सपना देखना ही तो जीवन के किनारे पर पहुँचे पथिक का अवलम्ब होता है।

उन्हीं में वेदना, हँसी, रोना, हँसना सब हो जाता है।

रजनी सोच रही थी........

शादी के दिन।

कितनी धूमधाम।

गाना, बजाना, दावत....सब कुछ।

आरती के समय उसने अपनी सहमी हुई, उत्सुक आँखों से देखा था उन्हें—अविनाश को।

कैसे सुन्दर........पर वह तो अब भी वैसे ही हैं। और रजनी........! उसने अपना सींक-सा हाथ उठाया, देखा, और बेबसी से पलँग पर पटक दिया।

ओह!

हाँ, तो, थोड़े से दिन हँसकर, रातें बात करके।

फिर!

फिर थोड़ा सा ज्वर, खाँसी और....आज....रजनी के हृदय से एक दबी साँस निकल पड़ी।

दो बूँद आँसू ढुलककर तकिये पर गिर गये।

सोचा था........

दिन सोने के रातें चाँदी की। देखते ही देखते बीता करेंगे।

सो तो हुआ ही। वे सब ही तो बीत गये। कितनी जल्दी?

आज....सोलह वर्ष की उम्र में....

ओह!

रजनी ने करवट बदल ली।

माथे पर पसीना चमक आया।

कितनी तन्मयता से वे रजनी के इलाज में लगे रहते थे। रात-दिन पलँग की पाटी पकड़े बैठे रहते थे।

कहा करते, "तुम अच्छी हो जाओ तो........"

रजनी का हृदय पीड़ा से भर आता।

उस 'तो' के बाद कितनी विवशता, कितनी दबी उमँगें थीं।

यह दिन क्या ऐसे बैठे रहने के थे उनके?

आह! वह उन्हें एक दिन भी सुख न दे सकी।

सुख! काश वह अच्छी हो सकती। पर....रजनी ज़रा-सा मुस्कराई....अच्छी वह अब क्या होगी।

उसके बाद....?

वह उसे कितना याद करेंगे? कितना रोवेंगे?

सुन्दर आँखें लाल हो जायँगी, मुँह उतर जायगा।

पर कुछ दिन बाद? वह दूसरी........नहीं वह ऐसा नहीं करेंगे।

रजनी को वह कितना प्यार करते हैं!

तब?

यदि वह........हाँ, सोचा भी था कि किसी दिन एक सुन्दर सी गुड़िया की मा........रजनी....मा।

यदि ऐसा हो सकता?

गुड़िया, सुन्दर-सी, हँसती, बोलती, अँगूठा चूसती, गुड़िया........

अच्छा जी, वह किसकी अनुहार होती ?

उसकी ?

उनकी ?

हाँ, उनकी ही।

तभी तो रजनी के बाद वह उस गुड़िया में अपने प्रेम का स्वरूप देखते।

लेकिन ?

डाक्टर ने तो कहा था, अच्छी हो जाओगी। वह भी तो यही कहते थे।

पर डाक्टर की फीकी मुस्कराहट और उनकी आँखों की वेदना क्या रजनी से छिपी थी ?

जीवन की डोर टूट रही थी।

वह अब अच्छी न होगी।

रजनी ने चारों ओर देखा........यह धूप........यह घर........वे........सब कुछ न रहेगा।

नहीं, नहीं वह ही नहीं रहेगी।

वे रोयेंगे........फूट-फूटकर।

फिर शायद कुछ दिन में........

रजनी घबराने लगी। दिल ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा।

माथे पर बड़ी-बड़ी बूँदें।

छाती को दबाकर दिल को थामना चाहा। तेज़ी से, सरपट दौड़ता हुआ।

यदि वह अपनी एक यादगार छोड़ सकती!

यदि वह, एक बार—केवल एक बार—बेटा कह सकती।

तब शायद........

लेकिन विधाता को यह मंज़ूर ही न था।

वह चली जायगी। बिल्कुल, एकदम दुनिया से।

खाँसी का दौरा उठा। भयानक, डरावना।

अविनाश दौड़कर अन्दर आये।

रजनी बिस्तर पर गिर गई। मानो कटा पेड़।

मुर्दा-सी, थकी हुई, पीली।

आँखें बन्द, पसीने से भीगी।

साँस ज़ोर की।

अविनाश ने माथे पर हाथ फेरते हुए कहा—

"रजनी, तुमने मुझसे जीवन में कभी कुछ लाने को न कहा। आज कहो।"

चलाचली का वक़्त था।

रजनी ने आँखें खोलीं।

पति के मुख पर उन्हें जमाया। मुख पर एक लाली की झलक दौड़ गई।

उसकी आँखों ने देखा अविनाश की आँखों में बैठा व्याकुल हृदय।

........मा........मा........काश एक बार....उसकी यादगार........

अविनाश के—उनके और उसके बीच का रिश्ता मरने के बाद भी क़ायम रह सकता तो........

........मा........यादगार........

रजनी ने आँखें झपकाते हुए कहा—

"मुझे एक सेलुलायड का छोटा-सा बबुआ ला दो।"

आवाज़ लड़खड़ाई हुई। चेहरा पीला, मुर्दा-सा। आँखें झिपकीं।

अविनाश ने देखा उसकी ओर और उनकी आँखें भर आईं।

रजनी की यह अन्तिम इच्छा थी।

VINOLIA
WHITE ROSE SOAP
भारतीय गुलाब के उद्यान की समस्त प्रातः काल की नवीनता विनोलिया व्हाइट रोज़ साबुन द्वारा आप ला सकते हैं। उस का मृदु, भरपूर झाग सुकोमल त्वचा को सौम्यता से साफ़ करता है—और उस के सुगंध से आप के अतराफ़ एक मीठी महक लहराती है। आप के सौन्दर्य-वर्धन का इस से उत्तमोत्तम वा अत्युत्कृष्ट साबुन आप नहीं पा सकते। विनोलिया व्हाइट रोज़ को अपना प्रिय साबुन बना लो।

कालिदास की एक महत्ता

बालाजी राव जोशी बी० ए०

महाकवि कालिदास भारतीय संस्कृतसाहित्य के ही नहीं, संसार के साहित्य के उज्ज्वल रत्न थे। भारतीय साहित्य और काव्य की अद्वितीयता योरप में सिद्ध करने का पहला श्रेय शायद कालिदास को ही है। संसार की उत्कृष्ट रचनाओं में कालिदास की कृतियों को ही गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त हुआ है। किं बहुना, कालिदास का अध्ययन, रसग्रहण और समालोचन जिस मात्रा में होता रहा है, उतना शायद किसी अन्य भारतीय काव्य का नहीं हुआ। मोटे हिसाब से कालिदास को मरे आज डेढ़ हज़ार साल हुए, फिर भी उनकी लोकप्रियता और प्रभाव बराबर बढ़ता रहा है।

कालिदास को प्राप्त हुए इस महत्सौभाग्य का मूल कारण क्या है? यह सवाल स्वाभाविकतया हमारे दिल में उठ सकता है। वास्तव में यह विषय गंभीर और बृहत् है। यहाँ हम उनकी महत्ताओं का विस्तृत विवेचन करना नहीं चाहते। हम सिर्फ़ उनकी एक ही महत्ता का, जो साधारणतः दुर्लक्षित की जाती है, संक्षिप्त विवेचन करना ठीक समझते हैं।

हमारी दृष्टि में कालिदास की एक बड़ी महत्ता यह है कि उनकी समस्त कृतियों में मानवीयता का अंश (Note of Humanity) मौजूद है। मानव और साहित्य का रिश्ता घनिष्ठ है। साहित्य मानव-निर्मित वस्तु है। जिसका उपयोग, मूल्य अथवा महत्त्व मानव की दृष्टि से है। अतएव साहित्य की परिभाषा करते समय मानवता के तत्त्व को भूला नहीं जा सकता। साहित्य की श्रेष्ठता की एक कसौटी यह है कि वह मानवीय रुचियों को कहाँ तक तृप्त कर सकता है, और मानवीय संस्कृति का कहाँ तक विकास कर सकता है। प्राचीन साहित्यशास्त्रियों के रस-सिद्धांत का आधार भी यही मानवीयता है। मिडल्टन नामक एक विद्वान् अँगरेज़ समालोचक ने मानवीय अभिरुचियों को साहित्य का मूलद्रव्य (substance) कहा है, और साहित्य की भावनाप्रधान शाखा को ही उसकी ज्ञानप्रधान शाखा से श्रेष्ठ और स्थायी माना है; क्योंकि इसी शाखा में मानवीय भावनाओं को तृप्त और आंदोलित करने की सामर्थ्य मौजूद रहती है। वह मानवीयता मनुष्य की आंतरिक भावनाओं, वृत्तियों और प्रवृत्तियों में अधिक स्थिरता से रहती है। इसलिए यह स्वाभाविक है कि साहित्यिक का ध्यान भावनाविष्करण पर विशेष रूप से केंद्रित रहे। परंतु भावनाविष्करण के संदर्भ में हम परिस्थिति के चित्रण को हीन नहीं समझ सकते। साहित्यिक पर उसकी परिस्थितियों का असर पड़ता और उसकी कृतियों में मुखरित भी होता है। याद रहे, साहित्यिक परिस्थिति-चित्रण और ऐतिहासिक चित्रण में मौलिक भेद है। दूसरा इतिवृत्तात्मक है, तो पहला मनोवैज्ञानिक संस्पर्श से युक्त है। दूसरा सिर्फ़ निवेदन करता है तो पहला पाठक की भावनाओं को आंदोलित और सुसंस्कृत करता है। साहित्य में उसी परिस्थितिचित्रण को महत्त्व प्राप्त होता है जिसे मनोवैज्ञानिक पार्श्वभूमि प्राप्त हुई है।

कालिदास की कृतियों में मानवीयता का अंश पर्याप्त मात्रा में है। कालिदास जगह-जगह मानवीय भावनाओं को स्पर्श करते हैं; उन्होंने अपने समय की परिस्थिति का भी जहाँ-तहाँ उल्लेख किया है। परंतु फिर भी उनका परिस्थितिचित्रण बड़ा ही मनोरंजक और हृदयस्पर्शी लगता है। कालिदास के संकेत, ढाँचे और उपकरण आज अप्रचलित हैं, फिर भी वे हमें सुखप्रद ही प्रतीत होते हैं; क्योंकि उनके मूल में मानवीय भावनाओं का ज़िंदा झरना बह रहा है। मेघदूत को लीजिए। चाहे हम यक्ष की तरह पर्वत पर न भी हों, बादल को संबोधित न भी करते हों, तथा इसी तरह यक्ष की तमाम विशिष्ट परिस्थितियों से वंचित हों, फिर भी यक्ष की वेदनापूर्ण भावनाओं का हम अनुभव करते हैं। "मेघालोके भवति सुखिनोऽप्यन्यथावृत्ति चेतः कंठाश्लेषप्रणयिनि जने किं पुनर्दूरसंस्थे" इसका हमें पूरा-पूरा अनुभव होता है। इस प्रकार की तमाम पंक्तियाँ मेघदूत में हैं, जिनमें मानवीय सत्य भरे पड़े हैं, और वह इसीलिए परिस्थिति, संकेत अथवा रूढ़ियों के पटलों को चीरकर प्रत्येक नवीन युग के पाठक को आनंदित और प्रभावित करता है। किं बहुना, भावनात्मक तादात्म्य की अवस्था में वह अपने में और यक्ष अथवा अन्य पात्र

में पूर्णतया साधारणीकरण की भावना का अनुभव करता है।

तो, हमारी दृष्टि में मानवीयता, जो भावनाओं पर मुख्यतः आधारित है, कालिदास के असाधारण महत्त्व का प्रधान कारण है। इसी सिलसिले में हम यह भी जान लें कि कालिदास ने किस मानवीय भावना को अपना निरूप्य बनाया, ताकि उनके महत्त्व के रहस्य पर अधिक विशद रोशनी पड़ सके। यह प्रायः सबको मालूम है कि कालिदास ने रति यानी संभोगात्मक प्रेम की भावना का ही प्रधानता एवं विपुलता से चित्रण किया है। कालिदास जैसे बुद्धिमान् कवि ने सिर्फ़ रति का ही चयन क्यों किया? वह अन्य भावनाओं को भी ग्रहण कर सकता था। परंतु हमारा ख़याल है कि कालिदास ने बहुत सोच-समझकर ही रति का सहारा लिया। कालिदास रति के प्रभाव और प्रभुत्व को अच्छी तरह जानते थे। उन्होंने इस बात को पूर्ण रूप से महसूस किया कि रति मानवीय हृदय की अत्यंत कमनीय, मधुर और कोमल भाववस्तु है। भला ऐसी रति को छोड़ वह अन्य बातों को क्यों पकड़ते। रति के इस चुनाव में ही, हमारी दृष्टि में, कालिदास की सूक्ष्म मनोवैज्ञानिकता व्यक्त होती है। साधारणतः भावनांदोलन प्रिय लगता है, पर उसमें भी रतिभावना का आंदोलन अधिक प्रिय लगता है। कालिदास की अपार लोकप्रियता का सबसे बड़ा कारण यही है।

भवभूति और कालिदास की तुलना में भवभूति की श्रेष्ठता के पक्ष में यह दलील पेश की जाती है कि जहाँ कालिदास ने निम्न संभोग का चयन किया है, वहाँ भवभूति ने ऊँची प्रीति का सहारा लिया है। परन्तु हम इस दलील को ठीक नहीं समझ सकते। कलाकार की स्वीकृत वस्तु की हेयता या उपादेयता का सवाल गौण है। साथ ही, समालोचक को यह कहने का अधिकार नहीं है कि कलाकार अमुक वस्तु ले अथवा त्यागे। सच तो यह है कि कलाकार वस्तु का जिस रूप में प्रदर्शन व अनुरञ्जन करता है उसी के सौष्ठव की परीक्षा की जाय। गुण-दोष-परीक्षण में कलाकार की प्रतिभा और कुशलता को ही प्रधान महत्त्व दिया जाता है। माना कि भवभूति ने ऊँची प्रीति को स्वीकृत किया, पर क्या वह केवल इसी से श्रेष्ठ हुआ है? यदि उसके पास आवश्यक प्रतिभा, कौशल और काव्यगुण न होते तो उसके ऊँचे निरूप्य से क्या लाभ होता। यह हो सकता है कि कला के अभिजात नियमों का पालन कालिदास द्वारा न हुआ हो, पर उनको इसी लिए तुच्छ समझना कि उन्होंने एकमात्र संभोगात्मक रति का सहारा लिया है, युक्तिसंगत और उचित नहीं प्रतीत होता। हमें सिर्फ़ यही देखना है कि "तथाकथित रति का" कालिदास ने उचित शिष्टता और संयम के साथ कहाँ तक सौंदर्यनिष्करण किया है। इस दृष्टि से देखने पर हमें कालिदास की सफलता पर गर्व होता है।

इसी विषय से संबंधित एक बात का ज़िक्र कर प्रस्तुत लेख समाप्त करते हैं। हमने ऊपर कालिदास को एक महान् मनोवैज्ञानिक माना है। यह पढ़कर पाठक, जो बीसवीं शताब्दी के मनोविज्ञान से परिचित हैं, पूछ सकते हैं कि कालिदास का मनोविज्ञान क्या बला है? परन्तु वास्तव में अचरज की कोई बात नहीं।

पिछली दो शताब्दियों से विज्ञानों का प्रादुर्भाव हुआ है। विज्ञान की परिभाषा है किसी भी विषय का सुव्यवस्थित, सुसंगत और क्रमपूर्ण निरूपण। परन्तु विज्ञान के आधारभूत तत्त्व तो प्राचीन समय में भी मौजूद थे। इसी लिए कहा जाता है कि आज योरप में जो तरक़्क़ी देख पड़ती है, उसका उद्गम पुराने ग्रीक देश में है। इसी प्रकार, यद्यपि आज मनोविज्ञान का स्वतंत्र विकास हुआ है, फिर भी उसके तत्त्व और प्रमेय नवीन नहीं हैं। वे पुरातन हैं, और पुराने विद्वानों को पूर्णतया विदित थे। मन की तमाम स्थितियों को पहचानने का प्रयत्न पातंजल योगशास्त्र आदि ग्रंथों में किया गया है। और, साहित्य या काव्य के क्षेत्र में मानसिक भावनाओं के आविष्करण को महत्त्व दिया जाता था, और उसके लिए यह ज़रूरी था कि कलाकार का हृदय संवेदनाग्राही, मस्तिष्क तत्त्वान्वेषी और दृष्टि पैनी हो। सहृदयता के अभाव में इसी वस्तु को यथार्थ रूप में समझना कठिन है। परन्तु गहरी सहृदयता विवेचकता को लुप्त करती है। इसी लिए तत्त्वान्वेषी मस्तिष्क की ज़रूरत है। और, अंतर्दृष्टि वस्तु के अंतरंग और भीतरी ग्रंथियों को पहचानने में मदद पहुँचाती है।

आधुनिक मनोविज्ञान में भी इन तीन ही बातों को महत्त्व दिया जाता है। बिना इनके हम वस्तु या व्यक्ति को ठीक-ठीक समझ नहीं सकते। कालिदास में ये तीनों बातें मौजूद हैं। कालिदास की जो पंक्ति हम

को आनंदित या आंदोलित करती है वहाँ हम क्षणभर रुक जायँ, और अपने मन से पूछें कि क्या कारण है? हम पावेंगे कि उसमें मानवीय सत्य का समावेश है, जो मनोविज्ञान से प्रभावित है। यदि वह पंक्ति हमारी भावना को आंदोलित करती है तो निश्चित समझिए कि उसने सर्वप्रथम स्वयं कलाकार (कालिदास) की भावना को अवश्यमेव आंदोलित किया होगा। विना इसके यह संभव नहीं कि वह हमें इतना मुग्ध करे। यदि कोई वस्तु हमारे हृदय और मस्तिष्क दोनों को समानतया प्रसन्न करती है तो वह निःसंदेह श्रेष्ठ और ऊँची है। कालिदास की अक्षय लोकप्रियता का रहस्य इसी में है कि वह जीवन की प्रत्येक संवेदना ग्रहण करते हैं। बाद को उनका सत्यशोधक मस्तिष्क से चिंतन करता है, तदनंतर उसकी सार्वत्रिक सचाई को सिद्ध करते हुए, आख़िर में, प्रसन्न-मधुर शब्दावली में अभिव्यक्त करता है।

तात्पर्य, कालिदास की महत्ताओं के विवेचन में उनकी उपर्युक्त महत्ता (मानवीय रति का मनोवैज्ञानिक चित्रण) को कभी भुलाया नहीं जा सकता। चाहे हम इस बात को मानें या न मानें विरोध करें या न करें, कालिदास की अमर कृतियों में यह एक महत्त्वपूर्ण सत्य है।

मेरे नभ की अये नीलिमे❀

प्रो० कमलाकान्त पाठक एम्० ए०, एल्-एल्० बी०

मेरा पथिक थका सोया है, तुम उसका पाथेय बनो

आज अँधेरी रात घनी है
बार-बार तलवार तनी है
रजनी की सारी आकुलता
आतुरता में प्यार बनी है
मेरा प्राण-विहग रोता है, तुम उसका आधेय बनो

हिम-पात आज ही होना था
धीरज-सम्बल भी खोना था
तुमको पुकारने के ख़ातिर
बच्चों-सा रोना रोना था
मेरी भाव-लहर में झिलमिल तुम तारों का प्रेय बनो

मुझको कब था तुमने माना
मर्म पुतलियों का कब जाना
विहग डोलता रहा अकेला
उसके नभ को कब पहचाना
बहुत हुआ, अब दीप दिखाओ, जीवन का ध्रुव-ध्येय बनो

जी का भार हृदय में बंदी
ममता छलना की आनंदी
लम्बी यात्रा, पास नहीं कुछ
पथिक सदा से है स्वच्छंदी
रस-सागर भर लाये बादल, तुम उनका उपमेय बनो

माँग रहा जल चातक प्यासा
त्याग रहा वह जीवन-आशा
स्वाती के दो बूँद डाल दो
पूर्ण प्रेम की हो अभिलाषा
मेरे नभ की अये नीलिमे, जन-जीवन का श्रेय बनो

यहाँ धरा की पीली छाती
मिली जिसे घन-तम की थाती
निर्जन कानन का सन्नाटा
मेरी बात तनिक सुन जाती
श्रम-ताप हरो, काँपो, सिहरो, ज्ञाता का मत ज्ञेय बनो

श्याम घटाएँ, तारे टिमटिम
तरुकीछाया, रह-रह रिमझिम
पत्थर पर तुम फूल खिलाओ
आज अकेला राही गुम-सुम
गेय बनी है चिन्ता उसकी, तुम मत आज अगेय बनो

मेरा पथिक समर्पित तुमको, तुम मत आज अजेय बनो

स्वाद में परिपूर्ण
त्वरित पाचन-योग्य
विशुद्ध
विटैमिन-युक्त
DALDA
VANASPATI
डालडा में तली हुई पूरियाँ आप के मूँह में आसानी से घुल जाती हैं —और स्फूर्ति भी देती हैं!
डालडा आपका भोजन स्वादिष्ट करता है और इस के अतिरिक्त वह आप का स्फूर्ति-दायक अन्न है! आप के दैनिक आहार को प्रसिद्ध, पौष्टिक गुणवाले इस त्वरित् पाचनयोग्य, विटैमिन्-युक्त रसोई-साधन-द्वारा सुधारिये। डालडा प्रत्येक गृहिणी के लिये एक देन है—वह उसके साथी रसोई को भी अपनी स्वादिष्ट मधुरतासे परीपूर्ण करके, उसके परिवार को अधिक शक्ति प्रदान करता है।
★ डालडा-पाकशास्त्र पुस्तक (केवल अंग्रेजी) की सहायता से अपने भोजन का प्रबन्ध कीजिये। इस में १५० से अधिक स्वादिष्ट भारतीय आहार के प्रकार निजी पौष्टिक गुणों के कारण चुने हुए समाविष्ट हैं। आप के कॉपी के लिये Dept. A414 P.O. Box No. 353, Bombay, के पते पर ४ आने के पो० स्टाम्पस् भेजियेगा।
HVM. 48-23 HI
THE HINDUSTAN VANASPATI MANUFACTURING CO., LTD.

कहानी

विकट बदलौअल

स्व० बाबू गोपालराम गहमरी

एक

"क्यों आज कुछ हाथ लगा है क्या ज़हूर ! चेहरा तो तुम्हारा ख़ूब खिला हुआ है, जैसे नूर बरस रहा हो।"

"हाँ कई दिनों के ठाला बीतने पर आज अल्ला मियाँ ने कुछ बख़्शा है नसीबन।"

हड़हा की एक तङ्ग गली में एक दरवाज़े के सामने खड़ी नसीबन के पूछने पर ज़हूर ने ऊपर की बातें कहीं।

रात के दस बज गये थे। अँधेरा इतना गहरा कि अपना हाथ भी पसारे पर नहीं सूझता। ऊपर से अमावस की तमोराशि पर दुहरे-तिहरे बादलों का जमघट, दुबले और दो असाढ़ की मसल हो रही थी। मानो चारों ओर से बिजली की उज्ज्वल आभा की खदेड़ी हुई घोर अँधियारी ने सब तरह से हार मानकर इसी गली में डेरा डाल दिया था।

उसी गली में तेज़ी से घुसकर ज़हूर ने अपने द्वार पर का बन्द ताला खोला और झट भीतर लालटेन जलाकर बैग खोलने लगा। "देखें क्या लाये हो ज़हूर" कहती हुई नसीबन भी भीतर आ गई।

ज़हूर ने चमड़े का डरबी मार्का जेबी मनीबैग खोलकर तख़्त पर उलट दिया तो देखा उसमें पैसों की काग़ज़ में लिपटी गड्डी मिली। एक कंचननगर का पतले फल का चमचमाता हुआ चाकू और चुटपुटवा बटन का एक पत्ता सफ़ेद काग़ज़ की तह की हुई एक चिट्ठी के साथ हाथ लगा।

नसीबन ने गड्डी खोलकर गिना तो उसमें तेरह आने पैसे, एक इकन्नी और एक अधेला था।

ज़हूर की बड़ी लहलहाई आशा पर पाला पड़ गया। उसने वज़नदार मनीबैग से बहुत कुछ पाने की आशा की थी। काग़ज़ की भी तह खोलकर देखा कि शायद उसमें नोट हों, लेकिन उसमें भी कुछ नहीं देखकर धप्प से धरती पर बैठ गया। मुँह से उसके निकल गया—"हाय रे नसीब !"

नसीबन किसी नसीबवर की विवाहिता या निकाह पढ़ाई हुई बीबी अब तक नहीं हो सकी थी। लेकिन ज़हूर का दुःख-दर्द इतना अपना मानती थी कि उसका निराश होना देखकर उसके मन में बड़ी बेकली हुई। उसने मुखमण्डल पर मज़बूती दिखाकर कहा—"अरे तो तू इतना अधीर काहे को होता है भई ! इस तरह हिम्मत क्यों हारता है; मर्द बचा है। चौदह आना अधेला ऊपर तो पा गया।"

"अब तो बादशाही मिल गई। सैयाँ कोतवाल हो गये। अब क्या ?" यही कहकर ज़हूर ने मुँह लटका लिया।

नसीबन बोली—"बादशाह होने का काम तूने क्या किया है कि बादशाह होने को मरता है ज़हूर। यह दुनिया तो नक़द सौदे की जगह है। इस हाथ दे उस हाथ ले का ज़माना है।"

नसीबन का यह ताना ज़हूर को बेध गया। बोला—"तू तो रोज़ ही यह ताना दिया करती है, लेकिन कभी नहीं बतलाती कि बादशाह होने का कौन काम है जिसको मैं करूँ। ख़ाली ताना देना जानती है कि रास्ता भी बतलाती है।"

"है तू बड़ा अहमक़ ज़हूर। मैं जानती हूँ वह रास्ता कि तोको बतला दूँ। जिस दिन मुझे वह रास्ता मालूम होगा उस दिन तोको हाथ पकड़कर बादशाही तख़्त पर ले जाकर बैठा दूँगी, रास्ता बतलाती रहूँगी थोड़े ?"

नसीबन की बात से ज़हूर की निराशा कुछ घट चली। उसकी सुरमासुरञ्जित आँखों से नज़र भिड़ाकर बोला—"अरे, इतने आदमियों के रहते हमीं को तख़्त पर बिठाओगी नसीबन ?"

नसीबन मुँह से—"क्या कहा, फिर तो कहना" कहती हुई अपने चेहरे की लाली छिपाने के लिए मुँह फेरकर बैठी।

अब ज़हूर ने फिर छेड़कर कहा—"क्या कहूँ नसीबन ! अब तो इस तरह यह गाड़ी चलती नहीं दीखती। क्या करूँ, तुम्हीं बतलाओ।"

कुछ देर रुककर नसीबन बोली—"मैं तो कहती आती हूँ। आज भी कहती हूँ, कोई एक तो अच्छा काम करो। तोबा करके अपनी ज़िन्दगी सुधार डालो। अभी क्या बिगड़ा है ?"

ज़॰—"अच्छा, काम कैसे करें नसीबन! मेरी आदत चोरी की है। वह लत छूटे तो कैसे? कहीं नौकरी करूँ तो मालिक की तहवील पर हाथ लगाऊँगा। कोई दूकान करूँ तो गाहक की गठरी पर नज़र लगाऊँगा। दो-दो बेर जेल जाकर तेल पेर के आया तब भी यह ख़सलत नहीं गई। जब तक क़ैदख़ाने में रहता हूँ मन में सब्र रहता है, लेकिन बाहर आते ही दोनों हाथ लोगों के पाकेट की ओर बढ़ने लगते हैं। छोटेपन में मा-बाप ने लिखना-पढ़ना सिखाने को मदरसा भेजा था। वहीं से दावात, क़लम और बस्ता चुराने की लत लग गई। जब ले आता तब मा-बाप ख़ुश होते। उनकी ख़ुशी से मैं भी ख़ुश होकर उसी में बढ़ता गया। कुछ लिख-पढ़कर भी इसी आदत से सब मेरा चौपट हो गया। कभी-कभी मेरे मन में भी यह बात आती है, लेकिन लाचार हो रहा हूँ।"

नसीबन बड़े ध्यान से ज़हूर का मानो इज़हार सुन रही थी। हाथ की वह तह की हुई चिट्ठी हिला-हिलाकर मानो हवा कर रही थी। उस ओर नज़र जाते ही ज़हूर ने झट उसके हाथ से वह पुरजा झपटकर ले लिया। जब उसको पढ़ा तब उसका चेहरा पहले तो खिल उठा, फिर सारा शरीर काँप गया। उसमें केवल तीन-चार पाँती लिखावट थी। फिर दोबारा पढ़ा—सातवीं तारीख़ बुधवार। नक़द एक लाख का खुचरा नोट। आधा साझा। दूधाधारी बीबी हटिया नेपाली कोठी।

नसीबन उसका भाव ताड़कर बोली—"कौन बात ओमें लिखी है ज़हूर ऐसा काहे करने लगा।"

अब ज़हूर बड़ी चिन्ता में पड़ा। वह समझ तो गया कि किसी का एक लाख मारने का चक्र चलाया जा रहा है। आधोआध हिस्सा की बातचीत है। लेकिन इस चोरी-डकैती की बात नसीबन से खुलकर कहना ठीक है या नहीं—यही चुपचाप सोचने लगा।

कुछ जवाब ज़हूर को न देते देखकर नसीबन "तो तू बैठा सोचा कर। हम घर को चलें" कहती हुई उठ खड़ी हुई।

"बैठ नसीबन, जाती काहे को है। अल्ला का क़सम करके बता दे कि कोई से ज़ाहिर नहीं करेगी तो हम असल बात बतला दें।"

"तो इतना क़सम-किरिया का कौन काम है? ज़हूर, जिसको मना करता है उस बात को मैं जान जाने पर भी मुँह से कहीं निकालने की नहीं हूँ। कभी नहीं।" नसीबन ने बैठकर धीरे-धीरे कहा।

ज़हूर को तसल्ली हो गई। चारों ओर ताककर कान के पास मुँह करके सब हाल समझाकर कह गया।

नसीबन समझकर चौंक गई। बोली—बाप रे बाप! बदनसीब को भी कभी न कभी अल्ला ताला बख़्श देता है। आज तारीख़ दो हो गई। तीन ही दिन तो बाक़ी रह गये हैं। देखना ज़हूर बादशाही तख़्त न मिले तो शाही पापोश ही सही, लेकिन हमारी भी याद रखना। गरीबनी को भूल मत जाना। पापोश के पैताने ही सही हमको भी बैठने को—

बात काटकर ज़हूर बोला—"पैताने की बात नहीं मेरी जान। तुम्हारे वास्ते मेरे दिल के भीतर सोने का तख़्त ताऊस गढ़ा रक्खा है।" यही कहते हुए ज़हूर ने नसीबन के चिबुक पर चुटकी लेकर गाल पर खुटका दिया।

दो

बीबी हटिया में नेपाली कोठी के पास रहनेवाले बाबू गयासिंह ठेकेदार को सारा शहर जानता है। रेलवे में ठेके का काम करके उन्होंने ख़ूब रुपया कमाया है। सालभर में एक लाख ठेके से निकाल लेना उनके बायें हाथ का खेल है। बैजनाथसिंह तिरसठ बरस के हैं। उनके दो बेटे गाजरसिंह और मूलासिंह ने भी बड़ी मुस्तैदी से उनका काम सम्हालकर इस बुढ़ौती में बाप को आराम दे रक्खा है। कमाऊ बेटे मानो बाप को पेंशन की तरह दिया करते हैं। इसी उम्र में दोनों सपूतों ने बाप का सब कामकाज बड़ी सुन्दरता से चलाकर पिता को हर तरह से सुखी और सन्तुष्ट कर रक्खा है। बेटे सदा काम पर रहते और हर महीने आकर पिता से सलाह बात कर जाते हैं।

एक दिन ठाकुर गयासिंह को बड़े बेटे गाजरसिंह की चिट्ठी मिली। उसके पाते ही उन्होंने अपने सरबराहकार दूधाधारी को पुकारा। दूधाधारी कान पर क़ीलपेन रखे तेज़ी से सामने आया हाथ में चाभियों का गुच्छा खनकाता हुआ। सलाम करके खड़ा हुआ।

गयासिंह ने कहा—"अरे दूधाधारी, इस बार ब्रैंच लाइन का जो बिल गया है, उसमें बहुत ग़लती निकाली गई है।"

दूधाधारी अकचकाकर सिंहजी की ओर ताकने लगा। बोला—"ग़लती कैसी मालिक?"

गयासिंह—वह सब बात तुम्हारी मोटी बुद्धि में

नहीं समायगी। दूधा, उन सब ग़लतियों के वास्ते एक लाख रुपया ख़र्च करना होगा।

"एक लाख रुपया!" कहते हुए दूधाधारी की आँखें ऊपर ही टँग गईं देखकर गयासिंह ने कहा—"अरे, तू आसमान से क्यों गिरता है? दूधा, उस बेर बड़े नाले के पुलवाले में बारह हज़ार लौटाना पड़ा था, नहीं जानता।"

दू०—हाँ जानता हूँ मालिक, याद है।

तब दस लाख के बिल में एक लाख देना पड़े तो इसमें आसमान से गिरने का कौन काम है? गाजर की चिट्ठी आई है कि बुध की रात की गाड़ी में आवेगा। सवेरे चला जायगा। तुम बुध को ही लाख रुपये के खुचरा नोट लाकर रख देना।

"बहुत अच्छा!" कहकर दूधाधारी वहाँ से चलता हुआ। मन में कुछ सोचता-सोचता अपने कमरे में पहुँचा।

तीन

छुटपन में दुःख से दिन काटकर दूधाधारी जब सयाना हुआ तभी उसको पैदा करने की चिन्ता चढ़ी। उसी के बवण्डर में घूमता हुआ एक ग्रहण के अवसर पर काशी आया था। वे आज पचीस वर्ष पहले की बातें हैं। अब तक उसने किसी तरह मिहनत करके कुछ पैदा किया था। लेकिन उचित-अनुचित उपाय से जो कुछ उपार्जन किया था उससे उसका मन नहीं भरा। और तृष्णा दिनोंदिन बढ़ती ही गई।

जब ठाकुर साहब के दरबार में उसको नौकरी मिली तब उनके घर का सालाना हिसाब देखा। तब फ़ायदे का परिमाण देखकर उसके हवास ठिकाने नहीं रहे। इस लखपती के घर में ऐसा दाँव मारने की उसके मन में महीनों से लगन लग रही थी। नित सवेरे गंगा-स्नान करके घाटिया के यहाँ से चन्दन तिलक देकर बाबा विश्वनाथ के दर्शन करता तब घर जाकर मुँह में पानी डालता। यह उसका सदा का अटल नियम था। गले में रुद्राक्ष की माला और ऊपर के यह सब ठाट देखकर भी गयासिंह की तेज़ नज़र कभी चूकती नहीं थी। इसके मारे उसकी चोंच नहीं गड़ने पाती थी।

सिंहजी की नौकरी में कुछ अधिक पैसा तो उसके पल्ले नहीं पड़ा था लेकिन वह था पुराना घाघ। जो कुछ पाता उसका खेत ज़मीन ख़रीदता जाता था। मौक़ा पाकर अपना घर भी ठाट का बना लिया था।

आज एक लाख का चेक पाकर वह मन में शेख़-चिल्ली की तरह आकाश-पाताल की सोचने लगा। बहुत देर तक नीच-ऊँच विचार कर लेने पर मन में कहा कि इसमें से आधा टूका हाथ लग जाय तो इस बुढ़ौती का बड़ा अवलम्ब होगा और पराधीनता से रिहाई पाकर सुख से ज़िन्दगी बीतेगी।

उसने बहुत सोच-विचारकर मन में सोचा कि इसी टका से सारी दुनिया का मज़ा है। किसी कवि ने ठीक कहा है—

टका ही का दुनिया दरबार।
टका न हो जिसकी गाँठों में
उसको ठोकर है हर द्वार;
टका बिना वह घर की रानी
कहती हो तुम महा गँवार।
माई भाई बेटा बेटी
सभी जगत में टकहा यार;
लगी टकटकी इसी टका पर
टिका टके ही का संसार।
टका ही का दुनिया दरबार। *

वह सब कुछ विचारने के बाद कमरे में शान्त नहीं बैठ सका। बाहर निकलकर यह चहलक़दमी करने लगा। सामने से ठाकुर साहब का नौकर मारकंडे जा रहा था। उसको बुलाकर पूछा—"आज कौन तारीख़ है मारकंडे?"

उसका धीरे से पूछना देखकर मारकंडे ने कान के पास जाकर कहा—"तारीख़ दूसरी है मुनीबजी।"

"ओहो हम तो भूले जा रहे हैं" कहकर जब दूधाधारी ने देखा कि मारकंडे अपनी धुन में चला गया तब आप ही आप कहने लगा—

"तो कलह तीसरी, परसों चौथी, चौथे दिन बुध को पाँचवाँ है। बुध तो ख़ाली दिन है। मा कहती रही—

बुद्ध कहे मैं बड़ा सयाना,
बुद्ध जानि मत करो पयाना।
कुशल छेम से घर पहुँचैहैं,
टका से नहिं भेट करइहैं।

लेकिन जब नसीब बुध को ही जाग उठे तो किसी का क्या बस है। हमारे वास्ते यही बुध ख़ाली होने के बदले भरापुरा दिन ज़िन्दगी भर को हो जायगा।

---

* जीवन-सुधार अपने अप्रकाशित नाटक का एक पद्य।

चेक भँजाने तो हम जायँगे, साथ में रहेंगे ये दोनों भोजपुरिहा दरबान। भोजपुरवालों का तो मसल है तसलवा तोर कि मोर। लेकिन बहुत साझी बनाना ठीक नहीं। लोग कहते हैं, बहुत जोगी मठ उजार। हम अकेले पचास हज़ार पर हाथ मारें, फिर देखा जायगा। आगे का आया हुआ आहार छोड़ना ठीक नहीं।

इसी समय बुद्धू अहीर दूधवाला आकर बोला—मुनीबजी, हमारा हिसाब देख लिया।

दूधाधारी बेतहाशा बोल उठा—"हाँ! हाँ पचास हज़ार!"

बुद्धू बात न समझकर पूछ बैठा—"का कहा मुनीबजी!"

अब तो मुनीबजी सम्हलकर बोले—कहा तुम्हारा सिर और अपना कपार। अभी पाँच तारीख़ है तोको हिसाब की बाई चढ़ गई।

बु०—ना मुनीबजी, अभी तो दूसरी तारीख है पाँचई नाहीं। अभी तीन दिन रहि गये हैं पाँचई के।

मु०—तब तो अभी और सबेर है रे बुधुआ! जा! जा! तङ्ग मतकर इस घड़ी।

हाथ जोड़कर चुपचाप अहीर वहाँ से टरक गया। मुनीब दूधाधारी लगे मन में सात-पाँच सोचने। मौक़ा तो बड़े मज़े का है। कलकत्ता में कई बार ठाकुर साहब अख़बार में पढ़ते रहे कि भारी रक़म बंक से लेकर सिपाही चला। नीचे उतरते ही डाकू उस पर टूट कर माल छीन ले गये। ऐसा ही नाटक ठीक होगा। किसी बनारसी गुण्डे से यह काम ठीक होगा। दूधाधारी ने मन में कहा, यही बेखटके की फ़तह देनेवाली घड़ी है। बस एक कानवाला वह दुक्खन पण्डा ही इस काम को करेगा। तुरत पुरजा लिखा—दुक्खन पण्डा को। दुक्खन काशी का मशहूर गुण्डा है। दस-दस आगे-पीछे चलनेवाले साथी हैं। चार-चार पाँच-पाँच रुपये रोज़ का मामूली ख़र्च है। उसके नाम से बड़े-बड़े बहादुरों की धोती ढीली हो जाती है। जो चाहे रुपया देकर उसके हाथों सरे बाज़ार बड़े से बड़े मर्यादावाले की पगड़ी उतरवा ले। सड़क जाते हुए को डण्डा, झापड़ या जूता लगा देना उसके बायें हाथ का खेल है। इजलास पर जाता है तब हाकिमों को भी अगल-बग़ल देखने की ज़रूरत हो जाती है।

दुक्खन का दल काशी में बहुत मशहूर है। छोटे से लेकर बड़े सङ्गीन काम में भी दुक्खन छाती खोले खड़ा रहता है। बनारस में बड़े आदमियों के लिए तो वह मानो सिर का सनीचर है। वह अपने साथी अखड़ैतों को लेकर रात के अँधेरे में मानो पुलीस की तरह रौंद घूमने निकलता है। उसको कमी कुछ नहीं, काशी की गलियों में उसका प्रताप विराजता है। उसका लोहा सब मानते हैं। उसकी चलती बेढब है। उसकी धाक बेतरह व्याप गई है। पुलीस का सामना कभी होने से क्या करता है भगवान् जाने। सङ्गीन से सङ्गीन मामले में भी जहाँ चालान हुआ कि घंटे दो घंटे बाद फिर उसी मस्त चाल से सड़कों पर अकड़ता हुआ देखा जाता है।

उससे दूधाधारी का परिचय गैबी के अखाड़े में पहलेपहल हुआ था। दोनों में फिर ख़ूब गठने लगी। जब इधर-उधर तिकड़म से कमाकर दूधाधारी गयासिंह के दरबार में पहुँचा और बाज़ार का सब अधिकार अपने हाथ में लेकर सौदा-सुलुफ़ में कटौती करता हुआ आगे बढ़ने लगा तब दुक्खन कई हज़ार का मालिक हो चुका था। कई बङ्कों में उसका खाता खुला हुआ था।

दूधाधारी अखाड़े में भेट होने के दिन से दुक्खन को गुरू कहा करता था। बनारस के गुरुओं की बोली में दूधाधारी इतना प्रवीण है, यह गयासिंह को ज़ाहिर नहीं था।

जब दूधाधारी से दुक्खन की राहघाट में भेट होती, दुक्खन अपने बाहुबल की सदा बड़ाई हाँकता और दूधाधारी अपनी दुर्बलता का रणरोना रोता था। उसकी दशा पर सहानुभूति दिखाकर दुक्खन अपने काम में सहायक होने की सलाह देता तब दूधाधारी उससे काँप उठता और साधुता दिखाते हुए कहता था—"अरे राम! राम! ऐसी बात मुँह से मत निकालना उस्तादजी।"

बात यों थी कि एक ही रात में उस्तादजी की तरह मालामाल न होने के कारण दूधाधारी के मन में कचोट उठता था, लेकिन असल बात यह कि दूधाधारी में दुक्खन की तरह असम्भव साहस कभी नहीं हुआ। इन दोनों की मति-गति समान होने पर भी दोनों की प्रकृति में ज़मीन-आसमान का अन्तर था। दुक्खन बड़ा तेजवाला शक्तिमान् था और दूधाधारी रहा निर्बल हृदय का कादर आदमी।

दोपहर के बाद दूधाधारी का पुरजा रजिस्टरी में दुक्खन के पास पहुँच गया। उसे पढ़कर दुक्खन के

चेहरे पर हँसी की रेखा खिंच गई। अपने साथी-सहायकों से गुप्त सलाह करके कुछ रुपया लिये हुए वह बरुना के पुल की ओर रवाना हो गया।

दुक्खन को ख़र्च-ख़ूराक की कमी नहीं थी। उसकी धन-सम्बन्धी हालत ऐसी कि खुलता हाथ था—यह उसकी चाल-ढाल से ज़ाहिर नहीं होता था। वह अपनी वर्तमान हैसियत को बड़ी सावधानी से सबकी नज़रों से सदा छिपाये रहता था। कभी रेल के ऊँचे दरजे में सफ़र नहीं करता था, न मौक़े-बेमौक़े टैक्सी बुलाकर बड़ा आदमी होने का ठाट ही दिखलाता था। उस दिन जब ज़हूर उसकी जेब काटकर सिनेमाघर से बाहर ग़ायब हो गया तब वह कारतूस बरुना ब्रिज से और टार्च चौक से ख़रीदकर सिनेमा देख रहा था। जब मनीबैग खोकर घर लौटा तब मन में बहुत दुखी नहीं हुआ। चिट्ठी पढ़ चुका था। बुधवार सातवीं तारीख़ याद थी। बीबी हटिया में गयासिंह का पता भी मालूम ही रहा। चौक में चटपटा ख़रीदने के लिए जब जेब में हाथ डाला तब मनीबैग न पाकर इतना समझ लिया कि किसी ने मार लिया।

चार

अभी ख़ूब साफ़ सवेरा नहीं होने पाया था। झल-फलाहट में कूड़ा ढोनेवाली मंथर गमन की भैंसा-गाड़ियों के धड़फड़ करने की आवाज़ से ज़हूर नींद से उठकर सड़क पर पहुँचा। चौदह आने पैसे में से केवल ग्यारह पैसे बच गये थे। बीबी हटिया से लौटकर कुछ अपना पेशा चला सकेगा, इसकी भी सम्भावना उसको नहीं रही। इसके सिवा अब उधर मन भी नहीं जा रहा था। अपनी नसीबन की बात उसके भीतर मानो बेध गई थी। कोई अच्छा काम करने की धुन उस पर सवार हुई थी। सवेरे की उज्ज्वल आभा के साथ ज़हूर के भीतर भी एक सुस्निग्ध प्रकाश आ पड़ा था। सवेरे के कामों से निपटकर झट दरवाज़े पर ताला लगाता हुआ "अब तो अल्लामियाँ की जो मरज़ी" कहता हुआ बीबी हटिया को रवाना हो गया। घंटा भर से अधिक चलने पर मुक़ाम पर पहुँचा, लेकिन नाश्ता की खोज थी। एक जगह चाय की दूकान देखकर रुका।

दूकानवाले ने कहा—"क्या चाहिए भाई ?"

"अभी तो आप आग जला रहे हैं, चाय तैयार होने में देर है।"

"नहीं जी तैयार है। तुम बैठ तो जाओ!"

"हम हिन्दू नहीं हैं भाई" कहकर ज़हूर रुक गया, लेकिन दूकानवाले ने कहा—अजी, हम हिन्दू-मुसलमान दोनों ख़ुदा के बन्दे हैं। बैठ जाओ। चाय पियो, बिसकुट-पाव रोटी लो। इसमें हमारी कौन हिन्दुआई गिरी पड़ती है। हिन्दुआई कुछ काग़ज़ तो नहीं है कि पानी के छींटे से रद हो जायगी। हमारा गाहक लछमी बराबर है भैया! यही कहकर लोहे की कुरसी उसने आगे कर दी। कहा—"कहाँ जाना होगा मियाँ साहब ?"

"जाना तो है भाई इसी बीबी हटिया पर। नैपाली कोठी के पास गयासिंह ठेकेदार रहते हैं कहीं ?"

"हाँ वह क्या सामने पचमहली कोठी दिखाई देती है गयासिंह की। राजमहल की तरह आसमान में सिर उठाये खड़ी है नहीं देखते? क्या काम है तुम्हारा वहाँ ?"

दूकानदार के पूछने पर ज़हूर ने कहा—"उसमें कोई दूधाधारी रहते हैं ?"

दू०—हाँ! हाँ! वही तो ठेकेदार के मुनीब हैं। उनसे कौन काम है ?

ज़०—काम क्या! भाई, सुनते हैं कोई नौकरी ख़ाली है।

दू०—कौन नौकरी मियाँ साहब ?

ज़०—अरे यार हम लोग अनपढ़ गँवारा को और कौन नौकरी मिलेगी। यही गाड़ी-बग्घी हाँकने का काम मिलेगा।

अब चाय तैयार हो गई। नाश्ता करके पैसा देकर सलाम करता हुआ ज़हूर वहाँ से चल पड़ा। अब धूप निकल आई थी।

उधर दूधाधारी की बात सुनिए। उसको चाह बड़ी थी, हौसला था, लेकिन साहस नहीं था। भीतर लोभ था, लेकिन बल नहीं था। दुक्खन को चिट्ठी रजिस्टरी से भेज देने के बाद खाने की रुचि नहीं रही। दिन को भोजन या रात को खाना-सोना सब जाता रहा। डर के मारे वह सूखने लगा। एक बार मन में आता था, इतनी बाढ़ ठीक नहीं। रुपया हमको इतना न चाहिए, दुक्खन को जाकर मना कर आवें। फिर उसी दम मानो उससे कोई कह रहा है—क्या परवा है, डर की कुछ बात नहीं है। पचास हज़ार हाथ लग जाने पर परदेश में ठोकरें खाकर किसी की ताबेदारी नहीं करना होगा। फिर उसके मन में आता था, दुक्खन माल मारकर कुछ नहीं देगा। तब फिर मन में कहता—नहीं कैसे देगा। सबको उसके गरोह भर को पकड़वा देंगे।

रात भर इसी तरह सात-पाँच करते नींद नहीं आई। सवेरे अपने आफ़िस में बैठकर सामने उन्होंने बहीखाता रोकड़बही रक्खी और मन में सोचने लगे। हाथ में क़लम है। आँखों में लाली चञ्चलता लिये है। मन में पचास हज़ार मारने की चिन्ता खण्डल किये हुए है। इसी समय ज़हूर सलामी दागकर सामने आ खड़ा हुआ।

दूधाधारी ने चौंककर उसको देखा और अनखाकर बोला—"कौन हो तुम! क्या चाहते हो?"

हाथ जोड़कर ज़हूर बोला—हज़ूर, हम बेनियाबाग़ से आये हैं। सुना है, कोई आपके यहाँ कोचवानी ख़ाली है।"

"कौन कहता है? हमारे यहाँ तो कोई जगह नहीं है।"

ज़०—हमारा चाचा का लड़का ज़ालिम ख़ाँ बोले रहा हज़ूर! लेकिन आप तो ऐसा कहते हैं। हम बहुत ग़रीब आदमी हैं हज़ूर!

दू०—तो तेरी ग़रीबी के मारे हम क्या यहाँ नौकरी गढ़ डालें? यहाँ सवेरे-सवेरे राम का नाम लेना है कि झमेला करने आया?

ज़०—माफ़ करें हज़ूर! हमने सवेरे-सवेरे आप को तकलीफ़ दिया।

दू०—अच्छा जाओ बाबा, पिण्ड छोड़ो!

"बहुत अच्छा हज़ूर सलाम लीजिए।" कहकर ज़हूर चला गया। लेकिन दो ही मिनट में फिर लौटकर हाथ जोड़ता हुआ बोला—"हज़ूर आपको तकलीफ़ तो होगी। लेकिन ग़रीब का उपकार कर दीजिए—"

दू०—अरे, तू तो बड़ा अहमक़ है। सवेरे-सवेरे तंग करने आया।

ज़हूर दबा नहीं, बोला—"हज़ूर नौकर नहीं रखते तो नौकरी ही पाने में मदद कीजिए। लच्छा के चौधरी साहब के यहाँ जगह है। उनके मैनेजर दूधाधारी पाँड़े हैं। ज़रा नाम एक पुर्ज़े पर पता सहित लिख दीजिए। भूल जायगा हमको। हम पूछते देखाते चले जायँगे। ग़रीबों पर दया भी किया कीजिए। हज़ूर आपका दरजा ख़ुदा दिन-दिन ऊँचा करेगा।"

"अच्छा ले भाई इतने ही से पिण्ड छोड़ दे" कहकर छोटे से पुर्ज़े पर दूधाधारी लिखने लगे—पूछा—क्या कहा—"दूधाधारी पण्डा?"

"ना हज़ूर दूधाधारी पाँड़े।"

"दुनिया में कितने दूधाधारी हैं" कहकर पाँड़ेजी ने लिख दिया और ज़हूर की ओर फेंक दिया। उसने उठाकर लिलार से लगाया और सलाम करके—"ख़ुदा आपकी बढ़ती करेगा हज़ूर" कहता हुआ मन में हँसकर बिदा हुआ।

आगे एक जगह खड़े होकर उसने मनीबैग की चिट्ठी निकालकर देखा। कहा—"यह तो ठीक है। इन्हीं दूधाधारी की लिखी यह चिट्ठी है।"

झटपट डेरे पर पहुँचकर ज़हूर ने ताला खोला। भीतर जाते ही नसीबन भी "का हुआ जहूर" कहती हुई आ गई। उसने छूटते ही जवाब दिया—"अरे, कुछ नहीं। नाहक़ हैरानी हुई।"

ज़हूर की चालाकी नसीबन समझ गई। बोली—"हैरानी न होगी तो और पाओगे क्या? चलें भाई घर। तुम्हारी क़िस्मत ही देखती हूँ, ख़राब हो गई है।"

यही कहकर घर चलने लगी। ज़हूर ने रोककर कहा—"बैठो बैठो, ऐसी जल्दी क्या पड़ी है?"

न०—बड़ी जल्दी है भाई! आज बहुत खाना पकाना है। तुमको दावत करना है आज!

"इतनी इनायत?" कहकर ज़हूर ने उसका हाथ पकड़ लिया। वह हाथ छुड़ाकर बोली—"इनायत-विनायत हम लोगों की किसी पर नहीं है, भाई न ऐसी मिहरबानी रखने से चलता ही है। लेकिन तुम एक अच्छा काम करने गये हो, रोज़गार हाल तो होगा नहीं। उलटे कब आओगे, क्या खाना पाओगे। इसी से आज थोड़ा चावल और डाल दिया है।"

ज़०—तो अगर रोज़ हम अच्छा काम करें तो दो मुट्ठी चावल रोज़—

न०—हाँ, दे भी सकती हूँ। लेकिन जब तुम अच्छा काम करके भले आदमी हो जाओगे, तब हमारे ऐसी के हाथ का खाना खाओगे थोड़े?

ज़०—काहे तुम भी तो उस हालत में इस दरजे पर नहीं न रहोगी।

न०—आ दुर्! पागल हुआ है क्या? कसबी की ज़ात कभी भला आदमी हो सकती है?

ज़०—हम पागल काहे को, तुम्हीं पागल की तरह बात करती हो। चोर साधु भला आदमी होता है। जाहिल मुल्ला बनता है। मूर्ख पंडित होता है। तब कसबी कैसे भला आदमी नहीं होगी।

न०—कैसे होगी ज़हूर?

वह उपाय सुनने के वास्ते नसीबन कान खोलकर ताने की हँसी हँसते हुए ज़हूर की ओर देखने लगी।

ज़हूर कहने लगा—"ना दिलजानी ! अभी नहीं। अगर सचमुच वह दिन अल्ला दिखाये और मैं भला आदमी हो सकूँ तो बतला दूँगा सब। ज़रा अपना साबुन तो देना, धूल से देह भर गई है, ग़ुसल कर लें हम !"

नसीबन साबुन देकर खाना पकाने चली गई।

पाँच

नसीबन के घर में ज़हूर जब खाना खाने बैठा तब बीबी हटिया जाने-आने की सब कथा पूरी-पूरी उससे बयान कर गया।

सब सुनकर नसीबन ने पूछा—तो अब क्या करोगे ?

ज़०—जो तुम कहो सो करें, लेकिन हमारे मन में यह बात आई है कि यह मामला बड़ा संगीन है। पुलीस की चोंथ-बकोट में पड़ने से कुछ ठीक नहीं होगा। हम ख़ुद दाग़ी चोर हैं। हमारी बात पर वह लोग विश्वास करेंगे नहीं। इस वास्ते ऐसी जासूसी से हाथ खींच लेना बेहतर है।

न०—तब करना क्या चाहते हो ?

ज़०—मैं कहता हूँ कि एकदम मालिक से जाकर कह दें ; उसको जो करना हो वही करे। अपने क्यों फल्लड़ में पड़ने जायँ !

न०—यह भी तो अच्छा ही होगा। जाके सब कह दो। लेकिन देखना यह बात गाँठ में बाँध लेना कि अब चोरी जेबकटी का काम हरगिज़ मत करना।

ज़०—वह तो हम हलफ़ लेके कह सकते नहीं। न जाने कैसे निबाह हो सकेगा।

न०—ख़ूब ख़ुशी से निबाह होगा। अच्छी नियत से रहने पर मालिक सबको ख़ूराक जुटाता है।

ज़०—तब तुम भी............

न०—हाँ, मैं भी अब इस काम से तोबा बोल दूँगी।

ज़०—सचमुच नसीबन ?

न०—हाँ, सच बात है। सच एक बार नहीं, हज़ार बार कहती हूँ। तू यह अपना काम छोड़ दे। तुम्हारे रास्ता बदल देने से, तुम्हारे भले आदमी हो जाने से मैं इस रास्ते पर फिर कभी नहीं जाऊँगी और तुम भले आदमी नहीं बने—

ज़हूर ने देखा कि नसीबन का चेहरा इस समय एक अनोखी ज्योति से जगमगा उठा है। उसने पूछा—"नहीं, तो क्या कहती रही नसीबन ?"

"कहती रही कि तुम ऐसा नहीं करोगे तो हमारे भले या बुरे होने से ही क्या रहा ज़हूर तुमको।"

यही कहकर वह चली गई। वहाँ से ज़हूर की आँखें भी आँसू से भर आईं। वह लम्बी साँस लेकर वहाँ से उठ गया।

छः

सातवीं तारीख़ को मंगल के दिन गयासिंह अपने कमरे में बैठे एक हिसाब का चिट्ठा देख रहे थे। इसी समय दरबान ने उनको लाकर एक चिट्ठी दी। उसे पढ़कर गयासिंह ने कुछ इशारा किया, वह चला गया। उसके बाद अच्छी पोशाक में एक जवान सामने आया और नवाबी क़ायदे से आदाब बजा लाकर हाथ बाँधे खड़ा हो गया।

यह जवान हमारे पाठकों का पहचाना हुआ ज़हूर था। रेशमी अचकन के नीचे चौड़ी मोहरी का पायजामा पालिशदार जूते के ऊपर पड़ी हुई गर्द साफ़ कर रहा था। आँखों पर उसके नीले रंग का सोफ़ियाना चश्मा, माथे पर ज़रीदार कुलाह। सब ठाट ठीक देखकर गयासिंह ने पूछा—"क्यों क्या चाहते हो आप ?"

ज़हूर ने कुछ इधर-उधर की भूमिका न बाँधकर सीधे कहा—"मैं तो बाबूजी चोर हूँ।"

"चोर" कहकर गयासिंह चौंक उठे और घण्टी बजाने चले थे कि ज़हूर बोला—आप ठहरिए ! मैं यहाँ चोरी करने नहीं आया हूँ।

ग०—तब ?

ज़०—मुझे आप एक डाकू ही समझिएगा। अब गयासिंह ने दराज़ से भरा पिस्तौल निकालकर उसके सिर की ओर ताना।

ज़हूर हँसकर एक कुर्सी पर बैठ गया। बोला—"मैं डाका डालने नहीं आया, न ख़ुद डाकू हूँ।" फिर चारों ओर तेज़ी से ताड़कर कहा—"मैं एक डकैती की ख़बर देने आया हूँ। आपके घर पर कल डाका पड़ेगा।"

इतना सुनने पर तो गयासिंह का कलेजा काँप गया। सूखे चेहरे से पूछने लगे—"डाका पड़ेगा मेरे घर पर ?"

ज़०—हाँ बाबू साहब ! आपके घर पर पड़ेगा। यह देखिए उसका सबूत है।

इतना ही कहकर ज़हूर ने जेब काटने में जो चिट्ठी

दुक्खन के नाम की पाई थी, उसे उनके सामने रख दिया। गयासिंह उस पुरजे को देखकर सन्न हो गये। सामने ही सब चीज़ें मानो चक्कर काटने लगीं।

उसमें लिखा था––लाख रुपये के खुदरा नोट बीबी हटिया गयासिंह ठेकेदार की कोठी दूधाधारी। सातवीं तारीख़ बुधवार की रात।

ज़हूर ने दूधाधारी शब्द पर उँगली रखकर कहा—"यह दूधाधारी आपके मुनीबजी हैं।"

"हाँ, यह तो उसी का लिखा है।" कहकर गयासिंह ने लम्बी साँस ली और कहा—"ओह! बड़ा नमकहराम है हरामज़ादा।"

ज़हूर ने पूछा––"आपके घर में कल एक लाख का खुदरा नोट रहेगा?"

"हाँ, ऐसा ही बन्दोबस्त तो हुआ है" कहकर गयासिंह ने तसल्ली की साँस ली और प्रसन्न होकर ज़हूर की ओर देखा। पूछा—"तुम्हारा नाम क्या है?"

"मेरा नाम तो ज़हूर है। सरकार, मैं एक चोर आदमी हूँ। जेब काटना, गठरी ले भागना, मेरा रोज़गार रहा है। दूसरी तारीख़ को नव बजे रात के मैंने सिनेमा के दरवाज़े पर एक जेब काटकर यह चिट्ठी और चौदह आना और अधेला पाया है। छुटपन में अँगरेज़ी, हिन्दी कुछ पढ़ा था। इस चिट्ठी को पढ़कर जब मैंने सब समझ लिया तब विचार किया कि इतने दिन गिरहकट का काम करके भी दुःख के दिन नहीं गये। अब सुनता हूँ, गांधी बाबा ने सचाई का बिगुल बजाया है और इस सचाई का यह प्रसाद है कि करोड़ों की सम्पत्ति पर भी वह लात मारकर एक लँगोटी लगाये रहते हैं। उनकी जो इज़्ज़त-मर्यादा इस घड़ी है उसके वास्ते दुनिया के सब बड़े आदमी डाह करते हैं, सबकी लालसा ऐसा करने-धरने की हो रही है। यह भी सुनते हैं कि सतयुग आनेवाला है। पाँच ही बरस बाद दुनिया के सब चोर, झूठे, दग़ाबाज़, ख़तम हो जायँगे। तब मन में आया कि मैं भी अच्छा काम करके सचाई पर चलकर देखूँ क्या होता है, इसी इरादे से मौक़ा समझकर आपके पास दौड़ा आया हूँ। सवेरे-सवेरे आज हमारी यही बोहनी होगी।"

सब सुनकर गयासिंह ख़ुश हो गये और कृतज्ञता की दीठ से ज़हूर की ओर ताककर बोले—"अच्छा किया है बेटा तुमने! भगवान् अब तुम्हारा भला करेंगे। हमारा रोयाँ-रोयाँ तुम पर ख़ुश है। तुमने इस घड़ी हमारा जो उपकार किया है, वह तुम अच्छी तरह समझते हो। हम तुमसे वह कहना और माता के आगे ननिऔरे का बखान करना एक-सा समझते हैं। अब तुम्हीं कहो हम क्या करें। वह रुपया घर में नहीं लायें?"

बड़ी नरमी से ज़हूर कहने लगा––"इसमें तो बाबू साहब हमको कुछ कहना नहीं है। आपकी इसमें ख़ुशी है चाहे रुपया मँगावें या नहीं मँगावें। या अपने मुनीब को ही हटा देवें। जब रुपया आपके घर नहीं आवेगा तब डाका आपके घर पर नहीं पड़ेगा, यह बनी बात है। लेकिन आप तो बाबू साहब अक़बालवाले आदमी हैं, किसी तरह इन डाकुओं को पकड़वा दें तो बड़ा अच्छा होगा।"

गयासिंह ने ज़हूर की बात पर कुछ देर तक सोचा, फिर ख़ूब सम्हलकर कहा—"ठीक कहते हो बेटा। इन डाकुओं को पकड़ा देना ही बहुत अच्छा है। तब रक़म जो आनेवाली है आने दें। क्यों, तुम्हारी क्या राय है?"

हाथ जोड़कर ज़हूर बोला—"हज़ूर, हमारी राय की कौन बिसात। हम तो ख़ुद चोर आदमी हैं। आज ही पहले-पहल उस पेशे पर तोबा करके सचाई पर क़दम रक्खा है। आप जो मेरे ऊपर इतना कर रहे हैं यही बहुत है।

ग०––नहीं बेटा! तुमको हम अपना अब सलाहकार बनायेंगे। हमारे मन में जो आया है सो सुनो। हमारे दो बेटे हैं। तुमको हम अपना तीसरा धरमपुत्र मानेंगे और ठीक वैसा ही भाव और बर्ताव तुमसे करेंगे जैसा हम अपने बेटे पर करते हैं। तुमने जो आज से सचाई पर पाँव रक्खा है तो इसका फल हमसे तो यही बनेगा बेटा! आज से तुम हमारे बेटा हो।

ज़०—हम तो सरकार मुसलमान हैं।

ग०—मुसलमान और हिन्दू का मेरे दिल में बराबर दरजा है। ये दोनों मेरे भाई हैं। ज़माना दूसरा हो रहा है। यह हम देख रहे हैं। लेकिन हमारे मन में ऐसा अन्तर नहीं कभी आया। हम छोटेपन से इन दोनों को भाई मानते हैं। हमको अपनी मा का बर्ताव ख़ूब याद है। हर साल मस्जिद में बुघरी बनाकर दे आने के लिए हमारी मा रोज़ महीना भर मुझे भेजती थी। मुसलमान के घर की ईद पर सेवई

हम खाकर बड़े हुए। मुसलमान के हर परब पर हम लोग उनमें शामिल होते और हमारे परब पर वह लोग शामिल रहते थे। हम जिस देहात में रहते हैं वहाँ का इन दोनों का अपना सलूक हमको याद है। उन बातों के सिवा आज तो तुमने अपने सब अपकर्म छोड़कर बड़े भारी महात्मा का अनुगमन किया है। तुम आज से हमारे तीसरे पुत्र हुए। अब बोलो रुपया आने दें न?

ज़॰—हाँ! हाँ! आने दीजिए।

ग॰—फिर उसके बाद?

ज़॰—उसके बाद तो हमारी राय है कि पुलिस की मदद का बन्दोबस्त कीजिए।

ग॰—लेकिन मैं तो अकेले घर में हूँ। उस नमकहराम की बात देखकर तो किसी पर भरोसा करना ख़तरे से ख़ाली नहीं।

ज़॰—आप यहाँ के किसी पर इस मौक़े पर यक़ीन मत लाइए। आप किसी से अपना असल मतलब कहिए भी नहीं। चुपचाप सीधे पुलीस के बड़े साहब से जाकर मिलिए। सब काम ठीक हो जायगा।

ग॰—तो तुम हमारे साथ चलोगे बेटा?

ज़॰—ज़रूर चलूँगा। आपका जो हुक्म होगा, मैं बजाऊँगा। जब मैं आपका बेटा हो गया, तब सुबूत का काम क्या है सरकार। लेकिन—

ग॰—लेकिन क्या है?

"लेकिन में दो बातें हैं। एक तो यह कि आपके मुनीब ने कल मुझे देखा है। इस पुरजे पर जो लिखावट है वह उनकी है या नहीं, इसकी जाँच के वास्ते मैंने थोड़ी जासूसी कल की थी।" यही कहकर ज़हूर ने सब बातें गयासिंह से कह दीं और वह छोटा पुरजा दिखलाया कि यही मैंने उनसे अपना मतलब छिपाकर झूठ कहा और लिखाकर अपना मन पक्का कर लिया। मैंने मन में यह भी पक्का करा लिया कि यही झूठ मेरा अख़ीर झूठ होगा। अब मैं चाहता हूँ कि उनसे फिर मेरी देखादेखी नहीं हो। इसी इरादे से मैं अँधेरे में छिपकर आया हूँ। यह कपड़े जो आप मेरे बदन पर देखते हैं, ऐसी पोशाक हमारे बाप ने भी कभी आँखों देखी नहीं थी—यह पहली बात हुई। दूसरी बात यह कि मैं मशहूर चोर हूँ। दो बार चोरी में जेल में कोल्हू भी पेर चुका हूँ। इसी से पुलीस में जाते मुझे बड़ा डर लगता है। मसल मशहूर है कि आग पानी में लगाते हैं लगानेवाले—चोरों को ख़ूब पहचानते हैं थानेवाले। मैं ख़ुद एक तो जेबकट चोर हूँ और यह चिट्ठी भी जेब काट के ही लाया हूँ।

ग॰—तुमको अब कुछ भी डर की बात नहीं है। तुम बरुना ब्रिज पर कल दस बजे दिन के खड़े रहना। मैं आकर अपनी गाड़ी में तुमको बिठा लूँगा और सब हाल तुमको अपना बेटा मानने का बड़े साहब से कह दूँगा। तुम रत्ती भर भी अब मन में किसी तरह का डर मत करो।

सात

दूसरे दिन सवेरे ही दूधाधारी ने अपने मालिक से पूछा—"तो सरकार आज रक़म बंक से ले आना होगा न?"

ग॰—हाँ! हाँ! ज़रूर! मैं तो भूल ही गया था। भले तुमने याद कराया।

इतना सुनते ही गयासिंह ने देखा कि दूधाधारी की आँखें ख़ुशी से नाच उठीं।

दूधाधारी ने चेक मालिक के पास रख दिया था। आज बेखटके फिर पाकर ख़ुशी से चला गया।

इधर गयासिंह मन में कहने लगे—अब चला नमकहराम मरने को। लेकिन इसके बाल-बच्चे बेचारे क्या करेंगे। देखता हूँ मुझे ही उनको भी पालना पड़ेगा। देखें भगवान् अब आगे क्या करते हैं। ठीक कहा है, जो कुछ होता है सब भले के लिए ही होता है। लेकिन इसके बच्चों का बोझा अब मेरे ही सिर पर पड़ेगा।

दूधाधारी खा-पीकर दोनों भोजपुरी लठैतों को साथ लिये हुए बङ्क गया। वहाँ से रक़म सहेजकर कोई दो बजते-बजते बाहर निकला।

मुनीब ने दरबान के हाथ एक चिट्ठी दुक्खन को भेजी। उसमें लिखा कि रक़म बङ्क से लेकर कोठी को जाता हूँ। सलाह के मुताबिक़ ज़रूर मौक़े पर आना।

इधर रास्ते में आगा-पीछा सोचता हुआ चला। एक बार उसके मन में आया कि अगर दुक्खन नहीं आवे तो इसकी सब तैयारी मिट्टी में मिल जायगी। क्या जाने दुक्खन उसको धोखा दे जाय। फिर दूधाधारी के मन में आया कि ऐसा अधर्म करना ठीक नहीं है। अगर पकड़ जाय तो उसको बड़ा घर देखना ही पड़ेगा। ऐसी जोखिम की जगह पर चिट्ठी लिखकर बड़ी नादानी का काम किया है। लेकिन अब

तो हाथ से तीर छूट चुका, अब उसको रोकने का उपाय कहाँ। अगर उसको जेल हुआ तो बच्चे बिलखते फिरेंगे। जो कुछ जगह-ज़मीन जाली नाम से ख़रीद-कर रजिस्टरी कराई है, वह सब भी भोगने को नहीं मिलेगा।

यही सब सोचते हुए वह बदहवास की तरह जा रहा था। भोजपुरी दरबान नोटों के थैले लिये हुए कोठी के भीतर गये। दूधाधारी भी चिन्ता में डूबा हुआ अन्दर गया।

गयासिंह काम-काज निबटाकर दूधाधारी से पहले ही घर आ गये थे। उन्होंने सब नोट सहेजकर ठीक-ठिकाने रख दिये और दूधाधारी से बोले—"देखो दूधाधारी! अभी बड़े बच्चा के एक नातेदार आकर हाथ जोड़ गये हैं। उनके लड़के का चटौना कि मूँड़न-छेदन है। ससुरी अपनी याद को क्या कहें तुरत का तुरत भूल जाता हूँ। बहुत तरह से सब बहू-बेटियों को बुला गये हैं। एक मोटर में तो सब अँटेंगे नहीं, एक और टैक्सी करके ले आओ। ये लोग खाना-दाना करके रात ही को लौट आवेंगे।

दू०—अच्छी बात है, लेकिन घर की गाड़ी तो है।

ग०—तुम तो अक़ल के पीछे झाड़ू लेकर दौड़ते हो। गाड़ी मोटर के साथ अँटेगी चलने में?

दूधाधारी अब कुछ न कहकर कपार खुजलाता हुआ नीचे गया और एक नौकर को टैक्सी लाने के वास्ते फ़रमाकर आप अपने कमरे में चला गया।

सन्ध्या हो जाने पर दूधाधारी ने मोटे आटे का टेकुआ लाकर उसे तोड़-ताड़कर दरबानों में प्रसाद कहकर बाँट दिया।

भोजपुरी लठैतों ने बड़े मौज से कचरकर चढ़ा लिया और ख़ुश होकर दूधाधारी को आशीर्वाद देने और कहने लगे, जिस भण्डार से यह आया है वह सदा भरपूर रहे।

इधर दूधाधारी मन-ही-मन कहने लगे—"मरो बदमाशो! यह धतूरे का टेकुआ खाकर पड़ जाय रात भर तो उठना होगा ही नहीं।"

ख़ाली छितनी लिये दूधाधारी जब घर जा रहा था, गयासिंह ने देखकर पूछा—"कहाँ से?"

दू०—कुछ नहीं मालिक शीतलामाई की पूजा रही, दरबान लोगों को प्रसाद देने गया था।

ग०—ओहो! बड़े पूजा मानतावाले हो यार, धर्मबुद्धि तुम्हारी ख़ूब है। हमको प्रसाद काहे नहीं दिया?

"हाँ, लेकिन ग़रीब का प्रसाद! अच्छा भेजता हूँ।" कहकर तेज़ी से भीतर गया। मन में कहा—"अच्छी बात है। आप भी अंटागफ़ील पड़े रहेंगे तो काम बेखटके आसानी से हो जायगा।"

घर में कुछ थोड़ा-सा रख आया था कि काम पड़े। वही बात हुई। थोड़ा लेकर अच्छी तश्तरी में गयासिंह को दे आया। उन्होंने सूँघकर बरतन-सहित आलमारी में रख दिया।

रात के आठ बजे गयासिंह ने दूधाधारी को बुला-कर कहा—"देखो दूधाधारी! स्टेशन जाने में देर नहीं हो। बच्चा ने नव बजे की गाड़ी से आने को लिखा है।"

"मैं जा रहा हूँ मालिक" कहकर शोफ़र को ख़बर देने चला। जब वह स्टेशन को रवाना हो गया तब कोई पचीस आदमी परात, हँड़िया और बरतनों में तरह-तरह का पकवान, मिठाई, शाक, सब्ज़ी तैयार लेकर कोठी पर आ पहुँचे। देखकर गयासिंह ने उनसे कहा—देखो तो तुम लोग अपनी मालिक की नासमझी! इतना हम मना कर आये लेकिन तब भी नहीं माना। यह सब सरंजाम का कौन काम था भला। अब यहाँ कौन है जो यह सब सम्हालकर रक्खे। नौकर को पुकारकर बोले—ले जा रे! सबकी ख़ातिर करके ठीक-ठिकाने रख दे। कोई दरबान भी तो नहीं दिखाई देता।

नौकर ने कहा—सब नींद में पड़े फों-फों कर रहे हैं सरकार!

ग०—अरे शाम ही से नाक बजने लगी उन सबकी?

नौ०—सरकार मुनीबजी के घर का प्रसाद खाकर ही सब चित पड़ गये हैं।

ग०—अरे! यह बात है! अच्छा देख मर तो नहीं गये हैं सब?

नौ०—ना मालिक सबकी नाक घर्र-घर्र कर रही है।

ग०—अब भी देखा है?

नौ०—अच्छा सरकार यह सब सम्हालकर रख दूँ तो फिर मैं देख आता हूँ।

"हाँ बेटा ज़रा देख लेना उनको भी। सोते हैं तो सो लें ख़ूब अच्छी तरह से, लेकिन मरें न जायँ इसी की चिन्ता है। ज़रा उन पर पानी भी छिड़कते आना, समझे?"

"बहुत अच्छा" कहकर नौकर दरबानों को देखने के लिए नीचे गया। लेकिन लौट आकर बोला—"यह सब लोग गये कहाँ मालिक ?"

ग०—अरे वह लोग अभी तो गये हैं रे, तू रहा कहाँ ?

नौ०—आपके हुक्म के मुताबिक़ दरबानों पर पानी छिड़कने गया रहा।

ग०—अरे तू कैसा अहमक़ है रे। दरबानों पर पानी छिड़कने में इतने आदमी चले गये। तुमने देखा नहीं !

"ना मालिक ! ना ! ना !" कहता हुआ नौकर कपार खुजलाने लगा। इधर दूधाधारी अपने मालिक के लड़के को लेकर ज्यों ही पहुँचा, गयासिंह ने उसी दम कहा—"देखो दूधा अब ठहरो मत तुरन्त बच्चा की सुसराल चले जाओ सबको ले आओ। तुमको आज हैरानी तो बहुत हुई, लेकिन क्या करें, आज काम ही ऐसा आ गया और तुम्हारे सिवा हमारा दूसरा कोई विश्वासी तो है नहीं।"

ज़ाहिरा हँसकर दूधाधारी बोला—"कोई हरज की बात नहीं। हम हैं किस काम के वास्ते ! यही तो मौक़ा है मिहनत का।" फिर मन में कहा—"अब तो ख़तम होता है मामला। घबराते काहे को हैं।"

दूधाधारी मोटर लेकर चला गया। मालिक गयासिंह ने भी मन में कहा—"जाओ बच्चा, अब वहाँ से तुमको लौटना भी नसीब नहीं होगा। यहाँ रहने से ज़रा भी पुलीस की तैयारी की गन्ध मिली कि सब तहस-नहस कर दोगे तुम।" फिर लड़के को अलग ले जाकर उन्होंने सब आदि से अन्त तक समझाकर कह दिया।

बच्चा गाजरसिंह सुनकर बड़े उत्तेजित हुए। बोले—"बहुत अच्छा किया आपने ! ऐसे नमकहराम का तो सिर काट लेना चाहिए।"

गयासिंह ने समझाकर बेटे को शान्त किया।

अब ज्यों-ज्यों रात बीतने लगी, गयासिंह की चिन्ता भी बराबर बढ़ती गई। यद्यपि सब प्रबन्ध ठीक हो चुका था, बाल-बच्चे भेज चुके थे, घर में पुलीस सब तरह से तैयार लैस होकर डटी थी फिर भी उनकी चिन्ता दूर नहीं हो सकी थी।

लड़कपन से गयासिंह बराबर संकट-पर-संकट सहते आते हैं। केवल अपनी शक्ति और अपने बाहुबल से सब बाधा-विघ्न माथे लेकर सब सहकर इतनी सम्पत्ति उन्होंने कमाई है। अपनी नेकनीयत से ही दूध-पूत से भरकर इस बुढ़ापे में सुख से दिन बिता रहे हैं, लेकिन ऐसी सांघातिक दशा में कभी नहीं पड़े थे। उनकी छाती बराबर धड़क रही थी। वह बार-बार घड़ी देखते और जँगले से मुँह निकालकर बाहर ताकते थे।

घर का सदर दरवाज़ा अभी बन्द नहा हुआ था, नौकर मारकंडे चौतरे पर खटिया डालकर उसी पर पड़ा हुक़ा गुड़गुड़ा रहा था। अफ़ीम की पीनक में झूलता था कि बैठके की घड़ी में टन-टन करके बारह बजा।

उसी दम कोई बीस आदमी वहाँ झटपट पहुँच गये। नशे की झोंक में मारकंडे ने समझा कि उसका सिर काटे लिये जाते हैं। चोर-चोर करके ज्यों ही उठता है कि कपार पर लट्ठ पड़ा। "बाप रे' मर गये बाबू ! जान गई मालिक हाय !" करके वहीं गिर गया। पिस्तौल की आवाज़ करके सब भीतर घुस पड़े।

सब हाफ़पेंट और ख़ाकी अधबहियाँ कमीज़ पहने आँखों पर चश्मा चढ़ाये थे। पाँव में रबर का जूता था। चार डाकू पिस्तौल लिये हुए गयासिंह के सामने पहुँचकर बोले—"तिजोरी की चाभी कृपा कर दीजिएगा ?" यह हाथ बढ़ाये हुए दुक्खन की बातें थीं।

"हाँ ज़रूर दूँगा, काहे नहीं।" कहकर गयासिंह ने चाभियों का गुच्छा फेंक दिया। उसी दम परदा हटा और पिस्तौल का फेर हुआ। डाकुओं ने अकचकाकर पीछे देखा तो उनके चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। सामने ही पुलीस देखकर उनका हाथ काँपने लगा। पिस्तौल धरती पर छूट पड़े। अब डाकू दोनों हाथों पिस्तौल लिये पुलीसवालों से घिर गये।

पुलीसवालों में ज़हूर भी था। वह बड़े तपाक से बोला—"सलाम सरदारजी। दूसरी तारीख़ को आपका मनी-बेग दूधाधारी की चिट्ठी सहित मुझे बख़्शिश किया गया था उसका धन्यवाद।"

अब तो दुक्खन को चीरो तो लोहू नहीं। मन में आया कि अपना सिर पत्थर पर पटक मारे।

गयासिंह ने कहा—"कुछ परवा नहीं। अण्डमन से वापस आकर तुम्हें पूरी बख़्शिश कर देंगे। कुछ चिन्ता की बात नहीं सरदार ! आपके साथी भी साथ ही रहेंगे।"

दुक्खन ने तो समझ लिया कि आज उसका अक़बाल ख़तम हुआ। चुपचाप उसने हाथ बढ़ाकर हथकड़ी पहन ली। सब गिरफ़्तार हो गये।

अदालत में सबका विचार हुआ। दुक्खन पन्द्रह वर्ष को काला पानी भेजा गया। साथियों को पाँच-पाँच बरस की जेल हुई। गयासिंह ने दूधाधारी को बचाने के वास्ते बहुत कोशिश की, लेकिन जज ने नहीं माना। उसको तीन बरस क़ैद की सज़ा दी गई।

ज़हूर के काम से सब लोग ख़ुश हुए। उसने जो सदा सच बोलने का काम माथे लिया उसका सोलहो आने निर्वाह करने लगा। अभ्यास से जो झूठ मुँह से निकल भी जाता उसको उसी दम अपना कान पकड़कर सच कहता और सबसे माफ़ी माँगता था।

गयासिंह ने उसको दस हज़ार का एक चेक देकर कहा—"ले बेटा यह तोको इस वास्ते देते हैं कि तू इससे मन भरकर गुज़ारा करना। सदा सच्चे बोलकर सच्चा रोज़गार करना। तुमको ज़िन्दगी भर खाने-कमाने की कमी नहीं रहेगी। यह हमारी बिदाई नहीं है बेटा। जब कभी तुमको कुछ ज़रूरत पड़े तब हमसे आकर कहना। सदा ख़ुदा पर भरोसा रखकर उसी पर यक़ीन करना और नेक रास्ते पर चलना।"

ख़ुशी से ज़हूर चेक लेकर रक़म भँजा लाया। फिर पुलीस के बड़े साहब की बुलाहट पाकर उनसे मिला। साहब ने पूछा—"तुमको पुलीस में नौकरी से कुछ इनकार तो नहीं होगा।"

"ना सरकार, इनकार नहीं बल्कि मैं ख़ुश हूँ कि आप मुझे नौकरी देते हैं, लेकिन मैं पुलीसवालों के काम देख चुका हूँ और सदा से चोर रहा हूँ। पुलीस में मैं नौकरी नहीं करके कोई रोज़गार या दूकानदारी करूँगा।"

यही कहकर ज़हूर ने माफ़ी माँगी और घर को चला। रास्ते में एक मस्जिद मिली, उसी के भीतर जाकर "अल्लाहताला! सब तुम्हारी मरज़ी है" कहकर धरती पर लोट गया। देर तक अपने गुनाहों की माफ़ी माँगता हुआ हाथ जोड़कर कहने लगा—"या अल्लाहताला! अब मुझे कभी इस सच्ची राह से मत गिराना। मैं यही माँगता हूँ तुमसे।"

बहुत देर तक बिनती कर चुकने पर शान्त गम्भीर ज़हूर मस्जिद से बाहर निकला। जब घर पहुँचा तो देखा दरवाज़े पर नसीबन उसी की राह देख रही है। ज़हूर ने दस हज़ार के नोट देकर साहब की सब बातें और अपना जवाब भी नसीबन को सब बीती घटना के साथ कहकर सुनाया।

नसीबन ने सब-सुन समझकर कहा—"तब तो तुम अब भले आदमी हो गये ज़हूर!"

ज़०—अब तुम मेरा नाम मत लिया करो और वादे पर तुम भी भली बनो। यह सब तुम्हारे ही वास्ते हुआ है।

दोनों उसी दिन से निकाह करके पति-पत्नी हुए और नेक रास्ते पर रहकर गुज़ारा करने लगे। ज़हूर ने उस दस हज़ार से चौक में जूते की दूकान खोल दी और जेनरल शू-स्टोर के नाम से काम चलाने लगा। जो गाहक आता सबके क़दम पोछकर अपनी दूकान का जोड़ा पहनाता और रुपये में एक पैसा नफ़ा लेकर बेचता था। कभी किसी से इस हिसाब से दाम लेने के सिवा एक दमड़ी भी अधिक नहीं लेता, न किसी को लेने देता। अपने यहाँ उसी को नौकर भी रखता जो ख़ुदारसूल का नाम लेकर कभी झूठ न बोलने की क़सम लेता था।

इस पर भी अपने जिस किसी कारिन्दे को कभी झूठ बोलते पाता या बेईमानी का काम करते देखता, उसी दम उसको जवाब देकर निकाल बाहर करता। इस तरह वह ईमानदारी और सचाई का काम करके बहुत बढ़ा। सब लोग उसका इस तरह बदल जाना समझकर दाँतों उँगली दबाते और कहते थे कि कैसे निबाहता है। लेकिन इन आसमान से गिरनेवालों में से हज़ार लाख में कै आदमी उसकी तरह सचाई और ईमानदारी करके भले बने—इसका लेखा कहीं कुछ नहीं मिला। सब शब्दों से वाहवाह करते और हैरत से उसकी ओर देखते थे।

नसीबन का तो नसीब ही बदल गया। अब नसीबन ज़हूर की मनकूहा जोरू होकर दिन-रात ख़ुदा की इबादत में दिन बिताती और रोज़ सवेरे उठकर आसमान की ओर मुँह करके कहा करती है—"या अल्लाह सबके दिन इसी तरह फेरना। सब तेरे ही बन्दे हैं।"

एक साधु हाथ में टेढ़ा डण्डा लिये रोज़ सवेरे उसके दरवाज़े पर आकर गाता था—

भगवन तुमरी महिमा अपरम्पार,
बेद क़ुरान पुरानहु गावत
पावत नाहीं पार।

तुम्हीं कर्ता, तुम्हीं हर्ता
तुम्हीं भवपार लगावनहार।
तुम्हीं दाता तुम्हीं त्राता
तुम्हीं हो जग के सिरजनहार।
जो कछु दरसत दसहु दिशा में
सब ही के तुम हो करतार।

यह गोपालहु तुमरी माया
काया परिवर्तित संसार।
भगवन तुमरी महिमा अपरम्पार।

नसीबन उसको कुछ देना चाहती तो कभी कुछ नहीं लेता था। कभी बहुत हठ करने पर कहता--"अच्छा ला दे माई"। वह जब भीतर लेने जाती तब वह झटपट लम्बे पाँव ग़ायब हो जाता था।

ध्रुवस्वामिनी में गीत

श्रीयुत कृष्णकुमार सिन्हा

विश्व प्रकृतिमय है, जटिल समस्याओं का आगार है, दुःखमय कारागार है। जहाँ एक ओर मानव संसार के आनन्द-सागर में डुबकियाँ लगाता है, वहाँ दूसरी ओर जीवन की जटिल एवं विकट समस्याओं में उलझा रहता है। मानव संसार के सौन्दर्य से उतना अधिक प्रभावित नहीं होता, जितना कि दुःख और करुणा से; क्योंकि वह मानव-हृदय का एक स्पन्दन है। इन दो भावनाओं के अतिरिक्त भी अनेकानेक भावनाएँ मानव-हृदय में निवास करती हैं, परन्तु उनके मूल में ये ही भावनाएँ का करती हैं। इस विश्व में तो विज्ञान के क्रमिक विकास के साथ सभ्यता का भी विकास हुआ, परन्तु नैराश्य की सघन कालिमा से भारतीय लोग पूर्ण रूप से आच्छादित रहे। युग की इन नैराश्यमय भावनाओं से प्रभावित होकर तथा सामयिक दुःख एवं कष्टमय वातावरण को देखकर हिन्दी के कवियों के हृदय में करुणा एवं वेदना की मन्दाकिनी बह चली। ठीक इसी घनी करुणा एवं वेदना के साथ-साथ राष्ट्रीयता की भी धूम मची। उसमें 'प्रसाद' अग्रदूत बनकर आये।

यों तो नाटकों में गीतों की कोई विशेष आवश्यकता नहीं, परन्तु एक परिपाटी-सी यह चली आ रही है, जो मनोरंजन का एक प्रमुख साधन है। वास्तव में गीतों का नाटक की कथावस्तु से कोई संबंध नहीं रहता, परन्तु गायन का संबंध अधिकतर वेश्या एवं गायन-प्रवृत्तिवाले पात्रों से ही रहता है। "चरित्र-चित्रण का, जो इस युग की मुख्य वस्तु है, इससे संबंध न होने के कारण भी इसकी ओर कम ध्यान दिया जाता है। मुख्य प्रबन्धक भी गायनादि में संशोधन अथवा परिवर्तन करता ही है. यदि लेखक विशिष्ट, सिद्धहस्त, अनुभवी या प्रख्यात न हुआ तो। अतः नाटक-लेखक यदि गायन की ओर ध्यान न दे तो कुछ हानि नहीं।" परन्तु "नाटक में गीतों की आवश्यकता है और रहेगी। जीवन-यात्रा के शुष्क मरु-प्रदेश में थककर मनुष्य किसी न किसी क्षण कुछ गुनगुनाना चाहेगा ही। एक कवि होने के कारण यह स्वाभाविक ही था कि प्रसादजी ने अपने नाटकों में पर्याप्त गीत दिये।"

प्रसाद ने जो अपने नाटकों में गीत-निर्माण किया है, वह किसी विशेष उद्देश्य या धारणा को लेकर नहीं किया। इनका प्रवेश एक तो उनकी काव्यप्रवृत्ति के वश, दूसरे अनुकरण के कारण तथा तीसरे निरुद्देश्य जान-बूझकर हुआ है। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि नाटकीय प्रतिभा से उनकी काव्य-प्रतिभा का विकास पहले ही अच्छी तरह हो गया था और इनका यही क्रम अंत तक बना रहा। हाँ, चन्द्रगुप्त एवं ध्रुवस्वामिनी में अवश्य दोनों कलाएँ समकक्ष-सी दिखाई देती हैं। काव्य-प्रतिभा तो प्रौढ़ता के कारण एवं नाटकीय प्रतिभा सिद्धहस्तता के कारण प्रायः एक ही समोच्च कोटि की हो गई है।

वास्तव में ध्रुवस्वामिनी में काव्य, कला, चिंतन, राष्ट्रीय भावना एवं संगीत का सुन्दर सामंजस्य हुआ है। ध्रुवस्वामिनी में चिंतन की मात्रा अधिक है। प्रसाद ने 'ध्रुवस्वामिनी' में जिन गीतों का प्रयोग किया है, उन्हें मुख्य तीन भागों में विभक्त कर सकते हैं—

(क) राष्ट्रीय भावनाओं की अभिव्यक्ति के लिए।
(ख) करुणा के प्रदर्शन के लिए।
(ग) प्रकृति-प्रेम के कारण।

इन्हीं तीन आधारों पर 'प्रसाद' ने अपने 'कामायनी' जैसे अमर काव्य की रचना की. तथा इन्होंने कहानियों, उपन्यासों एवं नाटकों में इन्हीं नाटकों के सहारे इन सब ग्रन्थों की रचना की।

हाँ, ये जो गीत हैं वे नाटकों को लिखते समय नहीं लिखे गये, बल्कि उन्होंने अतीत के गीतों को इस प्रकार रक्खा है कि उनसे नाटक के मनोभाव पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाते हैं। इन गीतों को नाटकों से हटा लेने पर नाटकों के भावों में कोई परिवर्तन नहीं होता और न ये किसी नाटक की प्रगति में बाधा प्रस्तुत करते हैं।

काव्य-कला की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति अधिकांश गीतों में होती है; क्योंकि भाव के उतार-चढ़ाव के अनुसार गीतों के स्वर में भी उतार-चढ़ाव होता है।

'ध्रुवस्वामिनी' में सर्वप्रथम मन्दाकिनी का गान मिलता है, जिसमें करुणा, वेदना और अतीत-स्मृति का दिग्दर्शन होता है। उस गायन के स्वर से एक तड़पती एवं अतृप्त आत्मा की पुकार की ध्वनि हमारे मस्तिष्क में प्रतिध्वनित होती है। इन पंक्तियों में वह पुरुषों के पाशविक कर्मों से हृदय में उत्पन्न होनेवाले दुःख, वेदना, करुणा एवं कसक को शान्त रहने तथा आँसू के रूप में बाहर न निकलने का आदेश देती है।

साथ ही साथ कई युगों से नारीत्व पर आघात किये जाने, अज्ञान के अंधकार में आच्छादित एवं पुरुषों के पैशाचिक कर्मों के पाँवोंतले पड़े अस्तित्व को पुनः प्रत्यक्ष करने एवं बताने का निवेदन है—

यह कसक अरे आँसू सह जा !
बनकर विनम्र अभिमान मुझे
मेरा अस्तित्व बता, रह जा !
× × ×
करुणा बन दुखिया वसुधा पर
शीतलता फैलाता बह जा !

ठीक इसी प्रकार का भाव हमें प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त' नाटक और गुप्तजी की 'यशोधरा' में मिलता है—

"निकल मत बाहर दुर्बल आह,
लगेगा तुझे हँसी का शीत।" [प्रसाद]
× × ×
"अबला जीवन हाय तुम्हारी यही कहानी,
आँचल में है दूध और आँखों में पानी।"
[यशोधरा]

परन्तु पूर्णतया दोनों एक नहीं हैं। 'प्रसाद' ने तो स्वयं ही एक स्थल पर लिखा है—"दुःख और करुणा मानव-हृदय की कोमल एवं सूक्ष्म वृत्तियाँ हैं। मानव-हृदय को ये जितना छू सकती हैं, उतनी अधिक कोई दूसरी नहीं।" वे अपने इसी विचार की अधिकतर पुष्टि करते हुए पाये जाते हैं।

इस करुणा एवं समवेदना के अतिरिक्त जो भावनाएँ हमें 'प्रसाद' में पूरी-पूरी मिलती हैं, वे हैं—राष्ट्रीयता और आत्मगौरव की। इनकी राष्ट्रीयता और आत्मगौरव की भावनाओं की ही पराकाष्ठा का यह परिणाम है कि पाठकों के सम्मुख भारत के स्वर्ण-मय युग का नाटकों में वर्णन है, जो कि भारतीय संस्कृति के प्रदर्शन में अपना एक विशेष स्थान रखती हैं। यों तो हम राष्ट्रीयता और आत्मगौरव की भावना प्रत्येक नाटक में पाते हैं, परन्तु 'ध्रुवस्वामिनी' और 'अजातशत्रु' का अलग एक स्थान है।

मन्दाकिनी ने जो उद्बोधन गान गाया है, उसमें जीवन, जागृति और बलिदान का अमर संदेश है।

इसमें परवशता एवं असमर्थ का रुदन नहीं, बल्कि त्याग की एक अपूर्व भावना है। मन्दाकिनी सामन्त कुमारों के आगे गाती है—

"पैरों के नीचे जलधर हो,
बिजली से उनका खेल चले।
संकीर्ण कगारों के नीचे,
शतशत झरने बेमेल चले॥
× × ×
अपनी ज्वाला को आप पिये,
नवनीत कंठ की छाप लिये।
विश्राम शान्ति को शाप दिये,
ऊपर ऊँचे सब झेल चले॥"

"यह कविता श्रीरवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'अकेला चल रे चल रे' वाली कविता के समान ही आँधी, अग्नि से लड़कर ज्वालामुखियों के मुख में से निकलकर भी सफलता, ध्येय की ओर बढ़ानेवाली है। कोई पंक्ति, कोई शब्द ऐसा नहीं जो जोश, जीवन से भरा न हो, भयंकरता, भीषणता से सामना करने का साहस न भरता हो।"

किन्तु "सबसे अधिक जहाँ प्रसाद की प्रतिभा का काव्य के लिए उपयोग हुआ है वे स्थल हैं, जहाँ उन्होंने यौवन, यौवनोल्लास एवं सौन्दर्य की अभिव्यक्ति की है। शब्दों में से भाव उछल-उछल पड़ते हैं। चित्र खींच देते हैं। एक अद्भुत आकर्षण की सृष्टि करते हैं।" और सबसे बड़ी विशेषता तो यह है कि प्रसाद की भाषा भावों की अनुगामिनी होती है। मानव के भावों की जितनी अभिव्यक्ति गीतों में होती है, उतनी दूसरी और किसी वस्तु में नहीं और स्यात् इसी कारण 'प्रसाद' और 'कोमा' दोनों ने गीत ही को अपनाया है। 'प्रसाद' की दार्शनिकता उनके गीतों में टपकी पड़ती है। ध्रुवस्वामिनी में वर्णित कोमा का गाना यद्यपि उसकी अवस्था के पूर्ण अनुकूल है, फिर भी उसमें इनके हृदय में उत्पन्न होनेवाले विचारों का व्यक्तीकरण है। कोमा पूर्ण रूप से युवती है, परन्तु उसे 'प्रणय प्रेम' का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। और उसकी यौवनावस्था दिन-ब-दिन अवनति की ओर अग्रसर हो रही है। कोमा को इस अवस्था के प्रति अत्यन्त दुःख होता है और अपनी इस तीव्रता में वह इतनी घनीभूत हो गई है कि यौवन की गति में जो विकास है उसका पता नहीं चलता। कोमा के इस गीत में एक समस्यात्मक गंभीर भावना है, जो वह स्वयं न रोकर दूसरे के हृदय में एक नैराश्यमय वातावरण की सृष्टि करने लगी। कोमा जैसी युवती, जिसे 'रूठने का सुहाग' नहीं मिला है, उसके गीत में द्रुत-गामी गति है—

"यौवन ! तेरी चंचल छाया !
इसमें बैठ घूँट भर पी लूँ जो रस तू है लाया ।
× × ×
पल भर रुकनेवाले !
कह तू पथिक ! कहाँ से आया ?"

यहाँ 'प्रसाद' ने अपने हृदय की भावनाओं को कोमा के ही शब्दों में व्यक्त किया है और 'यौवन' को पल भर रुकनेवाले पथिक के नाम से विभूषित किया तथा उसकी छाया को 'चंचल' कहा। जिस प्रकार हमारे भारतीय दार्शनिकों ने जीवन को न जाने कितनी संज्ञाएँ प्रदान की हैं, उसी प्रकार 'प्रसाद' ने भी 'यौवन' को बहुत-सी संज्ञाएँ प्रदान की हैं। यहाँ इन्होंने यौवन को चंचल एवं एक पल भर रुकनेवाला पथिक माना है, परन्तु इनकी अन्य संज्ञाएँ भी निम्न-लिखित पंक्तियों में देखिए—

"आज इस यौवन के माधवी-
कुंज में कोकिला बोल रही।" [चन्द्रगुप्त]
या
"आज मधु पीले यौवन वसंत खिला।"
[ज० का० नाग०]

इनके प्रकृति-चित्रण में श्रीधर पाठक की भाँति कहीं भी प्रकृति का यथार्थ चित्र नहीं है—केवल हृदय की एक विशेष स्थिति का वर्णन है। प्राकृतिक सौन्दर्य के वर्णन में इन्होंने कल्पना से काम लिया है। "प्रसाद ऐसे चित्रण के चित्रकार हैं, परन्तु जब तक कवि अपने भावों का साम्य स्थायी रूप से प्राकृतिक पदार्थों में नहीं कर पाता तब तक उसे संतोष नहीं मिलता और उसे केवल वैज्ञानिक तथ्यों पर स्थित सौन्दर्य अरुचिकर-सा प्रतीत होने लगता है, क्योंकि वह तो हृदय का सत्य चाहता है"—इसी लिए गायक या श्रोता के हृदय में आविर्भूत होनेवाली भावनाओं का प्रतिबिम्ब देखने को मिलता है। 'प्रसाद' ने प्रकृति का उद्दीपन एवं बिंब प्रतिबिंब-रूप में चित्रण किया है। 'ध्रुवस्वामिनी' में भी किया गया एक रम्य, हृदयग्राही, मनोमोहक चारु चित्र है। नर्तकियों के गाने में प्राकृतिक छटा का वर्णन, सायंकाल में प्रकृति के रम्य वातावरण में बैठे शकराज के मद्यपी समाज का प्रतिबिंब है। नर्तकियाँ नाचती हुई गाती हैं—

"अस्ताचल पर युवती संध्या की
खुली अलक घुँघराली है।
लो, मानिक मदिरा की धारा
अब बहने लगी निराली है॥
भर ली पहाड़ियों ने अपनी
झीलों की रत्नमयी प्याली।
झुक चली चूमने वल्लरियों
से लिपटी तरु की डाली है॥"

'प्रसादजी' के गीतों की नाटकीय उपयोगिता में क्रमशः विकास होता गया है। ये गीत नाटक में अपनी स्वतंत्र सत्ता रखते हैं। वे स्थान, पात्र और समयानुकूल हैं। अधिकतर वे कवि की स्वतंत्र रचनाएँ ही मालूम पड़ती हैं जो बाद में नाटक में रख दी गई हैं। इसी कारण उनके गीतों में रहस्यवाद की झलक मिलती है।

'ध्रुवस्वामिनी' में मन्दाकिनी और कोमा के चरित्र में जो संगीत रक्खा गया है वह बहुत ही उपयुक्त है। यह मनोवैज्ञानिक सत्य है कि संगीत का उद्गार तभी होता है, जब मनुष्य की भावनाएँ अपने अंतिम शिखर पर उठ जाती हैं। वैसी दशा में हृदय से जो कुछ निकलता है, वह संगीतमय होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि ध्रुवस्वामिनी में कोमा के प्रेमालाप के अंत में मन्दाकिनी के शोक की पराकाष्ठा एवं आह्लाद की उच्चतम अनुभूति में संगीत का प्रवाह हुआ है।

'ध्रुवस्वामिनी' के गीतों की भाषा बहुत ही सरल एवं सरस है और इसके भावों का समझना दुष्कर नहीं। हाँ, यह तो सत्य है कि उनके गूढ़ तत्त्वों को समझने में कठिनाइयों का सामना करने पड़े। यह तो इनकी रहस्यवादी एवं छायावादी प्रकृति का फल है। परन्तु इन दोषों के होते हुए भी—'प्रसाद' जी के गीतों में संगीत की धारा वेगवती नहीं, बल्कि पूर्ण यौवन के साथ मदमाती-सी, अपना रास्ता स्वयं बनाती चलती है। प्रत्येक शब्द में कोमलता ने अपना स्थान ग्रहण किया है। शब्दविन्यास मधुर और हृदयग्राही है। इनके गीतों के माधुर्य एवं संगीत की गंगा-यमुना हृदय में आनन्द की सृष्टि करने की क्षमता रखती हैं।

'ध्रुवस्वामिनी' में गीतों का समावेश समयानुकूल है, अतः इसमें प्रसाद ने अपूर्व सफलता प्राप्त की है। इसी लिए 'प्रसाद'जी के गीत इसमें महत्त्वपूर्ण तथा उत्कृष्ट हैं।

वनमाला
आप से कहती हैं कि,
लक्स सौंदर्य साबुनही
उस का निजी सौंदर्य का
कैसा सहज एवं सरल
उपाय है
मैं लक्स सौंदर्य साबुन का काफ़ी झाग बनाती हूँ और सौम्यता से त्वचापर थपकती हूँ...
पश्चात मैं साफ़सुथरे और शीतल पानी से धो डालती हूँ . . .
अन्त में मैं सौम्यता से अपना मुख नरम तौलिये से पोंछ लेती हूँ
LUX TOILET SOAP
फिल्मी स्टार्स का सौंदर्य साबुन
फिल्मी स्टार्स यह जानती हैं कि, लक्स सौंदर्य साबुन उन की त्वचा को निर्मल एवं पंखडीके समान कोमल बनाता है, वे उसपर निर्भर रहती हैं — उस का सौम्य और तरल झाग प्रत्येक त्वचा-रंध्रों में प्रवेश कर, रजःकण एवं अशुद्धता से साफ़ कर देता है। आप स्वयं वनमाला का सहज सौंदर्य-साधन का ३० दिनों के लिये अनुभव कीजिये — आप उस के मृदुता एवं शुद्धिकारक गुणों से हर्षित होंगे।

श्रीकमलाकान्त पाठक और उनका काव्य

"श्रीअध्यापक"

हिन्दी के लेखकों में हमें दो प्रवृत्तियाँ देखने को मिली हैं। पहली प्रचार और प्रकाशन की दुर्दमनीय सक्रिय कामना, दूसरी प्रकाशन तथा प्रचार से सर्वथा पराङ्मुखता। इन्हीं दूसरी श्रेणी के साहित्य-सेवियों में प्रो० कमलाकान्त पाठक भी हैं। व्यक्तिगत रूप से आपकी रचनाओं को खोज-खोजकर, कहीं बण्डलों में, कहीं कॉपियों में, पिछले छः महीनों से अवलोकन करने का मुझे अवसर मिला है।

पाठकजी हिन्दी के उन सेवकों में से हैं जिन्हें पिछले दस वर्षों से निरन्तर साहित्य-सेवा के बावजूद भी कुछ इनेगिने लोग ही जानते हैं। यदि आपकी रचनाओं का प्रकाशन-इतिहास लिखा जाय तो शायद आप पत्र-पत्रिकाओं में प्रतिवर्ष आधी दर्जन रचनाओं से अधिक नहीं छपवाते रहे हैं। गद्य में आपकी आलोचनाएँ अपना विशेष मूल्य रखती हैं, किन्तु अभी तक आपने उन्हें पुस्तकाकार में प्रकाशित कराने का प्रयास नहीं किया है। मैं यहाँ आपके कवि की ही आलोचना लिखना चाहूँगा। इस आलोचना को प्रशंसात्मक पद्धति में या परिचयात्मक प्रणाली में न लिखकर व्याख्यात्मक ढंग से लिखने का मेरा यह प्रयत्न है।

कवि कमलाकान्त पाठक ने सन् १९३९ के उत्तरार्द्ध से लिखना प्रारम्भ किया है। मुझे आज तक आपकी रचनाओं के पढ़े जाने का सुअवसर मिला है। एक आश्चर्य-जनक बात मैं लिखना चाहूँगा कि आपकी रचनाएँ कहीं रैपरों पर, कहीं काग़ज़ के टुकड़ों पर लिखी हुई अधिकांशतः मुझे मिली हैं जिन्हें आपके किसी परिजन ने एकत्र कर रेशमी फ़ीते में बाँध दिया है। इधर कुछ मित्रों के आग्रह से आप पुस्तकाकार में उन्हें संगृहीत कर रहे हैं, अभी तो नोट-बुक में उन्हें लिख रक्खा है।

श्रीपाठक का विकास-क्रम इस प्रकार है कि वे मूलतः अपनी भावविदग्धता और अभिव्यञ्जना-प्रणाली को निरन्तर अधिक मार्मिक एवं हृदय-ग्राही बनाते जा रहे हैं। आपकी रचनाओं में जहाँ शक्ति-गाम्भीर्य तथा सरलता का क्रमागत परिष्कार होता जा रहा है, वहाँ आपके स्वर में सचाई, स्वाभाविकता और सहज सौन्दर्य की भी अभिवृद्धि होती जा रही है। आपने कला को जनकल्याण का माध्यम ही स्वीकार किया है और साहित्यालोचन के सिद्धान्तों का इसी आधार पर एक नवीन विचारादर्श उपस्थित कर रहे हैं। आपका मत है कि उपयोगिता का साध्य सौन्दर्य के साधनों पर निर्भर होता है।

कवि पाठक की काव्यधारा का मूलतत्त्व "राग" है। इसी हृदय-वृत्ति को आपने काम के आदर्शीकरण के रूप में स्वीकार किया है। जहाँ आपका व्यक्तिगत जीवन क्रान्तिकारी आधारों पर स्थित है वहाँ यौन भावनाओं की पूर्ण परिष्कृति भी आपकी रचनाओं में मिलती है।

कवि की काव्य-धारा के मूलतत्त्व चार हैं—पहला प्रणय-भावना। दूसरा प्रकृति का सौन्दर्य-पक्ष, भावों की पृष्ठ-भूमि के रूप में। तीसरा रहस्यवादी भावना—जिसे हम दिव्य सौन्दर्य कह सकते हैं। चौथा कवि की भाव-प्रवण प्रगतिवादिता। कहने का अर्थ यह नहीं कि उपर्युक्त चारों बातें कवि ने अलग-अलग रूप से व्यक्त की हैं। पाठकजी के काव्य में इन चारों बातों का एक सन्तुलन तथा समर्थ सामञ्जस्य देखने को मिलता है। यह बात अवश्य है कि रहस्यवादी रचनाएँ पिछले कई वर्षों से कवि ने बहुत कम लिखी हैं, जिनका स्थान कवि की राष्ट्रीय रचनाओं ने ग्रहण कर लिया है। कवि की मूल प्रकृति प्रगतिवाद को भावनामय करने में है। कवि ने युग की पुकार को, ज़माने की गति को एक अनुभूति के रूप में ग्रहण किया है। आर्थिक, सामाजिक तथा राजनीतिक, बौद्धिक विचारों को कवि ने हृदय के रस में स्निग्ध किया है और कला के सौन्दर्य-उपचारों द्वारा उसे अभिव्यक्त किया है। संक्षेप में, कवि ने प्रगति-शीलता को भावनामय, मार्मिक तथा सुन्दर बनाने का प्रयत्न किया है। जिस प्रकार श्रीमाखनलाल चतुर्वेदी ने राष्ट्रीय काव्य को भावनामय बनाया है, उसी प्रकार इन्होंने प्रगतिवाद को भावनाप्रवण बनाने का सफल प्रयत्न किया है। कवि ने यह प्रयास कर समूह को व्यक्ति के प्रतीक में बहुधा अभिव्यक्त किया है।

व्यक्तिवादिता का कवि पर प्रबल आरोप नहीं

लगाया जा सकता। हाँ, वह व्यक्तिवादी उसी अर्थ में है कि वह व्यक्ति को समाज का एक अंग स्वीकार करता है। कवि ने आशा और निराशा के गीत गाये हैं और इसी तरह उसके व्यक्तित्व की रेखाएँ उभर आई हैं। आत्माभिव्यक्ति मूलतः व्यक्तिवादिनी तो होती ही है और कवि का व्यक्तिवाद सामाजिक प्रकृति और विकृति का तो प्रतीक-मात्र है।

कवि पाठकजी का काव्य प्रगीतात्मक मुक्तक है। इन्होंने मुक्तक को मार्मिक और प्रगीत को हृदयस्पर्शी बनाया है। जहाँ तक काव्य-कला का सम्बन्ध है, कवि अपनी रचनाओं में ताज़गी (Freshness) का पक्षपाती है और इसी कारण वह अपनी रचनाओं में बहुधा सुधार नहीं करता। वह कहता है कि जैसा जो लिखा गया है उसी तरह वह रहे तो उसमें ताज़गी है। कला का संस्कार जहाँ तक सुरुचिपूर्ण होता है वहाँ तक उसे मान्य है और वह कहा करता है कि पचीकारी और घिस-घिस लेखन-शैली उसे नापसन्द है। वह अपनी रचनाओं में प्रत्यक्ष होने में नहीं डरता, किन्तु उसका आग्रह है कि कविता की सरलता के साथ-साथ उसकी नैसर्गिकता भी अक्षुण्ण रहनी चाहिए। उसका यथार्थवाद समाज की वास्तविकता के ख़ून की रवानी में है। उसका यथार्थ सुन्दर है, नग्न नहीं। उसने समाज के जिगर के नासूर पर पैबन्द ही लगाया, न पट्टी ही बाँधी, न उसे धोया ही। उसने तो उसे सुन्दरता के उपचारों से उपादेय बनाया है और इसी कारण उसकी करुणा में आशा के अंकुर पनपे हैं।

संक्षेप में कवि भावों में विदग्ध, विचारों में प्रगतिशील और अभिव्यक्ति में मार्मिक है। कवि ने कल्पना का बुद्धिसंगत प्रयोग किया है और उसकी रचनाओं में अन्तर और बाह्य सौन्दर्य का सन्तुलन मिलता है।

श्रीपाठक की कविता का उद्‌गम सदैव भावनामय है। उसके विकास-क्रम को यदि देखें तो उसमें कहीं प्रेम, कहीं नैराश्य, और कहीं सहानुभूति के रूप में हमें दलित-मर्दित युगयौवन की हुंकृति मिलती है। कवि का रहस्यवाद काम का आदर्शीकरण-मात्र रहा है। उसका प्रेम तपस्वी की तरह पवित्र है। मानवीय तट पर, अमानवीय भावपट पर, और मनुष्य तथा प्रकृति के नाना रूपों में प्रेम मूलभाव भासित होता है। नैराश्य की आकृति और समाज की विकृति आशा की प्रकृति के दो रूप हैं, जिसमें कवि की कृति कभी हुंकृति और कभी संस्कृति के माध्यम से प्रगतिशील होती है। दलितवर्ग शक्ति का स्रोत है, उसकी सहृदयता का माप है और वह समाजविधान में आमूलचूल परिवर्तन का आकांक्षी भी है।

श्रीपाठक का मानवतावाद समाज की परिष्कृति और साम्यवाद की स्वीकृति है। उसके स्वर में अहिंसा-जन्य क्रान्ति का रोष है और यही ओज उसकी भारतीयता है। उसकी राष्ट्रीयता एकान्तिका नहीं है। उसकी राष्ट्रीयता को श्वास मिलता है मानवता से, स्पन्दन मिलता है दलितवर्ग से और आलोक मिलता है अन्तर्राष्ट्रीय प्रगति से। 'युग-मानव' रचना में वह युग के निरर्थक शान्तिव्यापारों में, अन्तःप्रवाहित युद्ध-एषणाओं को उद्‌घाटित करता है। जैसे—

> "युग है उच्च विचारों का,
> गति के दुर्व्यवहारों का॥
> सब्ज बाग़ दिखला देने में,
> वाक्यजाल फ़व्वारों-का।
> जहाँ बता दो जल अथाह तुम,
> वहाँ पङ्क भी मिल न सके।
> जहाँ दिखादो हृदय सुनहला,
> वहाँ पात भी हिल न सके॥
> यों नाश और निर्माणों का,
> आज समन्वय हो न सके॥"

और—एक ओर है अमर शान्ति की,
> साध हमारी वाणी में;
> एक ओर है अमर क्रान्ति की,
> साध यहाँ के पानी में।

'स्वतन्त्रता-दिवस' कविता में भारत का जो चित्र खींचा गया है, उसको भी देखिए—

> यह पतझड़ का कङ्काल बना,
> देता वसन्त को आमन्त्रण।
> कठिन विजय की श्याम घटाएँ,
> दुर्धर्ष आज के हैं रणक्षण॥

और इसी कविता में संयुक्त-राष्ट्र-सुरक्षा-संघ के लिए कवि क्या कहता है—

> "बन्धु! आज है युक्त-राष्ट्र का संघ, सुरक्षा जो कूते"

और इसे वह 'भरम किंवारी' कह देता है।

आज़ाद हिन्द फ़ौज के सम्बन्ध में कवि की उक्ति है—

> "जय हिन्द' श्याम में गूँजा था,
> ब्रह्मपुत्र की अगवानी थी।

आज़ाद हिन्द की फ़ौजों ने
'दिल्ली चलो' यही ठानी थी।"

देश की आज़ादी के विषय में कवि कहता है—

"गौरीशंकर से भी ऊँची,
आज़ादी जब बनी हुई है।
फ़ौलादी पंजों में फँसकर
भौंहें भी तब तनी हुई हैं॥"

'नववसंत' कविता में कवि कहता है—

"कह दे वसंत की खिड़की से,
विरह-गीत उच्चार न हो।
कह दे आज हवा के झोंके,
लिये प्रणय का भार न हो॥"

और आगे कवि कहता है—

"वैभव-विलास के दाग़ों से,
दामन का उपकार न हो।
हमें बुद्धि-पुंसत्व चाहिए,
रोता-सा उद्‌गार न हो॥"

और अन्त में—

"जब तक दुनिया भूखी नङ्गी
तब तक कहीं बहार न हो।"

कवि, 'संकट के बादल देखे हैं सिर टेक हथेली पर मैंने' गीत में लिखता है—

"उलटो दुनिया का तख़्ता ही,
होता है क्या उपचारों से।"

और—"दुनिया के ये रङ्गमहल सब,
अपनी ही छाती पर पाता हूँ।"

अनुरोध आदि कविताओं में कवि ने मुक्त-छन्द भी अपनाये हैं। जहाँ उसने दीपोत्सव को मूर्तिमान् किया है, वहाँ उसने यह भी घोषित किया है—

"मीनार से डटकर रहें,
जो जिये,
मिट रहें वे,
कहते चले, "है उपक्रम यही निर्माण का।"
नाश के ही अङ्क में,
हर दिन रहा,
अमर जीवन।
मरण तो है पराजय,
संघर्ष में—
चुकती हुई वह शक्ति की।"

कवि ने कई सुन्दर चित्र भी दिये हैं। 'दिन फिर हमारे राही' गीत में कवि लिखता है—

"जग पहचाना अब सब जाना,
दर्द बन गया है जब गाना—;
उठती हुई उमङ्गों ने भी
सीखा एक लकीर बनाना।"

"चमक उठे हैं आज हमारी क़िस्मत के तारे राही।"

कवि ने पारिवारिक वैषम्य पर जीवन-पथ के अंगारों का गीत गाया है—विक्रम की आरती उतारी है और कस्तूर बा को अर्घ्य चढ़ाया है। कवि की गीत-सृष्टि तथा मुक्तक रचनाएँ कवि का व्यक्तित्व अभिव्यक्त करती हैं। उसकी व्यञ्जना-प्रणाली न तो छायावाद की सुकुमारता लिये हुए है और न प्रगतिवाद की अटपटी चाल। कवि की शैली उसकी अपनी चीज़ है। उसकी भाषा अवश्य उसकी अपनी वस्तु है।

उदाहरणार्थ—

"जब त्याग किया तब प्यार हुआ।
जब प्यार किया संसार हुआ।
गतिशील कहे यह कौन पतन?
धारा-सा मधुर उतार हुआ।"

और—"अधरों में अटकी रही बात।
खिड़की में अटका रहा चाँद।
मेघों में घुटती रही रात।
प्राणों में उलझी रही याद।
इस तरह नीम का तरुवर भी
मेरे दुख का माप बना॥"

श्रीपाठक की अपनी विशेषताएँ हैं, जो उनकी रचनाओं में स्पष्टतः उद्‌घोषित होती हैं और यहाँ उनका अल्पमात्र भी परिचय दिया जाना शक्य नहीं है। मैं दो-एक और उद्धरण देने का लोभ संवरण नहीं कर सकूँगा। जैसे—

"डूबती आती साँझ, चमकता आता चाँद।
तिमिर की छाती चीर, कसकती आती याद।
मिल न पाता आलोक, खींच पत्थर पर रेख।
वेदना पाती स्वाद, अमिट-सा पढ़ आलेख।
खींच लेने दो चित्र, आँक लेने दो मोल।
सजग साधों-सा स्नेह, साँस-से प्राकृत बोल।"

स्मृति के सम्बन्ध में कवि कहता है—

"कवि की जलती हुई निशानी।
उसकी ही गति है दीवानी।
गति में यादों की अकुलाहट
यादें कवि की अमर कहानी।"

उपर्युक्त कविता पढ़कर कॉलरिज के 'कुबलाख़ाँ'

की अन्तिम पंक्तियाँ याद हो आती हैं। कुछ कविताओं से तो चिरनूतनता का आभास झलकता है, जैसे—"काम की रजनी भली या अर्थ का दिनमान बोलो।" ये कागज़ कोरे, सन्ध्या, अन्तिम दिन कॉलेज में, रससञ्चार, पथ पर, पावस-रात में, भ्रम, नेह न सीखा—प्रीत न जानी, वत्सल, लहर, तुम याद करो हम प्यार करें, सावन, घरौंदे का सम्मोहन, पान, आदि कविकृतियों का रसास्वादन कराना या उनका परिचय देना मेरा लक्ष्य नहीं है, अतः पाठक क्षमा करेंगे।

कवि का दृष्टिकोण विस्तृत है और ऐसा लगता है कि वह व्यापकता भी हृदयरस से स्निग्ध करता हुआ—विचार को भाव का रूप देता हुआ काव्य-कानन में शीतल समीर की भाँति भावों के पराग को वहन करता है। उसकी रचनाओं में जीर्णशीर्ण को, घिसे-मिटे को जहाँ चुनौती है वहाँ ग्रीष्मातप का पूर्वाभास भी। छन्द और भाषा की दृष्टि से कवि ब्राउनिङ्ग (Browning) का नवीनतम संस्करण है। टेनीसन की नक़्क़ाशी और पच्चीकारी तथा उसका रचना-सौष्ठव कवि का कभी आदर्श नहीं रहा। पच्चीकारी की चमत्कारिक न्यूनता ही उसकी उपयोगितावादी कला की ताज़गी की शक्ति है।

अन्त में हम यही कहना चाहेंगे कि हिन्दी का यह कवि प्रकाशलाभ भी करे, अन्यथा उसकी साधना कहीं एकांगिनी न बन जाय, यह भय है। प्रकाश का अभाव रुग्णता को निमन्त्रण है। कवि का आत्म-प्रकाश युग की साहित्यिक क्रान्ति से ग्रथित है, इसलिए यह आवश्यक है कि प्रकाश विकीर्ण भी हो और उसका लेखन यदि लोकहिताय है तो उसका प्रचार स्वान्तःसुखाय की परिधि में बन्दी नहीं रह सकता। इस आशा के साथ यह लेख समाप्त करता हूँ कि कवि का कम से कम एक काव्य-संग्रह मानवता की विजय-यात्रा की सन् ४६ की मंज़िल पर प्रकाशित होकर अर्पित हो। यहाँ मैं कवि की यह पंक्ति उद्धृत करना चाहूँगा—

"अरे उपेक्षित शोषित जागो,
गतिमान सतत की अति देखो।"

'प्रसाद'जी की कुछ सूक्तियाँ

पं० उग्रनारायण मिश्र

स्कन्दगुप्त से—

अधिकार-सुख कितना मादक और सार-हीन है। अपने को नियामक और कर्ता समझने की बलवती स्पृहा उससे बेगार कराती है। उत्सवों में परिचारक और अस्त्रों में ढाल से भी अधिकार-लोलुप मनुष्य क्या अच्छे हैं?

राष्ट्रनीति, दार्शनिकता और कल्पना का लोक नहीं है। इस कठोर प्रत्यक्षवाद की समस्या बड़ी कठिन होती है।

शरणागत-रक्षा भी क्षत्रिय का धर्म है।

स्त्री की मन्त्रणा बड़ी अनुकूल और उपयोगी होती है।

लड़कर ले लेने की एक परम्परा-सी लग जाती है। उनसे उन्होंने, उन्होंने उनसे, ऐसे ही लेते चले आये हैं।

लड़कर ले लेना ही एक प्रधान सत्त्व है। संसार में इसी का बोलबाला है।

भीख माँगने से कुछ अधिकार मिलता है? जिसके हाथों में बल नहीं, उसका अधिकार ही कैसा? और यदि माँगकर मिल भी जाय, तो शान्ति की रक्षा कौन करेगा?

कविता करना अनन्त पुण्य का फल है।

कवित्व वर्णमय चित्र है, जो स्वर्गीय भावपूर्ण संगीत गाया करता है। अन्धकार का आलोक से, असत् का सत् से, जड़ का चेतन से और बाह्य जगत् का अन्तर्जगत् से सम्बन्ध कौन कराता है? कविता ही न?

मनुष्य पशु नहीं है; क्योंकि उसे बातें बनानी आती हैं—अपनी मूर्खताओं को छिपाना, पापों पर बुद्धिमानी का आवरण चढ़ाना आता है, और वाग्जाल की फाँस उसके पास है। अपनी घोर आवश्यकताओं में कृत्रिमता बढ़ाकर, सभ्य और पशु से कुछ ऊँचा द्विपद मनुष्य, पशु बनने से बच जाता है।

विचार-पूर्ण स्वप्न-मय जीवन छोड़कर वास्तविक स्थिति में आओ।

राजकृपा का अधिकारी होने के लिए समय की आवश्यकता है। बड़े लोगों की एक दृढ़ धारणा होती है कि 'अभी टकराने दो ऐसे बहुत आया-जाया करते हैं।'

रत्नाकर नीचा है, गहरा है। हिमालय ऊँचा है, गर्व से सिर उठाये है।

यदि यह विश्व इन्द्रजाल ही है, तो उस इन्द्रजाली की अनन्त इच्छा को पूर्ण करने का साधन—यह मधुर मोह चिरजीवी हो और अभिलाषा से मचलनेवाले भूखे हृदय को आहार मिले।

परिवर्तन रुका कि महापरिवर्तन प्रलय हुआ। परिवर्तन ही सृष्टि है, जीवन है। स्थिर होना मृत्यु है, निश्चेष्ट शान्ति मरण है। प्रकृति क्रियाशील है। समय पुरुष और स्त्री का गेंद लेकर दोनों हाथ से खेलता है। पुँल्लिंग और स्त्रीलिंग की समष्टि अभिव्यक्ति की कुञ्जी है। पुरुष उछाल दिया जाता है, उत्क्षेपण होता है। स्त्री आकर्षण करती है। यही जड़ प्रकृति का चेतन रहस्य है।

पुरुष है कुतूहल और प्रश्न और स्त्री है विश्लेषण, उत्तर और सब बातों का समाधान। पुरुष के प्रत्येक प्रश्न का उत्तर देने के लिए वह प्रस्तुत है। उसके कुतूहल—उसके अभावों को परिपूर्ण करने का उष्ण प्रयत्न और शीतल उपचार! अभागा मनुष्य संतुष्ट है—बच्चों के समान। पुरुष ने कहा 'क', स्त्री ने अर्थ लगा दिया—'कौवा', बस, वह रटने लगा।

जो चूहे के शब्द से भी शंकित होते हैं, जो अपनी साँस से ही चौंक उठते हैं, उनके लिए उन्नति का कंटकित मार्ग नहीं है। महत्वाकांक्षा का दुर्गम स्वर्ग उनके लिए स्वप्न है।

राजकीय अन्तःपुर की मर्यादा बड़ी कठोर अथ च फूल से भी कोमल है।

किसी के सम्मान-सहित निमन्त्रण देने पर, पवित्रता से हाथ-पैर धोकर चौके पर बैठ जाना दूसरी बात है; और भटकते, थकते, उछलते, कूदते, ठोकर खाते और लुड़कते—हाथ-पैर की पूजा कराते हुए मार्ग चलना—एक भिन्न वस्तु है।

असहाय अवस्था में प्रार्थना के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं। निरीहों के लिए प्राण का उत्सर्ग करना धर्म है।

अर्थ देकर विजय ख़रीदना तो देश की वीरता के प्रतिकूल है।

दुर्ग-रक्षा का भार सुयोग्य सेनापति पर होना चाहिए।

स्वर्ण-रत्न की चमक देखनेवाली आँखें बिजली-सी तलवारों के तेज़ को कब तक सह सकती हैं।

शरणागत और विपन्न की मर्यादा रखनी चाहिए।

युद्ध क्या ज्ञान नहीं है? रुद्र का शृंगीनाद, भैरवी का ताण्डवनृत्य, और शस्त्रों का वाद्य मिलकर भैरव संगीत की सृष्टि होती है। जीवन के अंतिम दृश्य को जानते हुए, अपनी आँखों से देखना, जीवन-रहस्य के चरम-सौन्दर्य की नग्न और भयानक वास्तविकता का अनुभव केवल सच्चे वीर-हृदय को होता है। ध्वंसमयी महामाया प्रकृति का वह निरन्तर संगीत है। उसे सुनने के लिए हृदय में साहस और बल एकत्र करो। अत्याचार के श्मशान में ही मंगल का, शिव का, सत्य सुन्दर संगीत का समारम्भ होता है।

सुन्दर वस्तु क्या कलेजे में रख लेने के योग्य नहीं है?

स्त्रियों की, ब्राह्मणों की, पीड़ितों और अनाथों की रक्षा में प्राण-विसर्जन करना क्षत्रिय का धर्म है।

संसार में छल, प्रवंचना और हत्याओं को देखकर कभी-कभी मान ही लेना पड़ता है कि यह जगत् ही नरक है। कृतघ्नता और पाखण्ड का साम्राज्य यहीं है। छीना-झपटी, नोच-खसोट, मुँह में से आधी रोटी छीनकर भागनेवाले विकट जीव यहीं तो हैं। श्मशान के कुत्तों से भी बढ़कर मनुष्यों की पतित दशा है।

पवित्रता की माप है मलिनता, सुख का आलोचक है दुःख, पुण्य की कसौटी है पाप। × × आकाश के सुन्दर नक्षत्र आँखों से केवल देखे ही जाते हैं; वे कुसुम-कोमल हैं कि वज्र-कठोर—कौन कह सकता है। आकाश में खेलती हुई कोकिल की करुणामयी तान का कोई रूप है या नहीं, उसे देख नहीं पाते। शतदल और पारिजात का सौरभ बिठा रखने की वस्तु नहीं। परन्तु संसार में ही नक्षत्र से उज्ज्वल—किन्तु कोमल—स्वर्गीय संगीत की प्रतिभा तथा स्थायी कीर्ति सौरभवाले प्राणी देखे जाते हैं। उन्हीं से स्वर्ग का अनुमान कर लिया जा सकता है।

जहाँ हमारी सुन्दर कल्पना आदर्श का नीड़ बनाकर विश्राम करती है, वही स्वर्ग है। वही विहार का, वही प्रेम करने का स्थल स्वर्ग है और वह इसी लोक में मिलता है। जिसे नहीं मिला, वह इस संसार में अभागा है।

विजय का क्षणिक उल्लास हृदय की भूख मिटा देगा? कभी नहीं। वीरों का भी क्या ही व्यवसाय है, क्या ही उन्मत्त भावना है। × × संसार में जो सबसे महान् है, वह क्या है? त्याग। त्याग का ही दूसरा नाम महत्त्व है। प्राणों का मोह त्याग करना वीरता का रहस्य है।

सम्पूर्ण संसार कर्मण्य वीरों की चित्रशाला है। वीरत्व एक स्वावलम्बी गुण है। प्राणियों का विकास सम्भवतः इसी विचार के ऊर्जित होने से हुआ है। जीवन में वही तो विजयी होता है, जो दिन-रात 'युद्धस्व विगतज्वरः' का शंखनाद सुना करता है।

ऐसा जीवन तो विडम्बना है, जिसके लिए दिन-रात लड़ना पड़े। आकाश में जब शीतल शुभ्र शरद्-शशि का विलास हो, तब भी दाँत-पर-दाँत रक्खे, मुट्ठियों को बाँधे हुए, लाल आँखों से एक दूसरे को घूरा करें। वसन्त के मनोहर प्रभात में, निभृत कगारों में, चुपचाप बहनेवाली सरिताओं का स्रोत गरम रक्त बहाकर लाल कर दिया जाय। × × मानव-जीवन का यही उद्देश्य नहीं है। कोई और भी निगूढ़ रहस्य है।

प्रत्येक जीवन में कोई बड़ा काम करने के पहले ऐसे ही दुर्बल विचार आते हैं, वह तुच्छ प्राणों का मोह है। अपने को झगड़ों से अलग रखने के लिए, अपनी रक्षा के लिए यह उसका क्षुद्र प्रयत्न होता है।

यदि राजशक्ति के केन्द्र में ही अन्याय होगा, तब तो समग्र राष्ट्र अन्यायों का क्रीड़ा-स्थल हो जायगा।

धनवानों के हाथ में माप ही एक है। वह विद्या, सौन्दर्य, बल, पवित्रता और तो क्या, हृदय भी उसी से मापते हैं। वह माप है—उनका ऐश्वर्य।

नये ढंग के आभूषण, सुन्दर वसन, भरा हुआ यौवन—यह सब तो चाहिए ही, परन्तु एक वस्तु और चाहिए। सुपुरुष को वशीभूत करने के पहले चाहिए एक धोखे की टट्टी। × × एक वेदना अनुभव करने का, एक विह्वलता का, अभिनय उसके मुख पर रहे—जिससे कुछ आड़ी-तिरछी रेखाएँ मुख पर पड़ें और मूर्ख मनुष्य उन्हीं को लेने के लिए व्याकुल हो जाय और फिर दो बूँद गरम-गरम आँसू और इसके बाद एक तान बागीश्वरी की—करुण-कोमल तान। बिना उसके सब रंग फीका।

विना गान के कोई कार्य नहीं। विश्व के प्रत्येक कम्प में एक ताल है।

गाने का भी रोग होता है क्या? हाथ को ऊँचे-नीचे हिलाना, मुँह बनाकर एक भाव प्रकट करना, फिर सिर को इस ज़ोर से हिला देना जैसे उस तान से शून्य में एक हिलोर उठ गई।

प्रत्येक परमाणु के मिलन में एक सम है, प्रत्येक हरी-हरी पत्ती के हिलने में एक लय है। मनुष्य ने अपना स्वर विकृत कर रक्खा है, इसी से तो उसका स्वर विश्व-वीणा में शीघ्र नहीं मिलता। पांडित्य के मारे जब देखो, जहाँ देखो, बेताल-बेसुरा बोलेगा। पक्षियों को देखो, उनकी 'चहचह' 'कलकल' 'छलछल' में, काकली में रागिनी है।

रोग तो एक-न-एक सभी को लगा है। परन्तु यह रोग(गान) अच्छा है। इससे कितने रोग अच्छे किये जा सकते हैं।

जी खोलकर कह देने में पुरुषों की मर्यादा घटती है।

विश्वास करना और देना, इतने ही लघु व्यापार से संसार की सब समस्याएँ हल हो जायँगी।

धर्म की रक्षा करने के लिए प्रत्येक उपाय से काम लेना होगा।

लाभ ही के लिए मनुष्य सब काम करता तो पशु बना रहना ही उसके लिए पर्याप्त था।

तुम किसी कर्म को पाप नहीं कह सकते। वह अपने नग्न रूप में पूर्ण है, पवित्र है। संसार ही युद्ध-क्षेत्र है, इसमें पराजित होकर शस्त्र अर्पण करके जीने से क्या लाभ? तुम युद्ध में हत्या करना धर्म समझते हो, परन्तु दूसरे स्थल पर अधर्म?

मार डालना, प्राणी का अन्त कर देना दोनों स्थलों (युद्ध और दूसरे स्थल) में एक-सा है, केवल देश और काल का भेद है।

तुम स्थान और समय की कसौटी पर कर्म को परखते हो, इसी से कर्म के अच्छे और बुरे होने की जाँच करते हो।

हम कर्म की जाँच परिणाम से करते हैं।

शंका न करो, श्रद्धा करो; श्रद्धा का फल मिलेगा।

किसी की धातु पहचानना बड़ा असाधारण कार्य है।

सोना अत्यन्त घन होता है, बहुत शीघ्र गरम होता है और हवा लग जाने से शीतल हो जाता है। × × उसकी रक्षा के लिए भी एक धातु की आवश्यकता होती है, वह है 'लोहा।'

लोहा बड़ा कठोर होता है। कभी-कभी वह लोहे को भी काट डालता है। × × शरीर की धातु मिट्टी है, जो किसी के लोभ की सामग्री नहीं और वास्तव में उसी के लिए सब धातु अस्त्र बनकर चलते हैं, लड़ते हैं, जलते हैं, टूटते हैं, फिर मिट्टी होते हैं।

सोने की लंका राख हो गई।

स्त्री को देखते ही झिलमिल हुए, आँखें फाड़कर देखते हैं—जैसे खा जायँगे।

बुरे दिन कहते किसे हैं? जब स्वजन लोग अपने शील-शिष्टाचार का पालन करें—आत्म-समर्पण, सहानुभूति, सत्पथ का अवलम्बन करें तो दुर्दिन का साहस नहीं कि उस कुटुम्ब की ओर आँख उठाकर देखे। × × कठोर समय में भगवान् की स्निग्ध करुणा का शीतल ध्यान कर।

व्यंग्य की विषज्वाला रक्त-धारा से भी नहीं बुझती।

अभागा कौन है? जो संसार के सबसे पवित्र धर्म कृतज्ञता को भूल जाता है, और भूल जाता है कि सबके ऊपर एक अटल अदृष्ट का नियामक सर्वशक्तिमान् है।

वीरों के प्रति उचित व्यवहार होना चाहिए।

जो केवल खड्ग का अवलम्ब रखनेवाले हैं—सैनिक हैं, उन्हें विलास की सामग्रियों का लोभ नहीं रहता। सिंहासन पर मुलायम गद्दों पर लेटने के लिए या अकर्मण्यता और शरीर-पोषण के लिए क्षत्रियों ने लोहे को अपना आभूषण नहीं बनाया है।

क्षत्रियों का कर्तव्य है—आर्त्त-त्राण-परायण होना, विपद् का हँसते हुए आलिंगन करना, विभीषिकाओं की मुसकाकर अवहेलना करना और विपन्नों के लिए, अपने धर्म के लिए, देश के लिए प्राण देना।

सर्वात्मा के स्वर में, आत्म-समर्पण के प्रत्येक ताल में, अपने विशिष्ट व्यक्तित्व का विस्मृत हो जाना—एक मनोहर संगीत है।

समष्टि में भी व्यष्टि रहता है। व्यक्तियों से ही जाति बनती है। विश्वप्रेम, सर्वभूत-हित-कामना परम धर्म है; परन्तु इसका अर्थ यह नहीं हो सकता कि अपने पर प्रेम न हो। इस अपने ने क्या अन्याय किया है जो इसका बहिष्कार हो?

क्षुद्र ममत्व ने हमको दुष्ट भावना की ओर प्रेरित किया है, इसी से हम स्वार्थ का समर्थन करते हैं। × × इसके वशीभूत होकर हम अत्यन्त पवित्र

वस्तुओं से बहुत दूर होते जाते हैं। बलिदान करने के योग्य वह नहीं, जिसने अपना आपा नहीं खोया।

वीरता उन्माद नहीं है, आँधी नहीं है जो उचित-अनुचित का विचार न करती हो। केवल शस्त्र-बल पर टिकी हुई वीरता बिना पैर की होती है। उसकी दृढ़ भित्ति है—न्याय।

क्षमा पर मनुष्य का अधिकार है, वह पशु के पास नहीं मिलती।

प्रतिहिंसा पाशव धर्म है।

शत्रु से बदला लेने का उपाय करना चाहिए, न कि उसके उपकारों का स्मरण।

संदेह के गर्त में गिरने के पहले विवेक का अवलम्ब ले लो। हताश जीवन कितना भयानक होता है।

पाप-पंक से लिप्त मनुष्य को छुट्टी नहीं! कुकर्म उसे जकड़कर अपने नागपाश में बाँध लेता है।

मनुष्य! तुझे हिंसा का उतना ही लोभ है, जितना एक भूखे भेड़िये को। तब भी तेरे पास उससे कुछ विशेष साधन हैं—छल, कपट, विश्वासघात, कृतघ्नता और पैने अस्त्र। इससे भी बढ़कर प्राण लेने की कला-कुशलता।

संसार का मूक शिक्षक 'श्मशान' क्या डरने की वस्तु है? जीवन की नश्वरता के साथ ही सर्वात्मा के उत्थान का ऐसा सुन्दर स्थल और कौन है?

जो विलासी न होगा वह भी क्या वीर हो सकता है? जिस जाति में जीवन न होगा वह विलास क्या करेगी? जाग्रत् राष्ट्र में ही विलास और कलाओं का आदर होता है। वीर एक कान से तलवारों की और दूसरे से नूपुरों की झनकार सुनते हैं।

निर्दय होकर आघात मत कर। मर्म बड़ा कोमल है।

नीरव जीवन और एकांत व्याकुलता, कचोटने का सुख मिलता है। साहस चाहिए, कोई वस्तु असम्भव नहीं।

सबके प्राण देने के स्थान भिन्न हैं।

विश्वास तो कहीं से क्रय नहीं किया जाता।

प्रणय-वंचिता स्त्रियाँ अपनी राह के रोड़े—विघ्नों—को दूर करने के लिए वज्र से भी दृढ़ होती हैं। हृदय को छीन लेनेवाली स्त्री के प्रति हतसर्वस्वा रमणी पहाड़ी नदियों से भयानक, ज्वालामुखी के विस्फोट से भी बीभत्स और प्रलय की अनल-शिखा से भी लहरदार होती हैं।

दुर्बल रमणी-हृदय! थोड़ी आँच में गरम और शीतल हाथ फेरते ही ठंडा! क्रोध से अपने आत्मीय जनों पर विष उगल देना। जिनको क्षमा की आवश्यकता है—जिन्हें स्नेह के पुरस्कार की वांछा है, उनकी भूल पर कठोर तिरस्कार और जो पराये हैं, उनके साथ दौड़ती हुई सहानुभूति! यह मन का विष, यह बदलनेवाले हृदय की क्षुद्रता है। ओह! जब हम अनजान लोगों की भूल और दुःखों पर क्षमा या सहानुभूति प्रकट करते हैं तो भूल जाते हैं कि यहाँ हमारा स्वार्थ नहीं है। क्षमा और उदारता वहीं सच्ची है, जहाँ स्वार्थ की भी बलि हो।

भूला हुआ लौट आता है, खोया हुआ मिल जाता है, परन्तु जो जान-बूझकर भूल-भुलैया तोड़ने के अभिमान से उसमें घुसता है, वह उसी चक्रव्यूह में स्वयं मरता है, दूसरों को भी मारता है। शान्ति का—कल्याण का—मार्ग उन्मुक्त है। द्रोह को छोड़ दो, स्वार्थ को विस्मृत करो, सब तुम्हारा है।

हम देश की प्रत्येक गली को झाड़ू देकर ही इतना स्वच्छ कर दें कि उस पर चलनेवाले राज-मार्ग का सुख पावें।

अपनी तुच्छ बुद्धि को सत्य मानकर, उसके दर्प में भूलकर मनुष्य कितना बड़ा अपराध कर सकता है!

भारत समग्र विश्व का है, और सम्पूर्ण वसुन्धरा इसके प्रेम-पाश में आबद्ध है। अनादि-काल से ज्ञान की, मानवता की, ज्योति यह विकीर्ण कर रहा है। वसुन्धरा का हृदय—भारत—किस मूर्ख को प्यारा नहीं है? × × विश्व का सबसे ऊँचा शृंग इसके सिरहाने और सबसे गम्भीर तथा विशाल समुद्र इसके चरणों के नीचे है? एक-से-एक सुन्दर दृश्य प्रकृति ने इस घर में चित्रित कर रक्खा है।

गुप्त शत्रुओं की कृतघ्नता का उचित दण्ड मिलना चाहिए।

राष्ट्र और समाज मनुष्य के द्वारा बनते हैं—उन्हीं के सुख के लिए। जिस राष्ट्र और समाज से हमारी सुख-शान्ति में बाधा पड़ती हो, उसका हमें तिरस्कार करना ही होगा।

अहंकारमूलक आत्मवाद का खण्डन करके गौतम ने विश्वात्मवाद को नष्ट नहीं किया। यदि वैसा करते तो इतनी करुणा की क्या आवश्यकता थी। उपनिषदों के नेति-नेति से ही गौतम का अनात्मवाद पूर्ण है। यह प्राचीन महर्षियों का कथित सिद्धान्त, मध्यमा—

प्रतिपदा के नाम से, संसार में प्रचारित हुआ ; व्यक्ति-रूप में आत्मा के सदृश कुछ नहीं है।

ब्राह्मण क्यों महान् हैं ? इसी लिए कि वे त्याग और क्षमा की मूर्ति हैं। इसी के बल पर बड़े-बड़े सम्राट् उनके आश्रमों के निकट निरस्त्र होकर जाते थे और वे तपस्वी ऋत और अमृतवृत्ति से जीवन-निर्वाह करते हुए सायं-प्रातः अग्निशाला में भगवान् से प्रार्थना करते थे—

सर्वेऽपि सुखिनः सन्तु सर्वे सन्तु निरामयाः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद्दुःखमाप्नुयात्॥

मानव-बुद्धि ज्ञान का—जो वेदों के द्वारा हमें मिला है—प्रस्तार करेगी, उसके विकास के साथ बढ़ेगी; और यही धर्म की श्रेष्ठता है।

मनुष्य अपूर्ण है। इसलिए सत्य का विकास जो उसके द्वारा होता है, अपूर्ण होता है। यही विकास का रहस्य है। यदि ऐसा न हो तो ज्ञान की वृद्धि असम्भव हो जाय। प्रत्येक प्रचारक को कुछ-न-कुछ प्राचीन असत्य-परम्पराओं का आश्रय इसी से ग्रहण करना पड़ता है। सभी धर्म समय और देश की स्थिति के अनुसार, विवृत हो रहे हैं और होंगे।

भगवान् ने प्राणिमात्र को बराबर बनाया है और जीव-रक्षा इसी लिए धर्म है।

लक्ष्मी की लीला, कमल के पत्तों पर जल-बिन्दु, आकाश के मेघ-समारोह। अरे इनसे भी क्षुद्र नीहार-कणिकाओं की प्रभात-लीला। मनुष्य की अदृष्ट-लिपि वैसी ही है जैसी अग्नि-रेखाओं से कृष्ण मेघ में बिजली की वर्णमाला—एक क्षण में प्रज्वलित, दूसरे क्षण में विलीन होनेवाली। भविष्यत् का अनुचर तुच्छ मनुष्य केवल अतीत का स्वामी है।

क्या जिस पर कृपा होती है, उसी को दुःख का अमोघ दान देते हो ? × × वैभव की जितनी कड़ियाँ टूटती हैं, उतना ही मनुष्य बन्धनों से छूटता है और तुम्हारी ओर अग्रसर होता है।

जो अपने कर्मों को ईश्वर का कर्म समझकर करता है, वही ईश्वर का अवतार है।

समय बदलने पर लोगों की आँखें भी बदल जाती हैं।

क्या आवश्यकता न होने से मनुष्य, मनुष्य से बात न करे ? × × आवश्यकता ही संसार के व्यवहारों की दलाल है! परन्तु मनुष्यता भी कोई वस्तु है।

जिस हृदय में अखंड वेग है, जो तीव्र तृष्णा से पूर्ण है, जो कृतघ्नता और क्रूरताओं का भंडार है, जो अपने सुख—अपनी तृप्ति के लिए संसार में सब कुछ करने को प्रस्तुत है, उसका मनुष्यता से क्या सम्बन्ध ?

अपने कुकर्मों का फल चखने में कड़वा, परन्तु परिणाम में मधुर होता है।

सन्तोष कर, तू रोटियों के लिए नहीं जीता है, तू उसकी भूल दिखाता है, जिसने तुझे उत्पन्न किया है।

विलास का नारकीय कीड़ा बालों को सँवारकर, अच्छे कपड़े पहनकर, अब भी घमण्ड से तना हुआ निकलता है ? कुलवधुओं का अपमान सामने देखते हुए भी अकड़कर चल रहा है। अब तक विलास और नीच वासना नहीं गई। जिस देश के युवक ऐसे हों, उसे अवश्य दूसरों के अधिकार में जाना चाहिए।

अन्न पर स्वत्व है भूखों का और धन पर स्वत्व है देशवासियों का।

बार-बार गाये हुए गीतों में क्या आकर्षण है—क्या बल है जो खींचता है ? केवल सुनने की ही नहीं, प्रत्युत जिसके साथ अनन्तकाल तक कण्ठ मिला रखने की इच्छा जग जाती है।

समय जो चाहे करा ले।

कोई दुःख भोगने के लिए है, कोई सुख।

इस संसार का कोई उद्देश्य है। इसी पृथ्वी को स्वर्ग होना है, इसी पर देवताओं का निवास होगा।

माता का हृदय सदैव क्षम्य है।

कष्ट हृदय की कसौटी है, तपस्या अग्नि है। × × सब क्षणिक सुखों का अन्त है। जिसमें सुखों का अन्त न हो, इसलिए सुख करना ही न चाहिए।

राज्यश्री से—

जीवन की दौड़ बहुत लम्बी है, उसकी अभिलाषा के लिए इतना चंचल न होना चाहिए।

सब अकेले ही तो संसार-पथ में निकलते हैं, किसी का मिल जाना तो उसके भाग्य की बात है।

धीर पुरुषों को—जिनका हृदय हिमालय के समान अचल और शान्त है—क्या मानसिक व्याधियाँ हिला या गला सकती हैं ? कभी नहीं।

यह सुदूर-व्यापी नीला आकाश कितने कुतूहलों का, परिवर्तनों का क्रीड़ा-क्षेत्र है।

मनुष्य-हृदय स्वभाव-दुर्बल है। प्रवृत्तियाँ बड़ी-बड़ी

राज-शक्तियों के सदृश इसे घेरे रहती हैं। अवसर मिला कि इस छोटे-से हृदय-राज्य को आत्मसात् कर लेने को प्रस्तुत हो जाती हैं।

क्षत्रियों का विनोद तो मृगया है।

परिणाम-दर्शी होकर कार्य करें।

जरा भी कैसी भीषण व्याधि है। ओह! हम लोग इसे नित्य देखते हैं, पर तथागत के समान किसने इस दृश्य से लाभ उठाया?

क्षत्राणी के लिए इस (युद्ध) से बढ़कर शुभ समाचार कौन होगा?

किसी की अधिक प्रशंसा करना उसे धोखा देना है।

यदि राजनीति मित्रता से सफल होती हो तो विग्रह करना उचित नहीं।

वीरों के पास कोई प्रमाण-पत्र नहीं लिखा रहता।

गर्व से भरे मनुष्यों का ही यह स्वभाव है—जिनके कान मोतियों के कुण्डल से बाहर लदे हैं और प्रशंसा एवं संगीत की झनकारों से भीतर भी भरे हैं, वे क्रंदन नहीं सुनना चाहते। भगवान् तो अवश्य सुनेंगे।

रमणी! जब तुम्हें कोई चलने को कहता है तो पैरों में पीड़ा का अनुभव करने लगती हो। जब विश्राम का समय होता है तो पवन से भी तीव्र गति धारण करती हो। तुम स्नेह से पिच्छिल, जल से अधिक तरल, पत्थर से भी कठोर! इन्द्र-धनुष से भी सुन्दर बहुरंग-शालिनी हो।

तुम लोगों (स्त्रियों) से परिचय आकाश-तट के डूबते हुए तारों का-सा है—उज्ज्वल आलोक फैलाकर अन्धकार में विलीन हो जाना। ओह, जब निःश्वास ले-लेकर, सिसकती हुई, किसी मूर्ख की छाती पर सुकुमार—कुसुम-सी व्याकुल होकर तुम पड़ी रहती हो, तब भी तुम्हारे भीतर व्यंग्य हँसा करता है! जब स्वयं प्राण देने के लिए प्रस्तुत होती हो तब वह कितने जीवन लेने का प्रस्ताव होता है।

कौन न कहेगा कि महत्त्वशाली व्यक्तियों के सौभाग्य-अभिनय में धूर्तता का बहुत हाथ होता है। जिसके रहस्यों को सुनने से रोम-कूप स्वेद-जल से भर उठें, जिसके अपराध का पात्र छलक रहा है, वही समाज का नेता है। जिसके सर्वस्व-हरणकारी करों से कितनों का सर्वनाश हो चुका है, वही महाराज है। जिसके दण्डनीय कार्यों का न्याय करने में परमात्मा को समय लगे, वही दण्ड-विधायक है।

सुखी मनुष्य! तुम मरने से इतना डरते हो! भग्न हृदयों से पूछो—वे मृत्यु की कैसी सुखद कल्पना करते हैं।

अनागत विपत्ति की कल्पना चाहे जितनी सुन्दर हो, पर आ पड़ने पर मृत्यु की विभीषिका उतनी टाल देने की वस्तु नहीं।

अस्त होते हुए अभिमानी भास्कर से पूछो—वह समुद्र में गिरने को कितना उत्सुक है! पतंग-सदृश निराश हृदय से पूछो कि जल जाने में वह अपना सौभाग्य समझता है या नहीं।

भभक उठनेवाली अग्नि को किसी उपाय से शान्त कर लेना सहज नहीं।

जीवन बड़ा कठोर है, इसकी आवश्यकता चाहे जो करावे।

क्षणिक संसार! इस महाशून्य में तेरा इन्द्रजाल किसे नहीं भ्रांत करता।

जब विपत्ति हो, जब दुर्दशा की मलिन छाया पड़ रही हो, तब अपने उज्ज्वल कुल का नाम बताना, उसका अपमान करना है।

आत्म-हत्या या स्वेच्छा से मरने के लिए प्रस्तुत होना—भगवान् की अवज्ञा है। जिस प्रकार सुख-दुःख उनके दान हैं—उन्हें मनुष्य झेलता है, उसी प्रकार प्राण भी उसी की धरोहर है।

वसुन्धरा के शासन के लिए एक प्रवीर की आवश्यकता होती है।

रक्त से किसकी प्यास बुझती है? पिशाचों की, पशुओं की।

सती होना जल मरने से ही नहीं हो सकता।

इस पुतले को बनाकर दुःख का सम्बल देकर विधाता ने क्यों अनन्त पथ का यात्री बनाया? इस करुणानिधान की स्नेहानुभूति इसी में तो झलकती है। प्राणी दुःखों में भगवान् के समीप होता है।

बस, इन्द्रजाल की महत्ता में जीवन कितना लघु है! सब गर्व, सारी वीरता, अनन्त विभव, अपार ऐश्वर्य, हृदय की एक चोट से—संसार की एक ठोकर से—निःसार लगने लगा।

मानव-जीवन दुःखमय है। उसे अभ्यास पड़ जाता है, इसी लिए सबके मन में तीव्र विराग नहीं होता।

अज्ञान प्रायः प्रबल हो जाता है और असत्य अधिक आकर्षक होता है।

क्षमा की एक सीमा होती है।

अधिक पुण्य करने में कितना पाप हो सकता है।

चाय की प्याली

श्रीसत्यप्रकाश संगर एम्० ए० (आनर्स)

लड़कियाँ उनके सिर हो गईं। फ़ाइन वैदर। और वे कालेज की चारदीवारी के अन्दर ही रहें। रात-दिन, सायं-प्रातः, कालिज ही उनके जीवन में बदा था। क्लास ख़त्म हों तो होस्टल के अन्दर जा बैठो, बाहर जाने की आज्ञा नहीं। किसी से मिल नहीं सकतीं। सप्ताह में दो घंटे के लिए बाहर जाओ, वह भी चपरासी की निगरानी में। और कमबख़्त चंदन भी इतना सख़्त कि पूरे समय में आना आवश्यक। इस जेल के जीवन से वे ऊब-सी गई थीं। उन्हें लड़कों के जीवन से रश्क आता था। जहाँ मन चाहे फिरें। साइकिल पर बैठ लारेंस बाग़ अथवा नहर की सैर करें, नैया की यात्रा करें या सिनेमा देखें, कोई पाबन्दी नहीं, कोई रुकावट नहीं। क्या हम बाहरी जीवन से मुरझा जायँगी? क्या लोग हमें खा जायँगे? इस जीवन से तो मृत्यु ही भली!

आज मौसम सुहावना था। सावन के बादल आकाश पर प्रभुत्व जमाये हुए थे। उद्यानों में कितनी बहार होगी, वे सोचने लगीं। पिक की मधु वंशी और मयूरों का सुन्दर नृत्य! उनके दिल में मधुर-मधुर कसक जाग उठी। उनके लिए वह जीवन का रस था जिसके बिना ज़िन्दगी फीकी, रसहीन और बदरंग थी। उन्होंने ज़ैदी को घेर लिया। वे अवश्य बाहर जायँगी, किसी सुन्दर बाग़ में। वे नाचेंगी, गावेंगी और प्रकृति का आलिंगन करेंगी।

परन्तु ज़ैदी प्रिंसिपल तो न थी। इस विषय में वे केवल मिस अग्रवाल की आज्ञा ले सकती थीं और वह थी बड़ी निठुर। वह उनको अधिक स्वतंत्रता देने के हक़ में न थी। ये आज़ादी का दुरुपयोग करती हैं। वह उनको नियम की सीमा में रखना पसंद करती। जब डाँट-डपट से काम न चलता तो वह प्यार से काम लेती। उनको समझाती और उनसे सहानुभूति प्रकट करती। बेचारी तंग आकर शस्त्र डाल देतीं। उससे फ़िज़ूल बहस कौन करे। किन्तु आज मामला बेढब था। उन्होंने उसके दफ़्तर के बाहर आकर अड्डा जमा लिया। उनकी हठधर्मी ने मिस अग्रवाल को विवश कर दिया। उनको 'फ़ाइन डे' मनाने की छुट्टी मिल गई।

आध घंटे के अन्दर वे सब तैयार हो गईं। सबने सुन्दर से सुन्दर वस्त्र पहने थे। वे पाँच-छः मंडलियों में बटी थीं। हर मंडली की अपनी भिन्न वर्दी। गुलाबी रंग, सब्ज़ रंग और चाकलेट कलर की ख़ूब नुमाइश हो रही थी। सिर से पाँव तक एक ही रंग की पोशाक। जूता भी उसी रंग का ज़रूरी। सैर के दिन धोती कौन पहने? कमीज़, शलवार और दुपट्टा।

ज़ैदी को लोगों पर क्रोध आ रहा था। उनका हरकतों से घृणा। भला इसमें हैरानी की क्या बात थी कि वे नूरजहाँ की समाधि की ओर जा रही हैं। क्या वह निषिद्ध प्रदेश है? क्या उस स्थान पर उनसे पहले कोई नहीं गया? फिर दूसरों को उनके काम से क्या वास्ता? वे जहाँ मन चाहे जायँ। स्त्रियाँ यदि डिफ़ेंस आफ़ इंडिया को तोड़ती हैं तो पुलीस जाने या वे। परन्तु जनसाधारण क्यों दख़ल दें? इन लोगों में सभ्यता तो नाम को भी नहीं। मूढ़ कहीं के! बदतमीज़! धिक्कार है ऐसी शिक्षा पर। पढ़ने-लिखने के बाद भी वाणी, आँख और मन को वश में नहीं रख सकते। तभी तो ठोकरें खाते हैं। सात हज़ार मील से आये हुए मुट्ठी भर इन्सान चालीस करोड़ पर राज्य कर रहे हैं। इन बदबख़्तों में डिसिप्लिन नाम को भी नहीं। सड़कों पर, सिनेमा में, स्टेशन पर या सैरगाहों में जो मुँह में आवे, बकते हैं। शायद इनकी अपनी मा-बहन मर गई हैं। यदि कोई उनसे मख़ौल करे, तब भी शायद उन्हें लाज न आती हो। शर्म तो बिलकुल ही उठ गई है। आज़ादी चाहिए! किन्तु क्या आज़ादी को सँभाल लेंगे ये लोग? स्त्रियों की साधारण-सी स्वतंत्रता इन्हें अखरती है। उनका चारदीवारी से बाहर निकलना उन्हें हैरत में डाल देता है। बुड्ढों को भी तो लाज नहीं। आँखें फाड़-फाड़कर देखते हैं। इन कालेज के लौंडों में तो शर्म नाममात्र भी नहीं। न जाने वहाँ क्यों पढ़ते हैं। उस दिन प्रोफ़ेसर

शर्मा बता रहे थे कि ये लोग कालेज की दीवारों पर स्त्रियों के चित्र बनाकर उनके नीचे फ़िज़ूल और गंदी बातें लिख देते हैं। शायद इसका कारण कामुकता की अपूर्ति है। लेकिन क्या फ़ायदा ऐसी शिक्षा से? नौकरी इससे नहीं मिलती। व्यापार को इससे लाभ नहीं पहुँचता और सभ्यता यह नहीं सिखाती।

नूरजहाँ की समाधि के समीप जाकर ताँगे रुक गये। चंदन और शेखर ने साइकिल से उतरकर सामान को सँभाला और फिर घास के प्लाट में दरी बिछा दी। मिस ज़ैदी वहीं बैठ गई। लेकिन लड़कियाँ क्यों बैठें? वे तो क़ैद से छूट कर आई थीं। शहर से दूर, कालेज और होस्टल से दूर वे आज प्रकृति का आलिंगन करने आई थीं। इस आलिंगन में अपूर्व आनन्द था और एक विलक्षण सुख।

जब वे घूम-फिरकर ऊब गईं तो ज़ैदी के समीप आकर बैठ गईं। लेकिन बैठकर आराम करना उनका ध्येय न था। स्वर्णन रूला ने प्रस्ताव पेश किया कि 'कोटला छपाकी'* का खेल क्यों न हो। प्रस्ताव सर्व-सम्मति से पास हो गया। मिस ज़ैदी को भी खेल में शामिल होना पड़ा। सबकी सब एक गोल चक्कर बनाकर बैठ गईं। एक दुपट्टे को बल देकर कोड़ा बनाया गया। एक उस कोड़े को लेकर चक्कर के इर्दगिर्द घूमने लगी। वह चल रही थी और सब लड़कियाँ एकस्वर से गा रही थीं—

'कोटला छपाकी जुमेरात आई ए
जेहड़ा पिच्छे देखे ओहदी शामत आई ऐ'

घूमनेवाली लड़की भी गाती थी और आराम से चलती थी। जो भी पीछे देखने की चेष्टा करती, उसे एक कोड़े का दण्ड मिलता। उसने चुपचाप कोड़ा एक लड़की के पीछे रख दिया। चक्कर काटकर उस बेख़बर को आ दबाया। कोड़ा उठाकर उसकी पीठ पर जमाने आरम्भ कर दिये। कोड़ों की बौछार फिर दूसरी की बारी। हँसी और तालियों की बहार। ज़ैदी भी अपने कालेज के ज़माने में इस खेल को पसंद करती थी। जहाँगीर की समाधि के बाहर ग्राउंड में बैठकर उनकी पार्टी ने यही खेल खेला था। वह भी यही गीत गाती थी और चक्कर के गिर्द घूमती थी। उसने सावधानी से कोड़ा मिस बोस के पीछे रख दिया। वह भारी शरीर की थीं। आसानी से भाग न सकीं। बस, फिर क्या था। ज़ैदी के कोड़े प्रिंसिपल की पीठ पर। तभी ज़ैदी की पीठ पर एक कोड़ा पड़ा। वह बौखलाकर उठ बैठी। वह भूल गई थी कि खेल हो रहा है। उठी और भागी। किन्तु बलवन्त से क्या मुक़ाबला! फिर शिकारी ने शिकार को बेख़बर आ दबोचा था। बलवन्त ने उसकी पीठ पर कोड़ों की वर्षा आरम्भ कर दी। ज़ैदी के पाँव जैसे फूल से गये हों। उसे अपना स्थान बहुत दूर प्रतीत हुआ। वह चक्कर छोड़ एक ओर को भाग खड़ी हुई। बलवन्त के कोड़े और भी तेज़ हो गये। एक झाड़ी के गिर्द दोनों आगे-पीछे भागने लगीं। लड़कियों का गोल चक्कर टूट चुका था, वे सब तमाशा देखने वहाँ आ पहुँचीं। ज़ैदी पूरे ज़ोर से भागने लगी, जैसे शिकार जान बचाने के लिए भागता हो। बलवन्त को एक और सूझी। वह पीछे को घूम गई ताकि उसे शीघ्र क़ाबू कर ले। किन्तु यह फ़ाउल (नियम-विरुद्ध) था। लड़कियों ने कोड़ा उसके हाथ से छीन लिया और ज़ैदी को रक्षित किया।

जब उसे कुछ होश आया तो लड़कियों ने उसे विवश किया कि वह 'नूरजहाँ' के विषय में कुछ कहे। वह कालेज में इतिहास की अध्यापिका थी। तारीख़ को कहानी बनाकर सुनाती। उसके नाट्यपात्र चलते-फिरते इन्सान बन जाते। वह उनका पूर्ण चित्र खींच देती। अधिक से अधिक लड़कियाँ इतिहास के विषय को ही लेतीं। दारा की मृत्यु-कहानी सुनाते समय उसकी आँखों से आँसुओं की झड़ी बह निकली।

लगभग सब लड़कियों ने 'पुकार' देखी थी। ज़ैदी ने उन्हें बताया कि 'पुकार' की कहानी में सत्य का अंश कम है। वह ऐतिहासिक नहीं। मेहरुन्निसा, कबूतरों का जोड़ा, सलीम और प्रेम केवल एक रोमांटिक अफ़साना है। जहाँगीर के मन में 'शेर अफ़ग़न' के लिए कोई अमित्र-भाव न था, और न उसकी मृत्यु में ही उसका कोई हाथ। वह एक बाग़ी था और मृत्यु था उसका दंड। फिर जहाँगीर ने इस घटना के चार वर्ष के पश्चात् मेहरुन्निसा से विवाह किया। प्रेमावस्था में चार साल तो चार शताब्दियाँ होते हैं, प्रतीक्षा की आवश्यकता ही क्या थी? लड़कियाँ यह कहानी सुनकर सन्न-सी हो गईं, जैसे उसने उनकी आशाओं को मिट्टी में मिला दिया हो। इन घटनाओं के अतिरिक्त कहानी में था ही क्या?

* पंजाब का एक खेल।

इनके विना वह थी रूखी और नीरस। उसने उनके जादू को तोड़ दिया। बड़ी आई है इतिहासकार! कोई नई पुस्तक पढ़कर आई होगी! वे इससे अधिक कुछ और सुनना न चाहती थीं। सुदर्शन आगे बढ़कर बोली, 'मिस ज़ैदी, आओ चाय पियें।'

इस थकावट के बाद उसे चाय पीने में आनन्द आ रहा था। वह वहीं बैठी रही और लड़कियाँ चाय पीने के लिए चंदन को घेर खड़ी हो गईं। चाय के प्याले में उसे अपना व्यतीत जीवन तैरता हुआ दिखाई दिया। जहाँगीर के मक़बरेवाली सैर ने उसे पुरानी घटनाओं की याद दिला दी। वह स्मृति अब भी उसके चित्त-पट पर अंकित थी। उसे मिस बोस की याद आ गई, जिसके पीछे वह कोड़ा लेकर भागी थी। प्रिंसिपल साहिबा भागते-भागते गिर गईं और लड़कियों के पेट में हँसते-हँसते बल पड़ गये। उस समय उसकी नज़र सुरेश पर पड़ी थी जो एक वृक्ष के नीचे पुस्तक सामने रख इस तमाशे को देख रहा था। उसे यह बुरा प्रतीत हुआ, किन्तु वह चुप रही और अपने मन की भावना को अपने पास ही रक्खा। चाय पीते समय शीला बातों के बहाने उसे एक ओर ले गई। उद्यान के एक सिरे पर एक झाड़ी की ओट में दोनों जा बैठीं। दस मिनट पश्चात् सुरेश भी उधर आ निकला। ज़ैदी भाग जाती, यदि शीला पकड़कर उसे बिठा न लेती। वह तो उसका भाई था। उससे डरने का तो कोई कारण ही न था। वह ला-कालेज में पढ़ता था। शीला ने ज़ैदी से उसका परिचय कराया और उसे बैठ जाने को कहा। वे दोनों इधर-उधर की बातों में लग गये। ज़ैदी चुप बैठी रही। वह उसकी बातों को रुचि से सुनने लगी। उसे यह गुमान न हो सकता था कि कालेज का कोई विद्यार्थी इतना सज्जन और सभ्य भी हो सकता है। उसने भरी नज़र से उसकी ओर देखा। आह! कितना यौवन था। लम्बा क़द और भरा हुआ शरीर। सुर्मई आँखें और घुँघराले बाल। बातों-बातों में कई बार उनकी आँखें मिलीं। वह झेंप-सी जाती और उसके गालों पर लाली की डोर खिंच जाती।

अधिक बैठने का समय न था। दूसरों को संदेह हो सकता था। इसके बाद वे दोनों परस्पर मिलते रहे। मिलना मुश्किल न था। वह शीला की सहेली थी और सहेली के घर जाने से उसे कौन रोक सकता था? लारेंस बाग़ में अथवा नहर के किनारे उनकी भेंट हो जाती।

गर्मियों की छुट्टियाँ आ गईं। कालेज और होस्टल ख़ाली होने शुरू हो गये। ज़ैदी के घर से पत्र आये कि सब उसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। किन्तु अब उसे माता-पिता और बहन-भाई भूल चुके थे। प्रेम ने उसके चिर-नाते को तोड़ सा दिया था। उसे उनमें रुचि न रही। उनके पत्रों का उत्तर भी न देती वह। एकनिष्ट परन्तु तेज़ प्रेम-धारा मातृ-प्रेम की चिर-संचित पूँजी को बहाकर ले गई। अपने सुरेश से वह दूर न रहना चाहती थी। यह विचार ही उसे कँपा-सा देता।

उसने घर को लिख दिया, 'परीक्षा में अधिक समय नहीं है। मैं इंग्लिश में बहुत कमज़ोर हूँ। घर आकर सब कुछ भूल जाऊँगी। प्राइवेट कोशिश से ही पास हो सकती हूँ। प्रिंसिपल ने मुझे चेतावनी दी है कि छुट्टियों में कमी पूरी करूँ।' और सुरेश के विना कमी कौन पूरी करा सकता था। उसने यह भी घर लिख दिया कि श्रीसुरेशचंद्र लाहौर कालेज के सुविख्यात प्रोफ़ेसरों में से हैं और प्रिंसिपल साहिबा ने बड़ी मुश्किल से प्रोफ़ेसर साहब को उसे पढ़ाने पर राज़ी किया है।

ट्यूशन आरम्भ हो गई। होस्टल में केवल तीन-चार लड़कियाँ और दो नौकरानियाँ ही रह गई थीं। प्रोफ़ेसर साहब कोई पुस्तक हाथ में लिये आ जाते। वह कामनरूम में उनकी प्रतीक्षा करती। वह पुस्तक खोलकर उसके सामने बैठ जाता। कभी वह हिंदी की दूसरी पुस्तक निकालता, और कभी दसवीं श्रेणी की इतिहास की किताब। एक दिन वह धोबी के हिसाब-वाली कापी लेकर ही चल पड़ा। इस पर वे दोनों ख़ूब हँसे थे। इस प्रकार वह रोज़ जाता। वे घंटों बैठे बातें करते। कितने मज़े के दिन थे! वे घंटे पलों में बीत जाते।

प्रेम का संबन्ध प्रतिदिन प्रबल होता गया। सुरेश के लौट जाने पर उसे अपना कमरा और हास्टल सूने प्रतीत होते। सुरेश और उसका विचार उस पर छा से गये थे। वह सूनापन उसे खाने दौड़ता। वह उससे दूर भागती। दूसरी लड़कियों से वह अधिक बात न करती। हाँ, शीला के घर ज़रूर जाती। उसे और कहीं शान्ति न मिलती। मन संतुष्ट न होता। शीला का तो केवल एक बहाना ही था। सुरेश अपनी बहन के कमरे में आ बैठता। शीला और सुरेश बहस शुरू कर देते। भिन्न विषयों पर। विद्यार्थीगण

और राजनीति, भारत की आर्थिक दशा, स्त्रियों की शिक्षा। मनोविज्ञान की नवीन थ्योरियों पर भी तकरार चल निकलती। वह हैरान होता, शीला को इतना ज्ञान कहाँ से हो गया।

कितनी शीघ्रता से वे दिन व्यतीत हो रहे थे। अब तक उनकी स्मृति उसके मन पर पूर्ण रूप से अंकित थी। प्रातः उठकर नहा-धोकर वह शृंगार करती। उत्तम सारी अथवा सूट पहनती। सुर्मा लगाने में वह कितनी निपुण हो गई थी। उसकी नोक तलवार की धार से भी अधिक तेज़ होती। वह जानती थी कि वह सुरेश के जिगर को चीर देगी। सुरेश घायल पक्षी के समान तड़पता; कितना मज़ा होता इस तड़प में भी। वह बहुधा कहा करता 'कितना अपूर्व सौन्दर्य है।' वह सुनकर फूल उठती, उसको असीम प्रसन्नता होती। कभी-कभी वह और शीला मिल जातीं और सुरेश को चिढ़ातीं। एक दिन चाय पीते समय उसने खाँडवाले पाट में ही चाय उँडेल दी। शीला ने उसे छेड़ा "भैया, इतने खोये से क्यों रहने लगे?' वह झेंप गया। वे दोनों ख़ूब हँसीं। उसे पहली बार पता लगा कि समय कितनी तीव्र गति से बह रहा है। उसे सुध ही न रही कि छुट्टियाँ समाप्त होने को हैं। उनकी स्वतंत्रता का अन्त हो जायगा। वे दोनों पंखहीन पक्षियों के समान हो जायँगे।

अब इस विचार ने उसे बेचैन बना दिया था। सुरेश के बिना उसके जीवन में था ही क्या? उसके बग़ैर उसकी ज़िंदगी थी सूखी और रस-हीन। एक दिन वह सुरेश से कह ही देना चाहती थी। दिल की दशा को छिपाने से क्या लाभ? दोनों एक दूसरे के भेद को जानते थे। किन्तु वह भी उसकी ज़बानी सुनना चाहती थी। क्या प्रेम ने उसको भी बेचैन कर रखा है? क्या उसकी नींदें भी उचाट हो जाती हैं? तो क्यों न वे एक ही संबंध में बँध जायँ? जब जीवन-यात्रा इकट्ठे ही निभानी है, एक पथ पर चलकर, तो इस भेद को छिपाने से क्या लाभ?

चंदन ने उसके स्वप्न को जैसे तोड़-सा दिया। चाय का दूसरा दौर शुरू हो चुका था। कुछ लड़कियाँ चाय पीकर समाधि के अन्दर घुस गई थीं और वहाँ बैठकर माहिया गाने लगीं। दूसरी लड़कियों ने उनकी पैरवी की। ज़ैदी को भी खींच ले गईं। अब उनकी दो पार्टियाँ बन गईं और मुक़ाबले पर माहिया चल पड़ा। ज़ैदी को यह बात अखरी। भला इस प्रकार माहिया गाना कहाँ तक ठीक था? यदि वहाँ पर आदमी आ जायँ तो कितनी बुरी बात है। अगर किसी ने छेड़खानी कर दी तो मामला बेढब हो जायगा और मिस अग्रवाल तो उसके सिर हो जायगी। किन्तु उसका भय बेबुनियाद निकला, आदमी वग़ैरह न आये। लड़के भी तो छुट्टीवाले दिन ही आ सकते है, और फिर वे ज़ैदी की बात कब मानने लगीं। कोई क्लासरूम तो था नहीं। लेकिन वह हैरान थी कि लड़कियों को माहिये में क्यों इतनी रुचि थी? उसे भी तो अपने सुरेश से इतनी रुचि थी। वह भी तो दिन-रात उसके विचार में मग्न रहती थी। वह उसके अंग-अंग में समा गया था। उसके स्वप्न-संसार में उसका सम्पन्न राज्य था। अब वह उस भेद को उससे कह देना चाहती थी।

एक दिन उसने दृढ़ निश्चय कर लिया कि प्रातः होते ही वह उसे सारा राज़ कह सुनावेगी। किन्तु उसी रात उसे ज्वर ने आ दबाया। दूसरे दिन बुख़ार और भी तेज़ हो गया। वह कई दिन बिस्तर से उठ न सकी। इन दिनों सुरेश भी उसे पढ़ाने नहीं आया। शीला ने भी होस्टल में पाँव न रक्खा। उसने चपरासी को उसके घर भेजना चाहा। लेकिन वह किसी कारण रुक गई। एक रात उसे एक भयानक स्वप्न आया। उसके सुरेश को कोई उसके पास से खींचे ले जा रहा था। वह चीख़ मारकर उठ बैठी। दूसरी लड़कियाँ इकट्ठी हो गईं। वह भयभीत हो गई। दिल काँपने लगा। निद्रा उड़ गई। राधा उसके पास लेटी रही। वह कुछ-कुछ उसके दुःख से परिचित थी।

प्रातः होते ही वह सुरेश के घर की ओर भागी, उसे अपना स्वप्न सुनाने। शृंगार करना वह भूल गई थी। घर पर पहुँची; वहाँ ताला लगा हुआ था और बाहर लिखा था—

'किराये के लिए ख़ाली है'

सुदर्शन की चीख़ ने उसे जगा दिया। वह दोनों हाथ से ताली पीट रही थी, 'अब मिस ज़ैदी माहिया सुनायेगी।' लेकिन उसकी आँखों में आँसू क्यों? माहिये के नाम पर आँसू? भला इनका क्या संबन्ध हो सकता है? सब हैरान हो गईं। समाधि पर निस्तब्धता छा गई, उस नूरजहाँ की समाधि पर। ज़ैदी ने सिरदर्द का बहाना किया और बाहर आकर दरी पर लेट गई। माहिया बंद हो गया। सब सुदर्शन

को कोसने लगीं कि क्यों उसने मिस ज़ैदी से ऐसा कहा। उन्हें उससे सहानुभूति थी। सब उसकी प्रेम-कथा को जानती थीं। उन्हें पता था कि वह क्वाँरी है और क्वाँरी ही रहेगी। वे इसका कारण भी जानती थीं। एम्० ए० पास करने के बाद जब उसने वहाँ पढ़ाना आरम्भ किया था तो लड़कियाँ उसे तंग करती थीं। बोर्ड पर सुरेश का नाम होता या ज़ैदी-सुरेश दोनों का। कभी-कभी चाक से बनाये हुए उनके चित्र भी होते। ज़ैदी चुप रहती, लेकिन उसका घायल हृदय तड़प उठता, पीड़ा से व्याकुल हो जाता। वह पढ़ाती अच्छा थी। उसका व्यवहार अच्छा होता। धीरे-धीरे वह सर्वप्रिया बन गई। अब छात्राओं ने भी उसे सताना बंद कर दिया। तत्पश्चात् किसी ने भूलकर भी सुरेश का वर्णन न किया।

सुदर्शन अपनी भूल पर पश्चात्ताप कर रही थी। ज़ैदी एकान्त चाहती थी। सुदर्शन ने उससे माफ़ी माँगी और उसका सिर दबाने लगी। ज़ैदी की आँखें बंद हो गईं। भूत काल उनके सामने तैरने लगा। सुरेश के पिता को पता चल गया था कि वह एक क्रस्तान लड़की के प्रेमजाल में फँसा हुआ है। वह क्रोध से लाल हो गया। वंशमर्यादा मिट्टी में मिल रही थी। ब्राह्मण बिरादरी क्या कहेगी? वह प्रेम-गीत के रहस्य को न जानता था, वंश-कुल का विध्वंस उसे स्वीकार न था इस फ़िज़ूल और निकम्मी बात के लिए। फिर सुरेश की मँगनी पं० मुरलीधर की लड़की से हो चुकी थी। उन्होंने दो मास की छुट्टी ली और गाँव में जाकर सुरेश का विवाह कान्ता से कर दिया। तत्पश्चात् उन्होंने अपनी तबदीली कलकत्ते को करा ली। सुरेश और कान्ता को अपने साथ ही ले गये। ज़ैदी से फिर उसकी भेंट न हुई। हाँ, शीला ने कलकत्ते से एक पत्र अवश्य लिखा था।

शेखर की आवाज़ ने उसे चौंका-सा दिया। 'मिस साहिबा, उठिए ताँगे आ गये।'

कालिदास का दुष्यन्त

श्रीयुत विद्याधर पौलस्त्य बी० ए०

दुष्यन्त और शकुन्तला की कथा का उल्लेख संस्कृत के पुराने ग्रन्थों में दो स्थानों में पाया जाता है—महाभारत के आदिपर्व में और पद्मपुराण के स्वर्गखण्ड में। इन्हें पढ़ने से प्रतीत होता है कि महाभारत में सत्य बात कही गई है और पद्मपुराण में दुष्यन्त के चरित्र की कमज़ोरी छिपाकर उसे उज्ज्वल बनाने का विफल प्रयत्न किया गया है।

कालिदास ने अभिज्ञानशाकुन्तल की कथा पद्मपुराण से ज्यों की त्यों ली है। ऐसा किये विना वे दुष्यन्त का चरित्र धीरोदात्त नायक के समान चित्रित करने का साहस ही नहीं कर सकते थे। क्रोधमूर्ति दुर्वासा मुनि के शाप का आश्रय लिये विना नाटक के इस रूप का सूत्रपात होना ही असम्भव था। इसी लिए कालिदास ने कथानक महाभारत से न लेकर पद्मपुराण से लिया; वहाँ इस शाप का उल्लेख है।

इतना करने पर भी दुष्यन्त का चरित्र आदर्श नायक का-सा नहीं है। नाटक को पढ़ने से साफ़ प्रतीत होता है कि नायक का चरित्र तीन भागों में बँटा हुआ है—(१) प्रारम्भ से तृतीय अंक की समाप्ति तक, (२) पंचम अंक में चित्रित और (३) इसके बाद से अन्त तक।

पहले दो भागों में उसका रूप न तो चक्रवर्ती राजा-जैसा, न आदर्श प्रेमी-जैसा और न एक शीलवान् व्यक्ति-जैसा ही है। उसकी चेष्टाएँ और कार्य, सब कुछ एक छिछले कामी पुरुष के से हैं।

शिष्य कह रहे हैं कि कण्व मुनि आश्रम में नहीं हैं; अतिथि-सेवा का भार उनकी पुत्री शकुन्तला पर है। इस समय दुष्यन्त की उत्सुकता ऐसी है कि मानो वह अवसर की प्रतीक्षा में ही था। कहता है—'भवतु, तामेव द्रक्ष्यामि' 'सूत! तूर्णम् चोदयाश्वान्।' उसे कहना चाहिए था—अच्छा, फिर कभी आऊँगा। परन्तु आप तो चल दिये एक साधारण मनुष्य के वेष में; क्योंकि राजा की तरह जाने पर तो सब वनवासी घेर लेते। 'विनीतवेषेण प्रवेष्टव्यानि तपोवनानि' तो

केवल एक बहाना है जिसके पीछे छिपी हुई उसकी मनोवृत्ति को उसके शब्द स्पष्ट कर देते हैं। वह डरता है कि मैं पहचान न लिया जाऊँ और जब कुछ लोग उसे जान जाते हैं तो उसे सफलता में शंका ही प्रतीत होती है। 'राजभावस्त्वभिज्ञातो भवेत्, भवतु' और विदूषक से दूसरे अंक में उसका कथन 'तपस्विभिः कैश्चित्परिज्ञातोऽस्मि' साफ़ कहते हैं कि उसके मन में कपट था। सोचिए, उस आदमी को क्या सज्जन कहा जा सकता है जो आता है पूज्य अतिथि के रूप में और देखता है उसी घर की लड़कियों को छिप-छिपकर ? शकुन्तला सखियों के साथ वृक्ष सींच रही है। आप कहते हैं—'भवतु, पादपान्तर्हित एव विश्रब्धम् तावदेनाम् पश्यामि।' इसी तरह एक बार और भी वह छिपकर खड़ा होता है। उसके रूप को देखते ही उसके मुँह से निकलता है—'कुसुममिव लोभनीयम् यौवनमंगेषु सन्नद्धम्।' एक भला आदमी किसी भले आदमी के घर जाकर उसकी बहू-बेटियों को इस निगाह से देखे तो क्या यही सज्जनता है ? कभी नहीं। पर दुष्यन्त इसका कितना अच्छा कारण पेश करता है, सुनिए—'असंशयं क्षत्र-परिग्रहक्षमा, यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः। सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु, प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः।'

यों ही अपनी गणना 'सताम्' में भले ही कर ले, पर उसके कार्य तो ऐसे नहीं हैं। दुष्यन्त की उस स्थिति पर, जब वह लता-कुञ्ज के बाहर खड़ा हुआ उन लड़कियों की बातें सुन रहा है, बड़ी हँसी आती है। कल्पना कीजिए, कोई मुसंडा शिष्य आकर पीछे से गला पकड़कर कहे—क्यों जी, यह क्या हो रहा है ? बोलिए, क्या बीते अपने इस बेचारे धीरोदात्त नायक पर !

उसके प्रेम की गम्भीरता भी देख ली जाय। शकुन्तला के चारों तरफ़ मँडराते हुए भौंरे से आप कहते हैं—'वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती।' मुझे झट याद आया वह फ़िल्मी गाना—'बनानेवाले भड़्रा मुझको बनाया होता'—और सोचता हूँ कालि-दास चूक गये।

बेशर्म तो इतना है कि उन लड़कियों के सामने ही कहता है—

'मानुषीषु कथं वा स्यादस्य रूपस्य संभवः' और 'वैखानसं किमनया व्रतमाप्रदानात्, व्यापाररोधि मदनस्य निषेवितव्यम्।' दुष्यन्त और शकुन्तला के कुल-शील को देखिए और फिर सोचिए इन अश्लील बातों को। उसने तो यहाँ तक दुस्साहस किया कि जब शकुन्तला लज्जित होकर जाने लगी तो आप हाथ पकड़कर ठहराते-ठहराते ही रुके। काम के वशीभूत होकर इतनी निर्लज्जता दिखाना क्या किसी नायक के गुण हैं ? अपनी कुत्सित भावना को कार्यरूप में परिणत करने के आसार देखकर आप सीधे ही कह बैठते हैं—

'अंके निधाय करभोरु यथासुखं ते,
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।'

मालूम होता है, यहाँ कालिदास स्वयं बोल रहे हैं—

'ज्ञातास्वादो विवृतजघनां को विहातुं समर्थः ?"

शकुन्तला की रूप-माधुरी दुष्यन्त को इतना मोहित करती है कि वह अपने अन्य सारे कर्तव्य छोड़कर उसी में रत हो जाता है—

'अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात्।'

देखी बुद्धि की प्रखरता। सुना है, नर चौपाये मादाओं के पैरों को सूँघकर पहचान लेते हैं, परन्तु दुष्यन्त के लिए देखना मात्र ही पर्याप्त है।

राज-कार्य और माता की आज्ञा को भी इससे उपेक्षा ही मिलती है। 'इतस्तपस्विकार्यम् इतो गुरु-जनाज्ञा' कौन-सा कार्य है जो तपस्वियों का ? कवि ने तो एक भी राक्षस मरवाकर तपस्वियों का विघ्न दूर नहीं करवाया। उधर माता के काम को इतना तुच्छ समझना कि अपनी जगह विदूषक को ही भेजा देता है। अपने सौन्दर्य-लोलुप नेत्रों की तृप्ति में बाधा न पड़ जाय, इसी कारण पूज्या माता को भी धोखा देना योग्य पुत्रों की विशेषता होती होगी ! इस [illegible] यहाँ तक दुष्यन्त केवल एक लोभी और चालाक कामी पुरुष के रूप में आता है।

पंचम अंक में चित्रित उसका चरित्र तो बहुत ही निकृष्ट लगता है। पाठक जानता है कि यह सब शाप का फल है, परन्तु दुर्वासा पर न आकर, कवि ने वातावरण ऐसा ही बना दिया है कि बार-बार दुष्यन्त पर अत्यन्त क्रोध आता है।

वह सिंहासन पर बैठा है और शकुन्तला परिजनों सहित सामने खड़ी है। उस परिस्थिति में भी वह सोचता है—'न च खलु परिभोक्तुं, नैव शक्नोमि हातुम्।' इस समय शकुन्तला उसके लिए पराई स्त्री है। परन्तु 'नैव शक्नोमि हातुम्।' है न एक नीच कामी पुरुष की सी विवशता। इस हृदय से क्या हम विशेषोन्मुखता

की आशा कर सकते हैं ? फिर भरी सभा में शकुन्तला लता-कुंजों में गुप्त रूप से किये गये प्रेमालापों का वर्णन करती है तो दुष्यन्त कितना कठोर होकर कह देता है—'एवमादिभिरात्मकार्यनिर्वर्तिनीनाम् अनृतमयवाङ्मधुभिराकृष्यन्ते विषयिणः ।' मतलब मैं कोई विषयी नहीं हूँ । हाँ जी, आप तो बड़े ही संयमी और सज्जन हैं । भला एक अच्छे, कुलीन, 'संयमधन' मुनि की कन्या का इतना अनादर करना किसे सह्य होगा ? इस प्रकार पंचम अंक के अन्तिम श्लोक से पहले तक दुष्यन्त का चरित्र बहुत गिरा हुआ है ।

'कामं प्रत्यादिष्टां स्मरामि न परिग्रहं मुनेस्तनयाम् ।
बलवत्तु दूयमानम् प्रत्याययतीव मे हृदयम् ।'

इसी श्लोक से दुष्यन्त के चरित्र की मानो छिपी हुई अच्छाई अंकुरित होती है । अँगूठी मिल जाने के बाद उसका चरित्र वास्तव में प्रेम के क्षेत्र में बहुत उन्नत दिखाई देता है । कंचुकी के शब्दों में उसकी दशा सच्चे विरही की-सी है ।

'रम्यं द्वेष्टि यथापुरा प्रकृतिभिर्न प्रत्यहं सेव्यते'
और यहाँ तक कि—
'गोत्रेषु स्खलितस्तदा भवति च व्रीडाविलक्षश्चिरम्'
वेत्रवती से कहता है—
'मद्वचनादमात्यमार्यपिशुनम् ब्रूहि—यत्प्रत्यवेक्षितम् पौरकार्यमार्येण तत्पत्रमारोप्य दीयतामिति'

यहाँ राजा और विरही प्रेमी, दोनों का धर्म निभाया जा रहा है । कितनी सुन्दर दशा दिखलाई गई है ! शकुन्तला की याद में दुखी होकर कहे गये उसके शब्द—'सखे ! त्रायस्वमाम्', 'वयस्य ! निराकरण विक्लवायाः प्रियायाः समवस्थामनुस्मृत्य बलवदशरणोऽस्मि' कितने हृदयस्पर्शी बन पड़े हैं । दुःखातिरेक के फलस्वरूप वह ऐसी सुध-बुध खो बैठता है कि अँगूठी और भौंरे से भी वार्तालाप करने लगता है । ठीक ही है—

'कामार्त्ता हि प्रकृतिकृपणाश्चेतनाचेतनेषु ।'

आनन्द तो तब आता है, जब वह मिलने पर शकुन्तला के पैरों पर गिर पड़ता है । तब की तो पूछिए ही मत !

हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है

सुश्री आशादेवी कौशिक प्रभाकर साहित्य-विशारद

मनुष्य सामाजिक प्राणी है । वह समय-समय पर बोल कर अथवा लिखकर अपने मानसिक भावों को प्रकट करने के लिए जिन उपायों का प्रयोग करता है, उसे भाषा कहते हैं । संसार के अन्य जर्मनी, चीन, जापान आदि समस्त देशों की जिस प्रकार जर्मनी, चीनी, जापानी आदि-आदि राष्ट्रभाषाएँ हैं, इसी प्रकार भारतवर्ष की भी कोई न कोई राष्ट्रभाषा होनी आवश्यक है । परन्तु कौन-सी भाषा राष्ट्रभाषा बन सकती है, इस प्रश्न को हमें सुलझाना है । किन्तु, इससे पूर्व हमें यह सोचना है कि राष्ट्रभाषा की आवश्यकता ही क्यों है ? जिस प्रकार हमारे आज तक के व्यवहार चलते आ रहे हैं, उसी प्रकार आगे के भी चलते जायँगे । किन्तु ऐसा कहना मूर्खता है ; क्योंकि इतिहास के जाननेवाले विद्वान् इस बात को भली प्रकार जानते हैं कि जिस देश की अपनी कोई राष्ट्र-भाषा नहीं है अथवा जिस देश की भाषा जीवित नहीं है वह देश भी कभी जीवित नहीं रह सकता । राष्ट्रसंगठन के लिए सबसे पहले बड़ी आवश्यकता है राष्ट्रभाषा की । इसके विना संगठन असम्भव है ।

आज भारतवर्ष में बोली जानेवाली भाषाओं की संख्या दो सौ बीस के लगभग है । कई विद्वान् तो इनकी संख्या २०० के लगभग बताते हैं । इनमें से १४१ भाषाएँ तो तिब्बती और चीनी भाषाओं की शाखाएँ हैं, जिनके बोलनेवालों की संख्या लगभग १ करोड़ ३६ लाख है । अब ७६ भाषाएँ ही बाक़ी रह गई हैं, जिनमें से १५-२० भाषाओं का ही मुख्य स्थान है । इनमें से भी आर्यभाषा का स्थान सर्वोच्च है । इस आर्यभाषा में हिन्दी, पंजाबी, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं का समावेश है । आज भारत की ४० करोड़ जन-संख्या में से २५ करोड़ व्यक्ति ऐसे हैं जो हिन्दी-भाषाभाषी हैं । इसके अतिरिक्त पंजाबी, मराठी, गुजराती-भाषाभाषी ५ करोड़ के लगभग ।

कुछ ऐसे व्यक्ति हैं जो न्यूनाधिक रूप से हिन्दी बोल अथवा समझ सकते हैं। इन सबको मिलाने से ३० करोड़ व्यक्ति ऐसे हो जाते हैं जिनका सीधा सम्बन्ध हिन्दी से ही है। विचारने की बात है कि ३० करोड़ जनता जिस भाषा को अपना रही है, यदि वही राष्ट्रभाषा न बने तो और कौन-सी भाषा बनेगी?

इसके अतिरिक्त हमारे विद्वत्समूह ने एक बार ही नहीं अपितु अनेक बार एकमत होकर इस बारे में अपना निर्णय भी दे दिया है।

राष्ट्रभाषा की सबसे बड़ी कसौटी यह है कि जो भाषा सरल हो और इस गये गुज़रे ज़माने में भी दूसरी भाषाओं की अपेक्षा जिसका प्रचार सरलता के साथ बहुत दूर-दूर तक किया जा सके, वही हमारी राष्ट्र-भाषा बन सकती है। इस कसौटी पर कसने से भी हिन्दी को ही राष्ट्रभाषा बनने का अभिमान हो सकता है।

अँगरेज़ी चूँकि आज भारत की राज-भाषा है, इसी लिए इसका प्रभुत्व भी अधिक है। हमारे कई मद्रासी नेताओं का कहना है कि आज की भाषाओं की उलझनों को मिटाने के लिए अँगरेज़ी-भाषा को अपना लेना ही अच्छा है। इससे हिन्दी और उर्दू की समस्या भी हल हो जायगी, और राष्ट्रभाषा का झगड़ा भी न रहेगा। किन्तु अँगरेज़ी के उन पक्षपाती नेताओं ने क्या कभी यह भी सोचा है कि भारतवर्ष की ९० प्रतिशत से भी अधिक जन-संख्या ग्रामों में बसती है, और वह अशिक्षित है। भारत-सरकार के दिये हुए आँकड़ों से भी पता चलता है कि अभी तक ९० प्रतिशत से भी अधिक जनता अशिक्षित है। तो फिर भला वे बेचारे ग्रामीण किसान उनकी बताई हुई बात का किस प्रकार अनुकरण कर सकते हैं। क्षमा कीजिएगा, अँगरेज़ी तो हमारी आदि भाषा ही नहीं, फिर भला यह राष्ट्रभाषा कैसे बन सकती है!

आज हमारे देश की राष्ट्रभाषा वही भाषा बन सकती है जिसे हमारी ९० प्रतिशत से भी अधिक जनता बोल अथवा समझ सकती हो! और इस सम्बन्ध में यू० पी० असेम्बली के स्पीकर श्रीयुत बाबू पुरुषोत्तमदासजी टंडन ने स्पष्ट शब्दों में बता दिया है कि "हमारे देश की जनता का अँगरेज़ी-भाषा से क्या सम्बन्ध? यह तो केवल थोड़े से अँगरेज़ों के लिए ही सुविधा का साधन है। यदि अँगरेज़ यहाँ रहना चाहें तो उन्हें हमारे देश की भाषा को सीखना चाहिए।"

इँगलैंड और अफ़्रीका के बुअरों का युद्ध जो सन् १९०४ में हुआ था, उसकी तह में केवल भाषा का ही प्रश्न था। बुअर लोग अँगरेज़ी-भाषा को स्वीकार न कर अपनी राष्ट्रभाषा को ही ऊँचा बनाना चाहते थे; क्योंकि राष्ट्रभाषा ही किसी देश के संगठन का मूल कारण है, और स्वतन्त्रता संगठन की चेरी है। इस सिद्धान्त को समझकर ही कि "अपनी राष्ट्रभाषा की रक्षा द्वारा ही देश और जाति की रक्षा हो सकती है" बुअरों ने समराङ्गण में बलिदान देकर भी अपनी राष्ट्रभाषा की रक्षा की। लिखने का तात्पर्य यह है कि आज हमारी राष्ट्रभाषा न होने के कारण हममें संगठन नहीं, और संगठन के अभाव के कारण हो हम दासता में बँधे हैं।

आरम्भ में जब अँगरेज़ यहाँ आये तो उन्हें विवश होकर काम चलाने के लिए हमारे देश की भाषा को भी सीखना पड़ा। महारानी विक्टोरिया तथा लार्ड डफ़रिन आदि ने शासन की सुविधा के लिए हिन्दी-भाषा को सीखा। प्रोफ़ेसर मैक्समूलर ने अपनी "भाषा-विज्ञान" नामक पुस्तक में लिखा है—"भाषा ही देश की आदि सम्पत्ति अथवा थाती होती है। इसी के विकास से मनुष्य की उन्नति हुई है"। परन्तु हम भारतवासी तो इसे अपनी सम्पत्ति समझते ही नहीं। क्या कभी आपने दो अँगरेज़ों को अँगरेज़ी से भिन्न और किसी भाषा में बातें करते देखा या सुना? याद नहीं, तो न मालूम हम भारतवासी अँगरेज़ी-भाषा में ही बातें करने में अपना गौरव क्यों समझते हैं? कारण यही तो है कि हम दास हैं, और संगठित होकर अपनी राष्ट्रभाषा को अपनाने का प्रयत्न नहीं करते। और यह बात उस समय तक सम्भव नहीं, जब तक कि हम इसके महत्त्व को नहीं समझते।

आज भारतवर्ष में दो ही भाषाएँ हैं, जिनका आपस में प्रबल विरोध है, एक हिन्दी दूसरी उर्दू। उर्दू शब्द बहुत पुराना नहीं। इसका जन्म हुए केवल सौ डेढ़ सौ वर्ष ही हुए हैं। "उर्दू" शब्द का अर्थ है कटक अथवा छावनी। जिस समय मुसलमान बादशाहों ने देहली को राजधानी बनाया, उस समय जनता, नगर के बाहर सेना के स्थान को "उर्दू बाज़ार" कहा करती थी। देशी भाषाओं के आदान-प्रदान से इसका नाम उर्दू-भाषा पड़ गया। इसके विपरीत हिन्दी-संसार की सबसे पुरानी भाषा है, इसका सबसे उत्तम तथा प्रत्यक्ष उदाहरण ऋग्वेद है,

जो संसार के पुस्तकालय में सबसे पुरानी पुस्तक है। इसकी भाषा आर्यभाषा है। आगे चलकर यही भाषा प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध हुई। फिर इसी भाषा ने अपभ्रंश भाषा का रूप धारण किया और आगे चल हिन्दी का जन्म इसी भाषा से हुआ।

"उर्दू-भाषा" में जिस शब्द का जो रूप लिखने में आता है, बोलने में वह कुछ भिन्न ही होता है। जैसे—बोला जाता है "तनख़ाह" परन्तु लिखा जाता है "तनख़्वाह", बोला जाता है "अबदुल्ला" परन्तु लिखा जाता है "अबद-अल्ला", आदि-आदि सहस्रों उदाहरण विद्यमान हैं। यही नहीं, क्लिष्ट भी इतनी है कि एक साधारण ग्रामीण के लिए समझना भी कठिन हो जाता है। यही कारण है कि हिन्दी के गुणों से प्रभावित होकर कितने ही सहृदय मुसलमान साहित्यकारों ने मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा करते हुए हृदय से इसकी सेवा की है। उनमें रसखान, रहीम, खुसरो, अख़्तर हुसेन रायपुरी आदि के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं।

एक और भाषा भी—जिसे "हिन्दुस्तानी" का नाम दिया जाता है—राष्ट्रभाषा बनने का दावा करती है। परन्तु उस बेचारी का तो अपना पूरा कोष ही नहीं। उसे तो अपना अर्थ समझाने के लिए भी दूसरी भाषाओं का आश्रय लेना पड़ता है। जो स्वयं अपना अर्थ समझाने में असमर्थ है, वह भला राष्ट्र-भाषा कैसे बन सकती है?

इन उपरिलिखित समस्त उदाहरणों से सिद्ध होता है कि हिन्दी-भाषा ही राष्ट्रभाषा बन सकती है, अन्य नहीं।

छायावादी कवि और उनकी कविता

पं० मंगलकिशोर पाण्डेय बी० ए० (आनर्स) गोल्डमेडलिस्ट

(१)

आजकल तो हमारे साहित्य में छायावाद की मानो बाढ़-सी आ गई है। जिधर देखो उधर छायावाद की ही धूम है। शायद ही कोई ऐसी पत्र-पत्रिका हो, जिसमें एक या दो छायावादी कविताएँ टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में, बेल-बूटों से सुसज्जित प्रकाशित न होती हों। स्कूल के विद्यार्थियों ने भी अनन्त की ओर सैर करना शुरू कर दिया है। ऐसी स्थिति में किसी भी भावुक हृदय में यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि यह छायावाद वस्तुतः है क्या चीज़ तथा इसका हमारे जीवन से क्या सम्बन्ध है? क्या यह निरी कल्पना है अथवा यथार्थवाद की कसौटी पर खरी उतर सकती है? इत्यादि प्रश्नों पर गवेषणा करना मेरे इस लेख का उद्देश्य है।

अच्छा तो फिर छायावाद क्या है? इसे अँगरेज़ी में mysticism कहते हैं। छायावादी (mystic) वह है जो अपनी अन्तर्दृष्टि से अदृश्य को देखता, अस्पृश्य को छूता तथा अनुभव से परे की बातों का अनुभव करता है। उसकी आँखों के सामने सदा सारा विश्व नाचा करता है। विश्व का प्रत्येक अणु-परमाणु उसे चेतनमय, सजीव तथा सुन्दर दिखता है। बालू के एक-एक कण में वह सारे संसार को देख लेता है, स्वर्ग की सारी सुषमा उसे सुमन की पंखड़ियों पर नाचती देख पड़ती है। एक अँगरेज़ छायावादी के शब्दों में—

He sees the world in a grain of sand,
And heaven in a wild flower.

× × ×

अगर आप सच पूछें तो वह एक प्रकार का दार्शनिक होता है। संसार की नग्नता, दरिद्रता, पाशविकता तथा संकीर्णता से घबराकर छायावादी की आत्मा कल्पना की सुनहरी दुनिया का निर्माण करती है, जहाँ उसे विश्रान्ति का अनुभव होता है। उसकी उस नन्ही-सी दुनिया में केवल आनन्द ही आनन्द है—वहाँ न तो क्षुधार्तों के कराहने की आवाज़ सुन पड़ती है, न दलितों की करुण पुकार ही सुन पड़ती है और न युद्ध की प्रलयकारी भेरी ही उस मधुर नीरवता का भेदन कर सकती है। एक विश्रान्ति चाहनेवाले छायावादी कवि के शब्दों में—

I will arise and go now, and go to Innisfree,
And a little cabin have there of clay and wattles made.

"अर्थात् अब मैं यहाँ से चलकर इनीसफ़्री को जाऊँगा और वहाँ पर अपनी एक पर्णकुटी बनाऊँगा।"

इस श्रेणी के छायावादी जीवन में एक विचित्र वेदना का अनुभव करते हैं। जयशङ्कर की निम्नलिखित पंक्तियों में हमें वैसी ही वेदना की अनुभूति होती है—

"वेदना बिखर फिर आई
मेरी चौदहों भुवन में,
सुख कहीं न दिया दिखाई,
विश्राम कहाँ जीवन में ?"

हमें इन पंक्तियों के पढ़ने से मालूम होता है कि कवि के जीवन में कितनी ज्वाला, कैसा उच्छ्वास, कैसी तड़प तथा कसक भरी है। इसमें कोई शक नहीं कि इन ज्वालाओं से बचने के लिए वह 'इन्द्र-धनुष की पंखड़ियों' को कल्पना की तूलिका से रञ्जित करने का प्रयास करता है; इसमें तनिक सन्देह नहीं कि वह अपनी विषम वेदनाओं से भरी हुई बाँसुरी निशीथ की गम्भीरतम निस्तब्धता में फूँकने की चेष्टा करता है—अथवा तारकावलियों के मनोहर हास्य को अपने जीवन के हास्य में मिलाकर उसमें एकाकार होने का प्रयत्न करता है! छायावादी की हृत्तंत्री कभी-कभी विरह की स्मृति में एक अपूर्व हृदय-स्पर्शिनी रागिनी गाती-सी प्रतीत होती है। वह जानता है कि सच्चा आनन्द न तो दुःख में है और न सुख में—"अति सुख अति तड़पन है, अति दुख अति तड़पन है।" सचमुच जब हम एक दार्शनिक की दृष्टि से इस प्रश्न पर विचार करते हैं तो इसकी सत्यता और स्वाभाविकता हमें पूर्णरूपेण विदित हो जाती है; क्योंकि शुद्ध, सात्त्विक तथा अलौकिक आनन्द तो तब होता है जब हम ससीम को पारकर असीम में प्रवेश करते हैं, जब बाह्य जगत् अपने विविध रूप में भी एकरूप नज़र आता है—और जब हम यह अनुभव करते हैं कि—

I feel there is some presence,
Which fills me with elevated thoughts.
(Wordsworth).

"अर्थात् मैं किसी की मौजूदगी का अनुभव करता हूँ जो मुझमें ऊँचे विचार भरती है।"

प्रकृति का प्रत्येक कण छायावादी को पुकारता है। हरएक ज़र्रा उसे रहस्यपूर्ण मालूम होता है! सारांश यह कि अपने चारों ओर उसे नये-नये रहस्य, नई-नई विभूतियाँ देख पड़ती हैं। उसके लिए अदृश्य भी दृश्य है; क्योंकि—

"Angels keep their ancient places,
Turn but a stone and start a wing."

अर्थात् "फ़रिश्ते पहले की तरह आज भी मौजूद हैं। कौन जाने उस पत्थर के नीचे फ़रिश्ते हों।"

इसी तरह के भाव हमें रवीन्द्रनाथ ठाकुर की गीतांजलि में मिलते हैं। रवि बाबू एक अत्युच्च कोटि के छायावादी थे। उनकी कविताएँ पढ़ने से मालूम होता है कि उनके जीवन का प्रत्येक तार प्रकृति के कण-कण से बँधा था। छायावादी होते हुए भी वह romantist थे। तथा romantist होते हुए भी यथार्थवादी (realist) थे। ऐसा अद्भुत सामंजस्य तो शेक्सपियर, गेटे और विक्टर ह्यूगो में ही सम्भव था। अब मैं उनकी गीतांजलि से छायावाद के कुछ दृष्टान्त उद्धृत करता हूँ—

ओ गो पासे एसे बसेछिले, तबू जागी नी।
कि घूम तोबे पेयेछिले हतभागिनी।
एसेछिले नीरव राते, बीना खानि छिल हाते।
सपन माझे बाजियेगिओ मधुर रागिनी।

इसका अर्थ बिलकुल स्पष्ट है। इसमें हम छायावाद की सुन्दर प्रतिमा का दर्शन करते हैं। शब्दाडम्बर नहीं, भावों की जटिलता नहीं, कृत्रिमता नहीं—किन्तु सरल सुन्दर सुबोध शब्दों में सलोने भाव की सरसता छलकी पड़ती है। लेकिन इसके विपरीत हम अपने हिन्दी के छायावादियों में क्या पाते हैं? इसमें सन्देह नहीं कि हम दो एक छायावादी कवियों में काव्य-कला के साथ छायावाद के सुन्दर स्वरूप का अवलोकन करते हैं, लेकिन अधिकांश तो सिर्फ़ इधर से उधर कुछ चुने हुए शब्दों को ही भिड़ाते हैं। उदाहरणार्थ अम्बर, निशीथ, संध्या, प्रभात, किरण, कण, अनन्त ये कुछ ऐसे शब्द हैं कि आप इन्हें इधर से उधर भिड़ा दें तो सुनने में ये बहुत अच्छे लगते हैं। उनके मतलब ख़ाक पत्थर चाहे जो भी हों। इसके साथ-साथ इन शब्दों में कुछ स्वाभाविक गुरुत्व ऐसा है कि तुकबन्दी करनेवाला सोचता है कि अब उसकी कविता गाम्भीर्यमय होने लगी। वस्तुतः उसमें न

तो गम्भीरता है और न हम उसे 'कविता'-जैसी पुनीत संज्ञा ही दे सकते हैं। हाँ, भदैती अवश्य है। कई साल हुए मैंने एक कविता "चाँद" में पढ़ी थी। उस समय, जब "चाँद" छायावाद के रंग में बिलकुल रँगा हुआ था, जब कि छायावादियों की कविताएँ 'इन्द्र-धनुष की पंखड़ियों की तरह' टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में निकलती थीं—ख़ैर, मुझे पूरी कविता तो याद नहीं, लेकिन एक लाइन भुलाये नहीं भूलती। वह है—

× × ×

संध्या में घुस गया प्रभात,
नीलाम्बर के अन्तस्तल में।

बहुत माथा मारने पर भी मेरी समझ में यह न आया कि आख़िर यह क्या बला है! निराश हो मैं अपने प्रोफ़ेसर के पास गया, जो आज भी एक प्रमुख युनिवर्सिटी के अध्यापक तथा हिन्दी के बहुत बड़े विद्वान् हैं। मैंने उन्हें वह कविता दिखाई जो टेढ़े-मेढ़े अक्षरों में छपी लता-पत्रों के बीच में उषा-सुन्दरी के केश-राशि की तरह सुन्दर दिखती थी। कविता को ध्यान से पढ़कर हमारे वृद्ध आचार्य मुस्कराये। उन्होंने कहा, "चलो हटाओ, यह आजकल के कपियों की लीला है।" तब से आज तक जब-जब मैं छायावादी कविताएँ पढ़ता हूँ तब-तब मेरे वृद्ध आचार्य के वे शब्द मेरे कानों में गूँजा करते हैं। क्या ये सचमुच कपि हैं? तो फिर इतने लोग इनके पीछे पागल क्यों हैं?

चिमिरिखी ने कहा था

श्रीशारदाप्रसाद "भुशंड"

प्राइमरी मदरसों के मुदर्रिसों की ज़बान के कोड़ों से जिनकी पीठ छिल गई है, और कान पक गये हैं, उनसे हमारी प्रार्थना है कि वे विश्व-विद्यालय के प्रोफ़ेसरों, लड़कों तथा लड़कियों की बोली का मरहम लगाएँ। जब छोटे-छोटे स्कूलों में पढ़नेवाले छात्र, आपस में गाली-गलौज करते, या एक दूसरे के साथ साला-बहनोई का रिश्ता जोड़ते हुए नज़र आते हैं, तब यहाँ के शिक्षित स्त्रीलिंग तथा पुँल्लिंगवर्ग 'आइए बहनजी, कहिए कुँआरीजी, सुनिए भाईजी इत्यादि' मधुवेष्टित शब्द बोलते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। क्या मजाल, जो विना 'आप और जी' के एक भी लफ़्ज़ मुँह से निकल जाय। उनका शुद्ध शिष्टाचार ऐसा सरस, सरल और आडम्बरहीन होता है, जैसे छिलका उतारा हुआ केला। उस पर 'प्लीज़ और थैंक यू' तो सुन्दरता बढ़ाने में बिजली की लाइट का काम करते हैं।

ऐसे विमल वातावरण में पले हुए दो सजीव चल-चित्र 'एक सखी और दूसरा सखा' दैववशात् साइकिल से टकराकर हज़रतगंज के चौराहे पर गिर पड़े। एक ने सारी सम्हालते हुए कहा—'प्लीज़ इक्स-क्यूज़ मी' और दूसरा पैंट की क्रीच ठीक करते हुए बोला—'आई एम सॉरी'। फिर क्षण भर दोनों चुप रहे। लेकिन अन्त में एक ने पूछा—

'आप कहाँ पढ़ती हैं?'

'आई० टी० कालेज (I. T. College) में; और आप?'

'यूनीवर्सिटी में। आप यहाँ कहाँ रहती हैं।

'सिविल लाइन में अंकिल के साथ।'

'मैं भी मुकारिमनगर में मामा के यहाँ रहता हूँ। इस बार हिन्दी में एम्० ए० करने का विचार है।'

लड़की ने साइकिल के हैंडिल को मोड़ते हुए कहा—'मुझको भी हिन्दी से अधिक प्रेम है। मैंने भी बी० ए० में हिन्दी ही ले रक्खी है।'

कुछ दूर चलकर लड़के ने पूछा—'आप कविता भी करती हैं?'

'आपसे मतलब?' कहकर लड़की आगे निकल गई और लड़का मुँह ताकता रह गया।

इसके पश्चात् कभी छठे-छमासे वे सिनेमा हाउस या अमीनाबाद में घूमते हुए मिल जाते। लड़का मनोरंजन के लिए छेड़ देता—'आप कविता भी करती हैं?' और उत्तर में वह कहती—'आपसे मतलब?'

एक दिन जब लड़के ने वैसे ही हँसी में चिढ़ाने के लिए उससे छेड़खानी की तब लड़की, लड़के की भावना के विरुद्ध बोली—'हाँ, करती तो हूँ, देखते नहीं! इस मास की माधुरी में मेरी एक कविता प्रकाशित हुई है।'

लड़की चली गई। लड़का भी अपने घर की ओर रवाना हुआ। रास्ते में वह अनेक कवियों की कविताओं को उलट-फेरकर एक नवीन रचना तैयार करने में निमग्न

हो गया। यहाँ तक कि वह अपने घर से दस-बीस क़दम आगे बढ़ गया और उसे कुछ भी न ज्ञात हुआ। सहसा जब वह एक अन्धे से टकराया, तब उसको होश हुआ कि वह घर से आगे निकल आया है।

× × ×

"राम-राम यह भी कोई कवि-सम्मेलन है। एक पहर बीत गया। मिठाई और नमकीन की तो कौन कहे, किसी ने एक बूँद पानी तक की ख़बर न ली! भूख के मारे आँखें निकली आती हैं। पेट घुसा जाता है। हमने गवाहियाँ भी दी हैं। मगर ऐसी लापरवाही कहीं नहीं देखी। बेईमान, न जाने किस इन्तज़ाम में फँसे हैं कि इधर आने का नाम तक नहीं लेते। इन्होंने तो कान्यकुब्जों की बारात के भी कान काट लिये।"

कवि खंजन—"आप लोग इतना घबराते क्यों है? अभी तो दो ही तीन घण्टे बीते हैं। जहाँ इतना सहा, वहाँ थोड़ा और सही। घण्टे-आध-घण्टे में भोजन आने ही वाला है। फिर तो पौबारह हैं। नमकीन खाना और ख़ुशी के गीत गाना। मैंने सुना है, कुँआरी निबौरीजी स्वयं दाना-पानी अपने साथ ला रही हैं। बेचारी बड़ी शरीफ़ हैं। कहती हैं—कवि हमारे देश की नाक हैं। राष्ट्र के उत्थान-पतन का भार इनकी पीठ पर इतना अधिक लदा है कि बेचारे ख़च्चर से भी गये-बीते हैं।"

"चार दिन बीत गये। पलक नहीं मारी। कवि-सम्मेलनों में जागते ही बीता है और अब भी दावा है कि ऐसे कवि-सम्मेलन तो मैं चुटकी बजाते अकेले ही चला सकता हूँ। यदि चलाकर न दिखा दूँ तो मुझको इसके मण्डप की ड्योढ़ी नसीब न हो। गुरू, आज्ञा भर की देर है। एक बार ऐसे ही एक कवि-सम्मेलन में कविता-पाठ करने बैठा तो हद कर दी। मित्र, कुछ न पूछो, कहता तो हूँ, कविता सुननेवाले घबराकर चले गये, मगर मैं टस से मस न हुआ और आँखें बन्द किये हुए लगातार कविता सुनाता रहा। किन्तु जब मैंने लोचन उन्मीलित किये तब देखा केवल टुटुरूँ टूँ सभापतिजी बैठे ऊँघ रहे थे।"

"इसके माने आप झोली-झंडा लिये हुए कवि-सम्मेलनों की टोह में हमेशा चक्कर लगाया करते हैं?" मुस्कराते हुए बगुलेशजी ने पूछा।

"ऐसी बात नहीं। जैसे विना फेरे पान सड़ जाता है, अश्व अड़ियल हो जाता है, वैसे ही विना सम्मेलनों में आयें-गये कवि भी सड़ियल हो जाता है, इसलिए कभी-कभी मैं ऐसा कर लेता हूँ, अन्यथा कीचड़ में कौन पैर डाले।"

बगुलेशजी, बोले, "सच है।" खंजनजी बोले—"पर क्या करें? नस-नस में भूख समा गई है। ओंठ अलग सूख रहे हैं। कुँआरीजी अभी तक अपनी पलटन लेकर नहीं पलटीं। इस समय यदि भिगोया हुआ चना ही मिल जाता तो ग़नीमत थी। जान में जान आ जाती, हाथ-पैर फैलने लगते।" मजीराजी, जो ज़रा ज़्यादा मसख़रे थे, 'कवेन्डर' जलाते हुए बोले।—"देखो, मैंने सम्मेलन की कपालक्रिया कर दी, अब आप लोगों को मुसीबत का सामना नहीं करना पड़ेगा।" सब लोग हँस पड़े और वे चारों ख़ाना चित चारपाई पर लेट गये।

खंजनजी ज़बान से ओंठों को चाटते हुए बोले—"अपने-अपने सम्मेलनों की चाल है। इमरतीजी को लाख समझाया गया कि कवि लोग ग़म नहीं खाते, मगर वे बार-बार खाने के लिए इसरार करती थीं। मार्ग-व्यय कम देती हुई कहती जाती थीं कि आप लोग चोटी के बाल हैं। यदि आपकी सेवा समुचित रूप से न की जायगी तो भाषा-भामिनी का सौन्दर्य नष्ट हो जायगा और आप हम लोगों को सरस रचनाएँ न सुनावेंगे।"

एक घण्टा बीत गया। कमरे में सन्नाटा छाया हुआ है। हाँ, कभी-कभी ओझाजी की सरौती नीरवता को भंग कर देती है। बगुलेशजी क्षुधा के मारे तड़प रहे हैं। कहते हैं, "यदि पेशगी ले लिये होता, तो सीधे घर की राह लेता, फिर मुड़कर भी पंडाल की ओर न देखता। अब तो चंडूल की भाँति आ फँसा हूँ और मजबूर हूँ, अपने संकोची स्वभाव पर।"

कवयित्रियाँ बेचारी पेंट की हुई फ़ाइलों की भाँति लाचार थीं, किन्तु उनके बिगड़ेदिल पतिदेव अवश्य पैजामे के बाहर हो रहे थे।

इसी समय लकड़बग्घाजी चीख़े, "भूख लगी है।"

"भूख लगी है?"

"हाँ, बड़ी ज़ोर की लगी है।"

"अच्छा, याद आया। मेरे झोले में घर के बने हुए कुछ लड्डू रक्खे हैं, तब तक आप उन्हें खाकर पानी पियें, फिर देखा जायगा।"

"सच कहते हो?"

"और नहीं क्या झूठ?" यह कह खंजनजी लड्डू निकालकर देने ही वाले थे कि कमरे के अन्दर वायु के साथ मिष्टान्न की महक आई और घ्राण इन्द्रिय

द्वारा कवियों के उदर में समा गई। बेचारों ने एक-टक आँखें खोल दीं। मानो मरीज़ को पेन्सलीन का इन्जेक्शन लगा। एक महाशय ने झुककर, मजीराजी की ओर तश्तरी बढ़ाते हुए कहा—"श्रीमानूजी नमकीन...." जैसे उन्होंने जम्हाते हुए उसको लेने के लिए अपना हाथ बढ़ाया, वैसे ही उनका हाथ तश्तरी में न पड़कर देनेवाले की ठुड्डी में जा पड़ा। उसकी तीक्ष्ण खूटियों का, उनकी कोमल अंगुलियों में चुभना था कि वे 'बर्र-बर्र' कहकर बर्रा उठे। उनके इस ऐक्टिंग से कमरे के अन्दर काफ़ी कहकहा मच गया और कवियों के मलिन मुख धान की खिली हुई खीलों के समान खिल उठे। इसके बाद सब लोग भूखे बंगाली की भाँति खाने में जुट गये। किन्तु, जब उनका मुखारविन्द गंगोत्री और यमुनोत्री बन गया, तब उन्हें ज्ञात हुआ कि तरकारी में लाल मिर्चें अधिक थे।

भोजन समाप्त होने के बाद कविगण बे पर की उड़ा रहे थे। कमरा स्टेशन का मुसाफ़िरख़ाना हो रहा था। इतने में आवाज़ आई—

"बगुलेशजी !"

"कौन ? बमचकजी। आइए महाराज" कह, बगुलेशजी ने उनका स्वागत किया और वे छायापुरुष की भाँति अन्दर धँसते हुए बोले—

"अब पंडाल चलने की कृपा करें। स्थानीय कवि उपस्थित हो गये हैं। देर करने की आवश्यकता नहीं है। आप लोग अपना पेशवाज शीघ्र बदल लें।"

खंजनजी पल्ले नम्बर के घुटे थे। आँख मारते ही भाँप गये कि ये महाशय यहाँ पर हम लोगों को बनाने के लिए आये हैं। अतएव मुँह का भाव छिपाते हुए बोले—"आप तो बड़ी जल्दी चोला झाड़कर आ गये, मगर वह आनन्द यहाँ कहाँ, जो रायबरेली के कवि-सम्मेलन में था, जिसके संयोजक स्वयं तूफ़ान-मेलजी थे। कितनी सुन्दर रचनाएँ थीं, हुदहुदजी की। वाह-वाह, आपने भी उन्हें ख़ूब समझाया था कि सूरदास की चौपाइयों में टियर गैस का असर है, केशव की कुण्डलियाँ ऐटमबम का काम करती हैं, बिहारी वीर-रस के रसिक थे। आपकी घनाक्षरी को सुनकर तो जाग्रत् श्रोताओं ने भी कंवाना शुरू कर दिया था।"

बमचकजी बिदुराते हुए बोले—"हें-हें, यह सब आपका प्रोत्साहन है। भला मैं तुच्छ जीव किस योग्य हूँ। वास्तव में तो कविता वही है, जिसको सुनकर भैंस भी पागुर करना छोड़ दे। यों तो सोहर और दादरा देहात की दीदियाँ भी गढ़ लेती हैं, मगर जब छटंकी के ऊपर पन्ना बिठाना पड़ता है तब चोटी का पसीना एड़ी तक आ जाता है। टकसाली चीज़ का लिखना और ही बात है।"

मजीराजी ने सुरती को ओंठ के नीचे दबाते हुए कहा—"बात तो सवा सोलह आने ठीक है। इस समय खंजनजी, पैदली मात खा गये।"

खंजनजी सिर खुजलाते हुए बोले—"मात ? राम-राम ! गुरुजी, यह आप क्या बक गये ? एक गीतकार सैकड़ों घनाक्षरी लिखनेवालों के बराबर होता है। सम्प्रति हिन्दी-साहित्य की प्रखर धारा में, ऐसे गीतों का लिखना, जिनमें संचारी भाव के साथ-ही-साथ निराला-प्रसाद का समागम हो, एक टेढ़ी खीर है। कूपमंडूक बनना दूसरी वस्तु है, किन्तु जब समय के साथ चलना पड़ता है तब आटे-दाल का भाव मालूम होने लगता है। आजकल गीत न लिखनेवाले कवियों का जीवन ट्यूब (Tube) रहित फ़ाउन्टेन पेन की तरह माना जाता है।"

बीच ही में बगुलेशजी, नाक-भौं सिकोड़ते हुए बोले—"व्यर्थ बकवाद ही करते रहोगे या चलने की भी तैयारी करोगे ?"

कवि-सम्मेलन बगुलेशजी के सभापतित्व में प्रारम्भ हुआ। मंच ग्रामोफ़ोन, कवि-गण रिकार्ड थे। सभापतिजी दाद की चाभी देकर चला रहे थे। किन्तु जनता के हूटिंग के कारण स्थानीय कवियों की दाल न गल पाती थी। वे फटे दूध की भाँति जमने में असमर्थ थे। कवि-सम्मेलन क्या था, कवियों की कसौटी। ऐसे-वैसे कवि तो कविता-पाठ करने का साहस ही न करते थे। रंग जमता हुआ न देखकर सभापतिजी ने कुछ बाहरी कवियों को बुलाना शुरू किया, लेकिन लाख हाथ-पैर मारने पर भी वे असफल रहे, कारण वही दाल और रोटी।

पिपीलिकाजी के द्वारा सम्हाला हुआ सम्मेलन मुँह के बल गिरने ही वाला था कि लकड़बग्घाजी का नाम पुकारा गया। वे दहलते हुए दिल के साथ मंच पर पधारे और बिना शीर्षक बताये हुए ताबड़तोड़ रचनाएँ सुनाने लगे। उनका स्वर टेढ़े पहिये के समान लहरा रहा था। उनके बैठने का पोज़ देखकर स्कूली लड़कों ने छींटे कसना आरम्भ कर दिया, और वे बेचारे लगे बगलें झाँकने। उनको उखड़ता हुआ देखकर खंजनजी ने अपनी मधु-वर्षिणी वाणी

द्वारा जनता के समक्ष लकड़बग्घाजी की महत्ता पर प्रकाश डाला तथा शान्तिपूर्वक कविता-पाठ सुनने के लिए सत्याग्रह किया। इस समय उनका व्याख्यान श्रोताओं की बदहज़मी को दूर करने के लिए सोडा-वाटर का काम कर गया। अब उनको, उनकी रचनाओं में कच्चे क़लमी आम का स्वाद मिल रहा था। खंजनजी की दाद पाकर लकड़बग्घाजी ख़ूब जमे। सारा पंडाल वाह-वाह की ध्वनि से गूँज उठा। किसी ने रजतपदक, किसी ने स्वर्णपदक देने की घोषणा की। यहाँ तक कि एक उत्साही साहित्य-प्रेमी ने श्वेत-पत्र पदक प्रदान करने की प्रतिज्ञा कर डाली। क्षण भर के लिए सारा पंडाल ढपोरशंख बन गया। सहस्रं ददामि, लक्षं ददामि की गूँज तो मामूली बात थी। खंजनजी उनकी सफलता पर फूले नहीं समाते थे। उनका रोम-रोम जनता की गुण-ग्राहकता की भूरि-भूरि प्रशंसा कर रहा था। उन्होंने गर्व से माँगा—

"मजीराजी एक कुल्हड़ चाय, लकड़बग्घाजी जम गये।"

इसके बाद खंजनजी की बारी आई। वे एक होकर अनेक श्रोताओं के नेत्र में और अनेक श्रोतागण एक होकर उनकी आँख में थे। जैसे फ़िल्म फ़ोकस और चल-चित्र। फ़रमाइशों की बौछारें होने लगीं। उन्होंने गीत पढ़ना प्रारम्भ किया। अटलांटिक ओशन, प्रशान्त-महासागर में परिणत हो गया। जनता मुग्ध हो गई, किन्तु उसकी काव्यपिपासा शैशव की बाढ़ की भाँति बढ़ रही थी। अधिक कविता-पाठ करने से खंजनजी पूर्णतया थक गये थे। उनके गले में वर्स्ट हो गया था, वह चलता न था। अतएव जैसे ही वह मंच छोड़कर जानेवाले थे, वैसे ही बग़ल में बैठे हुए दो मुस्टंडों ने उनको बिठालते हुए कहा—"आपने माँगे थे १०१) वह हमने बड़े परिश्रम के साथ दीन क्लर्कों के मासूम बच्चों का पेट काटकर भेजे और अब उनको पेटभर कविता सुनाकर ही आपको जाने देंगे।"

यह सुनकर उनके चेहरे का रंग फ़क़ हो गया, मुँह पर हवाइयाँ उड़ने लगीं, बेचारे कर क्या सकते थे। पेशगी ले ही चुके थे। नाहीं की कोई गुंजाइश न थी। बाँसों उछलता हुआ दिल गरियार बैल की भाँति बैठ गया था।

इलेक्ट्रिक बल्ब अपनी रजत रश्मियों के द्वारा उनके मुख की मलिनता को ढक रहे थे।

उन्होंने फिर कविता सुनाना शुरू किया, किन्तु इस बार उनके स्वर में वह सरसता न थी, जिसको सुनकर जनता भेड़ बन गई थी। ख़मीरा भुर्रा हो गया था। खंजनजी को, इस समय अपनी कविता की एक-एक पंक्ति सहारा की मरुभूमि प्रतीत हो रही थी और वे विवश थे किराये के ऊँट की भाँति।

श्रोताओं में खिचड़ी पकने लगी। सम्मेलन उखड़ने लगा। कार्य-कर्ताओं की प्रार्थना का मूल्य नष्ट हो चुका था। उकताया हुआ सम्पूर्ण श्रोता-समाज भर्र मारकर उठ बैठा और धन्यवाद की लादी लादे बिना ही, 'वियोग में संयोग का पुट देने के लिए' चल पड़ा। हाँ, कुछ मनचले युवकों ने अवश्य सभापतिजी की टिमटिमाती हुई रचनाएँ सुनीं और दाद दी। सम्मेलन क़रीब दो बजे रात को समाप्त हुआ।

पंडाल हड़ताली स्कूल की भाँति सूना हो गया था। परन्तु जहाँ-तहाँ वे कवि, झोला लिये हुए टहलते नज़र आते थे, जिनको मार्ग-व्यय मनीआर्डर द्वारा नहीं भेजा गया था।

× × ×

स्टेशन में भीड़ अधिक थी। टिकट का लाना नास्तिक को आस्तिक बनाना था। फिर भी खंजनजी हिम्मत करके आगे बढ़े और कठिन तपस्या के बाद खिड़की तक पहुँचे ही थे कि एक यात्री ने उनको बड़ी ज़ोर का धक्का दिया, जिसके कारण बेचारे जहाँ से चले थे वहीं फिर पहुँच गये। (वह उनकी महत्ता से अनभिज्ञ था।) टिकट तो मिला नहीं, मगर भीतरी चोट अधिक मिली। कर्तव्य के नाते उन्होंने उस समय उसका कुछ भी ख़याल न किया और पुनः साहस समेटकर भीड़ के अन्दर घुसे। इस बार ईश्वर ने उनकी सुन ली।

ट्रेन मुसाफ़िरों से खचाखच भरी थी। कहीं पर तिल रखने को जगह न थी। हरएक डिब्बे में फ़ौजियों से मोर्चा लेना पड़ रहा था। अन्त में उन्होंने लकड़बग्घाजी को सर्वेन्ट कम्पार्टमेंट में ही बिठाकर सन्तोष की साँस ली। गार्ड ने सीटी दी। गाड़ी चल पड़ी। खंजनजी ने नमस्ते करते हुए कहा—"चिमिरखीजी से हमारी 'जय हिन्द' कहिएगा और कहिएगा कि मुझसे उन्होंने जो कुछ कहा था वह मैंने पूरा कर दिया।"

उधर ट्रेन बढ़ रही थी और इधर खंजनजी की पीड़ा।

खंजनजी स्टेशन से लौटकर डेरे में आये और चारपाई के ऊपर ढेर हो गये। अब उनमें उठने तक

की शक्ति न थी। रह-रहकर चोट की पीड़ा साली की भाँति चुटकी काट रही थी। उन्होंने पुकारा—

"मजीराजी, सिगरेट पिलाइए।"

आधी रात बीत जाने के बाद नींद हल्की आती है। दिन भर की चिन्ताएँ, मानव जिनमें अधिक लिप्त रहता है, एक-एक करके उसके सामने स्वप्न के रूप में परिणत होती जाती हैं और वह उन्हीं में वास्तविक सुख-दुःख का अनुभव करने लगता है।

× × ×

खंजनजी यूनिवर्सिटी में पढ़ रहे हैं। मुकारिमनगर में रहते हैं। हज़रतगंज अमीनाबाद में उनको आई० टी० कालेज की छात्रा मिल जाती है। जब वे पूछते हैं कि आप कविता भी करती हैं, तब आपसे मतलब, कहकर वह चली जाती है। एक दिन जब उन्होंने वैसे ही उससे पूछा तब उसने जवाब दिया—"हाँ, करती तो हूँ। देखते नहीं इस मास की माधुरी में मेरी एक कविता प्रकाशित हुई है।"

सुनते ही खंजनजी को द्वेष हुआ। क्यों हुआ? राम जाने।

६ वर्ष बीत गये। खंजनजी अब विश्व-विद्यालय में हिन्दी-लेक्चरार हैं। अच्छी कविता भी करने लगे हैं। दरवाज़े पर नाक रगड़नेवालों की कमी नहीं रहती। कारण, वे दिग्गज कवियों में हैं। अब उन्हें उस छात्रा का ध्यान न रहा। समय की बलिहारी है। उनके पास तार के ज़रिए मनीआर्डर पहुँचा और थोड़े समय के पश्चात् लकड़बग्घाजी का पत्र। मैं भी सम्मेलन चल रहा हूँ। जाते समय हमारे घर होते हुए जाइएगा, साथ ही चलेंगे।

लकड़बग्घाजी का मकान रास्ते में पड़ता था। खंजनजी वहाँ पर उतर पड़े। जब चलने लगे, तब उन्होंने कहा—"श्रीमतीजी आपको पहचानती हैं, बुला रही हैं, जाइए मिल आइए।"

खंजनजी भीतर गये, सोचते थे, श्रीमतीजी मुझको जानती हैं, कब से? कवि-सम्मेलनों में तो कभी साथ गईं नहीं? आँगन में जाकर 'जय हिन्द' किया और नमस्ते सुनी। खंजनजी चुप।

"मुझे पहचाना?"

"नहीं।"

"क्या आप कविता भी करती हैं? आपसे मतलब?"

"देखते नहीं, इस मास की माधुरी में मेरी एक कविता प्रकाशित हुई है।"

भावों की टकराहट से स्मरण हो आया। करवट बदली। पसली का दर्द बढ़ा।

"मजीराजी, सिगरेट पिलाइए।"

स्वप्न चल रहा है। चिमिरिखीजी कह रही हैं। मैंने आपको आते ही पहचान लिया। एक काम कहती हूँ। मेरे तो भाग फूट गये, पति 'एम्० ए० बी० एफ़्' * मिले। फिर भी भारतीय आदर्श के नाते वे मेरे सब कुछ हैं। ईश्वर ने धन दिया है, ज़मीन दी है। मगर हम अबलाओं को पुलिस-जैसा अधिकार क्यों न दिया, जिससे हम कवि-सम्मेलनों में हूटिंग करनेवालों को विना वारंट जेल में ठूँस देतीं। मेरे चिरपरिचित, आपको याद है? एक बार आपने हज़रतगंज के चौराहे पर मुझको गिरने से बचाया था। आज वैसे ही श्रीपतिजी की लाज, आपको बचानी है। बेचारे सम्मेलनों में हूटिंग से उखड़ जाते हैं। मेरी यही भिक्षा है। आपके आगे ऐनक उतारती हूँ। इतना कहकर वे आँखों में 'प्रसाद के आँसू' लिये हुए रसोईघर में चली गईं और खंजनजी लोचनों में 'झरना' लिये हुए बाहर चले आये।

"मजीराजी, सिगरेट पिलाइए।" चिमिरिखी ने कहा था।

× × ×

खंजनजी चारपाई पर करवटें बदल रहे हैं। पास ही मजीराजी बैठे हैं। जब माँगते हैं, सिगरेट पिला देते हैं। कुछ देर खंजनजी चुप रहे। बाद में बोले—"इस बार जो कविता का संकलन प्रेस में जा रहा है, उसमें से एक प्रति, मैं अवश्य आपको भेंट करूँगा। भइया, मुझको घर तक और पहुँचा देना।"

पुस्तक का नाम सुनकर, मजीराजी की लार टप-टप टपकने लगी।

× × ×

दूसरे दिन समाचार-पत्रों में लोगों ने पढ़ा—

बेलीगारद विराट् कवि-सम्मेलन में गला वर्स्ट हो जाने से, असफल हुए, प्रथम श्रेणी के महाकवि खंजन।

---

* मैट्रिक अपियर्ड बट फ़ेल (Matric appeared but failed.)

नोट—'उसने कहा था' कहानी की पैरोडी।
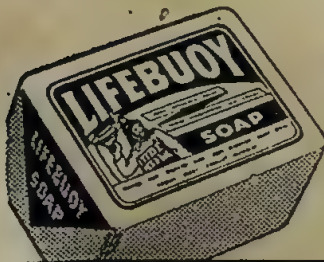
हमारा दृष्टिकोण

कठ उपनिषद् का रहस्य

ग्यारह प्रामाणिक उपनिषदों में कृष्ण यजुर्वेद का कठ-उपनिषद् भी एक है। यमराज और नचिकेता के संवाद द्वारा इसमें आत्मा और ब्रह्म के संबंध में हृदयग्राही और सहज वर्णन है। भगवान् शंकराचार्य ने इसकी व्याख्या की है। पर उस व्याख्या से इसका यथार्थ रहस्य स्पष्ट नहीं होता। इस उपनिषद् का मर्म क्या है, इसकी विशद विवेचना बंगाली विद्वान् श्रीअतुलचन्द्र लाहिड़ी ने एक लेख में की है। पाठकों के मनोरंजनार्थ हम उसी लेख के आधार पर ये पंक्तियाँ लिख रहे हैं।

इस उपनिषद् का आरम्भ नचिकेता की आख्यायिका से होता है। आख्यायिका नाटक के आकार में है, इसी लिए अनेक स्थल ऐसे हैं कि उन पर पाठक को स्वयं विचारना पड़ता है। भगवान् शंकराचार्य ने उन ऊह्य (विचारणीय) स्थलों को पूर्ण करके आख्यायिका को जो रूप दिया है, उससे सामंजस्य की रक्षा नहीं होती। जान पड़ता है, शंकर ने अवश्य ही पारसियों के धर्म और आचार की सहायता ली है। आख्यायिका के पूर्वापर-सामंजस्य की रक्षा करके यह बतला देने से ही आख्यायिका पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती है, यही दिखाने की हम चेष्टा करेंगे। आख्यायिका संक्षेप में इस प्रकार है—

वाजश्रवस् ऋषि ने पुण्यलाभ के लिए एक बड़ा भारी यज्ञ किया। उसमें उन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति दान कर दी। किन्तु वह ऋत्विक् आदि ब्राह्मणों को दक्षिणा में कुछ जराजीर्ण अधमरी गउएँ जब देने लगे, तब यह देखकर उनके पुत्र नचिकेता को बड़ा खेद हुआ। उसने अपने मन में सोचा, अगर पिता उसे दान कर दें तो उस पुण्य से उनका जराजीर्ण गउएँ देने का पाप दूर हो जायगा। यह सोचकर नचिकेता ने पिता से कहा—पिताजी, आप मुझे किसे दान करेंगे? तीन बार बार-बार यही प्रश्न करने पर पिता ने क्रुद्ध होकर कहा—तुम्हें मैं यमराज को दान करूँगा। यह सोचकर कि पिता ने क्रोध में ऐसी अनुचित बात कह दी है; पीछे कहीं पुत्रस्नेह के कारण अपने वचन को पूरा न करें, वह पिता से बार-बार यह अनुरोध करने लगे कि आप मुझे यम के पास भेज दीजिए।

इसके बाद के विवरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि वाजश्रवस् ने नचिकेता को मारकर यमराज के घर नहीं भेजा। पारसी लोग मृत शरीर को गिद्ध-कौए आदि पक्षियों के खाने के लिए जिस घर में रख देते हैं, और पारसी-भाषा में जिसे 'दख्न्य' कहते हैं, उसी घर में सम्भवतः नचिकेता भी भेज दिये गये थे (हमारे अनुमान से यह घटना उस युग की है, जब आर्यों और पारसियों की दो शाखाएँ अलग-अलग नहीं हुई थीं)। पारसियों के धर्म में यमराज मृतक लोगों को पुण्य-पाप का फल देनेवाले देवता नहीं हैं, पर आर्यों के धर्म में तो उन्हें मृतक लोगों को उनके कर्म के अनुसार कर्मफल देनेवाला माना है। इसलिए पारसियों का दख्न्य यमराज का ही घर है। पारसी लोग यह भी विश्वास करते हैं कि मृत व्यक्तियों का शरीर और आत्मा मरने के बाद तीन दिन तक मसु-नामक अपदेवताओं के आश्रय में रहता है, उसके बाद परलोक में ले जाया जाता है। पहले दिन भी कोई मृत देह दख्न्य में नहीं आया था, इसलिए यमराज कोई काम न रहने के कारण दो-तीन दिन के लिए कहीं और जगह चले गये। इसी अवसर में मृत मनुष्य के बदले एक जीता-जागता मनुष्य उनके घर में—दख्न्य में—आकर उपस्थित हुआ। वह ब्राह्मणकुमार नचिकेता था, जो पिता के दान कर देने से यम के पास आया था। यम के दूत कहकर हार गये, वह न कुछ खाता-पीता था और न वहाँ से जाता ही था। हारकर यम के दूतों ने स्वर्ग में जाकर यम को समाचार दिया। तीसरे दिन यमराज ने अपने लोक में आकर नचिकेता का आतिथ्य-सत्कार करना चाहा। यम ने कहा—"इमा रामाः सरथाः सतूर्याः न हीदृशा लंभनीया मनुष्यैः।" ये सब रथ पर सवार और तुरही (एक बाजा) लिये हुए सुन्दरी स्त्रियाँ तुम्हारे लिए हाज़िर हैं। ऐसी स्त्रियाँ मनुष्यों को नहीं मिल सकतीं। इससे जान पड़ता है, यमराज पारस के राजाओं के समान रथ पर बैठनेवाली, बाजे बजानेवाली नर्तकियों या अप्सराओं को साथ लेकर देवलोक को जाते-आते थे।

यम ने नचिकेता से मिलकर, अपनी ग़लती मानकर कहा—हे ब्राह्मणकुमार, तुमको मैं प्रणाम करता हूँ। तुम्हारे आशीर्वाद से मेरा मंगल हो। हे ब्राह्मण, तुमने पूजनीय अतिथि होकर भी तीन दिन मेरे यहाँ बिना कुछ खाये-पीये बिताये हैं, इसलिए तुम मुझसे तीन वर माँग लो।

तब नचिकेता ने पहला वर यह माँगा—"मेरे पिता गौतम * को मेरे सम्बन्ध में उत्कण्ठा न हो; वह प्रसन्न और क्रोधरहित हों। हे मृत्यु, तुम जब मुझे छोड़ दोगे, तब वह मुझे पहचानकर सादर सम्भाषण करें।"

इसी से मालूम होता है कि नचिकेता की मृत्यु नहीं हुई थी। वह जीवित अवस्था में सदेह यमराज के पास गये थे। पहले की उक्ति में अपनी मृत्यु या पुनर्जीवन तथा उनके लिए पिता के शोक का कोई उल्लेख नहीं है। उत्कण्ठा-हीनता (शान्तसङ्कल्पः) के लिए प्रार्थना है। मर गया है या जीवित है, इस बारे में जिसके लिए कोई निश्चय नहीं है, उसके लिए उत्कण्ठा होती है; किन्तु मरने के बारे में निश्चित ज्ञान होने पर शोक ही होता है, उत्कण्ठा नहीं होती। अस्तु, यमराज ने नचिकेता को यह वर दे दिया।

नचिकेता ने दूसरा वर माँगते समय यों कहा—

स्वर्गे लोके न भयं किञ्चनास्ति
न तत्र त्वं न जरया बिभेति।
उभे तीर्त्वाऽशनयापिपासे
शोकातिगो मोदते स्वर्गलोके॥
स्वर्गलोका अमृतत्वं भजन्ते॥

अर्थात् स्वर्गलोक में कोई भय नहीं है। हे मृत्यु, वहाँ तुम्हारा प्रभाव नहीं देख पड़ता। न बुढ़ापे का डर है। भूख और प्यास से रहित होकर, शोक से रहित होकर मनुष्य स्वर्गलोक में आनन्द प्राप्त करता है। स्वर्गलोक में रहनेवाले अमर हो जाते हैं।

स्वर्ग का ऐसा सुन्दर और सारगर्भ वर्णन बहुत कम मिलता है। मनुष्य जब काम में न आने लायक वस्त्र की तरह शरीर को छोड़कर परलोक में जाता है, तब वह नवीन तेजोमय शरीर को ग्रहण करे) जैसा कि ऋग्वेद के १०वें मंडल में कहा गया है), अथवा कोई शरीर न ग्रहण करे, वह शरीर के साथ-ही-साथ शरीर के पार्थिव-धर्म भूख-प्यास आदि को यहीं छोड़ जाता है। जब तक यह शरीर है, तब तक व्याधि, विपत्ति, मृत्यु और बुढ़ापा भी उसके साथ लगा है, प्रियजन की मृत्यु से उत्पन्न शोक भी पीछा नहीं छोड़ता। जब शरीर का वियोग होता है, तभी मनुष्य इन सब पृथ्वीतल के धर्मों से छुटकारा पा जाता है। रह जाता है केवल आत्मा का अमर जीवन तथा पुण्य और पाप का फल सुख अथवा दुःख। स्वर्गलोक में पुण्यात्मा लोग पार्थिव भय, जरा, मृत्यु, भूख-प्यास और शोक से अतीत होकर अमर जीवन और शाश्वत आनन्द का उपभोग करते हैं। किन्तु पापियों को नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ती हैं। इस प्रकार यह बात स्वयंसिद्ध है कि स्वर्ग पाने का उपाय केवल पुण्य ही है। किन्तु उपनिषद् के ऋषि ने नचिकेता के मुख से कहलाया है कि स्वर्ग एक विशेष अग्नि की उपासना के ही द्वारा मिलता है। द्वितीय प्रश्न में नचिकेता उसी अग्नि के विषय में जिज्ञासा प्रकट करते हैं। यमराज ने उस अग्नि और उसकी उपासना का हाल कहा और नचिकेता के नाम के अनुसार उस अग्नि का नाम "नाचिकेत" बतलाया।

यह नाचिकेत अग्नि क्या है? कठोपनिषद् में स्थान-स्थान पर अनेक प्रकार से इस अग्नि का वर्णन मिलता है। यथा—

१—"या इष्टका यावतीर्वै यथा वा"—जितनी इष्टका, जिस प्रकार की इष्टका और जिस प्रकार की आग का जैसे चयन करना होता है। यह स्थूल अग्नि का वर्णन है।

२—"लोकादिमग्निम्"—जो अग्नि सब लोकों का आदि है। "अनन्तलोकाप्तिमथोप्रतिष्ठाम्"—अग्नि अनन्तलोक अर्थात् अक्षय अविनाशी लोक की प्राप्ति का उपाय है। वह अनन्तलोक का आश्रय है। यहाँ अग्नि को विश्व का मूल उपादान कहा गया है।

३—"विद्धि त्वमेतं निहितं गुहायाम्"—तुम इस अग्नि को गुहा अर्थात् बुद्धि में प्रतिष्ठित जानो। "ब्रह्मज-ज्ञं देवमिड्यम्"—यह अग्नि ब्रह्म से उत्पन्न है; ज्ञानमय, द्युतिमान् और पूजनीय है। चतुर्थ वल्ली के आठवें श्लोक में कहा है—"अग्नि दो लकड़ियों के भीतर गर्भिणी स्त्रियों के द्वारा सुरक्षित गर्भ की तरह छिपा रहता है। सावधान मनुष्य हवि से नित्य उसकी पूजा करते हैं। यही तुम्हारे प्रश्न का उत्तर

---

* वाजश्रवस् गौतम गोत्र के थे। इसलिए उनका गोत्रसूचक नाम गौतम था।

है।" इसका भावार्थ यह हुआ कि आत्मा अग्निरूपी और अविनाशी है।

अग्नि का यह सब वर्णन ख़ी० पू० पंचम शताब्दी के ग्रीक दार्शनिक हेराक्लिटस के वर्णन से मिल जाता है। हेराक्लिटस ने कहा कि अग्नि ही विश्व का मूल उपादान है और अग्नि ही मानव के भीतर आत्मा के रूप से स्थित है। जिस अग्नि को हम छूते हैं, जिसका व्यवहार करते हैं, वही मनुष्य का आत्मा है और उसमें ज्ञान का अस्तित्व है, ऐसा कोई समझदार या पण्डित नहीं कह सकता। हेराक्लिटस ने पूर्वोक्त बातें जिस अग्नि के बारे में कही हैं, वह यह दृश्यमान स्थूल अग्नि नहीं है। अग्नि और आत्मा की एक साधारण प्रकृति है। सहज शब्दों में उसे गति, परिवर्त्तनशीलता अथवा परिणत होने की आकांक्षा कहा जा सकता है। ब्रह्म के सम्बन्ध में यह सृष्टिकर्तृत्व या Begining है। इसी से सारा जगत् और मनुष्य उत्पन्न हुआ है। स्थूल आँखों से ये बातें अग्नि में भली भाँति देखी जाती हैं, इसी से इसका निर्देश अग्नि नाम से किया गया है। कठोपनिषद् का नाचिकेत अग्नि हेराक्लिटस के अग्नि से अभिन्न है—यह ब्रह्म के सृष्टिकर्तृत्व का प्रतीक है।

हेराक्लिटस एशियामाइनर के उपकूल में निवास करते थे। इसकी सम्भावना कम है कि उनका मत भारत में आकर कठकशाखा का मत बन गया हो अथवा यजुर्वेद की कठकशाखा का मत एशियामाइनर में पहुँचा हो। किन्तु यह निश्चित है कि हेराक्लिटस ने अग्नितत्त्व को पारसी लोगों से ही जाना होगा; क्योंकि ख़ी० पू० ४६४ संवत् में पारसियों ने एशियामाइनर पर अपना अधिकार जमा लिया था।

पारसियों के धर्म-शास्त्र में पाँच प्रकार के अग्नियों का उल्लेख है। उनमें जो मंगलजनक अग्नि है, वह आध्यात्मिक है और ईश्वर के सामने सदा जलता रहता है। इन पाँच प्रकार के अग्नियों के अलावा पार्थिव बहराम (संस्कृत—ब्रह्म) अग्नि का भी वर्णन है। यह स्वर्गीय मगलजनक अग्नि का प्रतिरूप है और फ्रबाक, गुमास्प और बूर्जिन मित्रों, इन तीन अग्नियों के समन्वय से प्रतिष्ठित है। पारसी इसी की उपासना करते हैं। पारसियों के संसर्ग में आकर हेराक्लिटस ने जैसे अग्नि को ईश्वर के सृष्टिकर्तृत्व के प्रतीक रूप में ग्रहण किया, वैसे ही कठक-गाथा में भी पारसियों के प्रभाव से अग्नि को ब्रह्म की सृष्टि करनेवाली शक्ति का प्रतीक माना गया।

अनेक प्रकार से हमारे इस मत का समर्थन होता है। नाचिकेत अग्नि की उपासना एक कृष्ण-यजुर्वेद की कठकशाखा में ही देखी जाती है; और किसी वेद में नहीं है। यह विशेष अग्नि ब्रह्म का प्रतीक है, इसका आभास भी कठोपनिषद् के ऋषि यह कहकर देते हैं कि जीवात्मा और परमात्मा को छाँह और धूप के समान ब्रह्मज्ञानी लोग बतलाते हैं; पंचाग्नियाजी और त्रिनाचिकेतयाजी भी ऐसा ही कहते हैं। यहाँ पर हम देखते हैं कि त्रिनाचिकेतयाजी लोग वैदिक-पंचाग्नियाजी लोगों से भिन्न हैं और दोनों ही 'ब्रह्मवित्' से भिन्न होने पर भी 'ब्रह्मज्ञ' हैं। फिर कठोपनिषद् के ऋषि कहते हैं कि "याज्ञिक लोगों के ब्रह्म तक पहुँचने का सेतु नाचिकेत अग्नि है, यह हम जानते हैं और संसार के पार जाने की इच्छा रखनेवालों को भय के पार पहुँचानेवाले ब्रह्म को भी हम जानते हैं।" यहाँ पर नाचिकेत अग्नि को ब्रह्म का प्रतीक मानकर ही उसे ब्रह्म-लाभ का उपाय कहा है।

नाचिकेत अग्नि के वर्णन में 'त्रि' अर्थात् तीन शब्द का अनेक बार उल्लेख हुआ है। यथा—त्रिनाचिकेतस्त्रिभिरेत्य सन्धिं त्रिकर्मकृत्तरति जन्ममृत्यू।" अर्थात् जिस त्रिनाचिकेत-उपासक ने तीन के साथ सन्धि करके तीन कर्म किये हैं, वह जन्म और मृत्यु के पार हो जाता है। भगवान् शंकर ने इसकी व्याख्या में गड़बड़घोटाला कर दिया है। उन्होंने त्रिनाचिकेत शब्द के दो अर्थ किये हैं। शंकर ने 'त्रिभिः' का अर्थ किया है—पिता, माता, आचार्य; अथवा श्रुति, स्मृति और शिष्टजन; या प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम। इस त्रयी के त्रिक में कौन ठीक है, इसका वह निश्चित निर्देश नहीं कर पाये। अब कठोपनिषद् के ऋषि का किया हुआ वर्णन अगर पारसियों के 'बहराम' अग्नि के वर्णन से मिलाया जाय तो ठीक-ठीक मिल जाता है। पारसियों के मतानुसार 'बहराम' अग्नि तीन प्रकार के अग्नियों के समन्वय से स्थापित है। स्वर्गवासी देवता "अग्निगृह" में तीन बार दिन-रात में आते हैं, इस धारणा के कारण पारसी उपासक कम-से-कम प्रतिदिन तीन बार अग्नि की उपासना के लिए अग्निगृह में गमन करते थे।

पारसियों के धर्म-शास्त्र में यह भी लिखा है कि

यिम (यम) ने दाहक नाम के एक दस्यु के पास से 'फ्रवाक' अग्नि का उद्धार किया था और वही उसके रक्षक हैं। 'फ्रवाक' अग्नि 'बहराम' अग्नि का ही एक अंश है। यम ने विशेष भाव से क्यों नाचिकेत अग्नि की उपासना का उपदेश किया, इसका कारण यहाँ मिलता है। यहाँ तक कि नचिकेता नाम की एक व्युत्पत्ति भी पारसियों की प्राचीन ज़ेंद-भाषा में मिलती है। ज़ेंद-भाषा में 'चेत' शब्द सम्मानसूचक है। उसका अर्थ है उज्ज्वल। उदाहरण स्वरूप यिम को यिमचेत कहा गया है। यिम के एक प्रिय शिष्य का भी उसमें उल्लेख है। उसका नाम 'नसि' या 'नर्सि' (दोनों) है। नसिचेत या नचिकेता, दोनों एक ही शब्द हैं। दोनों को यम (यिम) का प्रिय शिष्य कहा गया है। जान पड़ता है, पारसियों के बहराम अग्नि को 'ब्रह्माग्नि' नाम से प्रचारित करने में पारसियों का ऋण स्वीकार करना होगा, यह सोचकर उसे आर्य-धर्म में 'नाचिकेत' नाम से प्रचारित किया गया।

पहले का अनुमान अगर सत्य है तो कठोपनिषद् के समय का भी निर्णय सहज होगा। ईसा के जन्म के ५०० वर्ष पहले पारसी सम्राट् दारायुष ने सिन्धु नद तक अपने राज्य को फैला लिया था। उस समय सिन्धुनद और भी पूर्व में बहता था। ग्रीक लोग जब पहले पहल (ख्री० पू० ३२७ सन् में) भारत में आये थे, तब वे कठकशाखा को पञ्चनद राज्य में स्थापित देख गये थे। दारायुष के भारत पर अधिकार करने के पहले ज़रदुस्त द्वारा प्रचारित पारसी धर्म के भारत में आने की—कम-से-कम हिन्दू-धर्म के ऊपर उसका प्रभाव पड़ने की—संभावना नहीं थी। अनुमानतः ख्री० पू० ४५०-३५० सन् के बीच कठोपनिषद् की रचना हुई होगी। इसी समय में बुद्धदेव के अनात्मवाद और चार्वाक के आत्मा के नश्वरवाद का प्रचार हुआ था। नचिकेता का तीसरा प्रश्न और उसका उत्तर देखने से जान पड़ता है कि उपनिषद् के ऋषि ने पञ्चनद प्रदेश अथवा उसके समीप के किसी स्थान में रहकर भी बुद्धदेव के अनात्मवाद की बातें शायद सुन रक्खी थीं। चार्वाकमत को, तो वह अवश्य ही जानते थे। इसका प्रमाण लीजिए। नचिकेता का तीसरा प्रश्न इस प्रकार है—

येयं प्रेते विचिकित्सा मनुष्ये
अस्तीत्येके नायमस्तीति चैके ॥
एतद्विद्यामनुशिष्टस्त्वयाऽहं
वराणामेष वरस्तृतीयः ॥

मरे हुए मनुष्य के सम्बन्ध में यह एक जो सन्देह है कि कोई कहता है—मृत्यु के बाद आत्मा रहता है और कोई कहता है कि नहीं रहता ; इसे मैं जानना चाहता हूँ। ठीक बात क्या है, यह आप मुझे बतलाइए। तीसरा वरदान यही मैं माँगता हूँ।

आजकल यह प्रश्न पूछना हमारे लिए जितना सहज है, प्राचीनकाल में उतना सहज नहीं था। धर्म की प्राचीन अवस्था में मनुष्य के मन में इस बारे में सन्देह ही नहीं उठा था। वेद में अथवा ब्राह्मण ग्रंथों में इस प्रकार का सन्देह नहीं दिखाई देता। इसके बहुत दिनों बाद आत्मा और परलोक के सम्बन्ध में मनुष्य सन्देह करने लगे। भारत में बुद्धदेव ने आत्मा के अस्तित्व को अस्वीकार किया और चार्वाकों ने जड़वाद का सहारा लेकर परलोक को नहीं माना। नचिकेता का तृतीय प्रश्न यही बतला रहा है कि उस समय लोगों के मन में आत्मा और परलोक के बारे में जमे हुए विश्वास की जड़ें हिलने लगी थीं।

यम ने नचिकेता की परीक्षा लेने के लिए अनेक प्रलोभन दिखाये और यह प्रश्न न करने का अनुरोध किया। कहा—तुम यह प्रश्न न करो, मैं तुमको इसके बदले में बहुत-सा धन, पुत्र-पौत्र, हाथी-घोड़े, गऊ, साम्राज्य और स्वर्ग की अप्सराएँ दूँगा। लेकिन नचिकेता जब किसी तरह न माने, तब यम ने नचिकेता की प्रशंसा की और आत्मा के तत्त्व का उपदेश किया।

किंतु प्रश्न है आत्मा के अमरत्व का। आत्मा अगर धर्माधर्म से अतीत—देश-काल से अतीत विषय है तो उसके अमर होने के बारे में कुछ विशेष कहने का प्रयोजन नहीं जान पड़ता। अद्वैतवादी वेदान्ती यही कहकर तो आत्मा का अमर होना प्रमाणित करते हैं। इसी से उपनिषत्कार ऋषि ने नचिकेता के द्वारा चौथी बार प्रश्न कराया—

अन्यत्र धर्मादन्यत्राधर्मादन्यत्रास्मात्कृताकृतात्।
अन्यत्र भूताच्च भव्याच्च यत्तत्पश्यसि तद्वद ॥
(२-१४)

धर्म और अधर्म से परे, इस कार्य-कारणशृंखला (जगत् प्रपञ्च) से परे, भूत और भविष्यकाल से परे अगर कुछ आप देखते हैं तो वह मुझे बताइए।

किन्तु इसके उत्तर में यम ने आत्मा को इस तरह का विषय नहीं कहा। यम ने कहा—ओ (प्रणव)

से जिसका प्रतिपादन होता है, वह ब्रह्म ही ऐसा विषय है, जिसे धर्माधर्म से, कार्य-कारण-श्रृंखला से और भूत-भविष्यकाल से परे कहा जा सकता है। उक्त प्रश्न के उत्तर में ऋषि ने आत्मा का उल्लेख नहीं किया, केवल ब्रह्म का ही किया है। इससे जान पड़ता है, वह अद्वैतवादी नहीं हैं। इधर आत्मा के साथ ब्रह्म का सम्बन्ध दिखाने के लिए कौशल से उन्होंने ब्रह्म के विषय की भी अवतारणा कर दी। ऊपर उद्धृत श्लोक के आगे तीन श्लोकों में ब्रह्म की चर्चा करने के बाद फिर आत्मा का विषय छेड़ दिया गया है।

अब हमें यह देखना है कि यम ने नचिकेता के तीसरे प्रश्न का क्या उत्तर दिया। यम के कथन का सारांश यह है कि मृत्यु के बाद कोई नहीं रहता या रहता है, यह जानने के लिए सबसे पहले यह जानना होगा कि आत्मा क्या है। किन्तु आत्मा का ज्ञान तर्क के द्वारा नहीं हो सकता। उसे अपरोक्ष भाव से जानना होता है। जो लोग विषयों में आसक्त हैं, पापात्मा हैं, जिनका चित्त एकाग्र नहीं है, उनका मन केवल जड़ जगत् में ही फँसा रहता है। वे आत्मा को नहीं जान सकते। मन को विषयों में संयत करके अपने भीतर आत्मा का दर्शन करना होता है। (अध्यात्मयोगाधिगमेन मत्वा २।१२)। "आत्मा बैठा रहकर भी दूर गमन करता है", "शयन करके भी सर्वत्र जाता रहता है", अर्थात् आत्मा को तुम स्थिर भी कह सकते हो और यह ज्ञान के द्वारा सुदूर अतीत और भविष्य तक पहुँच सकता है, इसलिए उसे दूर-गामी भी कह सकते हो। उसको जड़ की तरह क्षुद्र नहीं कहा जा सकता। वह व्यापक और महान् है। और जातियों की कौन कहे, उस समय की दोनों श्रेष्ठ जातियाँ जो ब्राह्मण और क्षत्रिय थीं, उनसे भी आत्मा को श्रेष्ठ कहा है। मृत्यु उसके लिए अत्यन्त तुच्छ विषय बतलाया गया है। यथा—"ब्राह्मण और क्षत्रिय जिसका अन्न हैं, मृत्यु जिसका उपसेचन (अग्नि में घृत की तरह) है।" (२।२५) *

आत्मा के अमर होने की यह एक युक्ति दी गई। अब और एक युक्ति दी जाती है। चार्वाक लोग कहते थे, कई चीज़ों को मिलाने से जैसे मदिरा में नशा करने की शक्ति उत्पन्न हो जाती है और उन चीज़ों को अलग-अलग कर देने से वह मादकता की शक्ति नष्ट हो जाती है, वैसे ही पंचभूतों के शरीररूप से मिलित होने के फलस्वरूप आत्मा (चेतन) का जन्म होता है और वे पंचभूत जब अलग-अलग हो जायँगे, तब शरीर के साथ आत्मा भी नष्ट हो जायगा। स्थूल बुद्धिवाले लोग यह स्थूल युक्ति सदा से देते आ रहे हैं।

उपनिषद् के ऋषि ने एक श्लोक में इसका बहुत अच्छा उत्तर दिया है। यम कहते हैं—

न जायते म्रियते वा विपश्चि-
न्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

अर्थात् आत्मा ज्ञानमय है, इसलिए (जड़ की तरह) इसका जन्म और मृत्यु, कारण से उत्पत्ति और स्वतन्त्र पदार्थ में परिणति नहीं है। (जड़ के साथ तुलना में) यह जन्मरहित, नित्य, क्षय और वृद्धि से रहित है। शरीर का नाश होने पर यह नष्ट नहीं होता।—यही बात भगवान् कृष्णचन्द्र ने भी गीता के एक श्लोक में कही है। दोनों श्लोकों में दो-चार शब्दों का ही हेरफेर है।

इस विषय को ज़रा और साफ़ करके समझना होगा। स्थूल पदार्थ, चाहे प्राणवान् हो चाहे अचेतन, उसमें कुछ धर्म देखे जाते हैं। वे गुण स्थूलत्व के साथ अविच्छेद्यभाव से संयुक्त हैं। स्थूल पदार्थ का जन्म और मृत्यु होती है अर्थात् वह किसी पदार्थ से उत्पन्न होता है और एक पदार्थ से दूसरे पदार्थ में परिणत भी होता है। किन्तु आत्मा में जड़त्व का कोई भी धर्म नहीं है। वह निरवच्छिन्न ज्ञानमय है। अतएव जन्म-मृत्यु आदि जड़ के गुण-धर्म उसमें नहीं रह सकते। आत्मा, शरीर की तरह, पिता-माता से नहीं उत्पन्न होता। शरीर की तरह आत्मा का क्षय या वृद्धि नहीं है, मृत्यु नहीं है। अतएव शरीर के नष्ट होने पर उसके साथ आत्मा नहीं नष्ट हो सकता।

कठोपनिषद् की दूसरी वल्ली में आत्मा का स्वरूप विस्तृत भाव से वर्णन करके और ब्रह्म के साथ आत्मा के सम्बन्ध का निर्णय करके आत्मा की अमरता का प्रतिपादन किया गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च।
बुद्धिन्तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥ ३। ३

---

* यह व्याख्या प्रकरण के अनुसार की गई है। जो लोग प्रकरण को नहीं मानते, उन्होंने इसकी व्याख्या दूसरी ही तरह से की है।

इन्द्रियाणि हयान्याहुर्विषयांस्तेषु गोचरान् ।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥ ३ । ४

अर्थात् आत्मा को रथी, शरीर को रथ, बुद्धि को सारथी, मन को घोड़ों की रास, इन्द्रियों को घोड़ा और विषयों को उनका मार्ग कहते हैं। इन्द्रिय, मन और बुद्धि से युक्त आत्मा को मनीषी लोग भोक्ता (भोग करनेवाला) कहते हैं। यह पार्थिव जीवन में मन, बुद्धि और इंद्रियों के साथ आत्मा का सम्बन्ध दिखाने के लिए एक उपमा है। अगर कोई इस उपमा के बाहर जाकर यह कहे कि आत्मा तो निष्क्रिय-निश्चेष्ट है, मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ जड़ से उत्पन्न हैं और मन, बुद्धि और इन्द्रियों का नाश होते ही आत्मा छुटकारा पा जायगा तो इस उपमा के गौरव की रक्षा शायद न हो सकेगी। अब यह देखना चाहिए कि इस उपमा से हम क्या और कितना समझ सकते हैं। जिनके यहाँ अपनी घोड़ा-गाड़ी है, वे जानते हैं कि कोचवान, लगाम और घोड़े अगर ठीक और अच्छे नहीं हुए तो उस पर सवार होनेवाले के लिए सदैव विपत्ति की आशंका रहेगी। इसलिए गाड़ी का मालिक कोचवान, घोड़े और लगाम अच्छी छाँटकर रखता है। किन्तु मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ छाँटकर अन्य स्थान से नहीं प्राप्त की जा सकतीं। वे पैत्रिक सम्पत्ति की तरह हमें शरीर के साथ ही मिलती हैं। इसलिए उन्हें आप ही सिखाना पड़ता है। यहीं पर आत्मा का कर्तृत्व है। दूसरी बात यह कि सवार कोचवान को यह हुक्म देता है कि गाड़ी को अमुक स्थान पर ले चलो। जब तक वह हुक्म नहीं देता; गाड़ी जहाँ की तहाँ खड़ी रहती है। सवार की आज्ञा ही हर घड़ी काम करती है और कोचवान के माध्यम से लगाम और घोड़ों तक पहुँचती है। यहाँ पर भी सवार का ही कर्तृत्व है। तीसरे जब कोई गाड़ी से उतरकर अपने घर में प्रवेश करता है, तब भी उसे एक प्रकार की गाड़ी की ज़रूरत होती है। वह उसकी अपनी शरीररूपी सवारी है। उसके दोनों पैर और हाथ घोड़े हैं, मस्तिष्क सारथी है और स्नायु-मण्डल लगाम। वह चाहे जो काम करे, ये तीनों चीज़ें आवश्यक होती हैं। वैसे ही मनुष्य जब अच्छे सारथी और संयत मन की सहायता से संसार-मार्ग को पार करके सर्वव्यापी परमेश्वर के परमपद को प्राप्त होता है, तब वह अगर अविच्छिन्न निद्रा में मग्न न रहे, अथवा उसका अस्तित्व अगर विनष्ट न हो तो उस समय भी उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियों के लिए काम बना रहता है। हाँ, वह काम पार्थिव विषयों से नहीं, आध्यात्मिक विषय से सम्बन्ध रखता है। अतएव मनुष्य की ऐसी कोई अवस्था नहीं देखी जाती, जिसमें उसके मन, बुद्धि और इन्द्रियाँ बेकार रहें।

ब्रह्म के साथ आत्मा का कैसा सम्बन्ध है, इसे कठोपनिषद् के ऋषि ने इस प्रकार वर्णन किया है—

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः ।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान्परः ॥ ३ । १०
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात्पुरुषः परः ।
पुरुषान्न परं किञ्चित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥३।११

अर्थात् इन्द्रियों से उनके विषय, विषयों की अपेक्षा मन, मन से बुद्धि, बुद्धि से महान् आत्मा, आत्मा से अव्यक्त और अव्यक्त से पुरुष श्रेष्ठ है। पुरुष से श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है। वही चरम सीमा और परमगति है।

इसके आगे फिर दो श्लोकों में यही कहा गया है; किन्तु वहाँ विषयों की चर्चा नहीं है; बुद्धि की जगह 'सत्त्व' शब्द है और पुरुष को 'व्यापकोऽलिंगः' (सर्व-व्यापी और अशरीरी या निर्गुण) कहा गया है। अस्तु, पुरुष—अव्यक्त—महान् आत्मा—बुद्धि—मन—विषय—इन्द्रिय, यही क्रम है। इनमें अन्त के चारों के विषय में पहले कहा जा चुका है। यहाँ पर प्रथम तीनों के विषय में कुछ कहने की ज़रूरत है। पहले ब्रह्म का निर्देश 'ओं' शब्द से किया गया है; किन्तु यहाँ उसे 'पुरुष' कहा है। पुरुष कहने से ब्रह्म के व्यक्तित्व का आभास पाया जाता है। ब्रह्म का जो सृष्टि का संकल्प या इच्छा है, उसे 'अव्यक्त' कहते हैं। जर्मन दार्शनिकों के आइडिया (Idea) के साथ यह मिल जाता है। किन्तु जर्मन दार्शनिकों ने आइडिया को ही ईश्वर कहा है; किन्तु भारतीय ऋषि ने उसके पीछे पुरुष को देखा है; क्योंकि संकल्प या इच्छा किसी व्यक्ति के बिना रह नहीं सकती। सृष्टि के संकल्प से जिसकी उत्पत्ति है, जो अव्यक्त की परिणति और विकास है, जिसे अँगरेज़ी में Becoming या Real-isatiom of Idea कहते हैं, वही हमारे यहाँ का महान् आत्मा है। जर्मन दर्शन के साथ इसकी भिन्नता यही है कि जर्मन दर्शन ने पहले जड़ की सृष्टि का निर्देश करके फिर आत्मा की सृष्टि की कल्पना की है; किन्तु हमारे यहाँ महान् आत्मा ही सबसे पहले है और वही संसार के सभी पदार्थों में परिणत हुआ है।

पूर्वोक्त क्रम में जीवात्मा का स्थान नहीं देखा जाता। किन्तु दूसरे स्थान पर जीवात्मा का उल्लेख है—

ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके
गुहां प्रविष्टौ परमे परार्द्धे ।
छायातपौ ब्रह्मविदो वदन्ति ॥ ३ । १

अर्थात् ब्रह्मज्ञानी लोग जीवात्मा और ब्रह्म को छाया और आतप (धूप) के समान कहते हैं । आत्मा अपने किये हुए कर्मफल का भोग करता है और दूसरा (ब्रह्म) केवल देखता है—द्रष्टा है । जीवात्मा और ब्रह्म (परमात्मा) दोनों ही बुद्धि और ब्रह्म के रहने के स्थान श्रेष्ठ हृदयाकाश में रहते हैं ।

आगे उपनिषद् के ऋषि कहते हैं—

यथादर्शे तथात्मनि यथा स्वप्ने तथा पितृलोके
यथाप्सु सदृशे परीव तथा गन्धर्वलोके
छायातपाविव ब्रह्मलोके ॥

अर्थात् जैसे दर्पण में प्रतिबिंब देखा जाता है, वैसे ही आत्मा में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब देखा जाता है । पितृ-लोक मनुष्य की कल्पना का विषय है, इसलिए वहाँ जो ब्रह्म का आभास पाया जाता है, वह स्वप्न देखने के समान है । तरंगों से क्षोभ को प्राप्त जल के भीतर जैसे सूर्य का प्रतिबिंब स्पष्ट नहीं देखा जाता, वैसे ही चंचल नृत्य-गीत परायण गन्धर्वों के बीच ब्रह्म का आभास स्पष्ट रूप से नहीं पाया जाता । ब्रह्मलोक अर्थात् ब्रह्म के प्रकाश में जीवात्मा और परमात्मा को साफ़ देखा जाता है, छाया और आतप की तरह ।

कुछ टीकाकारों ने छाया और आतप का अर्थ अंधकार और प्रकाश करके गड़बड़ कर दी है । छाया तो प्रकाश का ही क्षीण प्रकाश है । दोपहर को जब कोई मैदान धूप से प्रकाशित होता है, तब पथिक को देख पड़ता है कि किसी वृक्ष के नीचे छाया मौजूद है । यह छाया धूप का ही क्षीण प्रकाश है । वह धूप से ही उत्पन्न है और उसी के आश्रय में रहती है । बिना धूप के छाया का अस्तित्व ही नहीं होता । धूप और छाँह का एक ही स्वरूप है ; किन्तु धूप विशाल और पूर्ण और छाया क्षुद्र और अपूर्ण है । ब्रह्म के साथ जीवात्मा का ऐसा ही संबंध है । जीवात्मा ब्रह्म का ही एक स्वरूप है, किन्तु क्षुद्र और अपूर्ण है । जीवात्मा ब्रह्म से ही उत्पन्न है, ब्रह्म के आश्रित और ब्रह्म के द्वारा ही संजीवित है । आत्मा के साथ ब्रह्म का और आत्मा के साथ महान् आत्मा का यही सम्बन्ध है; क्योंकि ब्रह्म ही महान् आत्मा के रूप से प्रकाशित है । इसी लिए महान् आत्मा के स्वरूप-वर्णन के साथ-साथ आत्मा के स्वरूप का भी वर्णन पूर्वोक्त स्थल में हो गया है । छाया और आतप की उपमा का यही रहस्य है ।

यह विषय इस श्लोक में भी कहा गया है—

य इमं मध्वदं वेद आत्मानं जीवमन्तिकात् ।
ईशानं भूतभव्यस्य ततो न विजुगुप्सते ॥
एतद्वै तत् ॥ ४ । ५

अर्थात् जो इस कर्मफल का भोग करनेवाले जीवात्मा को अतीत तथा भविष्य के नियामक ब्रह्म का निकटस्थ जानता है, वह फिर उनसे कुछ छिपाना नहीं चाहता । यहीं तुम्हारे पूछे हुए प्रश्न का उत्तर है ।

यहाँ मूल प्रश्न है आत्मा की अमरता । शरीर अगर आत्मा के लिए रथ के समान है तो रथी जैसे रथ को छोड़कर भी जीवित रहता है, वैसे ही आत्मा भी शरीर को छोड़कर अमर रहता है । दूसरे छाया जैसे धूप का रूप लेकर उसकी गोद में उसके आश्रित रहती है—धूप के विनाश के बिना उसके विनाश की संभावना नहीं है, वैसे ही आत्मा महान् आत्मा के स्वरूप को लेकर उसी की गोद में आश्रित है । महान् आत्मा के विनाश बिना उसका विनाश नहीं हो सकता ।

कठोपनिषद् को समझने में जो कुछ गड़बड़ हुई है, वह प्रधानतः तीन विषयों में । १—प्रकरण को न देखकर अर्थ करने के कारण ; २—आत्मा शब्द को समझने में; ३—एतद्वै तत् का अर्थ करने में । पहले विषय पर पहले ही कहा जा चुका है । दूसरे, आत्मा के विषय में गड़बड़ होने का कारण यह है कि इस उपनिषद् में आत्मा शब्द का व्यवहार भिन्न-भिन्न स्थलों में भिन्न-भिन्न अर्थों में किया गया है । यथा—ब्रह्म, जीवात्मा (आत्मानं रथिनं विद्धि), बुद्धि (आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं, यच्छेद् ज्ञानमात्मनि) और महान् आत्मा इन चार अर्थों में आत्मा शब्द का व्यवहार हुआ है । शरीर, मन और इन्द्रियों को आत्मा नहीं कहा गया । किन्तु आत्मा शब्द का कहाँ किस अर्थ में व्यवहार हुआ है, यह आसानी से समझा जा सकता है ; कष्टकल्पना की आवश्यकता नहीं । तीसरा "एतद्वै तत्" शब्द है, जिसका अर्थ है, यही तुम्हारे पूछे हुए प्रश्न का उत्तर है । भगवान् शंकराचार्य ने इसका अर्थ करते समय आत्मा, मुक्ति, परमात्मा, सबको एक में मिलाकर अद्वैतवाद का प्रतिपादन किया है । उनके अनुयायियों ने भी उसी मार्ग से चलकर भूल की है । शंकर ने अर्थ किया—"यही वह वस्तु है । वह क्या है ? जो नचिकेता ने जानना चाहा था, देवता आदि को भी

जिसके बारे में संशय है, जो धर्म आदि से पृथक् विष्णु का परमपद है और जिससे श्रेष्ठ और कुछ नहीं है, वही यह परिज्ञात वस्तु है।" किन्तु नचिकेता ने स्पष्ट ही दो प्रश्न किये हैं। प्रथम यह कि मृत्यु के बाद आत्मा रहता है या नहीं (आत्मा क्या है, यह नहीं); दूसरा यह कि धर्माधर्म, जगत् और काल से परे कुछ है या नहीं। एतद्वै तत् शब्द इन्हीं दोनों प्रश्नों का उत्तर है।

अब आइए देखें, कठोपनिषद् के विषय कहाँ तक युक्तियुक्त हैं।

१—नाचिकेत अग्नि की उपासना। नाचिकेत अग्नि की महान् आत्मा के प्रतीक रूप में और ब्रह्म-लाभ के उपाय रूप में उपासना करनी चाहिए। यही कठोपनिषद् के ऋषि का मत है।

किन्तु प्रतीक को देखा और समझा जा सकता है; पर उसकी उपासना व्यर्थ है। प्रतीक की एक ज्ञानपूर्ण पुस्तक के साथ तुलना की जा सकती है। ग्रन्थकार ने उसे मनुष्य को ज्ञान की शिक्षा देने के लिए लिखा। मनुष्य उसे पढ़कर, समझकर उसके ज्ञान को हृदयंगत कर लेता है। बस, पुस्तक का काम समाप्त हो जाता है। इसके बाद चाहे उसको आलमारी के अंदर बंद कर रक्खो और चाहे फाड़कर फेंक दो, कोई हानि नहीं। किन्तु यदि कोई उसे पढ़कर या बिना पढ़े ही नित्य उसकी पूजा करे, तो उससे कोई लाभ न होगा। उसका ऐसा करना व्यर्थ ही सिद्ध होगा। ग्रन्थकार अगर अपनी पुस्तक को पुजते देखे तो वह अवश्य ही पछताकर कहेगा कि हाय, मैंने मनुष्य को ज्ञान देना चाहा था, पर वह अपनी जड़ बुद्धि के कारण जड़ की पूजा कर रहा है। इसी तरह प्रतीक का उद्देश्य ब्रह्म के सम्बन्ध में ज्ञान का उपदेश देना है। उसकी उपासना से उस ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती—न ब्रह्म ही की उपासना होती है।

२—कठोपनिषद् में आत्मा की जो व्याख्या दी गई है, उसका सब अंशों में समर्थन नहीं किया जा सकता। ऋषि ने जीवात्मा को विशाल आतप की गोद में छाया की तरह ब्रह्म से उत्पन्न और उसका आश्रित कहा है। किन्तु धूप की गोद में छाया का जैसे कोई कर्तृत्व नहीं है, वैसे ही इस उपमा से जीवात्मा का भी कोई कर्तृत्व नहीं सिद्ध होता। किन्तु जीवात्मा की साधना न रहने पर, प्रेम का त्याग करके श्रेय को अथवा अविद्या का त्याग करके विद्या को ग्रहण करने की संभावना न रहने पर, धर्म नहीं रहता। लेकिन आतप और छाया की उपमा से तो जीवात्मा महान् आत्मा के द्वारा इस तरह आवृत और अनुप्रविष्ट है कि वह स्वयं कुछ कर ही नहीं सकता।

वास्तव में यह दोष प्राचीन और नवीन सभी ज्ञान-मार्गों में मौजूद है। केवल ज्ञान के द्वारा मानव-सृष्टि की व्याख्या नहीं की जा सकती। यह दोष दूर करने का एकमात्र उपाय है, जो आगे लिखा जाता है। ब्रह्म अनन्त, पूर्ण, सर्वव्यापी, सर्वाश्रय और एकमेवाद्वितीयम् हैं। किन्तु उन्होंने स्वेच्छा से अपनी शक्ति को संयत करके मानव को स्वाधीन और आंशिक रूप से स्वतंत्र किया है। क्यों किया? अपने प्रेम की परितृप्ति के लिए, अपना असीम पुण्यस्वरूप उसमें प्रकट करने के लिए। मनुष्य उनके समान आत्मज्ञानसम्पन्न और स्वाधीन हुए बिना प्रेम का पात्र और पुण्य का अधिकारी नहीं हो सकता। अतएव प्रेम और पुण्य के बिना केवल ज्ञान के द्वारा मनुष्य के कर्तृत्व, अहंज्ञान और स्वाधीनता की व्याख्या नहीं की जा सकती। उपनिषद् के ऋषि ने इधर ध्यान नहीं दिया, इसी से मानवात्मा के सम्बन्ध में सन्तोषजनक व्याख्या नहीं दे सके।

यह होने पर भी एक विषय में उपनिषद् का मूल्य बहुत अधिक है। सभी उपनिषदों का यह मत है कि ब्रह्म का अवस्थान आत्मा में है। ब्रह्म को दूर खोजने की आवश्यकता नहीं; वह अपने हृदय के भीतर ही मिल जाता है। इस प्रकार मानव को बाहर के सब अनुष्ठान त्याग करके आत्मज्ञान और आत्मा में अवस्थित ब्रह्म की साधना करने का उपदेश दिया गया है। पहले नाचिकेत अग्नि की उपासना का उपदेश देकर बाद को ऋषि ने स्वयं उसकी असमर्थता इन शब्दों में प्रकट कर दी है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारका
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः॥

अर्थात् सूर्य, चन्द्र, तारागण और बिजली की भी ज्योति ब्रह्म को प्रकाशित नहीं कर सकती। तब यह अग्नि कैसे प्रकाशित करेगा? ब्रह्म का अधिष्ठान आत्मा है, यह अनेक बार कहा गया है—

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीराः
तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्॥

जो ज्ञानी लोग ब्रह्म को आत्मा में स्थित देखते हैं, उन्हीं को शाश्वत सुख मिलता है; औरों को नहीं।

Regd. No. A.—313

माधुरी
सम्पादक
रूपनारायण पांडेय

संस्थापक

स्व० श्रीविष्णुनारायण भार्गव

अध्यक्ष

राजा (मुंशी) रामकुमार भार्गव, मुंशी तेजकुमार भार्गव

सम्पादक

रूपनारायण पाण्डेय

एक अंक का मूल्य ॥)

लेख-सूची

"HIS
MASTER'S
VOICE"

महात्माजी का चमत्कार

प्रेमवटी ने अपनी खूबी से सारी दुनिया में तहलका मचा दिया

कांग्रेस की राय

(प्रेमवटी वास्तव में एक अद्वितीय औषधि है। पहले हमें इस औषधि पर इतना विश्वास न था, किन्तु जब हमने इसका स्वयं परीक्षण किया तब हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह औषधि विज्ञापन में दिये गये तमाम रोगों की केवल एकमात्र अचूक औषधि है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में यह कम्पनी इससे भी उत्तम औषधियों का निर्माण कर जनता को लाभ पहुँचायेगी।—कांग्रेस, देहली)

भारत के योगियों ने वनों और पर्वतों की कन्दराओं में रहकर वे चमत्कार दिखलाये हैं जिनसे बड़े-बड़े वैज्ञानिक और चिकित्सक हैरत में आ गये हैं। आधुनिक चिकित्सकों को जब कोई रोग की औषधि से सफलता नहीं मिलती तब वह उसे लाइलाज घोषित कर देते हैं। परन्तु महात्मा लोग जड़ी-बूटियों की सहायता से मुर्दे को भी जिला देने का दावा करते हैं। भाइयो, इसे ध्यान से पढ़ो तथा अपने इष्ट-मित्रों को सुनाओ। यह लेख जो लिखा गया है, कोई गप्प नहीं है बल्कि मेरे जीवन की चन्द घटनायें हैं जो आपके सम्मुख रखता हूँ। मेरा जन्म एक धनी परिवार में हुआ। अपने पिता का लाड़ला पुत्र होने के कारण मैं धन और व्यसन में घिरा रहता था, लेकिन फिर भी मैं सुखी नहीं था। कुसङ्गति में पड़कर मुझे जरियान और प्रमेह रोग हो गया। पहले तो एक दो साल मैंने लोकलाज के कारण अपना भेद छिपाये रखा, परन्तु रोग ने भयानक सूरत अख़्तियार कर ली। अब मैं घबरा उठा। संसार में चारों ओर अँधेरा मालूम होने लगा, तब मेरी आँखें खुलीं। इलाज शुरू किया गया। बड़े-बड़े डाक्टरों, हकीमों, वैद्यों के फ़ीसरूप में और क़ीमती दवाइयों के ख़रीदने में पानी की तरह रुपया बहाने लगा, फिर भी मैं निराश ही रहा। अब मैं घबरा उठा और चारों तरफ़ से अन्धकार दिखलाई देने लगा और सोचने लगा कि इस दुःखमय जीवन से मर जाना बेहतर है।

पर यह बीस साल पहले की बात है। अब आज मैं ख़ुश हूँ। आज उस परमात्मा की कृपा से आरोग्य हूँ और मेरे तीन स्वस्थ बच्चे भी हैं जो बिलकुल आरोग्य हैं।

हुआ क्या! मुझमें इतना परिवर्तन कैसे हो गया? यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि मैंने एक दवा सेवन की। जो दवा मैंने सेवन की, वह एक महान् त्यागी परोपकारी साधु की बनाई हुई थी जो समय काटने के लिए गाँव से कुछ दूर एक ईंट के खेड़े पर रम रहे थे। यह मेरा सौभाग्य था कि और लोगों के साथ मैं भी दर्शनों के लिए जा पहुँचा। दैवी शक्ति से मेरे दुःखी जीवन के पिछले अध्याय उनके हृदयपट पर खिंच गये और मेरी आँखों ने हृदय का सारा भेद अपने आप उस महान् पुरुष पर प्रकट कर दिया। मेरी कच्ची उम्र पर महात्मा को दया आई और उन्होंने मुझे कुछ जड़ी-बूटियाँ एकत्र करने की आज्ञा दी। मैंने वैसा ही किया और तब उनके सम्मुख ही मुझे उनके आदेश और निजी देख-रेख में 'प्रेमवटी' तैयार करनी पड़ी। यद्यपि मुझसे ४० दिन लगातार 'प्रेमवटी' का सेवन करने को कहा गया था, तथापि केवल बीस दिन के सेवन से ही मुझमें परिवर्तन हो गया। मेरी कमज़ोरी और तमाम गुप्त बीमारियाँ जड़ से दूर हो गईं। पीले और उदास मुख पर लाली दौड़ने लगी, आँखों में उन्माद झूमने लगा और हृदय में जवानी का जोश उमड़ आया। महात्माजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के साथ ही अपने वादे को पूरा करने के लिए दुःखीजनों के निमित्त पिछले बीस साल से लगातार मैं इस प्रयोग को मुफ़्त बाँट रहा हूँ। यह अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भी छप चुका है। मुझे हर्ष है कि इस अमृत-तुल्य प्रयोग ने सैकड़ों की प्राण-रक्षा की, हज़ारों को मौत के मुँह से निकाला और लाखों का इससे भला हुआ। महात्मा-प्रदत्त 'प्रेमवटी' का नुस्ख़ा इस प्रकार है। नोट कर लें—

शुद्ध त्रिफला ५ तोला, त्रिकुट चूर्ण ५ तोला, शुद्ध सूर्यतापी शिलाजीत ५ तोला, शुद्ध बङ्गभस्म ६ माशा, असली सूर्यछाप केसर ३ माशा, असली अकरकरा ६ माशा, असली नेपाली कस्तूरी ३ रत्ती। इन सब औषधियों को कूट-छानकर खरल में डालकर ऊपर से शीतलचीनी का तेल २० बूँद, सन्दल तेल २० बूँद, बिरोजे का तेल २० बूँद एक-एक करके मिलाये। उसके बाद ताजी ब्राह्मी बूटी के अर्क में १२ घण्टा घोटकर झरबेरी बेर के बराबर गोलियाँ बनावें और छाया में सुखा लें। एक-एक गोली सुबह-शाम पाव भर गाय के दूध में एक तोला शक्कर मिलाकर सेवन करें। इसकी प्रशंसा हम अपने ही मुँह से नहीं करते, बल्कि बड़े-बड़े वैद्यों, डाक्टरों, हकीमों, सेठ-साहूकारों तथा रईसों, ज़मींदारों, सरकारी आफ़िसरों तक ने इसकी सराहना की है। वैद्यराज श्रीयमुनादत्त शर्मा, झोंकर का कहना है कि यह बूटी धातु के पतलेपन, २० प्रकार के प्रमेह के लिए अक्सीर है।

'प्रेमवटी' में कोई हानिकारक चीज़ नहीं पड़ती और गुणकारी चीज़ें नुस्ख़े से ही प्रकट हैं। यह औषधि वीर्य का पतलापन, बीसों प्रकार के प्रमेह, पेशाब के साथ चूने की तरह वीर्य का जाना, पाख़ाने के समय धातु का जाना, स्वप्नदोष, सुस्ती, कमज़ोरी, नामर्दी, डाइब्टीज़, मधुमेह, सूज़ाक, जवानी में बुढ़ापे की-सी हालत हो जाना, असली ताक़त की कमी, स्मरणशक्ति कमज़ोर पड़ जाना तथा स्त्रियों के भी प्रदरसम्बन्धी रोग दूर करके अत्यन्त ताक़त देती है और नस-नस में नवजीवन का सञ्चार करती है। अन्त में उन भाइयों को, जिन्हें फ़ुरसत नहीं मिलती या शुद्ध औषधि प्राप्त नहीं कर सकते, यह प्रयोग स्वयं बनाकर दाम के दाम में भेजने की व्यवस्था की है। ४० दिनों के लिए पूरी ख़ूराक विधिवत् ८० गोलियों का मूल्य ५।=) रु० और २० दिन के लिए ४० गोलियों के दाम ३=) डाकख़र्च ।॥~)

पता—बाबू श्यामलालजी रईस, प्रेमवटी आफ़िस नं० (M. L.) धनकुट्टी, कानपुर

वर्ष २४ खंड २] तु० सं० ३२२ ; ज्येष्ठ, सं० २००३ वि० ; जून, १९४६ [संख्या ५ पूर्ण संख्या २८७

लोचन

पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र "निशंक"

(१)

हो छलिया तुम, जान के भी यह आज तुम्हें अपनाने चले हैं ;
तोड़ के बन्धन विश्व के सारे सनेह नया सरसाने चले हैं।
कंज से हो जिनकी समता, पवि से वह प्रीति निभाने चले हैं ;
जाने कहाँ अनजान ये लोचन, मोती अमोल लुटाने चले हैं।

(२)

पंख जो होते कहीं इनके तो जहाँ तुम होते वहीं उड़ जाते ;
बोलते होते कहीं यदि ये तो 'निशंक' हो प्रेम-व्यथा समझाते।
ज्ञान ही होता इन्हें कुछ तो अपने घर में नहीं आग लगाते ;
नीर बहाया सदा करते, पर लोचन ज्वाला बुझा नहीं पाते।

(३)

तुम्हें मान असीम की सीमा महान अनन्त प्रभा के बिहारी बने ;
मुसकान-सुधावरदान को पा नव-जीवन के अधिकारी बने।
उर के सभी रत्न लुटाकर आज ये माँगते प्रेम भिखारी बने ;
लिये भारी व्यथा नत हैं युग लोचन रूप के मौन पुजारी बने।

हमारा विशेष लेख

हमारी शिक्षा में पाकिस्तानी वृत्ति

आचार्य श्रीदादा धर्माधिकारी

लगभग आठ साल पूर्व एक प्रसिद्ध और प्रतिष्ठित तुर्की महिला हिन्दुस्तान देखने आई थीं। आप स्व० डा० अन्सारी के यहाँ ठहरी थीं। आपने हिन्दुस्तान पर "इन साइड इण्डिया" नाम की एक सुन्दर और रोचक पुस्तक लिखी है। वह जब स्व० डा० अन्सारी के यहाँ थीं, उन्होंने एक नौकर से पूछा कि "कितने बजे हैं?" नौकर ने पूछा—"आप विलिंगटन टाइम पूछती हैं, या इण्डियन टाइम?" बेचारी हैरान रह गईं। क्या हिन्दुस्तान में समय के बारे में भी एक मत नहीं हो सकता? यह कैसा अजीब देश है हे ईश्वर! इस भयानक विचित्रता का अनुभव उन्हें हिन्दुस्तान में आने के कुछ ही दिन बाद हो चुका था। उस अनुभव का वर्णन उन्होंने इन शब्दों में किया है—

"गाड़ी दौड़ रही थी। जैसे ही हम स्टेशनों से गुज़रते थे, बिजली की रोशनी में लाल पगड़ियाँ नज़र आती थीं—कुली इधर-से-उधर दौड़ रहे थे। कई प्रकार की आवाज़ों की सम्मिलित ध्वनि गूँज रही थी। 'हिन्दू चाय, मुसलमान चाय, हिन्दू पानी, मुसलमान पानी'। कैसा आश्चर्य है कि हिन्दू और मुसलमानों के चाय-पानी भी अलग-अलग होना चाहिए। पारसी और दूसरे किसी समुदाय के लोगों के लिए तो पानी कोई अलग नहीं बेचता। प्रत्यक्ष है कि सभी क्रियाशील शक्तियों में हिन्दू और मुसलमान ही प्रमुख हैं।"

—इनसाइड इण्डिया पृष्ठ २२

हमारे राष्ट्रीय जीवन की यही प्रधान समस्याएँ हैं। हमारे राष्ट्रशरीर का यही सबसे बड़ा और भयंकर रोग है। पाकिस्तान एक लक्षण है। रोग बहुत गहरा है। यह वृत्ति केवल खाने-पीने या राजनीति के क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है। साहित्यिक और सांस्कृतिक क्षेत्र में भी इसने उत्पात और ऊधम मचाना शुरू कर दिया है।

नतीजा यह है कि मुसलमान चाहे जिस चीज़ को अपना ले, लेकिन जिसमें हिन्दूपन की ज़रा-सी भी बू आती हो, उससे सख़्त परहेज़ करेगा और हिन्दू भी जिसमें मुसलमानीपन की गन्ध आती हो, उससे बचने की कोशिश करेगा। हिन्दू कोट, पैंट, हैट और टाई पहनने में गौरव करेगा और मुसलमान भी अँगरेज़ी पोशाक पहनकर अकड़कर चलेगा। मगर हिन्दू फ़ेज़ कैप लगाने में अपनी हेठी समझेगा और मुसलमान काछ लगाकर धोती पहनने में अपनी तौहीन समझेगा।

मैं पुराने ज़माने के अपढ़ हिन्दू और मुसलमानों की बात नहीं कर रहा हूँ। उस वक़्त तो हिन्दू भी तुर्की टोपी लगा लेते और मुसलमान भी धोती बाँध लेते थे। आज भी देहातों में यह बात देखने में आती है। मगर वह एक गुज़रे हुए या गुज़रते हुए ज़माने के अवशेष के रूप में। सारी पहने और कुंकुम तिलक लगाये हुए कोई हिन्दू महिला किसी कोट-पट-हैट-विभूषित पुरुष के साथ टहलने या यात्रा करने निकले तो हम उसे स्वाभाविक या साधारण-सी बात समझते हैं। मगर वही महिला कहीं किसी फ़ेज़धारी और पाजामाधारी पुरुष के साथ घूमती या प्रवास करती नज़र आवे तो हमारे दिमाग़ में तरह-तरह के अनुमान और आशंकाएँ चक्कर काटने लगती हैं। यही हाल मुसलमानों का है। वे तो और भी शंकाशील, सतर्क और अनुदार हैं।

हमारे साहित्य के क्षेत्र में भी यही अविश्वास और सन्देह का वातावरण है। इसलिए हमारे साहित्य में भारतीय राष्ट्रनिर्माण की शक्ति का एकान्त अभाव है; वह कुछ स्फूर्ति, प्रेरणा, उत्साह कभी-कभी देता है। परन्तु एक अभेद्य और अखण्ड राष्ट्र का निर्माण करने की शक्ति उसमें नहीं है।

सांस्कृतिक जीवन राष्ट्रीय आन्दोलन का एक प्रधान और प्रभावोत्पादक अंग है। क्रान्ति का वह एक महत्वपूर्ण साधन है। राष्ट्र-भाषा का प्रश्न इसी सांस्कृतिक जीवन के प्रश्न के साथ अविभाज्य रूप से संलग्न है। इसलिए सामाजिक, राजनीतिक और साहित्यिक क्षेत्र में जो मनोवृत्ति काम करती है, उसका असर राष्ट्र-भाषा के क्षेत्र पर भी हुए बिना नहीं रह सकता। नतीजा यह है कि 'जनाबे-गांधी'

या "श्रीयुत जिन्नाजी" जैसे शब्द-प्रयोग अटपटे, आपत्तिजनक और अनमेल मालूम होते हैं। कवि अकबर ने अपने एक 'शेर' में गांधीजी को "हज़रते गांधी" कहा है। कुछ परम्पराभिमानी हिन्दुओं को यह बात खटकी। हम क्या "वैद्यराज हकीम अजमलख़ां" नहीं कह सकते। अगर हमें 'मिस्टर' रामानन्द चट्टोपाध्याय और 'डाक्टर' अन्सारी से एतराज़ नहीं है तो इन मुहावरों से क्यों एतराज़ होना चाहिए? क्या वजह है कि 'सलाम' या 'आदाबअर्ज़' की अपेक्षा हिन्दू 'गुडमार्निंग' को और नमस्ते या नमस्कार की अपेक्षा मुसलमान भी "गुडमार्निंग" को ज़्यादा पसन्द करें? यही वृत्ति अनजाने हमारी साहित्यिक प्रवृत्तियों में भी दाख़िल हो गई है। बंगाल के मुसलमानों को बँगला के सिवा दूसरी कोई भाषा नहीं आती। गुजरात के मुसलमानों की भी गुजराती ही भाषा है। सिन्ध और आसाम के मुसलमान भी सिन्धी और असमिया ही बोलते हैं। मगर आजकल वे कहने लगे हैं कि हमारी ज़बान तो उर्दू है।

मुसलमानों ने प्रान्तीय भाषाओं में अपना व्यवहार किया; लेकिन उनका गौरव बढ़ाने में पूरा-पूरा हाथ नहीं बटाया। उन भाषाओं से सच्चे दिल से प्रेम कभी नहीं किया। इसलिए हिन्दी को छोड़ हमारी दूसरी प्रान्तीय भाषाओं में मुसलमानों द्वारा और मुसलमानों के लिए निर्मित साहित्य बहुत कम है। बँगला और एक-दो अन्य भाषाओं में तो फिर भी कुछ है। मगर मराठी और दूसरी कई भाषाओं में नहीं के बराबर है। परिणाम यह है कि मुसलमानों के दिल में प्रान्तीय भाषाओं के लिए बहुत कम प्रेम और अभिमान है। जो कुछ थोड़ा बहुत था, वह भी पाकिस्तान-आन्दोलन की बदौलत नष्ट हो रहा है। वे चाहे अँगरेज़ी को राष्ट्र-भाषा के तौर पर बरतेंगे, मगर हिन्दी को पास नहीं फटकने देंगे। फलस्वरूप श्रीसावरकर और श्रीजिन्ना साहब को जब आपस में कटुवचनों का विनिमय करना होता है, तब वे अँगरेज़ी की शरण लेते हैं। लिपियों के झगड़े में भी यही बात है। मुसलमान नागरी सीखने और स्वीकार करने को तैयार नहीं हैं, इसलिए हिन्दू भी फ़ारसी-लिपि सीखने से इनकार करते हैं। दोनों का एक-दूसरे से व्यवहार रोमन के ज़रिये चलता है। हमारे राष्ट्रीय जीवन में सर्वत्र जो अविश्वास और संदेह का वातावरण फैल रहा है, उसी के ये भिन्न-भिन्न रूप हैं।

जिन लोगों को भारतीय राष्ट्र के निर्माण से कोई वास्ता नहीं है, जिन्हें केवल अपने आनन्द या द्रव्यार्जन के लिए ही साहित्य लिखने से मतलब है, उन 'क़लमबहादुरों' की बात और है। मगर जो कवि या साहित्यिक भारतीय एक राष्ट्रीयता के सम्पादन में अपने पुरुषार्थ और प्रतिभा से कुछ ठोस सहायता देना चाहते हैं, उनके लिए यह समस्या बहुत ही गम्भीर और विचारणीय है।

कुछ लोगों का यह प्रामाणिक विचार है कि हिन्दुस्तान एक देश भले ही हो, परन्तु एक राष्ट्र नहीं है। यह अनेक राष्ट्रों का एक 'महाराष्ट्र' या 'अति राष्ट्र' है। इन अनेक राष्ट्रवादियों में भी बहुत-से उपपक्ष हैं। कुछ कहते हैं, "यहाँ केवल दो ही राष्ट्र नहीं हैं—हिन्दू और मुसलमानों के अलावा मराठे, बंगाली, गुजराती, आन्ध्र, पंजाबी, सिन्धी, हिन्दुस्तानी—ऐसे कई राष्ट्र हैं।" मतलब यह कि जितनी भाषाएँ हैं, उतने ही राष्ट्र भी हैं। एक वे हैं जो संस्कृतनिष्ठ धर्माश्रित राष्ट्रीयता के हिमायती हैं। दूसरे वे हैं जो भाषाश्रित और प्रान्तनिष्ठ राष्ट्रीयता के पक्षपाती हैं। तीसरे वे हैं जो इन दोनों तत्त्वों को मिला देना चाहते हैं। यानी उनके मत से हरएक प्रान्त में भी हिन्दू-राष्ट्र और मुस्लिम-राष्ट्र होगा। या फिर इन दोनों में से जिसका प्रभुत्व स्थापित हो सके, उसका वह राष्ट्र होगा। जो भाषानिष्ठ राष्ट्रीयता के पक्षपाती हैं, उनकी दृष्टि में तो समूचा भारत कभी एक राष्ट्र हो ही नहीं सकता। परन्तु क्या एक प्रान्त में भी जितने धर्म होंगे, उतने ही राष्ट्र होंगे? अगर नहीं तो हम अपनी प्रान्तीय भाषाओं के शुद्धिकरण का आन्दोलन किस आधार पर खड़ा कर सकते हैं। क्या मुसलमानों के सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक जीवन का चित्रण हमारे प्रान्तीय साहित्य में नहीं होगा? क्या मुसलमान हमारी प्रान्तीय भाषाओं में नहीं लिखेंगे? अगर वे लिखेंगे तो क्या उनके धार्मिक जीवन के साथ जो शब्द उनकी नित्य की बोलचाल में आये हैं, वे प्रान्तीय भाषाओं में भी नहीं आवेंगे?

श्रीकिशोरलाल भाई और काका साहब अगर 'अश्वत्थामा-वृत्ति' 'अगस्त्य-वृत्ति' 'गजग्राह' आदि शब्द गढ़ सकते हैं तो 'सुलेमानी इनसान' आदि शब्द भी हमारी प्रान्तीय भाषाओं में लिखनेवाले मुसलमान लेखक लिखेंगे। आँखों की उपमा कभी कमल से तो कभी नरगिस से दी जायगी। इससे भाषा

का भण्डार बढ़ेगा, वह कमज़ोर या दरिद्र नहीं होगी।

यह 'शुद्धि' और 'अशुद्धि' की भाषा ही 'अशुद्ध' है। 'रक्तशुद्धि' और 'भाषाशुद्धि' के दिन अब लद चुके। क्या कोई भाषा 'भिन्न' हो जाने से ही अशुद्ध हो जाती है? क्या हमारे पड़ोसियों की भाषा इतनी अपवित्र है कि वह हमारी भाषा के साथ मिलते ही उसे भ्रष्ट कर देती है? यह वृत्ति संग्राहक नहीं है। यह तो विग्रहात्मक और विग्रहोत्तेजक है। मैं इसे 'छुईमुई' की 'पाकिस्तानी' या 'दुरदुराने' की मनोवृत्ति कहता हूँ। अगर हमारा ध्येय एक सम्मिलित और संयुक्त राष्ट्रीयता का निर्माण है तो हमें इस व्यवच्छेदक मनोवृत्ति से बचना चाहिए।

कहा जायगा कि जब मुसलमान हमारी भाषा का एक भी लफ़्ज़ अपनाने को तैयार नहीं हैं, वे हमसे परहेज़ रखते हैं, तो हम ही उनकी ख़ुशामद क्यों करें? उनके चरण चूमने क्यों जायँ?

यहाँ ख़ुशामद या क़दमबोसी का सवाल ही उठाना ग़लत है। सवाल इतना ही है कि अगर दूसरे पाकिस्तानवादी बनने पर तुले हुए हैं तो क्या हम भी उनका अनुसरण करेंगे? दूसरे अगर एक-राष्ट्रीयता के विरोधी हैं, तो क्या हम भी उन्हीं की नक़ल करें? फिर सीधे उनकी पाकिस्तान की माँग ही क्यों न स्वीकार करें? वे तो एक राष्ट्र के दो अत्यन्त भिन्न और हवाबन्द राष्ट्र बनाना चाहते हैं, इसलिए वे हिन्दुस्तान में दरबे बनाने की ही योजनाएँ पेश और पसन्द करेंगे। ख़ालिस उर्दू का उनका आग्रह उनके ध्येय और नीति के अनुरूप ही है।

मगर हम तो पाकिस्तान को दफ़ना देना चाहते हैं न? वे अगर इस देश के टुकड़े करना चाहते हैं, तो हम उसे अखंडित रखना चाहते हैं। वे हमसे कोई सम्बन्ध नहीं रखना चाहते, परन्तु हम उनसे रखना चाहते हैं। वे हमसे बोलने से भी इनकार करते हैं, तो भी हम उनसे बोलना चाहते हैं। मुसलमान जनता को हम अपनी बात समझाना चाहते हैं। उसके जीवन में प्रवेश पाना चाहते हैं। यह है हमारा साहित्यिक क्षेत्र में जनता-सम्पर्क।

आज तो दूसरे क्षेत्रों में भी यही कोशिश हो रही है। जब किसी शहर में साम्प्रदायिक दंगा हो जाता है, तब मुसलमान मुहल्लों में रहनेवाले हिन्दू वहाँ से भागकर हिन्दू बस्ती में चले जाते हैं और हिन्दू मुहल्लों में बसे हुए मुसलमान मुसलमानी बस्ती में चले जाते हैं। कुछ तो हमेशा के लिए अपना घर बदल देते हैं और इस तरह अनायास ही हरएक शहर में एक पाकिस्तान और एक पुण्यभूमि बन जाती हैं। बीच में अँगरेज़-सरकार चौकी देने का दिखावा करती है।

इसका इलाज यही है कि हम हिल-मिलकर नहीं रह सकते, तो एक-दूसरे से लड़ते-भिड़ते रहें, एक-दूसरे से डरें नहीं और एक-दूसरे को त्याग भी न दें। इसी दृष्टि से कुछ पाकिस्तानविरोधी राष्ट्रवादी व्यक्तियों ने मुसलमानों के मुहल्लों में बसने का निर्णय किया है। निरपेक्ष सेवा ही स्थायी मित्रता साधने का एकमात्र सफल साधन है। हमारे सम्पर्क का बिन्दु एकमात्र सेवा ही होना चाहिए।

आवश्यकता है कि हम अपनी भाषा को भी संघर्ष या आक्रमण का साधन मानने के बजाय सेवा और मित्रता का साधन मानें। अगर हमें आपस में लड़ना है तो भी एक-दूसरे की भाषा से परिचय बढ़ाना होगा। मगर हमें तो लड़ना नहीं है, बल्कि सेवा करनी है। तब तो हमें एक-दूसरे की भाषा को अपनाना होगा और एक सामान्य भाषा का निर्माण करना होगा। जैसे-जैसे हमारा सम्पर्क बढ़ेगा, हमारे संयुक्त जीवन में से एक सामान्य भाषा का विकास भी होगा। वह 'मिश्र' होगी, परन्तु अशुद्ध नहीं होगी। उसका हरएक घटक अपनी विशेषता से उसकी सुन्दरता और वैभव को बढ़ावेगा।

मेरी नम्र सम्मति में आज यह विवाद उतना सांस्कृतिक या धार्मिक नहीं है, जितना कि मानापमान का है। हम सोचते हैं कि "हमने तो मुसलमानों के लाखों-करोड़ों शब्द अपनाये, मगर वे हमारे शब्दों से घृणा करते हैं। जब उनकी सत्ता थी तब हमने लाचार होकर यह सह लिया, अब हम गवारा नहीं करना चाहते।"

लेकिन अब समय आ गया है कि हमें इस लघुत्व की धारणा को तज देना चाहिए। अब हम डर या मुरौवत से नहीं, ख़ुशामद या सौदे के लिए नहीं, बल्कि राष्ट्रनिर्माण के उद्देश्य से और निर्मल प्रेमवृत्ति से प्रेरित होकर एक दूसरे के जीवन में एकता क़ायम करने के लिए विचारपूर्वक यह प्रयास करेंगे। साहित्यिक क्षेत्र से पाक़िस्तानी वृत्ति का निराकरण करने का यही उपयुक्त मार्ग है।

छायावाद का कलापक्ष

श्रीप्रताप साहित्यालंकार

अभिव्यक्ति की आकांक्षा मनुष्य की नैसर्गिक प्रवृत्ति है। मानव अपने विचारों और भावों के द्वारा दूसरों को प्रभावित करना चाहता है। हम अपने हर्ष और आनंद को तथा दुःख और विषाद को अभिव्यंजित कर विश्व की अनुकंपा के लिए लालायित रहते हैं। मानवात्मा की दूसरे आत्मा में व्याप्त होने की यह आकुल भावना चिर पुरातन है। मनुष्य की सौंदर्य-प्रियता अभिव्यंजना-शैली में रोचकता तथा प्रभावोत्पादकता का समन्वय करती है, जिससे इतर व्यक्ति पर अभीष्ट प्रभाव पड़ता है। दूसरे पर प्रभाव डालने के लिए भावों को सुश्रृंखलित तथा सौंदर्यान्वित करने की यही प्रवृत्ति कलापक्ष के मूल में निहित है। साधारण अभिव्यंजना का उद्देश्य अर्थबोध-मात्र होता है, किंतु काव्य में अभिव्यंजना भाव-बोध के निमित्त की जाती है, अतएव अरूप मानस-जगत् को रूप देने के लिए कलाकार अधिक सजग तथा प्रयत्नशील रहता है और उसे अलंकार, रूपक, छंद, संगीत और चित्र की योजना करनी पड़ती है।

छायावाद द्विवेदी-युग के वस्तु-विधान और काव्य-शैली के विरुद्ध प्रतिवर्तन लेकर आया। उसकी वस्तु तथा काव्य-शैली का बहुत प्रसार तथा विकास हुआ। उसमें नवीन भावों की अतुलराशि तथा कमनीय कल्पना की मनोहर उड़ान का अवस्थान है। उसकी अभिव्यंजन-शैलियाँ पहले से बहुत भिन्न हैं। उसने केवल भाव-भूमि में ही नहीं, बल्कि कविता के कलापक्ष में भी क्रांति को जन्म देकर उसे नूतन तथा सुंदर रूप में उपस्थित किया है। उसकी काव्य-शैली का इतना महत्त्व है कि अन्य प्रकार की कविताओं में भी उसका आश्रय लिया गया है। भावों की व्यंजना की नूतन शैली को देखकर लोगों ने कहना आरंभ किया कि छायावाद में भावों की उपेक्षा तथा रचना-नैपुण्य की प्रचुरता है। छायावाद पर क्रोसे के अभिव्यंजनावाद के प्रभाव के कारण उस पर यह दोष आरोपित किया गया है। यह आरोप सर्वथा निराधार है; क्योंकि अभिव्यंजनावाद में अभिव्यक्ति पर अधिक ध्यान दिया जाता है, किंतु भावों की, वस्तु की उपेक्षा नहीं की जाती। काव्य-भूमि की अवहेलना अभिव्यंजनावाद का लक्ष्य नहीं है। उसमें अनुभूति, प्रभाव तथा वाग्वैचित्र्य, तीनों का समन्वय रहता है, लेकिन उसमें भारतीय साहित्य की अनुभूति की व्यापकता का अभाव है। साहित्य में ऐसी कृतियों का भी महत्त्व है जिनमें केवल रचना-नैपुण्य ही रहता है, * किंतु रचना-शक्ति की निपुणता ही सब कुछ नहीं है, क्योंकि उसकी सार्थकता तो वस्तुविधान में है। काव्यवस्तु से अलग रचना-कौशल का कोई महत्त्व नहीं है। भाव-बोध उसका लक्ष्य है और अभिव्यक्ति-कला उसका सहायक। कला से पूर्णतः आवृत भाव शून्य कविता नहीं कहला सकती। अन्तर्लोक के भावों में लोगों को विमुग्धता तथा तन्मयता प्रदान करना ही सच्ची कविता का ध्येय है। वह कला-प्रदर्शन तथा वाग्वैचित्र्य के फेर में पड़कर अपने अभाव की रक्षा नहीं कर सकती। वस्तुतः भाव तथा कला के समन्वय से ही उत्तम कविता की सृष्टि हो सकती है।

कविता का उद्देश्य वस्तु-बोध कराना है। अलंकार कविता का साधन है। "भावों का उत्कर्ष दिखाने और वस्तुओं के रूप, गुण और क्रिया का तीव्र अनुभव कराने में कभी-कभी सहायक होनेवाली युक्ति ही अलंकार है।" किंतु जब अलंकारों को साध्य बनाकर अपनाया जाता है और काव्य-वस्तु की उपेक्षा की जाती है, तब कविता अपना महत्त्व रख सकने में समर्थ नहीं हो सकती। कुछ समय तक हिंदी-साहित्य में अलंकारों की पुष्टि के लिए ही कविता का निर्माण होता था। कविता हृदय का उद्गार है। किसी

---

* भाव, विषय और तत्त्व साधारण मनुष्यों के होते हैं। उन्हें यदि एक मनुष्य बाहर नहीं करता तो कालक्रम से दूसरा करेगा, किंतु रचना लेखक की संपूर्ण रूप से अपनी होती है।........रचना के अंदर ही लेखक यथार्थ रूप से जीवित रहता है, भावों और विषय के अंदर नहीं।

साहित्य (हिंदी)
श्रीरवींद्रनाथ ठाकुर, पृष्ठ १२

ख़ास उद्देश्य का उसमें समावेश करने से उसका स्वाभाविक सौंदर्य विलुप्त हो जाता है। वैसी कविता भावोद्रेक कराने में समर्थ नहीं हो सकती। हाँ, उससे कवियों की निपुणता अवश्य प्रदर्शित होती है। काव्य-वस्तु की उपेक्षा कर केवल अलंकारों की चमत्कारिता दिखाने में कविता की सार्थकता नहीं है। कविता में वस्तु का महत्त्व है। उसकी उपेक्षा उत्कृष्ट कविता के निर्माण में घातक सिद्ध होती है। सुंदर भावों की अवस्थिति में ही अलंकारों के द्वारा कविता का सौंदर्य बढ़ाया जा सकता है। भावों के अभाव की पूर्ति अलंकारों की बहुलता नहीं कर सकती। अलंकार का महत्त्व तो भावों के उत्कर्ष को बढ़ाने में है। भाव कविता का प्राण है। छायावाद में अभिनव तथा सौष्ठवपूर्ण भावों का समावेश है। नूतन तथा सुंदर अलंकारों के साहचर्य से कविता की मार्मिकता बहुत बढ़ गई। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा आदि अलंकारों की योजना बार-बार हुई है। प्रतिवस्तूपमा, हेतूत्प्रेक्षा, समासोक्ति, विरोध, श्लेष, एकावली आदि अलंकारों का भी प्रयोग बहुत स्थलों पर हुआ है। तथ्य की व्यंजना के लिए दृष्टांत, अर्थान्तरन्यास आदि की अपेक्षा अन्योक्ति-पद्धति का ही आश्रय लिया गया है। छायावाद में जितने नये और पुराने अलंकार व्यवहृत हुए हैं, उनका उद्देश्य भावों की तीव्र अनुभूति कराना है। कहीं-कहीं वस्तु-विन्यास की ओर से कवि का ध्यान हटकर दूसरी ओर चला गया है, किंतु ऐसी बात बहुत कम ही स्थलों पर पाई जाती है। अलंकारों के बोध में भाषा की प्रांजलता का कहीं विनाश नहीं हुआ है।

अधिकारी अलंकारों का आधार साम्य है—शब्द-साम्य, रूप-साम्य, धर्म-साम्य और प्रभाव-साम्य। धर्म-साम्य और रूप-साम्य के लिए वस्तु के प्रत्येक धर्म की तथा आकार-प्रकार की पूरी समानता आवश्यक नहीं है। आंशिक साम्य के द्वारा ही अच्छी तरह काम चल जाता है। अलंकार का उद्देश्य, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भावों में तीव्रता लाना है। यदि अलंकारों के द्वारा भावों के उत्कर्ष में अभिवृद्धि नहीं हुई तो उनका उद्देश्य सिद्ध नहीं होता। कविता का लक्ष्य वस्तुबोध के साथ भावोद्रेक कराना है। रूप-साम्य और धर्म-साम्य रहने पर भी यदि अलंकारों में प्रभाव का अभाव रहे तो उनका कुछ भी महत्त्व नहीं। सच्ची कविता का गुण हृदय को स्पर्श करना है। अतएव रूप-सादृश्य तथा धर्म-सादृश्य की अपेक्षा प्रभाव-साम्य की ही अधिक महत्ता है।

छायावाद में शब्द-साम्य को आधार मानकर चमत्कार-प्रदर्शन की प्रवृत्ति नहीं पाई जाती। यों तो यमक, श्लेष, अनुप्रास आदि की प्राप्ति होती है, लेकिन प्राचीन कवियों की तरह कलाबाज़ी दिखाने के उद्देश्य से उनका प्रयोग नहीं हुआ है। छायावाद का अलंकार-नियोजन श्रम-साध्य नहीं, स्वतः प्रसूत है और उसमें हमारी अंतर्वृत्तियों का पूरी तरह उद्रेक होता है। जिस आलंकारिक योजना में हृदय से अधिक मस्तिष्क का प्रभाव रहता है, भावोद्रेक द्वारा परि-चालित अंतर्वृत्ति के अनुरूप नियोजन नहीं रहता, वह काव्योपयुक्त नहीं हो सकती। इस बात की ओर छायावाद के कवियों का विशेष ध्यान रहा है। यही कारण है कि प्राचीन कविता के अलंकारों में जितनी कृत्रिमता है, छायावाद में उतनी ही स्वाभाविकता।

छायावाद में बहुत स्थलों पर प्रस्तुत की उपेक्षा कर अप्रस्तुतों की लंबी शृंखला के द्वारा चमत्कार प्रदर्शित किया गया है। उसमें जीवन की मार्मिक अनुभूति का अभाव तथा कल्पना की लंबी उड़ान दिखाई पड़ती है। प्रस्तुत के आधार पर की गई अप्रस्तुत-योजना काव्य की मार्मिकता बढ़ा देती है। जब प्रस्तुत की अवहेलना कर एक अप्रस्तुत के बाद दूसरा लादा जाने लगता है तब कविता पहेली-सी जान पड़ने लगती है। उदाहरण-स्वरूप—

> कौन, कौन तुम परिहितवसना,
> म्लान-मना, भू-पतिता-सी,
> वात-हता - विच्छिन्न लता - सी,
> रति - श्रांता व्रज - वनिता - सी?
> नियति-वंचिता, आश्रय - रहिता,
> जर्जरिता पद - दलिता - सी,
> धूलि - धूसरित मुक्तकुंतला,
> किसके चरणों की दासी!
> कहो, कौन हो दमयंती-सी
> तुम तरु के नीचे सोई?
> हाय! तुम्हें भी त्याग गया क्या
> अलि! नल-सा निष्ठुर कोई!

यहाँ तक प्रस्तुत छाया का कुछ-कुछ आभास मालूम होता है, किंतु इसके आगे कवि ने प्रस्तुत की उपेक्षा कर कल्पना की लंबी उड़ान को कविता में स्थान दिया है। इन अप्रस्तुतों को ला-लाकर उपस्थित करने

में वस्तु-बोध—जो कविता का लक्ष्य है—कुछ भी नहीं हो सका है। हाँ, चमत्कार-प्रदर्शन में सफलता अवश्य मिली है—

गूढ़-कल्पना-सी कवियों की,
अज्ञाता के विस्मय - सी
ऋषियों के गंभीर - हृदय - सी
बच्चों के तुतले - भय - सी,
भू-पलकों पर स्वप्न - जाल - सी
स्थल-सी पर, चंचल - जल-सी,
मौन अश्रुओं के अंचल - सी
गहन - गर्त में समतल - सी ?

× × ×

चिर अतीत की विस्मृत स्मृति-सी,
नीरवता की - सी झंकार,
आँखमिचौनी - सी असीम की
निर्जनता की - सी उद्गार !

—पंत

कल्पना, विस्मय, गंभीर हृदय, बच्चों के भय, विस्मृत स्मृति आदि से प्रस्तुत की आकृति-प्रकृति और रूप-रंग का बोध नहीं होता। अप्रस्तुतों में भावोद्दीप्ति की शक्ति के अभाव के कारण कृत्रिमता मालूम पड़ती है। आंतर प्रभाव-साम्य के आधार पर लाक्षणिक और व्यंजनात्मक पद्धति के द्वारा अप्रस्तुतों की योजना से काव्य की मार्मिकता बढ़ जाती है, किंतु उसका भी इस स्थल पर अभाव है। इसी प्रकार हृदय के कोमल भाव के लिए लहर का (उठ-उठ री लघु लोल लहर !—'प्रसाद') प्रयोग भी है, लेकिन इसमें यह सूक्ष्म साम्य है कि सरिता की लहर के समान ही हृदय के भाव भी आपस में टकराते हुए उठते-गिरते हैं।

छायावाद के अप्रस्तुत कुछ पुराने हैं और कुछ नये। सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, इंद्रधनुष, उषा, प्रभात, सुमन, बिजली, मछली, लहर, ज्योत्स्ना, हिमजल, पुरइन, आँसू, लजावंती, अमरबेल, किरण, शिरीष, मुक्ता, तिमिर, अंजन, सुरभि, समीर आदि प्रचलित अप्रस्तुत तो आये ही हैं, पर कल्पना, मादकता, मूर्च्छना, स्मृति, विस्मृति, सुकुमारता, चाह, आकांक्षा, लालसा, लज्जा, स्पृहा आदि जैसे सूक्ष्म और नवीन अप्रस्तुत भी अपनाये गये हैं। नीचे के अवतरण में जलकण के लिए बहुत-से सूक्ष्म अप्रस्तुतों का प्रयोग किया गया है। 'जलद-शिशु' से जलकण का जितना रूप-विधान तथा भाव-बोध होता है, उतना सुकुमारता, चाह, सुधि, सगुण, गान आदि से नहीं। किंतु ऐसे स्थलों की कमी नहीं है, जहाँ सूक्ष्म तथा अंतर्वृत्यात्मक अप्रस्तुतों की योजना ने कविता के वैभव को बढ़ा दिया है—

जब अचानक, अनिल की छवि में पला
एक जलकण, जलद-शिशु-सा पलक पर
आ पड़ा सुकुमारता-सा, गान-सा
चाह-सा, सुधि-सा, सगुण-सा, स्वप्न-सा

—पंत

कवि के जीवन में उसके प्रियतम ने आकर मादकता की सृष्टि की, वह अपने को भूल गया, किंतु उसके जाते ही उसका बेसुधपन दूर हो गया और उसे अपनी वास्तविक स्थिति का बोध हुआ। इस प्रकार मूर्त्त के लिए अमूर्त्त अप्रस्तुत की योजना से स्थिति का सुंदर चित्र खचित हुआ है और कविता की सुंदरता बढ़ गई है—

मादकता - से आये वे
संज्ञा-से चले गये थे।

—प्रसाद

नीचे की पंक्तियों में पर्वत के पेड़ों के लिए—जो मूर्त्त पदार्थ हैं—हृदय की ऊँची आकांक्षाओं का साम्य आरोपित किया गया है—

गिरिवर के उर से उठकर
उच्चाकांक्षाओं - से तरुवर
हैं झाँक रहे नीरव नभ पर ! —पंत

प्राचीन काल के कवियों ने 'मंदिर की पूजा', 'दीप-शिखा', 'क्रूर-काल तांडव की स्मृति-रेखा' आदि के सदृश उपमानों का प्रयोग नहीं किया है। वे केवल प्राचीनता का ढोल पीटना जानते थे। शास्त्र के गिने-गिनाये अप्रस्तुत के सिवा अन्य अप्रस्तुतों को उन लोगों ने काव्य में स्थान देना वर्जित समझ लिया था, किंतु छायावाद ने अच्छे-अच्छे अभिनव अप्रस्तुतों का व्यवहार धड़ल्ले के साथ किया है। 'दीप-शिखा' में जितनी सहनशीलता तथा शांति की भावना, 'पूजा' में जितनी नम्रता, 'तांडव की स्मृति-रेखा' में जितनी भयंकरता तथा 'छुटी लता' में जितनी असहाय की कारुणिकता है उतनी अन्य अप्रस्तुतों में संभव नहीं। भारत की विधवा का इससे करुणा-पूर्ण चित्र और क्या हो सकता है—

वह इष्टदेव के मंदिर की पूजा-सी
वह दीप-शिखा-सी शांत भाव में लीन,

वह क्रूर काल-तांडव की स्मृति-रेखा-सी
वह टूटे तरु की छुटी लता-सी दीन—
दलित भारत की विधवा है!
—निराला

गंभीर नीरवता के बाद ही झंझा की विकराल और भयंकर लीला प्रारंभ होती है जो प्रलय के दृश्य से कम नहीं होती। कवि ने स्तब्ध साधों के लिए उसी नीरवता से तुलना की है—

झंझा की पहली नीरवता-
सी नीरव मेरी साधें,
भर देंगी उन्माद प्रलय का
मानस के लघु कंपन में।
—महादेवी

छायावाद ने पुराने उपमानों को कला के मधुर स्पर्श से सुन्दर बना दिया है। सुन्दरता जहाँ देख पड़ी—प्राचीन में अथवा नवीन में, उसे अपना लिया गया है। प्राचीन उपमानों की योजना इस नूतन ढंग से होती है कि उससे उनकी व्यंजकता बहुत बढ़ जाती है। नासिका के लिए शुक का, मुख के लिए चंद्र का, वेणी के लिए सर्प का, नेत्र के लिए कमल तथा मछली का प्रयोग बहुत दिनों से होता आ रहा है, किंतु छायावाद की कमनीय कल्पना के सहयोग से उनकी चमक बढ़ गई है—

(१) विद्रुम सीपी संपुट में,
मोती के दाने कैसे?
है हंस न, शुक यह फिर क्यों
चुगने को मुक्ता ऐसे?
(२) बाँधा है विधु को किसने
इन काली ज़ंजीरों से
मणिवाले फणियों का मुख
क्यों भरा हुआ हीरों से? —प्रसाद

और—
(३) मदभरे ये नलिन-नयन मलीन हैं।
अल्प जल में या विकल लघु मीन हैं।
—निराला

छोटे-छोटे बादल-खंड के लिए मेमने को उपमान के रूप में रखने से बादल के इधर-उधर उड़ने का चित्र आँखों के सम्मुख खिंच जाता है। कवि की अंतर्दृष्टि ने कविता में अत्यधिक रोचकता ला दी है—

मेमनों-से मेघों के बाल
फुदकते थे प्रमुदित गिरि पर! —पंत

गाँवों की नई वधू लज्जा के कारण अपने मुख को घूँघट में छिपाये रहती है। बादल के अवगुंठन से लुक-छिपकर झाँकती हुई उषा के लिए 'नव ग्राम-वधू' को उपस्थित करना बहुत उत्तम जान पड़ता है। इस उपमान में समानता है, सुन्दरता है, स्वाभाविकता है और चित्रमयता है—

नव ग्राम-वधू-सी उषा डाल
आई सलज्ज-श्री, अवगुंठन।
—आरसी

छायावाद की अप्रस्तुत योजना की अच्छाई का कारण आधुनिक कवियों का खुली आँखों से प्रकृति का निरीक्षण है। वे दूसरे पर निर्भर नहीं रहते। स्वतंत्र निरीक्षण के कारण ही उनके अप्रस्तुतों में स्वाभाविकता तथा सुन्दरता का सन्निवेश है।

अप्रस्तुतों का व्यवहार साम्य के आधार पर होता है। प्राचीन कवियों का ध्यान रूप-साम्य और धर्म-साम्य की ओर ही अधिक था। छायावाद में इन दोनों की अपेक्षा प्रभाव-साम्य पर विशेष ध्यान दिया जाता है। नायिका और सिंह की कमर में रूप-साम्य है, किंतु सिंह की कमर में नायिका की पतली कमर के प्रभाव का अभाव है। एक हमारी रति को उत्तेजित करती है तो दूसरी भय का संचार। प्रभाव-साम्य के आधार पर जो अप्रस्तुत-योजना की जाती है, उसका काव्य में बहुत महत्त्व है। इसीलिए छायावाद में प्रायः सादृश्य और साधर्म्य की उपेक्षा कर एकमात्र प्रभाव-साम्य को ही लेकर अप्रस्तुत-योजना की गई है। इस प्रकार की अप्रस्तुत-योजना में अप्रस्तुतों का व्यवहार प्रतीक के रूप में हुआ है—जैसे विषाद के लिए पतझर, अश्रु, अँधेरी रात, संध्या; आनन्द के लिए मधुमास, प्रभात, हास; शुभ्रता के लिए मोती, रजत, कुन्द; प्रेमिका के लिए कलिका, सुमन; प्रेमी के लिए मधुप; मानसिक आकुलता के लिए झंझा, तूफ़ान; नम्रता के लिए प्रार्थना; कुटिल व्यक्ति के लिए काँटा; भावों के लिए झंकार, लहर आदि। इन अप्रस्तुतों में प्रस्तुतों के समान ही सुन्दरता, कोमलता, भीषणता आदि विशेषताएँ पाई जाती हैं। आकृति-प्रकृति, रूप-रंग आदि को देखकर उनका प्रयोग नहीं हुआ है, वरन् उनसे उत्पन्न होनेवाले भावों का ध्यान रक्खा गया है। छायावाद की अप्रस्तुत-योजना में नाप-जोख की प्रवृत्ति का अभाव है। चन्द्रिका के द्वारा हमारे हृदय में आनन्द का संचार होता है और अंधकार के द्वारा विषाद का। अतएव

इस प्रभाव की समानता के आधार पर सुख-दुख के लिए 'चन्द्रिका' और 'अँधेरी' क्रमशः दोनों उपमान के रूप में व्यवहृत हुए हैं—

लिपटे सोते थे मन में
सुख-दुख दोनों ही ऐसे
चन्द्रिका अँधेरी मिलती
मालती-कुञ्ज में जैसे
—प्रसाद

नायिका के हास्य की सुन्दरता का बोध केवल अप्रस्तुत योजना के सहारे कराया गया है। उसमें प्रस्तुत की सुन्दर अभिव्यंजना के लिए उपमान नहीं लाया गया है। फिर भी वर्णन में अत्यधिक सजीवता है—

विकसित सरसिज-वन-वैभव
मधु ऊषा के अंचल में,
उपहास करावे अपना
जो हँसी देख ले पल में।
—प्रसाद

भावों के गोचर-विधान के लिए छायावाद में चित्रमय अप्रस्तुतों की अवतरणा की जाती है, जिससे कविता में अधिक प्रभावशालिता का आगमन होता है—

खैंच ऐंचीला-भ्रू-सुर-चाप
शैल की सुधि यों बारंबार
हिला हरियाली का सुदुकूल
झुला झरनों का झलमल हार,
जलद-पट में दिखला मुख-चन्द्र
पलक पल-पल चपला के भार
भग्न उर पर भूधर-सा हाय!
सुमुखि! धर देती है साकार
—पंत

रूपक का व्यवहार जिस प्रकार प्राचीन कविताओं में होता था, छायावाद में भी उसका व्यवहार पाया जाता है। लम्बे-लम्बे रूपकों का भी अभाव नहीं है। इसमें व्यंग्य-रूपक अधिक पाये जाते हैं। कुसुम-शराहता नायिका पर सखियाँ कैसी फबतियाँ कसती हैं—

प्रथम भय से मीन के लघु बाल जो
थे छिपे रहते गहन जल में, तरल
ऊर्मियों के साथ क्रीड़ा की उन्हें
लालसा अब है विकल करने लगी!
—पंत

नीचे की पंक्तियों में भाव के साथ किसलय और बालक का साम्य संस्थापित कर व्यंग्य-रूपक की योजना की गई है—

सजा सुमनों के सौरभ-हार
गूँथते वे उपहार,
अभी तो हैं ये नवल-प्रवाल
नहीं छूटी तरु-डाल,
विश्व पर विस्मित चितवन डाल
हिलाते अधर प्रवाल!
न पत्रों का मर्मर संगीत,
न पुष्पों का रस, राग, पराग
एक अस्फुट, अस्पष्ट, अगीत,
सुप्ति की ये स्वप्निल-मुसकान,
सरल शिशुओं के शुचि-अनुराग,
वन्य-विहगों के गान!
—पंत

भाव या वस्तु की अविकल व्यंजना से हृदय पर उतना प्रभाव नहीं पड़ता। पर जब किसी भाव या वस्तु की व्यंजना व्यापारों के चित्रण द्वारा की जाती है तब उसमें अधिक मार्मिकता का समावेश हो जाता है। व्यापारों के चित्रण से भाव-ग्रहण में कठिनाई नहीं होती। नीचे के अवतरण में निष्ठुरता की व्यंजना व्यापारों के द्वारा की गई है। केवल यह कहने से कि 'तुम बहुत निष्ठुर हो' हमारा हृदय उतना प्रभावित नहीं होता, जितना उसकी निष्ठुरता का चित्र व्यापार द्वारा उपस्थित करने से—

रो-रोकर सिसक-सिसक कर
कहता मैं करुण कहानी,
तुम सुमन नोचते सुनते
करते जानी-अनजानी।
—प्रसाद

छायावाद में प्रतीकों को अधिक अपनाया गया है। प्रतीक में भावों को जगाने की क्षमता वर्तमान रहने के कारण कविता की मार्मिकता बढ़ जाती है। जिस वस्तु के प्रति हमारे हृदय में उसकी विशेषता को देखकर कोई एक निश्चित धारणा बन जाती है, उस शब्द का प्रयोग कविता में प्रतीकवत् होता है। सभी देश के प्रतीक एक प्रकार के नहीं होते। इसका कारण देशों की भिन्न-भिन्न परिस्थिति तथा संस्कृति है। जिस वस्तु को देखने से भारतीय के हृदय में आनन्द का संचार होता है उसके अवलोकन से फ़ारस के रहनेवाले ख़ुश

नहीं हो सकते। छायावाद में जिन प्रतीकों का व्यवहार हुआ है उनमें देशगत विशेषताओं का अभाव नहीं है और उनकी सार्वभौमिकता की ओर भी ध्यान रक्खा गया है। छायावाद में प्रतीक-ग्रहण की प्रवृत्ति बहुत अधिक है, किंतु प्रतीक के परिमित संख्या में रहने के कारण प्रकृति के क्षेत्रों से नवीन-नवीन प्रतीकों का संचय किया गया है। अतएव भावग्रहण में कुछ कठिनाई का बोध होता है। किन्तु इस अवस्था की अवस्थिति उनके बारबार के प्रयोग से बहुत दिनों तक नहीं रहेगी। जहाँ लक्षणा के सहारे प्रतीकों का व्यवहार हुआ है वहाँ दुरूहता का आना स्वाभाविक ही है। नीचे की पंक्तियों में गम्भीर क्षोभ के लिए झंझा-झकोर तथा हर्ष के लिए नीरदमाला का प्रयोग हुआ है। ये प्रतीक देशगत हैं। भारत में ग्रीष्म के झंझा-झकोर से प्रसन्नता होने के बदले विषाद उत्पन्न होता है, लेकिन योरप में शीत की प्रधानता होने के कारण ग्रीष्म का आगमन हर्ष का सूचक है। उसी प्रकार नीरदमाला भारत के लिए आनन्द की वस्तु है तो योरप के लिए विषाद की। देशगत प्रतीकों का स्वागत होना ठीक है, परंतु व्यक्तिगत प्रतीक काव्य के लिए सर्वथा अनुपयुक्त सिद्ध होते हैं। यदि किसी को ज्येष्ठ की चिलचिलाती धूप से आनन्द-बोध हो तो वह काव्य में प्रतीक की विशेषताओं को नहीं पा सकती। अधिक-से-अधिक लोगों की भावना को उच्छ्वसित करनेवाली वस्तु ही प्रतीक के उपयुक्त होकर काव्य की सुषमा बढ़ा सकती है—

> झंझा झकोर गर्जन था,
> बिजली थी, नीरद माला,
> पाकर इस शून्य हृदय को
> सबने आ डेरा डाला।
>
> —प्रसाद

एक दूसरा उदाहरण—

> विश्व-मंच पर हास-अश्रु का
> अभिनय दिखला बारंबार।
>
> —पंत

हास और अश्रु का प्रयोग सुख-दुःख के लिए हुआ है। हास और अश्रु सभी देशों में आनन्द और विषाद के सूचक माने जाते हैं। इन दोनों प्रतीकों में सार्वभौमिकता के साथ स्पष्टता भी वर्तमान है।

> वह जिसको पतझर था वसन्त
> क्या तेरा पाहुन है समाधि? —महादेवी

यहाँ 'पतझर' और 'वसन्त' दुःख और सुख के स्थान पर आये हैं। इनमें वास्तविक भाव के उद्बोधन की क्षमता पाई जाती है, क्योंकि 'पतझर' में विषाद का घनत्व है और वसन्त में आनन्द का समन्वय।

> रजतरश्मियों की छाया में
> धूमिल घन-सा वह आता।
>
> —महादेवी

जब असमय में बादल आकाश में इधर-उधर उड़ने लगते हैं तब हमारे हृदय में आह्लाद के बदले विषाद उत्पन्न होता है। चन्द्रमा की रजत-रश्मियों के बादल से ढक जाने पर हम दुःखित हो उठते हैं। प्रकाश सुख का उद्बोधक है और अंधकार दुःख का। इसी आधार पर सुख के लिए 'रजत-रश्मियों की छाया' व्यवहृत हुई है। 'धूमिल घन' का दुःख के उपमान के सदृश प्रयोग हुआ है। नवीन प्रतीक होने के कारण इससे विशिष्ट भाव जाग्रत् नहीं होता, यद्यपि वह प्रतीक की सभी विशेषताओं से पूर्ण है।

> उषा का था उर में आवास
> मुकुल का मुख में मृदुल विकास
> चाँदनी का स्वभाव में भास
> विचारों में बच्चों के साँस
>
> —पंत

इसमें लाक्षणिकता की सहायता से प्रतीकों का निर्माण हुआ है। हृदय के उल्लास के लिए उषा का आवास, सुकुमार तथा मधुर वाणी के लिए मुकुल का मृदुल विकास, स्निग्ध तथा आनन्दवर्धक स्वभाव के लिए चाँदनी का भास और भोलेपन तथा सरलता के लिए 'बच्चों के साँस' का प्रयोग कर कवि ने कविता की उत्कृष्टता बढ़ा दी है।

> दृगों में सोते हैं अज्ञात
> निदाघों के दिन, पावस-रात,
> सुधा का मधु हाला का राग
> व्यथा के घन, अतृप्ति की आग,
> छिपे मानस में पवि-नवनीत
> निमिष की गति निर्झर के गीत।
>
> —महादेवी

इसमें भी लाक्षणिक प्रतीकों के द्वारा भावों की व्यंजना की गई है। निदाघों के दिन से कठोरता का, क्रोध का तथा पावस की रात से करुणा का निर्देश होता है। सुधा स्वतः प्रतीक है। उसके मधु के विषय में अब तक कोई निश्चित धारणा नहीं है। यहाँ

इसके प्रयोग का लक्ष्य शीतलता, सरलता तथा शांति का बोध कराना है। मदिरा मादकता से पूर्ण होती है। यहाँ हाला का राग मादकता की ओर ही संकेत करता है। यों तो हाला से ही काम चल सकता था, परन्तु गम्भीरता के लिए उसका राग (या लालिमा) कर दिया गया है। पवि और नवनीत दोनों सार्वभौमिक प्रतीक हैं। एक कठोरता का दूसरा कोमलता का द्योतक है। पलक मारने में बहुत थोड़ा समय लगता है और निर्भर का कल-कल स्वर निरन्तर जारी रहता है। इन्हीं विशिष्टताओं के आधार पर एक का प्रयोग क्षणभंगुरता या अस्थिरता और दूसरे का अविच्छिन्नता या अविरलता के लिए हुआ है। नीचे के उदहारण में यद्यपि लाक्षणिक प्रतीक ही है तथापि उसमें अस्पष्टता है—

प्राणों के अन्तिम पाहुन !
—महादेवी

यह मृत्यु का निर्देशक सार्वभौमिक प्रतीक है। इस प्रकार के प्रतीक की योजना से भाव की बोधगम्यता में दुर्बोधता नहीं आती।

बहुत स्थलों पर प्रतीक की योजना उपमान के रूप में की गई है। मोती में अश्रु का प्रतीकत्व है। वह नीचे की कविता में उपमान के समान व्यवहृत हुआ है। तारक-पलकों में स्वप्न हिमजल बनकर आँसुओं के समान न लिखकर, मोतियों के समान लुढ़क जाते लिखा गया है—

हिमजल बन, तारक-पलकों से,
उमड़ मोतियों से अवदात।
सुमन के अधखुले दृगों में,
स्वप्न लुढ़कते जो नित प्रात!
—पंत

लाक्षणिक मूर्तिमत्ता का एक उदाहरण—
अभिलाषाओं की करवट,
फिर सुप्त कथा का जगना,
सुख का सपना हो जाना,
भींगी पलकों का लगना।
—प्रसाद

छायावाद में लाक्षणिक प्रयोग बहुत अधिकता से हुआ है। लाक्षणिकता की अधिकता पाश्चात्य साहित्य की प्रेरणा का परिणाम है। बहुत से विद्वान् लक्षणाओं से न मालूम क्यों खीझते हैं। जब लक्षणा के आधार पर अप्रस्तुत-योजना की जाती है तब कविता की मार्मिकता तथा भाषा की व्यंजकता बहुत अधिक बढ़ जाती है। सूक्ष्म भावों का मूर्त्त विधान होता है और उसके द्वारा प्रभाव में भी वृद्धि हो जाती है। हाँ, लक्षणा पर लक्षणा करने से कुछ क्लिष्टता अवश्य आती है, लेकिन यह विकासशीलता तथा शैली की प्रगल्भता का परिचायक है। छायावाद में बेढंगा लाक्षणिक चमत्कार दिखलाकर—जिसमें हृदय की अंतर्वृत्तियों के रमाने की शक्ति की कमी हो——भाषा और भाव को दुर्बोध बनाने की प्रवृत्ति का अभाव है। "कथाओं का सोना-जगना तो सहा जा सकता, क्योंकि अभिलाषाओं को जगते लोग बुरा नहीं मानते हैं, पर जब अभिलाषाएँ करवट बदलने लगती हैं तो एक अद्भुत दृश्य उपस्थित हो जाता है। जगने के पहले करवटें बदली जाती हैं, पर यहाँ जगना शब्द स्वयं लक्षणा पर निर्भर है। इसके आधार पर और भी आगे बढ़ते जाना कहाँ तक उचित है?"* सच्ची कविता वही कहला सकती है जिसमें भावोद्रेक करने की क्षमता वर्तमान हो। हृदय में भावों की तरंग-माला प्रवाहित करने के लिए भावाभिव्यंजक शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। जिस कविता में भावों की व्यंजना करनेवाले जितने ही शब्द रहेंगे वह उतनी ही उत्तम समझी जायगी। कविता का उद्देश्य भी तो भावों की व्यंजना ही है। अभिलाषाओं की करवट के द्वारा कवि उस अवस्था का दिग्दर्शन कराना चाहता है जब अभिलाषा न तो सोई रहती है और न एकदम जगी ही। उस विशेष अवस्था के लिए, जिसे अभिलाषा का प्रारम्भिक अथवा उपक्रम-काल कह सकते हैं, जब कवि को कोई भावाभिव्यंजक शब्द नहीं मिला तब उसने लक्षणा पर लक्षणा की है। इससे भाव की बोधगम्यता में किसी प्रकार की कमी नहीं आती। इसके प्रयोग का लक्ष्य-वैचित्र्य अथवा कुशलता का प्रदर्शन नहीं है। छायावाद-युग लाक्षणिक प्रयोग की प्रारम्भिक अवस्था था। अँगरेज़ी आदि के साहित्य में इसका बहुत विकास हो चुका है। इससे पूर्णतः परिचित न रहने के कारण ही हमारे मस्तिष्क को कुछ श्रम करना पड़ता है, किन्तु इसमें घबराने की आवश्यकता नहीं है।

---

* आधुनिक हिंदी-साहित्य का इतिहास—कृष्ण-शंकर शुक्ल, पृ० सं० ३९६ [प्रथम संस्करण]

इस प्रकार की किसी नवीन वस्तु को देखते ही हौवा समझ लेने से साहित्य की विकासशील प्रकृति की अवहेलना होती है। इस प्रकार का कार्य निंदनीय नहीं, सर्वथा सराहनीय है।

सूक्ष्म भावों के गोचर-विधान से प्रभविष्णुता बहुत अधिक बढ़ जाती है। छायावाद में इस प्रवृत्ति का आधिक्य है। कल्पना का क्रीड़ा करना, पीड़ा का खेलना, अभिलाषा का सिसकना, आशा का हँसना, उल्लास का नाचना, स्वप्न का विचरना आदि इसी प्रकार के प्रयोग हैं।

विश्व के पलकों पर सुकुमार
विचरते थे जब स्वप्न अजान!

—पंत

स्वप्न का कोई मूर्त्त रूप नहीं है। विचरण करने के लिए कम-से-कम दो पैरों की आवश्यकता होती है। किन्तु स्वप्न के बाद युग-पद का अभाव है। इस अवस्था में उसका विचरण असम्भव है। ऐसा प्रयोग भावों की गोचरता के अभिप्राय से किया गया है, जिससे हमारे सम्मुख स्वप्न का चलता-फिरता रूप खचित हो जाता है। वस्तुतः काव्य का उद्देश्य भावों को अधिकाधिक बोधगम्य बनाना है।

आशा दुख की छाया में
बेहोश पड़ी है सोती —द्विज

मानव-हृदय दुःख के उत्पीड़न से जब त्रस्त हो जाता है तब आशा ही उसे जीवित रखने में समर्थ होती है। कभी-कभी ऐसा अवसर भी आता है जब मानव अपनी आशा खो बैठता है। उसी अवस्था का चित्रण कवि ने ऊपर की दो पंक्तियों में किया है। दुःख के आधिक्य से आशा का विनाश नहीं होता, उसकी अवस्थिति मृत्यु के अन्तिम क्षण तक रहती है। इस प्रकार दुःख की छाया में आशा का बेहोश होना मनोवैज्ञानिक सत्य है।

मनुष्य के श्रान्त होने पर आलस का आगमन होता है और आलस के बाद परिश्रान्ति दूर हो जाती है। इसलिए आलस को पाकर श्रम के विश्राम करने की कल्पना स्वाभाविक तथा वैज्ञानिक है—

कामायनी पड़ी थी अपना कोमल चर्म बिछा के,
श्रम-विश्राम कर रहा मृदु आलस को पाके।

—प्रसाद

चाह के द्वारा हमारे हृदय की भावनाओं का जागरण होता है। इसकी व्यंजना कवि ने चाह की मूर्तिमत्ता के द्वारा की है। जिस प्रकार वीणा के तार हाथों के स्पर्श से झनझना उठते हैं, उसी प्रकार चाहना की स्फूर्ति से अनेक भावनाओं की सृष्टि होती है। निम्न अवतरण में कवि का अभिप्राय यह है कि मैं तुम्हारी भावनाओं में से एक हूँ—

चाह की मृदु उँगलियों ने छू हृदय के तार,
जो तुम्हीं में छेड़ दी मैं हूँ वही झंकार!

—महादेवी

लज्जा और करुणा दोनों अन्तर्लोक की भावात्मक विभूति हैं। करुणा मनुष्य के हृदय में दूसरे के दुःख पर जाग्रत् होती है, किन्तु लज्जा में करुणा का संचार असम्भव है। यहाँ कवि ने 'लज्जा की करुणा' के द्वारा लज्जा की करुणापूर्ण अवस्था की लक्षणा की है, जब दुःख के दिन में वह अपनी रक्षा करने में पूर्णतः असमर्थ रहती है—

कलियों की घन-जाली में
छिपती देखूँ लतिकाएँ,
या दुर्दिन के हाथों में
लज्जा की करुणा देखूँ!—महादेवी

किन्तु, लक्षणा के सहारे बहुत दूर तक चला जाना अच्छा नहीं जान पड़ता। अनेक स्थलों पर इस प्रकार का लाक्षणिक चमत्कार उपस्थित किया गया है जहाँ क्लिष्टकल्पना की ज़रूरत पड़ती है। 'करुणा की नव अँगड़ाई', 'निश्वासों के रोदन', 'इच्छाओं के चुम्बन' आदि से खींचतान करने पर सुन्दर अर्थ नहीं निकलता।

जिस प्रकार अमूर्त्त के लिए मूर्त्त-विधान किया जाता है उसी प्रकार गम्भीरता लाने के लिए मूर्त्त को भावात्मक रूप में प्रकट करने की भी प्रवृत्ति है। सूक्ष्म की मूर्तिमत्ता सरल है, किन्तु मूर्त्त को सूक्ष्म भाव के रूप में परिवर्तित करना श्रमसाध्य है। छायावाद में इस प्रकार की प्रवृत्ति का भी दर्शन होता है, किन्तु इसका आधिक्य नहीं है। नीचे की पंक्तियों में अपरिचित व्यक्ति, जो मूर्त्त है, उसके स्थान पर अपरिचित साँस के व्यवहार से गम्भीरता का समावेश हो गया है—

स्वप्न के सस्मित अधर पर नींद में
एक बार किसी अपरिचित साँस का
अर्धचुम्बन छोड़ मैं झट चौंककर
जग पड़ी हूँ अनिल-पीड़ित लहर-सी।

—पंत

मूर्त्त वस्तु की भावात्मक सत्ता में उस वस्तु की सभी विशेषताओं का संस्थापन बहुत दुरूह-सा है और वैसा करने की आवश्यकता भी नहीं पड़ती। केवल उस वस्तु की, जिसे भाव के रूप में परिणत करना रहता है, एक मुख्य विशेषता के आरोप से काम चल जाता है। हाँ, कवि का ध्यान उस विशेषता की सार्वभौमिकता पर अवश्य रहता है। नीचे के अवतरण में लज्जावनता सुन्दर रमणी के लिए 'लाज-भरे सौन्दर्य' का प्रयोग बहुत उत्तम बन पड़ा है—

हे लाज भरे सौन्दर्य बता दो
मौन बने रहते हो क्यों ?

—प्रसाद

एक दूसरा उदाहरण—

अल्पता की संकुचित आँखें सदा,
उमड़ती हैं अल्प भी अपनाव से।

—पंत

तुच्छ व्यक्ति का हृदय थोड़ा-सा अपनापन प्रकट करने से ही भर आता है और उसकी आँखों से आँसू टपकने लगते हैं। उसकी संकुचितता की व्यंजना 'संकुचित आँखों' से हो जाती है। यहाँ तुच्छ व्यक्ति के लिए अल्पता का प्रयोग किया गया है। यद्यपि यह प्रयोग सुन्दर बन पड़ा है, तथापि इसमें कुछ अस्पष्टता आ गई है।

प्रेम का प्रथम प्रणय-चुम्बन,
पाश डाले थे कोमल हाथ।

—भगवतीचरण

यहाँ प्रेमी के लिए, जिसका धर्म प्रेम करना है, प्रेम शब्द का व्यवहार हुआ है। इससे विशेषता यह आ गई है कि प्रेम की मधुमयी सरिता हमारी आँखों के सम्मुख प्रवाहित होने लगती है। धर्मी के लिए धर्म का प्रयोग मूर्त्त को सूक्ष्म में परिवर्तित करनेवाली प्रवृत्ति के अन्तर्गत ही आता है।

साँस दुःख का घूँट नहीं पी सकती। दुःख की अधिकता से मनुष्य का हृदय आकुल हो जाता है, तब वह 'ठण्डी साँसें' छोड़ता है। नीचे के पद्यांश में दुःखित व्यक्तियों के लिए 'ठण्डी साँसों' का प्रयोग हुआ है जिससे भाव में गम्भीरता आ गई है—

दुख की घूँटें पीतीं यो ठण्डी साँसों को देखूँ !

—महादेवी

भारतीय काव्य में सुधा का प्रतीकत्व बहुत दिनों से मान्य है। किसी ने उसको अब तक देखा नहीं है, किन्तु उसकी अमरता-जन्य आकर्षण-कारिता तथा अद्भुत शक्ति ने हमारे हृदय को बहुत अधिक प्रभावित किया है। उसे हमारी संस्कृति तथा सभ्यता के आदर्श की अनुकूलता प्राप्त है। सुन्दर रमणी के लिए अमृत की प्राणान्वित लहर कहना, बहुत ही प्रभावोत्पादक तथा युक्तियुक्त है। इससे उसकी मनोहरता तथा आकर्षणकारिता की व्यंजना होती है—

नित्य ही मानव तरंगों में अतल
मग्न होते हैं कई, पर इस तरह
अमृत की जीवित लहर की बाँह में
जगत में कितने अभी झूले भला !

—पंत

प्रसंग इस लाक्षणिक वक्रता के सौन्दर्य को और भी उद्भासित कर देता है। यह उक्ति उस व्यक्ति की है जो तालाब में डूब गया था और जिसे एक नायिका ने निकालकर जीवन-दान दिया था। अमृत का कार्य मृतक को सप्राण करना है और वही कार्य उस नायिका ने भी किया।

छायावाद में विशेषण-विपर्यय अलंकार का भी प्रयोग बहुतायत से हुआ है। विशेषण-विपर्यय अँगरेज़ी का अलंकार (transferred epithet) है। उसका मूल हिन्दी-साहित्य में बहुत पहले से था, लेकिन लक्षणावृत्ति की सहायता से अब उसका विकास हो गया है। उसमें अभिधावृत्ति के अनुसार विशेषण का जो स्थान निर्धारित है उसे वहाँ न रखकर लक्षणा के द्वारा दूसरी जगह में उसकी योजना की जाती है। जैसे—

कल्पने ! आओ, सजनि उस प्रेम की,
सजल सुध में मग्न हो जावें पुनः।

—पंत

प्रिय के बिछड़ जाने पर उसकी स्मृति-मात्र से आँखें डबडबा आती हैं। सजल होना आँखों का गुण है, किन्तु यहाँ इस 'सजल' विशेषण का सम्बन्ध आँखों से नहीं, सुध से है। इस प्रकार विशेषण के विपर्यय से कविता में चमत्कार आ गया है। प्रेम के प्रयोग से, जो प्रिय का धर्म है, प्रभाव की समता बहुत बढ़ गई है।

ऋषियों के गम्भीर-हृदय-सी,
बच्चों के तुतले भय-सी।

—पंत

भय तुतला नहीं हो सकता। तुतलाहट किसी की

वाणी में ही सम्भव है, लेकिन यहाँ कवि ने इस विशेषण का प्रयोग भय के लिए कर काव्य में चमत्कारिता उपस्थित कर दी है। 'तुतले-भय' का लक्ष्यार्थ तुतली बोली में व्यंजित भय है। लक्ष्यार्थ के द्वारा ही उस पद्यांश का यह अर्थ बोध होगा कि तुम बच्चे के उस भय के समान हो जिसे वह अपनी तुतली वाणी में व्यक्त करता है।

भीख की भूखी झोली छीन,
मान सच, कुछ भी पावेगी न।
—द्विज

वस्तुतः यहाँ भूखा है भिखारी, किन्तु भूखेपन का आरोप झोली पर किया गया है।

आँखें आँसुओं के कारण गीली होती हैं। गान गीला नहीं हो सकता। किन्तु, गान में करुणा की व्यंजना के लिए विशेषण को प्राकृत विशेष्य से हटाकर 'गीला गान' लिखा गया है। यहाँ गीला-गान का अभिप्राय व्यक्ति की वेदना-पूर्ण वाणी है—

अहह! मेरा यह गीला गान?
—पंत

फेनिल विशेषण जल के लिए अधिक उपयुक्त है, किन्तु कवि ने मोती की शुभ्रता को और बढ़ाने के लिए—जिसका नियोजन चुम्बन के लिए किया गया है—फेनिल का सम्बन्ध चुम्बन के साथ स्थापित किया है। यहाँ मोती का व्यवहार उपलक्षण या प्रतीक के रूप में शुभ्रता की व्यंजना के लिए हुआ है। मोती के चुम्बन का मतलब उस स्वच्छ और शुभ्र चुम्बन से है जिसमें वासना की कलुषता नहीं, हृदय की पवित्रता विद्यमान रहती है—

मोती का फेनिल चुम्बन!
—आरसी

और—

मूक व्यथा का मुखर भुलाव!
—पंत

विशेषण-विपर्यय अलंकार प्रयोजनवती लक्षणा पर अवलम्बित है। उसके द्वारा भाषा की अभिव्यंजना-शक्ति का बहुत विकास होता है और उसमें प्रगल्भता तथा वक्रता का भी समावेश हो जाता है। 'मूक व्यथा का मुखर भुलाव' में व्यथा तथा भुलाव दोनों में विशेषणों का विपर्यय हुआ है। वस्तुतः व्यथा नहीं, व्यथित व्यक्ति मूक है और भुलाव मुखर नहीं, बल्कि भूलनेवाला मुखर है। इसमें विशेषण-विपर्यय तथा अमूर्त के गोचर-विधान से, दुहरी लाक्षणिकता के कारण काफ़ी गम्भीरता आ गई है।

छायावाद को शिशु-सौंदर्य ने विशेष आकृष्ट किया है। इसी लिए उसने 'मेघों के लघु बाल', 'कुसुम-कुमार', 'बाल-शिखी' आदि में अत्यधिक मृदुल सौन्दर्य का दर्शन किया है। यद्यपि कई स्थलों पर केवल चमत्कार और वक्रता के लिए 'नयनों के बाल' (आँसू) 'नयनों के नादान-शिशु (=आँसू) जैसे प्रयोग हुए हैं, किन्तु 'अलि-शिशु', 'विहग-कुमार', 'मधुपकुमारी', 'शिखी-शावक', 'बाल-विद्युत्', 'बाल-रजनी', 'मेघ के सुन्दर शावक', 'मराली बालिका' आदि जैसे प्रयोगों का ही आधिक्य है। किसी की महत्ता पर हम आश्चर्य-चकित ही होकर रह जाते हैं, लेकिन शैशव की सरलता तथा निष्कपट सुन्दरता हमारे हृदय को विमुग्ध कर देती है। वस्तुतः शिशु-सौन्दर्य स्वर्ग-सुख का स्रष्टा है। उसमें पवित्रता तथा मृदुता का अधिवास है। इसी लिए महात्मा ईसा को इस सरल सौन्दर्य की उपासना में आनन्द की अधिक प्राप्ति होती थी। उन्होंने कहा है—छोटे-छोटे बच्चों को मेरे पास आने दो, क्योंकि स्वर्ग का राज्य ऐसा ही है। यही कारण है कि छायावाद को शिशुता के सौंदर्य ने अधिक लुभाया है।

कविता में चित्रोपमता लाने और चित्र में अंतर्जगत् की सूक्ष्म भावनाओं का प्रदर्शन करने का प्रयत्न बहुत दिनों से हो रहा है। कवि के हृदय में चित्र-सौंदर्य प्रच्छन्न रूप से वर्तमान रहता है। कविता जब सूक्ष्म भावों की अभिव्यक्ति नहीं कर पाती तब चित्र के सहयोग द्वारा उन भावों का मूर्त्त रूप प्रस्तुत करती है। भावों के पूर्ण चित्रांकन में ही कवि की सफलता है। निगूढ़तम विचार, मृदुलतम भाव और स्वर्गोपम कल्पना के रहते हुए भी चित्र की पूर्णता के अभाव में कविता अपनी मनोहरता की रक्षा नहीं कर सकती। अंतर्लोक के मधुर भावों को अलंकार, छंद, भाषा आदि के द्वारा चित्रमयता प्राप्त होती है, किंतु जो पूर्णतः अनिर्वचनीय और भाषातीत है उसकी अभिव्यक्ति के लिए संगीत का आश्रय लेना पड़ता है। चित्र भावों को मूर्त्तता प्रदान करता है और संगीत उनमें गतिशीलता भरकर प्राण-संचार करता है। संगीत की गतिशीलता ही कविता और चित्र में सजीवता, हृदय-स्पर्शिता तथा भाव-मग्नता प्रदान करती है। चित्र में संगीत नीरव रहता है और कविता में स्वरयुक्त। स्वर-युक्त संगीत की अपेक्षा

नीरव संगीत की अनुभूति कराना कठिन है। यहाँ कवि की तुलना में चित्रकार का अधिक महत्त्व है, किंतु उसे कवि के समान अभिनव वस्तुओं की सृष्टि की आकांक्षा नहीं रहती। वह वस्तुओं के रूप में आत्म-स्पंदन देकर ही संतुष्ट हो जाता है। कवि सौंदर्य के स्थूल चित्रों के अतिरिक्त गत्यात्मक सौंदर्य को भी अपनी कविता में प्रतिष्ठित करता है, क्योंकि उसके पास नादसौंदर्य का विस्तृत वैभव संचित है। किंतु चित्रकार क्रियाशीलता के चित्रांकन में पूर्ण सफल नहीं हो सकता, वह गति की एक चंचल झाँकी दिखाकर ही बैठ जाता है। अंतर्वृत्तियों की सूक्ष्म, किंतु विस्तृत व्याख्या कविता द्वारा ही संभव है। चित्र एक अद्भुत क्षण की, एक अनुपम काल की ही अनुभूति प्रदान करने में समर्थ है। उसमें कविता की विस्तृति और भावों के मर्म तक पहुँचने की क्षमता का अभाव है। चित्र-सौंदर्य नेत्रों के सन्निकर्ष से हृदय पर प्रभाव डालता है और काव्यगत चित्र मन के माध्यम से आँखों के सम्मुख रूप संघटित करता है। कवि के चित्रों में चित्र-कार के चित्र की अपेक्षा अधिक रमणीयता तथा मार्मिकता रहती है। चित्र कविता का साधन-मात्र है, लेकिन उसकी उपेक्षा करने से कविता में संपूर्णता नहीं आ सकती, क्योंकि भावों के गोचर-विधान से ही मानव-हृदय पर अभीष्ट प्रभाव संभव है और भावों की मूर्तिमत्ता के लिए चित्र का सहयोग अनिवार्य है। छायावाद ने चित्रोपमता को एक आवश्यक अंग के रूप में अपनाया है। अतएव उसमें सजीवता का अधिक समावेश हो गया है। रंगों के सूक्ष्म ज्ञान के कारण काव्यगत चित्रों की मनोहरता तथा रमणीयता बहुत बढ़ गई है। लज्जा की ईषत् लालिमा की, पाटल की सुर्ख़ गुलाबी की और गुलाल की गहरी लाली की, उनके भेदों को दृष्टि में रखकर, योजना की गई है। ताम्र, स्वर्ण, रजत, विद्रुम, मरकत, नीलम आदि के रंगों की बारीकी से चित्रों का सौंदर्य उद्भासित हो उठा है। रंगों की विभिन्नता की पहचान तथा उनका कविता में उपयुक्त स्थलों में संस्थापन बहुत कठिन है। संस्कृत के कादंबरी-कार बाणभट्ट इस कला के आचार्य थे। एक ही रंग के अनेक सूक्ष्म भेदों का दर्शन उनकी रचना में होता है। उनका लाल रंग कहीं लाक्षा के समान है, कहीं कबूतर के तलवे के समान है और कहीं सिंह के ख़ून से रँगे नखों के समान। छायावादी कवियों ने विभिन्न रंगों में रँगी प्रकृति को हृदय के योग से देखा है। इसीलिए वे रंगों के सूक्ष्म भेदों को अलग-अलग दिखाने में समर्थ हो सके हैं। प्राकृतिक पदार्थों के रंगों के अतिरिक्त भावगत रंगों (लज्जा से लालिमा, स्मिति से उज्ज्वल प्रकाश आदि) के द्वारा भी काव्यगत चित्रों का शृंगार किया गया है। अतः छायावाद की चित्रोपमता वर्णयोजना की विकसित कला के संयोग से चमक उठी है।

नीचे की पंक्तियों में संध्या का मदिर नारी-रूप कवि की कल्पना तथा व्यंजनाकुशलता से निखर उठा है। उसके सुघर कपोलों पर लज्जा की हलकी लालिमा है, उसकी भवें टेढ़ी और भावों से बोझिल हैं, उसकी सुनहली कुंतल-राशि इधर-उधर फैली हुई है, उसका स्वर्णाञ्चल हवा के झोंके में फहरा रहा है, उसके पैरों के नूपुरों में खग-कुल की मधुर ध्वनि गुंजित होती है और वह एकाकिनी बादल के स्वर्ण-हिंदोल पर चुपचाप मंथर गति से उतर रही है। इसमें सांध्य सुषमा की सभी विशेषताएँ समन्वित हैं और रंगों का संप्रात-संतुलन हुआ है, किंतु सुनहले केश की कल्पना भार-तीय काव्य के लिए उपयुक्त नहीं जान पड़ती—

> कहो, तुम रूपसि कौन?
> व्योम में उतर रही चुपचाप
> छिपी निज छाया-छवि में आप,
> सुनहला फैला केश-कलाप—
> मधुर, मंथर, मृदु, मौन!
> मूँद अधरों में मधुपालाप,
> पलक में निमिष, पदों में चाप,
> भाव-संकुल, बंकिम, भ्रू-चाप
> मौन, केवल तुम मौन!
> अनिल-पुलकित स्वर्णाञ्चल लोल,
> मधुर नूपुर-ध्वनि खग-कुल-रोल,
> सीप-से जलदों के पर खोल,
> उड़ रही नभ में मौन!
> लाज से अरुण-अरुण सुकपोल,
> मदिर अधरों की सुरा अमोल—
> बने पावन-घन स्वर्ण-हिंदोल,
> कहो एकाकिनि, तुम कौन?
> मधुर, मंथर, मृदु, मौन!
>
> —पंत

संध्या का इससे भी सुन्दर चित्र प्रस्तुत किया गया है। सूर्य जब अपनी ज्योति समेटकर पश्चिम की ओर बिदा होता है तब संध्या सुन्दरी उधर से मादकता

लेकर आती है। उसका तिमिरांचल वायु के प्रबल झकोरे से चंचल नहीं हुआ है। उसके अधरों में मुसकान की बिजली नहीं चमकती, वरन् गंभीरता का अवस्थान है। केवल एक प्रकाश-पूर्ण तारा उसके घुँघराले काले-काले बालों में गुँथा हुआ है और हँस-हँसकर अपने हृदय-राज्य की रानी का अभिषेक करता है। वह अलसता की लता के समान नीरवता-सहचरी के कंधे पर बाँह डालकर छाया के समान आकाश-मार्ग से धीरे-धीरे आ रही है। न उसके हाथों में वीणा है और न उसके पैरों में नूपुर! सभी दिशाओं में नीरवता का साम्राज्य है।

वह संध्या-सुन्दरी परी-सी
धीरे-धीरे,
तिमिरांचल में चंचलता का कहीं नहीं आभास,
मधुर-मधुर हैं दोनों उसके अधर,—
किंतु जरा गंभीर—नहीं उनमें है हास-विलास।
हँसता है तो केवल तारा एक
गुँथा हुआ उन घुँघराले काले-काले बालों से,
हृदय-राज्य की रानी का वह करता है अभिषेक।
अलसता की-सी लता,
किंतु कोमलता की वह कली,
सखी नीरवता के कंधे पर डाले बाँह,
छाँह-सी अंबर-पथ से चली
नहीं बजती उसके हाथों में कोई बीन,
नहीं होता कोई अनुराग-राग-आलाप,
नूपुरों में भी रुनझुन-रुनझुन-रुनझुन नहीं,
सिर्फ़ एक अव्यक्त शब्द-सा "चुप-चुप-चुप?"
है गूँज रहा सब कहीं।
—निराला

संध्या-कालीन सुषमा का कितना सुन्दर चित्र है!

वसंत-रजनी का एक चित्र—

धीरे-धीरे उतर क्षितिज से
आ वसंत रजनी!
तारकमय नव - वेणी - बंधन,
शीश-फूल कर शशि का नूतन
रश्मि-वलय, सित-घन-अवगुंठन,
मुक्ताहल अविराम बिछा दे
चितवन से अपनी!
पुलकती आ वसंत रजनी!
—महादेवी

उसकी वेणी तारिकाओं से जगमगा रही है, चंद्रमा उसका 'शीशफूल' है, उसके कोमल हाथों में रश्मियों की मनोहर चूड़ियाँ हैं और चीनांशुक जैसे उजले बादल के हलके घूँघट से आवेष्टित है। चित्र स्वाभाविक सौंदर्य से प्रस्फुटित हो उठा है।

नीचे के अवतरण में प्रभात-काल का चित्रांकन है, जब धीरे-धीरे आकाश के तारे विलीन होते जाते हैं, पैरों पर चिड़ियों का मधुर कूजन होता है, पवन के मादक स्पर्श से किसलय-दल पुलक से सिहर उठता है और लतिकाओं की नव-कलिकाएँ मधु-रस से भर उठती हैं। यद्यपि 'उषा-नागरी' का सांगोपांग वर्णन इसमें नहीं है तथापि किसी प्रकार के अभाव का दर्शन नहीं होता—

बीती विभावरी, जाग री!
अंबर-पनघट में डुबो रही
तारा - घट ऊषा - नागरी।
खग-कुल कुल-कुल सा बोल रहा
किसलय का अंचल डोल रहा,
लो, यह लतिका भर लाई—
मधु मुकुल नव रस गागरी।
बीती विभावरी, जाग री!
—प्रसाद

अब मधु मास के प्रभात का एक सौंदर्य-पूर्ण मदिर चित्र देखिए जो कवि की लेखनी के स्पर्श से सजीव हो उठा है। इसके पढ़ते ही हमारी आँखों के सम्मुख चंपक रंगवाली मधुमयी उषा का चित्र खिंच जाता है, जिसका मुख कमल के समान सुन्दर है, जिसके कपोलों पर लज्जा-जनित अरुणाभा है, जिसके अधरों पर गुलाबी मुसकान है और जिसका सिर नम्रता से अवनत है।

आज रे मधु का पुलकित प्रात,
अरुण-सस्मित, नत-भाल।
स्फीत मुक्ता-सा, मुख-जलजात,
लाज से लोहित गाल।
प्राण, आया विस्मय अवदात,
सजल, चंपक - सा गात।
—आरसी

छायावाद के अधिकांश चित्रों का आलेखन गहरे रंगों के द्वारा ही हुआ है जिनमें सुनहला, लाल, काला, श्यामल आदि रंगों से विशेष सहायता ली गई है। ऐसे चित्रों का भी अभाव नहीं है जिनमें प्रकाश और रेखाओं के द्वारा ही पूर्णता-प्रदान की गई है। इसमें रंगीन रेखा ... की भी प्राप्ति होती है जिनमें संपूर्णता

युद्ध छिड़ने पर राजभक्तों की तरह चाय भी रण-सज्जा से सुसज्जित हो गई। सैनिक, नाविक व वैमानिक सबके साथ कंधे से कंधा भिड़ाकर चाय हर मोर्चे पर डटी रही। बीमारों व घायलों की देखभाल करती, भग्नहृदयों को उत्साह

दिलाती, घर से बिछुड़ों को धीरज बँधाती, जहां देखिये वहीं चाय दिखाई पड़ रही थी। घनघोर जंगलों और धधकते रेगिस्तानों में, कटकटाते शीत प्रदेश और चिलचिलाते ग्रीष्म प्रदेशों में, थके और निर्जीव-से हो रहे लोगों को चाय से ही जरा प्रसन्नता मिलती थी।

यूरोप के विजयोत्सव में भी चाय सबसे आगे थी। इस दुःखदायी, विनाशकारी, विश्वव्यापी महायुद्ध के अन्त का दूसरा विजयोत्सव भी शीघ्र मनाया गया और उसमें भी चाय, लोगों के आनन्द को दुगुना कर रही थी। यद्यपि चाय ने अभी रण-सज्जा नहीं उतारी परन्तु

भविष्य के शान्तिमय व आराम के दिनों के लिये वह पूरी तैयारी कर रही है। वह दिन अब दूर नहीं जब चाय फिर अपना पुराना स्थान ग्रहण कर लेगी और रोजमर्रा की अनिवार्य वस्तु हो जायगी। आप भी उस दिन की तैयारी कर लीजिये ताकि शान्ति से चाय का आनन्द उपभोग कर सकें।
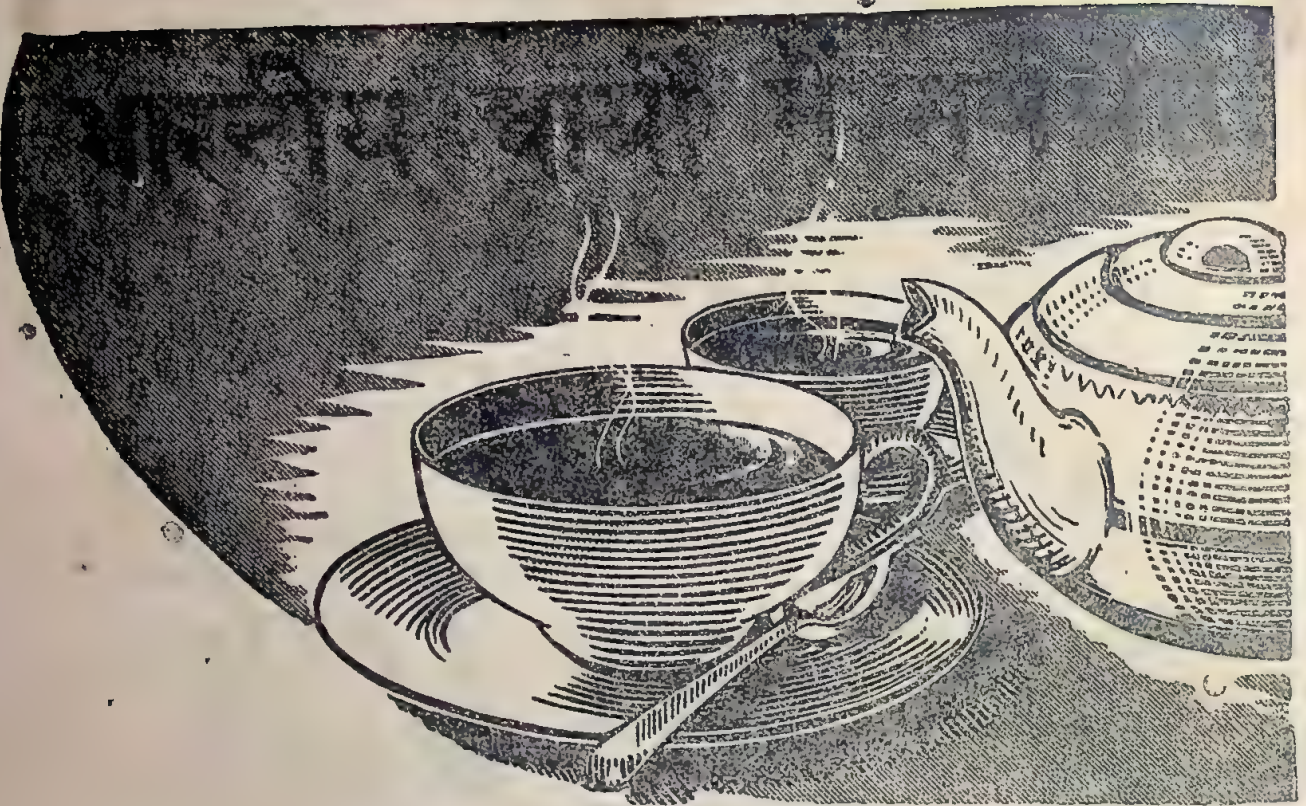
तो नहीं रहती, लेकिन वस्तुओं की अनुपम झलक प्रदर्शित की जाती है जिससे हमारे मन में सौंदर्य का रूप अंकित हो जाता है। नीचे के दोनों अवतरणों में संध्या और प्रभात का, दिन और रात्रि का यही रंगीन रेखांकन है--

(१) गुलालों से रवि का पथ लीप,
जला पश्चिम में पहला दीप,
विहँसती संध्या भरी सुहाग,
दृगों से झरता स्वर्ण-पराग।

और (२) स्मित ले प्रभात आता नित
दीपक दे संध्या जाती,
दिन ढलता सोना बरसा
निशि मोती दे मुस्काती।

—महादेवी

गत्यात्मक सौंदर्य में यह विशेषता है कि वह हृदय को सदा अपनी ओर आकर्षित किये रहता है। चलते-फिरते चित्रों का अंकन स्थिर चित्रों की अपेक्षा कठिन है। गतिशील चित्र बहुत आह्लादकारी तथा प्रभावोत्पादक होता है। सीधे-सादे शब्दों में बाल-क्रीड़ा में रत मार्जार-बाला का सुन्दर चित्रालेखन है। उसके क्रिया-कलाप की गतिशीलता चित्र में भी वर्तमान है--

तूल-सी मार्जार-बाला सामने
निरत थी निज बाल-क्रीड़ा में कभी
उछलती थी फिर दुबककर ताकती
घूमती थी साथ फिर-फिर पूँछ के।

—पंत

नीचे की पंक्तियों में चुम्बन से चकित होना, चंचलता से इधर-उधर देखना, मुख फेर लेना, कभी हँसना, कभी डरना आदि के चित्र चित्रपट के समान चलते-फिरते प्रतीत होते हैं--

चुम्बन-चकित चतुर्दिक् चंचल
हेर, फेर मुख, कर बहु सुख छल
कभी हास, फिर त्रास, साँस-बल
उर सरिता उमगी।

—निराला

छायावाद में भावों का भी सुन्दर चित्र खींचा गया है जहाँ उनकी सारी बारीकियों का समारोप है। लज्जा के परिचय द्वारा उसका सुन्दर और मनोहर चित्र नीचे के उद्धरण में खचित हुआ है--

लाली बन सरल कपोलों में
आँखों में अंजन-सी लगती।
कुंचित अलकों में घुँघराली
मन का मरोर बन जगती।
चंचल किशोर सुन्दरता की
मैं करती रहती रखवाली।
मैं वह हलकी-सी मसलन हूँ
जो बनती कानों की लाली।

—प्रसाद

संगीत की मधुर रागिनी का प्रभाव विश्व के सभी प्राणियों पर पड़ता है। उसे सुनकर मानव अपनी सत्ता तथा परिस्थिति का ज्ञान भूलकर उसमें तन्मय हो जाता है। उसकी मधुरता राग-द्वेष, सफलता-असफलता, विकलता-विह्वलता और दुःख-दीनता को भुला देती है। वह अपनी शक्ति से मानव को बरबस अपनी ओर खींच लेता है, चाहे उसमें भावों का अभाव ही क्यों न हो। जब सूर्योदय के समय कोई गाड़ीवान अपनी गाड़ी पर बैठे ग्रामगीत की कोई कड़ी गा उठता है, तब सहसा हम उस ओर आकृष्ट हो जाते हैं और विस्मय-विमुग्ध होकर सुनने लगते हैं; किसी के विना मतलब के गुनगुना उठने पर भी हमारा हृदय उसे सुनने के लिए लालायित हो उठता है। यद्यपि उसमें भावों का अभाव रहता है तथापि राग, लय, स्वर आदि से जो संगीत का प्रधान अवयव है—हम प्रभावित हो जाते हैं। मानव-हृदय की भावनाओं के उच्छ्वास से कविता और संगीत का उद्भव होता है। कविता और संगीत का अविच्छिन्न सम्बन्ध अस्वीकार नहीं किया जा सकता। एक अँगरेज़ विद्वान् के विचारानुसार कविता शब्दों के रूप में संगीत है और संगीत स्वर-रूप में कविता है। संगीत का सम्बन्ध विश्व के अणु-परमाणु से है। वायु की सन-सन ध्वनि में, बादल के गर्जन-तर्जन में, सरिता के कल-कल स्वर में, समुद्र के गंभीर घोष में, पक्षी की चहचहाती आवाज़ में जहाँ देखिए वहाँ संगीत व्याप्त है। यह पहले ही कहा जा चुका है कि संगीत अनभिव्यक्त भावों को साकारता तथा गतिशीलता प्रदान करता है। कविता नाद-सौंदर्य के लिए संगीत को अपनाती है जिससे उसकी सजीवता तथा मर्मस्पर्शिता अधिक बढ़ जाती है। नाद-सौंदर्य-समन्वित कविता अधिक समय तक जगत् में जीवित रहती है और उसका प्रसार भी अधिक होता है, किंतु उसके अभाव में कविता ग्रंथ की वस्तु बनी [illegible] जाती है। आल्हखंड के अब तक जीवित [illegible] का श्रेय संगीत को ही है। यही बात वि[illegible], सूर आदि के पदों के

सम्बन्ध में कही जा सकती है। इस विशेषता पर छायावाद का विशेष ध्यान है और इसीलिए गेय पदों की रचना की ओर ही उसका अधिक झुकाव है। उनमें गति, लय, प्रवाह आदि के समन्वय से अधिक मधुरता आ गई है। छायावाद का गीतिकाव्य प्राचीन गीतिकाव्य का कलात्मक संस्करण है, और वह छन्द-विधान के द्वारा ही अनुशासित है, क्योंकि छायावादी कवि समझते हैं कि छन्दों का आधार नाद-सौंदर्य है और उसके द्वारा काव्य को दीर्घायु प्राप्त होती है। इसीलिए उन लोगों ने प्राचीन छन्दों का उपयोग बिना हिचकिचाहट के किया और नवीन छन्दों के निर्माण में भी पीछे नहीं रहे। छन्दों की रचना में उन लोगों की प्रवृत्ति विद्वत्ता प्रदर्शित करने तथा केवल विद्रोह को सार्थकता प्रदान करने के निमित्त नहीं है, वरन् भावाकुल हृदय की अभिव्यक्ति करना मुख्य लक्ष्य है। अतः छायावाद के सभी नवीन छन्दों में छन्द की सभी विशेषताएँ, संगीत की लहर तथा राग की धारा प्राप्त होती है।

छायावाद में शास्त्रानुमोदित छन्दों के अतिरिक्त पद्यव्यवस्था से मुक्त काव्य-रचना भी की गई है जिसमें मुक्तछन्द तथा अतुकांत कविताएँ हैं। छन्द और तुक नाद-सौंदर्य के लिए आवश्यक है। तुक लय का शासक है। वह छन्दों के चरण के बीच की स्वर-विभिन्नता को दूर कर देता है, और स्वर को समेटकर एक ताल पर बिठा देता है। संस्कृत वृत्त में अंत्यानुप्रास-हीनता उतनी नहीं खटकती, क्योंकि उसमें लघु-गुरु के क्रम का नियमन रहता है, किन्तु मात्रिक छन्दों में उसका अभाव खटकने लगता है। छायावाद में मात्रिक अतुकांत का ही आधिक्य है। भिन्न तुकांत कविताओं के अतिरिक्त छन्द (Metre) से हीन पद्य की भी रचना हुई है जिसका विरोध 'रबड़ छन्द' 'केंचुआ छन्द' 'कंगारू छन्द' आदि कहकर किया गया, किन्तु इसे भी शास्त्र का अनुमोदन प्राप्त है। ऋग्वेद के बहुत-से ऐसे सूत्र हैं जिनके चरण छोटे-बड़े हैं, लेकिन छायावाद में यह प्रवृत्ति संस्कृत की ओर से नहीं, पाश्चात्य साहित्य से आई है। अमेरिका के कवि वाल्ट ह्विटमैन (Walt whitman) ने सन् १८५५ ई० में छन्द-हीन का[illegible] की रचना की। उसके बाद अन्य साहित्यों में इसका प्र[illegible] तथा प्रसार हुआ। शास्त्रानुमोदित छन्दों के सभी चरणों म[illegible]वाएँ सीमित रहती हैं। अतएव भावों का प्रसार छन्द [illegible]सार करना पड़ता है। बहुत जगह चरणों की पूर्ति के लिए आवश्यक शब्दों की भी योजना करनी पड़ती है जिससे काव्य के स्वाभाविक सौंदर्य का समुचित विकास नहीं हो पाता। मुक्तछन्द में भावों के अनुसार चरण छोटे-बड़े होते हैं, क्योंकि उसका लक्ष्य बाह्य साम्य नहीं, आंतर साम्य है। मुक्तछन्द का प्रधान लक्षण छन्दःशास्त्रों के सभी नियमों से मुक्ति है। "जहाँ मुक्ति रहती है वहाँ बन्धन नहीं रहते, न मनुष्य में, न कविता में। मुक्ति का अर्थ ही है बन्धनों से छुटकारा पाना। यदि किसी प्रकार का शृंखलाबद्ध नियम कविता में मिलता गया तो वह कविता उस शृंखला से जकड़ी हुई ही होती है, अतएव उसे हम मुक्ति के लक्षणों में नहीं ला सकते, न उस काव्य को मुक्तकाव्य कह सकते हैं।"[१] छन्द परिमित लय का साँचा है, परन्तु मुक्तछन्द में लय की स्वतन्त्रता रहती है। उसकी रचना भावयोग के अनुसार नाद-स्फोट और लय-विराम के सिद्धांत पर होती है। उसके चरणों की मात्रा की अनिश्चितता तथा असमानता के बीच एक स्वरधारा निहित रहती है जिससे उसकी गणना छन्दों में होती है। स्वरधारा के अतिरिक्त उसमें गणवृत्तों की तरह गणों की, मात्रिक वृत्तों की तरह मात्राओं की और वर्णवृत्तों (कवित्त आदि) के समान वर्णों की समानता नहीं रहती। "इस छन्द में Art of Reading का आनन्द मिलता है।"[२] मुक्तछन्द की रचना स्वतंत्रता के नाम पर ही की गई है, परन्तु जहाँ स्वतंत्रता का दुरुपयोग किया गया है वहाँ कविता गद्यवत् हो गई है और सौंदर्य का अभाव देख पड़ता है। छायावाद में दो तरह के मुक्तछन्द अपनाये गये हैं—एक अतुकांत मुक्तछन्द और दूसरा सतुकांत मुक्तछन्द, लेकिन दोनों में अधिक अन्तर नहीं है। अतुकांत मुक्तछन्द का सुन्दर प्रवाह-मय उदाहरण देखिए—

> वह एक संध्या थी
> श्यामा-सृष्टि युवती थी
> तारक-खचित नील-पट परिधान था
> अखिल अनन्त में
> चमक रही थीं लालसा की दीप्त मणियाँ—
> ज्योतिर्मयी, हासमयी, विकल विलासमयी,

१—निराला—परिमल, भूमिका, पृष्ठ २१
२—वही ,, ,, पृष्ठ ५१

बहती थी धीरे-धीरे सरिता
उस मधु यामिनी में
मदकल मलय पवन ले-ले फूलों से
मधुर मरंद बिंदु उसमें मिलाता था।

—प्रसाद

सतुकांत मुक्तछन्द—

धँसता दल-दल,
हँसता है नद खल खल
बहता, कहता कुजकुल कलकल कलकल।
देख-देख नाचता हृदय
बहने को महा विकल-बेकल,
इस मरोर से—इसी शोर से
सघन घोर गुरु गहन रोर से
मुझे, गगन का दिखा सघन वह छोर!
राग अमर! अम्बर में भर निज रोर!

—निराला

छायावाद ने कवियों के हृदय में सहृदयता का जन्म दिया जिससे सभी प्रकार के छन्दों को अपनाने की प्रवृत्ति उनमें जाग्रत् हुई। जिस छन्द को भी छायावाद ने अपनाया है, केवल अभिव्यक्ति की सुलभता के लिए। किसी भी छन्द के निर्माण में कवि का लक्ष्य पांडित्य-प्रदर्शन नहीं रहा। इसीलिए नवीन छन्दों में भी भावाकुल हृदय की पूर्ण व्यंजना हो सकी है।

द्विवेदी-काल भाषा का प्रयोग-काल था और छायावाद-युग खड़ीबोली का विकास-काल। द्विवेदी-कालीन कविता भावपक्ष की दृष्टि से जितनी ही शुष्क थी, भाषा की प्रांजलता की दृष्टि से भी उतनी ही नीरस। छायावाद की अंतर्भावों की व्यंजना ने भाषा की खड़खड़ाहट दूर की और उसमें कोमलता, मधुरता तथा रसार्द्रता का समन्वय किया। भाषा में स्निग्ध, प्रसन्न और प्रांजल प्रवाह का आगमन हुआ। उसकी भाव-साधना के समान ही शब्द-साधना भी अंतस्तल की मधुर ज्योति से उद्दीप्त है। भावों की सुन्दरता तथा सुघरपन भाषा में पूरी तरह घुलमिल गया है। इसका प्रत्येक शब्द हृदय के मधुर रस से सिंचित है। उसके एक-एक शब्द की ख़ास क़ीमत है, क्योंकि शब्दों की प्रकृति पर उसका बहुत ध्यान है। भावों के अनुरूप शब्दों के प्रयोग से कविता की मार्मिकता बढ़ जाती है। एक ही शब्द के बहुत से पर्यायवाची शब्द होते हैं, लेकिन संगीत-भेद के कारण उनके द्वारा एक ही पदार्थ के विभिन्न रूपों की व्यंजना होती है। 'झनकार' में जितनी मधुरिमा है, उतनी झंकार में नहीं। एक वीणा के तारों की, कर के मधुर स्पर्श की मीठी आवाज़ है तो दूसरा ज़ोर के आघात से निकला हुआ स्वर। एक हमारे कानों में मधु-मिसरी उड़ेलता है तो दूसरा कान फाड़ने को तैयार देख पड़ता है। 'फूत्कार' से सर्प के फण उठाकर फुफकार करने का चित्र खिंच जाता है। 'आँधी' से 'झंझा' की स्वरूप-व्यंजना नहीं होती। 'झकोर' से वृक्ष के झकझोरने का दृश्य उपस्थित हो जाता है तो 'हिलोर' से छोटी-छोटी लहरियों की उठान का। 'सरकना' शब्द से धीरे-धीरे चलने और रुकने का भाव मालूम होता है। कविता से एक शब्द भी हटाने से भावों की स्पष्ट अनुभूति नहीं हो सकती। इसके अतिरिक्त अनुकृत शब्दों के द्वारा भी भाव-व्यंजना को स्पष्टता प्रदान की गई है। नूपुरों की मन्द-मन्द ध्वनि के लिए 'रुनझुन, रुनझुन रुनझुन', निर्झर की आवाज़ के लिए 'झर-झर' 'कल-कल छल-छल', मधुर हास्य के लिए 'खल-खल', नीरवता के लिए 'चुप-चुप-चुप', झींगुरों के स्वर के लिए 'गुरु गंभीर घहर' आदि का व्यवहार बहुत ही सुन्दर तथा युक्तियुक्त है। इससे कविता-गत भावों का चित्र हमारी आँखों के सम्मुख खचित हो जाता है।

कविता की श्री और सौंदर्य-साधना के लिए छायावाद ने यथेष्ट परिमाण में संस्कृत के तत्सम शब्दों का प्रयोग किया है। यद्यपि अरबी-फ़ारसी के शब्दों का भी व्यवहार हुआ है, तथापि वे उसकी संस्कृति तथा प्रकृति के अनुकूल नहीं है। उर्दू शब्दों में हलकापन रहने के कारण उनसे गम्भीर भावों की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। अतएव संस्कृत के शब्दों का ही छायावाद में प्राधान्य है, किन्तु शब्दों की प्रकृति से पूरी तरह परिचित रहने के कारण उनमें कोमलता, सस्वरता तथा चित्रमयता का सन्निवेश है और भावों का हृत्स्पंदन तथा उनके श्वास-प्रश्वास का स्वाभाविक वेग भी है। कम शब्दों में अधिक भावों की व्यंजना के लिए सामासिक भाषा की आवश्यकता पड़ती है और छायावाद ने उसका उपयोग कर अर्थगौरव की अभिवृद्धि की है, किंतु "उत्ताल-तरंगाघात-प्रलय-घन-गर्जन-जलधि-प्रबल में" (निराला) जैसी समास-बहुल भाषा का अभाव है। भावों के अविकल स्फुरण के लिए स्वप्निल, ऊर्मिल, फेनिल, रोमिल, बोझिल, पंकिल, सर्मिल, तंद्रिल आदि जैसे नवीन शब्दों की सृष्टि की गई है, जो कविता में विशेषण के रूप में

व्यवहृत हुए हैं। व्याकरण-सम्मत प्रयोग की ओर छायावाद का ध्यान है, किन्तु स्थल-स्थल पर कोमलता की रक्षा के लिए लिंग-विपर्यय तथा शब्दों का रूप-विपर्यय भी कर दिया गया है। बड़ी-बड़ी क्रियाओं का सर्वत्र अभाव है, क्योंकि उनसे भाषा की मधुरता पर आघात पहुँचता है। इसकी भाषा का एक बहुत बड़ा दोष न्यूनपदत्व-जनित अस्पष्टता है। शब्दों की कमी के कारण कविता का आशय जल्द ग्रहण नहीं होता जिससे उसमें दुर्बोधता आ गई है। कहीं-कहीं अन्य भाषाओं के शब्दों के प्रयोग भी यथातथ रूप में मिलते हैं। वाक्य-संगठन पर अँगरेज़ी-भाषा का भी प्रभाव लक्षित होता है। व्याकरण के नियमानुकूल ही वाक्य-रचना का संगठन हुआ है। शब्दालंकारों के द्वारा भाषा की सौंदर्य-श्री संवर्द्धित होती है। स्थान-स्थान पर अनुप्रास आदि अलंकारों की कमी नहीं है, किन्तु कहीं उनका दुरुपयोग नहीं हुआ है। वे स्वभावतः काव्य में स्थान पा गये हैं। उनकी योजना के लिए किसी प्रकार का प्रयत्न नहीं लक्षित होता। इसी लिए भाषा में सर्वत्र स्वच्छता तथा सुन्दरता का और वाक्यरचना में उत्तम व्यवस्था का दर्शन होता है। मुहावरे के प्रयोग की ओर छायावाद का झुकाव नहीं है, लेकिन उसका पूर्णतः बहिष्कार नहीं किया गया है। जगह-जगह व्यंजना-पूर्ण सुन्दर मुहावरों का भी नियोजन हुआ है, किन्तु उनकी संख्या परिमित ही है। सारांश यह कि छायावाद की भाषा सरस, सुन्दर, प्रांजल तथा प्रौढ़ है। उसका प्रत्येक अवयव सशक्त तथा मांसल है और उसकी स्नायुओं में सबलता का आधिक्य है। उसमें गद्यभाषा की शुष्कता तथा नीरसता नहीं, वरन् काव्य-भाषा के सौंदर्य, माधुर्य और सौकुमार्य का सन्निवेश है।

कोर्टमार्शल

श्रीराजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

(१)

सर्वेश्वर कुंडू पचास रुपये महीने का एक सबपोस्ट-मास्टर था। ख़ूब सुस्थ सबल शरीर था। अवस्था अड़तीस वर्ष की थी। डाकघर के छोटे-छोटे पोस्टमास्टरों का जीवन बड़ा नीरस होता है। वे केवल डाकख़ाने के कामकाज में ही बैल की तरह जुते रहते हैं। परन्तु सर्वेश्वर का जीवन वैसा नहीं था। वह रोज़ शाम को सितार बजाता था, लड़केबच्चों को हारमोनियम पर गाना सिखाता था, स्थानीय भले आदमियों के पास बैठता-उठता, ग़पशप लड़ाता, हँसता-बोलता था। यहाँ तक कि स्थानीय अमेचर पार्टी अगर कभी होली-दिवाली-दसहरे पर कोई नाटक खेलने का आयोजन करती थी तो वह उसकी रिहर्सल में भी शरीक होता था। इन्हीं सब कारणों से वह जहाँ बदल कर जाता, वहीं बहुत थोड़े दिनों में सब लोगों को प्रिय हो जाता था। सभी उसे प्यार करने लगते थे।

एक दिन एकाएक सर्वेश्वर को कुछ ज्वर हो आया। एक दिन बीता, दो दिन बीते, तीन दिन बीते, मगर बुख़ार नहीं उतरा। बुख़ार की ही हालत में वह डाकख़ाने का काम करता था; काम ख़तम होने पर घर में आकर लेट रहता था। यह डाकख़ाना जहाँ था, वह एक छोटा सा ज़िला था। वहाँ सरकारी डाक्टर-ख़ाना भी था। डाक्टर साहब ख़बर पाते ही आये। दवा होने लगी। सात दिन हो गये। ज्वर छूटने की कौन कहे, और भी तबियत ख़राब हो गई। सर्वेश्वर की स्त्री दुर्गा बहुत चिन्तित हो उठी। बेचारी घबराने लगी।

डाक्टर साहब ने कहा—छुट्टी के लिए दरख़्वास्त भेज दो। दरख़्वास्त भेजी गई। तीन-चार दिन और बीते। इसी बीच निमोनिया के लक्षण स्पष्ट देख पड़ने लगे। तब सदर डाकख़ाने को तार भेजा गया। सर्वेश्वर में उठने की ताब नहीं रही; डाकख़ाने का काम बंद हो गया। कारण, यह छोटा सा डाकख़ाना था। यहाँ सर्वेश्वर ही सर्वेश्वर यानी सब कुछ था। उसकी मातहती में छोटे-छोटे काम करने के लिए तीन चपरासी और दो हरकारे थे। प्रायः रोज़ ही एक टेलीग्राम भेजा जाता था; लेकिन डाकख़ानों के सुपरिंटेंडेंट साहब का कोई उत्तर नहीं आता था। ग्यारहवें दिन सर्वेश्वर ने सदा के लिए आँखें मूँद लीं। संसार के सब बंधनों से तो बेचारा छूट गया; पर डाकख़ाने का बंधन बना ही रहा। यह आगे चलकर मालूम होगा।

तीन छोटी-छोटी लड़कियाँ थीं, गोद में एक छोटा लड़का था। बड़ा लड़का गोकुल केवल १३ साल का था। दुर्गा की आँखों के आगे अँधेरा छा गया। एक तो पैसा पास नहीं, उस पर कमानेवाला भी कोई नहीं रहा। परदेश का मामला ठहरा। दुर्गा को नहीं सूझता था कि क्या करे। सर्वेश्वर के कोई सगा-संबंधी नहीं था। बर्दवान ज़िले के किसी छोटे से गाँव में उसका एक कच्चा मिट्टी का घर था। वह भी शायद अब गिर गया होगा। कारण, लगभग पाँच-सात बरस के हुए, जब से सर्वेश्वर अपने गाँव नहीं गया था; तभी से मकान की मरम्मत भी नहीं हुई।

स्थानीय भले आदमियों ने सर्वेश्वर की मिट्टी ठिकाने लगवाई। सभी इस संकट में सर्वेश्वर के परिवार के साथ सहानुभूति दिखाने और सान्त्वना देने लगे। कुछ पास-परोस की औरतें भी आकर धीरज देने और समझाने लगीं। लेकिन सान्त्वना देना जितना सहज है, सान्त्वना प्राप्त करना उतना सहज नहीं। जिस पर विपत्ति पड़ती है, उसका हृदय नहीं मानता। फिर भी लोग इष्ट-मित्र, पास-परोसी को विपत्ति में धीरज देते ही हैं। चार आदमियों की सहानुभूति से मनुष्य का दुःख कुछ हलका तो हो ही जाता है।

पिता की लाश को जला कर गोकुल घर आया। फिर दूने वेग से शोक की आग हृदय में जल उठी। इसी समय सुपरिंटेंडेंट साहब का जवाब आया। तार में लिखा था—Send medical certificate. बीमारी की छुट्टी के लिए डाक्टर का सार्टीफ़िकेट भेजो। सर्वेश्वर मर भी गया और वहाँ सार्टीफ़िकेट माँगा जा रहा है। सच है, "घड़ी में घर जले, ढाई घड़ी भद्रा"। तार को पढ़कर गोकुल फूट-फूट कर रोने लगा। डाकपियन उसे समझाने लगे। उस समय

कोई चार बजे होंगे। अगहन का महीना था। हलकी-हलकी सर्दी पड़ने लगी थी।

चौथे दिन नया पोस्टमास्टर सर्वेश्वर की जगह पर आ गया। चार्ज लेकर उसने कहा—डाकख़ाने की तहवील में ४३२॥=)॥ घटते हैं। विपत्ति पर विपत्ति! दुर्गा के पास केवल १७) रु० थे। परिवार के सभी आदमियों का हिसाब सेविंग बैंक में सर्वेश्वर ने खोल रक्खा था। सात पासबुकें थीं। उनमें सब मिलाकर ६१॥।-)॥ जमा थे। उन्नीस दिन की तनख़्वाह भी मिलनी थी। पियन ने कहा—पासबुकों का रुपया और तनख़्वाह देर में मिलेगी। जाँच वग़ैरह में तीन महीने से कम नहीं लगेंगे। यह सब इन्स्पेक्टर बाबू की कृपा है।

सरकारी तहवील में किस तरह इतने रुपये कम हो गये और ये रुपये किस तरह अदा होंगे, यही चिन्ता इस समय दुर्गा के लिए सर्वोपरि थी। पति का शोक और बच्चों को पालने की चिन्ता नीचे पड़ गई। एक मुसीबत तो पड़ी ही थी, अब क्या भगवान् सर्वनाश ही कर देंगे!

नये पोस्टमास्टर बिहारी थे। उनके साथ भी औरत थी। असल में उनकी ब्याहता बीबी तो बहुत दिन पहले ही मर चुकी थी। एक कहारिन उन्होंने रख ली थी। क्वार्टर उन्हें चाहिए ही। दुर्गा स्वामी के साथ कई जगह घूम आई थी। उसे मालूम था कि इस घर पर अब उसका कोई अधिकार नहीं रहा। सरकारी क्वार्टर ठहरा; जो पोस्टमास्टर होगा, वही उसमें रहेगा। लेकिन वह जाय तो कहाँ जाय? इन सब छोटे-छोटे बच्चों को लेकर किसके दरवाज़े पर खड़ी हो? नये पोस्टमास्टर जिस दिन आये थे, उसी दिन से क्वार्टर ख़ाली करने के लिए कह रहे हैं। फिर भी आज दो दिन हो गये।

गोपीनाथ बाबू वहाँ के एक बड़े वकील थे। बड़ा सा घर था। पास ही रहते थे। सर्वेश्वर से उनकी जान-पहचान थी। गोकुल ने माता की आज्ञा के अनुसार उनके पास जाकर आश्रय की भीख माँगी। उन्होंने दया की। यह अभागा परिवार रहने के लिए जगह पाकर जितना ख़ुश नहीं हुआ, उससे कहीं अधिक पोस्टआफ़िस का क्वार्टर छोड़ने की प्रसन्नता उसे हुई। कारण, नवागत पोस्टमास्टर की उस रखैल कहारिन ने दो ही दिन में नाक में दम कर दिया था।

गोपीनाथ बाबू ने बार लाइब्रेरी में जाकर और-और वकीलों से कुछ-कुछ चंदा जमा किया, जिससे किसी तरह सर्वेश्वर का दसवाँ-तेरहीं आदि हो गया। उधर सर्वेश्वर के गाँव में जिन लोगों ने नौकरी लगने के समय सर्वेश्वर की जमानत की थी, उन्होंने उसका गाँव का घर और ज़मीन लेकर सरकारी तहवील की कमी पूरी कर दी। जो कुछ सहारा था, वह भी इस तरह चला गया। अब क्या हो?

(२)

गोकुल के सिर पर अब विधवा माता, पाँच, सात और नव वर्ष की तीन बहनों और डेढ़ साल के एक छोटे भाई के भरण-पोषण का भार आ पड़ा। उसकी अवस्था अभी केवल तेरह साल की थी। वह हाईस्कूल में आठवें दर्जे में पढ़ता था। घर नहीं, ज़मीन नहीं, कोई आमदनी का ज़रिया नहीं; एकदम आश्रयहीन था। गोपीनाथ बाबू के घर में रहता है। वही खाने-पीने को देते हैं। लेकिन यह एक प्रकार से भीख माँगना था और यह भीख या ख़ैरात का खाना दुर्गा और गोकुल के लिए मौत से बढ़कर कष्टदायक था।

दुर्गा ने गोपी बाबू की स्त्री यमुना के पास जाकर प्रस्ताव किया—बहूजी, तीन नौकरानी क्या करेंगी? एक को छुड़ा दीजिए। उसका काम मैं कर दूँगी।

यमुना बड़ी होशियार थी। वह बेकार एक पैसा नहीं ख़र्च होने देती थी। गोपी बाबू गिरस्ती बिलकुल नहीं देखते थे। यमुना ही सब देखती-भालती थीं और सच पूछो तो वही गोपी बाबू की भी कर्णधार थी। वह अगर घड़ी भर भी रूठ जाती थी तो गोपी बाबू के देवता कूच कर जाते थे। यमुना ने यह सुनकर कहा—ना, ना, यह कैसे हो सकता है? तुम कितने दिन रहोगी?

यह बात उन्होंने बिलकुल ही रूखेपन से कही।

दुर्गा ने कहा—नहीं बहूजी, जब आपने कृपा करके, तरस खाकर, अपने चरणों में जगह दी है, तब अलग न कीजिएगा। आपके घर की टहल और काम-काज करने से मेरी इज़्ज़त थोड़े चली जायगी। आप ब्राह्मण हैं। अपनी थाली की जूठन भी दे देंगी तो हमारा पेट भर जायगा। आपकी दया से गोकुल हिल्ले से लग जायगा। उसके आपके सिवा कौन है?

कहते-कहते दुर्गा का गला भर आया।

दुर्गा ने पहले जो कुछ कहा, उसे सुनकर यमुना

को कुछ खीझ-सी हो आई थी। यह बला क्या सदा के लिए गले पड़ी! लेकिन अन्त की विनय-भरी बात सुनकर वह कुछ नरम पड़ गई। यमुना ने अपने मन में कहा, पड़ी ही रहने दो। घर भी तो गाँव में नहीं रहा, जायगी कहाँ। सच तो यह है कि यमुना को रखने में पुण्य, प्रतिष्ठा दोनों हैं। काम भी होगा और नाम भी होगा। ख़ुशामद ऐसी चीज़ है कि उससे सब काम बन जाते हैं। भगवान् भी जब अपनी स्तुति सुनकर बड़े-बड़े पापियों को तार देते हैं, उनका ठिकाना लगा देते हैं, तब यमुना तो मनुष्य ही थी। उसका मन ख़ुशामद से अगर ख़ुश हो गया तो इसमें कोई आश्चर्य की बात न थी।

तीसरी नौकरानी का काम दुर्गा करने लगी। स्कूल के हेडमास्टर ने दया करके गोकुल की फ़ीस भी माफ़ कर दी। अपने ही घर में उसे रख भी लिया। वह हेड-मास्टर के छोटे लड़कों को पढ़ाता भी था। गोकुल सच्चरित्र, शान्त और मेधावी लड़का था। सभी मास्टर उसे प्यार करते थे और हाल में उसके बाप का स्वर्गवास हो जाने पर तो सभी उस पर और भी कृपा करने लगे थे।

लेकिन गोकुल सदा उदास ही बना रहता। मुँह लटकाये न जाने क्या सोचा करता था। बहुत ज़रूरी बातचीत करने के सिवा वह सदा चुपचाप रहता था, किसी से बोलता नहीं था। हर घड़ी अनमना सा रहता था। इसी शहर में उसका बाप जब पोस्टमास्टर था, तब उसका कितना आदर होता था! आज उसी शहर में उसकी माता टहलुई है और वह ख़ुद और एक आदमी का गलग्रह होकर किसी तरह अपना पेट पाल रहा है और पढ़ रहा है। सभी अयाचित भाव से उसके ऊपर जो दया दिखाते हैं, उससे उसे बड़ा कष्ट होता है, बड़ी लज्जा लगती है। लेकिन मुँह से कह तो नहीं सकता कि आप लोग मुझ पर दया या अनुकम्पा न करें। जो बात मुँह से नहीं कही जा सकती, उसकी व्यथा बड़ी दारुण होती है। इस तरह गोकुल यह लज्जा, यह दुःख और अपमान चुपचाप सह लेता था; क्योंकि इसके सिवा और कोई उपाय नहीं था। आशा यही थी कि शायद कभी उसके दिन फिरें, शायद कभी वह अपनी आश्रयहीन स्नेहमयी जननी के व्यथा से मलिन और आँसुओं से तर मुख में आनन्द की हँसी ला सके, दुःख-कष्ट और अपमान से पीड़ित उसके हृदय को सुखी बना सके। भगवान् क्या कभी वह दिन भी दिखावेंगे?

(३)

तीन साल इसी तरह बीत गये। गोकुल ने इंटर-मीडियट पास कर लिया। अब कोई नौकरी चाहिए।

दुर्गा अब भी तीन लड़कियों और बच्चे के साथ गोपी बाबू के घर में रहकर दासी वृत्ति से पेट पालती है। वह अपने बालबच्चों के साथ गोपी बाबू के घर में गोशाला के पास एक छप्पर के नीचे रहती है और दिन-रात अपने अन्नदाता की गिरस्ती के काम करती है। छोटी लड़कियाँ भी गोपी बाबू के घर के छोटे-मोटे काम करती हैं। गोकुल रोज़ शाम को हो जाता है। छुट्टी के दिन दोपहर के समय आकर अपनी माता के पास उसी छप्पर में बैठता है। माता और छोटी बहनों से बोलता-बतलाता है, माता की गोद में सिर रखकर कुछ देर लेटता है और फिर उठकर चल देता है। वह बोलता बहुत कम है। हँसना तो शायद वह जानता ही नहीं। इस असमय के अस्वाभाविक गांभीर्य के कारण, बड़े-बूढ़ों की तरह गंभीर बने रहने के कारण स्कूल में कोई लड़का उससे मिलता-जुलता नहीं। सभी कहते हैं—वह घमंडी है। सब मास्टर उसकी तारीफ़ करते हैं, इसी से उसके पैर धरती पर नहीं पड़ते। वह सभी लड़कों को तुच्छ समझता है। गोकुल को सुना-सुनाकर उसके मुँह पर ही सब लड़के ऐसी बातें कहते थे; लेकिन वह जैसे सुनता ही नहीं था, कुछ भी जवाब नहीं देता था। सच तो यह है कि इस तरह अकेले रहने में ही उसे शान्ति मिलती थी।

गोकुल के इंटर पास होने की ख़बर आई। पर उसके मुख पर आनंद की रेखा नहीं फूटी। वह वैसा ही उदास बना रहा। हेडमास्टर और उनकी पत्नी ने उसके पास होने पर बड़ी प्रसन्नता प्रकट की, कितने ही आशीर्वाद दिये; लेकिन गोकुल के मुख से एक शब्द भी नहीं निकला। केवल उसके निष्प्रभ नेत्रों से धार बाँधकर कुछ बड़े-बड़े गरम आँसू टप-टप करके पृथ्वी पर गिर पड़े।

दुर्गा ने भी सुना। सुनकर अपने छप्पर में जाकर फफक-फफककर रोने लगी। आज उसके पति होते तो इस ख़बर से उन्हें कितनी प्रसन्नता होती! सर्वेश्वर बेचारा तो सदा अपने जीवन भर दुःख का भार ही ढोता रहा। इस सुख के दिन आज वह कहाँ है? कहाँ है वह?

इसी समय ऊपर बहूजी ने दुर्गा को बुला भेजा।

वह चटपट आँसू पोछकर गई । ग़रीब को शोक मनाने के लिए भी फ़ुरसत नहीं ! वास्तव में दुर्गा के लिए यह आनन्द नहीं, शोक ही था । यह आँखों को सुख देनेवाली नदी की लोल लहरों की लीला नहीं थी ; वह थी घर-गाँव बहा ले जानेवाली भारी नदी में आई हुई बाढ़ ! यह मलयाचल का दक्षिण पवन न था ; यह थी सैकड़ों घर तबाह करनेवाली तूफ़ानी आँधी ! गोकुल के पास होने की ख़बर सुनकर माता और पुत्र दोनों के हृदय में शोक का सागर उमड़ पड़ा था । इस गूढ़ रहस्य को दुखिया के सिवा और कौन समझ सकता है ।

बहूजी ने ख़ुशी ज़ाहिर की ; दुर्गा रो पड़ी । बहूजी ने गोकुल को आशीर्वाद दिये ; कृतज्ञता के बोझ से झुके हुए दुर्गा के नेत्रों में आँसू छलक आये । दुर्गा की बड़ी लड़की तुलसी भी मा के साथ थी । उसकी समझ में यह बात आती ही न थी कि दादा के पास होने की ख़ुशख़बरी से उसकी माता इस तरह रो क्यों रही है । वह भौचक्की-सी बैठी माता का मुँह ताक रही थी ।

गोकुल भी आया । गोपी बाबू और उनकी स्त्री यमुना से लेकर घर के और सब नौकर-चाकरों तक ने गोकुल के पास होने पर आनन्द प्रकट किया, आशीर्वाद दिये और शीघ्र ही उन लोगों के अच्छे दिन फिरने की कामना की । किन्तु गोकुल के दीन-मलिन भाव में कोई परिवर्तन नहीं हुआ । वह चटपट माता के छप्पर में आकर मुँह छिपाकर पड़ रहा । सैकड़ों जगह से फटी और मैली कथरी के ऊपर धम से बैठ गया और जैसे बहुत ही थका हो, इस तरह लेट रहा ।

हर्ष, विषाद, उत्तेजना और भविष्य के सुख की हलकी-सी आशा के पुलक से दुर्गा को उस दिन खाने-पीने की रुचि ही नहीं रही । वह चटपट बहूजी के पास से अपने छप्पर में लौट आई । पुत्र को गोद में बिठाकर आँसुओं से उसका अभिषेक करते-करते सैकड़ों स्नेहचुम्बनों से उसे ढक-सा दिया । इसके बाद माता और पुत्र में बड़ी देर तक सलाह होती रही । निश्चित हुआ कि कोई भी छोटी-मोटी नौकरी लगते ही दुर्गा इस हीन दासीवृत्ति को छोड़ देगी । नौकरी कोई न कोई लगनी ही चाहिए ।

गोकुल नौकरी की खोज में लग गया । सवेरे से दोपहर तक और तीसरे पहर से रात गये तक दौड़धूप करने पर भी गोकुल की इच्छा पूरी नहीं हुई, नौकरी नहीं लगी । सबने कहा—कलकत्ते जाओ, वहाँ बहुत काम हैं । यह छोटा शहर है ; यहाँ कम पढ़े-लिखे आदमी को नौकरी मिलना सहज नहीं ।

गोकुल ने गोपी बाबू से कहा । उन्होंने रेल का किराया दिया । साथ ही कलकत्ते के अपने घर में रहने देने की आज्ञा के साथ अपने एक नौकर के नाम एक चिट्ठी भी लिख दी ।

माता के अश्रुसिक्त आशीर्वाद और काँप रहे चरणों की रज लेकर गोकुल ने एक शुभ मुहूर्त्त में कलकत्ते के लिए प्रस्थान किया । दुर्गा का खाना-पीना और सोना छूट गया ।

(४)

अपर चीतपुर रोड में ठीक सड़क के किनारे ही गोपीनाथ बाबू का घर था । बड़े आदमी ठहरे ; नौकर, दरबान, बैरा, मोटर सब कुछ है । कलकत्ते के मकान पर पहले ही ख़बर पहुँच गई थी कि दुर्गा नौकरानी का लड़का गोकुल नौकरी की तलाश में कलकत्ते आ रहा है और इसी मकान में रहेगा । इस ख़बर से गोपी बाबू के मकान में रहनेवाले नौकर-चाकरों में कानाफूसी होने लगी ।

गोकुल कलकत्ते पहुँच गया । गोविन्द ख़ानसामा ने गोकुल को देखते ही अपने मन में सोचा, यह कैसी आफ़त आ पहुँची ? यह भी क्या हुक्म चलावेगा ?

भरत नाम का नौकर अपने मन में सोचने लगा, इसे 'आप' कहूँगा या 'तुम' ?

बिंदो कहारी ने एक सरसरी नज़र गोकुल के ऊपर डालकर बंबे के नीचे बरतन माँजते-माँजते धीरे से कहा—वाह ! नकटी का बेटा कमलनयन ! यह तो वही मसल हुई कि मा भाड़ा झोंकती है और बेटा पान चबाता है !

गोकुल होशियार लड़का था । बचपन से ही वह आश्रयहीन है । मा उसकी दासी का काम करती है, बहनें पराये अन्न से पलती हैं । उनका कष्ट, उनका दुःख उसे दूर करना ही होगा । अनेक दुःख और अपमान उसने अब तक सहा है । अब भी उसकी मा और बहनों को सब कुछ सहना पड़ रहा है । वह क्या सहज में अपने निश्चय से हट सकता है ? उसे सब कुछ सहकर अपना काम बनाना है । पहले ही दिन गोकुल ने सबके मन का भाव समझ लिया । वह जितनी देर घर में रहता था, बहुत सावधान रहता था ।

नौकर-चाकर सब उसके सप्रतिभ नम्र व्यवहार से दंग रह गये। बहुत कोशिश करके भी वे उसके साथ लड़ाई-झगड़ा नहीं कर सके। वह उन्हें ऐसा करने का मौक़ा ही नहीं देता था।

एक दासी का लड़का अँगरेज़ी पढ़कर बाबू बनकर कलकत्ते में नौकरी करने के लिए आया है, यह ख़याल उन नौकर-चाकरों के मन से हटता न था। गोकुल एक नौकरानी का लड़का होकर भी उनसे ऊँचे दर्जे का समझा जाता है, यह चिन्ता उन नीच श्रेणी के नौकर-चाकरों को बेचैन किये हुए थी। इसीलिये बातचीत और व्यवहार में खोंचा मारकर, व्यंग्य-विद्रूप करके गोकुल को खिझाने और हैरान करने का उन सबने मिलकर जैसे प्रण ही कर लिया।

गोपीनाथ बाबू के मामा द्वारका बाबू इस कलकत्ते के मकान में रहते थे। उन्हीं की देखरेख में यह मकान था। द्वारका बाबू चिरकुमार, सदाचारी और परोपकारी सज्जन थे। अवस्था यही कोई साठ वर्ष की होगी। गोकुल पर उनकी कृपादृष्टि हो गई थी। ग़रीब के लड़के ने अपने उद्योग से पढ़ा-लिखा है, उसका व्यवहार और रहन-सहन भले आदमियों का-सा है। स्वभाव का नम्र, ईमानदार और सच्चरित्र है। इन्हीं गुणों और विशेषताओं के कारण गोकुल को द्वारका बाबू अपने लड़के के समान प्यार करने लगे थे। यही कारण था कि घर के सब नौकर-चाकर प्रबल इच्छा रहने पर भी गोकुल का अपमान नहीं कर सकते थे; द्वारका बाबू के सामने गोकुल की झूठी-सच्ची बुराई करने का साहस उन्हें नहीं होता था।

गोकुल दस बजे खा-पीकर निकल जाता है और रात को ९-१० बजे कहीं जाकर लौटता है। इस दफ़्तर उस दफ़्तर में नौकरी के लिए जाता है; बड़े बाबू, छोटे बाबू, बड़े साहब, छोटे साहब, सबके पास जाता है; लेकिन मतलब हल नहीं होता। रोज़ कहीं झिड़की, कहीं अपमान और कहीं दरबान के हाथ का अर्द्धचन्द्र ही नसीब होता है। सवेरे नई आशा हृदय में लेकर जाता है और शाम को नित्य की तरह हताश होकर लौट आता है।

इसी तरह आशा-निराशा में एक महीना निकल गया, नौकरी नहीं लगी। पर गोकुल ने नौकरी का पीछा न छोड़ा। वह अब भी माता को पत्र में लिख भेजता है कि अभी कुछ नहीं हुआ; लेकिन जल्दी ही एक-न-एक नौकरी मिलने की आशा है। मा को धीरज तो बँधाना ही होगा।

आशा की किरण देख पड़ी। उन दिनों योरप का प्रथम महायुद्ध चल रहा था। सरकार मेसोपोटामिया भेजने के लिए आदमियों की भर्ती कर रही थी। गोकुल रंगरूट भर्ती करने के दफ़्तर में पहुँचा। उसी दम वह साठ रुपये महीने की तनख़्वाह पर नौकर रख लिया गया।

गोकुल ने उसी दिन माता को पत्र में लिख भेजा कि बम्बई के पास एक जगह साठ रुपये मासिक वेतन पर उसकी नौकरी ठीक हो गई है। एक सप्ताह के भीतर ही उसे वहाँ जाना होगा। गोकुल ने माता को यह नहीं लिखा कि वह मेसोपोटामिया के युद्धक्षेत्र में नौकर होकर जा रहा है।

इधर सब ठीक-ठाक करके दो दिन की छुट्टी लेकर गोकुल अपनी माता से मिल आया।

(४)

दो साल बीत गये। गोकुल मेसोपोटामिया में ही काम कर रहा है। अब उसका वेतन बढ़कर सौ रुपये मासिक हो गया है। तनख़्वाह के सब रुपये वह मा के पास भेज देता है। सरकार की ओर से उसे भोजन और पोशाक मिलती है। और कोई उसका ख़र्च नहीं है।

अब गोकुल के मुँह पर हँसी की रेखा देख पड़ती है। वह दिन-रात ख़ूब मन लगाकर मेहनत करता है। अगर कभी काम से छुट्टी मिलती है तो उस विदेश में अपने देश-भाइयों के साथ बैठकर ग़पशप लड़ाता है, भारतीय सिपाहियों के साथ घूम-फिरकर मन बहलाता है। हाँ, जब अपनी दुखिया मा की याद आ जाती है, तब अकारण ही उसका मन उदास हो जाता है। जी वहाँ से उचटकर मा से मिलने के लिए उत्कंठित हो उठता है।

भारत से आनेवाली हरएक डाक में उसे माता की, बहन तुलसी की और छोटे भाई की लिखी चिट्ठियाँ मिलती हैं। वह उन्हें एक-दो बार नहीं, सैकड़ों बार पढ़ता है और फिर अपनी ख़ाकी वर्दी की भीतरी जेब में रख लेता है। छुट्टी मिलने पर उन पत्रों को बारंबार पढ़ता है। जब तक दूसरी डाक से दूसरे पत्र नहीं आते, तब तक यही क्रम चलता रहता है। सब चिट्ठियाँ उसे एक तरह से कंठ ही हो गई हैं।

मा ने चिट्ठी में लिखा है कि सूद समेत सब रुपये देकर उसकी माता ने अपने स्वामी के पुरखा का घर फिर प्राप्त कर लिया है। बड़ी लड़की तुलसी का ब्याह भी कर दिया है। दामाद रेल में नौकर है। तुलसी के

बाल-बच्चा भी होनेवाला है। मा उसे जल्दी ही अपने पास बुला लेगी। मँझली लड़की चम्पा का भी ब्याह हो चुका है। यह दामाद जमशेदपुर में ताता कम्पनी में नौकर है। तनख़्वाह ६०) रुपये है। गोकुल का छोटा भाई वृन्दावन गाँव की पाठशाला में पढ़ता है। बड़ा उत्पाती है।

आख़री पत्र में और एक ख़बर है। दो साल हो गये, माता ने पुत्र को नहीं देखा, इसलिए वह बहुत चिन्तित हैं और एक बार पुत्र का मुख देखने के लिए बहुत व्याकुल हो रही हैं। इसी कारण उनकी बड़ी साध है कि गोकुल कम-से-कम एक महीने की छुट्टी लेकर घर लौट आवे। उन्होंने पास ही के एक गाँव में एक अच्छे घर में एक सुन्दर सुशील लड़की के साथ उसके ब्याह की बातचीत पक्की कर ली है।

अन्त की इस ख़बर ने गोकुल के हृदय में एक अभूतपूर्व मधुर संगीत की सृष्टि-सी कर दी है। प्रथम यौवन की इस वासना की आग में यह नया ईंधन-सा डाल दिया गया था। गोकुल का मन अकस्मात् अकारण इस ख़बर से वारंवार पुलकित-सा हो उठने लगा, उसमें एक गुदगुदी-सी होने लगी।

पर यह उत्तेजना क्षण भर की थी। माता की व्याकुलता का ख़याल करके गोकुल का चित्त भी अधीर हो उठा। वह जाकर फिर अपनी माता को देखेगा, उससे मिलेगा, फिर माता की गोद में छोटे बच्चे की तरह पड़ जायगा, दुखिया माता के मुख में फिर पहले की सी तृप्ति, शान्ति और सुख की हँसी देख पावेगा, यह कल्पना उसे बड़ी सुखदायक जान पड़ी। अपने घर में जायगा, अपने घर में रहेगा, अपनी कमाई का पैसा खाये-पियेगा, यह क्या साधारण सुख है? उसका अपना घर होगा, उस घर की मालकिन माता होगी! स्नेहमयी जननी की देखरेख में वह रहेगा। बहनें उसे हृदय से प्यार करेंगी, सुख पावेंगी। जब से होश आया, तब से गोकुल को यह सुख कहाँ नसीब हुआ? गोकुल घर जाने और मा को देखने के लिए पागल-सा हो उठा।

उसने छुट्टी के लिए दर्ख़्वास्त दी। छुट्टी मंज़ूर भी हो गई। उसने माता को पत्र लिखा कि उसकी छुट्टी मंज़ूर हो गई है, जल्दी ही वह घर आवेगा।

एकाएक अरब लोगों से लड़ाई छिड़ गई, वे बड़ा उपद्रव करने लगे थे। छुट्टी कुछ दिन के लिए रुक गई। गोकुल घर नहीं जा सका। मगर वह मा को लिख चुका था कि मैं अगले महीने में अवश्य ही घर पहुँच जाऊँगा।

दुर्गा वह चिट्ठी पाकर बहुत प्रसन्न हो उठीं। वह गोकुल के ब्याह की तैयारी करने लगीं।

(६)

लड़ाई के मैदान में आज तीन दिन से दुश्मन बहुत हैरान कर रहा है। दिन-रात छावनी के सब लोग शत्रु के भय से डरे हुए रहते हैं। न-जाने किस समय शत्रुपक्ष आक्रमण कर बैठे। दिन को भी कोई तम्बू के बाहर निकलने की हिम्मत नहीं कर पाता था। एकाएक सेना और शस्त्रों की कमी पड़ जाने के कारण शत्रु को बड़ा सुबीता हो गया है। इधर बेस आफ़िस में तार पर तार भेजे जा रहे हैं; पर अभी तक न फ़ौज ही आई और न शस्त्र ही आये। सब लोग हर घड़ी यही आशा कर रहे थे कि अब फ़ौज आई, अब शस्त्र आये। सेनापति (O. C.) साहब मलिन मुख लिये तारघर में बैठे बराबर एक के बाद दूसरा तार भेज रहे हैं। एकाएक बिजली का तार जल जाने से उस जगह चारों ओर प्रकाश फैल गया। शत्रुओं ने तार काट डाला था। अब तार भेजना या उसका जवाब पाना असम्भव हो गया।

साहब का मुँह क्रोध से लाल हो उठा। वह आहार-निद्रा छोड़कर जिस आशा से डाकघर में धरना दिये बैठे थे, वह भी जाती रही।

तीसरा पहर और माघ का महीना था। ग़ज़ब की सर्दी थी। साहब ने अपने तम्बू में जाते ही हुक्म जारी कर दिया कि जब तक दूसरा हुक्म न जारी हो, तब तक शाम के छः बजे के बाद छावनी में किसी जगह कोई आग न जलावे, न किसी तरह की रोशनी ही करे। सारी छावनी में छः बजे के बाद अन्धकार छा गया। खाना-पीना सब छः बजे के पहले ही कर लिया गया। ठीक छः बजे बिगुल बजाकर सूचना दी गई। वैसे ही एकसाथ सारी छावनी में आग और रोशनी बुझा दी गई। बड़ी भारी छावनी में अंधकार के साथ ही भय का भाव भर गया। ज़रा-सा खटका भी कहीं न हो, ऐसा कड़ा हुक्म था। सभी अपने-अपने तम्बू में चुपचाप बैठे घोर अन्धकार में मृत्यु की विभीषिका देखने लगे। केवल पहरे पर जो सैनिक थे। वे काली पोशाक पहने अंधकार में इधर-उधर छावनी की रखवाली करने के लिए तैनात थे, विराट् विस्तृत मरुभूमि का मैदान था। तम्बुओं के बाहर सन्नाटा छाया। पहरेदारों

के सिवा आदमी का पुतला कहीं नज़र नहीं आता था। सिपाही लोग हथियार बाँधे छावनी के भीतर तम्बुओं में सेनापति की आज्ञा की राह देखते हुए गर्दन उठाये और कान खड़े किये अपनी-अपनी जगह डटे हुए थे। दियासलाई जलाकर एक बीड़ी या सिगरेट भी वे नहीं पी सकते थे।

बीच-बीच में छिपे हुए शत्रु की चलाई हुई गोलियाँ आकर तम्बू में, छोलदारी में और जगह-जगह रोशनी के लिए गाड़े गये लोहे के खम्भों में लगती थीं। उनके ठनाके के सिवा कहीं और कोई शब्द नहीं होता था। इस मरुभूमि में न झिल्ली की झनकार थी, न रात में उड़नेवाले पक्षियों के पंखों की फड़फड़ाहट या भय का चीत्कार था, न वृक्षों की पत्तियों की खड़खड़ाहट थी। इस प्रकार के शब्दहीन गहरे अन्धकार में, दारुण शीत में, हर घड़ी मृत्यु की आशंका से लगभग दस हज़ार मनुष्य जीवन्मृत अवस्था में बैठे थे।

सेनापति साहब छावनी में घूमने, देखभाल करने के लिए निकले। वह दबे पैरों हरएक तम्बू के पास जाकर जाँच कर रहे थे कि उनके हुक्म की तामील ठीक-ठीक हुई है या नहीं, सब सिपाही तैयार हैं या नहीं, छावनी के भीतर कोई हुक्म के ख़िलाफ़ कोई काम कर रहा है या नहीं।

एकाएक गोकुल के तम्बू के दरवाज़े पर आकर साहब रुक गये। उन्हें देख पड़ा कि हलकी सी रोशनी गोकुल के दरवाज़े पर पड़े हुए परदे से छन-छनकर बाहर आ रही है। साहब ने दो-चार सेकेंड खड़े होकर देखा। कान लगाकर सुना, भीतर से कोई शब्द नहीं आ रहा था। उन्होंने बाहर एक हलका-सा शब्द किया। उसे सुनते ही गोकुल पर्दा हटाकर बाहर आया। आते ही उसने देखा, सामने स्वयं सेनापति खड़े हैं।

गोकुल के हृदय का रक्त भय के मारे बर्फ़ की तरह जम गया। सिर में चक्कर आ गया। मुँह से कोई शब्द नहीं निकला। साहब पर्दा हटाकर तम्बू के भीतर दाख़िल हुए। उन्होंने देखा, एक छोटी मोमबत्ती का टुकड़ा जलाकर गोकुल कोई पत्र लिख रहा था। साहब ने पूछा—क्या कर रहे थे?

गोकुल की जीभ सूखकर जैसे तालू से सट गई थी। बड़ी मुश्किल से उसने उत्तर दिया—हुज़ूर, कल सवेरे भारत की डाक जायगी, इसी से मैं अपनी दुखिया माता को एक पत्र लिख रहा था। दिन भर मैं ड्यूटी पर रहा, पत्र लिखने की फ़ुरसत नहीं मिली। इस समय भी अगर पत्र न लिखूँ तो फिर इस डाक से पत्र न जा सकेगा और पत्र न पाकर मेरी बुढ़िया मा घबराकर शायद मर ही जायगी। इसी से—

साहब ने बीच में रोककर कहा—जानते हो, आज का हुक्म क्या है?

गोकुल भय से काँपने लगा। बोला—जी हाँ! छः बजे के बाद आग जलाना और किसी तरह की रोशनी करना मना है। मेरी—

साहब ने रोककर दृढ़ स्वर में कहा—इस हुक्म का मतलब क्या है, जानते हो?

गोकुल की आँखों के आगे अँधेरा छा रहा था। उसने कहा—जी, मतलब यह है कि दुश्मन को हमारी छावनी की जगह का पता न मिल सके। दुश्मन छावनी का पता पा जायगा तो हमें तबाह कर सकता है।

साहब ने कहा—ठीक, यही बात है। कितने दिन से तुम यहाँ हो?

गोकुल ने कहा—दो बरस से ज़्यादा हुए।

साहब ने कहा—अच्छा, यह चिट्ठी ख़तम कर लो। मैं तब तक यहीं खड़ा हूँ।

गोकुल ने कहा—चिट्ठी ख़तम हो गई है हुज़ूर! सिर्फ़ पता-ठिकाना लिखना है।

साहब ने कहा—जल्दी पता लिखकर मुझे दो।

मालूम नहीं, गोकुल क्या समझा। वह यंत्रचालित की तरह गया। पता लिखकर पत्र हाथ में लिये काँपता हुआ साहब के सामने आकर खड़ा हो गया। साहब ने झट से गोकुल के हाथ से वह पत्र लेकर कहा—मैं इसे ख़ुद पोस्टबाक्स में डाल दूँगा। इस चिट्ठी का महसूल तो लगेगा नहीं।—समझते हो, आज तुम्हारे कारण इन दस हज़ार आदमियों की जान चली जाती!

गोकुल रोता हुआ साहब के पैरों पर गिर पड़ा और कातर स्वर में गिड़गिड़ाकर कहने लगा—हुज़ूर, बेशक मुझसे बहुत बड़ा क़सूर हो गया। अब की मुझे माफ़ कर दीजिए, फिर कभी ऐसा न होगा।

साहब ने रूखे स्वर में कहा—बत्ती बुझाओ।—ठहरो, बल्कि इस ख़त में अपनी मा को इतना और लिख दो कि यही तुम्हारा आख़िरी ख़त है। कल तुम्हारा कोर्ट मार्शल (सामरिक विचार) होगा।

गोकुल फूँक मारकर बत्ती बुझाने के साथ ही बेहोश होकर ज़मीन पर गिर पड़ा। साहब वह चिट्ठी लेकर चले गये।

× × ×

तड़के पाँच बजे फ़ौजी बिगुल बजा। सब फ़ौज पल भर में आकर मैदान में जमा हो गई। सेनापति साहब ने गत रात्रि का सब हाल लोगों को समझा दिया और फ़ौजी हुक्म न मानने का दंड क्या है, यह भी जता दिया।

सैनिकों के मुख पर एक चंचलता का भाव फूट उठा।

पहरे के बीच गोकुल वहाँ लाया गया। फिर बिगुल बजा। ग्यारह सिपाही बंदूक़ में गोली भरकर गोकुल के सामने क़तार बाँधकर खड़े हो गये। साहब के इशारे पर एकसाथ ग्यारहो बंदूक़ें दाग दी गईं। जिन्होंने गोली मारी थी और जो लोग देखने के लिए बुलाये गये थे, उनमें से किसी ने पलटकर यह नहीं देखा कि क्या हुआ। केवल बंदूक़ की आवाज़ भर उनके कानों में गई।

बंदूक़ दगने के शब्द के साथ ही हुक्म हुआ—"Right about turn Quick march" (अर्थात् "दाहनी ओर घूमकर तेज़ी से चले जाओ!") *

---

* श्रीवसन्तकुमार चटर्जी की एक कहानी।

साध्वी अगाथा

श्रीसन्तराम बी० ए०

इटली देश के निकट तुङ्ग तरंग-निनादित, रत्न-राशि-राजित भूमध्य महासागर के बीच सिसली नाम का एक छोटा-सा सुन्दर द्वीप है। उसी द्वीप के कटानिया नामक नगर में सन् २३५ के लगभग पुण्यमयी अगाथा का जन्म हुआ था। वह अपने माता-पिता की एकमात्र सन्तान थी। इसलिए वे उस पर बहुत स्नेह रखते थे। अगाथा धर्म, नीति, शिष्टता और ज्ञान-विज्ञान की बातें सीखने में सदा तत्पर रहती थी। उस समय वहाँ द्रुतगति से ईसाईधर्म का प्रचार हो रहा था। परन्तु कटानिया का शासक और वहाँ के अन्य बहुसंख्यक अधिवासी अभी ईसाई नहीं बने थे। अगाथा के माता-पिता ने भी ईसाईमत ग्रहण नहीं किया था। कटानिया में एक गिरजा था। अगाथा वहाँ जाकर ईसाई स्त्रियों से लौकिक और धार्मिक शिक्षा पाने लगी। उन धर्मप्रचारिकाओं के सहवास से उस पर ईसाईधर्म का गहरा रंग चढ़ा। परन्तु इस बात का उसके माता-पिता को कुछ भी ज्ञान नहीं था।

अगाथा रूप-लावण्य की सजीव मूर्ति थी। उसके शरीर की सुषमा को उसके हृदय की पवित्रता और सरलता ने और भी चार चाँद लगा दिये थे। वह सदा भगवान् की भक्ति में लीन रहती थी। अभी उसका वय तेरह-चौदह वर्ष का भी न होने पाया था कि माता-पिता की छत्र-छाया उसके सिर पर से उठ गई। अगाथा संसार में अकेली रह गई। न उसका कोई बन्धु था, न भगिनी और न कोई सहायक। उसके जनक-जननी का विशाल भवन बहुमूल्य सामग्री से परिपूर्ण था। रुपया-पैसा और मणि-मुक्ताओं की भी कोई कमी न थी। परन्तु अगाथा का हृदय उन बहुमूल्य वस्तुओं और रत्नों से शान्ति-लाभ न करता था। माता-पिता के परलोक-गमन से उसका मन भगवान् की ओर और भी अधिक आकृष्ट हो गया। वह सोचने लगी कि जो प्रासाद और मणि-मुक्ता मेरी जनक-जननी के साथ नहीं गये, वे मेरे साथ कब जा सकते हैं। उसने अपनी सारी संपत्ति बेचकर दीन-दुखियों में बाँट दी और आप तपस्विनी बनकर एक कुटी में रहने लगी।

जब अगाथा सोलह वर्ष की हुई, तब उसके अनुपम रूप-लावण्य की ख्याति समूचे सिसली-प्रदेश में फैल गई। वहाँ के बड़े-बड़े धनी-मानी सामन्तों ने उसके निकट विवाह के संदेश भेजे। परन्तु उसे उनके ऐश्वर्य और वैभव का कुछ भी आकर्षण न था। जो स्वयं अपनी अपरिमित धनराशि पर लात मार चुकी हो वह भला दूसरों की संपत्ति के प्रलोभन में कब आ सकती थी। उसने विवाह से साफ़ इनकार कर दिया। वह अपनी स्वभाव-सिद्ध अनुकम्पा के कारण दीन-दुखियों की सहायता, रोगियों की सेवा-शुश्रषा, भूखों की उदरपूर्ति प्रभृति भूतदया के पुण्य कार्यों में निरत हो गई।

सन् २५१ के आरम्भ में सम्राट् डेसिउस ने कथिटयानस नाम के एक व्यक्ति को गवर्नर बनाकर सिसली भेजा। कथिटयानस बड़ा प्रजापीड़क, अत्याचारी, महा-कपटी और नृशंस था। उसकी आकृति से ही नृशंसता और हिंसक भाव टपक रहा था। उसके नेत्र भीतर को धसे हुए थे। साँप की आँखों की भाँति जिस पर वे जा पड़ते थे, उसका कलेजा ही निकाल लेते थे। उसकी लंबी-लंबी बेढंगी मूछें, बिच्छू के डङ्क की भाँति सिरों पर उभरी हुई उसकी हिंस्र प्रकृति का परिचय देती थीं। उसके मस्तक की भ्रुकुटि उसकी आकृति को और भी विकट बना रही थी। उसे देखने पर ऐसा जान पड़ता था, मानो प्रेतपुरी में विचरने-वाला पिशाच है। उसके सिसली में पाँव रखते ही सारी प्रजा भयभीत हो गई। सभी इस चिंता में डूब गये कि मालूम नहीं अब क्या होगा! कथिटयानस को कटानिया में आये अभी बहुत दिन नहीं बीतने पाये थे कि उसने अगाथा के मोहक रूप-लावण्य की ख्याति सुनी। उसके मन में अगाथा को पाने की उत्कट लालसा जाग्रत् हो उठी। अगाथा की मोहिनी मूर्त्ति उसके मानस-नेत्रों के सम्मुख नृत्य करने लगी। मानों सर्वनाश कोई सुन्दर मूर्त्ति धारण कर उसकी आँखों के सामने चमकने लगा। वह अपनी मर्यादा को भूलकर रूपाग्नि के आकर्षण से पतंग की भाँति दौड़ा। वह कटानिया का गवर्नर था। उसके लिए यह बात कुछ कठिन भी न थी। आज्ञा देने की देर थी

कि अगाथा को लाकर उसके सम्मुख उपस्थित कर दिया गया। उसने अगाथा को जी भरकर देखा।

अगाथा पवित्रता की देवी थी। उसके मुखमण्डल पर स्वर्गीय ज्योति खेल रही थी। उसका मन शुद्ध था। उसे न लोभ गिरा सकता था और न भय। सती नारी के सामने बड़े-बड़े दुष्ट आत्मा भी दब जाते हैं। अगाथा ने ज्यों ही उस पर दृष्टिपात किया, वह कलेजा थामकर रह गया। उसकी क्रूरता, नृशंसता और प्रजापीड़क वृत्ति अगाथा की आत्मशक्ति से आहत होकर गिर गई। उसने अनुभव किया कि मैं केवल एक सौंदर्य प्रतिमा के सामने ही नहीं, वरन् एक ऐसी स्वर्गीय पुण्यात्मा के भी सामने खड़ा हूँ जिसके पुनीत प्रभा-मण्डल ने मुझे चतुर्दिक् घेर रक्खा है। कण्टियानस पर एक विचित्र प्रकार का आतङ्क छा गया। उसके हृदय में अगाथा के प्रति प्रेम के साथ-साथ सम्मान का भाव भी जागरित हो उठा। अगाथा अपनी कुटी में लौट आई।

कण्टियानस अगाथा का सम्मान करता था। परन्तु स्वार्थ-सिद्धि के लिए वह किसी प्रकार उसे अपने प्रेम-पाश में फँसाना चाहता था। कुछ दिन उपरान्त उसने अपने एक अन्तरंग मित्र के द्वारा अगाथा के पास संदेश भेजा कि मैं आपसे न केवल प्रेम, वरन् आपका सम्मान भी करता हूँ। यदि आप मुझे अपनी दासता में लेना और मेरी स्वामिनी बनना स्वीकार करें तो सिसली की समूची प्रजा आपके चरणों की दासी होगी। आपकी केवल इच्छा ही देश का राजनियम होगी। भोग और विलास की कोई ऐसी वस्तु नहीं जो आपको प्राप्य न हो। इस प्रकार स्वप्नमय स्वर्ण की सिसली का ऐश्वर्य दिखा कण्टियानस ने अगाथा से प्रेम-प्रार्थना की।

तेजस्विनी सती अगाथा यह सन्देश सुनकर दूत से बोली—"जाओ, उस पाप-मूर्त्ति नास्तिक से कह दो कि तेरी पाप-वासना से चिरपवित्र प्रकृति-धर्म कलङ्कित हुआ है। मैं दिव्य नेत्रों से तेरा सवंश नाश देख रही हूँ। अगाथा प्रभु ईसा से अपना संबंध स्थापित कर चुकी है। उसका हृदय देवता का पुण्यपीठ है। वह असुर का क्रीड़ा-कानन नहीं हो सकता। वह उस सच्चे स्वामी को छोड़कर एक नास्तिक की स्त्री नहीं बन सकती, चाहे वह चक्रवर्ती सम्राट् ही क्यों न हो।"

पाप-बुद्धि, मदान्ध कण्टियानस की धारणा थी कि अगाथा उस जैसे उच्च शासक की पत्नी बनने में अपना सौभाग्य समझती हुई उसके प्रस्ताव को सहर्ष स्वीकार कर लेगी। परन्तु जब उसने उसका कोरा उत्तर सुना तो वह आगबबूला हो गया। मारे क्रोध के वह होंठों को चबाने और कामोन्मत्त हो धरती पर पाँव पटकने लगा। फिर वह कड़ककर बोला—"वह अभिमानिनी बाला इस प्रकार मेरा अपमान और अनादर करती है। बहुत अच्छा, मैं उसे राजाज्ञा से अपनी दासी बनाऊँगा। यदि वह स्वयं गिड़गिड़ाकर मेरे साथ विवाह करने की प्रार्थना न करे तो मेरा नाम कण्टियानस नहीं। उसे ईसाई होने का गर्व है। उसका ईसाई होना उसके लिए घातक सिद्ध होगा। मैं निश्चय ही उसे अपने अधिकार में ले आऊँगा।"

उधर संदेश-वाहक को सूखा उत्तर देने के पश्चात् अगाथा ने सोचा कि अब ऐसे आततायी एवं क्रूर शासक के परोस में रहना उचित नहीं। बस, उसने कटानिया छोड़ दिया। जिसे कहीं भी आश्रय नहीं उसे वन में ठौर अवश्य मिलता है और जो शोक से व्याकुल हो जाता है उसे वन में कुछ न कुछ चैन भी मिल जाता है। गुलरमो नाम के एक छोटे से ग्राम के निकट एक तमाल-वन था। उस वन का दृश्य बड़ा मनोहर था। सुन्दर नृत्य से मयूरों ने उस छाया-शीतल वन की शोभा को बहुत बढ़ा दिया था। इसी विपन्नशरण वन के मध्य वह एक पर्ण-कुटी बनाकर रहने लगी। उसकी दो-तीन सखियाँ भी उसके साथ थीं। कुछ काल तक वह वन में छिपी रही। कण्टियानस को उसका कुछ पता न लग सका।

एक दिन दिसंबर मास में अगाथा प्रातःकाल कुटी के बाहर बैठी जगदीश की अद्भुत सृष्टि का मोहक दृश्य देख रही थी। एक ओर गगन-चुम्बी एटना पर्वत था जिसने सिर पर रजत-वर्ण तुषार-मुकुट धारण कर रक्खा था। दूसरी ओर पर्वत की तराई में हरित सघन वन था। अगाथा की दृष्टि में उस समय एटना कोई पर्वत नहीं था, वरन् श्वेत वस्त्र धारण किये भगवद्-भजन में लीन कोई तपस्वी था। वन की स्वयंभूत तरुराजि अपनी हरी-भरी और लहराती हुई शाखाओं को चतुर्दिक् फैलाये ऐसे खड़ी थी मानो कोई उपासक हाथ फैलाये प्रभु से कुछ प्रार्थना कर रहा हो। प्रातः-काल चहचहाते हुए सुन्दर पक्षी उसे ऐसे जान पड़ते थे मानो भक्तजन मधुर स्वर में विधाता का स्तुति-गान कर रहे हैं। इस वनश्री को देखकर वह सोचने लगी, मनुष्य के प्रति भगवान् का दान कितना अनन्त है।

जगत्-पति ने जीवों के लिए दया की अनन्त धारा बहा रक्खी है। उन्होंने अपने बनाए मीठे फलों को, नदियों के नीर को, पवन के झोंकों को, नीले आकाश की निर्मलता को, फूलों की सुगंध को और चिड़ियों की चहक को—सब जीवों के लिए समभाव से आनन्द देने योग्य बना दिया है। परन्तु धिक्कार है हम लोगों को, जो जगत्पिता की मंगलमय सृष्टि को अपने दुष्कर्मों से अपने लिए दुःखमय बना लेते हैं। उसके मुख से अनायास निकल पड़ा—"जगदीश्वर, जब आपके द्वारा निर्मित ये वस्तुएँ इतनी सुन्दर और मनमोहनी हैं, तो आप स्वयं कितने सुन्दर होंगे!" इतना कहते ही उसका मन प्रभु-प्रेम में निमग्न हो गया। वह अपनी सुध-बुध भूल गई। उसके नेत्र बन्द थे। मस्तक पर एक विशेष आभा थी। कपोल सुमन के समान खिल रहे थे। होठों पर दिव्य मुसकान अठखेलियाँ कर रही थीं। सिर नम्रता से झुक रहा था।

कंटियानस ने जब देखा कि अगाथा कहीं अन्तर्द्धान हो गई है तो वह बहुत तलमलाया। उसने उसे पकड़ने के लिए चारों ओर गुप्तचर दौड़ा दिये। निस्सहाय, निरपराध एवं निरुपाय अगाथा कब तक छिपी रह सकती थी। गुप्तचरों ने कोना-कोना ढूँढ़ मारा और अन्त को उसका पता लगा ही लिया। उन्होंने कंटियानस को सूचना दी कि अगाथा गुलरमो गाँव के निकट वन में कुटी बनाकर रहती है। यह सुनते ही उसकी बाछें खिल गईं।

जिस दिन और जिस प्रातःकाल का ऊपर उल्लेख हुआ, वह अगाथा के आध्यात्मिक आनन्द का अन्तिम दिवस था। अब उस पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। ठीक जिस समय वह प्रभु-प्रेम में लीन, अपनी सुध-बुध भूली, कुटी के बाहर आसन में आसीन थी, घोड़ों की टाप और सखियों के चीत्कार का शब्द उसके कानों में पड़ा। वह उठकर देखने लगी कि क्या बात है। वह अभी दो पग भी न चलने पाई थी कि गवर्नर के सैनिकों ने घोड़ों से उतरकर उसे घेर लिया। यह देख अगाथा बिन्दुमात्र भी विचलित नहीं हुई। उसने बड़े धैर्य और शान्ति के साथ मुसकराते हुए कहा—आपके स्वामी ने एक दीन-हीन, साधन-संबल-विहीन, कुटीर-वासिनी असहाय बालिका को पकड़ने के लिए इतना कष्ट क्यों किया। इतने अश्वारोही सैनिक भेजने की क्या आवश्यकता थी। मैं स्वयं चलने को तैयार हूँ। आप तनिक सुस्ताइए।

इतना कहकर अगाथा कुटी के भीतर गई और हाथ जोड़ तथा मस्तक नवाकर भगवान् से इस प्रकार प्रार्थना करने लगी—"हे पिता! आप सब कुछ जानते हैं। मैंने आपकी ही शरण ली है। इस विपत्काल में आप ही मेरे सहायक हैं। आप ही मेरे सतीत्व की रक्षा कीजिए। हे पिता, मुझे ऐसा साहस और बल प्रदान कीजिए कि भयंकर शत्रु मुझे भीत न कर सके। वह यह न कह सके कि तेरा प्रभु कहाँ गया, जिसका नाम तू लिया करती थी। हे परम कृपालु, मुझे इस पापी से बचाइए। मेरी आत्मा को ऐसा बल दीजिए कि मैं उसके फन्दे में न फँसूँ। जगदीश, आप ही मेरे स्वामी हैं। मैं आप ही का गुणगान करती हूँ।"

अगाथा प्रेम-भक्ति के अश्रुबिन्दु गिराकर कुटी से बाहर निकली। उसके मुखमंडल पर किसी प्रकार की विषण्णता और उसके पैरों में किसी प्रकार की डगमगाहट न थी। उसके मुख पर दिव्य आभा झलक रही थी। वह प्रसन्नचित्त होकर सैनिकों के निकट गई और जिधर उन्होंने कहा उधर चल दी। वे उसे कटानिया में ले आये। अगाथा के बंदी होने का समाचार पा कटानिया-निवासी स्त्री-पुरुष दल के दल उस मार्ग पर खड़े हो गये, जिधर से होकर वह सुकुमार कन्या निकलने को थी। नगर भर में एक कुहराम मच गया। अगाथा कंटियानस के सामने उपस्थित की गई।

कंटियानस ने जब देखा कि अगाथा उसके साथ विवाह करने के लिए किसी प्रकार भी तैयार नहीं होती तो उसने एक अन्य रीति से उसे अपने कपट-जाल में फँसाने का विचार किया। उसने अफ्रोडिसिया नाम की एक कुटनी को इसलिए नियुक्त किया कि जैसे भी हो वह अगाथा को मनावे। उसने अफ्रोडिसिया से कहा कि यदि तेरे द्वारा मेरी अभीष्ट सिद्धि हुई तो मैं तुझे मुँह-माँगा पुरस्कार देकर निहाल कर दूँगा।

देश के सर्वोपरि शासक का आदेश पा वह कुटनी अगाथा के निकट गई और मीठी-मीठी बातें करके फुसलाने लगी। वह उसे अपने भवन में ले आई। वह भवन संसार की अनेक प्रकार की बहुमूल्य सामग्री से सुसज्जित था। स्थान-स्थान पर सोने-चाँदी की कुरसियाँ और पलँग बिछे थे। झाड़-फानूसों से कमरे अलंकृत थे। कहीं सुगन्धि जल रही थी। कहीं गुलाब-जल और केवड़ा छिड़का जा रहा था। अप्सरा के समान सुन्दरी रमणियाँ, जो अफ्रोडिसिया की कुमन्त्रणा और कपट

का आखेट हो चुकी थीं, अगाथा के स्वागत के लिए आगे बढ़ीं। अगाथा उन स्त्रियों की चाल-ढाल और बातचीत से तत्काल भाँप गई कि बात क्या है। इस विपत्ति से बचने के लिए वह भवन से भाग निकली। परन्तु जाय तो कहाँ जाय। निकलने का कोई मार्ग ही न था। अन्ततः एक अलग कोठरी में बैठ फूट-फूटकर रोने लगी। वह इतना रोई कि सावन-भादों की झड़ी लग गई। वह अत्यन्त दीन भाव से प्रभु से अपने सतीत्व की रक्षा के लिए प्रार्थना करने लगी। अफ्रोडिसिया ने जब यह दशा देखी तो आँखों में कपट के आँसू भरकर अगाथा के सामने जा खड़ी हुई और दाव-पेंच लड़ाने तथा डोरे डालने लगी। वह अगाथा से बोली—

"बेटी अगाथा, तू उदास क्यों है? प्रिय पुत्री, तुझे यहाँ क्या कष्ट है? अपनी प्यारी मा का कहना मान ले। कंटियानस तुझ पर प्राणपण से न्योछावर हो रहा है। तेरे विरह में सुमनों की सुगन्ध, शीतल मन्द बयार का स्पर्श और सिसली का ऐश्वर्य उसके लिए दुःखदायी हो रहा है। तू बड़ी भाग्यवती है जिसके चरणों में सिसली का शासक अपना मुकुटमंडित सीस रख रहा है। तू ईसाईधर्म के असत्य विचार को छोड़ दे। उसके पीछे अपने उभरते यौवन को व्यर्थ में नष्ट न कर। तुझे वहाँ से कुछ प्राप्त न होगा। मेरा कहना मान, तू समूची सिसली की महारानी बन जायगी।"

परन्तु जिस अगाथा ने धर्म और भगवान् के नाम पर अपने पिता की अतुल सम्पत्ति और विशाल भवन को छोड़ दिया था, वह इस कुटनी की बातों में कब आ सकती थी? उसकी लज्जापूर्ण आँखें झुकी हुई थीं, देह निश्चेष्ट थी और जिह्वा बन्द थी। कुटनी ने जब देखा कि मेरा तीर किसी ढब से भी निशाने पर नहीं बैठता और अगाथा पत्थर की मूर्ति बनी बैठी है तो उसने एकदम अपना भाव बदल लिया। वह झल्लाकर बड़े कर्कश स्वर में बोली—

"अरी हतभागी, मूर्ख छोकरी! तू क्या नहीं जानती कि कंटियानस, जो आज तेरे प्रेम में पागल हो रहा है, सिसली का सर्वोपरि शासक है। यदि तूने उसकी प्रार्थना को ठुकरा दिया तो वह निश्चय ही तुझे जीतेजी जला देगा। देख, यदि तूने अपना हठ न छोड़ा तो वह तेरा अंग-अंग कटवाकर तुझे धधकती आग में फिंकवा देगा।"

अगाथा को कुटनी की चिकनी-चुपड़ी बातें और प्रलोभन अपने धर्म से न गिरा सके थे, और मृत्यु की धमकी भी डरा नहीं सकी। उसने अपनी झुकी हुई गर्दन को उठाया और लज्जाभरी सुन्दर आँखों से आकाश की ओर देखकर कहा—"परमात्मा ही मुझ ऐसे अशरणों की शरण है। वही मेरा रक्षक है। उसी की सहायता से सब प्रकार के कष्टों को सहन करूँगी। उसी की कृपा से मृत्यु पर भी विजय पाऊँगी। तेरी धमकियाँ मुझे मेरे धर्म से नहीं गिरा सकतीं।"

यह सुन पापिष्ठा अफ्रोडिसिया जल-भुन गई। पर वह बोली कुछ नहीं। नागिन की भाँति बल खाती हुई उसके सामने से हट गई। वह पूरे एक मास तक अगाथा पर जादू के बाण चलाती रही। परन्तु उसे सफलता न हुई। अन्त में उसने तीस दिन के पश्चात् गवर्नर से कहा—"पत्थर को मोम बना लेना शायद सम्भव हो। पर उस लड़की को मसीह की ओर से विमुख करना सम्भव नहीं। मैंने सब कुछ कर देखा। परंतु किसी प्रकार भी सफलता नहीं प्राप्त हुई।"

यह सुन कंटियानस मारे क्रोध के बावला हो गया। उसके हृदय में अगाथा के प्रति जितना प्रेम था वह सब घृणा और रोष में परिणत हो गया। वह प्रलाप करता हुआ बोला—"इस लड़की के कारण सारी सिसली में मेरा अपयश फैल रहा है। परन्तु मेरा कहना इसने नहीं माना। अब इसकी मृत्यु निकट आ पहुँची है।"

उसने आज्ञा दी कि अगाथा को मेरे सम्मुख उपस्थित किया जाय। जब अगाथा लाई गई तो उसने इससे कहा—"तूने एक स्वतन्त्र स्त्री होते हुए ईसा की अधम दासता क्यों ग्रहण की?" लड़की ने उत्तर दिया—"ईसा की दासी बनने में मैं अपना सौभाग्य मानती हूँ। जिन देवी-देवताओं की तू पूजा करता है और मुझसे भी कराना चाहता है, वे घृणा के योग्य हैं। क्या तू इस बात को पसन्द करेगा कि तेरी स्त्री रोमन देवी वीनस की भाँति छिनाल हो? और तू देवता जूपिटर की भाँति व्यभिचारी और लम्पट समझा जाय?"

अपने देवी-देवताओं के प्रति ऐसे अपमानजनक शब्द सुन कंटियानस ने अगाथा के मुँह पर एक थप्पड़ लगाने की आज्ञा दी। इसके उपरान्त उसने उसे कारागार में भेज दिया। दूसरे दिन उसे फिर कंटियानस के सामने उपस्थित किया गया। उसने पूछा—"तूने अपनी प्राणरक्षा के लिए क्या उपाय सोचा है?" अगाथा ने उत्तर दिया—"भगवान् ही मेरा रक्षक है।" उसका यह उत्तर सुन कंटियानस का क्रोधानल धधक उठा।

वह रौद्र रूप धारण कर बोला—"क्या तुझे विदित नहीं कि सम्राट् का आदेश है कि जो व्यक्ति ईसाइयों के परमेश्वर की पूजा करता है, उसका निस्संकोच भाव से वध कर डाला जाय ? क्या तुझे लज्जा नहीं आती कि तू एक कुलीन घराने में जन्म लेकर ऐसा कुत्सित जीवन बिता रही है।"

अगाथा ने कहा—"मुझे ईसाई होने में कोई लज्जा नहीं, वरन् मैं बहुत प्रसन्न हूँ कि मुझे प्रभु ईसा की तुच्छ सेविका होने का गर्व है।"

इस पर कंटियानस ने क्रोध से पाँव पटककर कहा—"अरी उद्धत, अविनीत और हतभाग्य लड़की, ऐसी नास्तिकता की बातें मत बक। तू महान् जूपिटर और हमारे अन्य देवताओं की पूजा कर। अन्यथा तुझे मृत्यु का आलिंगन करना पड़ेगा।"

एक तो कंटियानस की आकृति बड़ी भयानक थी। इस पर उस नृशंस का कर्कश स्वर और दुर्भाव। इससे भी बढ़कर उसके हाथ में राजशक्ति थी। सम्राट् उसकी पीठ पर था। इन सब बातों को सोचकर वीर से वीर पुरुष भी उसकी धमकियों से भयाकुल हो जाता और उसका कहना मान लेता। परन्तु अगाथा मृत्यु की धमकी सुनकर पहले से भी अधिक निर्भीक और साहसी हो गई। उसके कोमल होठों से ये शब्द निकल पड़े—"मैं एक सच्चे प्रभु को छोड़कर किसी दूसरे देवी-देवता की पूजा नहीं कर सकती। जो सृष्टि का स्रष्टा और हम सबका कर्त्ता एवं स्वामी है, मैं उसी की पुजारिन और दासी हूँ। मैं किसी भय अथवा प्रलोभन से उस जगदीश्वर को छोड़ने को तैयार नहीं !"

अगाथा के ये शब्द उसकी अटल धारणा और अखंड ईश्वर-विश्वास के परिचायक हैं। अन्त में कंटियानस ने आज्ञा दी कि अगाथा को बंदीगृह में डाल दिया जाय। जिस अगाथा ने माता-पिता के महल और संसार के ऐश्वर्य का परित्याग कर वन का मार्ग ग्रहण किया था, जिस अगाथा को गवर्नर के प्रलोभन और भय सन्मार्ग से विचलित न कर सके थे, वह पवित्रतामयी अगाथा अन्त में कारागार की कालकोठरी में बन्द कर दी गई। परन्तु उसके अन्तर में एक प्रकाश था, जिसने उस बन्दीगृह की अन्धकारमयी कोठरी को आलोकित कर दिया। वह मसीह की मृत्यु का स्मरण करके प्रसन्न होती थी और अपने अत्याचारियों को बुरा नहीं कहती थी, वरन् उनको क्षमा कर देने के लिए भगवान् से प्रार्थना करती थी।

दूसरे दिन कंटियानस ने अगाथा को फिर राजसभा में बुलवाया। अगाथा का मुखमंडल दिव्य प्रभा से चमक रहा था। उसके नेत्रों में एक विचित्र ज्योति थी और होठों पर नन्दन-कानन के पारिजात कुसुम का निर्मल हास्य खेल रहा था। कंटियानस का पुराना प्रेम एक बार फिर जाग उठा। उसने उसे समझाया कि यदि तुम मसीह को छोड़कर मेरी बात मान लो तो मैं तुम्हें निहाल और मालामाल कर दूँगा। परन्तु अगाथा ने फिर यही उत्तर दिया कि मैं अपने प्यारे प्रभु का परित्याग किसी अवस्था में भी नहीं कर सकती। मुझे मृत्यु का कुछ भी भय नहीं। मेरी आत्मा इस पांचभौतिक शरीर को छोड़ने के लिए व्याकुल हो रही है। मैं चाहती हूँ कि इस अस्थि-पंजर से शीघ्र ही मुक्त होकर प्रभु के चरणों में पहुँच जाऊँ।

तब कंटियानस झुँझलाकर बोला—"अभागिनी मरना ही है तो फिर मर।" इतना कहकर उसने बधिकों को आज्ञा दी कि सम्राट् के आदेश का पालन करो। उन पाषाण-हृदय मनुष्यों ने अगाथा के हाथ-पैर शिकंजे में जकड़कर शिकंजे को खींचा। अगाथा की कुसुम-समान कोमल देह टुकड़े-टुकड़े होने को ही थी कि आततायियों ने शिकंजे को कसकर छोड़ दिया। अगाथा ने हाय तक न की। उसका मुखमंडल वैसा ही खिला रहा। कंटियानस इस विचित्र घटना को देखकर बहुत ही डर गया। परन्तु उसका हृदय पत्थर हो चुका था। उसने आज्ञा दी कि अगाथा को रस्सों से बाँधकर बाज़ारों में घसीटा जाय।

कोमलांगी निरपराध बाला को चार सैनिकों ने जकड़ लिया। वे उसे धरती पर इस प्रकार घसीटने लगे, मानो वह मानव-सन्तान ही न थी। वे उसे घसीटते हुए कटानिया के चौक में ले आये। अब कंटियानस ने आज्ञा दी कि लोहे की सलाखें तपाकर उसके शरीर को दाग दिया जाय। ओह ! कितना रोमांचकारी पैशाचिक कृत्य था ! परन्तु अगाथा ने इस असह्य वेदना को भी हँसते-हँसते सहन कर लिया। वह जानती थी कि सुख-दुःख जो कुछ है, सभी भगवान् का दान है। उसके हृदय में स्वर्ग की वीणा बज रही थी, प्रेममय विश्व की निडर वाणी उसके जीवन को ढाढ़स दे रही थी। वह अपने स्रष्टा और स्वामी के प्रेम में ऐसी शराबोर थी कि उसे अपनी देह का कुछ भान ही न था। कंटियानस इस सारे दृश्य को देख रहा था। परन्तु इस निर्भय पर कुछ भी प्रभाव न हुआ।

जब उसने देखा कि शिकंजे में कसे जाने और जलते हुए लौह-खंड से जलाये जाने पर भी अगाथा ने उफ़ तक न की, तो उसने एक और क्रूर आज्ञा दी। उसके आदेश से अगाथा के कोमल अवयवों को पहले चीरा और फिर काटा जाने लगा। इस समय अगाथा ने नतमस्तक हो भगवान् से प्रार्थना की कि हे सर्व-शक्तिमान् प्रभो, मुझे ऐसी शक्ति प्रदान कीजिए, जिससे मैं इस अति दारुण दुःख को धैर्य और शान्ति के साथ सहन कर सकूँ।

इस प्रकार प्रार्थना कर चुकने के पश्चात् वह उस राक्षस को सम्बोधन करके बोली—"हे निर्लज्ज, पापी, क्या तुझे लज्जा नहीं आती कि तू मेरे उन कोमल अवयवों को काट रहा है, जिनसे तेरी माता ने बाल्या-वस्था में तुझे दूध पिलाया था? अरे दुरात्मा, वसुन्धरा अभी तक तेरे पापभार को क्यों ढो रही है? अरे नीच, यदि भगवान् की सृष्टि में धर्म और न्याय का राज्य है तो इस कुकर्म के कारण तेरी देह अवश्य ही गिद्धों और गीदड़ों के पेट में जायगी। परन्तु दुराचारियों को भय और लज्जा कहाँ। कंटियानस के हृदय पर उसके शब्दों का कुछ भी प्रभाव न हुआ। अगाथा के प्राण निकलते न देख उसने उसे बन्दीगृह की अँधेरी कोठरी में फेक देने की आज्ञा दी, जिससे वह उन घावों के कारण घुल-घुलकर स्वयं मर जाय।

अगाथा के कोमल अंग काटे जा चुके थे। रक्त के पनाले बह रहे थे। उसके बचने की कोई आशा न थी। वह कालकोठरी में पड़ी भगवान् का स्मरण कर रही थी। कहते हैं, आधी रात होने पर एक देवदूत उसके निकट प्रकट हुआ। उसने उसके घावों को बिलकुल चंगा कर दिया। उस रात बंदीगृह में ऐसा अद्भुत प्रकाश हुआ, जिसे देख पहरेदार डरकर भाग गये। कारागार का द्वार भी खुला ही पड़ा रह गया। अगाथा के लिए पर्याप्त समय था कि वह प्राण बचाकर कारागार से भाग जाय। दूसरे बंदियों ने उसे ऐसा करने का परामर्श भी दिया। परन्तु पुण्यमयी अगाथा ने उत्तर दिया कि यदि गवर्नर को पता लग गया कि मैं भाग गई हूँ तो वह कारागार के अधिकारियों के प्राण ले लेगा। इसलिए मैं अपनी प्राणरक्षा के लिए बंदीगृह के अधिकारियों और सिपाहियों के जीवन को संकट में नहीं डालना चाहती।

जब कंटियानस को इस घटना का ज्ञान हुआ तो उसने अगाथा को फिर अपने सामने बुलाया और ईसाईधर्म को छोड़ देने के लिए ज़ोर दिया। पर अगाथा ने इससे साफ़ इन्कार कर दिया। तब कंटियानस ने उसकी हत्या कर डालने का निश्चय किया। उसने आज्ञा दी कि आग की भट्ठी गरम की जाय और उसमें लोहे की सलाखें डाली जायँ। जब सलाखें गरम होकर अँगारे की भाँति दहकने लगीं तो कंटियानस ने आज्ञा दी कि अगाथा को उन अँगारे की भाँति दहकती हुई सलाखों पर से घसीटा जाय। इस अमानुषिक अत्याचार को देखकर नगर के सभी लोग—क्या ईसाई और क्या प्रतिमा-पूजक—सजल-नयन हो गये। क्रोध के आवेश में वे गवर्नर पर टूट पड़े। समूचे नगर में हुल्लड़ मच गया। शोकातुर जनता उस अत्याचारी गवर्नर के रक्त की प्यासी हो रही थी, जो अभी कुछ ही क्षण पहले समूची सिसली का शासक बना बैठा था। वह अब नगर की गुप्त गलियों में से भागता और प्राण बचाता फिर रहा था। उसने सारी जनता को अपने विरुद्ध देखकर आज्ञा दी कि अगाथा को तुरंत छोड़ दिया जाय। अगाथा आग में से निकाल ली गई। उसके प्राण कंठगत हो रहे थे। उसने दोनों हाथ आकाश की ओर उठाकर प्रार्थना की—"जगदाधार, आपने बाल्यकाल से ही मुझ दीन की रक्षा की है। आपकी ही अपार दया से मैं इन असह्य यातनाओं को शान्ति के साथ सहन कर सकी हूँ। हे पिता, अब मैं अन्तिम प्रार्थना करती हूँ कि आप मेरी आत्मा को भौतिक बन्धनों से मुक्त कर दीजिए, जिससे मैं आपके शान्तिमय अंक में स्थान पा सकूँ।" इतना कहते ही कहते उसकी सुन्दर लावण्यमयी देहलता निर्जीव हो गई। उसका प्राण-पक्षी पिंजरमुक्त होकर उड़ गया। उसकी आत्मा जिस नित्य धाम से आई थी, वहीं संसार को प्रभु-प्रेम की स्नेह-भरी मधुर अभय वाणी सुनाकर पुनः लौट गई—

आई थी सत्यलोक से सत्य में गई समा।
अद्भुत गाथा अपनी अगाथा गई सुना॥

सच है, जो मनुष्य भगवान् के पाद-पद्म में आत्म-समर्पण करता है उसे पार्थिव व्यथा व्याकुल नहीं कर सकती। अगाथा नित्य धाम को पधार गई; परन्तु उस सती साध्वी की उसाँस से सुलगी हुई आग लपट फैलाकर कंटियानस को निगलने दौड़ी। वह पापमूर्ति प्राणरक्षा के लिए नदी की ओर भाग निकला। एक नाव में बैठकर वह नदी के पार पहुँच जाना चाहता था। परन्तु उस नाव में दो घोड़े भी थे। जब नाव

मँझधार में पहुँची तो घोड़ों ने आपस में लड़ना आरम्भ कर दिया। वे एक दूसरे पर दुलत्तियाँ चलाने लगे। संयोगवश एक दुलत्ती कंटियानस के कपाल पर लगी और वह बुरी तरह घायल होकर गिर पड़ा। घोड़ों के ऊधम मचाने से नाव उलट गई और कंटियानस नदी में डूब गया। उसकी लोथ का भी कहीं पता न चला। यह घटना ईसा के सन् २५१ की है।

यद्यपि इस समय भक्तिमयी अगाथा का पार्थिव शरीर इस जगत् में विद्यमान नहीं, तो भी सारा ईसाई-जगत् उसके चिरवंदनीय चरणों में आज भी भक्तिभाव से अर्घ्य डाल रहा है।

१—गीत

श्रीकेदारनाथ मिश्र 'प्रभात' एम्० ए०, साहित्याचार्य

मेरे मन की वीणा बजती, कलियाँ गाती हैं
गगन की परियाँ गाती हैं
मेरी स्वर-लहरें अनन्त को छू इठलाती हैं
उमड़ती हैं, बल खाती हैं
आज सुरभि की पीड़ा मेरी साँसों पर तिरती
हृदय की गलियों में फिरती
स्वागत में स्मृतियाँ कंचन के दीप जलाती हैं
गगन की परियाँ गाती हैं
मेरा प्रियतम सोया है पुतली की छाया में
मिलन की अमलिन माया में
परम के निवेदिता-सी नीरव विजन डुलाती हैं
गगन की परियाँ गाती हैं
मेरे जीवन की असीमता आज उमड़ आई
घटा-सी आज घुमड़ आई
लक्ष-लक्ष सृष्टियाँ आज मुझमें मुस्काती हैं
गगन की परियाँ गाती हैं

२—गीत

श्रीजगदीशप्रसाद गुप्त "विश्व"

बरसें बीतीं, युग बीत गये।
कातर अंतर की तरलाई।
नयनों में आँसू भर लाई।
पर यह निष्ठुर जाने कैसे,
छलकर, छलकाकर रीत गये।
बरसें बीतीं, युग बीत गये।
तन भस्म हुआ दहते-दहते।
मैं हार गया सहते-सहते।
पर तुम्हीं कहो, अपने मुँह से,
कैसे कह दूँ तुम जीत गये।
बरसें बीतीं, युग बीत गये।
पथ भूल गई या अलसाई।
अब तक न प्रतिध्वनि क्यों आई।
छिपकर छूने को क्षितिज-छोर,
जाने किस गति से गीत गये।
बरसें बीतीं, युग बीत गये।

३—दो गीत

श्रीजानकीवल्लभ शास्त्री

(१)

दीप-कर देहली पर खड़ी देखती!
शून्य दृग-युगल चिर तिमिर घिर-घिर भरे,
दीप फिर-फिर रहा ज्योति सिर पर धरे।
वह विरह के विरस दिवस गिन-गिन अरे,
अश्रु-मसि-पङ्क के अङ्क उर लेखती!
नील-तल कुञ्ज में मञ्जु मृदु हास ही—
हँस रहा चपल तारक-पटल पास ही,
दूर—अतिदूर वह—दीखता, जो नहीं—
प्राण-धन का अकथ प्रेम-पथ पेखती!

(२)

दीप बुझा सखि, हुआ सवेरा!
शून्य गगन में पर फैलाकर
चले विहग तज रैन-बसेरा!
पाल डालकर नाव छोड़ दी
इस तट पर से दृष्टि मोड़ ली
सुन, माँझी गाता है—"किसने
कब जानेवाले को घेरा!"
एक किरण हँसती-सी निकली
उर-उर में बसती-सी निकली
बह-बहकर समीर कहता है—
—"कुसुम विश्व का, परिमल मेरा!"
दीप बुझा सखि, हुआ सवेरा!

४—वर्षा-गीत

श्रीमती तारा पाण्डेय

सखी, तू गा वर्षा के गीत !
छाये हैं नीले अम्बर में
श्याम जलद मतवाले।
कौन सँदेशा लाये हैं
निज मन में पीड़ा पाले।
बने हैं ये प्राणों के मीत !
मिटने को ही उमड़े हैं
लेकर प्राणों में ज्वाला।
क्यों अनजाने ही विधि ने
अभिशाप उन्हें दे डाला।
यही है क्या इस जग की रीत !
उच्छ्वासों के बादल सजनी,
मेरे मन में छाये।
कितने ही उद्गार-भरे
मैंने भी गाने गाये।
हो गई अब आँसू से प्रीत !
हरे हो उठें सूखे तृण, तरु
ऐसा गीत सुनाओ।
नाचें मोरों के दल वन में,
वर्षा-मंगल गाओ।
भूलना होगा आज अतीत !
सखी, तू गा वर्षा का गीत !

५—गीत

महाकवि पं० शिवरत्न शुक्ल "सिरस"

पत्ती पति पतियावे।
इठलाती तू पवन संग में,
झूम-झूम अँगड़ावे।
झंझा झोंक झूमती झुकती,
उलट-पलट मन भावे।
जोम जवानी जोर जगाती,
औरों को बहकावे।
वायु तलाक दिलाता तुझसे,
किया पृथक्, भग जावे।
जीवन नष्ट भूमि गिर होता,
पीला रँग अँग लावे।
हरित सरस रहके बहँकी बहु,
समझी ना समझाये।
गली चलत लतियाते जन अब,
झुर्री पड़ी दिखावे।
उदय-जगत का क्षणिक क्षपा सम,
"सिरस" सीख सुख छावे।

६—बरुनियाँ

श्रीतुलसीदास शर्मा

छहर आतीं बरुनियाँ*
आज पलकों पर तुम्हारे घिर रही काली घटाएँ
और सस्मित पुतलियाँ किस भाँति अपने में छिपाएँ
लेहर खातीं बरुनियाँ
छहर जातीं बरुनियाँ
कौन-सा संघर्ष पाकर उमड़ आई मेघमाला
तीर-सी आकर चुभोती, शस्त्र ये अच्छा निकाला
क़हर ढातीं बरुनियाँ
छहर आतीं बरुनियाँ
फहरकर जो आज करतीं किस विरह की पूर्ति तत्पर
भूलकर सर्वस्व अपना बन रहे हम मूर्ति प्रस्तर
सहर पातीं बरुनियाँ
छहर आतीं बरुनियाँ

---

* बरुनियाँ—पलकों के बाल।

७—युग-क्रम

श्रीचन्द्रपालसिंह यादव 'मयङ्क' बी० ए०, विशारद

दानवता किलकारी भरती, जब मानवता करती क्रन्दन।
युग-युग से होता आया है जग में इस क्रम का दिग्दर्शन॥

(१)

जब रणचण्डी जगतीतल पर होकर मदमत्त नृत्य करती।
आकाश काँपने लगता है, डगमग करने लगती धरती॥
क्षण में हो जाते नष्ट-भ्रष्ट हैं भव्य, कला के केन्द्र, नगर।
संस्कृतियाँ बिलख - बिलख उठतीं हैं ललित कलाएँ धुनती सर॥
इस भाँति पनपती दानवता, मानवता का करके शोषण।
युग - युग से होता आया है जग में इस क्रम का दिग्दर्शन॥

(२)

बलि होते युद्ध-वेदिका पर कितने ही उठते नौजवान।
मानव, मानव की रक्तधार में, क्रीड़ा करता मोद मान॥
कितने परिवारों का गायन, रोदन में हो जाता परिणत।
यह बात नवीन नहीं कोई, ऐसा होता आया है नित॥
यों मानवता की छाती पर दानवता करती है नर्त्तन।
युग - युग से होता आया है जग में इस क्रम का दिग्दर्शन॥

(३)

जब महानाश का कुटिल खेल जग में हो जाता है समाप्त।
तब अखिल विश्व में पूर्ण शान्ति हो जाती है सब जगह व्याप्त॥
होता है आविर्भाव विश्व में, एक नई दुनिया का फिर।
मिट जाता पूर्व प्रणाली का तब सारा ही दुख-द्वन्द्व-तिमिर॥
फिर नये विश्व का, नई शक्ति का, होता है फिर नव सर्जन।
युग - युग से होता आया है जग में इस क्रम का दिग्दर्शन॥

८—घनश्याम से

श्रीपं० रामनरेश पाण्डेय 'पद्मेश'

[१]

कुछ स्वत्व न ज्ञात तुम्हें अपना बन ऐसे अनन्य विभोर चले।
घनश्याम ! किये तन श्याम समस्त भरे जब से दृग कोर चले।
प्रिय दर्शन-वायु से प्रेरित हो उठा मानस बीच हिलोर चले।
निज अंग-पतंग को प्रेम की डोर में बाँधे अनन्त की ओर चले।

[२]

रवि-चन्द्र की ज्योति से अन्तर पूर्ण वियोग में ये तुम काले पड़े।
विरहाग्नि के आतप से जल के नभ अंग में तारक छाले पड़े।
तप-साधन में तन देते गला किस निष्ठुर के तुम पाले पड़े।
तुमसे ही असंख्य असीम अमाप की माप को मापनेवाले पड़े।

[३]

रहने चुपचाप न पाते कभी मिली शान्ति तो आँसू बहाना हुआ।
सदा वायु-प्रसंग से आयु समस्त ही अस्थिरता में बिताना हुआ।
जब से बँधे जीवन-बन्धन में तब से यह ठोकरें खाना हुआ।
बन के 'पदमेश' त्रिशंकु तेरा पृथिवी नभ बीच ठिकाना हुआ।

[४]

अभी क्या, दिन दूर नहीं जब लक्ष्य की खोज में होना अलक्ष्य पड़ेगा।
गिरि श्रृंग महान किये पथ रुद्ध तेरे 'पदमेश' समक्ष पड़ेगा।
कभी ठोकरें खा बहा अश्रु का सागर रिक्त हो खोना भी अक्ष पड़ेगा।
फिर भी यह सम्भव है तुमको दिखलाई न सम्मुख लक्ष्य पड़ेगा।

[५]

फिर भी जो अनन्य उपासक हैं उनके लिए योग वियोग समान है।
तुम जैसे अनेक बने उदभ्रान्त बना इस विश्व का ऐसा विधान है।
अणुमात्र भी साथ न देता कभी रहता बना मित्र सदा अनुमान है।
मृग, मीन, पतंग सा दे दो स्वप्राण, सनेह तो लेता यही बलिदान है।

९–मयंक के प्रति

मास्टर उमादत्त सारस्वत कविरत्न

१

प्रिय तारावली में मयंक ! कहो, तुम कौन हो, क्यों मुसका रहे हो ?
इस विस्तृत व्योम में बोलो सखे ! किस कारण यों इठला रहे हो ?
मुख लाल हुआ रजनीश ! क्यों है, इतना अहो ! क्यों शरमा रहे हो ?
कहलाते कलानिधि हो अथवा, इससे ही कलाएँ दिखा रहे हो ।

२

नभ में यह कौनसी सीढ़ियाँ हैं, जिन पै यों समोद चढ़ा करते हो ?
अथवा नट हो कुछ जादू पढ़े, जिसमे यों घटा या बढ़ा करते हो ?
किसका मन मोहने को शशि ! यों, सदा स्वर्ण से गात मढ़ा करते हो ?
रह शून्य में दूर वसुन्धरा से, यह कौनसा पाठ पढ़ा करते हो ?

३

इन तारिका-गोपियों में तुम कौन, व्रजेश बने यों फिरा करते हो ?
बन रात की बिन्दी सुहागभरी, गगनाञ्चल का मन क्यों हरते हो ?
मिस चाँदनी के घट दुग्ध अपूर्ण, उँडेलते, धैर्य न क्यों धरते हो ?
कुमुदावलियों को सजीवन दे, उन्हें अंक क्यों दूर ही से भरते हो ?

४

यह व्योम है या कि सरोवर है, जिसमें जल-क्रीड़ा किया करते हो ?
अथवा किरणावलि सूइयों से, उर प्रेमीजनों के सिया करते हो ?
रजनी-सी प्रिया शशि ! पाकर या, सदा प्रेम का प्याला पिया करते हो ?
बन वैद्य चकोरियों के अथवा, उन्हें जीवन-दान दिया करते हो ?

५

तज रात्रि-प्रिया को अमावस पै, कहाँ जाते चले, उसको छलते क्यों ?
कहलाते सुधाकर हो फिर भी, हा ! वियोगियों से इतना जलते क्यों ?
उलटी यह नीति है सीखी कहाँ, चढ़ते-चढ़ते फिर हो ढलते क्यों ?
तुम्हें चन्द्र ! कलंक मिला इसी से, अब हाथ खड़े-खड़े हो मलते क्यों ?

१०–कवि की वेदना

श्रीसुरेशकुमार 'सुमन'

आर्द्र अपलक गान मेरे !
अश्रुमय अभिभावनाएँ,
अश्रुमय अभिव्यंजनाएँ,

भर रहे निःश्वास वीप्सित लघु सिसकते प्राण मेरे !
आर्द्र अपलक गान मेरे !
हैं कृषक के ध्यान तंद्रिल,
क्षीणकायिक और धूमिल,
तन विशृंखल, मन क्षुधातुर, देश के सम्मान मेरे !
आर्द्र अपलक गान मेरे !
शिल्पशाला में श्रमिकगण
हैं मचाते आर्त रोदन,
सन्निहित हैं उन कराहों में छिपे वरदान मेरे !
आर्द्र अपलक गान मेरे !
राज्यतन्त्री लालसा पर
हैं खड़े कंचन सदनवर,
शुष्कता में बद्ध गुम्फित साम्य के व्यवधान मेरे !
आर्द्र अपलक गान मेरे !
उच्च भावुकता सुनहरी
है सँजोती छाँह गहरी,
स्वप्न के निस्सार जग में बिछ रहे अभियान मेरे !
आर्द्र अपलक गान मेरे !
ढल रही मदमत्त हाला,
चल रहा उन्मत्त प्याला,
अवतरित होते 'अहम्' में सब निरंकुश ज्ञान मेरे !
आर्द्र अपलक गान मेरे !
खोलती दृग वासनाएँ,
ओढ़ती पट लालसाएँ,
डाल आशा पर यवनिका ढह रहे अरमान मेरे !
आर्द्र अपलक गान मेरे !
रे पिरोती दीनता घुल
अश्रुओं के हार अविरल,
शून्य में भय से यहाँ पर खोजते कुछ त्राण मेरे !
आर्द्र अपलक गान मेरे !
तप्त कवि के छन्द रोते,
मिल क्षितिज में लीन होते,
व्यूह में सिमटे सकुचते गान अतिशय म्लान मेरे !
आर्द्र अपलक गान मेरे !

११—आज जब घिरने लगीं काली घटाएँ

श्रीलाल शुक्ल

ओ अभागे !

कौन-सा उत्साह लेकर तू चला था ?
आज जब घिरने लगीं काली घटाएँ,
जब न अम्बर ने बिखेरीं तारिकाएँ ;
तब परित्यक्ता प्रिया के नयन-जलकी
याद क्यों आईं मचलती याचनाएँ ?
देख क्षितिजों में छिपी तरुराजियों से
धूप में पलती हुई सी मेघ-ज्वाला
और नीरव सान्ध्य निर्जन की हवाएँ,
याद क्यों आने लगीं पिछली व्यथाएँ—
वे कलामय कल्पनाएँ ?
क्यों न तेरे ओज की इस सुप्ति में फिर
ले सफल की तृप्ति भैरव-राग जागे ?

ओ अभागे !

क्या यही उल्लास लेकर तू चला था ?
जो निशा के आज इस पहले पहर में
बालकों से भाव तेरे सो रहे हैं
जो कि पश्चिम की तुषारमयी पवन के प्रथम क्रम से
आज पंकज-विपिन वैभव खो रहे हैं ?
आज क्यों फिर डगमगाते पाँव तेरे
क्यों हृदय भय-दूत घेरे ?
रुक न तू, कर चञ्चला का दीप-दर्शन
झुक न तू, कर ले अभी गगनावलोकन।
उच्च नभ को सूर्य, निशिकर, तारिकाएँ
हैं सदा आलोक के पट से सजातीं ;
किन्तु नीचे मेघमालाएँ पहुँचकर
पर्वतों से लड़ वहीं लुट आप जातीं।
शुक्र ने प्राची दिशा का भाल चूमा
और तम में बह चला आकुल समीरण।
ग्रीष्म के दिवसान्त में आँधी उठी जब
स्तब्ध होकर रुक गया क्यों पवन इस क्षण ?
तू पवन-सा चल पड़ा था,
रुक रहा क्यों देख धूसर गगन आगे ?

ओ अभागे !

किसलिये उल्लास लेकर तू चला था ?
क्या नहीं तू जानता था
विषधरी होंगी वहाँ चन्दन-विपिन में ?
क्या नहीं तू मानता था
प्रथम रज, फिर मेघ आर्द्रा के गगन में ?
क्यों न होने को अमर फिर
मृत्यु को भी प्यार कर ले ?
क्यों न यौवन-कल्पना साकार कर ले ?
देख आगे, भीत मत बन,
भावना की जीत मत बन,
विश्व के आकुल क्षणों में
वासना का गीत मत बन।
जो अटल उल्लास लेकर तू चला था,
कर उसे पाथेय
आगे चल सकल सन्देह त्यागे।

ओ अभागे !

एकलव्य

(एकांकी नाटक)

प्रो० सद्‌गुरुशरण अवस्थी एम्० ए०

पात्र—

(१) एकलव्य—एक भील-पुत्र जो शस्त्रविद्या सीखना चाहता है।
(२) द्रोणाचार्य—पांडवों और कौरवों के आचार्य।
(३) नकुल—अर्जुन के छोटे भाई, पाँच पांडवों में से एक।
(४) अर्जुन—पाँचों पांडवों में मझले राजकुमार।
(५) ऋषिकुमार—एकलव्य के आश्रम के निकट रहनेवाला।
(६) सहदेव—नकुल के छोटे भाई, पाँच पांडवों में से एक।
(७) युधिष्ठिर—पांडवों में सबसे बड़े भाई; पाँच पांडवों में से एक।
(८) भीम—अर्जुन के बड़े भाई, पाँच पांडवों में से एक।
(९) दुर्योधन—कौरवों में सबसे बड़े भाई।
(१०) एक तरुण राजकुमार—दुर्योधन का एक भाई।
(११) एक भील-बालक।
(१२) दूसरा भील-बालक।

पहला दृश्य

[शस्त्र-विद्यालय से मिला हुआ एक बड़ा लम्बा मैदान है। यह लगभग एक कोस लम्बा और उतना ही चौड़ा है। धरातल बिलकुल समतल है। कौरवों और पांडवों की धनुर्विद्या सीखने की प्रयोगशाला है। इस भूमि पर एक भी वृक्ष नहीं है। सीमाओं पर लक्ष्यभेदन के लिए संकेत बने हैं। एक दिशा में एक सुन्दर भवन बना है। राजकुमारों के अस्त्र-शस्त्र, इसी में व्यवस्था से रक्खे रहते हैं। दिवस मध्याह्न की ओर बढ़ रहा है। राजकुमारों ने अभी-अभी शस्त्रविद्या का अभ्यास समाप्त किया है और अपने-अपने यानों पर बैठ-बैठकर जा रहे हैं। एक ओर से राजकुमार नकुल, प्रसन्नमुख, प्रवेश करते हैं और दूसरी ओर से एक भील-बालक, एकलव्य, प्रवेश करता है। नकुल का वर्ण गौर और वस्त्र राजसी हैं; एकलव्य का वर्ण कृष्ण और वस्त्र अत्यंत साधारण।]

एकलव्य—राजकुमार! भील-पुत्र एकलव्य आपको सभक्ति अभिवादन करता है।

[दण्डवत्-प्रणाम करता है।]

नकुल—तुम्हारा कल्याण हो। यह तो कहो, युवक, तुम दूर खड़े होकर, प्रतिदिन, क्या देखा करते हो? मेरा ध्यान बँट जाया करता है।

[एक विशाल शाल्मली के वृक्ष के नीचे दोनों बैठ जाते हैं।]

एकलव्य—मैं आप लोगों की धनुर्विद्या का कौशल देखता हूँ।

नकुल—तुम्हें इसमें क्या आनंद आता है?

एकलव्य—आपके सदृश बनने के लिए मुझमें एक बलवती हुलास है। कोई भीतर से बिना सजग प्रयास के, आपका अनुकरण करता है। मैं अपने को भूलकर अपनी परिस्थिति को भूलकर 'आप' बनने के लिए उतावला हो उठता हूँ।

नकुल—महत् की ओर बिना प्रयास खिंचाव; उसके अनुकरण की गली में पगों का यों ही मुड़ जाना, मानवमात्र का स्वभाव है। आयु के अभाव में विवेक का कच्चापन किसी भी मंतव्य को तनकर खड़ा होने नहीं देता। इसी लिए छोटेपन में अनुकरणवृत्ति और भी बलवती रहती है।

एकलव्य—मैं सच कहता हूँ राजकुमार ! जब धनुष और प्रत्यंचा के साथ राजकुमारों की उँगलियाँ खेलने लगती हैं, तो विना धनुषबाण के मेरी उँगलियाँ नाच जाती हैं। प्रत्यंचा तानने में परिश्रम राजकुमारों की भुजाएँ करती हैं और रक्त मेरी भुजाओं की नसों में सिमट आता है। हाथ आप लोगों के चलते हैं, भुजाएँ मेरी फड़कती हैं। लक्ष्यभेद आप करते हैं, हृदय मेरा उछल पड़ता है। तीर जब लक्ष्य को सरकता हुआ दिखाई देता है तो मन मेरा बैठने लगता है।

नकुल—[मुस्कराकर] अनुकरण का तुम्हारा उतावलापन और राजकुमारों का अद्वितीय कौशल दोनों मिलकर तुम्हारी यह परिस्थिति उत्पन्न कर देते हैं।

एकलव्य—फिर तो यह आपके महत्त्व और मेरे बालिश्य का खेल हुआ।

नकुल—कला के सूक्ष्म विन्यास में एक अभेद्य गुम्फना होती है। रहस्य को न भेद सकने की पंगुता बुद्धि में श्लथता उत्पन्न कर देती है। चिंतना में विराम लग जाने से सजगता का एक सहारा केवल हृदय रह जाता है। इसीलिए भावुकता उमड़ पड़ती है। विस्मय, कौतूहल, श्रद्धा और न जाने क्या-क्या ऊपर आकर खेलने लगते हैं। व्यक्ति के नस-नस में उन्हीं का प्रभाव फैल जाता है।

एकलव्य—फिर ?

नकुल—हृदय का यही विस्फोट शरीर को भड़का देता है। दर्शक जैसा देखता, मुग्धता की अवस्था में, वही क्षमता, उसके ऐहिक उपादानों में उबल पड़ती है और वह जान में अथवा बेजान में वही करने लगता है। यही मानव की अंधानुकरण प्रथा का इतिहास है।

एकलव्य—आयु की कमी में तो वैसे ही बुद्धि कम होती है।

नकुल—हाँ ! बालक की अनुकरणवृत्ति इसी लिए और अधिक अंध अनवरत होती है।

एकलव्य—कुमार ! तो किसी महत् का खिंचाव अंध होता है ?

नकुल—नहीं; महत् के गुणों का सोचा समझा महत्त्व भी हो सकता है; वह भी भक्तों को खींच सकता है। पर जैसा मैंने अभी-अभी कहा, महत् की चकाचौंध में विस्मित बुद्धि पंगु हो जाती है और केवल हृदय का बहाव ही महत् की ओर मुड़ जाता है। इसको मैं अंध अनुकरण कहता हूँ।

एकलव्य—बुद्धि जब सो जाती है तो हृदय की साधना में कौन-सी प्रेरणा काम करती है राजकुमार ?

नकुल—अतीत के संस्कार।

एकलव्य—और जन्म से लेकर अंत तक का उसका सांसारिक वातावरण ?

नकुल—यह भी है; पर और भी है।

एकलव्य—वह क्या ?

नकुल—रजोवीर्य के रूप में उत्तराधिकार। यह एक अत्यंत विस्तृत पुंजीभूत शक्ति है जिसका विस्तार और प्रभाव सारा शरीर, जान में और बेजान में, सब परिस्थितियों में, मानता है।

एकलव्य—तो ?

नकुल—ब्राह्मण-कुमार में पठन-पाठन की सहज अभिरुचि होनी चाहिए। क्षत्रिय-कुमार को युद्धकला का ज्ञान नैसर्गिक होता है।

एकलव्य—पर मुझे क्यों युद्ध-विद्या से इतना अनुराग है ? मैं तो भीलपुत्र हूँ।

नकुल—मुझे भी इसका आश्चर्य है। सम्भव है कि प्रतिदिन की गहरी देखभाल ने तुममें एक गहरा वातावरण का असर डाल दिया हो और तुम स्वाभाविक उत्तराधिकारिणी प्रेरणा को भूलकर दम्भ की प्रेरणा का अनुभव करने का स्वाँग भरने के अभ्यस्त हो गये हो।

एकलव्य—तो क्या दम्भ की प्रेरणा उतनी ही बली हो सकती है जितनी उत्तराधिकार की ?

नकुल—भ्रम ऐसा भी समझ सकता है।

एकलव्य—पर पहले दिन से ही मेरी भुजाएँ क्यों फड़कने लगी थीं ? शस्त्रविद्या के अभ्यास को तो मैंने इससे पहले कभी नहीं देखा था; वातावरण की सृष्टि के बिना उसके प्रभाव का अर्थ ही क्या हो सकता है ?

नकुल—मैं यह नहीं समझ पाया कि इसका क्या कारण है। तुम निश्चय ही भीलपुत्र हो न ?

एकलव्य—मेरा जन्म भील-कुटुम्ब में ही हुआ है।

नकुल—इस प्रकार प्रतिदिन, खड़े रहकर कौतूहल जगाये रखने से क्या लाभ ? मेला कोई हर दिन देखता है ?

एकलव्य—राजकुमार ! किसी समय का मन का कौतूहल बार-बार की आवृत्ति से बुद्धि का अनुमोदन प्राप्त कर लेता है। असम्भव का अनहोनापन देखी-सुनी यथार्थता का परिचय बन जाता है।

नकुल—पर इससे तुम्हें लाभ क्या है ?

एकलव्य—मेरे लिए भी धनुर्विद्या सीखने की व्यवस्था कर दीजिए।

नकुल—शस्त्र-विद्यालय का प्रवेश, भीलकुमार के लिए कदाचित् ही सम्भव हो। मुझे कोई आपत्ति नहीं।

एकलव्य—किसको आपत्ति होगी राजकुमार ?

नकुल—व्यवस्था देना तो गुरुवर का काम है।

एकलव्य—उन्हीं के सन्निकट मुझे ले चलिए।

नकुल—पर उन्होंने परम्परा में कभी अपवाद नहीं किया।

एकलव्य—कभी कोई शूद्र-पुत्र शस्त्रविद्या सीखने नहीं आया ?

नकुल—मुझे तो स्मरण नहीं है।

एकलव्य—नहीं आया अथवा नहीं लिया गया, राजकुमार ?

नकुल—दोनों ही बातें सम्भव हो सकती हैं।

एकलव्य—फिर तो मेरे लिए द्वार बन्द है।

नकुल—जो व्यवस्था देता है वही उसकी व्याख्या भी कर सकता है।

एकलव्य—पर गुरुवर की निजी वृत्ति व्यवस्था की कठोरता की ओर अधिक है अथवा उसकी व्यावहारिकता की ओर ?

नकुल—यह मैं कुछ नहीं समझ सका।

एकलव्य—यन्त्र के पूरे रूप को गतिमान् रखने के लिए कभी उसे कसा जाता है और कभी ढीला किया जाता है।

नकुल—कुशल व्यवस्थापक व्यवहारपक्ष के सीमा-विस्तार के अनुसार ही अपनी नीति को व्यवस्थित करता है। सामंजस्य ही उसके नियमों की व्याख्या है।

एकलव्य—गुरुवर बड़े कुशल व्यवस्थाकार हैं। मुझे अवश्य आशा करनी चाहिए।

नकुल—इस छोटी-सी बात को लेकर उनकी विधि-निषेध का परम्परा की ऊहापोह क्यों करने बैठते हो ?

एकलव्य—व्यक्ति अपने स्वार्थ से ही संसार को नापने का अभ्यस्त है।

नकुल—व्यवस्था को परम्परा का रेखा पर चलाना व्यवस्थापक का स्वार्थ है। गतानुगति की रूपरेखा को बिगाड़ने से वर्णव्यवस्था शिथिल होगी न ?

एकलव्य—जब आप ही यह कहेंगे तो मैं गुरुवर के पास पहुँचने का साहस कैसे करूँ ?

नकुल—नहीं, मैं गुरुवर से तुम्हारे पक्ष में कहूँगा। तुम्हें क्षत्रिय बनाऊँगा। [मुस्कराता है।]

एकलव्य—मैं क्षत्रिय बनना नहीं चाहता। केवल धनुर्विद्या के सीखने की मेरी व्यवस्था हो जानी चाहिए। मैं सर्वदा आप सबका सेवक बना रहूँगा।

नकुल—जन्म के शूद्र भी कर्म से ऊपर उठ सकते हैं।

एकलव्य—मैं ऊपर उठना नहीं चाहता। मुझे कल धनुर्विद्या गुरुवर सिखा दें।

नकुल—अच्छा मैं गुरुवर से चर्चा करूँगा। तुम इससे थोड़ा पहले यहीं मिलना।

एकलव्य—मैं तो प्रतिदिन यहीं दुबका खड़ा रहता हूँ।

नकुल—तुम्हारा कल्याण हो।

[बाहर जाता है।]

[एकलव्य झुककर प्रणाम करता है।]

पटक्षेप

दूसरा दृश्य

[एक ऊँचे सुसज्जित रजतपीठ पर गुरु द्रोणाचार्य बैठे हैं। शस्त्रविद्यालय के भवन का एक भाग है। भवन के चारों ओर दीवारों पर नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र बड़ी व्यवस्था से टँगे हैं। भवन के बाहर, दूर, अनेक तरुण राजकुमार शस्त्र-विद्या का अभ्यास कर रहे हैं। बीच-बीच में कोलाहल सुनाई देता है। रजतपीठ के पास कुमार सहदेव खड़े हैं।]

द्रोणाचार्य—वत्स सहदेव ! चिरंजीव नकुल मुझसे कुछ बातें करना चाहता था। उसे बुलाओ।

सहदेव—एक भीलकुमार के साथ शस्त्रविद्यालय के आमुख पर कुछ बातें कर रहे हैं।

द्रोणाचार्य—मुझे इस समय अवकाश है।

सहदेव—मैं अभी गया। [प्रणाम करके जाता है।]

एक तरुण राजकुमार—[प्रणाम करके] विद्यालय के पूर्ण अनध्याय की घोषणा कल के ही लिए है न ?

द्रोणाचार्य—हाँ, कल अनध्याय है।

[तरुण राजकुमार बाहर जाता है।]

[नकुल आगे-आगे और सहदेव पीछे-पीछे प्रवेश करते हैं।]

नकुल—आपका शिष्य नकुल अभिवादन करता है।

[झुककर नमन]

द्रोणाचार्य—ईश्वर तुम्हें सद्बुद्धि दे। कहो, क्या पूछना था।

नकुल—एक भीलकुमार आपके दर्शन करना चाहता है।

द्रोणाचार्य—मैं अभी बाहर आ रहा हूँ। मेरा रथ सुसज्जित कराओ।

नकुल—उसे कुछ श्रीचरणों में निवेदन भी करना है।

द्रोणाचार्य—सो क्या है वत्स ?

नकुल—वह हम लोगों के साथ धनुर्विद्या सीखना चाहता है।

द्रोणाचार्य—[मुस्कराकर] भीलकुमार ! वह तुम्हारे साथ रहना चाहता है या धनुर्विद्या सीखना चाहता है।

नकुल—दोनों चाहता है ?

द्रोणाचार्य—दोनों असम्भव हैं।

नकुल—क्यों गुरुवर ?

द्रोणाचार्य—मैं राजकुमारों के साथ भीलपुत्र को कैसे रख सकता हूँ ? और फिर शूद्र धनुर्विद्या सीखेगा कैसे ?

नकुल—क्या इसमें कोई.......

द्रोणाचार्य—भीलों के दूषित वातावरण का संस्कार बचपन से ही इस बालक पर अवश्य पड़ा होगा। उसके संक्रमण से मुझे राजकुमारों को दूर रखना ही उचित है।

नकुल—वह अत्यंत सरल और उत्तम है। जन्म से ही माता-पिता से पृथक् एक विशुद्ध वातावरण में वह पला है। मैंने यह सब जान लिया है।

द्रोणाचार्य—पर शरीर का उत्तराधिकार भी तो है। माता-पिता के अवगुणों को वहाँ से कौन खदेड़ सकता है ?

नकुल—वह अत्यन्त शुद्ध दिखाई देता है।

द्रोणाचार्य—वत्स ! यद्यपि व्यक्ति का परिवेष्टन अत्यन्त पवित्र और निर्मल है और उसका रहन-सहन अत्यन्त नियन्त्रित और शुद्ध है तो भी पैतृक उत्तराधिकार छूट नहीं जाता। पिता-माता के दोष भीतरी तलों में दबकर रह जाते हैं।

नकुल—विश्व को यदि वे हानि न पहुँचावें तो पृथ्वी के तलों में दबे हुए ठंडे ज्वालामुखी की भाँति उनका भय ही क्या है ?

द्रोणाचार्य—थोड़ा जल पहुँचने पर ठंडा ज्वालामुखी भी कभी-कभी भभक उठता है। थोड़ी असावधानी से भीतरी तलों का स्वभाव खुल खेलता है।

नकुल—असावधानी से न ?

द्रोणाचार्य—सावधानी की चौबीसों घंटे की चौकसी भी असावधानी को रोक नहीं सकती।

नकुल—मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।

द्रोणाचार्य—सोते समय स्वप्नलोक का विचरण किस प्रकार साधु से साधु व्यक्ति को पापी बना देता है।

नकुल—जागरूकता कभी-न-कभी आराम करेगी ही।

द्रोणाचार्य—तभी असावधानी का अधिकार पापवृत्तियों को सामने ले आवेगा।

नकुल—एक बार गुरुवर उसे देख तो लें।

द्रोणाचार्य—अच्छा ले आओ।

[नकुल बाहर जाते हैं।]

सहदेव—गुरुवर ! शूद्र धनुर्विद्या के सीखने का अधिकारी क्यों नहीं है ?

द्रोणाचार्य—उसके कारण हैं वत्स !

सहदेव—वैयक्तिक स्वतन्त्रता की पराकाष्ठा ही समुन्नत समाज का लक्षण है।

द्रोणाचार्य—स्वतन्त्रता की परिभाषा सामाजिक उच्छृङ्खलता नहीं रचती।

[आगे-आगे नकुल और पीछे-पीछे एकलव्य प्रवेश करता है]

एकलव्य—[दंडवत् लेटकर अभिवादन करता है।]

[द्रोणाचार्य आसन से उतरकर भीलपुत्र को उठाते हैं।]

एकलव्य—भीलपुत्र एकलव्य आपको प्रणाम करता है।

द्रोणाचार्य—[हृदय से लगाकर] तुम्हारा कल्याण हो।

एकलव्य—आपने बड़ी दया की, मुझे पास आने का अधिकार दिया।

द्रोणाचार्य—[अपने आसन पर बैठकर] मेरी आत्मा के निकट सब बराबर हैं।

एकलव्य—यह आपका बड़प्पन है। अपवित्र जल को बुलाकर अपने में मिला लेना सुरसरि की ही शक्ति है।

द्रोणाचार्य—तुम्हारे मन्तव्य का आभास मुझे मिल चुका है। पर क्षत्रिय राजकुमारों के सम्पर्क की तुम्हें अनुमति देना नितांत अनुचित है।

[एकलव्य सिर नीचा कर लेता है।]

सहदेव—क्यों पावनवर ?

द्रोणाचार्य—परस्पर का प्रभाव संपर्क का संक्रामक दोष है।

एकलव्य—तो मुझे राजकुमारों के सम्पर्क से लाभ ही होगा।

द्रोणाचार्य—और राजकुमारों को ?

[एकलव्य सिर नीचा कर लेता है।]

नकुल—एकलव्य अत्यंत शिष्ट और योग्य है।

द्रोणाचार्य—तरुणों में तरुणों के दोषों को विवेक के साथ ताड़ लेने का धैर्य नहीं होता।

सहदेव—गुरुवर !

द्रोणाचार्य—तरुणाई तरुणाई की ओर ढुलकने में बड़ी तरल होती है।

नकुल—और तरुण तरुण से लड़ भी तो जल्दी जाते हैं।

द्रोणाचार्य—उनके रागद्वेष विवेकशून्य होते हैं।

नकुल—श्रीमान् के समक्ष हम लोगों का ज्ञान ही क्या है ?

द्रोणाचार्य—मैं तो तुम लोगों के ज्ञान-विस्तार में ही अपने ज्ञान की क्षमता समझता हूँ।

सहदेव—तो एकलव्य के लिए क्या व्यवस्था है ?

द्रोणाचार्य—यही कि शस्त्र-विद्यालय में वह क्षत्रिय राजकुमारों के साथ शिक्षा पाने का अधिकारी नहीं है।

सहदेव—सम्राट् की ओर से निषेध है क्या ?

द्रोणाचार्य—अबोध बालक ! शस्त्रविद्यालय का अध्यक्ष द्रोणाचार्य है। वह राजकीय शासन-सीमाओं से दूर है। यहाँ केवल कुलपति की आज्ञा चलती है। यहाँ का सम्राट्, शासक और अध्यक्ष केवल वही है।

नकुल—सहदेव की जिज्ञासा की मूर्खता थी। हम लोग आपके परमभक्त हैं।

द्रोणाचार्य—मुझे विद्यार्थियों और शिष्यों की सदाशयता पर पूरा विश्वास है।

नकुल—यह आप ही का महत्त्व है।

एकलव्य—मुझे क्या आज्ञा है ?

द्रोणाचार्य—वत्स एकलव्य ! तुम अपने घर रहकर पैतृक व्यवसाय में मन रमाओ।

[सहदेव प्रणाम करके बाहर जाते हैं]

एकलव्य—मैं अपनी प्रवृत्ति से लाचार हूँ भगवन् !

नकुल—अभ्यास से उचित को बल मिलता है। नियंत्रण से अनुचित का शमन होता है।

एकलव्य—यदि कहीं अनौचित्य समझ में आ जाता।

द्रोणाचार्य—बात बहुत स्पष्ट है वत्स ! राजकुमारों के रहन-सहन में जो उच्चता और नागरिकता है उसे प्रत्येक सम्पर्क से रक्षित रखना मेरा धर्म है।

एकलव्य—जिसके सम्पर्क और शिक्षा से राजकुमारों को ये गुण मिले हैं, उसी की दया से मुझे भी मिल सकते हैं।

नकुल—स्वामी ! एकलव्य ऋषिवर कनिल के आश्रम के निकट रहता है। उनके विद्यार्थी जब ऋषिवर के मुख से प्रवचन सुनते हैं, ग्रंथों की व्याख्या का मनन करते हैं तो दूर खड़ा होकर यह भी सब सुनता है। इसका यह व्यवसाय वर्षों से चल रहा है। यह बड़ा विद्वान् हो गया है। देखिए न, कैसा तर्क-वितर्क करता है।

द्रोणाचार्य—तर्क कभी-कभी वाणी-विलास और बुद्धि-व्यायाम के मार्ग पर ही चलता रहता है। उसको सत्य की राजडगर पर चलाना सबकी सामर्थ्य नहीं।

एकलव्य—वह सामर्थ्य कैसे मिलती है, भगवन् ?

द्रोणाचार्य—कपोतों के लिए बिखेरे हुए दानों को छिपकर चुरा ले जानेवाले चूहे में भी एक सामर्थ्य होती है, पर वह पृथ्वी के नीचे ही रहता है। ऊपर केवल चोरी करने आता है।

एकलव्य—मैं आपका अभिप्राय नहीं समझा।

द्रोणाचार्य—दूसरों के लिए वितरण की हुई विद्या को सीख लेना बुद्धि की तीक्ष्णता का परिचय अवश्य देता है ; पर चोरी का कार्य अवैधानिक है।

एकलव्य—क्या मैं कान बन्द कर लेता गुरुवर ?

द्रोणाचार्य—तुम्हें शास्त्रों के गूढ़ तत्त्वों में उलझने की आवश्यकता नहीं। तुम्हारे लिए दूसरा व्यवसाय है।

एकलव्य—मैं मुनिवर कनिल की शिष्य-संख्या में कभी सम्मिलित नहीं हुआ। दूर-दूर से ही सुनकर मैंने सीखा है। मुझे राजकुमारों के साथ रहने की आवश्यकता नहीं। केवल धनुर्विद्या सीखने के समय आने की आज्ञा प्रदान कीजिए।

द्रोणाचार्य—तुम्हें अपने पैतृक व्यवसाय में ही मन लगाना होगा।

एकलव्य—यह आपका अन्तिम निर्णय है ?

द्रोणाचार्य—मैं किसी अपवाद को, परम्परा को ढीला करने के लिए प्रोत्साहित नहीं कर सकता।

एकलव्य—गुरुवर न पास आने दें और न सिखावें, पर फिर भी यदि मैं सीख लूँ !

द्रोणाचार्य—मैं तो परधर्म से दूर रहने के लिए ही तुमसे कहूँगा।

एकलव्य—व्यक्ति की सीमाएँ कितनी कसी हैं भगवन्!

द्रोणाचार्य—बेटा! विवाद की भी सीमाएँ बुद्धिमान् के लिए तंग होती हैं।

नकुल—भीलकुमार! गुरुवर की वाणी समझो।

एकलव्य—पिता, प्रपिता, सात पीढ़ियों से हम लोग उसे समझते चले आ रहे हैं।

द्रोणाचार्य—पुत्र! उत्तेजित न हो। पितरों का व्यवसाय कोई सहसा नहीं छोड़ता।

एकलव्य—सहसा नहीं छोड़ता। पर....नहीं मैं गुरुवर से विवाद न करूँगा। आपको मैं अपना गुरु मान चुका हूँ। मुझे जाने की आज्ञा मिले।

द्रोणाचार्य—भगवान् तुम्हें सद्बुद्धि दें।

[एकलव्य दण्डवत्-प्रणाम करके जाता है।]

पटक्षेप

तीसरा दृश्य

[गहन विपिन का एक दृश्य। ऋषि-मुनियों की पर्णशालाएँ दूर से दिखाई देती हैं। पर्णशालाओं के ऊपर, थोड़ी दूर तक, धुआँ निकल रहा है, पशु घूम रहे हैं और पक्षी उड़ रहे हैं। थोड़ी दूर पर कल-कल करके बहनेवाली निम्नगा का मधुर नाद सुनाई देता है। इसी वन में अर्जुन एकाकी आखेट करने आये हैं। उनकी वेशभूषा देखकर पशु-पक्षी सशंक हैं। एक ओर से एक बड़ा श्वान प्रवेश करता है। उसका मुँह खुला हुआ है और उसमें बाण भरे हैं। उसके पीछे-पीछे दो भील बालक करतलध्वनि करते-करते दौड़े चले आ रहे हैं। इन दोनों के पीछे तनी भौंहोंवाला एक ऋषिकुमार चला आ रहा है। एक ओर से श्वान प्रवेश करता है। पीछे से एक भील-बालक श्वान को पकड़ लेता है और उसका मुँह देखने लगता है। श्वान भूँक नहीं पाता। पीछे से, उसी ओर से, ऋषिकुमार प्रवेश करता है। दूसरी ओर से राजकुमार अर्जुन प्रवेश करते हैं।]

अर्जुन—इस श्वान के पीछे तुम लोग क्यों दौड़ रहे हो? [श्वान को ध्यान से देखकर] अरे! इसके मुँह में बाण किसने भर दिये हैं?

[दूसरा भील-बालक भी प्रवेश करता है। दोनों सहमकर खड़े हो जाते हैं।]

ऋषिकुमार—[आगे आकर] कहिए राजकुमार! आपका आखेट सकुशल समाप्त हो गया?

अर्जुन—[अभिवादन करते हुए] अर्जुन आपको अभिवादन करता है। आखेट से मैं अब लौटने ही वाला हूँ। कहिए इस श्वान का मुख किसने फाड़ रक्खा है?

ऋषिकुमार—यह श्वान, आश्रम में ऋषिवर के प्रवचन के समय खड़ा होकर बहुधा भूँका करता है। विना ताड़ना के हटता नहीं। आश्रम के अद्वितीय धनुर्धारी एकलव्य ने इसी लिए बाणों से इसका मुँह भर दिया। यह श्वास तो लेता है, पर शब्द नहीं कर सकता।

अर्जुन—यह एकलव्य कौन है?

ऋषिकुमार—यहीं का एक निवासी है।

अर्जुन—किसने इसे धनुर्विद्या सिखाई है?

ऋषिकुमार—इसका गुरु कोई नहीं है। उसने किसी से यह विद्या नहीं सीखी।

अर्जुन—क्या विना व्याख्या के आप शास्त्र समझ सकते हैं? विना कुलपति के व्याख्या कौन कर सकता है? विना गुरु के कोई विद्या नहीं आती।

ऋषिकुमार—एकलव्य का तो यही इतिहास है जो मैंने आपसे वर्णन किया।

अर्जुन—एकलव्य ने क्या और भी कोई धनुर्विद्या के आश्चर्यजनक प्रदर्शन किये हैं?

ऋषिकुमार—क्यों नहीं।

अर्जुन—जैसे?

ऋषिकुमार—एक बार एक अहेरी पक्षी किसी छोटे पक्षी को पंजे में कसे उड़ाये लिये जा रहा था। उसकी दर्दभरी चीत्कार को सुनकर कारुणिक एकलव्य ने एक बाण चलाया। पक्षी आहत भी नहीं हुआ; पर उसका आखेट बाण के सहारे एक ऊँचे पेड़ की फुनगी पर बैठा दिया गया।

अर्जुन—अवश्य चतुरता है।

ऋषिकुमार—एक बार एक कुशल आखेटक के सधे लक्ष्य से अपने बाणों के घटाटोप द्वारा इसने भागते हुए आश्रम-मृग को बचा लिया था।

अर्जुन—और?

ऋषिकुमार—अथाह जलराशि में तिरती हुई मछली को बाण से भेदकर बाहर निकाल लाना; छिपे-से-छिपे वृक्षों के झुरमुट में फल को लक्ष्य कर नीचे उतार लाना; पृथ्वी के गर्भ से जल को ऊपर ले आना; बाणों से अग्नि उत्पन्न करना और बाणों से अग्नि बुझाना; ऐसे ही न जाने कितने चकित करनेवाले काम वह किया करता है।

अर्जुन—बड़ी ही कौतूहलपूर्ण व्याख्या है। भला कभी एकलव्य ने कोई युद्ध किया है?

ऋषिकुमार—कदाचित् उसे इसकी आवश्यकता ही न पड़ी होगी।

अर्जुन—(मुस्कराकर) अच्छा, तो घर की ही धनुर्विद्या है!

ऋषिकुमार—आपके इस व्यंग्य का मैं अनुमोदन नहीं करता।

अर्जुन—एकलव्य का अनादर करने का मेरा भाव नहीं है। धनुर्विद्या की परीक्षा का सबसे उत्तम साधन रणक्षेत्र है।

ऋषिकुमार—यशोलिप्सा ही परीक्षा में व्यक्तियों को सम्मिलित करती है। इसके विना भी कोई कुशल हो सकता है। एकलव्य महत्त्वाकांक्षी नहीं है।

अर्जुन—फिर भी युद्ध में ही शस्त्रविद्या प्रतिफलित होती है।

ऋषिकुमार—किसी से यों ही लड़ पड़ना, स्वार्थ-साधना के लिए बाण चलाने लगना, उन्माद के हाथों वीरता दिखाना, क्या धनुर्विद्या है? यही योद्धाओं का व्यवसाय है।

अर्जुन—ऋषिकुमार! खूब मँजा हुआ बर्तन भी अँधेरी कोठरी में रक्खा हुआ, कभी नहीं चमकता। प्रकाश में आने पर ही उसे चमक मिलेगी।

ऋषिकुमार—उसे किसी चक्रवर्ती सम्राट् का उत्तराधिकार कब मिलना है जो पग-पग की भूमि के लिए लड़ मरना अपना धर्म समझे।

अर्जुन—तो क्या एकलव्य क्षत्रिय नहीं है?

ऋषिकुमार—वह तो भीलपुत्र है।

अर्जुन—उसे धनुर्विद्या किसने सिखा दी?

ऋषिकुमार—मैंने पहले ही कह दिया कि वह कभी किसी के पास सीखने नहीं गया। स्वयं घर में अभ्यास करता था।

अर्जुन—यह असम्भव है। पर भीलपुत्र को शस्त्र-विद्या सिखावेगा कौन!

ऋषिकुमार—उससे कभी पूछा नहीं।

अर्जुन—एकलव्य का स्थान यहाँ से कितनी दूर है?

ऋषिकुमार—बिलकुल पास।

अर्जुन—मुझे वहाँ ले चलो।

ऋषिकुमार—जैसी आज्ञा।

[सब लोगों का निष्क्रमण]

पटक्षेप

चौथा दृश्य

[एक छोटी पर्णशाला है। इसके दाहनी ओर एक हाथ ऊँची एक प्रस्तरमूर्त्ति ऊँचे चबूतरे पर खड़ी है। मूर्त्ति के हाथ में धनुष-बाण है और उसकी अनुहार युद्ध-वीर की है। इसे पुष्पमाला से सजाया गया है। आतप और जल से रक्षा के लिए बाणों का एक छत्र इसके सिर पर तना है। पर्णशाला और यह चबूतरा एक विशाल समतलभूमि की सीमा पर है। बड़े अथवा छोटे वृक्ष दूर तक दिखाई नहीं देते। पर्णशाला की सीमा एक छोटा जलस्रोत निर्धारित करता है। चबूतरे के ऊपर मूर्त्ति के सामने एक ठिगना काले वर्ण का तरुण झुका हुआ अर्चना की व्यवस्था में ध्यानावस्थित है। एक ओर से अर्जुन प्रवेश करते हैं। पीछे-पीछे ऋषिकुमार प्रवेश करता है। अर्जुन का वेश देखते ही चबूतरे के पास खड़ा हुआ आश्रम-मृग छलाँगें मारकर भाग जाता है। ध्यानमग्न एकलव्य को अर्जुन सजग नहीं करते। स्वयं मूर्त्ति को ध्यान से देखने लगते हैं।]

[अर्जुन ध्यान से मूर्त्ति को देखकर दंडवत् करते हैं। ऋषिकुमार और भीलकुमार चकित रह जाते हैं। खुरुक से एकलव्य का ध्यान भंग हो जाता है।]

एकलव्य—[अर्जुन को देखकर पहचान जाता है और दंडवत् करता है।] यह भीलपुत्र एकलव्य आपको प्रणाम करता है।

अर्जुन—[उठकर] तुम्हारा कल्याण हो। तुम्हारे ध्यान को भंग करके मैंने अपराध किया है।

एकलव्य—नहीं, आपने मेरी पर्णशाला को पवित्र कर दिया। यह गुरुवर (प्रस्तरमूर्त्ति की ओर संकेत करते हुए) की ही अनुकम्पा है कि इनका सबसे प्रिय शिष्य इस तिरस्कृत शूद्र के घर आवे।

अर्जुन—तुम मुझे जानते हो क्या?

एकलव्य—नकुल और सहदेव भी मुझे जानते हैं? गुरुवर से भी भेंट की थी। मैं आपका दास हूँ।

अर्जुन—इतनी विनय न दिखाओ भाई! तुम मेरे भाई हो। यह तो कहो कि गुरुवर की ऐसी अद्वितीय मूर्त्ति तुम्हें कहाँ मिली?

एकलव्य—गुरुवर प्रस्तर की एक शिला में छिपे हुए थे। वे भीलशिष्य के सामने आने से झिझकते थे। पर भक्त के नेत्र बड़ी पैनी दृष्टि रखते हैं। मैंने उन्हें ताड़ निकाला। उँगलियों के सहारे बाणों की नोकों ने अपना कार्य आरम्भ कर दिया। गुरुवर इस रूप में

निकल पड़े। तभी से इस भील की उपासना की मेड़ों की पकड़ में गुरुवर को विश्राम करना पड़ रहा है।

अर्जुन—तुम्हारे बाणों की क्षमता अद्वितीय है।

एकलव्य—जो कुछ भी है गुरुवर का वरदान है।

अर्जुन—आचार्य द्रोण ने तुम्हें शिष्य कब बनाया था ?

एकलव्य—कभी नहीं।

अर्जुन—तो ?

एकलव्य—मैं स्वयं उनका शिष्य बना था।

अर्जुन—मैं नहीं समझा।

एकलव्य—भीलकुमार के पैतृक उत्तराधिकार ने व्यवधान खड़ा कर दिया। गुरुवर विवश थे। पर भीलकुमार ने मन की कर ली।

अर्जुन—तुमने उनकी आज्ञा की अवज्ञा की, और फिर भी तुम अपने को उनका शिष्य कहते हो ?

एकलव्य—पांडवश्रेष्ठ से मुझे ऐसी अनुदार उक्ति की आंशा न थी, कौंतेय ? मैं राजकुमारों के साथ नहीं रहा। मैंने गुरुवर से गुरुमंत्र नहीं पाया। मैंने उनसे धनुर्विद्या नहीं सीखी।

अर्जुन—फिर तुम्हारी कला को प्राण कहाँ से मिले ?

एकलव्य—इसी मूर्त्ति से।

अर्जुन—यह मूर्त्ति भी तो गुरुवर की है।

एकलव्य—ठीक है, पर ऊँच-नीच की विषमता से आंदोलित ब्राह्मणकुल में सँवारी हुई हाड़-मांस की प्रतिमा यह नहीं है। यह वर्ण-धर्म की गतानुगति की वायु में साँस नहीं लेती।

अर्जुन—तो तुम्हारी मूर्त्ति हमारे गुरु से भी श्रेष्ठ हुई !

एकलव्य—गुरु की टीका करना शिष्य का अधिकार नहीं।

अर्जुन—तो फिर तुम्हारे व्यंग्य की ध्वनि क्या है ?

एकलव्य—मेरे लिए यह मूर्त्ति सबसे श्रेष्ठ है।

अर्जुन—जड़ का महत्व चेतन से भी अधिक बताना किसी जड़बुद्धि का ही तर्क हो सकता है।

एकलव्य—मेरे लिए तो जड़ चेतन है और चेतन जड़ था।

अर्जुन—विलोमगामी बुद्धि भी तो होती है।

एकलव्य—नहीं अर्जुन ! गुरुवर का 'गुरुत्व' और आचार्य का 'आचार्यत्व' वास्तव में मुझे इसी मूर्त्ति से मिला। वैसे कौरवों और पांडवों के राजगुरु और शिक्षा-दीक्षागुरु द्रोणाचार्य हैं।

अर्जुन—तुम्हें गुरुवर की शिक्षा कटु लगी; उनके तथ्य कथन से तुम्हें दुःख हुआ; तुम्हारे मन के अनभिज्ञ अनुमोदन ने तुममें खीझ उत्पन्न कर दी, भीलकुल की सच्ची टीका ने तुम्हारे कुटुम्ब भाव को आहत कर दिया। प्रस्तर की मूर्त्ति न कुछ बोलती है और न कुछ कहती है। उसके मौन में तुम अपने मंतव्यों का समर्थन पाते हो। अपनी प्रगल्भ एषणा को गुरु की प्रेरणा समझते हो। अपनी महत्वाकांक्षा को मिथ्या से सींचते हो।

एकलव्य—मैं नितांत नासमझ बालक नहीं। केवल मौखिक समाधान आचार्य का बड़प्पन नहीं। शिष्य के मन का अपरितोष गुरु की योग्यता को धूमिल कर देता है।

अर्जुन—हठधर्मी शिष्य भी तो होते हैं।

एकलव्य—शिष्य का हठधर्म भी गुरु की निर्बलता है।

अर्जुन—गुरु को सम्पर्क का अवकाश भी तो मिले।

एकलव्य—क्यों नहीं।

अर्जुन—दीक्षा के पहले ही अपने प्रवेश-आवेदन की भूमिका में, हठधर्म की गंध लानेवाले शिष्य के प्रति क्या किया जाय ?

एकलव्य—उसे अयोग्य और असंस्कृत कहकर खदेड़ न दिया जाय। पुचकारकर शिष्य बनाया जाय। उदारता और विशालता का वरदहस्त, लम्बे काल में सही, अनुदारता और कट्टरपन को अवश्य भगा देगा।

अर्जुन—जल का महत्व यह अवश्य है कि जिस बरतन में उसे रक्खो उसी का आकार ग्रहण कर लेगा; परन्तु सुन्दर गन्ध और सुन्दर स्वाद ग्रहण करने की क्षमता अत्यन्त निर्मल और विशुद्ध जल में ही होती है। गंधी की दूकान के बिलकुल पास की नाली, बरसों के साथ के बाद भी सुगन्धित नहीं हो पाती।

एकलव्य—नाली में एक नैसर्गिक दुर्गन्ध होती है। पर....

अर्जुन—कुछ जन्मजात अयोग्यताएँ होती हैं।

एकलव्य—गुरु और शिष्य दोनों में ?

अर्जुन—अवश्य ! सब पढ़ा नहीं सकते और सब पढ़ नहीं सकते।

एकलव्य—अयोग्यताओं का सुधार योग्यता का उत्तरदायित्व है।

अर्जुन—परन्तु—

एकलव्य—परम्परा की आड़ में उपेक्षा से उन्हें बढ़ने देना पाप है।

अर्जुन—व्यष्टि और समष्टि का सामंजस्य भी आवश्यक नीति है।

एकलव्य—हाँ, व्यक्ति का हनन भी समाज के उद्धार का साधन बनाया जा सकता है।

अर्जुन—मैं तुम्हारे तर्क से बहुत प्रसन्न हूँ। पर तुम्हारे आक्षेपों से हमारे गुरु का महत्त्व धूमिल पड़ने लगता है। यह मैं सुन नहीं सकता।

एकलव्य—मेरे तर्क ने आपको परितुष्ट किया, यह मेरा परम सौभाग्य है। आपके गुरुवर मेरे ही गुरु हैं। आदर करने की और सेवा करने की भावना शूद्रों में कहीं अधिक होती है। मेरे विवाद में आपको अशिष्टता दिखाई दी, इसका मुझे खेद है। आप मेरे बड़े गुरुभाई हैं, मेरी भूलों को सम्हाल लेना आपका गौरव है।

अर्जुन—तुमने शस्त्रविद्या कहाँ और किससे सीखी?

एकलव्य—मैंने जो जहाँ सुना ध्यान से मनन कर लिया, यही मेरा शास्त्रज्ञान है। मैंने जब जिससे बातें कीं सावधानी बर्ती, यही मेरी वाचालता है। आप आज उसे तर्क के नाम से सराहते हैं।

अर्जुन—अनुपम संचय बुद्धि है।

एकलव्य—परन्तु भीलपुत्र होने का अभिशाप सबके ऊपर है।

अर्जुन—पर यह तो बतलाओ भाई कि बिना बोलवाली प्रस्तरमूर्त्ति ने धनुर्विद्या कैसे सिखा दी?

एकलव्य—क्या विश्वास करोगे पांडववर?

अर्जुन—क्यों नहीं।

एकलव्य—मैं बड़ी भावुकता और श्रद्धाभक्ति से इस मूर्त्ति को सजाता हूँ और इसकी पूजा करता हूँ।

अर्जुन—सो तो मैं मानता हूँ।

एकलव्य—मुझे उपासना के चरम क्षणों में, एक अनुपम योग के साथ समाधि लग जाती है। मैं सब भूलकर गुरुवर की ही प्रतिमा सर्वत्र देखने लगता हूँ। सब ओर सबमें। उस समय मैं न जाने किस लोक में पहुँच जाता हूँ। मैं स्वप्न देखता हूँ, अथवा कल्पना करता हूँ, यह नहीं समझ पाता। पर उस लोक में गुरु होते हैं, क्षेत्र होता है, लक्ष्य होते हैं, धनुषधारी मैं होता हूँ, उनकी दीक्षा होती है, शब्द होता है, ललकार और पुचकार होती है, बस और कोई नहीं होता। ध्यानावस्थित मैं घंटों इस व्यापार में संलग्न रहता हूँ। लक्ष्यभेद का सुख और लक्ष्यभ्रंश का दुःख दोनों ही मैं समय-समय पर अनुभव करता हूँ। गुरुवर की भौंहें तन भी जाती हैं और उनके अधर खिल भी जाते हैं; दोनों मनुहारों से मेरा परिचय है। गुरुवर क्षेत्र छोड़कर रथ पर चल देते हैं। मेरे नेत्र खुल जाते हैं। उँगलियों का उलझाव, अवयव की झनझनाहट, भुजाओं की फड़कन, जागने पर भी शरीर को बेचैन किये रहते हैं। मैं यहीं सामने के क्षेत्र में, गुरुवर की मूर्त्ति की वन्दना करके, अभ्यास आरम्भ कर देता हूँ। परोक्ष में पढ़े हुए पाठ को प्रत्यक्ष में दोहरा लेता हूँ। आगे के पाठ सामने आते रहते हैं। धनुर्विद्या के विकास के नये-नये पृष्ठ और अक्षर मन में हुलसने लगते हैं और एक-एक करके प्रयोग में ठीक उतर आते हैं। विद्या आगे आकर विद्यार्थी को और आगे बढ़ने के लिए उकसाती है। विस्तृत क्षेत्र के प्रयोगों में नये-नये विधान सूझने लगते हैं और वही भीतर का देवता उँगलियों में उतरकर बड़ी सावधानी से प्रयोग को पूरा करा लेता है।

अर्जुन—बड़ी अलौकिक घटना है।

एकलव्य—पर, सारा आशीर्वाद गुरुवर का ही है।

अर्जुन—गुरुवर की दीक्षा में प्रतिनिधि राजकुमारों की धनुर्विद्या को आड़ में खड़े होकर देखने का यह फल है। तुमने प्रत्यक्ष को परोक्ष में पहुँचाकर उससे रमण करना सीख रक्खा है। फिर भी बड़ी साकार कल्पना है।

एकलव्य—मैं तो एकांत में गुरुवर को अपने साथ देखता हूँ।

अर्जुन—तुम्हारा उदाहरण अद्वितीय है। मैं गुरुवर से इसका कारण पूछूँगा।

एकलव्य—कहीं उन्हें कष्ट न हो।

[अर्जुन द्रोणाचार्य की मूर्त्ति की बन्दना करता है और ऋषिकुमार को अभिवादन करके जाता है]

[एकलव्य अर्जुन को प्रणाम करके पीछे-पीछे पहुँचाने जाता है।]

पटक्षेप

पाँचवाँ दृश्य

[दूसरे दृश्यवाला शस्त्र-विद्यालय का भाग है। गुरु द्रोणाचार्य के समक्ष शिष्यमण्डली बैठी है। शस्त्रों का अभ्यास अभी-अभी समाप्त हुआ है। अर्जुन का स्थान रिक्त है। गुरुवर ऊँचे रजतपीठ पर आसीन हैं।]

भीम—[खड़े होकर] आज गदा-युद्ध के नियमों की व्याख्या करने की तिथि है, गुरुवर !

द्रोणाचार्य—मुझे स्मरण है वत्स ! चिरंजीव दुर्योधन ! तुम आगे आ जाओ।

[दुर्योधन आगे आकर सामने बैठ जाते हैं।]

द्रोणाचार्य—[कुछ सोचकर] परन्तु आज अनध्याय समझो। मुझे एक आवश्यक कार्य है। यह प्रसंग आगे किसी दिन उपस्थित किया जायगा।

नकुल—और आज आर्य अर्जुन भी नहीं हैं।

द्रोणाचार्य—हाँ ! उसे एक महत्त्वपूर्ण कार्य से भेजा गया है। तुम लोग अब जाओ।

[कोलाहल के साथ राजकुमार शस्त्र-विद्यालय से बाहर निकलते हैं। केवल युधिष्ठिर रह जाते हैं।]

युधिष्ठिर—[द्रोणाचार्य के पास आकर] श्रीमान् के जाने की व्यवस्था ठीक की जाय ? रथ को बुलाया जाय ?

द्रोणाचार्य—नहीं वत्स ! अभी मैं यहीं रहूँगा।
[युधिष्ठिर प्रणाम करके जाते हैं।]

[दूसरी ओर से अर्जुन के पीछे-पीछे भीलकुमार एकलव्य प्रवेश करता है।]

अर्जुन—[द्रोणाचार्य के सिंहासन के चरणों पर मस्तक टेककर प्रणाम करते हैं।]

[एकलव्य दण्डवत् लेटकर अभिवादन करता है।]

द्रोणाचार्य—तुम लोगों को ईश्वर सद्बुद्धि दे। [एकलव्य से] तुम तो मुझसे मिल चुके हो न, भीलकुमार ?

एकलव्य—श्रीमान् का अनुमान ठीक है।

द्रोणाचार्य—और कुछ बातें भी हुई थीं ?

एकलव्य—एक प्रार्थना मैंने की थी।

द्रोणाचार्य—वह क्या थी ?

एकलव्य—राजकुमारों के साथ रहकर मैं धनुर्विद्या सीखना चाहता था।

द्रोणाचार्य—तो ?

एकलव्य—आपकी व्यवस्था इसके प्रतिकूल थी।

द्रोणाचार्य—मने कुछ और भी कहा था ?

एकलव्य—यही कि मुझे अपने पैतृक व्यवसाय में ध्यान लगाना चाहिए। धनुर्विद्या सीखना मेरा काम नहीं।

द्रोणाचार्य—फिर तुमने क्या समझा ?

एकलव्य—मैंने आपकी वाणी को आपका परामर्श समझा था।

द्रोणाचार्य—इसी लिए उसकी अवहेलना की ?

एकलव्य—मैंने उसे आपकी आज्ञा कभी नहीं समझा।

द्रोणाचार्य—जो सलाह नहीं मान सकता, वह आज्ञा भी नहीं मानता है।

एकलव्य—परन्तु सलाह में सुननेवाले को तर्क-वितर्क करने की स्वतन्त्रता रहती है। गुरुजनों की आज्ञा में तर्क और समीक्षा का कोई स्थान नहीं होता।

द्रोणाचार्य—गुरु का कार्य हमेशा आज्ञा देना नहीं होता। वह शिष्य में तर्कवृत्ति को भी उकसाता है। पर समझदार शिष्य के लिए आज्ञा और सलाह में कोई विशेष अन्तर नहीं होता।

एकलव्य—तो यह मेरी नासमझी थी। मुझे क्षमा कीजिए।

द्रोणाचार्य—तुमने मेरी मूर्त्ति स्थापित करके मेरे साथ बड़ा अन्याय किया है।

एकलव्य—मैं यह नहीं समझा।

द्रोणाचार्य—मेरे व्यक्तित्व को प्रस्तर के सामने तानकर खड़ा कर दिया।

एकलव्य—सो कैसे भगवन् ?

द्रोणाचार्य—मेरे मुख की 'न' मेरी ही प्रतिमा की 'हाँ' बनी।

अर्जुन—गुरुवर ! श्रीमान् की प्रतिमा हम लोग लेते आये हैं। काष्ठपीठ पर बाहर रक्खी है। आज्ञा मिले तो यहाँ ले आवें।

द्रोणाचार्य—भीलकुमार की कला तो देखनी ही है। ले आओ।

[अर्जुन और एकलव्य बाहर जाते हैं और मूर्त्ति के साथ प्रवेश करते हैं।]

द्रोणा०—[मूर्त्ति को ध्यान से देखकर] बड़ी चतुरता दिखलाई है।

अर्जुन—भीलकुमार की मूर्त्तिकला उसकी बाण-संचालन-कला से किसी प्रकार कम नहीं है।

द्रोणाचार्य—मूर्त्ति की अनुरूपता की परीक्षा तो तुम लोग कर सकते हो; पर इसका सुघड़पन मुझे बहुत पसन्द है।

[एकलव्य सिर झुका लेता है।]

[गुरुवर द्रोणाचार्य के सिंहासन के पास रक्खे हुए काष्ठपीठ पर मूर्त्ति रख दी जाती है।]

अर्जुन—बिलकुल आपकी ही मुद्रा के अनुरूप है।

द्रोणाचार्य—भीलकुमार ! यह मूर्त्ति तुम्हें धनुष चलाना कैसे सिखाती थी ?

एकलव्य—मैं आर्य अर्जुन से निवेदन कर चुका हूँ।

[द्रोणाचार्य अर्जुन की ओर देखते हैं।]

अर्जुन—पावनवर ! इस मूर्त्ति की पूजा करते-करते एकलव्य विदेह हो जाता है और मूर्त्ति के स्थान में आप इसे किसी दूसरे लोक में धनुर्विद्या सिखाने लगते हैं। समाधिभंग होने पर स्वप्नलोक की शिक्षा व्यक्त जगत् में जैसी की तैसी कृतकार्य हो जाती है।

द्रोणाचार्य—एकनिष्ठा के साथ योग और साधना का यह फल है।

अर्जुन—एकलव्य में अपार गुरुभक्ति है।

एकलव्य—जब भगवान् के समक्ष भक्त दोषी प्रमाणित हुआ तो ऐसी भक्ति को धिक्कार है !

द्रोणाचार्य—वह तो बिलकुल दूसरी बात है।

एकलव्य—मुझमें जन्मजात कुलदोष हैं, इसलिए मैं राजकुमारों के सम्पर्क का अधिकारी नहीं; पर मैं धनुर्विद्या सीखने का भी अधिकारी नहीं—यह शाप आपने मुझे क्यों दिया ?

द्रोणाचार्य—यह शाप नहीं, वरदान है। ब्राह्मण और राजगुरु होकर मैं अनुचित व्यवस्था कैसे दे सकता था ?

एकलव्य—क्या मेरी अपवित्रता ऐसी संक्रामक है कि आपकी शिक्षा की डोरी पकड़कर आप तक पहुँच जाती ? क्या सूर्य की रश्मियों से चढ़कर नाली की दुर्गंध सूर्य को गन्दा कर सकती है ?

द्रोणाचार्य—नहीं वत्स ! मुझे ऐसी कोई आशंका नहीं थी और मैं तुम्हें अपवित्र कब समझता हूँ ?

एकलव्य—फिर गुरुवर ?

द्रोणाचार्य—परन्तु जिस प्रकार किसी व्यक्ति की अपावनता उसके वर्ण को अपावन नहीं बना सकती, उसी प्रकार किसी व्यक्ति की पावनता भी उसके वर्ण को पावन नहीं कर सकती।

एकलव्य—वर्ण के उद्धार का भी कोई मार्ग है स्वामी ? उन्नतमना व्यक्ति वर्ण के व्यवधानों पर कब तक खड़ा रहे ?

द्रोणाचार्य—तुम अपनी प्रखर प्रतिभा का प्रयोग तो करते हो; और अपने एकंगेपन को ढाँकने के लिए उसका कवच भी बना लेते हो; परन्तु विरोधी तर्क को सहानुभूति के साथ समझने के लिए उसका सहारा नहीं लेते।

एकलव्य—भगवन् ! मुझे किसी गुरु ने युक्ति-व्यवहार की प्रणाली नहीं समझाई।

[रोने लगत है।]

अर्जुन—रो मत मित्र !

द्रोणाचार्य—पुत्र ! तुम मुझे अर्जुन से कम प्रिय नहीं हो। पर तुम दोनों का विश्व का उपयोग भिन्न है। आम मीठा होता है, स्वादिष्ट होता है और देखने में अच्छा मालूम होता है। नीम कड़वी होती है, दूर से दुर्गन्ध आती है। धोखे से भी मुँह में पहुँचकर मतली उत्पन्न कर देती है। परन्तु—

एकलव्य—परन्तु ?

द्रोणाचार्य—नीम का अपना महत्त्व आम से कम नहीं। न जाने कितने रोगों का वह शमन करती है। पर उसके इस महत्त्व के कारण कोई उसे आम के साथ थाली में परोसता नहीं।

एकलव्य—गुरुवर ! क्या मानव मानव में नीम और आम का-सा भेद है ?

द्रोणाचार्य—मैंने तो एक दृष्टांत दिया था। मानव मानव में भेद अवश्य है।

एकलव्य—क्या भेद मानव की शोभा है ?

द्रोणाचार्य—भेद होना और भेद रखना, दो भिन्न बातें हैं। मानव में बुद्धिवैषम्य सदा रहा है और रहेगा। अतएव विचार में भी उतार-चढ़ाव रहना स्वाभाविक है।

एकलव्य—तो फिर साम्यस्थापना स्वप्न है ?

द्रोणाचार्य—बुद्धिमानों की बुद्धि में विराम लगाकर मूर्खों के उन तक पहुँचने के लिए प्रतीक्षा करना चाहते हो क्या ?

एकलव्य—नहीं, मेरा यह अभिप्राय नहीं।

द्रोणाचार्य—व्यक्ति व्यक्ति में, भाई भाई में वैषम्य है और रहेगा। पर हाँ, सबको अपनी-अपनी उन्नति के लिए उत्तम-से-उत्तम साधन अवश्य मिलने चाहिए। सब उच्च, उच्चतर और उच्चतम होते जायँगे।

एकलव्य—यदि मानवबुद्धि मानव मानव में भेद न करे तभी समान साधन सबको मिल सकेंगे।

द्रोणाचार्य—सच्चा ज्ञानी इससे भी ऊपर जाकर प्राणिमात्र में साम्य देखता है। हाथी और चींटी, ब्राह्मण और चांडाल पंडित के लिए बराबर हैं।

[एकलव्य मुस्कराता है।]

द्रोणाचार्य—तुम्हारी मुस्कराहट के व्यंग्य को मैं समझता हूँ। पर, बेटा ! युद्ध में कोई चींटी पर हौदा नहीं कसता और चांडाल को द्रोण के आसन पर बिठाया नहीं जा सकता। विवेकविहीन पंडित पागल समझा जायगा।

एकलव्य—ठीक है स्वामी । चींटी गजारोहियों का बोझ नहीं उठा सकती और चांडाल ज्ञानशून्य होने के कारण कुलपति नहीं बन सकता । आकांक्षाओं की असमता के कारण ये अयोग्यताएँ हैं ।

द्रोणाचार्य—ये अयोग्यताएँ जातिगत हैं । इनका विचार पंडित की शोभा है ।

एकलव्य—चींटी की बात तो समझ में आई, पर चांडाल की बात नहीं आई ।

द्रोणाचार्य—पार्थिव आकार की न्यूनता स्पष्ट देख रहे हो न; अपार्थिव हेयता देखने का भी स्वभाव डालो । उँगलियों के सहारे गिनती गिनना तो बालक भी जानते हैं ; पर विना लेखनी के बड़ी से बड़ी संख्या का अंकगणित करना सबका काम नहीं ।

एकलव्य—चांडाल को समाज ज्ञानवान् बनने का अवसर कहाँ देता है ?

द्रोणाचार्य—समाज के पास बहुत प्रकार के काम हैं । सब कुलपति ही बन जायँ तो और काम कौन करे ?

एकलव्य—गुरुवर ! निज की रुझान के अनुसार व्यक्ति को समाज चलावे ।

द्रोणाचार्य—पुत्र ! यदि समाज सदा केवल प्रयोगशाला ही बना रहे तो उसका उन्नति असम्भव है । एक बार आर्यजाति ने सबकी कार्यकुशलता परख-कर मानसिक विषमता को सामने रखते हुए कार्य का बटवारा कर दिया । बार-बार का प्रयोग किसी समाज को दृढ़ नहीं रख सकता ।

एकलव्य—पर वर्ण के भीतर व्यक्तियों की प्रवृत्तियों और आकांक्षाओं को बिलकुल परतन्त्र कर दिया गया है ।

द्रोणाचार्य—यह कहो कि परतंत्रता सबने मिलकर बुलाई है । समाज सब वर्गों का सम्मिलित योग है । एक वर्ग ने दूसरे पर स्वार्थवश कुछ लादा नहीं है ।

एकलव्य—पर आज क्या हो रहा है ? व्यक्ति पीटी लीक पर चलने के लिए बाध्य है ।

द्रोणाचार्य—एकलव्य अकेला ही तो शूद्रवर्ण नहीं है । और लोग क्या कहते हैं ? अकेले को हमेशा दबना पड़ेगा । नहीं तो समाज सुदृढ़ हो ही नहीं सकता ।

एकलव्य—अपनी नितांत एकांत परिस्थिति में, अपने बिलकुल अकेले रूप में, उस परम के इस अपरम संस्करण में, यदि व्यक्ति की चेतना बग़ावत करे ?

द्रोणाचार्य—उसे ऐसा अधिकार नहीं । समाज उसे दंड देगा । उसे कष्ट उठाना पड़ेगा ।

एकलव्य—नहीं, अन्याय है ।

द्रोणाचार्य—नहीं पुत्र ! तुमने सोचा नहीं । किसी की कोई अकेली परिस्थिति नहीं । साँस लेते ही वह वायु का सहारा तकता है । परम के अपरम रूपों में परस्पर की गहरी अन्योन्याश्रयिकता है । रजोवीर्य के द्वारा, व्यक्ति में, जन्म लेते ही पितरों की अनगिनत प्रेरणाएँ छिपी रहती हैं । अपने वातावरण से न जाने कितनों से कितना ऋण व्यक्ति लेता रहता है और इसी को वह बढ़ना या बड़ा होना कहता है । सभ्यता के विकास में अन्योन्याश्रय का महत्त्व बढ़ता ही जाता है । तुम्हारे कन्धे पर पड़ा हुआ यह छोटा वस्त्र न जाने कितनों के सम्मिलित प्रयास से तुम्हें मिला है । क्या यह तुमने कभी सोचा है ?

एकलव्य—मेरा अभिप्राय समुन्नत समाज से बग़ावत करना नहीं है । मैं केवल यह चाहता हूँ कि यदि कभी किसी व्यक्ति में कोई ऐसी बलवती प्रवृत्ति उत्पन्न हो जाय जिसका सामंजस्य वर्णव्यवस्था से न हो सके तो गुरुजनों के पास इसके साधन होने चाहिए । ऐसा अतीत में हुआ है, इतिहास इसका साक्षी है ।

द्रोणाचार्य—मैं मानता हूँ, सबसे अधिक विकसित समाज वही है जहाँ वैयक्तिक प्रवृत्ति को विकसित होने का पूरा अवसर मिलता है और उसका सामंजस्य भी समाज से बना रहता है ।

एकलव्य—गुरुवर की जय हो । [प्रसन्न हो जाता है ।]

द्रोणाचार्य—पर एकलव्य ! मुझे अन्यथा न समझो । यदि सामंजस्य न हुआ, व्यवस्थापक को सिंहासन पर बैठकर निर्णय देने की आवश्यकता पड़ी तो व्यक्ति ही को दबाया जायगा । अपवादों को प्रोत्साहित करने से नियमों में शिथिलता आती है ।

एकलव्य—व्यवहार और विचार में अन्तर रहा न ?

द्रोणाचार्य—भूख से तड़पनेवाले की बेबसी की चोरी से पूरी सहानुभूति रखते हुए भी न्यायाधीश अपराधी को दंडमुक्त नहीं कर सकता । वह तो व्यवस्था की व्याख्या करेगा ।

एकलव्य—कठिन समस्या है ।

द्रोणाचार्य—मैंने इसी लिए तुम्हें रोका था ।

एकलव्य—यदि मैं क्षत्रिय पिता का पुत्र हूँ, तो ?

द्रोणाचार्य—वर्णसंकर बनकर क्या तुम समाज की

सहानुभूति प्राप्त कर सकोगे ? कूड़े में पड़े हुए मिट्टी के सकोरे में, समूचा कहकर, कोई पानी नहीं पीता ।

एकलव्य—कोई मन में कहता है, गुरुवर कि तुमने अनुचित नहीं किया ।

द्रोणाचार्य—हठधर्मी को तुमने बड़ा बल दे रक्खा है ।

एकलव्य—तो आपकी क्या आज्ञा है ?

द्रोणाचार्य—तुमने मुझे गुरु माना है ।

एकलव्य—मैंने आप ही की प्रतिमा से दीक्षा ली है।

द्रोणाचार्य—पर गुरुदक्षिणा तुम्हें मुझे देनी होगी ।

एकलव्य—गुरुवर आज्ञा करें ।

द्रोणाचार्य—सोच लो ।

एकलव्य—मैं अपना शिरच्छेदन करके चरणों पर रख सकता हूँ ।

द्रोणाचार्य—फिर सोच लो ।

एकलव्य—बार-बार की दुहराई हुई प्रतिज्ञा में क्या सार है ?

द्रोणाचार्य—एक बार फिर सोच लो ।

[अर्जुन कुछ चिंतित से दिखाई देते हैं ।]

एकलव्य—ख़ूब सोच लिया ।

द्रोणाचार्य—तो तुम अपने दाहने हाथ का अँगूठा काटकर गुरुदक्षिणा में अर्पण करो ।

[एकलव्य स्तम्भित रह जाता है ।]

[अर्जुन सहम जाते हैं ।]

द्रोणाचार्य—[तेवरी चढ़ाकर] कहो, क्या उत्तर देते हो ?

एकलव्य—मैं अभी अपना सिर काटकर श्रीचरणों में रक्खे देता हूँ ।

द्रोणाचार्य—मुझे सिर न चाहिए। मुझे अँगूठा चाहिए ।

[एकलव्य प्रतिमा के समक्ष हाथ जोड़कर नेत्र बन्द कर लेता है। आँसुओं का गिरना आरम्भ हो जाता है ।]

द्रोणाचार्य—मैं अधिक रुक नहीं सकता । [उत्तेजित हो जाते हैं ।]

अर्जुन—गुरुवर ! शान्त हो। एकलव्य मूर्ति से आज्ञा माँग रहा है ।

द्रोणाचार्य—जड़ को चेतन से अधिक महत्त्व देनेवाला जड़ ही होता है ।

एकलव्य—मेरे लिए यह प्रतिमा जड़ नहीं है। [नेत्र खोल लेता है ।]

द्रोणाचार्य—पत्थर की आराधना ने मति पर पत्थर डाल दिये हैं ।

[एकलव्य नेत्र बन्द करके मूर्ति के समक्ष फिर रोने लगता है ।]

अर्जुन—एकलव्य सम्हल जाओ । मूर्ति मौन है । उसके स्वीकार को समझो ।

एकलव्य—[नेत्र खोलकर] भाई अर्जुन ! तुम्हारा भी अनुमोदन है !

द्रोणाचार्य—अर्जुन तुम्हारी तरह हठधर्मी नहीं है ।

एकलव्य—मैं भी हठधर्मी नहीं हूँ स्वामी । तरुणों पर भी रूढ़िवाद का प्रभाव कहाँ तक है, यह ज्ञात हो गया ।

द्रोणाचार्य—वाचालता का कोई अन्त भी है ?

एकलव्य—[मूर्ति के समक्ष फिर हाथ जोड़कर नेत्र बन्द कर लेता है ।] हे प्रतिमे ! तुम पत्थर की हो, यह मैंने कभी नहीं माना । केवल रूपसादृश्य और मनुहार की समता के कारण तुम गुरुवर का पक्षपात करोगी, यह भी नहीं मानता ।

अर्जुन—भीलकुमार ! प्रतिमा फिर भी चुप है ।

एकलव्य—भाई अर्जुन ! क्या तुम एक उत्तर दोगे ?

द्रोणाचार्य—यदि यह तुम्हारा अन्तिम प्रश्न हो ।

एकलव्य—ब्राह्मण होकर क्षत्रियों की धनुर्विद्या सीखना क्या वर्णव्यवस्था का अतिक्रमण नहीं है ?

[अर्जुन कुछ उत्तेजित से दिखाई देते हैं ।]

द्रोणाचार्य—ब्राह्मण सब वर्णों में श्रेष्ठ है । वह सब कर सकता है ।

एकलव्य—वह किसी सम्राट् से भृति ग्रहण कर उसकी चाकरी भी कर सकता है ?

अर्जुन—नीच भीलकुमार ! इतना साहस ! मेरे समक्ष गुरुवर की निन्दा करता है । दयापूर्वक वात्सल्य के साथ शिक्षा देने के व्यवसाय को चाकरी कहता है । उनके चरणों में अर्पण की गई नितांत क्षुद्र वस्तुओं को भृति कहकर उनका अपमान करता है !

द्रोणाचार्य—चुप रहो अर्जुन ! अबोध शूद्र-पुत्र क्षम्य है ।

एकलव्य—अर्जुन ! मैं शस्त्र से भी तुम्हारी उत्तेजना का उत्तर दे सकता हूँ । पर मैं यहाँ युद्ध करने नहीं आया । मैं आज्ञा मानने आया हूँ ।

[बायें हाथ से चमकती हुई नोकवाला एक बाण तरकस से निकालता है और दाहने अँगूठे को ऊपर रखता है ।]

[अर्जुन प्रसन्न दिखाई देते हैं।]

एकलव्य—[उत्तेजित होकर] गुरुवर द्रोणाचार्य की आज्ञा मानी जायगी। यह ब्राह्मणों का युग है। भील निर्बल है; भील कायर है; भील शूद्र है। ब्राह्मणों के सामने खड़े होने का उसमें साहस नहीं। एकलव्य भील-पुत्र है। वह अपना अँगूठा अवश्य देगा और अपना रक्त बहावेगा। धनुष चलाने का साधन नष्ट होता है। अपनी विजय पर आप लोग खिल-खिलाकर हँसें। परन्तु स्मरण रहे कि वह युग भी आवेगा जब भारी परम्पराओं को व्यक्ति की स्वतन्त्रता पर टिकना पड़ेगा। अर्जुन जैसे हाँ में हाँ मिलाने-वाले तरुण न होंगे। अन्याय करनेवाले गुरु, पिता तथा शासक सभी के सामने वे तनकर खड़े हो सकेंगे।

[अँगूठे को काटकर मूर्त्ति के चरणों पर चढ़ा देता है। ध्यानावस्थित होकर निःसंज्ञ हो जाता है। अर्जुन पास आकर देखने लगते हैं। आचार्य द्रोणाचार्य अपने सिंहासन से उतरते हैं।]

पटक्षेप

कूटने से होनेवाले व्यर्थ नुक़सान को रोकिए।
कपड़ों को इस प्रकार धोइये।
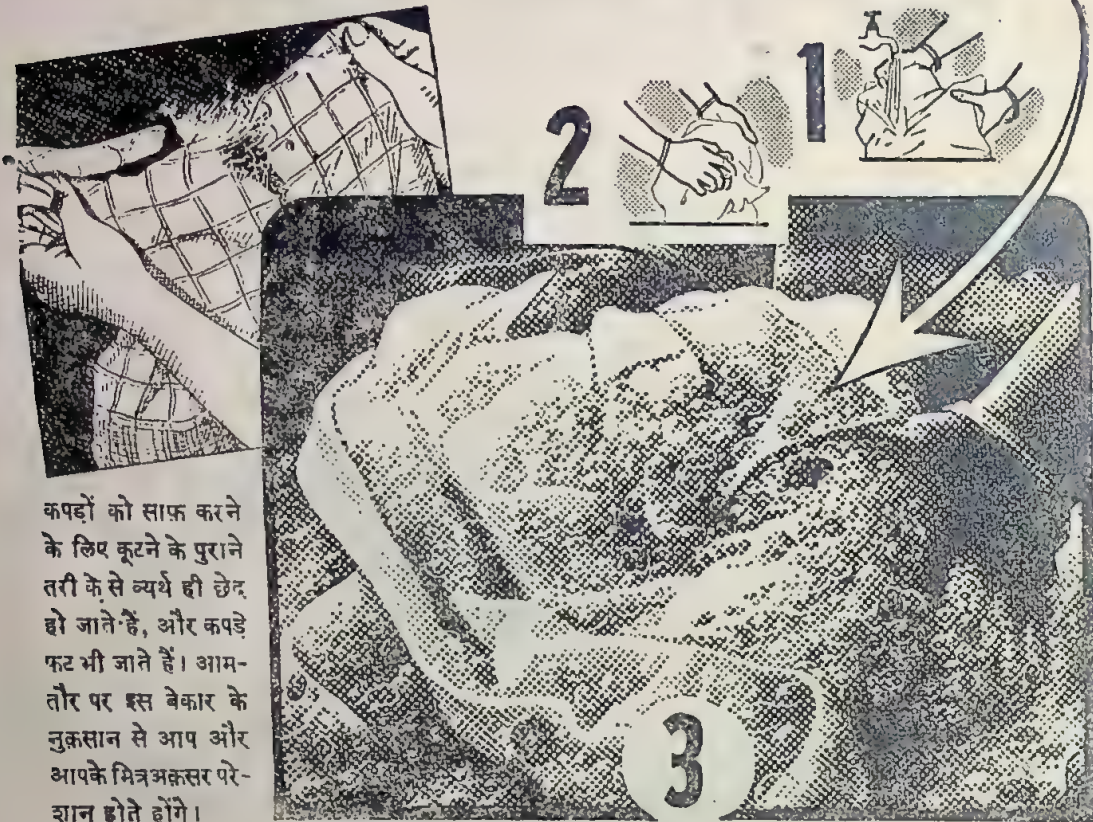
कपड़ों को साफ़ करने के लिए कूटने के पुराने तरीके से व्यर्थ ही छेद हो जाते हैं, और कपड़े फट भी जाते हैं। आमतौर पर इस बेकार के नुक़सान से आप और आपके मित्र अक़सर परेशान होते होंगे।

इन अंकित चित्रों में दिये गये तरीकों को अपनाइये; निम्न लिखित हिदायतो का पालन किजिए; और आप यकिन रखिए की आपके कपड़े विना नुकसान के वास्तव में साफ़ धुलेंगे।

(१) जिस कपडे को धोना हो उसे पहले खूब भिगो लीजिए। यह आप नल के नीचे, टब में, तालाब में या नदी मे कर सकते हैं–इससे कोई फर्क नहीं पडता। (२) जब कपडे को खूब भिगो चुकें तो सारे कपड़े में सनलाइट साबुन मलें। जो भाग अधिक मैला हो वहाँ सनलाइट जरा ज़्यादा मले। (३) साबुन लगे हुए कपडे को हाथों से धीरे–धीरे गूँथिये। (इसे कूटिये नही) तबतक गूँथिये(ठीक उसी तरह जैसे रोटी का आटा गूँथा जाता है) जब तक साबुनकी झाक कपडे के हरेक तन्तु में प्रवेश पाजाए। कपडे को जोर रगड़ने की या बुरीतरह कूटनेकी अवश्यकता ही नहीं है सनलाइट का " स्वयंकाम करनेवाला " फेन सरलता से सारे मैल को बाहर निकल देगा–यदि आपको यह विश्वास हो जाये की गूँथने से यह फेन कपडे के मैल में घुस चुका है। इस शक्तिशाली फेन में जो साबुन है वह मैल को छूते ही तत्काल फुला देता है। फेन उसे जज़ब कर लेता है। ऐसे जब आप कपडे को खूब धोएँगे तो फेन के साथ सब मैल निकल जायेगा। (४) फेन–जिसमें की अब सारा मैल आचुका है–छुटाने के लिए कपडे को खूब मलकर धो डालिए।

ऐसे सनलाइट के तरीके से धोए हुए कपडे बहुत समय तक चलते है।

S. 76-23 HI

LEVER BROTHERS (INDIA) LIMITED

संस्कृत में अप् (जल) शब्द का स्त्रीलिंगत्व

श्रीरामप्रताप त्रिपाठी शास्त्री

हिन्दी-भाषा में संस्कृत-शब्दों के लिंगों का निर्णय बहुधा संस्कृत के नियमों की रक्षा करते हुए किया गया है; पर कुछ स्थलों में इसका अपवाद भी मिलता है। जैसे अग्नि, वायु, व्याधि आदि शब्द संस्कृत-व्याकरण के अनुसार पुँल्लिंग हैं, पर हिन्दी में उनका प्रयोग नियत स्त्रीलिंग में होता है। व्याकरण व्यावहारिक भाषा के लिए जनरुचि का नियामक नहीं, वरन् विशेष अर्थों में उसका अनुगन्ता है। सहस्रों वर्षों से अपनी सूत्र-प्रणाली और नियमितता में सुप्रतिष्ठित संस्कृत-भाषा का व्याकरण भी लिंगों के निर्णय में यह दुहाई देता है कि 'लिंगमशिष्यं लोकाश्रयत्वाल्लिंगस्य', अर्थात् लिंग की कोई निश्चित शिक्षा नहीं दी जा सकती कि अमुक शब्द नियत पुँल्लिंग है और अमुक शब्द नियत स्त्रीलिंग, क्योंकि लिंग तो सर्वथा लोक (जनता)-रुचि के आश्रित (अधीन) बने रहते हैं। बात सही है। पर उस लोकरुचि के अनुसार शब्दों के लिंग-निर्धारण का प्रयत्न तो होना ही चाहिए। सामान्यतया लिंगों की पहचान दो प्रकार से होती है, उनके अर्थ से तथा उनके रूप से। अर्थ से पहचान करते समय उनके कल्पित स्वरूप का भी एक चित्र उपस्थित हो जाता है, जो लिंगों के निश्चय में एक प्रमुख आधार बनता है। पुंस्त्व तथा स्त्रीत्व की पहचान तो मानव-जाति की सहज बुद्धि ही कर लेती है, दो-तीन मास का शिशु भी स्त्री और पुरुषजाति की कोमलता तथा परुषता का पारखी बन जाता है। उसके लिए उसे व्याकरण के नियमों की जानकारी अपेक्षित नहीं होती। संस्कृत-भाषा में लिंगों का भेद करते समय सृष्टि के सचराचर व्याप्त उस नियम की अवहेलना नहीं की गई है, जिसमें पुरुषों और स्त्रियों के साथ-साथ नपुंसकों को भी रक्खा गया है। हिंदी-जगत् में नपुंसकों को स्थान नहीं दिया गया है। उनकी कोई सत्ता स्वीकार नहीं की गई है। ऐसी स्थिति में संस्कृत के प्रायः सभी नपुंसक शब्द पुँल्लिंग बनकर हिन्दी-जगत् में व्यापार चला रहे हैं। संस्कृत के चित्र, क्षेत्र, पात्र, नेत्र, शस्त्रादि नपुंसक शब्द हिन्दी के नियत पुँल्लिंग बन गये हैं।

इसी प्रकार जल तथा उसके पर्यायवाची अन्य शब्द जो संस्कृत में नपुंसक लिंग हैं, हिन्दी में पुँल्लिंग बन गये हैं। वायु, अग्नि आदि उपर्युक्त शब्दों को संस्कृत में पुँल्लिंगता उनके देवत्व के कारण है, हिन्दी में उनकी स्त्रीलिंगता कुछ सामान्य नियमों के कारण हुई है।

संस्कृत-भाषा में जल शब्द के जितने पर्यायवाची नाम हैं, उतने नाम बहुत कम शब्दों के होंगे। इसका कारण सम्भवतः यही है कि मनुष्य ने जब से सृष्टि की उद्भावना के विषय में कल्पनाओं का सहारा लिया अथवा तथ्यों का विश्लेषण प्रारम्भ किया होगा तब से उसे प्रारम्भ में जल की ही सत्ता दिखाई पड़ी होगी। संसार की सभी जातियों के आदिम साहित्य में सृष्टि का आदिम रूप जल ही स्वीकार किया गया है। मानव-जीवन के इस चिरकालीन जीवनोपयोगी पदार्थ ने यदि इतने नामों की सम्पत्ति अर्जित कर ली तो कोई आश्चर्य की बात नहीं है। निरुक्तकार यास्क ने बहुत प्राचीन काल में ही जल के निम्न नामों की परिगणना करके उसकी व्यापकता एवं लोकोपकारिता पर मुहर लगा दी है। आश्चर्य की बात यह है कि वे सभी नाम वेदों में गृहीत हुए हैं। लौकिक भाषा (संस्कृत) में आगे चलकर उस संख्या में और भी अधिक वृद्धि हुई है। यास्क के उन पर्यायवाची शब्दों की सूची इस प्रकार है—(१) अर्णः (२) क्षोदः (३) पद्म (४) नभः (५) अम्भः (६) कबन्ध (७) सलिल (८) वाः (९) वन (१०) घृत (११) मधु (१२) पुरीष (१३) पिप्पल (१४) क्षीर (१५) विष (१६) रेतः (१७) कशः (१८) वृबूक (१९) बुस (२०) जन्म० (२१) तुग्र्य (२२) बर्बुर (२३) सुक्षेम (२४) धरुण (२५) सिरा (२६) अरविन्द (२७) ध्वस्मन्वत् (२८) जामि (२९) आयुध (३०) क्षपः (३१) अहि (३२) अक्षर (३३) स्रोतः (३४) तृप्ति (३५) रस (३६) उदक (३७) पयः (३८) सरः (३९) भेषज (४०) सह (४१) शवः (४२) यहः (४३) ओजः (४४) सुख (४५) क्षत्र (४६) आवयाः (४७) शुभ (४८) यादु (४९) भूत (५०) भुवन (५१) भविष्यत् (५२) महत् (५३) अप् (५४) व्योम

(५५) यशः (५६) महः (५७) सर्णीक (५८) स्वृतीक (५९) सतीन (६०) गहन (६१) गभीर (६२) गम्भर (६३) ईम् (६४) अन्न (६५) हवि (६६) सद्मन् (६७) सदन (६८) ऋत् (६९) योनि (७०) ऋतयोनि (७१) सतः (७२) नीर (७३) रयि (७४) सत् (७५) पूर्ण (७६) सर्व (७७) असित् (७८) बर्हिः (७९) सर्पिः (८०) अपः (८१) पवित्र (८२) अमृत (८३) इन्दु (८४) हेम (८५) स्वः (८६) सर्ग (८७) शम्बर (८८) अम्बर (८९) वसु (९०) अम्बु (९१) तोय (९२) तूय (९३) कूपीर (९४) शुक्र (९५) तेजः (९६) स्वधा (९७) वारि (९८) जल (९९) जलाष तथा (१००) इदम्।

इन उपर्युक्त नामों के अतिरिक्त इरा नाम भी जल का है, जो पीछे से संस्कृतसाहित्य में यत्र-तत्र प्रयुक्त हुआ है। अमरसिंह ने उपर्युक्त एक-सौ-एक नामों से बाईस नामों का संग्रह अपने कोष (अमरकोष) में किया है तथा शेष पाँच नामों का और संग्रह किया है। वे हैं, (१) कीलालम् (२) पाथः (३) सर्वतोमुखम् (४) मेघपुष्प और (५) घनरसः। इस प्रकार जल के कुल एक सौ पाँच पर्यायवाची नाम मिलते हैं। यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि नामों के इस संग्रह में कितने ही ऐसे नाम आये हैं जो सम्प्रति जल के अर्थ में गृहीत नहीं होते और न हो सकते हैं, किन्तु वैदिक मन्त्रों में इन सबका प्रयोग जल के लिए ही हुआ है। घृत, मधु, क्षीर, विष, अन्न, हवि, वसु, जन्म, पद्म, कमल, अरविन्द, अहि तथा भेषज प्रभृति नामों में आज दिन जल की अभिधा शक्ति विलुप्त हो गई है और ये दूसरे अर्थ के वाचक बन गये हैं।

इतने पर्यायवाची नामों के रहते हुए भी वेदों में प्रायः नब्बे प्रतिशत प्रयोग अप् शब्द का ही हुआ है, और वह अप् शब्द लौकिक वैदिक दोनों व्याकरणों के अनुसार नियत स्त्रीलिंग तथा बहुवचन है। वेदों की उपर्युक्त नामावलि में कुछ ऐसे शब्द आये हैं, जो स्त्रीलिंगवाची हैं, पर लौकिक प्रयोगों में केवल अप् (आपः) शब्द ही स्त्रीलिंग है, शेष नपुंसक लिंग हैं, जैसा कि अमरसिंह ने अपने नामलिंगानुशासन में स्पष्ट कहा है—

"आपः स्त्री भूम्नि वार्वारि सलिलं कमलं जलम्।
पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम्॥
कबन्धमुदकं पाथः पुष्करं सर्वतोमुखम्।
अम्भोऽर्णस्तोयपानीयनीरक्षीराम्बुशम्बरम्॥
मेघपुष्पं घनरसः"

जल के अति प्राचीन पर्यायवाची अप् शब्द के नियत स्त्रीलिंग होने की बात साधारणतया खटकती-सी है। सिवा ऋषियों की आज्ञा के जल को स्त्रीलिंग मान लेने की बात सहसा मन में नहीं धँसती। इसके अर्थ या रूप किसी भी प्रकार से स्त्रीत्व की भावना व्यंजित नहीं होती। इसके अधिष्ठातृ देवता वरुण भी पुँल्लिंग हैं। इस प्रकार भी इसके स्त्रीत्व की पुष्टि नहीं होती। इसी पर हमें कुछ कहने का एक आधार मिला है।

इस अप् शब्द की निष्पत्ति इन्द्रेण आप्ताः अथवा आप्नोति निखिलं विश्वम् इस विग्रह से आप्लृ व्याप्तौ धातु से कर्म या कर्त्ता में क्विप् प्रत्यय कर ह्रस्व करने पर होती है, जिसका अर्थ हुआ जो इन्द्र से प्राप्त हुई, अथवा जिसने निखिल विश्व को व्याप्त कर लिया है, वह अप् अर्थात् जल है। ऋग्वेद में ऋषियों ने बारंबार जल के लिए इन्द्र से प्रार्थना की है, और उसे इन्द्र का प्रसाद स्वीकार किया है। अथवा सृष्टि के आदिमकाल में इस निखिल विश्व का स्वरूप जल ही था। इन दोनों कारणों से इसका नाम अप् पड़ा। इससे यह भी सिद्ध हो जाता है कि 'अप्' ही जल का सर्वप्रथम नाम है, जिससे वेदों में सर्वत्र इसी का समादर किया गया है।

इन्द्र जल के देनेवाले देवता के रूप में आज भी प्रसिद्ध हैं। वैदिक ऋषियों ने अनेक मन्त्रों द्वारा इन्द्र को सन्तुष्ट कर जो अभिमत वस्तु प्राप्त की, उसकी प्रतिष्ठा और स्मृति के लिए यह आवश्यक था कि उसके नामकरण में अपने परिश्रम की एक छाप छोड़ जाते। पर इस अर्थ में इन्द्र पद का बाहर से आरोप करना पड़ता है और इस प्रकार एक दीर्घ कल्पना का सूत्रपात भी होता है। इसलिए मेरी सम्मति से द्वितीय विग्रह अधिक युक्तियुक्त मालूम पड़ता है। सृष्टि के आदिमकाल में जल ही समस्त चराचर जगत् को व्याप्त कर शोभित हो रहा था। जैसा कि ऊपर भी कहा जा चुका है, यह किम्वदन्ति संसार के सभी देशों और सभी जातियों में विश्वासपूर्वक सम्मानित है। हमारे ऋषिगण भी सृष्टि के प्रादुर्भाव में पहला स्थान अप् (जल) का ही मानते हैं।

'आपो ह यद् बृहती विश्वमायन गर्भं दधाना जनयन्तीरग्निम्। (ऋक्संहिता १०।१२१।७)

(वाजसनेयसंहिता २७।१८ तथा अथर्वसंहिता ४।२।६।८)

अर्थात् जिस समय इस निखिल विश्व में अप् भर गया था, उस समय (उन लोगों का) गर्भाधान हुआ था और (उन लोगों ने) अग्नि का प्रसव किया था।

'यश्चिदापो महिना पर्यपश्यद्दक्षं दधाना जनयन्तीरग्निम्' (ऋक्संहिता १०।१२१।८)

(वाजसनेयसंहिता २७।२६)

अर्थात् जिन्होंने अपनी महिमा से (सर्वप्रथम) इस अप् को देख पाया था उनमें दक्षता थी और उन्हीं ने यज्ञ को उत्पन्न किया था।

इसी प्रकार——

'आपो ह वै इदमग्रे' (शतपथब्राह्मण ११।१।६।१)

अर्थात् सर्वप्रथम इस जगत् में केवल अप् (जल) था।

'आपोऽग्रे विश्वमावन गर्भं दधाना' (अथर्ववेद ४।२।६) अर्थात् सर्वप्रथम अप् ने इस चराचर जगत् को आवृत कर लिया था और उसी से (समस्त जीवों का) गर्भाधान हुआ था।

"आपोऽसृजत् वाच एव लोकात् वागेवाऽस्य साऽसृजत् सा इदं सर्वमाप्नोद् यदिदं किञ्च, यदाप्नोत् तस्मादापः यदवृणत् तस्माद् भाः।" (शतपथब्राह्मण १।१।६)

अर्थात् वाक्रूपी लोक से उसने अप् (जल) की सृष्टि की थी। वाक् ही उनका (सब कुछ) है। उसी की सृष्टि की गई थी। उसी ने इस सम्पूर्ण जगत् को आप्लावित किया था। सारा जगत् व्याप्त कर लेने के कारण ही इसका नाम अप् पड़ा। इसी ने सर्वप्रथम समस्त जगत् को आवृत किया था। इसी से इसका (एक दूसरा) नाम भाः (भी) हुआ।

मनुस्मृति में भी इसी बात को दुहराया गया है——

'अप एव ससर्जादौ तासु वीर्यमवासृजत्' १।८।

आज के वैज्ञानिक भी सृष्टि के बारे में जिस मीमांसा के समीप पहुँच सके हैं, उससे आर्यों के इस तथ्य पर आँच नहीं आती, प्रत्युत जल के बारे में कई वैज्ञानिकों का भी घूम-फिरकर यही मत होता है। कुछ वैज्ञानिक लोग इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि पहले यह पृथ्वी पानी की भाँति तरल और अत्यन्त उष्ण थी, धीरे-धीरे कड़ी होकर वर्तमान रूप को प्राप्त हुई है। इस तरलता से भी ऋषियों के जल-तत्त्व पर कोई व्याघात नहीं होता।

इस प्रकार सृष्टि के आदिमकाल में समस्त जगत् में व्याप्त अप् को देखकर ऋषियों ने उसमें मातृत्व की उद्भावना की ; क्योंकि सबसे पहले भौतिक पदार्थों में उनका परिचय उसी से स्थापित हुआ था। आज भी मानव-सृष्टि में उत्पत्ति के अनन्तर जीवन का सूत्र माता ही से प्रारम्भ होता है। कहा जाता है कि एक मास का बच्चा भी अपनी मा को पहचानने लगता है। 'माता मासे बाप छमासे और लोग सब बारह मासे।' अनेक गुणों से युक्त परम उपकारी सर्वशक्तिमान्, सर्वत्र व्याप्त उस जलराशि में ऋषियों की मातृत्व की उद्भावना का परिचय निम्नमंत्र से स्पष्ट रूप में हो जाता है——

'आपो अस्मान्मातरः शुन्धयन्तु।'

(ऋक्संहिता १०।१७।१०)

अर्थात् यह अप् हमारी माताएँ हैं, यह हमें पवित्र क[illegible]।'

माता के सिवा बच्चों को दूसरा कौन पवित्र करता है? इस प्रकार ऋषियों ने मातृस्वरूप अप् को ही सृष्टि के आदिमकाल में चराचर जगत् का रक्षक अथवा सब कुछ माना है। जैसे बच्चे अपनी मा को अनेक नामों से पुकारते हैं, उसी प्रकार सभी विशेषणों से उसे ऋषियों ने भी पुकारा है। पर अधिक पुकार माता ही के रूप में हुई है। ऐसी मातृस्वरूप अप् का स्त्रीलिंग रूप संस्कृत में स्वभावतः सिद्ध हो जाता है। वेदों की ये ऋचाएँ मुनियों में उसकी मातृभावना की एकमात्र साक्षी हैं।

इसके अतिरिक्त यह प्रमाण वहाँ और भी पुष्ट हो जाता है, जहाँ एक ऋक् में अप् को चराचर जगत् की ओषधियों तथा सकल वस्तुओं की जननी कहा गया है। "ओमानमापो मानुषीरमृक्तं धात तोकाय तनयाय शं योः। यूयंहिष्ठाभिषजो मातृतमाविश्वस्यस्थातुर्जगतो जनित्रीः॥"

संक्षेप में इसका भाव यह है कि यह अप् समस्त ओषधियों समेत इस निखिल विश्व में विद्यमान पदार्थों की जननी है।

इस प्रकार अप् शब्द के साथ ऋषियों की यह परमोच्च मातृभावना एवं उसका समादर ही स्त्रीलिंगत्व का कारण है। परवर्तीकाल में चलकर उसका विपर्यय हुआ होगा। पर सर्वप्रथम उसकी स्थिति यही थी। इसी कारण से लौकिक व्यवहारों में भी अप् शब्द के स्त्रीत्व की भावना का अनादर लोगों से करते नहीं बन पड़ा। आज भी हम 'भारत' को 'माता' के रूप में देखने के आदी बन गये हैं। माता की परम पावन एवं ममताभरी निःस्वार्थ मूर्त्ति के प्रति मानव में क्या, पशु-पक्षियों तक में स्नेह एवं आदर का भाव भरा है। अतः जिस प्रकार आज 'भारतमाता' कहने में हमें कोई विचित्रता नहीं लगती, उसी प्रकार 'आपोऽस्मान् मातरः' (जल हमारी माताएँ हैं) कहने में भी कोई विचित्रता नहीं है।

सफल और असफल नोटिस

श्रीकिशोरीदास वाजपेयी शास्त्री

राजनीति में क्रियात्मक भाग लेनेवालों को कभी-कभी अदालती नोटिस देने-पाने का अवसर प्राप्त हुआ करता है। अदालत भी पहुँचना पड़ता है। परन्तु साहित्यिक जगत् में भी यह सब होता है। कभी-कभी एक अदालती नोटिस से ही इतना बड़ा काम हो जाता है कि क्या कहा जाय! जब अन्य सब उपाय असफल हुए, तब एक अदालती नोटिस ने काम बना दिया। दवा ही तो ठहरी, जो फ़ायदा कर जाय! नीचे ऐसे ही कुछ नोटिसों की चर्चा की जायगी।

१—'गंगा' को नोटिस

लगभग पन्द्रह वर्ष की बात है, हिन्दी में 'गंगा' नाम की एक उच्च श्रेणी की पत्रिका निकल रही थी। प्रधान सम्पादक थे पं० रामगोविन्द त्रिवेदी और सम्पादन करते थे साहित्याचार्य 'मग'। इस पत्रिका में मेरी एक लेखमाला छपी—'विहारी-सतसई और उसके टीकाकार।' तीन लेख छपे और चौथा मैंने तार देकर छपने से रोक दिया। कारण यह हुआ कि पं० पद्मसिंह शर्मा का स्वर्गवास हो गया, जिनके 'संजीवनभाष्य' को इस लेखमाला में मुख्य लक्ष्य बनाया गया था। जब सुननेवाले ही न रहे, तब सुनाया किसे जाय?

जो तीन लेख छप चुके थे, उनका पुरस्कार या पारिश्रमिक मैंने माँगा। कई पत्र भेजे। पारिश्रमिक तै हो चुका था; पर भेजने में देरी हो रही थी। मैंने अन्ततः एक अदालती नोटिस दिया कि एक सप्ताह के भीतर तीनों लेखों का पारिश्रमिक न आ गया, तो अदालत में दावा कर दिया जायगा। नोटिस काम कर गयी। तार से पूरा पारिश्रमिक आ गया; पर 'मग'-जी ने एक पत्र द्वारा बहुत ज़्यादा उपालम्भ दिया और मेरे जैसे 'गम्भीर' पुरुष के लिए ऐसी 'जल्दबाज़ी' को अनुचित ठहराया। 'गंगा' ने मुझे दर्शन देने भी बन्द कर दिये। कई मास बाद इसका 'गंगांक' निकला। यह विशेषांक मेरे पास भी 'सम्मत्यर्थ' आया। चीज़, अच्छी थी ही; सम्मति अच्छी देनी ही थी। फिर 'गंगा' आने लगी। लेख भी मैं भेजने लगा; पर फिर किसी लेख पर मैंने न पारिश्रमिक ठहराया, न लिया और न मिला ही! हाँ, पुरस्कार-स्वरूप 'मगजी' से प्रशंसा अवश्य मिलती रही। एक पत्र में तो उन्होंने हद कर दी थी। लिखा था—

विद्या-लतालवालं, बालरविं सरससूक्तिपद्मिन्याः।
नौमि किशोरीदासं, दासोऽहं यस्य प्रतिभायाः॥

आप जानते ही हैं, ऐसी स्तुति से भगवान् भी प्रसन्न हो जाते हैं। पुरस्कार और इससे बढ़कर क्या?

२—श्रीनिर्मलजी का मेरे नाम नोटिस

आचार्य पं० महावीरप्रसाद द्विवेदी ने कई बंडलों में बहुत-से काग़ज़-पत्र काशी-नागरी-प्रचारिणी सभा को मुहर बन्द करके दिये थे और आदेश दिया था कि "मेरी मृत्यु के बाद ही इन्हें खोला जाय।" द्विवेदीजी का स्वर्गवास हो जाने के बाद कुछ दिन तक मैंने प्रतीक्षा की कि 'सभा' उन काग़ज़-पत्रों के बारे में क्या सूचना निकालती है। 'सभा' ने साँस न ली। मैंने पत्र भेजा। जवाब न मिला! तब मैंने इस सम्बन्ध में एक आन्दोलन खड़ा कर दिया। इस पर पं० श्रीज्योतिप्रसाद मिश्र 'निर्मल' तथा ठाकुर श्रीनाथसिंह और बाबू गुलाबराय एम्० ए० आदि ने मुझे झूठा और लेख लिख-लिख कर 'सभा' को निर्दोष बताया। मैंने 'मराल' में एक कड़ी टिप्पणी इन लोगों के बारे में लिखी। इसका परिणाम यह हुआ कि श्री 'निर्मलजी' ने तथा ठाकुर साहब ने मुझे अदालती नोटिस दे दिया और कहा कि या तो 'क्षमा माँगो' नहीं तो अदालत में मानहानि का दावा किया जायगा। मैंने इस नोटिस का जवाब दिया। लिख दिया—"आप लोग खुशी से अदालत चलें। वहीं सब कुछ कह-सुन लिया जायगा।" पर, अदालत जाता कौन? पक्ष तो मेरा प्रबल था! मामला यहीं ख़तम!

३—'सभा' को मेरा नोटिस

जब इस प्रकार आन्दोलन चलाना भी बेकार हुआ और 'सभा' टस से मस न हुई, उलटे उसने तथा उसके अनन्य समर्थकों ने खुले रूप से मुझे ही झूठा बनाया, तब मैंने एक अदालती नोटिस दिया। इसमें लिखा था कि "'सभा' द्विवेदीजी के दिये हुए उन महत्त्वपूर्ण काग़ज़-पत्रों को नष्ट कर चुकी है, या नष्ट कर देना चाहती है, जो आचार्य द्विवेदी ने उसे, समस्त हिन्दी-संसार के लिए, सौंपे थे। इसलिए, अमानत को नष्ट

करने का अपराध 'सभा' पर है। इसका जवाब अदालत में देना पड़ेगा, यदि पन्द्रह दिन के भीतर 'सभा' ने सन्तोष-जनक उत्तर न दिया।' इस नोटिस का असर हुआ। जवाब में 'सभा' से पत्र आया कि 'सभा' में आचार्य द्विवेदी के दिये हुए एक हज़ार से कुछ अधिक पत्र मौजूद हैं, जो उन्होंने मुहरबन्द बंडलों में (सभा को) दिये थे। उन्हें कोई भी देख सकता है। ऐसी सूचना पत्रों में भी 'सभा' ने छपा दी।

इस प्रकार यह अदालती नोटिस सफल हुआ। इसके बाद उन काग़ज़-पत्रों को प्रकाशित करने के लिए मैंने चर्चा चलाई। बहुत कुछ इनकार करने के बाद 'सभा' ने मान लिया कि हाँ, वे काग़ज़-पत्र प्रकाशित कराये जायँगे। परन्तु अभी तक उसने अपने वचन को पूरा नहीं किया है। इस काम को अदालती नोटिस से कराया नहीं जा सकता!

४—श्रीरामचन्द्र वर्मा का मेरे नाम नोटिस

काशी के श्रीरामचन्द्र वर्मा ने पिछले दिनों 'अच्छी हिन्दी' नाम की एक पुस्तक लिखकर छपाई। मुझे यह पुस्तक अत्यन्त भ्रष्ट मालूम हुई और मैंने समझा कि इस पर प्रकाश न डाला गया, तो हिन्दी-संसार में बहुत भ्रम फैलेगा। कर्त्तव्य समझकर मैंने लगभग दस लेखों में इसकी सर्वाङ्ग आलोचना की। ये लेख 'माधुरी' आदि पत्र-पत्रिकाओं में छपे। प्रथम संस्करण की प्रतियाँ समाप्त होने से पहले ही वर्माजी ने इस पुस्तक का दूसरा संस्करण निकलवा दिया, परिवर्द्धित तथा संशोधित। इस संस्करण में बहुत-सी ग़लतियाँ सुधारी गईं, सैकड़ों नई कर दी गईं। इसकी भी एक कड़ी आलोचना मैंने 'माधुरी' में छपाई। अब वर्माजी तिलमिला उठे। अपने वकील की मार्फ़त आपने मुझे नोटिस दिया।—"'अच्छी हिन्दी' के बारे में आपका जो लेख 'माधुरी' में छपा है, उससे मेरे मवक्किल (श्रीरामचन्द्र वर्मा) को दिली चोट पहुँची है और उनका साहित्यिक सम्मान घटा है। इसलिए, आप क्षमा-प्रार्थना करें और यह क्षमा-प्रार्थना 'माधुरी' में तथा अन्य पत्र-पत्रिकाओं में छपावें। अन्यथा आपके ऊपर अदालती कार्रवाई की जायगी।"

वर्माजी के वकील को मैंने जवाब भेज दिया। लिख दिया, आप ख़ुशी से अदालत में मामला चलाइए, बहुत अच्छा रहेगा। मामला कौन चलाता! नोटिस वर्माजी का निष्फल रहा।

ये तो अदालती कार्रवाई के लिए नोटिसों के नमूने दिये गये। इनके अतिरिक्त, कभी-कभी दूसरी तरह के भी नोटिस मैंने दिये हैं; पर वे सफल कम हुए हैं। अदालत का डर ज़्यादा होता है। दूसरी तरह के नोटिसों का भी एक नमूना लीजिए।

'हिन्दुस्थान' को नोटिस

कांग्रेस-अध्यक्ष के चुनाव-प्रकरण में श्रीसुभाषचन्द्र बोस तथा महात्मा गान्धी में तनाव हो गया था, यह सबको मालूम ही है। महात्माजी के प्रभाव के कारण सबने अपना रुख़ बदल लिया था और सब श्रीबोस को शिक्षा दे रहे थे। परन्तु दिल्ली के 'हिन्दुस्तान' ने हद कर दी थी! उसके सम्पादक (श्रीसत्यदेव विद्यालंकार) ने मुख्य सम्पादकीय का शीर्षक दिया—'देशद्रोही सुभाष'! न जाने कितनी और कैसी-कैसी गालियाँ भी श्रीसुभाषचन्द्र बोस को सम्पादक-जी ने दीं। मुझे ऐसा लगा कि श्रीदेवदास गान्धी को ख़ुश करने के लिए ही यह कड़ा नोट लिखा गया है। श्रीदेवदास गान्धी 'हिन्दुस्तान' के मैनेजिंग डाइरेक्टर और महात्मा गान्धी के सुयोग्य पुत्र हैं।

मैंने 'हिन्दुस्तान' को नोटिस दिया कि इस टिप्पणी के लिए खेद प्रकट किया जाय, नहीं तो हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के महाधिवेशन पर मैं ('हिन्दुस्तान' की) निन्दा का प्रस्ताव रक्खूँगा। मेरे इस नोटिस का कोई प्रभाव न पड़ा। 'सम्मेलन' में वैसा प्रस्ताव मैंने नहीं रक्खा! चुप हो गया।

इस तरह कभी नोटिस सफल होते हैं, कभी असफल। परन्तु अदालती नोटिस प्रायः काम कर जाता है, यदि अपने पक्ष में सचाई हो।

स्वाद में परिपूर्ण
त्वरित पाचन-योग्य
विशुद्ध
विटैमिन-युक्त
DALDA
VANASPATI
डालडा में तली हुई पूरियाँ आप के मूँह में आसानी से घुल जाती हैं —और स्फूर्ति भी देती हैं!
डालडा आपका भोजन स्वादिष्ट करता है और इस के अतिरिक्त वह आप का स्फूर्ति-दायक अन्न है! आप के दैनिक आहार को प्रसिद्ध पौष्टिक गुणवाले इस त्वरित् पाचनयोग्य, विटैमिन्-युक्त रसोई-साधन-द्वारा सुधारिये। डालडा प्रत्येक गृहिणी के लिये एक देन है—वह उसके सादी रसोई को भी अपनी स्वादिष्ट मधुरतासे परीपूर्ण करके, उसके परिवार को अधिक शक्ति प्रदान करता है।
★ डालडा-पाकशास्त्र पुस्तक (केवल अंग्रेजी) की सहायता से अपने भोजन का प्रबन्ध कीजिये। इस में १५० से अधिक स्वादिष्ट भारतीय आहार के प्रकार निजी पौष्टिक गुणों के कारण चुने हुए समाविष्ट हैं। आप के कॉपी के लिये Dept. A41 P.O. Box No. 353, Bombay, के पते पर ४ आने के पो० स्टाम्पस् भेजियेगा
HVM. 48-23 HI
THE HINDUSTAN VANASPATI MANUFACTURING CO., LTD.

रेल लड़ गई

श्रीराजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

(१)

वंगवासी कालेज में बी० ए० पढ़ रहा था, इसी समय वंगभंग का घोर आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। पढ़ना-लिखना छोड़कर सभासमितियों में जाने लगा, फ़ेडरेशन हॉल के लिए चंदा जमा करने लगा, स्वदेशी कपड़ों की गठरी कन्धे पर रखकर घर-घर घूमने लगा। दो-एक सभाओं में व्याख्यान देने के बाद अच्छा बोलनेवाला भी प्रसिद्ध हो गया। मुझे याद है, बीडनस्कायर में एक सभा हुई थी, उसमें मैं बोला था। मेरा लेक्चर सुनकर सभा समाप्त होने के बाद स्वयं सुरेन्द्रनाथ बनर्जी ने मेरी पीठ थपथपाकर प्रशंसा की थी। इसी समय कलकत्ता-विश्वविद्यालय का नया नामकरण हुआ गुलामख़ाना। किसी आदमी ने एक काग़ज़ पर बड़े-बड़े अक्षरों में "गुलामख़ाना" लिखकर सीनेट हाउस की दीवार में उसे चिपका दिया था। अतएव अनेक छात्रों के साथ मैं भी कालेज छोड़कर काशी की गलियों में फिरनेवाले साँड़ों की तरह इधर-उधर मारा-मारा फिरने लगा। पढ़ने-लिखने की ओर विशेष रुचि पहले भी नहीं थी; पिता-माता भी जीवित नहीं थे, जो मुझे पढ़ने के लिए विवश करते। पढ़ता था इसलिए कि यह भी एक फ़ैशन था। अब लड़कों ने पढ़ना छोड़ दिया तो वह भी एक फ़ैशन हो गया।

समय बीतने पर उत्तेजना बहुत कुछ कम हो गई। तब मैंने स्वदेशी कपड़ों की दूकान खोलने का निश्चय किया। रोज़गार की ओर मेरी रुचि बचपन से ही थी। जब स्कूल में पढ़ता था, तब मैं नौ आने का लजेंजूस ख़रीदकर पैसे की तीन टिकिया उसकी लड़कों के हाथ बेचकर तीन आने मुनाफ़ा कमाता था। पानी में भिगोकर काग़ज़ पर उतारनेवाली तस्वीरें ख़रीद-कर उन्हें फुटकल बेचकर रुपये का डेढ़ रुपया बनाता था। पैसों की तंगी के कारण मैं यह सब नहीं करता था। लड़के कहते थे—तू उस जन्म का मारवाड़ी है। शायद यही बात हो। रोज़गार की बातें सुनने में और रोज़-गारियों के साथ मिलने-जुलने में मुझे जो आनन्द मिलता था, वह किसी जगत्प्रसिद्ध वैज्ञानिक या देशप्रसिद्ध कवि से मिलने में भी नहीं मिल सकता था।

मेरे अधिकार में पाँच-छः हज़ार रुपये थे। वे रुपये मेरे पिता जमा कर गये थे। मैंने रोज़गार में एकदम सब रुपये लगाना ठीक नहीं समझा। धोतियाँ और ज़नानी सारियाँ बेचना ही मैंने तय किया और दो हज़ार रुपये का आर्डर लिखकर अहमदाबाद की एक मिल को भेज दिया। बड़-बाज़ार स्ट्रीट में एक दूकान किराये पर ली और रैंक, आलमारियाँ वग़ैरह एक मिस्त्री रखकर बनवाने लगा। साइनबोर्ड भी एक बनवाया। उसमें लिखवाया—बन्देमातरम् वस्त्र-भांडार; सोल प्रोप्राइटर कृष्णकुमार। मेरा यही नाम था।

रैंक और आलमारियाँ बन गईं। साइनबोर्ड भी तैयार हो गया। एक दिन अहमदाबाद से पत्र आया कि मिल के मालिक ने ५ गाँठ माल रवाना कर दिया है और उसकी बिल्टी वी० पी० से भेजी है। रुपये देकर मैं वी० पी० छुड़ा लूँ। पत्र के साथ ही इनवाइस भी था। दूसरे दिन डाकख़ाने से वी० पी० आने की सूचना भी मिल गई। बड़े उत्साह और उल्लास के साथ उसी दिन जाकर दो हज़ार बहत्तर रुपये देकर मैंने वी० पी० छुड़ा ली।

बिल्टी डाकगाड़ी से आई थी, लेकिन माल भेजा गया था मालगाड़ी से। इसी लिए बिल्टी तो जल्दी आ गई, लेकिन माल के लिए कुछ दिन प्रतीक्षा करने की आवश्यकता थी। ७-८ दिन प्रतीक्षा करने के बाद हावड़े के मालगोदाम में जाकर मैंने अपने माल की खोज की। सैकड़ों बैपारियों का माल वहाँ ढेर था, लेकिन मेरे माल का कहीं भी पता न लगा। एक बाबू ने कहा—अहमदाबाद क्या थोड़ी दूर है साहब? और ७-८ दिन बीतने दीजिए, तब आइएगा।

बहुत अच्छा, कहकर मैं चला आया।

एक सप्ताह के बाद फिर जाकर मैंने माल की तलाश की, लेकिन मालूम हुआ, माल नहीं आया। अब तो मैं बराबर दूसरे-तीसरे दिन जाने लगा, लेकिन माल का कहीं नाम-निशान न था। इसी तरह लगभग महीना भर बीत गया।

एक दिन मालगोदाम में खड़े होकर एक परिचित आदमी से अपने कर्मभोग की बात कह रहा था। पास ही एक मारवाड़ी लड़का, यही कोई १२-१३

वर्ष का, खड़ा था। वह मेरी बातें सुनकर हँसने लगा। मैंने कुछ क्रुद्ध स्वर में कहा—हँसते क्या हो जी? उसने कुछ भी अप्रतिभ न होकर कहा—हँसता हूँ आपकी बुद्धि देखकर। माल आया या नहीं, यह जाने विना ही आपने इतनी बड़ी रक़म देकर वी० पी० छुड़ा ली! हम लोग वी० पी० से बिल्टी आने पर पहले मालगोदाम में आकर यह पता लगा लेते हैं कि माल अभी आया या नहीं। जब माल को अपनी आँख से देख लेते हैं, तब डाकख़ाने में जाकर बिल्टी छुड़ाते हैं। क़ायदे के माफ़िक़ बिल्टी तीन हफ़्ते तक डाकख़ाने में जमा रहती है।

उस छोकरे की बुद्धिमत्तापूर्ण बात सुनकर मेरी आँखें खुल गईं। ठीक तो है! लेकिन मुझे तो इस बारे में कुछ नहीं मालूम था। न किसी ने मुझे बतलाया। यह १२-१३ वर्ष का छोकरा जितनी बुद्धि और जानकारी रखता है, उतनी भी मुझ में नहीं है। मैं कालिदास, भवभूति, शेक्सपियर और मिल्टन के ग्रंथ चाट चुका हूँ और इसके पुरखों ने भी इन महाकवियों का नाम तक न सुना होगा। फिर भी यह व्यावसायिक बुद्धि और जानकारी में मुझसे कहीं बढ़ा-चढ़ा है और मैं इसके आगे निरा भोंदू हूँ।

ख़ैर, साहब, माल न आना था, न आया। रेलवे कम्पनी के पास दरख़्वास्त भेजी; उसकी ओर से एक छपा हुआ फ़ार्म भरकर यह उत्तर आया कि खोज की जा रही है। ख़ैर साहब, रेलवे-कम्पनी भले ही खोज करे, मैंने तो माल पाने की आशा बिलकुल छोड़ ही दी। यह दूसरी बात है कि कम्पनी पर दावा करके रुपये वसूल किये जा सकते हैं। पर यह आज तो नहीं होता। इसमें साल-छः महीने का समय लग जायगा। दौड़-धूप और ख़र्च अलग करना पड़ेगा। लेकिन अभी दूकान कैसे खुले? फ़िलहाल तो यही हो सकता है कि माल ख़रीदने के लिए ख़ुद अहमदाबाद जाऊँ। दूसरी मिलों से देखकर, पसन्द करके माल ख़रीदूँ और उसे अपने साथ ही ले आऊँ।

यही करना पड़ा।

(२)

बम्बई-मेल पर बैठकर कलकत्ते से अहमदाबाद के लिए रवाना हुआ। इटारसी स्टेशन छोड़ने के बाद ही रात हो गई। साथ में पूरी, हलवा और आलू का साग था। कुछ बाज़ार की मिठाई भी एक हाँडी में थी। पेट भरकर भोजन किया और बिछौना बिछाकर सो रहा। मैं सेकिंड क्लास में यात्रा कर रहा था। मेरे कमरे में केवल दो और यात्री थे। मेरे सोने के पहले ही वे उतर गये। उसके बाद मुझे नींद आ गई।

ख़बर नहीं, कब तक सोता रहा। एकाएक कानों को बहरा बना देनेवाले भयानक धड़ाके की आवाज़ से मेरी आँख खुल गई और आँख खुलने के साथ ही मैं तीर की तरह बेंच के ऊपर से छिटककर दूर जा गिरा, इतने ज़ोर का धक्का लगा। आँखें खोलकर देखा, कुछ न सूझ पड़ा, घोर अन्धकार था। एक भयंकर कड़कड़ाहट और उसके साथ ही बहुत-से लोगों का करुण आर्त्तनाद सुनाई पड़ने लगा। मैं ख़ुद भी उस समय झूला-सा झूलता हुआ काँप रहा था। मेरी दाहनी जाँघ में और सिर में पीछे की ओर घोर पीड़ा हो रही थी, जिसने शरीर को सुन्न-सा कर दिया था। समझ गया, रेल लड़ गई है।

वह कड़कड़ाहट अर्थात् गाड़ियों के तख़्ते टूटने का शब्द और झोंके खाना शीघ्र ही थम गया। जाँघ में हाथ लगाकर देखा, एक फटे हुए तख़्ते की नोक उसमें घुस गई है। मैंने जी कड़ा करके उस लकड़ी को जाँघ से निकाल डाला। दर्द कुछ कम हुआ, पर घाव से धाराप्रवाह रक्त बहने लगा, जिससे मेरा हाथ भीग गया। यह भी मेरी समझ में आ गया कि इस दुर्घटना में ईश्वर की कृपा से मैं मरा नहीं; मर जाता तो घाव से ख़ून न बहता। हाँ, यह अवश्य है कि टूटे हुए डिब्बे के भीतर जीते ही मुर्दे से बदतर हो रहा हूँ। अर्थात् जीवितावस्था में ही क़ब्र के भीतर दाख़िल हो गया हूँ।

इसके बाहर कैसे निकला जाय? किसी ओर प्रकाश की एक रेखा भी नहीं नज़र आती। लेकिन साँस लेने में तो कुछ कष्ट नहीं होता। निश्चय ही कहीं हवा के आने की राह है। उसी राह से नर-नारियों की एक साथ रोने-चिल्लाने की आवाज़ भीतर आ रही है।

तो क्या बाहर निकलने का कोई उपाय नहीं है?

इस अन्धकूपसदृश अन्धकारमय तंग घेरे में भूख-प्यास से तड़प-तड़पकर मरना ही क्या अपने भाग्य में बदा है? इसकी अपेक्षा तो यही अच्छा था कि एक ही टक्कर में सिर फट जाता और चटपट प्राण

निकल जाते। उस अन्धकार में आसपास चारों ओर इस आशा से टटोलने लगा कि शायद किसी ओर निकलने का रास्ता मिल जाय। हाथों में कोई कोमल वस्तु छू गई। मालूम पड़ा, किसी मनुष्य का शरीर है। स्पर्श से यह भी मालूम पड़ा कि कोई स्त्री है और जवान भी है। उसे ठेलकर पूछा—मर तो नहीं गई ?

कोई उत्तर नहीं मिला। ओह, तो यह मर गई है। ज़िंदा और मुर्दा दोनों एक साथ इस क़ब्र में पड़े हैं। और आगे हाथ बढ़ाकर इधर-उधर टटोला; पर किसी और मनुष्य का पता नहीं चला। अलिफ़लैला के क़िस्से में पढ़ा था कि सिंधबाद जहाज़ी किसी ऐसे देश में गया था, जहाँ स्त्री के मरने पर उसके पति को और पति के मरने पर उसकी स्त्री को जीवित ही मुर्दे के साथ दफ़न कर दिया जाता था। मैं क्या उसी देश में आ गया हूँ और यह तरुणी ही क्या मेरी मरी हुई पत्नी है ? विशेष चेष्टा करके अपनी स्मरणशक्ति का प्रयोग करने पर चोट से भन्ना रहे मेरे मस्तिष्क ने उत्तर दिया—ना, ऐसा नहीं है। मैं अविवाहित नवयुवक हूँ और माल ख़रीदने के इरादे से इस ट्रेन से अहमदाबाद जा रहा था।

अपनी जाँघ के घाव को हाथ से सहलाकर पीड़ा कम करने की चेष्टा मैं कर रहा था, इसी समय एक अस्फुट आर्तनाद सुन पड़ा। जान पड़ा, यह शब्द उसी पास पड़ी हुई नारी का है। जय भगवान्! तो यह रमणी मरी नहीं, बेहोश हो गई थी; अभी ज़िंदा है। मृत्यु-नदी के किनारे खड़ा हुआ मैं एक जीवित प्राणी का संग पाकर कृतार्थ-सा हो गया; उस शून्य अन्धकार की भयंकरता, जो अब तक मेरा गला घोंटे डाल रही थी, बहुत कुछ दूर हो गई। हाथ से उस रमणी के शरीर को ठेलकर मैंने कहा—तुम ज़िंदा हो ?

उसने आर्तस्वर में कहा—अरी मेरी मैया!

मैंने पूछा—क्या बहुत चोट लगी है ?

वह केवल काँखती रही; कुछ उत्तर नहीं दिया।

मैंने फिर पूछा—बहुत घायल हो गई हो क्या ?

जवाब मिला—बड़ा दर्द हो रहा है! बाप रे!

मैंने कहा—रोने से क्या होगा ? गाड़ी लड़ गई है। हम सब लोग उसी के नीचे दब गये हैं। तुम्हारा नाम क्या है ?

उसने कहा—मेरा नाम सरस्वती है।

धीरे-धीरे पूछकर मैंने जाना कि उसकी पीठ और रीढ़ में बड़ी चोट लगी है और बड़ा दर्द हो रहा है। यह भी मैंने जान लिया कि उसके भीतरी चोट आई है; ख़ून नहीं निकला। इसी गाड़ी के दूसरे डिब्बे में उसके पिता हैं; वह ज़नाने ड्योढ़े दर्जे में थी। हावड़ा स्टेशन पर सवार होते समय मैंने देखा था कि मेरे सेकेंडक्लास के डिब्बे से मिला हुआ ड्योढ़े दर्जे का ज़नाना डिब्बा और उससे मिला हुआ मर्दाना ड्योढ़ा दर्जा है। समझ गया, बीच के तख़्ते को तोड़कर विधाता ने उस बेचारी को मेरे डिब्बे में ला पटका है।

सरस्वती ने प्रश्न किया—बाबूजी, हम लोग जियेंगे ?

मैंने कहा—जैसी भगवान् की मर्ज़ी होगी, वही होगा।

बालिका को फिर भी कराहते देखकर मैंने कहा—सरस्वती, तुम्हारी पीठ सहला दूँ ?

सरस्वती ने बिना किसी संकोच के कहा—हाँ बाबूजी।

मैंने कहा—अच्छा तो ज़रा मेरी तरफ़ खिसक आओ।

लेकिन उस लड़की में शायद हिलने-डुलने की भी ताब नहीं थी। वह उसी तरह कराहती रही। तब मैं ही किसी तरह उसके पास खिसक गया। हाथ लगाकर देखा तो मालूम हुआ, उसकी पीठ मेरी तरफ़ है। पीठ का बीच का हिस्सा फूल गया है। वह जो कुर्ती पहने थी, वह उस जगह फट गई थी। मैं हलके-हलके उस जगह, जहाँ चोट लगी थी, हाथ फेरने लगा। जान पड़ा, उससे सरस्वती को कुछ आराम पहुँचा; उसका कराहना धीमा पड़ गया।

उसने फिर प्रश्न किया—बाबूजी, हम लोग बच जायँगे ?

मैंने कहा—क्या भगवान् जानें।

उसने कहा—मेरे बाबूजी कहाँ हैं ? उनका क्या हुआ ?

मैंने कहा—यह भी भगवान् ही जानें।

मेरा उत्तर सुनकर वह लड़की फफक-फफककर रोने लगी। मैं उसे सान्त्वना देने की चेष्टा करता हुआ कहने लगा—अजी, रोओ नहीं। भाग्य में जो लिखा है, वही होगा। उसे कौन मिटा सकता है ?

धीरे-धीरे वह कुछ शान्त हुई। फिर बातचीत

होने लगी। वह गुजराती ब्राह्मण की लड़की है। उसका ब्याह अभी नहीं हुआ। पिता हैं, मा नहीं है। पिता का नाम नगीनदास रणछोर है। वह अहमदाबाद में कपड़े का धंधा करते हैं। वह अपने कारोबार के किसी काम से कलकत्ते आये थे। सरस्वती ने कभी कलकत्ता नहीं देखा था, इसी से वह हठ करके उनके साथ कलकत्ते आई थी। अब अहमदाबाद को दोनों जने लौट रहे थे। सरस्वती की अवस्था १६ वर्ष की है।

उस लड़की ने पूछा—अजी, तुम्हारे कहाँ चोट लगी है ?

मैंने कहा—सिर में पीछे की तरफ़ और जाँघ में।

उसने कहा—बहुत तकलीफ़ हो रही है क्या ?

मैंने कहा—हाँ, तकलीफ़ तो हो ही रही है। जाँघ में तो दर्द हो ही रहा है, लेकिन सिर अब तक बड़े ज़ोर से झनझना रहा है।

उसने कहा—सिर ज़रा दबा दूँ क्या ?

मैंने कहा—दबाओगी ? अच्छा दबा दो।

वह मेरा सिर दाबने लगी। मैंने कहा—सरस्वती, भगवान् की विचित्र लीला देखो। गाड़ी लड़ गई, डिब्बा चूर-चूर हो गया। चारों ओर टूटे-फूटे तख़्ते और लोहालक्कड़ का ढेर है। उसके बीच में एक जगह हो गई; उसके भीतर केवल तुम हो और मैं ही हूँ। अचरज की बात है कि नहीं ?

उसने कहा—बेशक बड़े ताज्जुब की बात है। बाबूजी, बड़ी प्यास लगी है। थोड़ा-सा पानी।

पानी वहाँ कहाँ था। एकाएक याद आ गया कि मेरे कोट की जेब में लगे हुए पानों का डिब्बा था। हाथ से टटोलकर देखा, वह डिब्बा इस समय भी यथास्थान पड़ा था। मैंने कहा—पानी यहाँ कहाँ मिलेगा सरस्वती ? पान हैं, खाओगी ?

सरस्वती ने कहा—लाइए।

मैंने डिब्बा निकालकर उसके हाथ में देकर कहा—लो, खोलकर निकाल लो।

उसने पानों का डिब्बा ले लिया। खोलकर पान खाये। फिर पूछा—आप भी खाइएगा ?

मैंने कहा—मेरे दोनों हाथों में तो ख़ून लगा है। अगर तुम खिला दो तो खा लूँगा।

उसने बिना किसी संकोच के अपने हाथ से मुझे पान खिला दिया।

मनुष्य के मन की गति विचित्र होती है। मृत्यु के मुँह में पड़े रहने पर भी नारी के हाथ की ममता-भरी सेवा पाकर मेरे मन में एक मधुर भाव का संचार हुआ।

मैंने कहा—सरस्वती, अगर हम दोनों बच गये तो क्या तुम मेरे साथ ब्याह करना स्वीकार करोगी ?

उसने पूछा—क्यों ?

मैंने कहा—मुझे विश्वास है कि भगवान् की ही यह इच्छा है। नहीं तो देखो, हम दोनों जने इस तरह एक ही जगह कैसे पहुँच जाते ?

बालिका ने कहा—आप ठीक कहते हैं। लेकिन बाबूजी, आप हमारी जाति के तो नहीं हैं। मेरे पिताजी कैसे राज़ी होंगे ?

मैंने कहा—अगर वह राज़ी हो जायँ तब तो तुम नाहीं नहीं करोगी ?—यह कहकर मैंने उसका हाथ अपने हाथ में ले लिया।

उसने कहा—अच्छा, मुझे स्वीकार है।

मैंने उसके हाथ में अपने प्रणय का चिह्न अंकित कर दिया। फिर कहा—तुम्हारे पिताजी क्यों नहीं स्वीकार करेंगे ? मैं भी ब्राह्मण हूँ। मैं और तुम दोनों जने जब उनके पैरों पर सिर रखकर प्रार्थना करेंगे, तब भी क्या उन्हें दया न आवेगी ?

सरस्वती ने कहा—अच्छा। लेकिन तुमने मुझे देखा तो है नहीं, मैं सुन्दरी हूँ या कुरूपा ?

मैंने कहा—तुमने भी तो मुझे नहीं देखा। भगवान् ने हमें देख-सुनकर ही मिलाया है।

सरस्वती ने कहा—आप ठीक कहते हैं।

इसके बाद थोड़ी देर में सरस्वती सो गई; क्योंकि मेरे एक-आध बार पुकारने पर भी वह नहीं बोली। कुछ देर बाद मुझे भी नींद आ गई।

जब नींद खुली, तब मैंने देखा, सरस्वती मुझे हिलाती हुई कह रही है—अजी, उठो-उठो।

आँखें खोलकर देखा, अनेक छिद्रों के रास्ते दिन का प्रकाश भीतर आ रहा है। बाहर भी बहुत-से लोगों की आवाज़ सुनाई पड़ी।

उसी थोड़े-से प्रकाश में मैंने सरस्वती के मुख की ओर देखा। मैंने उसे आँखें मूँदकर बिना देखे ही स्वीकार करके ग़लती नहीं की। बालिका परम सुन्दरी थी। मैंने कहा—सरस्वती, जान पड़ता है, हम लोग इस कालकोठरी से शीघ्र ही निकल सकेंगे। बाहर बहुत-से लोग बोल रहे हैं। वे गाड़ी में घायल दबे हुए लोगों को मलबे के नीचे से निकालने आये हैं।

उन लोगों की प्रतीक्षा में लगभग आधा घण्टा बीत गया। उसके बाद हम लोगों के बहुत ही निकट तख़्तों को हटाने का शब्द हुआ। क्रमशः छिद्र बढ़ने से अधिक प्रकाश भीतर आने लगा। इसके बाद एक जगह टूटा हुआ तख़्ता हटाने से बाहर निकलने का पूरा रास्ता हो गया। मलबा हटानेवालों में से एक ने भीतर झाँककर कहा—जीता है साहब।

हम दोनों किसी तरह उस कालकोठरी के भीतर से बाहर निकले। सरस्वती खड़ी नहीं हो पाती थी। वह मेरे कन्धे का सहारा लेकर किसी तरह धीरे-धीरे चलने लगी।

एक साहब ने आकर मेरा नाम और पता पूछा; मैंने सब बता दिया। उसने सरस्वती के बारे में पूछा, यह कौन है। मैंने कह दिया—मेरी पत्नी है। साहब ने काग़ज़ पर पं० कृष्णकुमार और मिसेज़ कृष्णकुमार लिख लिया। फिर कहा—तुम लोग पैदल चल सकोगे। यहाँ से आगे स्टेशन है; वहाँ पहुँचने पर तुम्हें मुफ़्त पास मिलेगा, उससे तुम जहाँ चाहोगे, वहाँ जा सकोगे। यह कहकर वह साहब आगे चला गया।

मैंने सरस्वती के पिता की बहुत खोज की; लेकिन वह कहीं नहीं देख पड़े। पूछने से मालूम हुआ, इसके पहले रात को ही दो रिलीफ़ ट्रेनों में भरकर बहुत-से घायल और मुर्दे यहाँ से हटाये जा चुके हैं—नागपुर भेज दिये गये हैं।

सरस्वती ने कहा—आगे के स्टेशन तक पैदल जाना मेरे लिए असम्भव है। पास ही एक गाँव दिखाई पड़ रहा था। मैं विश्राम और सवारी पाने की आशा से सरस्वती को उस गाँव तक किसी तरह ले गया। वहाँ एक किसान के यहाँ आश्रय मिल गया। उसने हम दोनों जनों को गरम दूध पिलाया। उसकी चौपाल में ही चटाई बिछाकर हम दोनों सो रहे। कारण, उस समय वहाँ से चल देना असम्भव था। कहना न होगा, यहाँ भी मैंने सरस्वती को अपनी स्त्री ही बतलाया था।

(३)

किसान के घर में दो-तीन दिन रहकर कुछ सुस्थ होकर किसान और उसकी स्त्री को यथेष्ट धन से पुरस्कृत करके मैं सरस्वती को लेकर नागपुर के लिए रवाना हुआ, इस आशा से कि शायद वहाँ सरस्वती के पिता का पता लग जाय। वहाँ पहुँचने पर बड़े सरकारी अस्पताल में सरस्वती के पिता से भेंट हो गई। उनका एक हाथ बिलकुल चूर-चूर हो गया था और उसे डाक्टर ने जड़ से काट डाला था। वह तेज़ बुख़ार में बेहोश पड़े थे।

हम दोनों मिलकर उनकी सेवा में लग गये। पाँच-छः दिन बाद उन्हें कुछ होश आया और एक सप्ताह के बाद उनकी दशा अधिक सुधर गई। असंलग्न भाव से कुछ-कुछ बोलने लगे। कन्या को देखकर उनको बड़ी प्रसन्नता हुई। कन्या को हृदय से लगाकर बड़ी देर तक रोते रहे। बोले—बेटी, मुझे तो तुझे फिर देख पाने की आशा नहीं रह गई थी।

और कुछ दिन बीते। अब वह पलँग पर उठकर बैठने लगे। धीरे-धीरे मैंने उनसे सारा अपना हाल कहा। किस दशा में, हम दोनों विवाह के लिए प्रतिज्ञा में बँध चुके हैं, यह भी मैंने कह दिया। मेरी बात सुनकर थोड़ी देर तक चुपचाप जैसे वह कुछ सोचते रहे। इसके बाद बोले—मेरी लड़की मुझे जीवित मिल गई, इसी को मैं अपना सौभाग्य समझता हूँ। तुम दोनों का मिलन अवश्य ही भगवान् की इच्छा से हुआ है; मैं उसमें बाधा न डालूँगा। तुमने मेरी लड़की की सहायता की है, रक्षा की है, इसके लिए मैं तुम्हारा कृतज्ञ हूँ।

हम दोनों की कामना परमेश्वर ने पूरी की। मैंने अहमदाबाद जाने का विचार छोड़ दिया। नगीनदास और सरस्वती को लेकर मैं कलकत्ते लौट आया। आर्य-समाज में जाकर मैंने सरस्वती के साथ विवाह किया। इसके बाद मैंने बड़ा बाज़ार में दूकान लेकर कपड़े का कारोबार शुरू कर दिया। दूकान की देखरेख नगीनदासजी—मेरे ससुर ही करते थे। माल भी उन्होंने ही मँगा दिया। मेरी दूकान जब ख़ूब चलने लगी, तब वह अहमदाबाद चले गये।

स्वदेशी की कृपा से मेरी दूकान की दिन-दिन उन्नति होने लगी। मेरे ससुर साल में एक बार कलकत्ते का चक्कर कर जाते हैं। महीना-पंद्रह दिन रहते भी हैं। अपनी अहमदाबाद की दूकान का लेना-देना भी निबटाते हैं, मेरी दूकान की देखभाल करके मुझे नये उपदेश भी देते हैं और अपने नातियों और नातिनों के साथ खेलकर उन्हें जो आनन्द मिलता है, उसे वह घाते का लाभ बतलाते हैं। *

---

* स्व० श्रीप्रभातकुमार मुकर्जी की एक कहानी।

माया बानर्जी
कहती है—
"लक्स टॉयलेट साबुन
मेरा सरल
सौंदर्य उपाय है"
मैं लक्स सौंदर्य साबुन का काफ़ी फ़ाग बनाती हूँ और सौम्यता से त्वचापर थपकती हूँ...
पश्चात मैं साफ़सुथरे और शीतल पानी से धो डालती हूँ . . .
अन्त में मैं सौम्यता से अपना मुख नरम तौलिये से पोंछ लेती हूँ
LUX
TOILET SOAP
फिल्मी स्टार्स का सौंदर्य साबुन
फिल्मी स्टार अपने परमोत्कृष्ट त्वचा को केवल इस-लिये सुरक्षित नहीं रखती कि, वह उसका मनमोहक सौन्दर्य है, बल्कि वह उसके व्यावहारिक जीवन की एक अमूल्य पूँजी भी है। इसीलिये हिन्दुस्थान की प्रमुख फिल्मी स्टारस् लक्स टॉयलेट साबुन से अपने मूल्यवान् सौन्दर्य की सुरक्षा करती हैं। आप स्वयं अपने घर में इस सरल उपाय का प्रयोग कर देख सकते हैं—३० दिन के लिये अनुभव कीजिये—आप उसकी साफ़ करनेवाली एवं उद्दीपन शक्ति को देखकर आनन्दित होंगे।
LTS. 137-23-40 HI
LEVER BROTHERS (INDIA) LIMITED
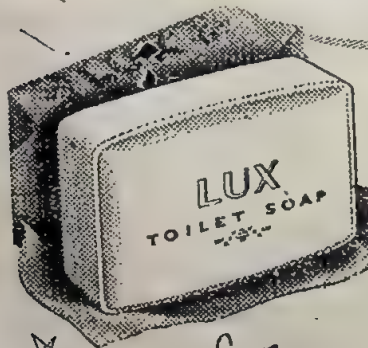
अँगेरज अर्थ-सदस्य का अन्तिम बजट

श्रीअवनीन्द्रकुमार विद्यालङ्कार

भारत सरकार के अर्थ-सदस्य सर आर्चीबाल्ड रोनाल्ड अधिकार-सूत्र परित्याग करके स्वदेश वापस चले गये हैं। भारत में विपुल वेग से राजनीतिक परिवर्तन हो रहे हैं। भविष्य में कोई विदेशी भारत-सरकार का बजट नहीं बनावेगा। यह भी सम्भव है कि अन्तरकालीन गवर्नमेंट सर आर्चीबाल्ड द्वारा बनाये बजट में परिवर्तन करे। इसलिए इस संक्रमणकाल में संक्रमणकाल के बजट का सिंहावलोकन करना अनुपयुक्त न होगा।

नया साल

सर आर्चीबाल्ड ने इस वर्ष के बजट में नये तत्वों और सिद्धान्तों का सिद्धान्ततः प्रवेश किया है। पर उनको व्यवहार में परिणत नहीं किया। आपने कहा है, "अर्थनीति स्वतः अपने आपमें कोई लक्ष्य नहीं है, बल्कि वह राष्ट्रीय नीति को पूरा करनेवाली होनी चाहिए। इसका उद्देश्य केवल आय जमा करना न होना चाहिए, बल्कि इस रूप में जमा करना चाहिए जिससे अधिकतर सामाजिक और आर्थिक लाभ उठाया जाय और करदाताओं के विभिन्न वर्गों के बीच 'कर' का भार उचित रूप से वितरित किया जा सके।" क्या सर आर्चीबाल्ड का बजट इस उद्देश्य को पूरा करता है?

क्या योजना का बजट है?

युद्ध-पूर्व भारत का बजट निर्वाहमात्र का होता था। युद्ध-काल के बजट केवल पुलिस और सैनिक बजट थे और उन्होंने मुद्रास्फीति या फुलाव और लन्दन में स्टर्लिंग-पावना बढ़ाना; ये दो समस्याएँ उत्पन्न कीं। इनमें पहली से भारत पर अनेक कष्ट आये और दूसरी के कारण दोनों देशों के बीच कटुता उत्पन्न हुई। युद्धोत्तर काल का बजट योजना-बजट होगा, ऐसी आशा और अपेक्षा थी; पर सर आर्चीबाल्ड रोनाल्ड का १९४६-४७ का बजट नकारात्मक है। युद्ध से शान्तिकाल में जब अर्थतन्त्र जा रहा है, तब समय कठिन होता है, परिस्थितियाँ विपरीत होती हैं। यह कठिनाई होते हुए भी आर्थिक योजना का आरम्भ करने का यही समय है, इससे इनकार नहीं किया जा सकता।

युद्ध-पूर्व, युद्ध-काल और युद्धोत्तर काल के बजटों के बीच यदि हम सम्बन्ध देखें तो मालूम होगा कि घाटा बढ़ता जाता है, सैनिक व्यय पिरामिड के समान ऊँचा होता जाता है, और भारत-सरकार और ब्रिटिश सरकार के बीच सैनिक व्यय का विषम बटवारा किया गया है। इन वर्षों में भारत-सरकार का आय-व्यय इस प्रकार रहा—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	आय	व्यय	बचत या घाटा
१९३८-३९	८४·५२	८५·१५	०·६३
१९३९-४०	९४·५७	९४·५७	—
१९४०-४१	१०४·६३	११४·१८	९·५३
१९४१-४२	१३४·५७	१४७·२६	१२·६९
१९४२-४३	१७६·८८	२८९·०५	११२·१७
१९४३-४४	२५२·०६	४४१·८[illegible]	१८९·७[illegible]
१९४४-४५	३५६·८८	५१२·६५	१५५·७७
१९४५-४६ (संशोधित)	३६०·६६	५०५·६१	१४४·९५
१९४६-४७ (बजट)	३०७·००	३५५·७१	४८·७१

भारी घाटा

१९३८-३९ का वर्ष पूर्णतया युद्धपूर्व का वर्ष था। १९३९-४० के सात मास लड़ाई के थे। १९३९-४० से १९४६-४७ तक कुल १७००.२९ कोटि रु० और व्यय २४९००८७ करोड़ रु० हुआ और इन वर्षों में बजट का कुल घाटा ६७०.६० कोटि रु० हुआ। ख़र्चा बढ़ा, घाटा भी बढ़ा और सैनिक व्यय में भी वृद्धि हुई। मुल्की और सैनिक व्यय में किस प्रकार वृद्धि हुई है, यह नीचे देखिए—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	मुल्की व्यय	सैनिक व्यय
१९३८-३९	३८.१७	४६.१८
१९३९-४०	४५.०३	४९.५४
१९४०-४१	४०.५७	७३.६१
१९४१-४२	४३.३३	१०३.९३
१९४२-४३	७४.४३	२१४.६२
१९४३-४४	८३.४४	३५८.४०
१९४४-४५	११५.४२	३९७.२३
१९४५-४६(संशोधित)	१२९.१९	३७६.४२
१९४६-४७(बजट)	१११.६४	२४३.७७

भारत-सरकार के राजस्व पर युद्ध का असर न केवल युद्ध-काल में ही पड़ा है, बल्कि युद्ध की छाया अभी तक उस पर बनी हुई है। अब सैनिक व्यय के अधिक होने का कारण यह कहा जाता है कि सेना का विसर्जन, सेना की भरती और उसको मोर्चे पर भेजने की अपेक्षा अधिक महँगा और ख़र्चीला है।

क़र्ज़

१९४५-४६ के अन्त तक वास्तविक और आनुमानिक घाटा ६२९.६० कोटि रु० का है। इसको पूरा करने के लिए सरकार ने जनवरी १९४६ तक ११७८ कोटि रु० का ऋण लिया। सरकार ने साधारणतः ३ प्रतिशत ही क़र्ज़ लिया और उसी से युद्ध-व्यय पूरा किया और पहले लिये क़र्ज़ों के पूरा होने की मियाद बढ़ती गई। स्थिति सन्तोषजनक है। मगर आर्थिक विकास की योजना की पूर्ति के लिए भारी मात्रा में रक़म चाहिए और धन के सस्ता होने पर भी वह उस मात्रा में प्राप्त नहीं है। अर्थ-सदस्य भी इसको एक पेचीदा समस्या स्वीकार करते हैं।

सम्राट् सरकार से

भारत-सरकार के सैनिक व्यय के अतिरिक्त भारत के हिसाब में ब्रिटिश सरकार का सैनिक व्यय भी है और यह उससे अभी वसूल करना शेष है। इस हिसाब में १९४६-४७ में भी ख़र्च होगा; यद्यपि उसकी मात्रा ज़्यादा नहीं है। ब्रिटिश सरकार से वसूल की जानेवाली रक़में इस प्रकार हैं—

(करोड़ रुपयों में)

वर्ष	रक़म
१९३९-४०	४.००
१९४०-४१	५८.००
१९४१-४२	१९४.००
१९४२-४३	३२५.४८
१९४३-४४	३७७.८७
१९४४-४५	४३९.५३
१९४५-४६	४८९.००
१९४६-४७	४२.००

युद्धकाल की शिक्षा

युद्ध-काल में सरकारी ख़र्च की सीमा का निश्चय बढ़ाये गये करों के साधन और उपायों ने नहीं किया है, बल्कि पूर्ण रूप से उपयोग में आ सकनेवाले जनों के स्रोतों और सामग्री ने किया है। फलतः सरकार का ख़र्च बहुत बढ़ गया, जैसा कि ऊपर हम देख आये हैं। स्थिर शान्ति आर्थिक तन्त्र का व्यवस्थित संक्रमण इसी नीति के जारी रहने पर निर्भर है। अब तक जो व्यय सेना और सैनिक कार्यों पर होता था वह अब राष्ट्र के पुनर्निर्माण के रचनात्मक कार्यक्रम पर होना चाहिए। हमको यह न भूलना चाहिए कि औद्योगिक दृष्टि से संयुक्त और उन्नत पश्चिमी देशों और भारत की स्थिति में अन्तर है। उन देशों में सम्भव है, उपभोक्ताओं के पास बचे धन के कारण संक्रमण काल में मुद्रास्फीति या फुलाव उत्पन्न हो। मगर भारत में ६०० कोटि रु० सहसा ख़र्च कम हो जाने से यह भय है कि मुद्राकुंचन हो, क़ीमतें सहसा गिरें और बेकारी फैले। इसलिए हमारी समस्या यह है कि युद्ध-काल में सरकार जितना व्यय करती थी, वह करती रहे, पर उसको सेना और सैनिक कार्यों में न करके राष्ट्र-निर्माण के रचनात्मक कार्यों में करे।

बजट अब क़ानून और व्यवस्था को स्थापित करने के उद्देश्य से बनाने का समय बीत गया है। बजट के पुराने सिद्धान्तों में परिवर्तन हो गया है। कम

से कम कर लगाना और वैयक्तिक लाभ की प्रेरणा से प्रेरित वैयक्तिक साहस को अधिक से अधिक अवसर देना, यह बीते युग की बात है। उस समय राष्ट्रीय आमदनी का दस प्रतिशत से अधिक करों के रूप में सरकार नहीं लेती थी। मगर युद्ध के कुछ वर्षों में और युद्ध-काल के अन्दर इसमें भारी परिवर्तन हो गया। राज्य का उत्तरदायित्व बढ़ गया और उसने राष्ट्र के सुव्यवस्थित विकास के काम को अपने हाथ में लेना अपना कर्तव्य समझा। बजट राष्ट्रीय विकास का होना चाहिए, यह अब माना जाने लगा है। फलतः आय-व्यय को प्रतिवर्ष सन्तुलित करने का पुरातन विचार परित्याग कर दिया गया है। अतएव बजट अब राष्ट्रीय योजना का एक भाग है। युद्ध-काल के भारी व्यय का बहुत बड़ा हिस्सा भारत-सरकार ने अपनी आय से पूरा किया है। राष्ट्रसंघ की रिपोर्ट के अनुसार १६३६-४४ के बीच युद्ध-व्यय को आय से इस अनुपात में पूरा किया गया—

भारत	७२
दक्षिण अफ्रीका	६२
कनाडा	६०
आस्ट्रेलिया	४६
ब्रिटेन	४८
संयुक्त-राष्ट्र	४१
जर्मनी	४०
जापान	३५

इसलिए सरकार को देश के आर्थिक विकास की योजना को पूरा करने के लिए भारी से भारी व्यय पूरा करने में संकोच न करना चाहिए था। पर भारत-सरकार के अर्थ-सदस्य ने क्या इस नीति का अनुसरण किया है? क्या युद्धकाल से मिली इस शिक्षा से सर आर्चीबाल्ड ने कोई लाभ उठाया है? भारत-सरकार ने उद्योग-धन्धों के विकास की कोई ज़िम्मेदारी अपने ऊपर नहीं रक्खी है। प्रान्तों या वैयक्तिक साहस के भरोसे राष्ट्रनिर्माण के कार्य को छोड़ दिया गया है।

प्रांतीय सरकारों को योजनाओं की पूर्ति के लिए ३५ कोटि रु० अगाऊ दिया गया है। ९५ कोटि रु० प्रान्तिक उत्पादक विकास की योजनाओं के लिए प्रान्तों को क़र्ज़ दिया गया है। केन्द्र द्वारा शासित प्रदेशों के लिए २७ कोटि रु० रक्खा गया है। इसके अतिरिक्त २२ कोटि रु० रेलवे बजट में रेलवे के विस्तार और निर्माण के लिए रक्खा गया है। गृह-निर्माण-कार्य के लिए सरकार ने १२½ प्रतिशत सहायता देने का निश्चय किया है। ये मकान सरकारी कर्मचारियों के लिए ही न बनाये जावेंगे, बल्कि औद्योगिक श्रमियों के लिए भी बनाये जावेंगे। प्रान्तों के पास इसके लिए ७० कोटि रु० जमा है और अगले छः सालों में उनके पास आय की बचत से १०० कोटि रु० होगा। प्रान्तिक सरकारों की ६०० कोटि रु० की पंचवार्षिक योजनाएँ हैं। पर यह न भूलना चाहिए कि योजनाएँ अभी तक काग़ज़ पर भी पूरी तरह नहीं बनी हैं, उन पर अमल होने की बात तो दूर रही। इस साल ६०० कोटि रु० ख़र्च कम हुआ है। यदि सरकार द्वारा इच्छित सारा ख़र्च भी हो तो भी वह २०० कोटि से अधिक न होगा। ४०० कोटि का अन्तर शेष रह जायगा। इस अन्तर को पूरा करने के लिए सरकार के पास कोई योजना नहीं है। न बजट में इस ओर ध्यान दिया गया है और न वह इस दृष्टि से बनाया गया है। इस प्रसंग में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि मशीनरी न मिलने के कारण वैयक्तिक साहस पर किया गया भरोसा पूर्ण न होगा। फलतः देश के सामने बेकारी की भयंकर समस्या निकट भविष्य में अनिवार्य रूप से आवेगी।

मध्यमवर्ग की रियायतें

मध्यमवर्ग और पूँजीपतिवर्ग ही इस देश में आन्दोलन करने और हल्ला करने में समर्थ हैं। फलतः अर्थसदस्य ने इन दोनों वर्गों को सन्तुष्ट करने का पूरा प्रयत्न किया है। दो पैसे का कार्ड या दो पैसे की दियासलाई आम जनता के लिए की गई है। उपार्जित कर-मुक्त आय २००० रु० से ४००० रु० कर दी गई है। इनकमटैक्स के पहले खंड में कोई रिलीफ़ दिये बग़ैर दूसरे खंड में ३५०० रु० से अधिक की आमदनी पर १५ पाई प्रति रुपया से घटाकर १२ पाई कर दिया गया है और इसी प्रकार ५,००० से १५००० रु० की आमदनी के तृतीय खंड में १ पाई की कमी की गई है।

उद्योगपतियों का

अतिरिक्त आयकर सर्वथा उठा दिया गया है; मगर डिविडेंड देने पर नियन्त्रण किया गया है। पूँजी को ५ प्रतिशत या कुल आय का ३० प्रतिशत डिविडेंड में देने पर कम्पनियों को इनकमटैक्स और सुपरटैक्स

७½ आने की जगह छः आने देना पड़ेगा। उद्योगों को और भी रियायतें दी गई हैं—इमारत के ऊपर प्रारम्भिक १० प्रतिशत घिसाई भत्ता और नवीन प्लांट और मशीनरी पर २० प्रतिशत आयकर में छूट दी गई है। कृषि-प्रधान देश के अन्दर, जब जीवन-निर्वाह का व्यय ऊँचा हो और ऊँचा होता जा रहा हो, कर की मात्रा भारी हो, तब एक वर्ग को रियायत के लिए चुनना कहाँ तक युक्तिसंगत कहा जा सकता है? इमारत उद्योग को विशेष सुविधा दी गई है और इसके चमकने का इस्पात और सीमेंट उद्योग पर भी असर पड़ेगा। पर क्या इमारत बनाने का सब सामान सरलता से उपलब्ध है और युद्ध-उद्योगों और सेना से अलग किये गये सब आदमी इसी में खप सकेंगे?

उद्योगों को प्रोत्साहन देने के विचार से उनके लिए आवश्यक कच्चे माल पर से जकात कर हटा दिया गया है। उद्योगों की ओर से इसकी माँग पुरानी थी।

सोने पर २५ रु० तोला

इसके साथ अर्थसदस्य ने २५ रु० प्रति तोला स्वर्ण पर जकात लगाई है और चाँदी पर लगी जकात में आठ आने की और वृद्धि की है। इसका उद्देश्य यह बताया गया है कि जनता अपना संचित धन स्वर्ण और चाँदी में न लगाकर शेयरों और सिक्युरिटीज़ में लगावे। १९३१ ई० तक भारत से अपरिमित मात्रा में स्वर्ण-प्रवाह स्वर्ण-विक्रय के रूप में विलायत जाता रहा। यह "संकटापन्न स्वर्ण" कहलाता था। अब भारतीयों को स्वर्ण ख़रीदने का मौक़ा मिला है। तब यह भारी जकात लगा दी गई है। स्वर्गीय लार्ड केनीज स्वर्ण को जंगली सभ्यता का अवशेष बताते थे और डा० डाल्टन इसको ज़ंजीर बताते हैं। मगर जब अमरीका और ब्रिटेन सोना अधिक से अधिक मात्रा में संचित कर रहे हैं, तब भारत को इस अवसर से वंचित रखना कहाँ का न्याय है?

नये कर लगाने का सोने-चाँदी के बाज़ार पर क्या प्रभाव पड़ा? क्या ये जकात मुद्रास्फीति या फुलाव को रोकने में समर्थ हुई? या मुद्रास्फीति के ढाँचे पर एक और ईंट की सतह चढ़ा दी गई है? मुद्रा उस समय फूली या स्फीति मानी जाती है, जब उसकी क्रयशक्ति घट जाती है और चीज़ें उसी क़ीमत में कम मात्रा में मिलती हैं या उतनी ही चीज़ के लिए ज़्यादा दाम देने पड़ते हैं। इस दृष्टि से कहना चाहिए कि सोने के सम्बन्ध से रुपये का मूल्य और अधिक गिर गया है। कृत्रिम रूप से सोने के दाम में वृद्धि होने के फलस्वरूप रुपये की क्रयशक्ति घटेगी।

नया क़र्ज़

भारत-सरकार और ३०० कोटि रु० क़र्ज़ लेने का इरादा रखती है। अर्थ-सदस्य ने अपने वक्तव्य में बताया है कि सरकार इस वर्ष १०० कोटि रुपये ख़र्च करना चाहती है और ४८ करोड़ रु० का घाटा उसे पूरा करना है। पर वह ३०० कोटि रु० क्यों क़र्ज़ ले रही है, यह नहीं बताया गया है।

ब्रिटेन, अमरीका और आस्ट्रेलिया के प्रभाव से भारत में आज भी क़ीमतों की सतह ऊँची है। इस सतह को घटाने की ओर भी सरकार का ध्यान नहीं है। फलतः सरकार के हरएक विभाग के कर्मचारी वेतन बढ़ाने की माँग कर रहे हैं। रेलवे कर्मचारी हड़ताल करने की धमकी दे रहे हैं और कह रहे हैं कि रेलों का चलना बिलकुल बन्द हो जायगा। कुछ ले-देकर सरकार ने यह हड़ताल रोक दी। सेना और पुलीस के लोग भी वेतन और भत्ता बढ़ाने की माँग कर रहे हैं। रेलवेमैनों की माँग सब पूरी की जाती तो गवर्नमेंट का ख़र्च ७८ करोड़ रु० और बढ़ जाता। डाक-तार-विभाग में भी ८ कोटि और व्यय होगा। सेना और पुलीस के लोग अपने वर्तमान वेतन को 'भूखमरी का वेतन' कहते हैं।

उपेक्षा

भारत-सरकार ने मूल्य-सतह की उपेक्षा की है। आज भारत में जो मूल्य-सतह है, उसके लिए भारत-सरकार ज़िम्मेदार है। यदि कनाडा, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन और अमरीका अपने देश के अन्दर अन्न-खाद्य-सामग्री और जीवन के लिए आवश्यक अन्य चीज़ों की क़ीमत की सतह युद्ध-पूर्व की अपेक्षा १५० प्रतिशत अधिक रख सकते हैं, तो कोई कारण नहीं देख पड़ता कि भारत-सरकार भारत में इससे ऊँचा मूल्यों को चढ़ने दे। भारत में २५० प्रतिशत अधिक मूल्य का होना, जो कि साम्राज्य के देशों से १००० प्रतिशत अधिक है, सरकार की अक्षमता को ही नहीं सूचित करता, बल्कि जनहित के प्रति उसकी उपेक्षा को भी प्रकट करता है।

मुद्रा की सतह १२०० कोटि रु० तक बढ़ाकर और क़ीमतों को १५० प्रतिशत से ऊपर बढ़ने देकर सरकार ने

जनता के प्रति अपने कर्तव्य की भारी अवहेलना की है। चलन में मुद्रा के बढ़ने और क़ीमतों के चढ़ने के फलस्वरूप जब सरकारी कर्मचारी हड़ताल करने की धमकी दे रहे हैं, तब अर्थ-सदस्य ने मुद्रास्फीति की ओर बढ़ाने के लिए स्वर्ण और चाँदी पर और जकात लगाया है। इससे मुद्रास्फीति और फुलाव में और वृद्धि ही होगी।

बजट के पीछे कोई योजना नहीं है। चलते चलन में नित्य बढ़ रही मुद्रा को कम करने और क़ीमतों की सतह नीची करने की कोई कोशिश नहीं की गई है। यदि जीवन-निर्वाह का व्यय कम कर दिया जाय, तो सरकारी कर्मचारियों की ओर से हड़ताल करने की धमकी भी न दी जाय।

शाब्दिक सहानुभूति

सेना और युद्ध-उद्योगों से अलग किये गये २० लाख लोगों को काम देने की कोई योजना अर्थ-सदस्य ने पेश नहीं की है। उनके प्रति सर आर्चीबाल्ड ने केवल शाब्दिक सहानुभूति भर प्रकट की है। सेना-विसर्जन की योजना पूरी है, मगर उनको काम पर लगाने की कोई योजना नहीं है। बजट एकमात्र ऊँचा चिल्लानेवालों को सन्तुष्ट करने के उद्देश्य से बनाया गया है। भारतीय आर्थिक तन्त्र की सुव्यवस्था का सारा भार राष्ट्रीय गवर्नमेंट पर डाल दिया गया है। देश भर में आर्थिक शान्ति स्थापित करने के लिए जीवन-निर्वाह का व्यय कम करना, मुद्रास्फीति को रोकना और चलन में मुद्रा की मात्रा को कम करना आवश्यक है। पर यह भार राष्ट्रीय गवर्नमेंट पर छोड़ दिया गया है।

मगर सर आर्चीबाल्ड अँगरेज़ों के हित को नहीं भूले। अँगरेज़ों के वेतन और पेंशन की उन्होंने पूरी व्यवस्था की है और ब्रिटेन के सैनिक व्यय को पूरा करने में जो सहायता दी जा सकती थी, वह भरपूर मात्रा में दी गई है।

अर्थ-सदस्य के बजट में ७०·१६ करोड़ रु० का घाटा है। इसको पूरा करने के लिए 'वार रिस्क इंशुरेन्स फंड' का २६·१ करोड़ रुपया इधर डाल दिया गया है, और घाटा ४४·०६ करोड़ दिखाया गया है। पर यह घाटा अकेले तम्बाकू से पूरा हो सकता था। तम्बाकू को प्रान्तिक आय के स्रोत से केन्द्रीय आय के स्रोत में पिछले वर्ष सम्मिलित किया गया था। पर अभी तक इसका कोई लाभ सरकार ने नहीं उठाया। यही बात मृत्यु-कर के सम्बन्ध में है। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने एक क़ानून बनाया, जिससे मृत्यु-कर लगाया जा सके। मगर अतिरिक्त आय-कर हटा दिया गया और यह कर अब तक नहीं लगाया गया। यदि सरकार के सामने कोई योजना होती तो वह इस प्रकार आय के इन स्रोतों की उपेक्षा न करती और न बजट घाटे का रहता। सर आर्चीबाल्ड के सामने ब्रिटेन और उसके पोषक और समर्थकवर्ग का ही हित मुख्य था। सर्वसाधारण जनता का हित उनके सामने नहीं था। फलतः बजट न केवल निराशाजनक है, बल्कि योजनाशून्य भी है।

गीत

श्रीतुलसीदास शर्मा "नवल"

कौन-सा ये गीत गाया,
जगत जिससे तिलमिलाया।

वेदना की बात गहरी,
सुन रहा है कौन प्रहरी।
आज जी में एक ठहरी,
भग्न स्वर में तान फहरी।
आज तक जिसको छिपाया,
कौन-सा ये गीत गाया।

आह! स्मृति का यह प्रकम्पन,
दे रहा है दुःख प्रतिक्षण।
कर रहा मन आज नर्तन,
व्यर्थ है करना नियंत्रण।
पथिक, बरबस जो सुनाया,
कौन-सा ये गीत गाया।

उलझते हैं शब्द आकर,
शान्ति पाते कुछ सुनाकर।
व्यथित होकर गीत गाकर,
चैन क्यों मिलता छिपाकर।
हूक ने सत्वर कहाया,
कौन-सा ये गीत गाया।
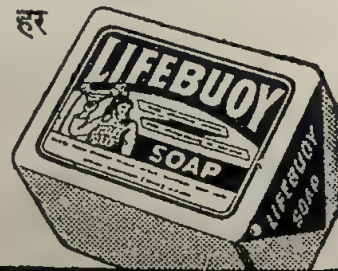
उच्छ्वास

सुश्री इंदु

['उच्छ्वास' नामक वेदना-प्रधान काव्य-पुस्तिका का एक अंश]

निस्सीम गगन के उर पर
थीं छहरी श्यामल अलकें।
स्वप्नों के रज को आँजे
अलसित थीं तम की पलकें। १।

था दूर क्षितिज चुप-चुप-सा
कोलाहलमय दुनिया से।
उन प्रभा-पूर्ण तारों में
ज्वाला के मधुर पुलक से। २।

निशि के कुंतल में गूँथे
मोती के लघु-लघु हिमकण।
शूलों से निशि भर दीपित
जल-जल उठता मृदु जीवन। ३।

मलयज की तप्त उसासें
कलियों की प्याली में भर,
भीगे सौरभ की लहरी
सुमनों की सेज बिछाकर। ४।

अपने मीठे क्षण-क्षण की
मैं गूँथ रही थी माला,
विस्मृत सुध की पलकों में
घोले प्रिय स्वप्निल हाला। ५।

पावस घन-से उमड़े तुम
इस शून्य हृदय में आकर,
चिर जीवन का प्यासा उर
छलनामय तुमको पाकर। ६।

विस्मृति की रात सुनहले
मधु पल में परिणत होती।
उर-कलिका मधु भर पाने
अलिनी का गान बिछाती। ७।

भीगे नभ - निःश्वासों से
तृण-तृण में मद-आकर्षण,
खुल पड़े चंचु चातक के
प्यासे उर पाने मधुकण। ८।

बजता दामिनि का कंकण
घन की आलोक-लहर में,
झुकती थीं नीरव पलकें
मादक उस मिलन-प्रहर में। ९।

कंपित दिगंत आँगन में
दामिनि का चंचल नर्तन।
फिरते विस्मित घन-शावक
भर-भर आते हैं लोचन। १०।

घन के नूपुर-से बिखरे
रिमझिम का मादक सीकर,
शीतल समीर द्रुत आता
मधु से अंजलि को भरकर। ११।

चंचला स्नान कर आती
तेरे द्रुत स्पंदन में,
करुणा से गीले बादल
मेरे उस महामिलन में। १२।

तेरे श्वासों के पुलकों
से झड़ते मृदु सावन-घन,
प्रिय तेरे मन-दर्पण में
यह सजल-सजल मेरा मन। १३।

ललचाये अधरों में भर
प्रिय प्राण पपीहा का स्वर,
गा ले मलार कुछ क्षण तू
उर की जर्जर वीणा पर। १४।

शापित यक्षिनि - सी मेरी
सुन करुण कहानी उन्मन,
कह आता परदेशी से
उड़ विहग-बालिका सा घन। १५।

भिक्षुकी की झोली में तू
यदि करुणा-कण बरसाता,
तो आज हृदय यह मेरा
इतना न विकल हो पाता। १६।

नभ-पथ लीपा संध्या ने
लेकर सुहाग की रोली,
बरसाने के हित भर-भर
लाई निशि तारक-झोली। १७।

रच चरणों में मृदु जावक,
आँसू से भीगीं पलकें,
सिर पर अवतंस नखत का
बिखरी हैं तम की अलकें। १८।

जूही की चंचल कलियाँ
जुगनू के दीप सँजोतीं।
उर्मियाँ सिंधु की फेनिल
बुद-बुद का गान पिरोतीं। १९।

संध्या सुहाग में लिपटी
खिल स्वर्ण-मल्लिका सुरभित,
पल्लव नव अवगुंठन में
केसर पट कुंकुम रंजित। २०।

उज्ज्वल फेनिल अंचल पर
लघु रजत-रश्मियाँ कंपित।
हिम-कण का चुंबन बिखरा
मद भरे प्रेम से शंकित। २१।

कृष्णाभिसारिका-सी वह
निशि के सुनसान महल में,
तारों का दीप जलाये
बैठी प्रियं मिलन-पहर में। २२।

मदपूर्ण निशा के उर का
विधु पात्र हुआ अब खाली,
सपने का आसव पीकर
यह दुनिया है मतवाली! २३।

पद चूम रहा था तेरे
मेरा निःश्वास निरंतर।
भर-भर कर लाता करुणा
फिर-फिर कर साँसें अंतर। २४।

मैं एक तृप्ति का सौ-सौ
संसार कर रही संचित।
अपनी परछाईं भोले
तेरी छवि में कर अंकित। २५।

अगणित पाटल-से कोमल
वह रूप मनोहर तेरा।
लज्जानुरक्त लोचन को
था मधु पराग ने घेरा। २६।

इन चोखी चल चितवन से
बिंध कर चकोर का जीवन—
है माँग रहा प्यासा-सा
तुझसे ज्वाला का मधुकण। २७।

मकरंद पगी केसर-सी
मुख की मुक्ता की पाँतें;
हिम हीरक-से बिखरे हैं
सौरभ पी-पीकर माते। २८।

तेरी काली अलकों में
नीलम की अली उलझती।
नभ की वे श्याम घटाएँ
हैं दीख रही सकुचाती। २९।

मदमत्त मयूरों ने जब
काली पुतली को देखा,
जागी अभिनव अभिलाषा
सूने में नर्तन सीखा। ३०।

उस छाया को छूने हित
आता, मलयानिल हौले,
तृण चौंक न पाये किंचित
पल्लवदल सिहरें डोले। ३१।

मुसकान गुलाबी मधु से
अरुणा का चूनर रंजित,
कुछ सांध्य गगन पर बिखरे
कुछ पाटल उर पर अंकित। ३२।

उस मोहमयी सुषमा पर
खिलती लज्जा की लाली,
उसमें भी मैंने अपनी
जीवन-अक्षय निधि पा ली। ३३।

तेरी असीम किलकन से
मुखरित मेरा सूनापन,
तेरी छाया के तल में
बेसुध पाया अपनापन। ३४।

मधु से उर को भर पाने
कलि ने पँखुरियाँ खोलीं।
सुख - राशि मधुर वेला में
चंचल वतास बन डोली। ३५।
मद से थी रात उनींदी,
प्रिय मेरा मन खोया-सा।
इच्छा के सोने का पर
मोती-जल से धोया-सा। ३६।
जड़ता थी चुप - चुप सोई
चेतनता के कोने में।
जीवन की साध सुनहली
थी मचल रही अणु-अणु में। ३७।
प्यासी आँखों ने जिस दिन
तव छवि को पल भर निरखा,
सौरभ की साँसों से मिट
तुझमें मिलना ही सीखा। ३८।
तुम मैं थे और बनी मैं—
तुम, निशि भर अलख जगाती,
युग के शत-शत बंधन को
पल-छिन में तोड़ मिटाती। ३९।
पुलकित आकुल मेरा मन
पा तुझ-सा शीतल हिमकर।

गिन-गिन मुक्ता की पाँतें
बरसाता रस का निर्झर। ४०।
युग के निर्मम तुम बिछुड़े
आये सूनी कुटिया में,
थे चरण तुम्हारे धोये
दृगजल की मधुधारा में। ४१।
हो स्वर्ण विहान न पाये,
खुल जाय न केसर का पट,
निशि की अलकों से बाँधूँ
मतवाली अरुणा घूँघट। ४२।
विद्रुम पंखी मेघों-से
मिटते पल-पल हैं बेकल,
तेरे असीम उर तट को
छू भर आने को केवल। ४३।
सौरभ की सेज बिछाकर,
पलकों की चादर ताने,
अरमान सजग बैठा है,
चिर पाहुन से मिल पाने। ४४।
प्रिय सजग बनी ये पलकें
हैं आज न झिपनेवाली,
तुम भाग न जाओ शंकित
पुतली करती रखवाली। ४५।

गीत

सुश्री इंदु

स्निग्ध आज जीवन की घड़ियाँ
प्रिय पाहुन आनेवाले हैं!

देख चमक संध्या के तारे
निशि आ उस पर मोती वारे,
मंथर रजत - रश्मियाँ आतीं
जग में मधुमय हास बिखेरे!
उस अनादि का बंधन खोले
आज नयन दो मतवाले हैं!

रजनी के नीलम मंदिर के—
खोले वातायन को धीरे,
पुरवैया सखि आ छौले पग,
पगध्वनि से मृदु श्वास न सीरे!
आशा-किरण जला जा दीपक
युग के बिछुड़े से मिलना है!

मानस की मधु-मदिरा पीकर
सुधि के नाच उठे मधु सपने।
झीनी डाल पलक की चादर
मिल लूँगी पाहुन से अपने।
झूम विश्व के आँसू को पी
कतने आतप को झेला है!

अंतहीन तम के अंतर में
बेसुध सो जा मधुर वेदने!
निर्भय हो नयनों के मधु-कण
प्रिय के पदरज को धो पाने।
खोज रही मैं उसकी स्मिति
आज पुतलियों के पहरे हैं!

विनोलिया व्हाइट रोज साबुन

VWR. 19-23 HI

VINOLIA COMPANY LIMITED, LONDON, ENGLAND

वैभव की लूट

प्रो० श्रीसत्यप्रकाश संगर एम्० ए० (आनर्स)

पूर्णिमा की रात्रि थी। वसंत की पूर्णिमा। जनसमूह उद्यानों में एकत्र थे। गृह-पाटन पर मेला लगा था। नदी पर नर-नारियों की भीड़ थी।

रजनी असामान्य श्रृंगार से सुसज्जित इठला रही थी। तेज और ज्योति की प्रतिमा प्राची से उठी और गर्वित चाल में बढ़ी। अपूर्व सौंदर्य! असीम प्रतिभा! शुभ्र ज्योत्स्ना! संसार का हृदय उन्मत्त हो उठा था। वियोग-पीड़ित हृदयों को सांत्वना मिली। शायद शशि-दर्शन से ही उपचार हो पावे। राकेश-चुम्बन की लालसा समुद्र की लहरों को उन्मत्त किये ही थी। अमावस का निविड़ अंधकार अपने को समेटकर वृक्षों के नीचे आ छिपा। प्रति रात्रि रजनी का श्रृंगार करनेवाले दीपक आँखें बंद कर सो गये। शशि के वैभव से वशीभूत होकर उन्होंने अपना प्रकाश समेट लिया। अथवा नित्य क्रमबद्ध प्रकाशमान होकर थक गये थे। पूर्ण प्रभुत्व और सम्पन्न राज्य था रजनी-कान्त का। न जाने उसका ध्येय क्या था! काश मुझमें कवि का हृदय होता और पूछता—

"शशि, किस विचार से इतने तारागण दलित कर बढ़े जा रहे हो? क्या होगा अन्त इस यात्रा का?"

पर वह क्यों सुनने लगा! वह तो दोनों हाथों से रात्रि के वैभव को समेट रहा था, रजतकुंजों में जा विहार कर रहा था। एक आह निकल गई—"क्या लुटना ही बदा है इसके भाग्य में!"

कुछ दिन बाद। सुन्दर प्रातःकाल! नभ में वारिद जैसे भूतल पर शिलाओं के खंड हों। श्रवणप्रिय था विहगों का रोर! सौंदर्य का साम्राज्य और माधुर्य का आधिपत्य!

आकाश में घूम रहा था रजनीकर। प्रतिभा-हीन! मलिन था मुख और देह थी क्षीण! वैभव लूटनेवाला अपना वैभव लुटा चुका था। उस जीवन-रहस्य से अनभिज्ञ को यह न ज्ञात था कि प्रभुत्व, सत्ता और यौवन अस्थायी होते हैं। पूर्णिमा सर्वदा नहीं रहती। चार दिन पूर्व वह सम्राट् था। आज है वह अकिंचन। उस दिन था वह असंख्य हृदयों का केंद्रस्थल और आज आकर्षणशक्ति से वञ्चित है! कविहृदय फिर इस प्रश्न के लिए उतावला हो उठा—

"राकेश! क्यों व्यथित हो इतने? शायद दुःख और लज्जा की प्रचुरता तुम्हें दबा रही है? शायद तभी मेघ-शिलाओं में छिपने का ठौर ढूँढ़ रहे हो! तुम कहोगे, घोर अन्याय है। किन्तु यह है जगत्! और यहाँ विकराल है काल का चक्र।"

गीत

श्रीदेवनाथ पाण्डेय 'रसाल'

दीप तट का!

यामिनी की कालिमा में हास करता,
श्याम लहरों में प्रकाश अनूप भरता,
स्नेह के अभिमान में प्रतिक्षण पला लघु
दर्प से है जल रहा प्रतिपल चमकता,
क्षुद्र प्राणी है अरे जो नियति-पट का॥ दीप०॥

कालिमा से था भरा इसका हृदय जब,
कालिमा ही था छिपाये हृदय में सब।
दूसरों को पर प्रकाश दिखा रहा है।
नित्य यह सबको सुनीति सिखा रहा है।
कौन इसके सामने है राह भटका? दीप तट का॥

भारतीय वर्तमान शिक्षा और उसके दुष्परिणाम

श्रीरामनिवास शर्मा भू० पू० सौरभ-सम्पादक

भारतीय वर्तमान शिक्षा अत्यन्त ही दूषित, अस्वाभाविक, अनुपयोगी और अशास्त्रीय है। इसका प्रधान कारण यह है कि इस शिक्षा का वास्तविक शिक्षण-विज्ञान और शिक्षण-कला से कोई सम्बन्ध नहीं है।[1] फिर यह उद्देश्यहीन और साधनाहीन भी है। इसमें मानवीय प्रमुख तत्त्वों के विकास का भी ख़याल ठीक तरह नहीं रक्खा जाता है, और न व्यावहारिक साधारण और असाधारण आवश्यकताओं की साधना-आराधना का ही। जीवन क्या वस्तु है और वह कैसे प्राप्त किया जाता है, इत्यादि बातें तो इसमें सर्वथा भुला दी ही जाती है। संरक्षण और आक्रमण की शक्तियों की रक्षा-दीक्षा के ख़याल की भी इसमें परवा नहीं की जाती। साथ ही इसमें यह बात तो बिलकुल नगण्य समझी जाती है कि व्यष्टि और समष्टि की दृष्टि से हम कौन हैं? कैसे हैं? कहाँ हैं? हमारा कर्तव्य क्या है? और हमारी शिक्षा में इन बातों का समाधान भी है या नहीं?

शिक्षा और मनुष्य की तात्त्विक वास्तविकता

मानव प्राणी अनेक लोगों की दृष्टि में राजनीतिक जीव है। कुछ लोग इसे सामाजिक भी मानते हैं। ऐसे लोगों की भी कमी नहीं है जो इसे धार्मिक समझते हैं। इन विभिन्न दृष्टियों से यही समझ में आता है कि मनुष्य के मुख्यतः तीन रूप हैं। एक सामाजिक, दूसरा राजनीतिक और तीसरा धार्मिक। परन्तु हम देखते हैं कि हमारी वर्तमान शिक्षा में मानवीयता के इन तीनों अंगों के विकास का ख़याल नहीं रक्खा जाता। इसका प्रमाण यह है कि अपने छात्रों में हमें सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक भाव-भावनाएँ विकासोन्मुख नहीं दीखतीं।[2] राजनीति के विषय में यदि कहीं कुछ सिखाया जाता है तो वह योरप के राजनीतिक तत्त्वों की स्थूल सी रूपरेखा ही होती है। परन्तु उसमें भी भारतीय प्रकृति-विकृति का ख़याल नहीं रक्खा जाता। साथ ही वर्तमान अन्तर्जातीय और सार्वभौम समस्याओं का भी उसमें अभाव-सा ही रहता है। यही दशा समाज-शास्त्र की भी है। उसमें भी अनेक दोष हैं। मुख्यतः भारतीय आदर्श समाज-शास्त्र का तो उसमें प्रवेश तक नहीं है। धार्मिक शिक्षा की दशा तो इन दोनों से भी ख़राब है। इसका तो अभी कहीं ठीक-सा अस्तित्व भी मालूम नहीं होता।

यह है हमारे शिक्षा-क्रम की दशा। ऐसी दशा में क्या यह शिक्षा सैद्धान्तिक दृष्टि से भी हमारे परम्परागत वैयक्तिक और जातीय गुणों का विकास करने और प्रकाशक हो सकती है? क्रियात्मक दृष्टि की तो बात ही दूर है।

शिक्षा और संस्कृति

शास्त्रीय दृष्टि से शिक्षा का प्रधान उद्देश्य जातीय और मानवीय आदर्श संस्कृति का विकास और प्रचार-प्रसार है। हम देखते हैं कि हमारी शिक्षा अभी इन बातों से भी बहुत दूर है। जातीय संस्कृति की शिक्षा का तो हमारे विद्यालयों में नाम लेना भी अभी पाप समझा जाता है। यही कारण है कि इस शिक्षा से हमारे विद्यार्थी अपनी संस्कृति के वास्तविक रूप से प्रायः अनभिज्ञ ही रहते हैं। वे यह भी नहीं जानते कि हिन्दू-संस्कृति क्या है? इसी का यह परिणाम है कि हमारी विश्व-वंद्य राजनीतिक, सामाजिक और धार्मिक संस्कृति, जिसके गीत बड़े-बड़े वैदेशिक विद्वान् अब तक गा रहे हैं, मरणोन्मुख हो रही है, अनेक की दृष्टि में तो एक तरह से उसका जनाज़ा ही निकल चुका है। ऐसी ही दशा मानवीय आदर्श संस्कृति[1] की भी है।

शिक्षा और उद्देश्याभास

हमारी शिक्षा का वस्तुतः कोई सच्चा उद्देश्य भी

---

१. इसमें सर्वत्र ही प्रायः वस्तु, वस्तु-तत्त्व और वस्तु-स्थिति की अवहेलना की जाती है और मनोवैज्ञानिक शुद्ध पाठ-विधि की उपेक्षा।

२. और न उनमें संगठन-शक्ति और आत्म-भाव की जागृति ही दिखाई देती है, जो कि मानवता की द्योतक और विकास करनेवाली है।

१. इस संस्कृति का तो आजकल प्रायः नवीन संसार में सर्वत्र गला ही घोटा जा रहा है।

नहीं है? हमारे अधिकांश विद्यार्थी ठीक तरह से यह भी नहीं जानते कि उनकी शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य क्या है? हाँ, कुछ लोगों की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य अँगरेज़ी भाषा का अध्ययन-अध्यापन अवश्य है। कौन नहीं जानता कि किसी शिक्षित व्यक्तित्व की प्रशंसा में हम सदैव उसकी भाषा-विज्ञता की ही तारीफ़ करते हैं, न कि उसके आचार-विचार आदि की। हृदय की मनोहरता, मस्तिष्क की उत्पादकता और वैज्ञानिक आविष्कार-परिस्कार की बात करना तो हमारे यहाँ एक अपवादात्मक बात है। हाँ, कहीं-कहीं कभी विस्तृत स्वाध्याय की बात अवश्य सुनाई पड़ती है। परन्तु यह भी हमारी शिक्षा के उद्देश्याभास का ही परिणाम है। अन्यथा केवल चर्वित-चर्वण तो शिक्षा का वास्तविक उद्देश्य कहा ही नहीं जा सकता।[1]

कुछ लोग शिक्षा का उद्देश्य अँगरेज़ी-साहित्य का पढ़ना-पढ़ाना भी समझते हैं, परन्तु यह भी उद्देश्याभास ही है; क्योंकि साहित्य तो आत्म-प्रकाश है, उसकी सच्ची शिक्षा तो स्व-साहित्य और स्व-भाषा के द्वारा ही दी जा सकती है। ऐसे भी मनुष्यों की कमी नहीं है जो साधारण कला-कौशल और व्यापार की शिक्षा को ही शिक्षा का उद्देश्य मानते हैं, किन्तु ये सभी शिक्षा के गौण उद्देश्य हैं, मुख्य नहीं। फिर इनमें भी हमारा दृष्टिकोण हो, तभी इनसे हमें लाभ हो सकता है।

अधिक लोग ज्ञान-विज्ञान के आदान-प्रदान को ही शिक्षा का उद्देश्य समझते हैं; किन्तु आदान-प्रदान शिक्षा का तात्विक साध्य नहीं है। यह तो एक नैमित्तिक बात है। शिक्षा का उद्देश्य उदर-पोषण भी कहा जाता है; परन्तु यह भी अधम नहीं तो साधारण अवश्य है, और यह शिक्षा का निरपेक्ष उद्देश्य तो हो ही नहीं सकता। फिर जो जाति अभ्युदय और निःश्रेयस् के गीत गाती है, उसके बालकों की शिक्षा का उद्देश्य क्या केवल उदर-पोषणमात्र ही पर्याप्त हो सकता है।[2] इस तरह हम देखते हैं कि हमारी शिक्षा का उद्देश्य ही अभी अवास्तव, अपूर्ण और अप्रयुक्त है।

कुछ ऐसे भी व्यक्ति हैं जो शिक्षा का उद्देश्य निम्न-लिखित बातों को ही समझते हैं—

१. परीक्षाएँ पास करना।

२. नौकरी करना।

३. राजनीति में भाग न लेना।

४. प्रत्येक नये आन्दोलन से सदा भयभीत रहना।

५. अपने देश की नई और पुरानी प्रत्येक उपयोगी बात को अनादर की दृष्टि से देखना।

शिक्षा और भारी अन्धेर

हमारे विश्वविद्यालयों की शिक्षा में कुछ महा अन्धेर की बातें भी हैं। उनमें से कुछ मुख्य बातें ये हैं—

कलाकुमारों को प्रायः इस बात का भी पता नहीं होता कि कला क्या वस्तु है? और उन्होंने कौन-सी कला कालेज में पढ़ी है? हमने अनेक विज्ञ कला-कुमारों से यही सुना है कि विद्यालयों में उन्हें Art of Writing (लेखन-कला) ही सिखाया जाता है। प्रायः अधिक छात्र यह भी नहीं जानते कि काव्य भी कला है या नहीं और यदि है तो क्या और कैसे? अनेक व्यक्ति कला के वर्गीकरण को भी ठीक तरह से नहीं समझते। वे यह भी नहीं जानते कि काव्य ललित कला के अन्तर्भुक्त है और इसी लिए वह कला है, और उपलक्षण से नाटक आदि भी कला में ही सम्मिलित हैं।

जब कला की परिभाषा के स्पष्टीकरण के विषय में इतने झगड़े-टंटे हैं, और प्रायः विद्यार्थी कला के वास्तविक अर्थ को ही ठीक तरह से नहीं समझते, तब फिर कला-साहित्य के स्वारस्य का उपभोग वे पूर्णतः कैसे कर सकते हैं?

ऐसे विद्यार्थियों की संख्या तो और भी अधिक मिलेगी जो कला, काव्य, सौंदर्य-तत्त्व और साहित्य के परस्पर-सम्बन्ध को भी ठीक तरह से नहीं जानते। फिर इतिहास-दर्शन आदि कलात्मक विषय क्यों हैं, और उनमें उत्तीर्ण होनेवाला विद्यार्थी कला-कुमार क्यों कहलाता है, इन बातों का जानना तो दूर की बात है। काव्य, संगीत और चित्रकला आदि के आपस के वास्तविक सम्बन्ध की जानकारी से तो प्रायः अधिकांश छात्र वंचित रहते हैं। विशेषतः वे विद्यार्थी, जो कालेज में हिन्दी नहीं लेते।

विज्ञान-कुमार निःसन्देह कलाकुमारों की अपेक्षा अपने विषय को कुछ अधिक समझते हैं। परन्तु उनको भी प्रायः विज्ञान-सम्बन्धी निम्नलिखित साधारण बातों का भी ठीक तरह से ज्ञान नहीं होता—

---

१. अनेक विद्वानों की दृष्टि में शिक्षा का उद्देश्य जातीय और मानवीय संस्कृति के साथ-साथ मानव अतिमानव-कला का विकास-प्रकाश है।

२. किन्तु दुःख है कि इसमें भी हम ऋणांक ही ला रहे हैं।

१. विज्ञान की लाक्षणिकता और पारिभाषिकता क्या है और वैज्ञानिक व्याख्या किसे कहते हैं ?

२. तर्क का विज्ञान के साथ विच्छेद्य सम्बन्ध क्यों है ?

३. वैज्ञानिक स्वतःसिद्ध सचाइयाँ क्या हैं ?

४. प्रकृति की एकरूपता (Uniformity of Nature) और उसके लाभ क्या हैं ?

५. विज्ञान और दर्शन एक ही वस्तु हैं या नहीं ? यदि एक ही हैं तो क्यों ?

६. 'भूगोल' विज्ञान क्यों नहीं है और गणित आदि क्यों हैं ?

७. आविष्कार और परिष्कार में क्या अन्तर है ?

८. रचना का गुरुमंत्र क्या है और इससे सृष्टि-नैपुण्य और अनुमितानुमिति का क्या सम्बन्ध है ?

९. वैज्ञानिक परम्परा किसे कहते हैं।

१०. वास्तविक वैज्ञानिक रुचि, दृष्टि और मनोवृत्ति का क्या अभिप्राय है ?

इन बातों के सिवा संसार की वर्तमान विचार-धारा क्या है, विज्ञान कितना उपयोगी है, आजकल इसका सदुपयोग हो रहा है या दुरुपयोग आदि बातें भी प्रायः संदिग्ध-सी ही रहती है।[1]

शिक्षा और लोमहर्षण-परम्परा

इस शिक्षा से हमारे देश में एक बड़ी ही समाज-घातक और जीवन-नाशक लोम-हर्षण-परम्परा भी चल पड़ी है, जिससे समस्त जाति की व्यावहारिक सत्परम्परा अस्त-व्यस्त और नष्ट-भ्रष्ट होती जा रही है। वह यह है कि प्रत्येक व्यक्ति में कुछ वंश-परम्परागत और हिन्दू-दृष्टिकोण से पूर्व-जन्म-कालीन संस्कार होते हैं। दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि इस शिक्षा में उन संस्कारों के विकास-प्रकाश का कुछ भी प्रबन्ध नहीं है। इसमें तो यहाँ तक अनर्थ होता है कि विद्यार्थियों की रुचि की भी परवा नहीं की जाती। उनके लिए प्रारम्भ से ही कुछ विषय अनिवार्य रहते हैं। फल यह होता है कि उनकी स्वाभाविक, जातीय और वंश-क्रमागत परम्परा नष्ट हो जाती है और इस स्वभाव-विरुद्ध शिक्षा-क्रम से उनमें एक नये, किन्तु कृत्रिम व्यक्तित्व का प्रादुर्भाव हो जाता है। फिर इसका परिणाम यह होता है कि वे जीवन में किसी भी काम के नहीं रहते। एक विद्वान् लिखता है—

"भारतीय आधुनिक शिक्षा कृत्रिम और अस्वाभाविक है। इससे विद्यार्थियों की जातीयता व स्वाभाविकता प्रायः मृतप्राय-सी हो जाती है। फिर इस अस्वाभाविक शिक्षा और मृतप्राय स्वाभाविकता का सहयोग या आधार-आधेय-भाव विद्यार्थियों में एक विचित्र प्राणी को उत्पन्न करता है। इससे जीवन-संग्राममें वे पनपने नहीं पाते। स्वभावतः जिस धन्धे के योग्य हो सकते थे, इस अस्वाभाविक शिक्षा से वे उसके योग्य भी नहीं रहते, और यदि दुर्भाग्यवश उन्हें धन्धा भी इस कृत्रिम या अस्वाभाविक शिक्षा के प्रतिकूल मिला तो उससे उनकी रही-सही स्वाभाविकता और शिक्षात्मक कृत्रिमता दोनों ही मृतप्राय हो जाती हैं और उनमें फिर एक नये प्रकार के जीर्ण-शीर्ण व्यक्तित्व का आविर्भाव होता है। वह भी अपने अस्तित्व को पुष्ट करने के लिए पहले मृतप्राय व्यक्तित्व के भस्मावशेष से ही अपनी ख़ूराक बटोरता है। इस तरह एक ही शरीर में, एक ही आधार में विभिन्न व्यक्तित्वों और तत्त्वों का संग्राम छिड़ जाता है। ऐसी दशा में ऐसे व्यक्तियों के लिए संसार के विकट जीवन-संग्राम में विजय-लाभ करना क्या कोई आसान बात हो सकती है ?

इन सब बातों का तात्त्विक विवेचन यह है कि इस शिक्षा से रुचि के अनुकूल ज्ञान और कार्य-शीलता का विकास नहीं होता और न ज्ञान और कार्यशीलता में स्वाभाविक ऐक्य ही उत्पन्न हो पाता है। फिर विरुद्ध वृत्ति और भी ग़ज़ब ढाती है। इस तरह इन सब क्लेशों में कर्तव्य-रस उत्पन्न ही नहीं हो पाता। यदि इस अस्वाभाविक दशा में कर्तव्य-रस किसी तरह थोड़ा बहुत उत्पन्न भी हुआ तो तदनुकूल रुचि, बुद्धि, ज्ञान, योग्यता और कार्य-क्षमता के अभाव में वह ठीक तरह फूलने-फलने नहीं पाता। इसका यह कुपरिणाम होता है कि हमारे विद्यार्थी किसी भी कार्य को चतुरता और उदारता के साथ समुचित रीति से नहीं कर सकते।

यह है हमारी शिक्षा की लोम-हर्षण-परम्परा। फिर यही परम्परा वंशानुक्रम में विकासोन्मुख हो ऐसे ही विचित्र वंश और जाति के निर्माण का कारण बनती है। अर्जुन के शब्दों में इससे फिर त्रिविध प्रकार की संकरता उत्पन्न होती है और साथ ही नाश के अनन्त द्वार भी खुल जाते हैं। हम प्रत्यक्ष देख

---

१. हमारी प्रारम्भिक और माध्यमिक शिक्षाओं की भी ऐसी ही दशा है।

रहे हैं कि आजकल हमारे यहाँ इसी घातक परम्परा का दौर-दौरा है।

शिक्षा और मातृभाषा

इस शिक्षा में हमारे सुकुमार बालकों को अनेक विषय अँगरेज़ी भाषा में, वे भी मातृ-भाषा की प्रतिद्वन्द्विता में, और ऐसे समय में, सिखाये जाते हैं, जब कि उन्हें दोनों ही भाषाएँ ठीक तरह नहीं आतीं। हमारे ख़याल से यह संसार का सबसे बड़ा आश्चर्य है। इससे विद्यार्थी एक साथ दोहरे कष्ट में पड़ जाते हैं। उन्हें विषयों के ज्ञान के साथ-साथ ही दो भाषाएँ भी सीखनी पड़ती हैं। साथ ही यह काम तब शुरू होता है, जब कि उनकी मातृ-भाषा और परम्परागत ज्ञान के विकासोन्मुख रखने की आवश्यकता होती है, जो कि उनके वास्तविक व्यक्तित्व जीवन और जातीयता के कारण है।[1]

इस अवैज्ञानिक शिक्षा-क्रम का एक फल यह भी होता है कि विद्यार्थियों की विकासोन्मुख मानसिक शक्तियों को चोट पहुँचती है, उनके शारीरिक विकास को भी धक्का लगता है और कुसमय और विपरीत अवस्था में बलात् सिखाये गये वे विषय भी उनमें ठीक तरह विकासोन्मुख नहीं हो पाते।[2]

क्या कोई कह सकता है कि यह बात शरीर-विज्ञान, मनुष्य-तत्त्व, जाति-तत्त्व, मनोविज्ञान और शिक्षा-विज्ञान के अनुकूल है और क्या संसार के दूसरे देशों में भी ऐसा ही हो रहा है? वहाँ भी ऐसे ही हठवाद और दुराग्रह से काम लिया जाता है? अबोध बालक ऐसी ही कृत्रिम शिक्षा की तलवार की धार पर उतारे जाते हैं और क्या कोमलशरीर और कोमल-मति बालकों और बालिकाओं के साथ किया गया यह अन्याय वहाँ असभ्य भी समझा जाता है?

इस विषय में एक शिक्षात्मक बात यह भी है कि भाषा और विचारों का पारस्परिक गहरा सम्बन्ध है। विचार भाषा-मय होते हैं और भाषा विचारमय। साथ ही शब्दों और उनके वाच्य पदार्थों का सम्बन्ध भी लगभग ऐसा ही है। ऐसी दशा में किसी विषय के बीज-वपन की सच्ची भूमि मातृ-भाषा ही हो सकती है, और यह इसलिए भी कि उसमें स्वभावतः अनेक विषय पहले से ही थोड़े बहुत विकासोन्मुख रहते हैं। फिर प्रारम्भ से ही विदेशी भाषा में सिखाये गये विषय सोलहों आने विद्यार्थियों के मन की ख़ूराक भी तो नहीं हो सकते। यही कारण है कि पूर्ण प्रकृति में रहनेवाले और पूर्णतः विकासोन्मुख हिन्दू-जाति के अधिकांश विद्यार्थी अपने-अपने विषयों में जैसे चाहिए वैसे व्युत्पन्न नहीं हो पाते। यहाँ यह कह देना भी अनुचित न होगा कि विदेशी भाषा का शिक्षा-माध्यम छात्रों के साथ घोर अन्याय का कारण है; क्योंकि इससे न वह भाषा उत्पादक सिद्ध होती है और न उसमें सिखाये गये विषय ही रचनात्मक हो सकते हैं। फिर भाषा-शास्त्रियों के मत से विषय का पढ़ना मुख्यतः छात्र का विषय है और भाषा का सिखाना गुरु का। परंतु, हमारी शिक्षा में ऐसा नहीं होता। इसमें तो भाषा और विषय दोनों ही पूर्णतः गुरु को सिखाने पड़ते हैं। और ऐसा इसलिए होता है कि बहुत दूर तक ये दोनों चीज़ें प्रायः साथ-साथ चलती रहती हैं। इससे विद्यार्थियों की विचार, क्रिया और अनुभूति आदि शक्तियाँ भी निष्क्रिय हो जाती हैं और अनेक दशाओं में मृतप्राय भी। फिर कुसमय में सिखाई गई विदेशी भाषा न केवल शब्दों और वाग्व्यवहारों (Idioms) को ही अपने साथ लाती है, अपितु भाषा-गत और विषय-गत गणनातीत वैदेशिक घातक विचारों और संस्कारों को भी साथ लाती है जो कि छात्रों के तर्क-हीन मानस-जगत् में बद्ध-मूल होकर उनकी जातीयता और आशा-जनक भविष्य को नष्ट-भ्रष्ट कर देने का कारण बनते हैं।

शिक्षा और शिष्य

वर्तमान शिक्षा में एक दोष यह भी है कि इसमें

---

१. मात्रा और बिन्दु-विसर्ग के लिखने की अच्छी और बुरी विधियों का भी बालकों की शारीरिक, मानसिक और नैतिक शक्तियों पर प्रभाव पड़ता है। फिर ऐसी दशा में यह त्रुटि तो बहुत बड़ी है।

२. इसका एक दुष्परिणाम यह भी होता है कि ऐसे व्यक्तियों में Expression (प्रकाशन) और Reception (ग्रहण) का माद्दा नहीं पैदा होता जो कि भाषा सीखने का मुख्य उद्देश्य है। ऐसी दशा में वे बड़े होने पर भी इन भाषाओं में न किसी विषय को ठीक तरह प्रकाशित कर सकते हैं और न समझ ही सकते हैं।

अधिकार-भेद की परवा नहीं की जाती ।[1] बुद्धि, स्टैन्डर्ड और अवस्था-भेद से कौन विद्यार्थी किस कक्षा का अधिकारी है, इस पर नाम-मात्र भी विचार नहीं किया जाता, अपितु उत्तीर्णाङ्क लाना ही एक आवश्यक बात होती है । पर ये उत्तीर्णाङ्क भी विकास के फल नहीं होते, प्रत्युत मुख्यतः रटाई के ही परिणाम होते हैं; क्योंकि गुरुजन विद्यार्थियों के कानों में जो कुछ भर देते हैं, फिर चाहे उसे वे ठीक तरह न भी समझते हों । परन्तु उनको दोहरा देने से ही उन्हें उत्तीर्णाङ्क मिल जाते हैं । इसके सिवा अनेक परीक्षाओं में मौखिक परीक्षा के अभाव में केवल लिखित परीक्षा से विद्यार्थियों के अध्ययन की वास्तविकता, विचार करने की प्रणाली, परिणाम पर पहुँचने की विधि और सत्य-प्रेम आदि के विकास का तो पता लगाया ही नहीं जा सकता और किसी तरह उत्तीर्णाङ्क या अधिक से अधिक अंक लाना ही उस विषय के अधिकारी होने का प्रमाण माना जाता है । इसका परिणाम यह होता है कि विद्यार्थी अध्ययनशील, मननशील और चिन्ताशील नहीं होने पाते, और न ज्ञान-रस-लोलुप ही । साथ ही उनका मानसिक क्षेत्र प्रायः विषयात्मक आंदोलन से भी शून्य रहता है । फिर वे तद्भाव-भावित हृदय तो हो ही कैसे सकते हैं ? कौन नहीं जानता कि एक वीर वीरताउद्बोधक साधारण से आलम्बन और उद्दीपन से मरने-मारने को तैयार हो जाता है । उसे रणक्षेत्र रण-गंगा-सा दीखने लगता है ; और खड्ग तो साक्षात् धारा-तीर्थ ही मालूम होता है । यही दशा प्रत्येक मानसिक अनुभूति में होती है । वैसे ही प्रत्येक प्रकार के ज्ञान-रस से भी हृदय-समुद्र आन्दोलित हो उठता है। उसके नाम-मात्र से आलम्बन और उद्दीपन से अनन्त चित्र दृष्टि के सम्मुख घूमने लगते हैं । जिज्ञासा और ज्ञान-पिपासा इतनी उत्कट हो जाती है कि वे व्यसन-सी मालूम होती हैं । असल में ऐसी शिक्षा से ही मनुष्य सच्चा शिक्षित होता है और उसमें शिक्षा-सम्बन्धी वातावरण बनाने की भी शक्ति उत्पन्न होती है । परन्तु हम देखते हैं कि हमारी इस शिक्षा से, इनमें से एक भी बात विद्यार्थियों में उत्पन्न नहीं होती । इससे न ज्ञानानुभूति तीक्ष्ण होती है, न कर्मठता जाग्रत् होती है और न इच्छा-शक्ति ही प्रबल होती है । साथ ही इस शिक्षाक्रम के द्वारा प्राप्त हुई कोई भी बात यथेष्ट अनुभूति, इच्छा और कर्मठता का विषय नहीं बन पाती ।[1]

इस शिक्षा में मानवीय शक्तियों के विकास का समुचित प्रबन्ध न होने से हमारे विद्यार्थियों की रचना-शक्ति का विकास भी ठीक तरह नहीं होता, और न उनमें किसी बात के आविष्कार-परिष्कार की शक्ति ही उत्पन्न होती है ।

शिक्षा और उद्धार

आजकल हमारे भारतवर्ष की कैसी दशा है ? हमारी जाति कितने कष्टों में फँसी हुई है ? इन दुःखों से उद्धार पाने के लिए हमें किस प्रकार की शिक्षा की आवश्यकता है ? फिर सौभाग्य या दुर्भाग्यवश संसार की जिन जातियों और देशों के साथ हमारा सम्बन्ध हुआ है उनकी प्रतियोगिता में ठहरने और विजय प्राप्त करने के लिए किस बुद्धि, चरित्र और योग्यता की आवश्यकता है ? क्या इन बातों की पूर्ति इस शिक्षा से हो रही है ? यदि यह बात सत्य है तो क्या कोई कह सकता है कि हम सर्वथा स्वतन्त्र हैं, स्वतन्त्र देशों की तरह हमें स्वतन्त्रता के फल भी प्राप्त हैं और अन्य देशों के साथ सन्धि और विग्रह करने की घोषणा करने का अधिकार भी रखते हैं ? यदि नहीं तो फिर हमारी शिक्षा और स्वतन्त्रता का क्या अर्थ है ?

शिक्षा और जातीयता

इस शिक्षा से हमारी जातीयता का क्रमशः ह्रास होता जा रहा है । हमारे शिक्षित व्यक्ति हमारे उज्ज्वल भूत में विश्वास नहीं रखते, और हमारी संस्कृति और सभ्यता से मुँह मोड़ते जाते हैं । इस शिक्षा से हमारे अन्तर्जातीय घातक वर्गों में भी वृद्धि हुई है । हमारी जाति पहले जितने वर्गों और विभागों में विभक्त थी, उनमें इसने शिक्षितों का एक नया विभाग और बढ़ा दिया है, जिससे हमारी आपस की एकता, समानता और स्नेह-भावना को भी धक्का लगा है । इससे हमारी जातीय भाव की भावना भी कम हो रही है । यही कारण

[1] प्रत्येक खाद्य पदार्थ देश, काल, दशा, विधि, मात्रा और आवश्यकता आदि के विचार से ही उपयोगी हो सकते है ।

[1] बर्नार्ड शा की सम्मति में तो न केवल भारत अपितु संसार के समस्त विश्व-विद्यालयों की शिक्षा ही समधिक अनुत्पादक और घृणित है ।

है कि जातीयता उत्पन्न करनेवाले बड़े-बड़े आन्दोलन विफल हो रहे हैं। बड़ी से बड़ी क़ुर्बानी भी अनुत्पादक सिद्ध हो रही है और इसका परिणाम यह हो रहा है कि वैयक्तिक और जातीय दोनों प्रकार की दृष्टि से हमारे मन, वचन और क्रिया में ऐक्य उत्पन्न होना एक असम्भव-सी बात हो गई है।

शिक्षा और अशास्त्रीयता

हमारी शिक्षा में शिक्षात्मक पारिभाषिक बातों की भी अत्यधिक कमी है। अच्छी पुस्तकें, वैज्ञानिक शिक्षण-पद्धति और जाति-हितैषी प्रतिभाशाली शिक्षित (Trained) गुरु-जन हमारे यहाँ कहाँ हैं? फिर अभी हमारी शिक्षा में मानसिक शिक्षण के वैज्ञानिक उपाया का आयोजन भी शुरू नहीं हुआ है। इसमें तो अब तक असल में पुस्तकें ही पढ़ाई जाती हैं, न की विषय। फिर एशियाटिक शिक्षण-कान्फ्रेंस और जातीय महासभा के द्वारा स्वीकृत पचासों आवश्यक उपयोगी और पारिभाषिक विषयों का तो हमारे यहाँ अभी नाम भी नहीं सुना जाता! आध्यात्मिक शिक्षा का भी सर्वथा अभाव है। धर्म-प्राण और आध्यात्मिकता-प्रधान हिन्दू-जाति के लिए यह अभाव अवश्य ही हृदय को दहलानेवाला है। प्रत्येक विषय की शिक्षा के लिए उचित वातावरण और साहित्य भी अभी हमारे यहाँ तैयार नहीं हुआ है। हस्त-शिक्षण और नेत्र-शिक्षण आदि की ओर भी पूर्णतः ध्यान देना आवश्यक नहीं समझा जाता। पर्यवेक्षण भी एक अपवाद बन रहा है। प्रकृति और कला-सौंदर्य पर भी ध्यान नहीं दिया जाता। सरस्वती-यात्राएँ भी आवश्यक नहीं समझी जातीं[1] और प्रायः अधिकांश आवश्यक और सामयिक विषयों से भी हम दूर ही रक्खे जाते हैं।

शिक्षा और परीक्षण

संसार के अन्य देशों में शिक्षा-विषयक तरह-तरह के परीक्षण हो रहे हैं। परन्तु दुःख के साथ कहना पड़ता है कि हमारे यहाँ इस समय तक इस ओर ध्यान नहीं दिया जा रहा है। हमारे यहाँ तो अब तक योरप के शिक्षा-सुधारक आचार्यों के साधारण शिक्षात्मक परीक्षणों का भी ठीक तरह से प्रचार-प्रसार नहीं हो पाया है। और जो कुछ है वह भी विकृत-सा ही है। ऐसे ही नवीन ज्ञान-विज्ञान और उद्योगात्मक परीक्षणों का भी अवसर नहीं आया है। एक और आश्चर्य की बात यह है कि अभी हमारे यहाँ ज्ञान-विज्ञान केवल कहानियों का विषय ही बना हुआ है। रूस के लोकोत्तर शिक्षात्मक प्रारम्भिक अनुभवों का भी यहाँ कहीं पता नहीं है। अमरीका की पाठशालाओं की प्रयोग से सम्बन्धित व्यावहारिक शिक्षा का तो यहाँ स्वप्न भी नहीं है। मृत जर्मनी की वैज्ञानिक पाठशालाओं के सामयिक परीक्षण तो यहाँ अभी युगों की बात हो रहे हैं, और कौड़ियों से बननेवाली वस्तुओं की निर्माण-विधि को सिखानेवाली जापान की-सी शालाएँ भी यहाँ-कहाँ हैं? अन्यान्य देशों में जो लाखों बातें परीक्षण की सीमा से निकलकर व्यापार और बाज़ार की वस्तुएँ बन गई हैं, उनके तो हमारे यहाँ अभी कहीं परीक्षण भी प्रारम्भ नहीं हुए हैं। हमारे विद्यार्थी तो अभी उनके नाम तक नहीं जानते, और न अभी निकट भविष्य में उनके परिचय की ही आशा है।

शिक्षा और विज्ञान

आजकल विज्ञान का बड़ा दौरदौरा है। संसार में इसके द्वारा तरह-तरह के फेर-फार हो रहे हैं। स्वास्थ्य-क्षेत्र में यह ग़ज़ब ढा रहा है। इंजीनियरी भी अद्भुत चमत्कार दिखा रही है। शिक्षा-क्षेत्र में भी वैज्ञानिक चमत्कारों की कमी नहीं है। घर बैठे विद्यार्थियों को पाठ देना योरप की शिक्षा-विषयक एक तुच्छ-सी बात है।[1] रेडियो का भी शिक्षा में पर्याप्त प्रवेश हो गया है। सिनेमा और टेलीफ़ोन तो शिक्षा-विभाग की साधारण वस्तुएँ बन गई हैं। शिक्षा-विभाग के समस्त मुख्य विभाग और उपविभाग विज्ञान के द्वारा अपने आपमें परिपूर्ण बनाये जा रहे हैं। परन्तु इधर हमारे यहाँ अभी आदर्श पाठ (Model Lessons) का अर्थ केवल व्याख्यान ही समझा जाता है। प्रत्येक स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म पाठ व्याख्यानों के ही विषय बने हुए हैं। वस्तु, तत्व या किसी पदार्थ का अर्थ पर्यायवाची (Synonymous) शब्द ही समझे जाते हैं। इससे हमारी शिक्षा का स्टैंडर्ड और भी अधिक स्पष्ट हो जाता है।

१. आजकल नवशिक्षितों में तीर्थ-यात्रा के भाव भी दिनोंदिन कम होते जा रहे हैं।

१. अन्धे, बहरे और गूँगे लोगों के जीवन भी विज्ञान के द्वारा अत्यधिक उपयोगी बनाये जा रहे हैं।

शिक्षा और लयोन्मुखता

इस शिक्षा से हमारी प्रत्येक बात में प्रायः लयोन्मुखता का प्रवेश हो रहा है। भारतीय विचार-स्वातन्त्र्य, उच्च दार्शनिक भाव सार्वभौम और सार्वजनीन औदार्य, लोकोत्तर चरित्र आदि की बातें दिन-दिन कम होती जा रही हैं। हमारे विचारों में अब सैकड़ों प्रतिबन्ध खड़े हो गये हैं। शास्त्रीय पद्धति से स्वतन्त्र विचार करने की हमारी शक्ति जाती रही है! उसमें कुशासन और अवैज्ञानिक विचार-पद्धति के कीटाणु प्रविष्ट हो गये हैं। इन्हीं बातों से हमारे विचारों में दैन्य प्रविष्ट होता जा रहा है। हमारे छात्रों के सम्मुख विचार-स्वतन्त्रता-घातक अनेक संरक्षण (Safeguards) पहले से ही रख दिये जाते हैं। बाल्यावस्था में ही अनेक सिद्धान्ताभास बातें स्वतः-सिद्ध नियमों की तरह उनके मस्तिष्क में जमा दी जाती हैं। इतिहास, दर्शन, और राजनीति आदि सब में यही परम्परा काम कर रही है इसका फल यह हो रहा है कि हमारी विकासोन्मुख सामाजिक शक्तियाँ प्रायः लयोन्मुख होने लगी हैं। उनकी प्रगति मारी जा रही है। इन सब बातों का देश पर बुरा असर पड़ रहा है। अब हमारे यहाँ रामानुजाचार्य और बल्लभाचार्य-जैसे दार्शनिक मस्तका के प्रवचनों को समझनेवाले छात्र कठिनाई से दिखाई देते हैं। अब रामावतार शर्मा की-सी शास्त्रीय विचार-स्वतन्त्रता और दार्शनिकता के भी दर्शन कहीं कठिनाई से ही हो सकते हैं। अधूरी राजनीतिक परम्परा ने "वसुधैव कुटुम्बकम्" के भारतीय महोदार आदर्श पर भी पर्याप्त कीचड़ डाल दिया है। लोकोत्तर सात्त्विक क्रिया-कलाप भी महात्मा गांधी के व्यक्तित्व तक ही सीमित मालूम होते हैं। तप, ब्रह्मचर्य और विविध राजनीतिक और सामाजिक महान् यज्ञों की रचना का माद्दा तो बहुत पहले से ही नष्ट होता आ रहा है। अब तो हमारे यम और नियम की मात्रा भी नामशेष हो चली है। नाम-मात्र के प्रलोभन और भय की शंका से एक भारतीय का विचलित हो जाना अब एक साधारण-सी बात हो गई है।

अभी आसन्न-भूत में जिन बातों और तत्त्वों को हम भारत में देख चुके हैं, वे भी हमें अपने यहाँ अब कहाँ दिखाई देते हैं। राजपूत रमणियों के लोकोत्तर काम और हृदय को कँपा देनेवाले हक़ीक़तराय-जैसे बालकों के क़ुर्बानी के उदाहरण क्या अब हमारे यहाँ सहज में मिल सकते हैं? शारीरिक पुरुषार्थ की कहानियाँ तो एक तरह से नामशेष ही हो चुकी हैं। लोक और परलोक तक दौड़नेवाली हमारी इच्छा-शक्ति अब कहाँ दिखाई देती है? दुर्योधन से हठीले वीरों के दर्शन भी कहाँ होते हैं? साथ ही हमारी शिक्षा से इन सब बातों की आशा करना भी आकाश-कुसुम की आशा करना है। आज हमारी आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक बातें भी लयोन्मुख हो रही हैं। फिर इस पर विशेषता यह है कि इन त्रुटियों को समझनेवाले व्यक्ति भी अब भारत में उँगलियों पर गिनने भर को ही रह गये हैं।

शिक्षा और तात्त्विक विश्लेषण

हमारी शिक्षा के ऐसे कटु परिणाम क्यों निकल रहे हैं, इसका तात्त्विक विश्लेषण यही है कि संसार के वर्तमान 'आदर्श' हमारी सात्त्विक परम्परा की अपेक्षा समधिक राजसिक और तामसिक हैं। साथ ही उनमें अनुदारता, एकांगिता, दैशिकता आदि का भी घातक समावेश है। इसलिए उन आदर्शों के अनुसार दी गई शिक्षा किसी भी देश—विशेषतः भारत-जैसे अलौकिक संस्कृति-सभ्यता-सम्पन्न देश के लिए तो उत्पादक कभी हो ही नहीं सकती। फिर हमें जो भी शिक्षा दी जाती है वह शिक्षाविज्ञान के भी अनुकूल नहीं है। साथ ही उसके उद्देश्य में परसम्पृक्त भाव-भावनाओं का आवश्यकता से अधिक सम्मिश्रण रहता है। इसलिए तत्त्वतः और स्वभावतः एक सच्चे भारतीय को वह अच्छी नहीं मालूम हो सकती। फिर इस शिक्षा के प्रचार का उद्देश्य भी दुःखद और घातक है। क्या मेकाले के निम्नलिखित शब्द हमारी शिक्षा की आवश्यकता, प्रामाणिकता और शास्त्रीयता पर प्रकाश नहीं डालते हैं—

> "We want at present to do our best to form a class who may be interpreters between us and the millions we govern, a class of persons Indian in blood and colour but English in taste, in opinion, in morals and in intellect."

इसके सिवा "No language, no nationality." इस बात का भी हमारी शिक्षा में कहाँ ध्यान रक्खा जाता है? प्रत्युत इसके विरुद्ध हम तो "If you

want to change a nation change its language first.'' इस परसम्पृक्त मार्ग पर ही चलाये जाते हैं। यही कारण है कि हमारी प्रत्येक बात में अवास्तविकता, अनुपयोगिता, अनावश्यकता, घातकता और संकरीकरणता उत्पन्न हो रही है।

उत्तरदायित्व, स्वावलम्बन और शिक्षा

हमारी शिक्षा में सबसे बड़ा दोष यह है और इससे कोई भी समझदार इनकार नहीं कर सकता कि इससे हममें उत्तरदायित्व और स्वावलम्बन के भाव उत्पन्न नहीं हो रहे हैं। यह शिक्षा केवल समीक्षण (Criticism) का माद्दा ही उत्पन्न करती है। यही कारण है कि इससे हममें दूसरों की समीक्षा का माद्दा समधिक उत्पन्न हो गया है। अन्यथा क्या यह सम्भव था कि हम अब तक अपने उत्तरदायित्व को न समझते, स्वावलम्बी न बन पाते और हर एक बात में केवल अपने शासन की समालोचना ही करते रहते? कौन विज्ञ इस बात को नहीं समझता कि अमरीका-जैसे उन्नत देशों में भी लोग सभी काम अपने शासन पर नहीं छोड़ते। वे भी अनेक आवश्यक विषयों में स्वयं कुछ न कुछ करते-धरते रहते हैं। उन देशों में शिक्षा में भी लोग गवर्नमेंट का हाथ बटाते हैं। यही नहीं, अपने देश में प्रत्येक बात की शिक्षा का प्रचार-प्रसार करना अपना कर्तव्य और उत्तरदायित्व समझते हैं। यह ठीक है कि प्रत्येक विषय में शासन का उत्तरदायित्व पूर्ण होना आवश्यक है, परन्तु अनेक कामों में जनता का उत्तरदायित्व-पूर्ण होना भी तो अनिवार्य है। फिर आदर्श की दृष्टि से शासन जनता के द्वारा स्वीकृत एक प्रबन्धक बोर्ड है। ऐसी दशा में कुछ कामों में शासन की सहायता करना जनता का परम कर्तव्य ठहरता है, और कुछ अतिरिक्त और परम आवश्यक कामों को अपने हाथ में लेना तो जनता का अनिवार्य कार्य हो जाता है। साथ ही ऐसे कार्य, जो कि किसी कारण से शासन के द्वारा नहीं हो रहे हों, उनका उत्तरदायित्व अपने ऊपर लेना तो समुचित ही है। फिर शासन को उत्तरदायित्वपूर्ण बनाना भी तो जनता की ही उत्तरदायित्व और विनय-शीलता पर निर्भर है। इस विषय में एक बात ध्यान देने योग्य यह भी है कि जब अनेक अनिवार्य आत्म-परसम्पृक्त विघ्न-बाधाओं के कारण हमारा शासन शिक्षा-विषयक हमारी माँगों को पूर्ण करने में अभी असमर्थ है, तब ऐसी दशा में भी क्या हमें स्वावलम्बन से काम न लेना चाहिए? परन्तु हम इसकी परवा कहाँ करते हैं। हमारा धन, समय और योग्यता चाहे अन्यान्य कामों में भले ही ख़र्च हो रही हो, परन्तु अपनी मनोनीत शिक्षा के उद्धार में प्रयत्नशील होना चाहते ही नहीं। इससे बढ़कर हम एक घिनौना काम यह भी करते हैं कि जिन शिक्षा-विषयक कामों में हम स्वतन्त्र हैं या जिनको हम शासन के सहारे सरलता से हल कर सकते हैं उनकी ओर भी ध्यान देना नहीं चाहते। यही नहीं, प्रत्युत हम स्वयं ऐसे कामों का विरोध करते रहते हैं। यहाँ तक कि अनेक बार प्रायः विचार और वाणी के द्वारा भी हम उनका समर्थन करना महापाप समझते हैं। हमारे पचासों काम इस बात के उदाहरण हैं। हिन्दी के माध्यम का प्रश्न इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है, जो कि प्रायः बड़ी-बड़ी सभा-समितियों में शिक्षा का नेतृत्व करनेवाले व्यक्तियों के द्वारा अनेक बार पददलित होता रहा है। ऐसे ही हिन्दी और संस्कृत की अनिवार्य शिक्षा और राजनीति आदि के प्रश्न भी हैं, जिन पर अधिकारपूर्वक ठीक समय और ठीक स्थान पर उचित भाषा में हम कुछ कह ही नहीं सकते और फिर भी अपने दुर्दैव को कोसते ही रहते हैं। कुछ बातों में तो हमारी यह प्रवृत्ति-सी हो गई है कि हम वास्तविकता का विश्लेषण करना ही नहीं चाहते, प्रत्युत अड़ंगे की नीति को ही पसन्द करते हैं।

शिक्षा और आत्म-तत्त्व

हमारे शिक्षा-विषयक कुछ काम तो ऐसे हैं, जिनका सम्बन्ध पूर्णतः हमसे ही है। ऐसे विषयों की भी हम कहाँ परवा करते हैं? भला क्या यह भी कोई उचित बात है कि जातीय जीवन के तत्वों के रक्षण-पोषण की भी हम सदैव दूसरों से ही आशा करते रहेंगे? क्या अपने वास्तविक उद्धार-विषयक कामों को कराने की भी हम सदैव दूसरों से ही कोशिश करते रहेंगे? क्या अपने वास्तविक विद्या-विषयक कामों के भी हम अविद्या-विषयक शिक्षण-पद्धति से ही फूलते-फलते रहने की कामना करते रहेंगे? क्या निस्त्रैगुण्य बातों में भी त्रिगुणात्मक संसार ही हमारी रक्षा करेगा? क्या अपने आराध्यदेव की अर्चा-पूजा भी हम दूसरों से करावेंगे? क्या अपने इष्टदेव पर पत्र-पुष्प भी दूसरों से ही चढ़वावेंगे? नैवेद्य भी दूसरों से ही लगवावेंगे? आरती भी दूसरों से ही उतरवायेंगे? और फिर भी

देवता रक्षा करेगा, हमारी ही। और वह भी वशंवद दास की तरह। फिर क्या हमारे धर्म का भी दूसरा ही कोई प्रचार करेगा? क्या हमारे लोकोत्तर योग-विज्ञान की रक्षा भी दूसरा ही करेगा? क्या हमारी प्रतिष्ठा भी दूसरा ही रक्खेगा? क्या हमारी कौटुम्बिक शिक्षा और संस्कृति को भी दूसरा ही सुधारेगा? हमारे व्यक्ति-गत कामों को भी दूसरा ही दुरुस्त कर देगा? और उनके लिए सोचेगा भी कोई दूसरा ही? इस शिक्षण-पद्धति से ठीक हमारी यही दशा हो रही है। हम प्रत्येक बात में दूसरों की ही सहायता चाहते हैं। अन्यथा हम अपने धर्म, कर्तव्य, साहित्य और संख्या-बल से क्या नहीं कर सकते? हम अपने विश्व-प्रेम और योग की बची-बचाई क्रिया-प्रक्रियाओं से तो नवीन जगत् तक का निर्माण कर सकते हैं। ईश्वर हमें बल दे कि हम अपने नीचे लिखे इस जातीय आदर्श को सदैव अपने सामने रक्खें—

"आत्मा ही आत्मा का बंधु है।"[1]

---

१. हमारे पिछले कांग्रेस-मन्त्रि-मंडल भी इस दिशा में उचित कार्य नहीं कर सके और न हमारे देशी राज्य ही इस क्षण तक कुछ करने को कटिबद्ध हैं। इसका मुख्य कारण यही है कि हमारे यहाँ पर-प्रत्यय-नेय-बुद्धिसत्ता का दौरदौरा है। ऐसी दशा में हमें मर्मज्ञ कर्मठ जनता से ही कुछ आशा है, विशेषतः स्वावलम्बिनी प्रजा से।

शादी-बीबी

श्रीअयोध्याप्रसाद 'अचल' बी० ए० (आनर्स)

'अब भी न मानेगा तू ! देख वह है शादी-बीबी। आ ही गई न।'—कहते हुए मा ने कमरे के दरवाज़े की ओर संकेत किया।

भाई ने उधर देखा तो रोना भूल गया। झट से मा की गोद में मुँह छिपाकर सिसकियाँ भरने लगा। मा 'ले जा इसे, ले शादी-बीबी, बहुत रोता है यह' कहते हुए उसे धमका रही थीं। वह 'नहीं-नहीं' की धुन लगाये था।

मैंने देखा, बुआजी एक काले कम्बल में लिपटी हुई कमरे के द्वार के पास ही खड़ी थीं। कभी-कभी बिल्ली के स्वर में कुछ बोल भी उठती थीं। उनकी उस आवाज़ से भाई और भी सकपका जाता था।

यह उस दिन की कोई विशेष घटना न थी। प्रायः जब भाई बहुत रोता और मा के सँभाले न सँभलता तो वे इसी युक्ति का सहारा लेतीं। इससे वह सहमकर चुप हो जाता।

मेरी मा ही ऐसा करती हों सो बात नहीं। अधिकांश माताएँ अनेकानेक शब्दों का सहारा लेकर इसी प्रकार बच्चों को डराया-धमकाया करती हैं। कोई 'हव्वा' को बुलाता है तो कोई 'लू-लू' को। प्रायः बच्चे भी खेल में एक दूसरे को डराने के लिए इसी का आधार लेते हैं।

काल्पनिक भय के दुष्परिणाम

अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि देखने में साधारण सी इन बालकों से सम्बन्ध रखनेवाली घटनाओं का उनके मानसिक और शारीरिक विकास पर क्या प्रभाव पड़ता है? वे किस प्रकार उनकी अज्ञात चेतना का अंश बनकर जीवन में सदा साथ-साथ चलती रहती हैं? समय-समय पर जाग्रत् होकर क्या-क्या रंग दिखलाती हैं? एक बार मनोविज्ञान की एक प्रयोगशाला में एक ऐसा रोगी आया जिसका मन सदा विक्षिप्त-सा रहता था। किसी एक वस्तु पर ध्यान को केन्द्रित करना उसके लिए असम्भव था। पागलों की भाँति भौचक्का-सा रहता था। शिक्षित होते हुए भी 'भूतों' में अटल विश्वास रखता था। कई बार उनसे डरकर बीमार भी पड़ चुका था। देखने में नाटा, आँखें बड़ी-बड़ी, मुँह का रंग कुछ पीला था। स्वास्थ्य भी काफ़ी गिरा हुआ था। बीस वर्ष का होते हुए भी उसकी अवस्था पचीस से ऊपर ही मालूम होती थी। उससे अनेकानेक प्रश्न किये गये। बहुतों का तो वह सन्तोषजनक उत्तर दे ही न सका, जिनका दिया भी उनसे भी कोई मतलब हल न हो सका। बहुत प्रयत्न करने पर केवल इतना जाना जा सका कि इसके मन में किसी प्रकार का अज्ञात भय छिपा हुआ है, पर वह क्यों है, उसका आधार क्या है, आदि प्रश्न अब भी समझ में न आये। अन्त में विवश होकर सम्मोहन का आश्रय लेना पड़ा। अचेतावस्था में उसका चित्त-विश्लेषण करने पर पता चला कि बाल्यावस्था में जहाँ वह अपने माता-पिता के पास रहता था, उसके घर के भीतरी भाग में एक कोठरी थी। प्रकाश से दूर पड़ने के कारण वहाँ प्रायः अन्धकार ही रहता था, अतः वह वहाँ जाने से डरता था। उसकी इस कमज़ोरी का लाभ उठाकर घरवाले उसे उस कोठरी से डराया करते थे। एक दिन वह किसी चीज़ के लिए बहुत ही मचल पड़ा। समझाने, डराने, धमकाने का कोई असर न हुआ। पिताजी क्रोध में तो थे ही, ले जाकर उसी कोठरी में डाल दरवाज़े खींच लिये। वह बड़ी ज़ोर से चीख़ उठा, मानो किसी ने पकड़ लिया हो। बस, उसी समय से वह डर गया। उसका यह भय ही उसकी भावी आपदाओं का कारण बना।

स्वास्थ्य पर प्रभाव

ठीक इसी प्रकार अन्य बच्चों पर भी इस बात का प्रभाव पड़ता है। यह तो सभी जानते हैं कि मानसिक संवेगों का स्वास्थ्य से कुछ-न-कुछ सम्बन्ध अवश्य ही रहता है। चिन्ता में शरीर घुल-घुलकर अस्थियाँ ही शेष रह जाती हैं। इसी प्रकार भय का भी शारीरिक स्वास्थ्य से घनिष्ठ सम्बन्ध है। भीत व्यक्ति का मानसिक और शारीरिक बल बराबर क्षीण होता रहता है। जिस बालक को जितना ही कम डराया जायगा, उसका स्वास्थ्य उतना ही अच्छा होगा। आप स्वयं इस बात का अनुभव करने के लिए दो बालकों को चुन लीजिए। एक जितना ही निडर हो, दूसरा उतना ही

डरपोक। फिर उन दोनों का मिलान करने पर आप अवश्य ही इस कथन की सत्यता का आभास पा जाइएगा।

स्वाभाविक जिज्ञासा का दमन

इस प्रकार डराते-डराते माताएँ बालकों की बहुत-सी स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन कर देती हैं। कोई भी बात उन्होंने जाननी चाही, उससे सम्बन्ध रखनेवाले प्रश्न पूछे (बाल्यावस्था के नाते उनकी बुद्धि अधिक विकसित तो होती नहीं, अतः आवश्यक है कि उनके प्रश्न प्रौढ़ों के लिए बेतुके हों, अंट-संट हों) कि बड़े टालने लगते हैं। यदि उनकी जिज्ञासा प्रबल हुई और वे अपनी बात पर अड़े रहे तो उन्हें अनुचित भय दिखाकर धमका दिया जाता है। ऐसी स्थिति में उनकी जिज्ञासा तो अतृप्त रहती ही है, पर साथ-ही-साथ एक अज्ञात भय भी उनके अन्दर घर कर लेता है, जिसके कारण वे सभी व्यक्तियों से कुछ-न-कुछ डरा करते हैं। परिस्थितियाँ उन्हें नचाया करती हैं। उनका सामना करने का उनमें साहस नहीं रहता। हृदय और मस्तिष्क दोनों ही कमज़ोर पड़ जाते हैं। इन सब बातों के अतिरिक्त अज्ञात चेतना द्वारा भावी जीवन पर इसका क्या प्रभाव पड़ता है, यह पीछे दी गई घटना से ही स्पष्ट है।

निरर्थक भय को निर्मूल करने के उपाय

इतना जान लेने के बाद अब प्रश्न यह उठता है कि जिन बालकों के मन में यह अनुचित भय घर कर चुका है उनका भय दूर करने का क्या उपाय है? उनके मन से यह निर्मूल किया भी जा सकता है या नहीं? यदि हाँ, तो उसके क्या उपाय हैं? उनका किस प्रकार प्रयोग किया जा सकता है? सबसे श्रेष्ठ उपाय तो सम्मोहन की अवस्था का निर्देश है। पर यह सर्वसाधारण के लिए न तो सम्भव ही है और न सुलभ ही। बड़ी प्रयोग-शालाओं में ही इसे प्राप्त किया जा सकता है। साधारण लोगों को चाहिए कि नीचे दिये गये अन्य चार सरल उपायों से काम लें—

(१) यदि ध्यान दें तो वे देखेंगे कि इस भय का मूल कारण अज्ञान है, अतः सबसे पहले बालक के ज्ञान को बढ़ाकर उनके अज्ञान को ही निर्मूल करने का प्रयत्न करना चाहिए। जितना ही उनका ज्ञान बढ़ेगा, भय दूर होता जायगा।

(२) दूसरा उपाय निर्भय लोगों की संगति है। साथ रहनेवाले व्यक्तियों का एक दूसरे के संवेगों पर अवश्य ही प्रभाव पड़ता है। अच्छे से अच्छा व्यक्ति भी बुरी संगति में रहकर बिगड़ सकता है और बुरे से बुरे व्यक्ति भी अच्छी संगति पाकर सुधर जाते हैं। इसी प्रकार स्वस्थ और उत्साही बालकों के बीच रहते-रहते उस बालक पर भी उनका प्रभाव पड़ेगा और इस अनुचित भय में धीरे-धीरे कमी होती जायगी।

(३) तीसरा उपाय क्रियाशीलता है। बेकार बैठे रहने पर ही इधर-उधर के विचार आते हैं और अनेक कारणों द्वारा अनुचित भय उद्दीप्त हो उठता है। जब बालक को कार्यपरायणता की शिक्षा भली प्रकार दी जायगी, नियमित रूप से उसकी देख-रेख होगी, वह सदा ही किसी न किसी अच्छे काम में लगा रहेगा, तो इन विचारों के लिए उसके पास समय ही न रह जायगा।

(४) चौथा उपाय है आत्म-विश्वास। भय आत्मा की दुर्बलता का ही सूचक है। इसलिए निर्देश द्वारा बालक में आत्म-विश्वास को उत्पन्न कर उसे स्वयं अपने ऊपर निर्भर रहने का आदी बना देना चाहिए। क्रियाशीलता भी आत्मनिर्भरता में सहायक होती है।

यह अव्यवस्था!

इस मनोवैज्ञानिक सत्य पर ज़रा भी ध्यान न देकर अपने देश में बच्चों को बहुत डराया जाता है। इस अव्यवस्था का कारण स्पष्ट है। अधिकांश बच्चों का पालन-पोषण अशिक्षित लोगों द्वारा ही होता है। देश की ग़रीब, दुखी तथा अपढ़ माताएँ अपने बच्चों का पालन-पोषण स्वयं करती हैं। उनमें इतनी क्षमता नहीं होती कि वे इन बातों को भली प्रकार समझ सकें। वे तो बस प्रचलित प्रथाओं को पूरा करना ही जानती हैं। रहा शिक्षितवर्ग, इनमें की अधिकांश स्त्रियाँ अपने उत्तरदायित्व को स्वयं पालन न कर अपढ़ दाइयों और नौकरों की देख-रेख पर ही अपने बच्चों को छोड़ देती हैं। जो स्वाभाविक प्रेम माता का होता है, जितने लाड़-प्यार से वह बच्चों का पालन करती है, क्या कभी नौकर और दाई भी उतना ही कर सकते हैं? अतः यदि बालकों को चुप करने के लिए ये अनुचित भय का प्रयोग करें तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। व्यर्थ का सिर-दर्द मोल लेने से लाभ ही क्या? इधर-उधर की किस्से-कहानियाँ सुनाकर बच्चों का हृदय

कमज़ोर कर देने में इनका जाता ही क्या है ? फिर दूसरी बात यह है कि इन्हें कोई नियमित शिक्षा तो मिलती नहीं, फिर बालमन की सूक्ष्म क्रियाओं और उनके पालन-पोषण के उचित ढंगों को ये समझ ही कैसे सकते हैं । इनसे ऐसी आशा रखना ही व्यर्थ है । अतएव आवश्यक है कि माताएँ स्वयं अपना कर्तव्य समझकर अपने उत्तरदायित्व का वहन करें ।

अनुचित भय के दुष्परिणामों को ध्यान में रखकर ही जर्मन राष्ट्र में बच्चों को प्रारम्भ से ही खेलने के लिए छोटी-छोटी बन्दूक़ें दी जाती थीं और उनके हृदय से भय का निवारण कर उनके साहस को बढ़ाया जाता था । अतः आवश्यक है कि राष्ट्र के इन होनेवाले नवयुवकों को इस कृत्रिम भय से बचाया जाय, उनकी इस 'हव्वा' से रक्षा की जाय । स्वस्थ और शान्त सन्तानें ही देश के लिए कुछ कर सकती हैं ।

परिचय कैसा ?

श्रीपुत्तूलाल शर्मा 'उद्दंड'

मिलते हों सदा अपरिचित-से दो परिचित तो परिचय कैसा ?
आते जाते राह - गली में कभी अचानक देख लिया,
ठिठके दो क्षण हुए खड़े कुछ नयन सामने नयन किया;
कुछ कहा सुना चल राह दिये यह परिचय का अभिनय कैसा ?
मिलते हों सदा अपरिचित-से दो परिचित तो परिचय कैसा ?
पूछा कभी किसी साथी ने तो परिचय की यों बात चली,
'हाँ बहुत दिनों से परिचित हैं' इतना कह कर वह बला टली;
इस परिचय का तब मर्म यही है किसको मिला हृदय कैसा ?
मिलते हों सदा अपरिचित-से दो परिचित तो परिचय कैसा ?
वह बहुत दिनों का परिचय जब मिलने पर होता नित्य नया,
तब भला कौन यह परिचय है ऐसा परिचय देखा न गया;
परिचित का व्यवहार किसी परिचित से ऐसा निर्दय कैसा ?
मिलते हों सदा अपरिचित-से दो परिचित तो परिचय कैसा ?
जब जान जान, अनजान रहें, तो परिचय की क्या बात रही,
वह परिचय भी कोई परिचय मन की न सुनी, मन की न कही;
तो तुम्हीं कहो परिचय में यों मिलना नीरसतामय कैसा ?
मिलते हों सदा अपरिचित-से दो परिचित तो परिचय कैसा ?
जब रहा विराग बना अब भी अनुरागमयी बोली न हुई,
मन की मन ही में रही अरे होली में भी होला न हुई;
हम निज प्रवंचना कहें इसे या कहें कि हुआ अनय कैसा ?
मिलते हों सदा अपरिचित-से दो परिचित तो परिचय कैसा ?

चर्म स्वास्थ्य से ही
चर्म–सौन्दर्य
बढ़ता है !

रैक्सॉना से चर्म स्वास्थ्य की रक्षा कीजिए

आपकी त्वचा तभी सुन्दर हो सकती है जबकि वह स्वास्थ हो और इसको स्वास्थ्य ही बनाए रखना चाहिए, नहीं तो वह सौन्दर्य शीघ्र जाता रहेगा। त्वचा को स्वास्थ्य और सुन्दर रखने के लिए ही सुन्दर, हरेरंग के और आसानी से फेन देने वाले टॉयलट साबुन रैक्सॉना का आविष्कार हुआ है। यह चर्म–किटाणुविनाशक 'कैडिल' की मिलावट से बनाया जाता है, जो कि ताज़गी और स्वास्थ्यदायक है। रैक्सॉना की झाग इस स्वास्थ्यदायक 'कैडिल' को शीघ्र ही शरीर के रुओं में पहुँचा देती है। जहाँ यह अपना काम करता है झाग शरीर पर जमा हुई धूल और पसीने को साफ़ करके त्वचा को स्वस्थ और सुरक्षित रखती है। चर्म–स्वास्थ्य के लिए सदैव रैक्सॉना से स्नान कीजिये।

बच्चों के लिए रैक्सॉना . . . रैक्सॉना की झाग इतनी कोमल और स्फूर्तिदायक होते है कि बच्चों की कोमल त्वचा के लिए तो यह आदर्श है। डाक्टर इस को इस्तेमाल करने की हिदायत करते हैं। याद रखिए रैक्सॉना का 'कैडिल' बच्चे की चर्म की फुन्सी फोड़ों से रक्षा करेगा।

★ रैक्सॉना में मिलाया गया कैडिल किटाणु–विनाशक, स्वास्थ्य–दायक और ताज़गी देनेवाले तेलों का मिश्रण है जोकि चर्म को स्वास्थ्य रखने में बहुत गुणकारी सिद्ध हुआ है। साइंसदानों ने भी इसके गुणों के कारण इसकी सराहना की है।

रैक्सॉना मरहम प्रयोग कीजिए।
फुन्सी, फोड़े, ऐक्ज़ीमा, मुहासे, आँख की झाँईयाँ, झुर्रियाँ, दद्दौरे आदि सभी चर्म रोगों में रैक्सॉना मरहम लगाये। यद्यपि अभी सप्लाई कम है फिरभी बहुत से दूकानदारों के यहाँ तिकोने टिन मिल सकते हैं।

REXONA PROPRIETARY LIMITED

RP. 61-23 HI.

हमारा दृष्टिकोण

१—सूर्यमण्डल में क्या है ?

लाप्लस् ने जब नीहारिकावाद का प्रचार किया था, तब तक नीहारिका की वास्तव सत्ता केवल कल्पना का विषय थी। दूरबीन से देखने पर छायापथ में अनेक अस्पष्ट तारकापुंज दिखाई पड़ते हैं; किन्तु लाप्लस् के समय तक इतनी बड़ी दूरबीन नहीं तैयार हुई थी, जिससे तारकापुञ्ज का गठन ख़ूब सूक्ष्म रूप से देखा जा सकता। सन् १८४० में इँगलैंड के अर्ल आफ़ रास ने एक बहुत बड़ी दूरबीन तैयार की। इस दूरबीन के लेंस का व्यास ३६ इंच था। इतनी बड़ी दूरबीन तब तक पृथ्वी पर और कहीं नहीं बनी थी। लार्ड रास ने इस दूरबीन से पहलेपहल देख पाया कि छायापथ में अनेक तारकापुंज ही लाप्लस् ने जिन तारकापुञ्जों की कल्पना की थी, वे ही हैं। लार्ड रास के बाद योरप और अमेरिका के अनेक वैज्ञानिकों ने और भी बड़ी बड़ी दूरबीनें तैयार करके और बहुत-सी नीहारिकाओं का आविष्कार किया है। इन सब नीहारिकाओं के फ़ोटो लेने पर अनेक प्रकार की विचित्रताएँ देख पड़ती हैं। कोई-कोई नीहारिका spiral या कुंडली के आकार की है। प्रायः सभी नीहारिकाओं में देखा जाता है कि वे जैसे किसी केंद्र के चारो ओर घूम रही हैं। किसी-किसी नीहारिका में देखा जाता है कि वह जगह-जगह जैसे सिमटती जा रही है। करोड़ों वर्षों के बाद शायद ये सब बिन्दु ग्रह और उपग्रह का रूप धारण कर लेंगे और उनमें पृथ्वी की तरह बुद्धिजीवी प्राणियों का आविर्भाव होगा।

लाप्लस् के मतवाद के अनुसार नीहारिकाराशि क्रमशः तारकाजगत् का रूप धारण कर लेती है; किन्तु इन सब तारकाजगतों का गठन कैसा है, यह १८६०ई० के पहले कोई नहीं जान सका। ये जो आकाश में अनन्त कोटि अर्थात् असंख्य तारे हैं, उनमें से प्रत्येक आयतन और वज़न में हमारे सूर्य के समान अथवा उससे भी बड़ा है। किन्तु वे इतनी दूर पर हैं कि बहुत बड़ी दूरबीन से देखने पर भी वे हमें प्रकाश का एक बिन्दु ही जान पड़ते हैं। सन् १८६० में जर्मनी के हाइडेलबर्ग-विश्वविद्यालय के अध्यापक किरशाफ़ (Kirchhoff) ने Spectrum Analysis अर्थात् वर्णच्छत्र के द्वारा पदार्थ-विश्लेषण-विद्या का आविष्कार किया। हमारे देश के अति प्राचीन रासायनिक लोग भी जानते थे कि अगर किसी मूल पदार्थ को आग में तपाया जाय तो उससे विशेष प्रकार का रंग निकलता है। जैसे आग में ताँबा डालने से उससे मोर के कंठ का-सा नीला रंग लिये लपट निकलती है; साधारण नमक आग में डालने से पीला प्रकाश निकलता है; कैलशियम की कोई चीज़ डालने पर लाल लपट निकलती है। इस तरह प्रत्येक मूल पदार्थ आग में डालने से उससे किसी ख़ास रंग का प्रकाश निकलता है।

हमारे पाठकों ने निश्चय ही इन्द्रधनुष देखा होगा। बहुत लोग जानते हैं कि सूर्य का प्रकाश वास्तव में सादा नहीं है—अनेक प्रकार के सात रंग मिल कर इस सादे रंग के प्रकाश को उत्पन्न करते हैं। लाल, गुलाबी, पीला, हरा, नीला, आरेंज और बैंगनी, इन सात प्रधान रंगों के प्रकाश के मिलने से सूर्य का सादा प्रकाश दिखाई पड़ता है। अगर तीन पहल के काँच को आँख से लगाकर सूर्य के प्रकाश को देखा जाय तो सातो रंग अलग-अलग देख पड़ेंगे। इसी विश्लिष्ट प्रकाश को सूर्य का वर्णच्छत्र कहा जा सकता है।

सूर्य एक जलता हुआ आग का गोला या पिण्डमात्र है। हम तीन पहल के काँच के भीतर से किसी भी जलते हुए पदार्थ द्वारा मिश्रित प्रकाश का विश्लेषण कर सकते हैं। इस विश्लिष्ट प्रकाश को उक्त जलनेवाले पदार्थ का वर्णच्छत्र कहा जा सकता है। पहले ही कहा जा चुका है कि अगर आग के भीतर विभिन्न धातुओं से गठित पदार्थ को डाला जाय तो आग की लपट में ख़ास रंग दिखाई देता है। जैसे साधारण नमक आग में डालने से पीले रंग की लपट निकलती है। किरशाफ़ और उनके सहयोगी बुनसन (Bausen) ने देखा कि अगर इस पीले रंग की लपट को काँच के टुकड़े के भीतर से देखा जाय तो केवल दो पीली रेखाएँ देख पड़ती हैं। इससे यह प्रमाणित होता है कि साधारण नमक के प्रधान उपादान सोडियम (Sodium) धातु के जलने पर उससे केवल पीले रंग का प्रकाश निकलता

है; लाल, नीला या बैंगनी प्रकाश नहीं निकलता। अतएव यह सिद्ध हुआ कि सोडियम का वर्णच्छत्र पीले रंग की दो रेखामात्र है। इसी तरह ताँबे का वर्णच्छत्र दो-चार बैंगनी रंग की रेखामात्र है। केलशियम के वर्णच्छत्र में कुछ लाल रेखाएँ ही मिलती हैं। इसी तरह ६२ प्रकार की विभिन्न धातुओं के ६२ प्रकार के विभिन्न वर्णच्छत्र हैं। जैसे केवल गले की आवाज़ सुनकर ही व्यक्तिविशेष को पहचाना जाता है, वैसे ही वर्णच्छत्र को देखकर ही धातु को पहचाना जा सकता है।

इस विषय को ज़रा और भी गहरे पैठकर देखने की ज़रूरत है। मान लीजिए, आप पहाड़ या खान से एक पत्थर का टुकड़ा ले आये। अब आप यह जानना चाहते हैं कि उस पत्थर में कौन-कौन विभिन्न धातुएँ हैं। इसके लिए आपको वह पत्थर आग में डालकर उसकी लपटों के वर्णच्छत्र की जाँच करनी होगी। अगर उसके वर्णच्छत्र में दो पीली रेखाएँ दिखाई दें तो समझिए, उस पत्थर में निश्चय ही सोडियम धातु है। अगर दो नीले रंग की रेखाएँ दिखाई दें तो समझिए, उसमें ताँबे का अंश है। इसी तरह केवल वर्णच्छत्र की रेखाएँ देखकर ही यह बतलाया जा सकता है कि उस पत्थर में किन-किन धातुओं का अंश है।

यहाँ पर कुछ लोगों के मन में एक सन्देह उत्पन्न होगा। वह यह कि विभिन्न प्रकार के मूलपदार्थों की संख्या जब ६२ है और रंग केवल ७ ही हैं, तब वर्णच्छत्र का रंग देखकर सभी मूलपदार्थों का निरूपण कैसे किया जा सकता है? इस सम्बन्ध में हमें यह कहना है कि हमने ऊपर जो केवल ७ ही रंग बतलाये हैं, सो केवल बहुत ही स्थूल अनुमान है। विज्ञान की भाषा में रंग बेशुमार हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि सारे आकाश में ईथर नाम का एक अदृश्य पदार्थ व्याप्त है। इसी ईथर में जब लहर पैदा होती है, तो हम उसे प्रकाश कहते हैं। हमारे पाठकों में से बहुतों को यह मालूम होगा कि वायुमण्डल की लहर को ही शब्द कहते हैं। वायुमण्डल में असंख्य प्रकार के शब्द उत्पन्न किये जा सकते हैं। आजकल के रेडियो का आविष्कार इसी सिद्धान्त के द्वारा हुआ है। अगर लहर की लम्बाई चार फ़ुट की हो तो उसकी गणना साधारण शब्द में होती है; अगर लहर की लम्बाई एक फ़ुट की हो तो उससे जो शब्द उत्पन्न होगा, वह इतना सूक्ष्म होगा कि हमारे कान शायद उसे सुन भी न पावेंगे। ईथर में जो लहर पैदा होती है, वह लम्बाई में इतनी छोटी होती है कि उसे नापने के लिए प्रचलित फ़ुट या इंच या मिलीमीटर से काम नहीं चल सकता। एक सेंटिमीटर के दस करोड़ भाग करके उसके एक भाग को माप मान लिया जाय तो लाल प्रकाश की लहरों की लम्बाई ६५०० ऐसे भागों के बराबर होगी, पीले प्रकाश की लहरों की लम्बाई ५६०० भागों के समान होगी, बैंगनी प्रकाश की लहरों की लम्बाई ४००० भागों के समान होगी। सोडियम के वर्णच्छत्र में जो दो पीली प्रकाश की रेखाएँ देख पड़ती हैं, उनमें से एक की लम्बाई ५८९६ और दूसरी की लम्बाई ५८९० भागों के बराबर होती है। इसी तरह प्रत्येक मूलपदार्थ के वर्णच्छत्र में जो प्रकाश की रेखाएँ होती हैं, उनकी एक निर्दिष्ट लम्बाई होती है। अतएव एक पदार्थ के वर्णच्छत्र में अन्य पदार्थ के वर्णच्छत्र का भ्रम होने की कोई सम्भावना नहीं है।

जिस तरह पियानो, बेहाला, सरोद, क़ानून या सितार आदि बाजों को बजाकर वायुमण्डल में लहरें पैदा की जा सकती हैं, वैसे ही विभिन्न प्रकार के परमाणुओं को उत्तप्त करने पर अथवा उनके भीतर तड़ित्शक्ति का संचालन करने पर उससे उत्पन्न प्रकाश-लहरों के आकार में ईथर में फैलता है। अतएव प्रत्येक प्रकार के मूलपदार्थ के परमाणु को ईथर के सागर में लहरें पैदा करनेवाला बाजा कहा जा सकता है। जैसे बेहाला का एक तरह का स्वर होता है, पियानो का दूसरे प्रकार का स्वर होता है, वैसे ही हाईड्रोजन के परमाणु में एक तरह का वर्णच्छत्र या रंग होता है, सोडियम के परमाणु में दूसरी तरह का वर्णच्छत्र होता है और लोहे के परमाणु में तीसरी तरह का वर्णच्छत्र होता है।

अब देखिए, किस तरह वर्णच्छत्र से सूर्य के संगठन का अथवा उसके भीतर कौन-कौन धातुएँ हैं, इसका निरूपण किया जा सकता है। हम पहले प्रत्येक धातु के भिन्न-भिन्न रंग का, या वर्णच्छत्र का उल्लेख कर चुके हैं। वह रंग तभी पाया जाता है, जब वह मूलपदार्थ भाप के आकार में रहता है। जैसे—अगर किसी आग की लपट में लोहे की बनी चीज़ डाली जाय तो उसकी लपट के वर्णच्छत्र में

उसे किसी तरह व्रत नहीं कहा जा सकता। अगर कोई सत्यनारायण का व्रत करना चाहे तो उसे स्वयं सब समय, सब जगह और सभी बातों में सत्य का आचरण करके और यावज्जीवन अपने सम्पर्क में आनेवाले सभी लोगों को सत्य की महिमा समझाकर मन-वाणी-काया से सत्य का आचरण या पालन करने की दीक्षा देनी चाहिए। तभी सत्यनारायण का व्रत करने का पुण्य होता है।

पृथ्वी पर बहुत से लोग प्रभुत्व और ऐश्वर्य की कामना करते हैं। धर्म अर्थात् शास्त्र कहता है कि सब जीवों पर दया और सर्वदा सत्य का आचरण करने से ही प्रभुत्व और ऐश्वर्य प्राप्त किया जा सकता है। यही सत्य पुराण में एक सुन्दर रूपक के द्वारा हमें बतलाया गया है। पुराण में कहा है कि प्रभाव और सम्पत्ति अर्थात् शक्ति और लक्ष्मी, कल्याण-कामना और सत्य (अर्थात् शिव और सत्यरूप नारायण) की अनुगामिनी हैं। कारण, शक्ति शिव की पत्नी और लक्ष्मी सत्यनारायण की अर्द्धांगिनी हैं। पति की आराधना करो, पत्नी तुम पर अवश्य ही अनुग्रह करेगी। वैसे ही धन-धान्य, सन्तति, संपत्ति आदि ऐहिक लक्ष्मी प्राप्त करने की जिस की इच्छा हो, उसी को सत्य और सत्यनारायण की आराधना करने के लिए इस व्रत की कथा में उपदेश दिया गया है।

हिन्दू-धर्म और हिन्दू-नीतिशास्त्र ने सत्य का विराट् और व्यापक अर्थ किया है। भगवान् वेद-व्यास ने सत्य के तेरह विभिन्न रूपों की कल्पना की है। हिन्दू-शास्त्रों और पुराणों में खोज करने से हम सत्य के तीन प्रधान अर्थ पाते हैं—

प्रथम—सत्य का अर्थ है यथार्थ कथन। जिस बात को जिस रूप में जैसे हमने जाना है या जैसा होते देखा है, उसे ठीक उसी तरह उसी रूप में कहना ही सत्य है।

द्वितीय—सत्य का अर्थ है ऋत ; सृष्टि का नियम या किसी महान् कार्य का विधान। सत्य से ही सूर्योदय होता है, सत्य से ही वायु चलती है, सत्य से ही यह पृथ्वी विश्व को धारण किये हुए है, सत्य से ही लोक पलते हैं, सत्य में ही धर्म और यज्ञ स्थित हैं, इत्यादि शास्त्र के वचनों में सत्य को एक अलंघनीय नियम माना गया है।

तृतीय—सत्य का अर्थ है प्रतिज्ञा-पालन। एक बार मुँह से जो बात निकल जाय, उसका पालन करना भी सत्य है। एक बार वचन देकर उसे अन्यथा न करना ही सत्य है। इसी सत्य के पालन के लिए दानी कर्ण ने इन्द्र को अपना शत्रुपक्ष और अपनी निश्चित प्राणहानि जानकर भी अपने कुण्डल दे दिये थे, रामचन्द्र ने वनवास के कष्टों को सहर्ष स्वीकर कर लिया था। इसी सत्य की रक्षा के लिए महाराज हरिश्चन्द्र ने सारा राज्य दे डाला और अन्त में भंगी के हाथ बिके। अधिक क्या कहें, इसी सत्य की रक्षा के लिए मातृभक्त पांडवों ने माता के वचन को मिथ्या न होने देने के लिए द्रौपदी के साथ ब्याह किया, अर्थात् एक स्त्री के पाँच पति होने का निन्दनीय कार्य भी स्वीकार कर लिया।

आज कल हम लोगों की दृष्टि में सत्य का अर्थ बदल गया है। भिक्षा में क्या मिला है, यह जाने बिना अगर कोई माता आज कह दे कि भिक्षा में मिली हुई वस्तु को पाँचो भाई बाँट लो, तो उसके इस कथन के सत्य की रक्षा करने के लिए यदि आज कोई पाँच भाई एक ही स्त्री को अपनी पत्नी बना लें तो उन्हें हम सत्यनिष्ठ न कहकर मूर्ख कहेंगे। इसी तरह एक क्रोधी ब्राह्मण को स्वप्न में राज्यदान करने के कारण उस सत्य की रक्षा के लिए सर्वस्वदान करने-वाले और उस दान की पूर्त्ति के लिए स्त्री-पुत्र और अपने को भी बेच डालनेवाले राजा को हम नालायक़ के सिवा और कोई उपाधि नहीं देंगे। ख़ैर, वह कुछ हो, हम तो यहाँ सत्यनारायण शब्द का अर्थ कर रहे हैं।

जनसाधारण में दो वृत्तियाँ विशेष रूप से प्रबल रहती हैं, लोभ और भय। इन दोनो वृत्तियों में से लोभ को ही पहले लिया है और उसी लोभ की पृष्ठ-भूमि पर सत्य की महिमा का चित्र खींचा है। सत्य का पालन और कीर्तन करो, तुम्हारी सन्तति और सम्पत्ति बढ़ेगी, सब संकट दूर होंगे, मन की कामना पूरी होगी। यही लोभ है। और, सत्य को भूल जाओ, सत्य को छिपाओ तो शीघ्र तुम्हारे कुल का विनाश होगा, धन-धान्य भी नष्ट हो जायगा, दामाद डूब मरेगा। जिस राजा ने अन्यायपूर्वक किसी को क़ैद में डाल रक्खा है, उसका सर्वनाश होगा और उस पर तरह-तरह की आफ़तें आवेंगी। यह है भय।

सत्यनारायणव्रत के प्रचार से जनसाधारण का यथेष्ट उपकार हुआ है। सत्यपालन सभी वर्णों का

धर्म है, यह बतलाने के लिए, इस तत्त्व का प्रचार करने के लिए सत्यनारायण की कथा के भीतर ब्राह्मण, राजा, साधु बनिया और लकड़हारा आदि सभी वर्णों का समावेश किया गया है। सत्य के पूर्वोक्त तीनों अर्थ सत्यनारायण की कथा में ग्रहण किये गये हैं। साधु बनिया और उसके दामाद ने पहले की प्रतिज्ञा भुला दी थी, इसी से उन पर सत्यदेव का कोप हुआ, जिसके फलस्वरूप चन्द्रकेतु राजा भी उनके प्रति विमुख हो गये। इसके बाद जब साधु बनिया के परिवार की स्त्रियों के हृदय में प्रतिज्ञापालन की धर्मबुद्धि जागी, तभी राजा चन्द्रकेतु के हृदय में भी न्यायबुद्धि जाग उठी। बनिया और उसके दामाद ने चोर के डर से दंडी साधु से झूठ बोला, इसी से उनका सर्वनाश हो गया, सारी सम्पदा लत्ता-पत्ता बन गई। इसके बाद जब उनके मन में पछतावा आया, विनाश का भय मन में आया, तब वे सत्य-निष्ठ हुए और उनका सब तरह कल्याण हुआ। कलावती कन्या ने पति के दर्शन की जल्दी में व्रत के नियम को तोड़ा, प्रसाद को छोड़कर चली गई। तुरन्त उसके पति की नाव डूब गई। तुंगध्वज राजा ने राजा होने के मद से, वर्णाभिमान के कारण सत्य के प्रसाद का अनादर किया। उनके पुत्र मरे, राज्य नष्ट हो गया। कलावती और तुंग ध्वज ने जब मोह और मद से छुटकारा पाकर सत्य की शरण ली, तब सब उनका पूर्ववत् हो गया। इतनी कथा कहकर कथावाचक कहता है—भाइयो, सत्य पर निष्ठा रक्खो, सत्य बोलो। प्रतिज्ञा को न तोड़ना। समाज या प्रकृति के किसी नियम को न तोड़ना। इस तरह चलने से तुम्हारा इस लोक और परलोक में कल्याण होगा; क्यों कि जो सत्य की राह में चलता है, उसकी सब कामनाएँ पूरी होती हैं—

सर्वान्कामानवाप्नोति प्रेत्य सायुज्यमाप्नुयात्।

इधर भी दृष्टि रखनी होगी कि इस लौकिक काव्य में सत्य की सर्वसंगपरित्यागी दण्डी के रूप में कल्पना की गई है। सत्यमार्ग में चलने पर सब वासनाओं का क्षय हो जाता है और मनुष्य संन्यास की वृत्तियाँ ग्रहण कर लेता है। कवि ने अत्यन्त सुन्दर भाव से इस बात का इशारा किया है कि सत्य का आचरण करने से मनुष्य को भीतर की वृत्तियाँ नियंत्रित करने की और बाहर समाज को नियंत्रित करने की 'दण्डी'-शक्ति प्राप्त होती है। पूजा में सत्य के स्वरूप और महिमा का जो वर्णन किया गया है, उसमें कुछ बहुत ही सुन्दर उदारभाव से पूर्ण श्लोक हैं। उन्हें यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—

नारायण त्वमेवासि सर्वेषाञ्च हृदि स्थितः।
प्रेरकः प्रेर्यमाणानां त्वया प्रेरितमानसः॥
त्वदाज्ञां शिरसा धृत्वा भजामि जनपावनम्।
नानोपासनमार्गाणां भावकृद्भावबोधकः॥
त्वदधिष्ठानमात्रेण सैव सर्वार्थकारिणी।
तमेव त्वां पुरस्कृत्य भजामि हितकामया॥
न मे त्वदन्यस्त्राताऽस्ति त्वदन्यं न हि दैवतम्।
त्वदन्यं न हि जानामि पालकं पुण्यरूपकम्॥
नमस्ते देवदेवेश नमस्ते धरणीधर।
त्वदन्यः कोऽत्र पापेभ्यस्त्राताऽस्ति जगतीतले॥

सत्यनारायण को वांछितार्थफलप्रदः कहा है। वह चाहे हुए मनोरथ को फलस्वरूप देनेवाले हैं। श्रीसत्यनारायण के व्रत और कथा के इस रहस्य को जो समझ लेता है, वह सत्यरूप नारायण की कृपा और प्रसाद को प्राप्त करता है। यह बात किसी प्राचीन शास्त्र में नहीं लिखी है, इस भावना से जो कोई इसका निरादर करेगा, सत्य का पालन मन-वाणी-काया से नहीं करेगा, उसका कोरा सत्यनारायण का व्रत निष्फल होगा। यह अच्छी तरह समझ लेना चाहिए। जो कोई सत्य की उपासना करता है, वह—

सततं सर्वदुःखेभ्यो मुक्तो भवति मानवः।
सर्वपापविनिर्मुक्तो दुर्लभं मोक्षमाप्नुयात्॥
इह सद्यः फलं प्राप्य परत्रमोक्षमाप्नुयात्।
धनधान्यादिकं तस्य भवेत्सत्यप्रसादतः॥
दरिद्रो लभते वित्तं बद्धो मुच्येत बन्धनात्।
भीतो भयात्प्रमुच्येत सत्यमेव न संशयः॥

अर्थात् मनुष्य सब दुःखों से छुटकारा पा जाता है, सब पापों से छूटकर दुर्लभ मोक्ष को पा जाता है। उसे शीघ्र ही यहाँ व्रत का फल मिलता है और मरने पर मोक्ष मिलती है। सत्य की कृपा से उसे धन-धान्य आदि मिलता है। दरिद्र को धन मिलता है। बँधा हुआ बन्धन से छूट जाता है। डरा हुआ मनुष्य भय से छूट जाता है। यह सब सत्य है।

× × ×

३—वर-वधू चिरायु हों।

हिन्दी के प्रसिद्ध मर्मज्ञ समालोचक और कालीचरण हाईस्कूल, लखनऊ के सुयोग्य हेडमास्टर विद्वद्वर श्रीयुत कालिदासजी कपूर हिन्दी के पुराने सेवक हैं। आप अधिक नहीं लिखते; पर जो लिखते हैं, वह सुचिन्तित और सत्साहित्य होता है। आपके पुत्र तो सुशिक्षित हैं ही, आपकी पुत्री सौभाग्यवती रमादेवी ने भी उच्च शिक्षा प्राप्त की है। रमादेवी ने इसी वर्ष काशी-विश्वविद्यालय से हिन्दी में एम्० ए० (सेकिंड डिवीज़न) पास किया है। हर्ष की बात है कि गत १८ मई को श्रीमती रमादेवी का शुभ विवाह दिल्ली-निवासी डाक्टर लेफ़्टिनेंट श्रीविष्णुस्वरूप मेहरोत्रा के साथ सकुशल सुसम्पन्न हो गया। हम यहाँ पर वर और वधू का फ़ोटो एक साथ देकर दोनों के चिरायु और सुखी होने की ईश्वर से प्रार्थना करते हैं। तथास्तु।

जवाहर

श्रीरामदुलार शुक्ल 'दुलार' 'साहित्य-रत्न'

दृष्टि चकराती है जवाहर का पानी देख,
सृष्टि आँकने में मूल्य बुद्धि-बल खोती है;
पर्चा एक-एक चारु चर्चा उसकी ही करे,
अर्चा आज कौन-से समाज में न होती है।
उसको निहार जग हार में पिरोना चाहे,
नग मुद्रिका का करने को मातु रोती है;
ऐसा तो जवाहर हुआ न है, न होगा कहीं,
जिसका जनक पानीदार लाल मोती है!

× × ×

Printed & Published by B. B. Kapur at the Newul Kishore Press, Lucknow.

APPROVED FOR USE IN SCHOOLS,
COLLEGES & LIBRARIES. IN U. P.,
C. P., C. I., PUNJAB, MEWAR, BEHAR
& BIKANER STATE.
माधुरी
सम्पादक

लेख-सूची

जून, १९४६ कोलम्बिया रिकार्ड

इस महीने में कोलम्बिया पर अच्छे-अच्छे रिकार्ड जारी हुए हैं। "पन्नादाई" स्टोरी सेट विशेष रूप से इस मास की भेंट है। जगह कम होने के कारण थोड़े से रिकार्डों पर ही हम अपने विचार प्रकट करते हैं—

ग़ैर फिल्मी:—फ़िल्मस्टोरी सेट "पन्नादाई"—(G.E. 5091/94)—इस फ़िल्म ने अपनी कहानी, आधुनिक वार्तालाप तथा अद्वितीय गायन के कारण जनता को लुभा लिया है। "कोलम्बिया" ने इस फ़िल्म की समस्त सर्वप्रिय चीज़ें चार दो तरफ़ा रिकार्डों पर इस प्रकार पेश की हैं कि इस पर उसको गौरव का अनुभव करना योग्य ही है।

G.E. 2926—गौरी केदार भट्टाचार्य। योग्यता और गायन में इनका नाम प्रसिद्ध है। इस रिकार्ड पर इन्होंने अपने तर्ज़ में दो भजन गाये हैं, जो कि सुनने वालों के लिए एक बढ़िया भेंट हैं।

G.E. 2922—फ़ीरोज़ा बेगम। इस रिकार्ड पर दो कसीदे हज़रत ख़्वाज़ा की तारीफ़ में गाये गये हैं। मुसलमानों में यह रिकार्ड बहुत पसन्द होंगे।

G E. 5089—फ़क़ीरउद्दीन। इस पर मास्टर फ़क़ीरउद्दीन की गाई हुई दो ग़ज़लें हैं—

"उनकी शोखी ने मुझे बदनाम"
"मजरूह करके चोर चले"

ग़ज़ल के लिए प्रभाव शाली होने की आवश्यकता है और इस गुण में मास्टर फ़क़ीरउद्दीन से बढ़कर और कोई आर्टिस्ट नहीं है।

फ़िल्म रिकार्ड "शमाय"—G.E. 3685/88—
"मिनर्वा मोवीटोन"

कोलम्बिया पर अनेक उत्तम रिकार्ड निकलते हैं। विख्यात आर्टिस्ट शमशाद बेगम तथा ज़ोहरा जान ने इस फ़िल्म के गाने गाये हैं, जिसके लिए कम्पनी ने बहुत रुपया ख़र्च किया है। आप इन रिकार्डों को अवश्य सुनें।

रीगल पर नौटंकी ड्रामा "वीरअभिमन्यु।" R.L. 314/K देहाती पब्लिक के शौक के लिए पेश किये हैं। उस्ताद अहमद ने दो ग़ज़लें R.L. 926 पर गाई हैं। ये ग़ज़लें असाधारण गुण तथा ख़ूबी रखती हैं।

दी कोलम्बिया ग्रामोफ़ोन कम्पनी लिमिटेड.

महात्माजी का चमत्कार

प्रेमवटी ने अपनी ख़ूबी से सारी दुनिया में तहलका मचा दिया

कांग्रेस की राय

(प्रेमवटी वास्तव में एक अद्वितीय औषधि है। पहले हमें इस औषधि पर इतना विश्वास न था, किन्तु जब हमने इसका स्वयं परीक्षण किया तब हम इस परिणाम पर पहुँचे हैं कि यह औषधि विज्ञापन में दिये गये तमाम रोगों की केवल एकमात्र अचूक औषधि है। हम आशा करते हैं कि भविष्य में यह कम्पनी इससे भी उत्तम औषधियों का निर्माण कर जनता को लाभ पहुँचायेगी।—कांग्रेस, देहली)

भारत के योगियों ने वनों और पर्वतों की कन्दराओं में रहकर वे चमत्कार दिखलाये हैं जिनसे बड़े-बड़े वैज्ञानिक और चिकित्सक हैरत में आ गये हैं। आधुनिक चिकित्सकों को जब कोई रोग की औषधि से सफलता नहीं मिलती तब वह उसे लाइलाज घोषित कर देते हैं। परन्तु महात्मा लोग जड़ी-बूटियों की सहायता से मुर्दे को भी जिला देने का दावा करते हैं। भाइयो, इसे ध्यान से पढ़ो तथा अपने इष्ट-मित्रों को सुनाओ। यह लेख जो लिखा गया है, कोई गप्प नहीं है बल्कि मेरे जीवन की चन्द घटनायें हैं जो आपके सम्मुख रखता हूँ। मेरा जन्म एक धनी परिवार में हुआ। अपने पिता का लाड़ला पुत्र होने के कारण मैं धन और व्यसन में घिरा रहता था, लेकिन फिर भी मैं सुखी नहीं था। कुसङ्गति में पड़कर मुझे जरियान और प्रमेह रोग हो गया। पहले तो एक दो साल मैंने लोकलाज के कारण अपना भेद छिपाये रखा, परन्तु रोग ने भयानक सूरत अख़्तियार कर ली। अब मैं घबरा उठा। संसार में चारों ओर अँधेरा मालूम होने लगा, तब मेरी आँखें खुलीं। इलाज शुरू किया गया। बड़े-बड़े डाक्टरों, हकीमों, वैद्यों के फ़ीसरूप में और क़ीमती दवाइयों के ख़रीदने में पानी की तरह रुपया बहाने लगा, फिर भी मैं निराश ही रहा। अब मैं घबरा उठा और चारों तरफ़ से अन्धकार दिखलाई देने लगा और सोचने लगा कि इस दुःखमय जीवन से मर जाना बेहतर है।

पर यह बीस साल पहले की बात है। अब आज मैं ख़ुश हूँ। आज उस परमात्मा की कृपा से आरोग्य हूँ और मेरे तीन स्वस्थ बच्चे भी हैं जो बिलकुल आरोग्य हैं।

हुआ क्या! मुझमें इतना परिवर्तन कैसे हो गया? यह जानकर आपको आश्चर्य होगा कि मैंने एक दवा सेवन की। जो दवा मैंने सेवन की, वह एक महान् त्यागी परोपकारी साधु की बनाई हुई थी जो समय काटने के लिए गाँव से कुछ दूर एक ईंट के खेड़े पर रम रहे थे। यह मेरा सौभाग्य था कि और लोगों के साथ मैं भी दर्शनों के लिए जा पहुँचा। दैवी शक्ति से मेरे दुःखी जीवन के पिछले अध्याय उनके हृदयपट पर खिंच गये और मेरी आँखों ने हृदय का सारा भेद अपने आप उस महान् पुरुष पर प्रकट कर दिया। मेरी कच्ची उम्र पर महात्मा को दया आई और उन्होंने मुझे कुछ जड़ी-बूटियाँ एकत्र करने की आज्ञा दी। मैंने वैसा ही किया और तब उनके सम्मुख ही मुझे उनके आदेश और निजी देख-रेख में 'प्रेमवटी' तैयार करनी पड़ी। यद्यपि मुझसे ४० दिन लगातार 'प्रेमवटी' का सेवन करने को कहा गया था, तथापि केवल बीस दिन के सेवन से ही मुझमें परिवर्तन हो गया। मेरी कमज़ोरी और तमाम गुप्त बीमारियाँ जड़ से दूर हो गईं। पीले और उदास मुख पर लाली दौड़ने लगी, आँखों में उन्माद झूमने लगा और हृदय में जवानी का जोश उमड़ आया। महात्माजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करने के साथ ही अपने वादे को पूरा करने के लिए दुःखीजनों के निमित्त पिछले बीस साल से लगातार मैं इस प्रयोग को मुफ़्त बाँट रहा हूँ। यह अनेक पत्र-पत्रिकाओं में भी छप चुका है। मुझे हर्ष है कि इस अमृत-तुल्य प्रयोग ने सैकड़ों की प्राण-रक्षा की, हज़ारों को मौत के मुँह से निकाला और लाखों का इससे भला हुआ। महात्मा-प्रदत्त 'प्रेमवटी' का नुस्ख़ा इस प्रकार है। नोट कर लें—

शुद्ध त्रिफला ५ तोला, त्रिकुट चूर्ण ५ तोला, शुद्ध सूर्यतापी शिलाजीत ५ तोला, शुद्ध बंगभस्म ६ माशा, असली सूर्यछाप केसर ३ माशा, असली अकरकरा ६ माशा, असली नेपाली कस्तूरी ३ रत्ती। इन सब औषधियों को कूट-छानकर खरल में डालकर ऊपर से शीतलचीनी का तेल २० बूँद, सन्दल तेल २० बूँद, बिरोजे का तैल २० बूँद एक-एक करके मिलाये। उसके बाद ताजी ब्राह्मी बूटी के अर्क में १२ घण्टा घोटकर झरबेरी बेर के बराबर गोलियाँ बनावें और छाया में सुखा लें। एक-एक गोली सुबह-शाम पाव भर गाय के दूध में एक तोला शक्कर मिलाकर सेवन करें। इसकी प्रशंसा हम अपने ही मुँह से नहीं करते, बल्कि बड़े-बड़े वैद्यों, डाक्टरों, हकीमों, सेठ-साहूकारों तथा रईसों, ज़मींदारों, सरकारी आफ़िसरों तक ने इसकी सराहना की है। वैद्यराज श्रीयमुनादत्त शर्मा, झोंकर का कहना है कि यह बूटी धातु के पतलेपन, २० प्रकार के प्रमेह के लिए अक्सीर है।

'प्रेमवटी' में कोई हानिकारक चीज़ नहीं पड़ती और गुणकारी चीज़ें नुस्ख़े से ही प्रकट हैं। यह औषधि वीर्य का पतलापन, बीसों प्रकार के प्रमेह, पेशाब के साथ चूने की तरह वीर्य का जाना, पाख़ाने के समय धातु का जाना, स्वप्नदोष, सुस्ती, कमज़ोरी, नामर्दी, डाइबटीज़, मधुमेह, सुज़ाक, जवानी में बुढ़ापे की-सी हालत हो जाना, असली ताक़त की कमी, स्मरणशक्ति कमज़ोर पड़ जाना तथा स्त्रियों के भी प्रदरसम्बन्धी रोग दूर करके अत्यन्त ताक़त देती है और नस-नस में नवजीवन का सञ्चार करती है। अन्त में उन भाइयों को, जिन्हें फ़ुरसत नहीं मिलती या शुद्ध औषधि प्राप्त नहीं कर सकते, यह प्रयोग स्वयं बनाकर दाम के दाम में भेजने की व्यवस्था की है। ४० दिनों के लिए पूरी ख़ूराक विधिवत् ८० गोलियों का मूल्य ५॥=) रु० और २० दिन के लिए ४० गोलियों के दाम ३=) डाकख़र्च ॥।-)

पता—बाबू श्यामलालजी रईस, प्रेमवटी आफ़िस नं० (M.L.) धनकुट्टी, कानपुर

वर्ष २४ खंड २] तु० सं० ३२२ ; आषाढ़, सं० २००३ वि० ; जुलाई, १९४६ [संख्या ६ पूर्ण संख्या २८८

कंटक

पं० लक्ष्मीशंकर मिश्र "निशंक"

एक वृन्त पर ही तो रहते हैं दोनों काँटे औ फूल,
किन्तु सुमन सबका मन हरते, कंटक बन जाते हैं शूल,
फिर भी चिर-यौवन है मुझमें, मैं रहता हूँ चिरनूतन,
मूक बना देखा करता हूँ कुसुम का उत्थान-पतन।
प्रेमी जन भी सोच न जाने क्या, मुझको बतलाते शूल ;
क्योंकि कल्पना में चुभकर मैं बतलाता हूँ उनकी भूल।
कुसुम-सदृश-कोमल पदतल में गड़ जाता हूँ जब अनजान,
निठुर हृदय को तब क्षण भर ही होता है पीड़ा का ज्ञान।
देख मुझे ही विप्र-चरण में विकल हो उठे थे घनश्याम,
जीवन सफल हुआ मेरा भी पा करुणाकर-स्पर्श ललाम।
कुछ अज्ञानी दीन अकिंचन जान मुझे कंटक कहते,
हुआ सूखकर काँटा हूँ मैं नित ठोकर सहते-सहते।
रसिकों ने चाहा न मुझे, पर विरही-जन तो करते प्यार;
मुझसे व्यथा हृदय की कहते लुटता जब उनका शृंगार।
सदा विपथगामी के पथ पर चुभकर करता उसे सचेत,
मौन तपस्वी-सा सत्पथ पर चलने का करता संकेत।

वेद में गायत्री छन्द की व्यापकता

श्रीमोहनशरण मिश्र शास्त्री, साहित्यव्याकरणाचार्य, विशारद, बी० ओ० एल्०

मनुष्यमात्र का यह स्वभाव है कि सुन्दर वस्तुओं को देखकर और मधुर शब्दों को सुनकर उनकी ओर विशेषतः आकर्षित होता है। वह चमत्कार को अधिक पसंद करता है; क्योंकि चमत्कार मन और आत्मा में अनुराग एवं सुख पैदा करता है। उससे अपूर्णता के बंधन कटते हैं, अतएव वह आत्मीय है। यद्यपि किसी विशेष वस्तु में आत्मा या मन का केन्द्रित होना भी बंधन ही है, किन्तु उपयोगी और अनुकूल होने से वह कष्टकर नहीं होता। भावों का बंधन—चित्त-विक्षेप की निवृत्ति—ही सुख की अभिव्यक्ति है; क्योंकि जहाँ अनुकूलता नहीं वहाँ भावबंधन हो नहीं सकता। अतः अनुकूलता का ज्ञान एवं उसे इष्टसाध्य एवं कृतिसाध्य जानकर तदनुकूल प्रवृत्ति ही—'अनुकूलतया वेदनीयं सुखम्'—नैयायिकों का सुख है। केवल अंतरतम प्रदेश में प्राप्त होने और वाणी द्वारा प्रकट न किये जाने से वह गीता में भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा 'बुद्धिग्राह्यमतींद्रियम्' माना गया है। इसी भाव को कविप्रजापति कालिदास ने "रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान् पर्युत्सुकीभवति यत् सुखितोऽपि जंतुः" के द्वारा अपने शाकुन्तल नाटक में प्रकट किया है। मानव की यह उपरितन प्रवृत्ति लौकिक और आध्यात्मिक (उभय) पक्षों में समान रूप से देखी जाती है।

इसी प्रवृत्ति के कारण मानव ने अपनी कल्याणी वाणी के उन्मुक्त प्रवाह को लयताल-समन्वित छन्दों में बाँधा, जिसके फलस्वरूप 'गांधर्ववेद' (संगीतशास्त्र और नाट्यशास्त्र) नामक उपवेद और 'छंदःशास्त्र' नामक वेदांग उत्पन्न हुआ। 'अभिव्यक्ति की कुशल शक्तिरूप' कला की दृष्टि से वैदिक और लौकिक-साहित्य में प्रगतिशीलता एवं स्थायित्व लाने के कारण 'छन्दःशास्त्र' वेदों का चरण माना गया, जैसा कि पाणिनि ने अपनी शिक्षा में "छन्दः पादौ तु वेदस्य" कहकर प्रकट किया है।

गद्य, पद्य और गीति भेद से वेदों की रचना तीन प्रकार की पाई जाती है। ऋक् पद्य में है, यजुः गद्य में और साम गीति में। इसी से वेदों का एक नाम 'त्रयी' भी है। अर्थात् 'त्रयी' शब्द का अर्थ है 'ऋक्', 'यजुः' और 'साम' नाम के तीन प्रकार के मंत्रोंवाली रचना। इसलिए ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद ये चारों अलग-अलग एक-एक त्रयी हैं; क्योंकि चारों में ही तीनों प्रकार के मंत्र न्यूनाधिक हैं। महर्षि जैमिनि ने मीमांसासूत्रों में साफ़ लिखा है—तच्चोदकेषु मंत्राख्या (२।१।३२), शेषे ब्राह्मणशब्दः (२।१।३३), तेषाम् ऋग् यत्रार्थवशेन पादव्यवस्था (२।१।३५), गीतिषु सामाख्या (२।१।३६), शेषे यजुः शब्दः (२।१।३७)। अर्थात् वेद के विधि-वाक्यों का नाम मंत्र है। निरुक्त में भी "मंत्राः मननात्" (७।१२।१) के द्वारा यही स्पष्ट किया गया है—अध्यात्म, अधियज्ञ और अधिदैव के मननशील इन्हीं के (विधिवाक्यों के) द्वारा मनन करते हैं, इसी लिए ये मंत्र कहे जाते हैं। शेष अर्थात् विधानात्मक मंत्रों को छोड़कर अवशिष्ट वेदभाग को ब्राह्मण कहते हैं। मंत्रों में से जिनमें अर्थ के वश से चरण की व्यवस्था है उन्हें 'ऋक्' और गीतियों को 'साम' तथा शेष मंत्रों को 'यजुः' कहा जाता है और ये तीनों तरह के मंत्र चारों वेदों में प्रचुर संख्या में मौजूद हैं। उव्वट ने तेरह तरह के मंत्रों का उल्लेख किया है—विधिवाद, अर्थवाद, याच्ञा, आशीः, स्तुति, प्रैष, प्रवह्लिका, प्रश्न, व्याकरण, तर्क, पूर्ववृत्तानुकीर्तन, अवधारण और उपनिषत्। सायण के अनुसार वेद का ब्राह्मणभाग हेतु, निर्वचन, निंदा, प्रशंसा, संशय, विधि, परकृति, पुराकल्प, व्यवधारण, कल्पना और उपमान आदि दस विषयों से युक्त है।

वेदसंहिताओं के पढ़ने की दो प्रणालियाँ हैं—निर्भुज संहिता और प्रतृण संहिता। मूल के अविकल (बिना हेर-फेर किये ज्यों के त्यों) पाठ को निर्भुजसंहिता कहते हैं। जैसे—'अग्निमीळे पुरोहितम्' का पाठ 'अग्निमीळे पुरोहितम्।' किन्तु जब मूल विकृत रूप से पढ़ा जाता है, तब वह प्रतृणसंहिता है। प्रतृणसंहिता के कई भेद हैं—पदसंहिता, क्रमसंहिता, जटा और घन आदि। पाणिनि ने 'अध्ययनतोऽविप्रकृष्टाख्यायाम्' (२।४।५) के द्वारा 'पदक-क्रमकम्' इत्यादि द्वन्द्वों के लिए तथा यज्ञकर्मणि अजपन्यूङ्खसामसु (७।४।६४) के द्वारा

स्वरविधान के लिए अपने सूत्र में इनका स्पष्ट निर्देश किया है। पदसंहिता में केवल संधि, विराम आदि का थोड़ा विचार किया जाता है। जैसे पद पाठ में "अग्निमीले पुरोहितं देवस्य यज्ञमृत्विजम्" को "अग्निम्, ईले, पुरः, हितम्, यज्ञस्य, देवम्, ऋत्विजम्" के रूप में पढ़ा जाता है। किन्तु क्रम-संहिता में यही मंत्र—अग्निम् ईले, ईले पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवम्, देवम् ऋत्विजम्—ऐसा क्रम धारण करता है। जटापाठ ज़रा टेढ़ा है—'अग्निम् ईले, ईले अग्निम्, अग्निम् ईले; ईले पुरोहितम्, पुरोहितम् ईले, ईले पुरोहितम्; पुरोहितं यज्ञस्य, यज्ञस्य पुरोहितम्, पुरोहितं यज्ञस्य; यज्ञस्य देवम्, देवं यज्ञस्य, यज्ञस्य देवम्; देवम् ऋत्विजम्, ऋत्विजं देवम्, देवम् ऋत्विजम्।' घनपाठ तो अत्यंत विचित्र है—'अग्निम् ईले, ईले अग्निम्, अग्निम् ईले; पुरोहितम् पुरोहितम् ईले; अग्निम् अग्निम् ईले, पुरोहितम् ईले; पुरोहितम्पुरोहितम् ईले; ईले पुरोहितम्, यज्ञस्य-यज्ञस्य पुरोहितम्; ईले-ईले पुरोहितम् यज्ञस्य पुरोहितम्; यज्ञस्य-यज्ञस्य पुरोहितम्; पुरोहितं यज्ञस्य; देवं यज्ञस्य; पुरोहितं-पुरोहितं यज्ञस्य; देवं यज्ञस्य; देवं-देवं यज्ञस्य; यज्ञस्य देवम्, ऋत्विजम्-ऋत्विजम् देवम्; यज्ञस्य-यज्ञस्य देवम् ऋत्विजम्।' वेदों के मूलपाठ सदा शुद्ध रहें, कहीं से कोई प्रक्षिप्त घुसने न पावे, इसीलिए ये आम्रेडन (द्विरुक्ति, त्रिरुक्ति) किये जाते हैं।[1] इसी प्रकार पाठ के और भी अन्यान्य कई प्रकार और क्रम हैं।—जैसे माला, शिखा, लेखा, ध्वज, दंड और रथ। विस्तारभय से और पाठों के उदाहरण नहीं दिये गये। काल-भेद, देशभेद, व्यक्ति-भेद और उच्चारणभेद से एवं आचार्यों के प्रकृति-वैषम्य के कारण अनुष्ठानभेद और प्रयोगभेद के कारण भी पाठ में अनेक भेद हो गये हैं। इन पाठों को देखकर अपने अपूर्व पूर्वपुरुषों की अपार श्रमशीलता एवं अदम्य सात्त्विक धैर्य पर आश्चर्यचकित होना पड़ता है।

ऊपर दिखलाये गये आम्रेडित पाठ के द्वारा अध्येताओं ने वेद के गीति और पद्यों में नूतन शब्दों के आगमन या मिश्रण को तो सदा के लिए रोक ही दिया, किन्तु वर्ण और मात्रा की गिनती के बन्धन से रहित गद्यात्मक मंत्रों की प्रत्यक्षर सुरक्षा के हेतु भी भरपूर प्रयत्न किया है। गद्यभाग अधिक नहीं, अतः पद्य और उसके रक्षक छन्दःशास्त्र तथा संगीतशास्त्र की ओर आर्यों का ध्यान अधिकतर आकृष्ट रहा। फलतः इनका विकास भी अपूर्व ढंग से हुआ। (संगीत के विकास के विषय में अधिक जानना हो तो 'माधुरी' नवम्बर १९४९ में 'भारतीय संगीत' शीर्षक मेरा लेख देखिये।)

छन्दों के अगणित भेद हैं। पिंगलाचार्य ने अपने छंदःशास्त्रमें केवल मात्रिक (दो से बत्तीस मात्रावालों की ही न कि दंडकों की) छन्दों की ही बानबे लाख सत्ताइस हज़ार चार सौ बासठ संख्या मानी है। अतएव यह प्रसिद्ध है कि—

"द्वै कल ते बत्तीस लग छन्द बानबे लाख।
सहस सताइस चार सै बासठ पिंगल भाख॥

प्रस्तार की क्रिया से छन्दों के अनन्त भेद माने गये हैं—

"न पर्यतोऽस्ति वृत्तानां प्रस्तारगणनाविधौ।
पूर्वाचार्यकृतं चिह्नं वृत्तं किंचिदिहोच्यते॥"

ऐसी पिंगलाचार्य ने अपने ग्रंथ में प्रतिज्ञा की है। प्रस्तारभेद के कारण नये-नये छन्द भी बन जाते हैं। जैसे—षडक्षरचतुष्पात् आर्षी गायत्री का प्रस्तार करने पर तेरहवाँ भेद "तनुमध्या त्यौ" इस सूत्र के अनुसार 'तनुमध्या' वृत्त बन जाता है। अब भी हिन्दी में नये-नये छन्द प्रस्तार के द्वारा बनाये जाते हैं। जैसे हिन्दी के 'नरहरि' छन्द—'मनु सरन गहे सब देवा नरहरी' तथा 'योग' छन्द—'द्वादश पुनि आठ सुकल योग सुहायो' आदि छन्द प्रस्तार की रीति से नूतन रचे गये हैं।

किन्तु सभी छन्दों की अपेक्षा गायत्री-वृत्त व्यापक, आदरणीय एवं प्रिय माना गया है। लौकिक अनुष्टुप् वृत्त के समान वैदिक गायत्री छन्द का भी सर्वप्रथम आविर्भाव हुआ था। इसी लिए गायत्री को वेदमाता कहते हैं। स्वयं वेद भगवान् ने ही उसे एकपदी, द्विपदी, त्रिपदी, चतुष्पदी और अपदी (चरणरहित) माना है।

"गायत्र्यस्येकपदी द्विपदी त्रिपदी चतुष्पद्यपदसि।
नमस्ते तुरीयाय दर्शताय पदोरजसेऽसावदोम्॥"

और तुरीय अर्थात् अंतिम अपदी नामक गायत्री के भेद में 'ओम्' शब्द को उदाहृत किया है, जो कि रजोगुण सृष्टि से परे अर्थात् आत्मस्वरूप या अव्यक्त

१. छन्दांसि च्छादनात् ७।१२।६ निरुक्त। पाप-दुःखादि को जो आच्छादित (नष्ट) करे उसे छन्द कहते हैं। अथवा देवों के स्वरूप को जो आच्छादित करे, वह छन्द कहलाता है।

त्रिगुणात्मिका प्रकृति का बीजरूप स्वीकृत किया गया है। भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में उसे "गायत्रीच्छन्दसामहम्" के द्वारा अपना रूप ही माना है। पद्यहीन एवं चरणयुक्त दोनों रूपों के कारण ही इसकी व्यापकता स्वीकृत की गई है। पिंगलाचार्य ने अपने छन्दःसूत्र में द्वितीय "दैव्येकम्" इस तृतीय सूत्र से लेकर "प्राग् यजुषामार्ष्यः इति" इस सोलहवें सूत्र तक एकाक्षर से आरम्भ कर अड़तीस अक्षर तक की गायत्री का उल्लेख किया है। कोष्ठ द्वारा उनका उल्लेख करना अप्रासंगिक नहीं होगा।

(सारिणी १)

	संज्ञा	अक्षर	गोत्र	वर्ण	स्वर	देवता
१	आर्षी गायत्री	२४	अग्निवेश्य	सित	षड्ज	अग्नि
२	दैवी ”	१	”	”	”	”
३	आसुरी ”	१५	”	”	”	”
४	प्राजापत्या ”	८	”	”	”	”
५	याजुषी ”	६	”	”	”	”
६	साम्नी ”	१२	”	”	”	”
७	आर्ची ”	१८	”	”	”	”
८	ब्राह्मी ”	३६	”	”	”	”

वेदों में कुल सात छन्दों (गायत्री, उष्णिक् अनुष्टुप्, बृहती, पंक्ति, त्रिष्टुप् और जगती) का या इनके प्रस्तार के भेदों का ही प्रयोग हुआ है। वेदों की सभी शाखाएँ प्राप्त नहीं होतीं, अतः सभी उपभेदों के उदाहरण भी तो सुलभ नहीं हैं, जैसा कि निम्न ऋक् और संवर्त के लेख से ज्ञात होता है—

(१) 'गायत्री त्रिष्टुब् जगत्यनुष्टुप् पंक्त्या सह।
बृहत्युष्णिहा ककुप् सूचीभिः शम्यंतु त्वा॥"

(२) गायत्र्युष्णिगनुष्टुब्बृहती पंक्तिरेव च।
त्रिष्टुप् च जगती चैव छन्दांस्येतानि सप्त वै॥"
(संवर्त)

पिंगलसूत्र के तृतीयाध्याय के तिरसठवें सूत्र में क्रमशः इन छन्दों के देवता "अग्निः सविता सोमो बृहस्पतिर्मित्रावरुणाविन्द्रो विश्वेदेवा देवताः" के नाम पाये जाते हैं। चौसठवें "स्वराः षड्जादयः" पैंसठवें 'सित-सारंग पिशंग-कृष्ण-नील-लोहित-गौराः वर्णाः" और छियासठवें "अग्निवेश्य (अग्निवेश्य) काश्यप-गौतमांगिरसभार्गवकौशिक-वासिष्ठानि गोत्राणीति" सूत्र में क्रमशः उक्त सातों छन्दों के स्वर (स ऋ ग म प ध नि) वर्ण और गोत्र का प्रदर्शन भी किया हुआ है। पूर्वोक्त वैदिक छन्दों में नियत प्रमाण से एक मात्रा घटने-बढ़ने से क्रमशः "ऊनाधिकेनैकेन निचृद्भूरिजौ" (पिं० सूत्र ५६) निचृद् और भूरिक् तथा "द्वाभ्यां विराट् स्वराजौ (पिं०सू०६०)" के अनुसार दो मात्राओं की घटा-बढ़ी से विराट् और स्वराट् नामक भेद होते हैं। जहाँ एक ही छन्द में दो-दो उपभेदों के लक्षण देख पड़ते हों वहाँ प्रथम पाद के लक्षणों से मुख्य छन्द का निर्णय कर लेना चाहिए। जैसे—सातवें भेद के विषय में याजुषी भूरिक्

(सारिणी २)

		उपभेद				उपभेद	
अक्षर	गायत्री	१	२	अक्षर	गायत्री	१	२
१	दैवी	०	०	२०	आर्ची	स्वराट्	०
२	,,	भूरिक्	०	२१	पाद निचृत्	०	०
३	,,	स्वराट्	०	२२	आर्षी	विराट्	०
४	याजुषी	विराट्	०	२३	आर्षी	निचृत्	०
५	,,	निचृत्	०	२४	,,	०	०
६	,,	०	०	२५	,,	भूरिक्	०
७	,,	भूरिक्	प्राजापत्या निचृत्	२६	,,	स्वराट्	०
८	प्राजापत्या	०	०	२७	इनमें कोई भेद नहीं।		०
९	,,	भूरिक्	०	२८			०
१०	,,	स्वराट्	साम्नी विराट्	२९			०
११	साम्नी	निचृत्		३०			०
१२	,,	०	०	३१			०
१३	,,	भूरिक्	आसुरी विराट्	३२			०
१४	,,	स्वरा ्	आसुरी निचृत्	३३			०
१५	आसुरी	०	०	३४	ब्राह्मी	विराट्	०
१६	,,	भूरिक्	आर्ची विराट्	३५	,,	निचृत्	०
१७	,,	स्वराट्	आर्ची नि त्	३६	,,	०	०
१८	आर्षी	०	०	३७	,,	भूरिक्	०
१९	,,	भूरिक्	०	३८	,,	स्वराट्	०

या प्राजापत्या निचृद् का सन्देह उपस्थित होने पर प्रथम चरण से याजुषी सिद्ध हो तो 'याजुषी' और ऐसा न होने पर प्राजापत्या जाननी चाहिए। इस प्रकार के संदिग्ध स्थल केवल सात, दस, तेरह, चौदह, सोलह और सत्तरहवें भेदों में हैं अन्यत्र नहीं। निर्णय का यह प्रकार "आदितः संदिग्धे" (पिं० सू० ६२) द्वारा स्वयं आचार्य ने समझाया है। इसी तरह ऐसे स्थलों में "देवतादितश्च" (पिं० सू० ६१) के अनुसार देवताओं के निर्णय द्वारा भी शंका की निवृत्ति की जानी चाहिए। वर्तमान त्रयोविंशत्यक्षर "तत् सवितुर्वरेण्यम्, भर्गो देवस्य धीमहि। धियो यो नः प्रचोदयात्॥" यह सावित्रीमंत्र गायत्रीछंद के आर्षीभेद के चौबीस अक्षरों में से एक अक्षर न्यून होने के कारण "ऊनाधिकेनैकेन निचृद् भूरिजौ" के अनुसार "आर्षीगायत्री-निचृद्" है। इस सावित्रीमंत्र को ओंकार (प्रणव) और भूर्भुवः स्वः इन तीनों व्याहृतियों के साथ त्रयी से सर्वप्रथम ब्रह्मा ने साररूप से उद्धृत किया है, अतः वे ही इसके ऋषि द्रष्टा (ऋषिर्दर्शनात्) माने जाते हैं। मनु ने कहा भी है—

"त्रिभ्य एव तु वेदेभ्यः पादम्पादमदूदुहत्।
तदित्यृचोऽस्याः साविञ्याः परमेष्ठी प्रजापतिः॥"

गायत्रीछन्द का एक भेद होने के कारण 'ओंकार' के ऋषि भी ब्रह्म हैं। अतएव व्याकरण और निरुक्त के समान छन्दःशास्त्र के द्वारा भी असंदिग्ध निर्णय एवं वेदों की सुरक्षा होने से इसका अध्ययन-अध्यापन वेदाभ्यासियों के लिए अनिवार्य कर दिया गया था। जैसा—"यो ह वाऽविदितार्षेयच्छन्दो दैवतब्राह्मणेन मंत्रेण याजयति वाऽध्यापयति वा स्थाणुं गच्छति गर्तं वा पद्यति प्र वा मीयते, पापीयान् भवति यातयामान्यस्य छन्दांसि भवंति" (आ० ब्रा० २१) में दिखाया गया है। "मंत्रो हीनः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह। स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेंद्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्" भी इसी भाव को व्यक्त करता है।

"आ त्रैष्टुभाच्च यदार्षम्; गायत्र्यादित्रिष्टुप्पर्यन्तं यदार्षं छन्दोजातं वैदिके व्याख्यातं लौकिकेऽपि तत् तथैव द्रष्टव्यम्" (पिं० सू० अ० ४।६) के अनुसार इन छन्दों का लौकिक प्रयोग भी वैदिकवत् होता है।

गद्यकाव्य

निराशा

श्रीहरिमोहनलाल श्रीवास्तव एम्० ए०, एल्० टी०

नव-नेह-निकुंज में पलकर जब मैं रसमय रसाल की भाँति वासन्ती बयार के झोंकों से अठखेलियाँ करता था, तभी उस मतवाली कोकिल ने मेरे जीवन में प्रवेश किया।

प्रथम मिलन की उस मधुवेला में सृष्टि के समस्त सौन्दर्य का सुख-भोग करते हुए मेरे आकुल प्राण 'चुम्बन' के आसव से छककर प्रमत्त हो उठे, मन के मनोरम मंच पर प्रणय की पाषाणी प्रतिमा का अभिषेक करके मैंने अपने रोम-रोम को एक अलौकिक प्लावन से स्पन्दित होते सुना, और किसी मधुर नृत्य की मूर्च्छना में पगकर मेरी धमनियों ने जीवन के स्वर्णिम गान गाये, किन्तु अब वह बीती कहानी है!

नेत्रों की इस धूमिल ज्योति के बीच दूर उस पार किसी हृदय को लेकर उसकी छवि खेल रही है, और मैं तन्मय होकर उस बाँकी झाँकी को निहार रहा हूँ।

विधाता की इस द्वन्द्वमयी सृष्टि में जहाँ सुख का मोल दुःख है, जहाँ उत्थान में पतन के कारण विद्यमान होते हैं, वहाँ यदि मैं इस मौन दर्शन में ही अपनी समस्त साधना की समाप्ति समझ बैठा हूँ, तो अचरज क्या? निराशा के अन्धकार को जब मैंने अपना बना लिया है, तो मेरे लिए आशा का प्रकाश क्या?

नलपुर (नरवर) के यज्वपाल

श्रीहरिहरनिवास द्विवेदी, एम्० एल्०, एल्-एल० बी०

मध्यकालीन भारत में अनेक प्रतापी राजपूत राजवंश हुए हैं। सुल्तानों की विजयवाहिनी के आगे इस अत्यंत पराक्रमी राजवंशों का प्रातः-कालीन तारागण की भाँति तिरोहित होना संसार के इतिहास की अपूर्व घटना है। इतने शक्तिशाली एवं निर्भीक राजाओं के एक-एक करके हारने का कारण क्या था, इसका समीचीन उत्तर आजतक प्राप्त नहीं हो सका है। साथ ही आजतक इन विभिन्न राजपुत्रों के वंशों के इतिहास का उचित अध्ययन भी नहीं हुआ है।

ऐसे ही राजवंशों में नलपुर (नरवर, ग्वालियर राज्य) के यज्वपाल या जज्जपेलवंशीय राजपुत्र हैं। अभी तक इनका क्रमबद्ध इतिहास लिखने का प्रयास नहीं किया गया है। इस राजवंश में ऐसे प्रतापी राजा हुए हैं कि यदि सुल्तानों की अदम्य शक्ति से इन्हें प्रारम्भ में ही, जब कि यह अपनी शक्ति का संचय न कर सके थे, सामना न करना पड़ता तो नलपुर को केन्द्र बनाकर ये अत्यन्त शक्तिशाली साम्राज्य की स्थापना कर देते।

इस राजवंश की स्थापना संवत् १३०० (सन् १२४३ ई०) के लगभग चाहड नामक व्यक्ति ने की और संवत् १३५७ तक इस वंश में नृवर्मन्, आसल्लदेव, गोपालदेव एवं गणपतिदेव नामक चार और राजा हुए।

ग्वालियर के पुरातत्त्व विभाग ने इनके उल्लेखयुक्त प्रायः तीस अभिलेख खोजे हैं। इनमें इस राजवंश का इतिहास मिलता है। कुछ मुद्राएँ भी प्राप्त हुई हैं, परन्तु उनके द्वारा अभिलेखों से प्राप्त तिथि-सम्बन्धी जानकारी में कोई वृद्धि नहीं होती।

अब तक इस राजवंश को इतिहासज्ञ 'नरवर के राजपूत' के नाम संबोधित करते रहे हैं, परन्तु भीमपुर के संवत् १३१९ के अभिलेख में इस वंश के नाम के विषय में लिखा है—

'यज्वपाल इति सार्थकनामा संबभूव वसुधाधववंशः।' और कचेरी (नरवर) के संवत् १३३८ के लेख में मूलपुरुष जयपाल से उद्भूत होने के कारण इस वंश का नाम 'जजपेल्ल' लिखा है—

> गम्यो न विद्वेषमनोरथानां
> रथास्पदं भानुमतो निरुंधन्।
> वासः सतामस्ति विभूतिपात्रं
> रम्योदयो रत्नगिरिर्गिरीन्द्रः॥
> तत्र सौर्यमयः कश्चिन्निर्मितो महरुएडया।
> जयपालोऽभवन्नाम्ना विद्विषां दुरतिक्रमः॥
> यदाख्यया प्राकृतलोकवृंदै-
> रुच्चार्यमाणः शुचिरूर्जितश्रीः।
> बलावदानार्जितकांतकान्ति-
> वंशः परोभूज्जजपेल्लसंज्ञः॥

भीमपुर लेख का 'यज्वपाल' 'जजपेल्ल' का ही संस्कृत रूप ज्ञात होता है।

इस वंश में चाहड के पूर्व के केवल दो नाम ज्ञात हैं। वि० सं० १३३८ के कचेरी के अभिलेख में चाहड के पूर्व के किसी जयपाल का नाम दिया हुआ है। वह अत्यन्त पराक्रमी था और रत्नगिरि नामक गिरींद्र का स्वामी था। इससे अधिक उसके विषय में कुछ ज्ञात नहीं है। भीमपुर के वि० ० १३१९ के अभिलेख में चाहड को वीरचूड़ामणि श्री प (प) रमाडिराज का उत्तराधिकारी बतलाया है। परन्तु इसके विषय में भी अधिक ज्ञात नहीं।

इस वंश का नलपुर (नरवर) से सम्बोधित इतिहास चाहड से प्रारम्भ होता है। चाहड के विषय में कचेरी के उक्त अभिलेख में लिखा है—

> तत्राभवन्नृपतिरुग्रतरप्रतापः
> श्रीचाहडस्त्रिभुवनप्रथमानकीर्त्तिः।
> दोर्दंडचंडिमभरेण पुरः परेभ्यो
> येनाहृता नलगिरिप्रमुखा गरिष्ठाः॥

अर्थात् इस पराक्रमी चाहड ने नलगिरि (नरवर) एवं अन्य बड़े पुर शत्रुओं से जीत लिये। चाहड के नरवर में जो सिक्के मिले हैं, उनमें सं १३०३ से १३११ तक की तिथि मिलती है। चाहड के नामसे युक्त संवत् १३०० का एक अभिलेख उदयेश्वर मन्दिर की पूर्वी महराब पर मिलता है; जिसमें उसके दान का उल्लेख है। दूसरा अभिलेख एक सती-स्तम्भ पर वि० सं० १३०४ का है। सम्भवतः चाहड का राज्य गुना ज़िले तक था। उदयपुर में तो

वह केवल तीर्थयात्रा को गया ज्ञात होता है। वि० सं० १२२२ का उदयेश्वर मन्दिर का चाहड ठाकुर का लेख किसी अन्य चाहड का है, जो सम्भवतः कुमारपाल देव का सेनापति था।

कदवाहा के जैनमन्दिर में एक शिलालेख वि० सं० १४५१ का लगा हुआ है। ज्ञात यह होता है कि यह पत्थर कहीं अन्यत्र से लाकर जैनमन्दिर में लगा दिया गया है। इसमें मलच्छन्द के पुत्र साहसमल्ल के आश्रित कुमारपाल द्वारा बावड़ी बनवाने का उल्लेख है। साहसमल्ल का उल्लेख सुरवाया (सरस्वतीपट्टन) के वि० सं० १३५० के अभिलेख में भी है। इस कदवाहा के लेख में मलच्छन्द को चाहड द्वारा आदरप्राप्त लिखा है, और चाहड के विषय में लिखा है कि उसने मालवे के परमारों को व्यथित किया। चाहड का राज्य सुरवाया (सरस्वतीपट्टन) पर भी होगा।

चाहड देव के पश्चात् नरवर्मन्देव राजा हुआ। कचेरी के अभिलेख में उसके विषय में लिखा है—

तस्मादनेकविधविक्रमलब्धकीर्तिः

पुण्यश्रुतिः समभवन्नरवर्मदेवः।

वि० सं० १३३८ के नरवर के अभिलेख तथा नरवर के एक अन्य तिथिरहित अभिलेख में लिखा है कि आसल्लदेव के पिता नरवर्मन् ने धार के दम्भी राजा से चौथ वसूल की। यद्यपि परमार लोग इस समय मुसलमानों के आक्रमण से व्यथित थे, परन्तु इतनी दूर धावा बोलनेवाला यह नरवर्मदेव प्रतापी अवश्य था। चाहड के समय से मालवे के परमार से होनेवाली छेड़छाड़ में नरवर्मदेव अधिक सफल हुआ ज्ञात होता है। इसका राज्य बहुत थोड़े समय रहा, क्योंकि इसके सिक्के नहीं प्राप्त हुए।

नरवर्मदेव के पश्चात् उसका पुत्र आसल्लदेव गद्दी पर बैठा। इसके समय के दो तिथियुक्त अभिलेख वि० सं० १३१९ तथा १३२७ के भीमपुर एवं राई के मिलते हैं। एक अपूर्ण तथा तिथिहीन लेख में भी आसल्लदेव का उल्लेख है। इसके सिक्के भी अनेक मिले हैं, जिन पर सं० १३११ से १३३६ तक की तिथि पड़ी हुई है। लगभग २५ वर्ष के राज्य में आसल्लदेव ने सम्पूर्ण वर्तमान शिवपुरी ज़िले तथा कुछ गुना ज़िले के भाग पर राज्य किया।

आसल्लदेव के पश्चात् उसका पुत्र गोपालदेव राजा हुआ। गोपालदेव के राज्यकाल का प्रारम्भ वि० सं० १३३६ के बाद माना जा सकता है। इसके समय में पुनः युद्ध प्रारम्भ हुए। सबसे प्रधान युद्ध जेजाभुक्ति (बुन्देलखण्ड) के राजा वीरवर्मन् से हुआ। इसमें गोपालदेव विजयी हुआ, जैसा कि कचेरी के अभिलेख में दिया है—

श्रीगोपालः समजनि ततो भूमिपालः कलानां
तन्वान्कीर्त्तिं समिति सिकतानिम्नगाकच्छभूमौ।
जेजाभुक्ति प्रभुमधिबलं वीरवर्म्मा [ण] जित्वा
चन्द्र ज्ञ (ज्ञि) ति धरप्रतिं (लक्ष्मणं) सा युनीनां॥

यह युद्ध नरवर के पास ही बँगला नामक ग्राम में हुआ था। वहाँ आज भी अनेक स्मारक स्तम्भ खड़े हैं, जिन पर श्रीगोपालदेव की ओर से लड़ते हुए आहत वीरों के स्मारक लेख हैं। इनमें से एक पर लिखा है—

ॐ। सिद्धिः॥ संवत् १३३८ चैत्र सुदि ७ शुक्रे बालुवा सरितस्तीरे युद्धं सहवीरवर्म्मणः। आदि

तथा एक अन्य लेख में लिखा है—

बालुका सरितस्तीरे र (आ) मे वीरवर्म्मणः। यु सु (यु) धे तुरगारूढो निहत्य सुभटान्बहून्॥ २॥ सं० १३३८ चैत्र सुदि ७ शुक्रवारे। श्रीनलपुरे श्रीमहाराज श्रीगोपालदेवकार्ये चंदिल्ल महाराज श्रीवीरवर्म्म संग्रामव्यतिकरे। आदि

ज्ञात यह होता है कि चन्देल राजा वीरवर्मन् ने ही गोपालदेव पर आक्रमण किया था, तभी नलपुर के इतने पास युद्ध हो सका। जेजाभुक्ति के इस वीरवर्मन् चन्देल का परगना करेरा के कुछ भाग पर भी राज्य रहा होगा, सुरवाया और करेरा के बीच कहीं जजपेल्लों की राज्यसीमा होगी।

गोपालदेव के समय में भवन-निर्माण अधिक हुआ। उस काल के अनेक लेख कूप, बावली आदि के निर्माण के ही हैं तथा कुछ सती-स्तम्भ हैं।

गोपालदेव के उल्लेख से युक्त अभिलेख वि०सं० १३४८ तक के मिलते हैं। गणपतिदेव के राज्यकाल के उल्लेख से युक्त वि० सं० १३५० का अभिलेख मिला है। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि गणपतिदेव १३५० वि० के पूर्व तथा वि० १३४८ के पश्चात् राज्याधिकारी हुआ। इस गणपति ने कीर्तिदुर्ग (चन्देरीगढ़) को जीता, ऐसा नरवर के वि० सं० १३५५ के एक अभिलेख में उल्लेख है।

इस गणपति की विजयकथा वि० सं० १३५५ के पूर्व में ही समाप्त हो गई। यद्यपि फिर उसके राज्य

का उल्लेख वि० सं० १३२६ तथा १३२७ के सती-स्तम्भों में है, परन्तु मुसलमानों की विजयवाहिनी से टकराकर आगे चाहड का यह वंश समाप्त हो गया।

पद्मावती (पवाया) और नलपुर (नरवर) के नागों के अंतिम राजा का नाम गणपति था। वह सम्राट् समुद्रगुप्त के हाथों हारा। यह विचित्र संयोग है कि जज्वपेल्ल वंश के अन्तिम राजा का नाम भी गणपति था और वह सुल्तानों द्वारा हराया गया। दोनों गणपतियों के समय में राजवंश की समाप्ति हुई।

इस राजवंश के राजा साहित्य के प्रेमी, गुणियों के आश्रयदाता एवं धर्मात्मा थे, ऐसा उनके अभिलेखों में लिखा है। परन्तु खोज के अभाव में अभी उनके आश्रय में पनपनेवाला साहित्य प्राप्त नहीं हुआ है। *

---

* लेखक की 'ग्वालियर राज्य के अभिलेख' नामक पुस्तक के आधार पर।

सम्यक् आजीविका

भिक्षु धर्मरक्षित "धर्मशास्त्री" महामन्तिन्दपरिवेण, मातर, लङ्का

कहा है—"सब्बे सत्ता आहारट्ठितिका", लोक में सभी प्राणी आहार से ही जीवित हैं। आहार भी चार प्रकार का होता है—(१) कवलिंकार (ग्रास करके खाया जानेवाला), आहार (२) स्पर्शाहार, (३) मनोसंचेतना (ख़्याल) आहार और (४) विज्ञान आहार। इन्हीं आहारों के बल पर "नामरूप" सम्भव हैं। हमारे जीने और मरने में भी इनका ज़बरदस्त हाथ है। ऋतु और आहार के हेतु भी आयु का घटाव-बढ़ाव होता है। यदि ऋतु तथा आहार अनुकूल हुए, तो आयु की वृद्धि होती है, अन्यथा परिहानि।

माता के पेट में प्रतिसन्धि ग्रहण करने के पश्चात् ओजस्फुरण काल से ही आहार की आवश्यकता होती है। मरते समय भी सर्वान्त में आहारज रूपों की निरुद्धि होती है। जन्म के समय से ही बालक अपने शीराहम का अवलम्ब लेता है, सयाना होकर अपनी जीविका के लिए नाना व्यायाम, उत्साह और उपाय में जुटता है। चाहे उचित हो अथवा अनुचित, जीवन-यापन हेतु कोई न कोई पेशा अपेक्षित होता है। वह जीवन-यापन हेतु किया गया पेशा ही आजीविका कहा जाता है। जो आजीविका कुशलमय है, उसे सम्यक् आजीविका कहते हैं अन्यथा अकुशल होने पर मिथ्या।

जब आदमी मिथ्या आजीविका को त्याग सम्यक् आजीविका से जीवन यापन करता है तो उसकी जीविका सम्यक् होती है, जो प्रधानतः दो तरह की होती है—(१) गृहस्थाजीविका और (२) श्रमण-ब्राह्मण जीविका। जीवन-यापन हेतु नाना प्रकार के साधनों से व्यक्ति आहार सञ्चय करता है। कोई औरभ्रिक होता है, जो भेड़ों को पालता, पोसता, बेचता है। यही नहीं उनके गले पर छुरी रेत मांस की दूकान भी चलाता है। ऐसे ही कोई शूकरिक होता है, चिड़ीमीर होता है, मार्गविक होता है, नैषाद कर्म कर, मछली मारकर जीवन-यापन करता है, चोर होता है, डाकू होता है, मुखबिर होता है, पुत्री को बेचकर धन कमाता है, वेश्यालय बनवानेवाला होता है, शराबख़ाना खोलनेवाला होता है, बालक-बालिकाओं को रंगमंचों पर नचा-नचाकर पैसे कमानेवाला होता है। स्त्रियाँ भी वेश्या-वृत्ति करती हैं, व्यभिचार से पैसे जुटाती हैं। ये सब मिथ्या आजीविका हैं। इनसे विरति ही सम्यक् आजीविका है। सम्यक् आजीविका-वाले के सभी अकुशल कर्म और दुराचरण दूर हो जाते हैं। गृहस्थों के लिए उचित है कि वे इन पाँच व्यापारों में कभी न लगें—(१) हथियारों का व्यापार, (२) पशुओं का व्यापार, (३) मांस का व्यापार, (४) मद्य का व्यापार और (५) विष का व्यापार।

इन अकुशल कर्मों को त्याग कुशल कर्म को करते हुए माता-पिता, पुत्र-भार्या का पालन करना और श्रमण-ब्राह्मणों को दान देते हुए जीवन-यापन करना ही गृहस्थ की सम्यक्-आजीविका है।

श्रमण-ब्राह्मणों में जो कोई दूत का काम करते हैं, पाखण्ड द्वारा लोगों को ठगते हैं, बात बनाते घूमते हैं। दैवज्ञ हैं, जादूगर हैं, लाभ से लाभ की खोज करनेवाले हैं, नाना प्रकार के भूत-वेतालों के लगाने-छुड़ाने का काम करते हैं, यहाँ का सन्देश लेकर वहाँ जाते और वहाँ का सन्देश लेकर यहाँ आते हैं, एक दूसरे के मत का खण्डन कर विचरते हैं, यश तथा नाम कमाकर धनोत्पादन करते हैं, "तुम इस धर्म को नहीं जानते, मैं इसे जानता हूँ, क्या तुम इसे जान पाओगे ? तुम तो मिथ्या-प्रतिपन्न हो, मैं ही ठीक प्रतिपन्न हूँ; देखो, जो पहले कहना चाहिए था, वह तुमने बाद में कहा और जो बाद में कहना चाहिए था उसे पहले। मैं प्रश्न पूछता हूँ यदि सामर्थ्य है तो दो उत्तर"—इस प्रकार अधर्म को धर्म और धर्म को अधर्म के रूप में भी कह एक दूसरे को हराने का प्रयत्न करते हैं, ऐसा कर लोगों में अपनी धाक जमाकर पूज्य बन अपनी जीविका चलाते हैं, ऐसे श्रमण ब्राह्मणों के लिए सर्वज्ञ धर्मराज तथागत ने कहा था—'भिक्षुओ, बहुत से मोघ पुरुष धर्म को केवल लाभ प्राप्त करने के लिए धारण करते हैं अथवा बाद में प्रमुख बनने के लिए। वे न तो उन पर चलते हैं और न विचार करते हैं। उनका इस प्रकार उलटा से धारण किया हुआ धर्म उनके लिए ही दुःख-दायक

होता है।' ये सब मिथ्या आजीविका हैं। इनसे विरति ही श्रमण-ब्राह्मण की सम्यक् आजीविका होती है।

आजीविका हेतु प्राणघात करना, चोरी करना, व्यभिचार करना आदि कुछ ऐसी भी मिथ्या आजीविकाएँ हैं जो गृहस्थों में भी होती हैं और श्रमण-ब्राह्मणों में भी देखी-सुनी जाती हैं। इनसे विरति सम्यक् आजीविका होती है। जो वकालतनामा या मुख्तारनामा आदि लगाकर झूठ बोलते हैं, दूसरों को बोलने के लिए सिखलाते हैं, घूस लेकर मिट्टी को सोना और सोने को मिट्टी साबित करते हैं, परुष तथा कटु वचन बोलते हैं—यह सब मिथ्या आजीविका हैं।

परमार्थतः सम्यक् आजीविका दो तरह की होती है—(१) साश्रव सम्यक् आजीविका और (२) अनाश्रव सम्यक् आजीविका। सम्पूर्ण मिथ्या आजीविका को त्याग सम्यक् आजीविका से जीवन-यापन करना साश्रव सम्यक् आजीविका है तथा आर्य-मार्ग की भावना करते मिथ्या आजीविका से विरमना अनाश्रव सम्यक् आजीविका। मिथ्या आजीविका से जो विरति है वह तीन प्रकार की होती है—(१) सम्प्राप्त विरति, (२) समादिन्न विरति और (३) समुच्छेद विरति। जो व्यक्ति अपनी जाति या पण्डिताई अथवा यश का ख्याल कर मिथ्या आजीविका नहीं करता, उससे विरमता है, सम्यक् आजीविका में जुटता है, वह सोचता है कि ऐसा पापकर्म हमारे लिए उचित नहीं, सर्वथा अयुक्त है। जैसे उत्तम घोड़ा कोड़े को नहीं सह सकता वैसे ही वह निन्दा को न सह सकने के कारण सभी निषिद्ध कर्मों का करना छोड़ देता है। इस प्रकार की विरति को सम्प्राप्त विरति कहते हैं। जो प्रतिज्ञा किये होते हैं कि मैं मिथ्या जीविका से सर्वथा विरत हो सम्यक् आजीविका से जीवन यापन करूँगा और प्राण जाते समय भी उसका त्याग नहीं करते, उनकी विरति समादिन्न कही जाती है। जो आर्य-मार्ग से सम्प्रयुक्त विरति है, वह समुच्छेद विरति कही जाती है। समुच्छेद विरति के समग्र से मिथ्या आजीव की ओर आर्यों का चित्त कभी नहीं झुकता। यही कारण है कि मार्ग-चित्तों के साथ सम्यक् आजीविका-सम्बन्धी विरति उत्पन्न होते हुए सम्यक् वाणी और सम्यक् कर्मान्त सम्बन्धी विरतियाँ साथ ही उत्पन्न होती हैं।

निर्वाणार्थी श्रमण-ब्राह्मण के लिए उचित है कि वह पहले आजीव-परिशुद्धि पर ध्यान दे। यह अवश्य है कि जो व्यक्ति निर्लज्ज है, कौए के समान स्वार्थ में शूर है, परहित-विनाशी है, उसका जीवन तो सुखपूर्वक बीतता हुआ देखा जाता है, तथापि जो पाप कर्मों के प्रति लज्जावान् है, नित्य शुद्धि चाहनेवाला है, निरालस हो शुद्ध जीविकावाला होता है, उसका जीवन कठिनाई से गुज़रता है। अस्तु, कठिनाइयों का ख्याल न कर आजीव-परिशुद्धि के लिए कटिबद्ध होना उत्तम है। चाहे श्रमण हों अथवा गृहस्थ बिना सम्यक् आजीविका के स्वर्ग तथा निर्वाण सब दुर्लभ है।

भवतु सब्बमङ्गलम्

अवध के लोग खखुआइल अइलन,
खाए खातिर केरा, परोरवा।
कहत भिखारी दुलहिन योग दुलहा,
साँवर सहबलिया गोरवा॥ हे०

यहाँ 'नीमन', 'धउरत', 'दउरा', 'खखुआइल' आदि शब्दों की शोभा देखने ही लायक है। इस प्रकार भिखारी ने बड़े ही मनोहर पदों में श्रीराम-चरित्र का बड़ा सुन्दर विवेचन किया है। कथानक का आधार 'मानस' ही है और सच तो यह है कि भिखारी ने 'मानस' के ही द्वारा भक्ति या कविता-सम्बन्धी दीक्षा ली है। उन्होंने अपने जीवन-चरित्र में खुलकर कहा है कि—'खोलि पोथी देखली चौपाई' और 'फुलवारी के जगह बुझाइल, तुलसीकृत में मन लपटाइल।' तत्पश्चात् ही 'निजपुर में करिके रमलीला, नाच के तब बन्हली सीलसीला।' पर कहना कठिन है कि भिखारी केवल रामभक्त ही हैं। कृष्ण-भक्ति में भी उनकी आवाज़ राम-भक्ति से कम नहीं पहुँची है। कृष्ण-लीला की एक छोटी-सी किन्तु लुभावनी झलक लीजिए—

राधेश्याम, राधेश्याम, राधेश्याम, राधेश्याम। टेक॥
अबहीं उमर के बाल,
चलत-ठुमक-ठुमक चलि-साथ भइया बलराम।
बाँके जुलुफि में तेल,
करत लरिकन से खेल गली-गली में तमाम॥
माथे मुकुट अमोल,
झूलत कुंडल कपोल-जी का सब सरजाम।
बाटे गोविन्द जी से काम,
लाख बार प्रणाम है भिखारीदास नाम॥

मगर इससे यह न समझना चाहिए कि जिस प्रकार तुलसी का कृष्ण-चरित्र और सूर का राम-चरित्र परस्पर वर्णित है, यद्यपि वे क्रमशः राम और कृष्ण के ही कट्टर भक्त थे। भिखारी में राम और कृष्ण दोनों की ओर समान प्रीति और ममता है। एक जगह पर तो वे लिखते हैं—'केवल रामनाम कहि बानी; दूसर इष्ट मोरि आदि भवानी।' मालूम पड़ता है कि भिखारी शाक्त ही हैं। हाँ भी क्यों न? शैव होने का भी तो परिचय मिल ही जाता है। ध्यान दीजिए—

हरहर हरहर हरहर हरहर।
भोला बाबा अमर, कंठ में
झलकत जहर, पति पार्वतीवर॥
बाघ छाल बैल पर, बइठल
तेकरा ऊपर, लटकल अजगर।
ले ले योगिनी खप्पर, हाड़ खात
दरदर, भूत कर लशकर॥
परिछे आइल नारी-नर, देखकर
अइसन बर, भागी चलल घरघर।
भिखारी कहे सरासर, लागल
सभनीकर डर, अब ना बसीहन न जगर॥
हरहर, हरहर, हरहर, हरहर॥

पूर्ण भक्त की यही निशानी है कि उसे किसी भी देवी-देवता से चिढ़ नहीं होती। वह सभी देवी-देवताओं को श्रद्धा-भक्ति की आँखों से देखता है। द्वेष-भावना लेकर पक्का भक्त या पहुँचा हुआ संत भीतर ही भीतर घुल-घुलकर मरता नहीं रहता। उसके लिए समस्त विश्व ही पूज्य होता है और जितने प्रतिष्ठित देवता होते हैं वे तो मानो उसके प्राणों के आधार ही होते हैं। भिखारी के हृदय में जो राम, कृष्ण, भवानी और शंकर के प्रति असीम भक्ति हम देखते हैं वह एक-मात्र उनके विशाल हृदय का ही फल है। हृदय की संकीर्णता भिखारी में खोजे भी नहीं मिलती। दुनिया का महान् ज्ञान, बुद्धि की बेजोड़ शक्ति एवं कला की सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के रहते हुए भी भिखारी में हृदय, भाव और भक्ति की इतनी भावना भरी हुई है कि उनमें किसी के प्रति उपेक्षा का भाव ही नहीं है। जगत् का जो कुछ अस्तित्व है, सबमें भिखारी रम रहे हैं, प्रेम से रम रहे हैं। वे उस आसन पर बैठे हुए हैं जहाँ से 'सिया राम मय' का नारा लगाया जाता है और जहाँ से शंकर और राम का ऐक्य प्रमाणित करने के लिए 'शिवद्रोही मम दास कहावै' का सिद्धान्त स्थिर किया जाता है। उनके शिवचरित्र का भी वही आशय समझना चाहिए जो आशय राम-चरित्र के प्रणेता का शिवचरित्र प्रथम लिखने में था। सब कुछ होते हुए भी जब यह हाड़-मांस का अधम शरीर है तो उसमें उचित विकार का आना भी अनिवार्य ही है। जब 'हँसहिं मलिन खल विमल बतकही' और 'काग कहहिं कल कंठ कठोरा' तब भिखारी भी संसार के विस्तृत क्षेत्र में अपने प्रतिद्वन्द्वी का अपमान क्यों, कैसे बर्दाश्त कर सकते हैं? जो लोग उनकी निन्दा करते हैं और जो लोग उनकी पुस्तकों की नक़ल कर अपने नाम से पुस्तकें छपवाते है उनके लिए भिखारी बड़ी मीठी चुटकी लेते हैं—

हद ह छपानेवाला कइ एक जनवाँ,
हद गुरु ज्ञान देलन तीनो लगनवाँ।
तु का करब निन्दा अबहिं जिन्दा बाटे तनवाँ
जहँ-तहँ होता दरबार में बखनवाँ॥
लरिकन के ठग भइल कवि पुरधनवाँ,
हमरे किताब लेके कइल उलथनवाँ।
हाथ जोरी कर देत बानी बोरहनवाँ,
निन्दाक के लूटि लेल पाप के खजनवाँ।
हठ कके कइले बाड़ झुठहुँ के सनवाँ,
कहत भिखारी सेर सेना तुरुकनवाँ।

कुन्दनलाल सैंगल का जन्म १९०६ ईस्वी में श्रीनगर में हुआ था। कुछ दिनों तक भारत सरकार और एन. डब्ल्यु. रेलवे में काम करने के बाद १९३१ ईस्वी में आप न्यु थियेटर्स में आये और तभी से अपने मनमुग्धकर गानों व सुरीली आवाज से आपने देशवासियों को मोह रखा है। परन्तु शायद 'तानसेन' में ही आपकी प्रतिभा, कला की चरम सीमापर पहुँच सकी है।
सैगल के
गाते समय...
दुनियाँ भर के बड़े बड़े कलाकार चाय की खूबियों के प्रेमी हैं। ऐसा कोई पेय नहीं जो मन को कला की ओर इतना ज्यादा टान ले जाय। सैंगल के सुरीले गले की आवाज सुनिये: "लोग पूछते हैं चाय मुझे क्यों इतनी अच्छी लगती है। वे यह क्यों नहीं पूछते कि मैं कैसे गाता हूँ, कैसे अभिनय करता हूँ, कैसे आनन्द में मग्न हो जाता हूँ? मुझे एक प्याला चाय पिलाइये फिर सुनाता हूँ।"
प्रेरणा लानेवाली...
चाय
इण्डियन टी मार्केट एक्सपैन्शन बोर्ड द्वारा प्रचारित
IK 263

कर्पूर-मंजरी, चन्द्रावली, सत्य हरिश्चन्द्र नाटक इसी समय रचे गये।

रसिक हरिश्चन्द्र ने विद्वानों, कवियों, मित्रों और अनाथों का बड़ा ही उपकार किया। इतनी बड़ी सम्पत्ति, अपनी उदारता के कारण, थोड़े ही दिनों में पानी की तरह बहा दी। हरिश्चन्द्र ने सभी भोग भोगे। अनेक दान किये, मान-सत्कार किये और जो धन से किया जा सकता है, सब किया। किसी वस्तु के देते समय उन्हें संकोच या दुःख नहीं हुआ। अन्त तक अपने वचन निबाहे।

दृढ़ता और सत्यता के तो आप साक्षात् रूप ही थे। निस्पृह ऐसे कि अपने भाग की समस्त सम्पत्ति दान कर दी। अन्त में फक्कड़-से हो गये, या बादशाहों के भी बादशाह हो गये। धन्य!

जो गुन नृप हरिचन्द में, जगहित सुनियत कान।
सो सब कवि हरिचन्द में, लखहु प्रतच्छ सुजान॥

बाबू हरिश्चन्द्र वल्लभ कुल के, अनन्य वैष्णव थे। आपका यह पद प्रसिद्ध है—

हम तो मोल लिये या घर के।
दास-दास श्रीवल्लभकुल के चाकर राधावर के॥
माता श्रीराधिका, पिता हरि, बन्धु दास गुनकर के।
'हरीचन्द' तुम्हरे ही कहावत, नहिं विधि के, नहिं हरि के॥

यह सब होते हुए भी आप अन्य सम्प्रदायों को द्वेष-दृष्टि से नहीं देखते थे। आप कोरे पुरानी लकीर के फ़क़ीर नहीं थे। आप छुआछूत के विषय में लिखते हैं—

अपरस सोला छूत रचि, भोजन प्रीति छुड़ाय।
किये तीन-तेरह सबै, चौका चौका लाय॥

यह सत्य को ही धर्म का सच्चा धर्म मानते थे। इन्होंने अपनी आचरण-सम्बन्धी बुरी-से-बुरी बात भी कभी नहीं छिपाई। एक स्थल पर कहते हैं:—

जगत-जाल में नित बँध्यो, पर्यौ नारि के फन्द।
मिथ्या अभिमानी पतित, झूठो "कवि हरिचन्द"॥

समाज-सुधार पर भी आपने कई पुस्तकें लिखीं। 'प्रेम-योगिनी', 'अँगरेज़-स्तोत्र', 'जैन-कुतूहल', 'वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' आदि पुस्तकों में सामाजिक कुरीतियों का ख़ूब ही भंडाफोड़ किया। लोग इनके स्वतन्त्र विचारों पर चिढ़ से गये और कहने लगे—'दो चार कवित्त बनाये लिहिन बस होय गवा बबुआ बिधाता।' पर यह आलोचकों की वाक्य-वाणावली की रत्तीभर भी परवा नहीं करते थे। यह इनकी दृढ़ता ही थी कि अनेक विघ्न-बाधाएँ आने पर भी कभी अपने सिद्धान्तों से विचलित नहीं हुए।

बाबू हरिश्चन्द्र ने लोकोपकारसम्बन्धी कई प्रशंसनीय कार्य किये। सन् १८६८ में काशी में "होमियोपैथिक दातव्य-चिकित्सालय" अनाथों के लिए स्थापित कराया। संवत् १६२७ में, "कविता-वर्द्धिनी" सभा को जन्म दिया। इस सभा से कई नवीन कवि उत्पन्न हुए। उर्दू कवियों के लिए आपने १८६६ में मुशाइरा स्थापित किया, जिसमें सबके साथ आप भी उर्दू में समस्या-पूर्ति करते थे। उर्दू कविता में आपका उपनाम 'रसा' था।

संवत् १६३० में, इन्होंने "तदीय-समाज" की स्थापना की। इसके ६ नियम थे। इसके सभासद् भारत के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध धार्मिक पुरुषरत्न थे। इस सभा में बिना टिकट के कोई भी प्रवेश नहीं कर सकता था।

टिकट पर यह दोहा अंकित रहता था—

श्रीव्रजराज समाज को, तुम सुन्दर सिरताज।
दीजै टिकट निवाज करि, नाथ हाथ हित-काज॥

इसी समाज में आपने "वीर-वैष्णव" की पदवी धारण की थी। इसमें आपने वैष्णव-धर्मानुसार १६ प्रतिज्ञाएँ ली थीं, जिनका आमरण पालन किया।

यह तो हम कह चुके ही हैं कि यह गुणियों का अत्यन्त आदर करते थे। महामहोपाध्याय पं० सुधाकर द्विवेदी के केवल एक दोहे पर १००) दिये थे। वह दोहा था—

राजघाट पर बँधत पुल, जहँ कुलीन की ढेर।
आज गये कल देखिकै, आजहिं लौटे फेर॥

निर्धन हो जाने पर इनकी दानवीरता में कमी न थी। स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदासजी ने लिखा है कि आपके पास न तो मरने के समय कुछ था और न कुछ उचित ऋण देन बिना शेष रह गया।

बाबू हरिश्चन्द्र को लिखने का बड़ा व्यसन था। डाक्टर राजेंद्रलाल मित्र ने इनका लेखन-चमत्कार देखकर इन्हें 'राइटिंग मैशीन' की उपाधि दे रक्खी थी। कविता-शक्ति भी विलक्षण थी। बात की बात में समस्या-पूर्ति कर दिया करते थे। महाराणा उदयपुर के राजभवन में बैठे-बैठे तुरन्त यह कविता रच डाली—

राधा-स्याम सेवैं, सदा बृन्दाबन-बास करैं,
रहैं निहचिंत पद आस गुरुवर के।
चाहैं धन-धाम त्यों अराम सौं है काम 'हरि-
चन्दजू' भरोसे रहैं नन्दराय-घर के॥
एरे नीच धनी! हमैं तेज तू दिखावै कहा,
गज परवाह नाहिं होयँ कबौं खर के।

होइ जो रसाल तू भलेई जग-जीव-काज,
आसी ना तिहारे ये निवासी कल्पतरु के ॥

इसी प्रकार इन्होंने कई बार आन की आन में समस्या-पूर्ति की थी। 'अन्धेरनगरी' एक ही दिन में लिखी गई थी। इनके सभी छन्द सरस होते थे, पर सवैया तो बेजोड़ होता था। इन्होंने छोटे-बड़े कुल मिलाकर १७५ ग्रन्थ लिखे, जिनमें बहुत से संगृहीत और सम्पादित भी हैं। नाटक, इतिहास, भक्तिरस, चरितावली और काव्यामृत-प्रवाह आदि पाँच भागों में ये सब ग्रन्थ विभक्त हैं। नाटकों में 'सत्य हरिश्चन्द्र' और 'चन्द्रावली'; धर्मसम्बन्धी ग्रन्थों में 'तदीयसर्वस्व'; काव्य में 'प्रेम-फुलवारी'; ऐतिहासिक में काश्मीर-कुसुम श्रेष्ठ है। देश-संबंधी 'भारत-दुर्दशा' बड़ा ही उत्कृष्ट ग्रन्थ है। हिन्दी के अतिरिक्त इन्होंने संस्कृत और उर्दू, मारवाड़ी, बँगला, मराठी, पंजाबी आदि में भी लिखा है।

बाबू हरिश्चन्द्र ने अपनी अनुपम प्रतिभा के द्वारा काव्य में चार और नवीन रस माने—वात्सल्य, सख्य, भक्ति और आनन्द। तर्करत्न महोदय ने लिखा है—

'हरिश्चन्द्रास्तु वात्सल्यसख्यभक्त्यानंदाख्यमधिकं रस-चतुष्टयं मन्यते।'

यह तो हम कह ही चुके हैं कि यह साक्षात् 'प्रेम-मूर्त्ति' थे। प्रेम इनका इष्टदेव था। वियोग-शृंगार की इनकी रचनाएँ अनूठी हैं। 'चन्द्रावली' नाटिका इनके आन्तरिक सिद्धान्तों की प्रतिमूर्त्ति है।

एक स्थान पर आपने सवैया में क्या ही सुन्दर प्रेम का चित्र खींचा है—

हमहूँ सब जानतीं लोक की चालनि
क्यों इतनी बतरावती हौ ?
हित जामें हमारो बनै सो करो,
सखियाँ तुम क्यों मेरी कहावती हौ।
'हरिचन्दजू' यामें न लाभ कछू,
हमें बातनि में बतरावती हौ ?
सजनी मन हाथ हमारे नहीं,
तुम कौन को का समुझावती हौ ॥

अन्तर की पीर अन्तर ही जानता है, मर्मवाले संसार में बिरले ही हैं। इसे लक्ष्य में रखकर भारतेंदुजी एक क्या ही मार्के का पद लिख गये हैं—

मन की कासों पीर सुनाऊँ ?
बकनो वृथा और पत खोनी, सबै चबाई गाऊँ ॥
कठिन दरद कोऊ नहिं हरिहै, धरिहै उलटो नाऊँ।
यह तौ जो जानै सोइ जानै, क्यों करि प्रगट जनाऊँ।
रोम-रोम प्रति नैन स्रवन मन, केहि धुनि रूप लिखाऊँ ॥
मरमिन सखिन वियोग दुखिन क्यों, कहि निज दसा रोआऊँ।
'हरीचन्द' पिय मिलै तो पग परि, गहि पटुका समझाऊँ ॥

बस, अब कुछ नहीं लिखा जा सकता। हरिश्चन्द्र ने अपना हृदय निकालकर सामने रख दिया है।

भक्तिसुधा-सागर में डूब जाने पर भी इन्होंने समाज-सुधार, देशभक्ति आदि विषयों पर उत्तमोत्तम रचनाएँ की हैं।

आपके स्वर्गस्थ होने पर मिश्रजी ने तो हरिश्चन्द्र-संवत् लिखना आरम्भ कर दिया था।

एक कवित्त में आपने स्वयं अपने स्वभाव का वर्णन किया है—

सेवक गुनीजन के, चाकर चतुर के हैं,
कविन के मीत, चित हित गुनी गानी के।
सीधेन सो सीधे, महा बाँके हम बाँकेन सों,
'हरीचन्द' नगद दमाद अभिमानी के ॥
चाहिए कि चाह काहू की न परवाह, नेही
नेह के, दिवाने सदा सूरत निवानी के।
सरबस रसिक के, सुदास-दास प्रेमिन के,
सखा प्यारे कृष्ण के, गुलाम राधा रानी के ॥

अब क्षण भर के वास्ते आपकी दूसरी कविताओं पर ध्यान दें।

सिंदूर—

भौंरा रे, रस के लोभी, तेरो का परमान ?
तू रस-मत्त फिरत फूलन पर, करि अपने सुखगान।
इत सों उत डोलत बौरानो, किये मधुर मधु-पान।
'हरीचन्द' तेरे फन्द न भूलूँ, बात परी पहिंचान ॥

चन्द्रावली से—

सखी, ये नैना बहुत बुरे।
तब सों भये पराये हरि सों, जब सों जाई जुरे ॥
मोहन के रस-बस ह्वै डोलत, तलफत तनिक दुरे।
मेरी सीख प्रीति सब छोड़ी, ऐसे ये निगुरे ॥
जग खीझ्यो बरज्यो पै ये नहिं, हठ सों तनिक मुरे।
अमृत भरे देखत कमलन से बिष के बुते छुरे ॥

नीलदेवी नाटक से—

धनधन भारत की छत्रानी।
बीरकन्यका, बीरप्रसविनी, बीरबधू जग जानी ॥
सतीसिरोमनि धर्मधुरंधर बुधि-बल-धीरज-खानी।
इनके जस की तिहूँलोक में अमल ध्वजा फहरानी ॥*

---

* यह लेख श्रीवियोगी हरिजी की सहायता से लिखा गया है।

क्षमा-याचना

पं० महावीरप्रसाद विद्यार्थी साहित्यरत्न

(१)

"भगवान् भला करें। बाल-बच्चे सुखी रहें। भूखा हूँ। कुछ खाने को मिल जाय।"

कुसुम ने पीछे मुड़कर देखा, एक भिखारी गिड़गिड़ा रहा था। फटी लुंगी, जीर्ण-शीर्ण कुरता, उलझे हुए सिर के बाल, लटी हुई दाढ़ी, पिचके हुए गाल, डब-डबाई हुई आँखें। कुसुम दो क्षण देखती ही रह गई। उसका नारी-हृदय सिहर उठा उस दीनता की मूर्त्ति को देखकर, जो कुछ दूरी पर झुर्रीभरी खाल में मुट्ठी भर हड्डियों को समेटे खड़ी थी। भिखारी को देखकर वह वेदना से छटपटा उठी।

"भगवान् भला करें। बाल-बच्चे सुखी रहें।" भिखारी ने फिर कहा। आह! स्वर में कितनी व्यथा भरी थी। कुसुम का हृदय उमड़ आया। उसने नौकरानी को पुकारा—"रतना!"

नौकरानी भीतर बैठी कुछ खटपट कर रही थी। कुसुम की आवाज़ सुनते ही "क्या है मालकिन?" कहती हुई झट पास आकर खड़ी हो गई। कुसुम ने पीछे दरवाज़े की ओर हाथ से संकेत किया। नौकरानी ने देखा, भिखारी उसी ओर आशाभरी आँखों से देख रहा था।

"आओ, यहाँ छाया में बैठ जाओ।" यह कहकर नौकरानी ने उसे बरामदे में बैठने का संकेत किया। "हाय भगवान्!" कहता हुआ भिखारी भी वहीं बैठ गया।

भिखारी जब खा-पी चुका, तब कुसुम ने पूछा—"तुम्हारे कोई बाल-बच्चे हैं, भिखारी?"

"कोई नहीं।"

"तुम्हारा घर कहाँ है?"

"घर? जहाँ कहीं रास्ते के किनारे धूल में पड़ रहा वहीं..........?" कहते-कहते भिखारी रुक गया और किसी विचार में उलझ गया।

कुसुम दो क्षण उसकी दीन-दशा देखती रही। इतने ही में वह लकुटी टेककर उठ खड़ा हुआ।

"तुम यहाँ रोज़ इसी समय आकर खा जाया करो।"

भिखारी ने सिर उठाकर कुसुम की ओर देखा। वह कुछ कह न सका। उसकी आँखों से कृतज्ञता के आँसू छलक पड़े।

(२)

स्वभाव से ही मनुष्य को सुख से प्रेम और दुःख से द्वेष रहता है। वह जैसे अतीत की सुखद घटनाओं की मधुर स्मृति को सुरक्षित रखने का प्रयत्न करता है, वैसे ही विगत हृदय-विदारक घटनाओं को विस्मृति के अतल सागर में विलीन करने का भी इच्छुक रहता है। किन्तु मनुष्य के केवल चाहने से ही क्या होता है? कभी-कभी अनजाने ही चिर-विस्मृत घटनाएँ मानस-पटल पर चल-चित्र की भाँति घूमने लगती हैं; बरबस उन्हें देखना पड़ता है। उनकी अनुभूति से कभी हँसना पड़ता है, तो कभी रोना पड़ता है।

आज कुसुम जब वाटिका में अपना मन बहलाने आई तब सहसा उसका भी अतीत मानस-पटल पर नाच उठा। दस वर्ष पहले की घटना, वह दिन, जिस दिन काल ने नृशंसतापूर्वक उसे वैधव्य के कराल अग्नि-कुंड में जलने के लिए झोंक दिया था! कितना मर्म-विदारक था वह दिन! कौन जानता था कि किशोर जैसा अभिन्न मित्र ही उसके पति घनश्याम का इस निर्दयता से वध करेगा, केवल चार हज़ार चाँदी की ठीकरियों के लिए! कुसुम सिहर उठी उस विगत घटना की स्मृति से। वह दुःख का वेग सँभाल न सकी और वहीं घास पर धीरे से लेट रही।

चित्त कुछ स्वस्थ होने पर वह फिर सोचने लगी—किशोर को पतिदेव कितना मानते थे; उस किशोर को, जिसे किसी समय भरपेट खाना भी नहीं मिलता था, जो गलियों में मारा-मारा फिरता था। उस किशोर को, जिसके रहने के लिए उन्होंने सुन्दर घर बनवा दिया, जिसके लिए हज़ारों रुपये पानी की तरह बहा दिये। वही किशोर रात के अन्धकार में धोखा देकर रुपयों के लिए निर्जन सड़क में इस प्रकार उनका वध करके चम्पत हो गया! कुसुम का ख़ून खौल उठा। क्रोध से उसके होंठ फड़क उठे। वह छटपटा उठी कि कहीं किशोर मिल जाय और वह उसकी बोटी-

बोटी काट डाले। किन्तु, किशोर ? किशोर का तो उस दिन से कहीं पता ही नहीं चला।

कुसुम फिर कुछ समय तक विवाहित जीवन के सुख-स्वप्न देखती रही। वह पति का प्रेम, वह आनन्द का अनिर्वचनीय प्रवाह!

(३)

दिन में दो बार डाक्टर देखने आता। कुसुम और रतना उसकी सेवा में लगी रहतीं। बेचारा भिखारी पहले ही से अत्यन्त कृशकाय और निर्बल था, इधर ताँगे के पहिये के नीचे पड़कर उसकी एक टाँग भी कुचल गई थी। वह पीड़ा से छटपटाता, रोता, चिल्लाता और कुसुम उसका दुःख देखकर सहम जाती। भिखारी के प्रति उसकी समवेदना बढ़ती ही जाती थी।

जब से कुसुम विधवा हुई थी, तभी से वह दीन-दुखियों की सेवा में अपने वैधव्य-दुःख को विस्मृत करने का प्रयत्न किया करती थी। दीनों की सहायता करना ही उसके जीवन का व्रत था।

कई महीने में भिखारी धीरे-धीरे उठने बैठने लगा। खाट में लेटे-लेटे उसका जी ऊब उठा था। उसकी इच्छा होती बाहर जाकर इधर-उधर टहलने की। किन्तु डाक्टर ने अभी इसकी स्वीकृति नहीं दी थी, क्योंकि इधर उसे कुछ ज्वर रहता था।

एक दिन संध्या का समय था। मन्द-मन्द वायु सुगन्ध बिखेर रही थी। कुसुम और रतना कहीं बाहर गई थीं। भिखारी चुपचाप खाट पर पड़ा था। ज्वर का वेग यद्यपि नहीं था, तो भी आज वह अधिक आकुल था, मानसिक पीड़ा से। उससे लेटे न रहा गया। पास ही रक्खी लकुटी के सहारे वह उठा और बड़े कष्ट से धीरे-धीरे बाहर आकर मौलसिरी के पेड़ के नीचे बैठ गया। सामने ही वाटिका में रंग-बिरंगे फूल खिले थे। घास लहलहा रही थी। अस्तोन्मुख सूर्य की रंगीन किरणें अनुपम सौंद की सृष्टि कर रही थीं। किन्तु आज इनमें भिखारी के लिए कुछ भी आकर्षण नहीं था। उसका मन किसी प्रकार आज शान्ति नहीं पाता था।

कुछ ही समय पश्चात् कुसुम और रतना आ गईं। वे चौंक पड़ीं, जब देखा कि भिखारी बाहर बैठा है।

"क्यों, तुम यहाँ कैसे आ गये?"

भिखारी चुपचाप बैठा रहा। एकटक कुसुम की ओर देखने लगा और उसकी आँखों में आँसू डबडबा आये।

"क्या आज पीड़ा बहुत है? तुम रोते क्यों हो?" कुसुम ने सहानुभूतिभरे स्वर में कहा।

"हाय! मेरे पापी जीवन का अन्त कब होगा? देवि! तुमने मुझे मरने के लिए क्यों न छोड़ दिया? मैं अब जीकर क्या करूँगा?" भिखारी ने कहा।

"तुम्हें कष्ट न होने पावेगा। खाने-कपड़े का सब प्रबन्ध मैं करती रहूँगी। तुम दुखी न हो।"

"हाय देवी! मैं तुम्हारी दया के भार से मरा जा रहा हूँ। मैं हत्यारा हूँ। मैं दया के योग्य नहीं हूँ। देवी! तुम मेरे अंगों को एक-एक कर काट डालो, मैं उफ़ तक न करूँगा। मैं इसी के योग्य हूँ। मुझे इसी में सुख मिलेगा।"

कुसुम की समझ में कुछ न आया। उसने सकपकाकर रतना से कहा—"डाक्टर को बुलाओ, रतना। भिखारी को आज क्या हो गया है। जाओ, जल्दी बुला लाओ।"

"हाय! देवी! तुमने मुझे पहचाना नहीं। मैं वही किशोर हूँ। वही पापी किशोर हूँ, जिसने तुम्हारा सोने का संसार मिट्टी में मिलाया है, जिसने विश्वास-घात कर अपने मित्र का वध किया है। हाय! मैं कितना नीच, कितना पतित हूँ। मैं जीने के योग्य नहीं। लो, अपने हाथों से मुझे काट डालो। मैं क्षमा के योग्य नहीं। मैं तुमसे किस मुँह से क्षमा-याचना करूँ?" भिखारी यह कहता हुआ आवेश में उछलकर कुसुम के पैरों पर गिर पड़ा।

"भीतर चलो, भिखारी, कहीं ज्वर का वेग बढ़ न जाय।" कुसुम ने धीरे से कहा।

"देवी! मुझे क्षमा न करो।"

"इसके लिए ईश्वर से क्षमा-याचना करो। मैं क्षमा करने या न करनेवाली कौन हूँ!" कुसुम ने रोते हुए कहा।

'प्रसाद'जी के कथा-साहित्य में प्रेम की अभिव्यंजना

पं० त्रिलोकीनारायण दीक्षित एम्० ए०

प्रसादजी चरम कोटि के भावुक साहित्यिक थे। उनके साहित्य के प्रत्येक अंग में भावुकता की स्पष्ट छाप अंकित है। उनका कथा-साहित्य इसका अपवाद नहीं माना जाता। जहाँ एक ओर उनके कथा-साहित्य से उनकी भावुकता झलकती है, वहाँ उसमें अभिव्यक्त प्रेम तथा रहस्यवादी तत्त्व भी विचारणीय हैं। प्रसादजी के कथा-साहित्य में प्रेम तथा रहस्यवादी तत्त्वों की पर्याप्त अभिव्यंजना हुई है। उनके प्रेम तथा रहस्यवाद में निकट का सम्बन्ध है। इन दो तत्त्वों की अभिव्यक्ति के कारण उनका कथा-साहित्य यत्र-तत्र गूढ़ बन जाता है। साधारण पाठकों के लिए कोई-कोई स्थल पहेली बन जाते हैं। अतः प्रसाद के कथा-साहित्य के विद्यार्थियों को चाहिए कि वे इन दृष्टिकोणों को अध्ययन के समय ध्यान में रक्खें।

प्रसाद-साहित्य की कदाचित् ही कोई ऐसी कहानी उपलब्ध हो सके, जिसमें प्रेम की गम्भीर अभिव्यंजना न हुई हो। प्रसादजी का यह प्रेम मा का सन्तान के प्रति ममत्व, भाई का बहन की ओर स्नेह या मित्र की लगन नहीं है वरन् वह स्त्री-पुरुष का स्वाभाविक आकर्षण है, जो एक विश्वव्यापी सामान्य प्रवृत्ति कही जा सकती है। सृष्टि के उषःकाल से आज तक यह प्रवृत्ति नर-नारी में समान रूप से पाई जा रही है, और मानव ही नहीं, वरन् पशु-जगत् में भी यह प्रवृत्ति दुर्लभ नहीं है। प्रसादजी ने मानव की तृतीय प्रवृत्ति (मैथुन) को बहुत शिष्ट, सीमित तथा उपयुक्त ढंग पर ग्रहण करके साहित्य के पृष्ठों पर उतारा है।

प्रसादजी के प्रेम में तथा नेत्रों को बरबस आकर्षित कर लेनेवाले सौन्दर्य और लावण्य में बहुत निकट का सम्बन्ध है। उनके पात्र, नायक और नायिकाएँ उत्कृष्ट व भावुक हैं। यौवन की नदी में तैरते हुए प्रसादजी के पात्र वासना के वेग में सौन्दर्य को देखकर बह जाते हैं और अपने को अपने ऊपर नियन्त्रण रखने में सर्वथा असमर्थ पाते हैं। उनके पात्र जीवन के मध्याह्न में किसी दिव्यांगना के यौवन-उभार को देखकर मन्त्रमुग्ध से होकर उसे प्राप्त करने का व्रत-सा ले लेते हैं और इस कठिन व्रत के द्वारा उस दुर्लभ लक्ष्य को प्राप्त करने के हेतु आजीवन प्रयत्नशील रहते हैं। शनैः-शनैः प्रस्तुत आकांक्षा प्रबल होती जाती है और एक अवस्था ऐसी आ जाती है, जब कि पात्र अपनी प्रेयसी के अभाव में अपने जीवन को मरुभूमि-सा रसविहीन पाने लगता है।

प्रसादजी के प्रेम करनेवाले पात्रों में कुछ ऐसे भी हैं, जो किसी कारणविशेष के उत्पन्न हो जाने से अपने इस भाव अथवा प्रवृत्ति को सदा के लिए दबा देते हैं और इस प्रकार उनका उन्मादपूर्ण प्रेम, पावन प्रणय में परिवर्तित हो जाता है। इस प्रकार के पात्रों में विशेष रूप से आकाशदीप-कहानी के बुद्धगुप्त तथा चम्पा उदाहरणार्थ उपस्थित किये जा सकते हैं, जिनके हृदय में यौवन के प्रथम पहर में प्रेम जाग्रत् हुआ, बढ़ा, फिर भी परिस्थितियों के प्रतिकूल होने के कारण कारणवश उनकी यह इच्छा शान्त हो गई और वही प्रेम की उमंग आवेग में, भावुकता से ओत-प्रोत प्रेम में परिवर्तित हो गई। प्राप्ति की आशा निराशा में, लाभ की आशा आत्म-समर्पण में और इच्छा अनिच्छा में बदल गई। अन्त तक चम्पा और बुद्धगुप्त के हृदय मिलकर कभी के लिए भी एक न बन सके। देवदासी-कहानी में अशोक वासनापूर्ण प्रेम का परित्याग करके हार्दिक सहानुभूति प्रकट करने लगता है। चूड़ीवाली, नूरी तथा चित्रवाले पत्थर कहानियों में भी प्रेम का यही स्वरूप प्रतिबिम्बित होता है।

प्रसादजी के पात्र प्रथम दर्शन में ही अपने हृदय पर अपना काबू खो बैठते हैं। उनका हृदय देखे हुए रूप के साथ वासनापूर्ण लगाव के लिए मचल उठता है। बाधाएँ प्रेमियों की एकता की सदैव से शत्रु रही हैं। परन्तु प्रसादजी के पात्रों पर इन बाधाओं का लेशमात्र भी प्रभाव नहीं पड़ता; वे पूर्ववत् अपने हृदय की चाह, लगाव की अभिलाषा, सम्पर्क की कामना का पालन-पोषण किया ही करते हैं। उनके लिए बाधाएँ महत्त्वहीन हैं। वे जीवन की सभी सत्, असत् इच्छाओं को महत्त्वहीन जानकर तृणवत् त्याग देते हैं और सच्ची लगन की दृढ़ डोर

को पकड़कर प्रेमपथ में अग्रसर रहते हैं, जिसमें कोई विश्रामभवन नहीं है और उस सीमा तक पहुँचना है, जिसके आगे कोई मार्ग नहीं है। प्रिय का काल्पनिक स्वरूप, उससे मिलन, बिछुड़न, मान इत्यादि में ही वह भौतिक सुखों का अनुभव करता रहता है। इस प्रकार वह स्वयं एक अलग संसार का निर्माण कर लेता है जिसमें वह और उसकी प्रेयसी बनी रहती है। उसके इस सीमित संसार में उसकी निजी बातें होती हैं। उसका व्यक्तिगत धर्म होता है, जो प्रेम धर्म के नाम से विख्यात है। प्रसादजी के अनेक पात्र इसी धर्म के अनुयायी और इसी मत के अवलम्बी हैं। 'तानसेन' कहानी में तानसेन स्पष्ट शब्दों में कह देता है कि "आज से हमारा धर्म प्रेम है।"

प्रसादजी के पात्रों पर प्रेम का बड़ा विचित्र प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। वे प्रेमपथ पर चलते-चलते सांसारिक द्वेषराग इत्यादि भावनाओं से ऊपर उठ जाते हैं। उनके हृदय में क्षमा, दया, प्रेम इत्यादि दैवी गुणों का उदय होने लगता है। उनमें सद्-वृत्तियों का आधिक्य हो जाता है। पात्रों में सहृदयता, भावुकता तथा ममत्व इत्यादि दुर्लभ गुणों का समावेश होने लगता है। असभ्य से असभ्य बनजारे, निर्जनशून्य प्रदेश के वासी पहाड़ी, चारयारी के विक्रेता असभ्य काबुली तक में सभ्यता, भावुकता, हृदय की कोमलता तथा उदारता इत्यादि गुण प्रदर्शित होने लगते हैं। प्रसादजी के शब्दों में प्रेम का महत्त्व इस प्रकार है—"प्रेम ऐसी तुच्छ वस्तु नहीं है कि धर्म को हटाकर उसके स्थान पर आप बैठे। प्रेम महान् है। प्रेमियों को भी वह उदार और महान् बनाता है।"

प्रसादजी के अपने इस कथन का कथा-साहित्य में कहाँ तक निर्वाह हुआ है, यह कहने की बात नहीं है। उनके प्रायः प्रत्येक पात्र अपने चरित्र तथा चरित द्वारा इस कथन की पुष्टि किया करते हैं। उदाहरणार्थ आकाशदीप कहानी के पात्र बुद्धगुप्त ही को ले लीजिए। जलदस्यु होने के कारण वह एक कठोर तथा विश्रृंखलताओं से पूर्ण मानव था, परन्तु चम्पा के प्रति उसके हृदय में जैसे ही प्रेम का उदय होता है, उसे हम कोमल हृदयवाले मनुष्य के रूप में पाने लगते हैं। वही जलदस्यु, बुद्धगुप्त, जो एक दिन अपनी सीमा के भीतर भय का महान् कारण था, "जिसके नाम से बाली जावा....गूँजता था, पवन थर्राता था", घुटनों के बल चम्पा के सामने छलछलाई आँखों से बैठा हुआ उससे प्रणय-भिक्षा की याचना कर रहा था। कुछ समय के पश्चात् यही स्वार्थी जलदस्यु ऐंद्रिक प्रेम को परित्यागकर कोमल भावनाओं से युक्त हो जाता है। यह प्रेम ही का प्रभाव था कि नन्हकूसिंह (गुण्डा कहानी में) अपनी प्रकृति को बदल देता है और पन्ना को न पा सकने पर भी आजीवन उसकी स्मृति को नवजीवन प्रदान करने के लिए ही सत्कर्म तथा लोकोपकार का बीड़ा उठा लेता है।

प्रसादजी के असफल प्रेमी प्रायः अपने प्रेम का केन्द्र इहलौकिक से पारलौकिक भी बना लेते हैं। अपनी प्रेयसी का रूप वे विश्वात्मा में देखने लगते हैं। चित्रवाले पत्थर कहानी में तो असफल प्रेमी मुरली अपने प्रेम के केन्द्र मंगला को त्यागकर संन्यासी हो जाता और तत्पश्चात् शुद्ध ब्रह्मानन्द में लीन हो जाता है।

प्रेम में विरह का विशेष स्थान होता है। विरह ही प्रेम की सच्ची कसौटी है। विरह प्रेम को उज्ज्वल तथा तीव्र बनानेवाला है। प्रसादजी के प्रेम की परिभाषा और व्याख्या में विरह का विशेष स्थान है। उनकी प्रायः सभी कहानियों का परिणाम विरह में ही चित्रित हुआ है। प्रसादजी को विरहपूर्ण अन्त अधिक प्रिय था। इसी कारण उनके पात्र यत्र-तत्र मिलन का अवसर पाकर भी उसका उपयोग नहीं करते। मिलन की आशा करते हुए भी अवसर प्राप्त होने पर उसे टाल जाते हैं। प्रसादजी की दृष्टि में मिलन स्वार्थ है, प्रेम की ज्योति को मन्द करनेवाला है। विरह में त्याग है, मिलन में स्वार्थ-साधन। मिलन वासना की प्रथम सीढ़ी है और विरह ऐन्द्रिक प्रेम की अन्तिम सीढ़ी। मिलन शारीरिक प्रेम है और विरह आत्मिक मिलन-प्रेम का अन्त करनेवाला और विरह उसे प्रज्ज्वलित करनेवाला है। विरह और मिलन में क्या अन्तर है और प्रसादजी के विचार से उनमें कितना अन्तर है, यह निम्न-लिखित पंक्तियों से स्पष्ट हो जाता है।—"तो क्या....से ब्याह कर लेना ही प्रेम में गिना जायगा। नहीं-नहीं, वह घोर स्वार्थ है।....को मैं जन्म भर प्रेम से अपने हृदय-मन्दिर में बिठाकर पूजूँगा। उसकी....प्रतिमा को पंक में न लपेटूँगा।" वासना ही पंक है। इसी

कारण लेखक प्रेम के पंक से दूर रहकर विरह को अपनाना चाहता है। फलतः उसके पात्र भी इसी प्रवृत्ति के पक्षपाती बन जाते हैं।

निष्फल प्रेम ही से विरह का प्रारम्भ होता है। प्रसाद-साहित्य में निष्फल प्रेम के तीन परिणाम उपलब्ध होते हैं। सर्वप्रथम हम निष्फल प्रेम के उस प्रबल प्रभाव को लेते हैं जिसका पात्र के मस्तिष्क पर प्रभाव पड़ता है और पात्र अपने शारीरिक दौर्बल्य के कारण विक्षिप्त अथवा उन्मादी हो जाता है। रसियाबालम, लैला, चन्दा, ग्रामगीत इत्यादि कहानियों में इसके अनेकानेक उदाहरण उपलब्ध होते हैं। रोहिणी निराश हो जाने पर पागल हो जाती और "बरजोरी बसे हो नयनवा में" गाती हुई दर-दर मारी-मारी फिरती है (ग्राम-गीत में)। लैला रामेश्वर से ठुकराई जाने पर पागल हो जाती है और उसके साथी प्रेत-बाधा समझकर झाड़फूक के चक्कर में पड़ जाते हैं (लैला-कहानी)।

प्रेम के निष्फल हो जाने पर द्वितीय प्रभाव वह है जहाँ प्रेम आशा छोड़कर संन्यास धारण कर लेता है; फिर भी प्रेयसी को नहीं भूल पाता। कोलाहलमय जग से दूर—बहुत दूर वह स्मृति को सुरक्षित रखता हुआ जीवन के दिन पूरे करता रहता है। मदन इन्हीं में से एक है जो गेरुआ वस्त्र धारण कर मृणालिनी की स्मृति को हरीतिमा प्रदान किया करता है (मदन मृणालिनी कहानी)। चित्रवाले पत्थर में मुरली इसी प्रकार मंगला से निराश होकर पहाड़ी प्रदेश में जा बसता है। बनजारा, देवदासी, अमिट स्मृति, प्रणयचिह्न, उस पार का योगी, चित्र-वाले पत्थर आदि सभी कहानियों के पात्रों में यही प्रमुख भावना व्याप्त है और इसी से वे सांसारिक मायामोह को त्याग देने के लिए उद्योगशील हो जाते हैं।

इसी का तीसरा प्रभाव वह है, जहाँ प्रेमी निष्फल होकर समस्त उपलब्ध सुख त्यागकर सेवाव्रत ले लेते हैं और कर्मयोगी बन बैठते हैं। आकाशदीप की चम्पा इसका अच्छा उदाहरण है और पुरुष पात्रों में गुण्डा-कहानी में नन्हकूसिंह का उल्लेख असंगत न होगा।

प्रसाद-साहित्य में निष्फल प्रेम के प्रथम प्रभाव से प्रभावित होनेवाली स्त्रियाँ ही अधिक हैं। कारण, पुरुष इतने बली अवश्य होते हैं जो इस प्रकार के सभी धक्कों को सह जाते हैं। परन्तु शेष दो प्रभावों से स्त्रियाँ और पुरुष दोनों प्रभावित दिखाई देते हैं। कथा-साहित्य में प्रेम के चित्रणों में जितना प्रसादजी सफल हुए हैं, उतना अन्य कोई भी लेखक नहीं; इसमें सन्देह नहीं।

३—स्वप्न-प्रणय

(पृथ्वीराज-संयुक्ता में संयुक्ता की अभिव्यक्ति) सुकवि अख़्तर-उल-ईमान

सुन्दर सपना बन के आली
नयनों में कौन समाया?
हर उमंग में हर तरङ्ग में—
फूल-पात में, रंग-रंग में—
रोम-रोम में, अंग-अंग में
एक उसी को पाया।

× × ×

मन मनतारा आशाओं की गोदी में झूला झूले
पल दिन पाये संग उसी को उसकी बात न भूले
कुछ सोच-सोचकर फूले
यह कैसा रंग जमाया।

× × ×

मीठी याद किसी की मन में अमृत घोल रही है
साँसों के तारों पर तन की वीणा बोल रही है
सब दुनियाँ डोल रही है।
यह कैसा जादू छाया
कौन समाया..............?

वर्षगाँठ

श्रीपुरुषोत्तमदास मोदी

कितनी ही देवी-देवताओं की मनौतियाँ करने के बाद लाला राधेश्याम को एक पुत्र का दर्शन हुआ है। कितनी-कितनी दूर पैदल केवल एक बालक के लिए तीर्थ करने जा चुके हैं। कितनी-कितनी विपत्तियाँ झेली हैं और तब कहीं जाकर एक पुत्ररत्न की प्राप्ति हुई है? भला सोचिए और अन्दाज़ लगाइए ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति होने की ख़ुशी का।

महँगी के ज़माने में भी गाँव के सभी ब्राह्मणों को दक्षिणा दी गई, ग़रीबों को अन्न और वस्त्र बाँटे गये। सबने हृदय से ऐसे पुत्ररत्न की प्राप्ति पर लाला साहब को आशीर्वाद दिया और ईश्वर से इस बालक के चिरंजीवी होने की प्रार्थना की। कहने को तो सभी ने ऐसे ही कहा, परन्तु मैं कह नहीं सकता कि यह केवल अन्न देने और वस्त्र की प्राप्ति के बदले में चुकाया गया या हृदय के स्नेह से। ख़ैर, जो भी हो। यह तो दुनिया में होता ही रहता है और इसको कोई समझ नहीं पाता।

× × ×

लाला राधेश्याम जाति के कायस्थ हैं। बाप-दादे वकालत या नौकरी करते आये और उससे जो रुपया इकट्ठा होता गया उसकी ज़मीन ख़रीदते गये और आज उनके ही वंशज लाला राधेश्याम पूरे सूरजपुर के ज़मींदार हो गये। ज़मींदार होने पर वकालत और नौकरी की ज़रूरत ही क्या। फिर बाप-दादे जो इतना धन छोड़ गये हैं उसका कुछ तो भोग करना ही चाहिए। यही सोचकर लाला राधेश्याम ने ज़मींदारी की ही ओर विशेष ध्यान दिया। घर में केवल एक स्त्री और विधवा बहन थी; और कोई नहीं था, जो हज़ारों का ख़र्च होता। अब एक बालक ख़र्चने के लिए आ ही गया जिसके लिए वे इतने उत्सुक थे। अपने जन्म पर ही उस बालक ने लगभग डेढ़ हज़ार रुपये के ख़र्च करवा दिये और इसके पहले भी न जाने कितने रुपये तीर्थों इत्यादि में लग गये होंगे।

× × ×

हाँ, तो इतने बड़े ज़मींदार के घर में एक पुत्र, वह भी इतनी मिन्नतों के बाद आया तो एक रोग ही लेकर आया। पैदा होने के बाद ही से उसके मुँह में छाले पड़ने लगे। गाँव के वैद्यों को दिखाया। डाक्टर तो गाँवों में होते नहीं। हाँ, आज-कल होमियोपैथिक की डिगरीवाले डाक्टर एक-आध मिल जाते हैं। वैद्यजी आये। उन्होंने राय दी कि इसको मा का दूध न दिया जाय, सिर्फ़ बकरी के दूध पर रक्खा जाय। सबको यह निर्णय पसन्द आया; क्योंकि वह वैद्य ही क्यों, देश के इतने बड़े महात्मा गांधीजी भी तो बकरी के दूध की इतनी तारीफ़ करते हैं।

हाँ, तो तुरन्त एक ख़ासी अच्छी मोटी-ताज़ी दूध देनेवाली बकरी मँगाई गई। नवशिशु उसी के दूध पर पलने लगा और स्वस्थ रहने लगा। इतने प्यार से पाले जानेवाले बालक का नाम क्या रक्खा जाय, यह भी एक समस्या थी। एक शुभ दिन सभी पंडित और गाँव के लोग इकट्ठे हुए। उन्हें भोज दिया गया और लड़के का नाम रक्खा गया मंगलाप्रसाद; क्योंकि लड़के ने मंगल के दिन ही जन्म लिया था और मंगल के दिन ही नाम भी रक्खा जा रहा था।

बच्चा बड़े लाड़-प्यार से पलता गया। एक....दो....तीन....चार इस तरह चार साल बीत गये। प्रत्येक वर्ष जन्मदिवस पर काफ़ी उत्सव होता। मंगलाप्रसाद बाक़ायदे बैठाये जाते। दरबार लगता। गाँव के लोग तरह-तरह की चीज़ें भेंट करने को लाते। उसके बदले में हर साल उनको लगान में से कुछ छूट मिल जाती। उस दिन सबको भोज दिया जाता। तरह-तरह की एक-से-एक बढ़िया चीज़ें बनाई जातीं। बनारस से पान और मिठाई वग़ैरह आती। ज़ोरों का उत्सव होता।

इन्हीं चार वर्षों के बीच मा के समान पालनेवाली बकरी के तीन बच्चे हुए। कुछ ही बड़े होने पर गाँववाले माँग ले जाते और दे दिये जाते; क्योंकि लाला साहब को उनकी ज़रूरत क्या थी। अब क बार जिस दिन मंगलाप्रसाद की चौथी वर्षगाँठ

मनाई जा रही थी, उसी दिन बकरी ने दो बच्चों को जन्म दिया। एक बच्चा तो जन्म लेते ही मर गया। दूसरा मंगलाप्रसाद का दोस्त हो गया। अब मंगलाप्रसाद कुछ बड़े हुए थे। उन्हें अपने साथ किसी उछलने-कूदनेवाले की ज़रूरत थी। ऐसे ही समय में उस बकरी के बच्चे का जन्म हुआ। लालाजी तो उसे भी गाँव के एक मुंशीजी को दे रहे थे, लेकिन बच्चे ने न देने दिया। इतने प्यार से पाले हुए बच्चे का इतना भी कहना मानना कोई बड़ी बात न थी।

× × ×

'किलबिल' यही उस बच्चे का नाम मंगलाप्रसाद ने रक्खा। तुतली भाषा में जब वह पुकारता 'किलबिल' तो वह बच्चा उत्तर में—'मैं' कर देता और उसके पास आकर खड़ा हो जाता। किलबिल का साथी मंगलाप्रसाद ही था जो उसे हर तरह से घुमा-फिरा सकता था। किसी दूसरे के बुलाने पर न तो वह आता और न दूसरे की दी हुई चीज़ ही खाता। किलबिल के लिए मंगलाप्रसाद ने भी ख़ूब इन्तिज़ाम कर रक्खा था। अपनी खाट के पास उसके लिए पुआल का गद्दा रखवा दिया। उसके खाने के लिए रोज़ पत्तियाँ मँगवाता। जब देखो, किलबिल मंगलाप्रसाद के पास पड़ा है। उसकी गोद में सिर रक्खे मज़े में जुगाली कर रहा है। और मंगलाप्रसाद, वह भी तो कुछ समझने लगा था। उसने जाना कि वह इस 'किलबिल' की मा—उस बकरी के दूध से पला है, उसने माता के समान अपना दूध पिला-पिलाकर उसे इतना बड़ा किया है और उसी की संतान यह किलबिल है जो उससे चार वर्ष छोटा है और उसके छोटे भाई की तरह है; क्योंकि उसके किलबिल ने भी तो उसी बकरी का दूध पिया है। जो बालक इतना समझेगा वह वैसा ही आचरण भी बड़े भाई की तरह उसको दौड़ाना, खिलाना, पुचकारना और कहना न मानने पर कान उमेठना—यह सब मंगलाप्रसाद करता था। इतना ही नहीं, उस बकरी के बच्चे ने अपने बड़े भाई के समान मंगलाप्रसाद के संकेतों को भी अच्छी तरह जान लिया और मंगलाप्रसाद ने भी किलबिल के संकेतों को जान लिया। दोनों भाई की तरह रहते, फ़र्क़ सिर्फ़ इतना ही था कि वह बकरे के रूप में था और मंगलाप्रसाद मनुष्य के बालक के रूप में।

मंगलाप्रसाद हाथ से इशारे करके उसे अपनी बात समझाता और किलबिल अपने हाव-भाव और आँखों के संकेत द्वारा अपनी बात मंगलाप्रसाद को समझा देता। दोनों मूक बच्चे थे, क्योंकि स्वजातीय तो थे नहीं, जो एक-दूसरे की भाषा समझ लेते। एक पशु की जाति का था और एक मनुष्य की।

अब किलबिल की आयु एक वर्ष की हुई और मंगलाप्रसाद की पाँच वर्ष की। वर्षगाँठ का उत्सव हो रहा है। किलबिल मंगलाप्रसाद की बग़ल में बैठा है। किसानों की भेंट जो फल फूल इत्यादि होते हैं वे पहले मंगलाप्रसाद के दोस्त द्वारा चख लिये जाते थे, तब फिर अन्दर जाते थे। यही मंगलाप्रसाद की इच्छा थी और फिर उसकी वर्षगाँठ के दिन उसकी इच्छा को टाले तो कौन टाले।

× × ×

और सब कुछ उसी तरह होता रहा, लेकिन अब दोनों की उम्र में अन्तर आता गया। किलबिल ढाई वर्ष का और मंगला साढ़े छः वर्ष का हुआ। अब दोनों में इतना प्रेम हो गया था कि दोनों के लिए एक-दूसरे के बग़ैर रहना मुश्किल ही नहीं, असम्भव-सा हो गया।

रात को भी मंगला अपने किलबिल की ख़बर लेने एक-दो बार ज़रूर उठ जाता था। कभी-कभी तो अपने किलबिल के विषय में कोई भयंकर स्वप्न देख चौंक तक उठता था। अब तो ऐसा रोज़ ही रात को होने लगा।

माता-पिता आशंकित हुए। उन्होंने सोचा, इन सब झगड़ों की जड़ वह अभागा किलबिल ही है। क्यों न उसी को उड़ा दिया जाय। मा ने कहा, क्यों न इसे किसी गाँववाले को दे दिया जाय। मगर नहीं, पिता को एक दूसरी बात सूझी। आज से ठीक एक महीना मंगला की छठी वर्षगाँठ को है। उसी रोज़ देवी की पूजा की जाय और शानदार भोज दिया जाय। मा को भी यह बात जँच गई और उसने भी अपनी स्वीकृति दे दी। अभी तक सिवा इन दोनों के किसी दूसरे को पता भी न था कि मंगला का किलबिल बलि का बकरा क़रार दिया जा चुका है, क्योंकि वह उनकी आँखों में काफ़ी 'तैयार' और इसी के योग्य है।

हाँ, तो ठीक एक दिन पहले इसका सारा इन्तज़ाम चुपके-चुपके हो गया। घेर के पिछवाड़े

उसकी बलि दी जायगी और वहीं उसका ताज़ा मांस पकेगा भी।

इधर मंगला बहुत खुश हो रहा था कि कल उसकी वर्षगाँठ है। वह अपने किलबिल का खूब श्रृंगार करेगा और अपनी वर्षगाँठ के साथ-साथ उसकी भी वर्षगाँठ मनावेगा। वह पशु है तो क्या, उसे भी मनुष्य की तरह रहने और जीने का अधिकार है।

× × ×

रात्रि के तीन बजे का समय। किलबिल अपने दोस्त मंगला की चारपाई के निकट पुआल के गद्दे पर लेटा हुआ है। बलि देनेवाले आते हैं और उस बच्चे को बलिवेदी के निकट चुपके से उठा ले जाते हैं। उनके ले जाने के ठीक आध घण्टे बाद 'किलबिल' 'किलबिल' पुकारता हुआ मंगला चौंक उठता है और उठ बैठता है। बग़ल में रक्खे पुआल के गद्दे की ओर निगाह फिराता है तो देखता है, वह ख़ाली पड़ा है। वह धक से रह जाता है। सुबह के लिए बाँधे हुए उसके मनसूबे क्या योंही मिट जायँगे? फिर आज ही वह अपने आप कहाँ चला गया। इतने दिन उसके साथ रहते हो गये, लेकिन कभी इस तरह नहीं भागा। तो फिर आज—आज क्या हुआ?

मंगला इसी सोच में है कि उसे 'मैं मैं' की आवाज़ सुनाई देती है जो और किसी की नहीं उसके किलबिल की ही घर के पिछवाड़े से आती हुई आवाज़ है। वह तुरन्त उसी ओर अँधेरे में उसकी ओर दौड़ जाता है। एक बार चौखट से ठोकर खाकर गिर पड़ता है, लेकिन फिर भी उठ जाता है और दौड़ जाता है। बाग़ीचे में पहुँचता है उसे कोने में झोपड़ी में कुछ रोशनी दिखाई देती है। वह उसी ओर दौड़ता है और—और राह के कुएँ में फिसल जाता है और तभी उसके किलबिल पर हत्यारे की कटार पड़ जाती है।

× × ×

प्रातः ६ बज गये। बाहर दालान की सजावट हो रही है, दरी इत्यादि बिछाई जा रही है और पिछवाड़े की ओर देगची में भीनी-भीनी ख़ुशबू के साथ मांस पक रहा है। तभी लाला साहब अपनी स्त्री से कहते हैं—"जाओ, पहले मंगला को तो जगा दो वह नहा-धोकर तैयार हो जाय।"

मगर मंगला वहाँ कहाँ। चारों ओर खोज मचती है और अन्त में मिलता क्या है—

देगची में पकते हुए मांस की ख़ुशबू और कुएँ में गलते हुए शव की बदबू।

महर्षि दयानन्द

साहित्य-रत्न त्रिवेदी पं० अखिलेश शर्मा, काव्य-धुरीण

१

जो 'अखिलेस' है पालक, घालक, जाकी महा महिमा जग जानी।
जातैं हिमालय-सैल भये स्तुति, रूप-अखण्डित, आनँद-दानी॥
तातैं पुनीत कढ़ी सबको जो बतावति मारग-मुक्ति, सयानी।
ईस की प्यारी विजै लहै यों दयानन्द की देवधुनी-बर-बानी॥

२

जौन निवृत्त भयो विषयानि तैं निर्मल-चित्त की वृत्ति है धारे।
'श्री अखिलेस' के आनँद-सिन्धु में बूड़त चाव सों साँझ-सकारे॥
वेद-प्रभाकर की किरनैं लहि होत प्रफुल्ल सुवास पसारे।
तौन दयानँद को मुख-पंकज दूरि करै भव के दुख सारे॥

३

या भव-कानन को मत वाद-दवानल ने बहु भाँति जरायो।
तापै समीरन ह्वै जड़ताई को ह्वैकै सहायक जोर जनायो॥
देखि दसा स्तुति-सागर तैं 'अखिलेसजू' लै जल-बाँध को धायो।
सान्त कियो यों दयानँद-मेघ लहै जग मैं जय-सौख्य सुहायो॥

४

रवि-वेद सों ज्ञान-प्रकास लैकै छिटकाई छटा वसुधा में ललाम है।
पुनि सोभित ह्वैकै द्विजाली-तरैयनि, संसृति की नित पूरत काम है॥
वर बानी-पियूषमयी-किरनालिसों नासै अविद्या-तमिस्रा मुदाम है।
उन चन्द-दयानँद को अखिलेस-चकोर को बारहिबार प्रनाम है॥

५

सुनिकै रव जाको भयाकुल ह्वै मृग-वृन्द-कुमारगगामी भगे।
'अखिलेस' अलौकिक-तेज निहारि सृगाल-बिरोधी रहे हैं ठगे॥
रन-बाद में जासों मतंगज-पंडित, हारि गये, न हिये उमगे।
वह स्वामी दयानँद सिंह समान रहैं सुजसी जयनाद पगे॥

६

या भव-बारिधि बीचे, विपत्ति की तुंग-तरंगैं उठीं दुखदाई।
रोगनि-नक्रनि घायल ह्वै बढ़ी लोगनि के हिय मैं बिकलाई॥
देखि निरोग कियो 'अखिलेसजू' बेगि ही दै उपदेस—दवाई।
ऐसे दयानँद-वैद-मुनीन्द्र की कौन समर्थ करै जु बड़ाई॥

७

गिरे नर कूप अजानपने के तहाँ पर देख्यो हितू नहिं कोय।
फँसे अघ-कर्दम में 'अखिलेस' न जोर चल्यो गये खूब विगोय॥
दुखी लखि वेद-बचावलि-सीढ़िन, काढ़ि लियो, दियो कल्मष धोय।
दिखावत ज्ञान-प्रकासित-मारग स्वामी दयानँद की जय होय॥

८

मेटिकै पाप-निसा 'अखिलेसजू' वेद-विरोधी-निसाचर जारे।
सज्जन-कंज विकासि भले, बन-वैदिक-धर्म खिलावन हारे॥
संसृति मोह की नींद जगाय छिपाये अजान—उलूक—करारे।
स्वामी दयानँद-भानु सदा सोइ होय प्रकासित हीय हमारे॥

९

साधु, सुधी, जेहिं कीन्हे सुखी परित्रान अनाथन का गन पावै।
जामैं दया की उठैं लहरैं बड़ी खेती गृहस्थनि की लहरावै॥
दासनि को करै मोष प्रदान हिये 'अखिलेस' के तोष भरावै।
सोई दयानँद-वानी-भगीरथा मो मन के मल धोय वहावै॥

१०

जो जग के त्रय-ताप सों तापित, तापर सान्ति-सुधा बरसावत।
त्यों कुमुदालि-सुकर्म खिलाय कै सद्गुन-स्वच्छ-कला दरसावत॥
उत्तम-वेद-वचामृत सों 'अखिलेस' तृषा जनता की बुझावत।
जीवनमुक्त-दयानँद को जस-चन्द-अमन्द, अनन्द वढ़ावत॥

११

तीखी-कृपान प्रमान की लैकै सुतर्क के धारे हैं सानित-सायक।
त्यों 'अखिलेस' सभा-रन में प्रतिपच्छिन-सास्त्रिन को भयदायक॥
वर्म-अधर्म सों आवृत गात विभेदि, गुमान-गढ़ी दृढ़, ढायक।
बाद-महारथी, वेद-पथी, जसी होहिं दयानँद लोक के नायक॥

१२

घोर-भवाटवी, मोह-तमी, जन-संघ सुमारग भूलि गयो है।
बूड़ै लग्यो विषयापगा में 'अखिलेसजू' साहस-ज्ञान हयो है॥
व्याकुल जानि मुनीस्वर वेगि प्रबोध को दीप दिखाय दयो है।
दीनदयालु-दयानँद-देव दुनी में प्रकास को खम्भ भयो है॥

१३

मोह-समुद्र में नाव समाज की बूड़ति कोऊ न खेवन हारो।
ताहि बचावन को 'अखिलेस' महर्षि तज्यो सुख-मुक्ति-करारो॥
जो प्रभु-प्रेम-सरोवर को नित मीन बन्यो निज जन्म सुधारो।
सो भगवान दयानँद को सुचरित्र करै दुख दूरि हमारो॥

१४

ओम-धुजा, रथ-वेद चढ़े कर वैदिक-धर्म-सरासन धारे।
तर्क-सिलीमुख लै 'अखिलेसजू' वाद-महारन में पगु धारे।
जो मतवादी-धुरन्धर-पंडित-भूपति सो पल माहिं पछारे।
ऐसे जयी मुनिराज दयानँद सिद्ध करैं सब काज हमारे

१५

सत्य के अर्थ प्रकासन हेत प्रभाकर सो दुतिमान, गँभीर है।
त्यों बर-बानी-कुमोदनी को ससि पावन-पूज्य ज्यों गंग को नीर है॥
पाप-पहार-बिदारिवे को 'अखिलेस' सुरेस सो साहसी, बीर है।
ज्ञानिन-सुज्ञनि-मालिका के मधि दानी, दयालु, दयानँद हीर है॥

१६

देखि दुखी दुनिया जिनके उर स्रोत दया को लग्यो लेहरावन।
तापै अनुग्रह को 'अखिलेस' लियो जग संग्रह को ब्रत-पावन॥
सत्य की उक्तिन-जुक्तिन-पुष्टित वेदनि को कियो भाष्य-सुहावन।
ऐसे दयानँद वन्दन को मन क्यों न नितै उमँगै अति चावन॥

१७

जिनके उदै नास पखण्ड भये गन पापन के मन माहिं डरैं।
'अखिलेस' कुकर्म भये सब वन्द सुकर्म सुखी जग में विचरैं।
भई उन्नति आर्यसमाजिन की लखि पाजिन के हियरा हहरैं।
उन पूज्य-ब्रतीन्द्र-दयानँद के गुन कैसे कवीन्द्र बखान करैं॥

१८

कब बन में कब तंग-पहारनि, सीतरु घाम-प्रचण्ड सह्यो।
'अखिलेसजू' उत्तम-जोगिन-ज्ञानिन खोजि भली विधि सान्ति लह्यो।
करि संग्रह निर्मल-ज्ञान-महान, बिकारनि के गन बेगि दह्यो।
परमातम के हित रावरो कृत्य जतीन्द्र, नितै हिय में उमह्यो॥

१९

उदै कियो लुप्त भये वर वेदन धर्म-प्रसुप्त जगायो प्रकाम।
मही पर कीन्हे प्रचारित भाव स्वतन्त्रता के 'अखिलेस' ललाम॥
फँसे बिपदा में ग्रसे गुरु दम्भनि मुक्त कियो दियो आनँद-धाम।
सोई भगवान दयानँद को बसु जाम करैं हम क्यों न प्रनाम?

२०

मन लाय ब्रती स्तुति-पाठ करैं कहुँ होम को धूम लखाय रह्यो।
'अखिलेस' कहूँ रत जोग में ह्वै हिय जोगिन को हरषाय रह्यो॥
कहूँ पंडित-मण्डल उत्तमता जुत ब्रह्म को ज्ञान लुटाय रह्यो।
यहि भाँति दयानँद-तेज सों वैदिक-धर्म स्वराज्य बढ़ाय रह्यो॥

२१

जाहि सुपन्थ सों टारन को न समर्थ तिलोक-रमा हिय हारी।
जाके निपातन के हित दुर्ष्टनि की भुई कुरिठत, पैनी-कटारी॥
बाहिर-भीतर सों सम जो जग जाहिर वैदिक-बोध-तमारी
आनँदकन्द-दयानँद सो 'अखिलेस' नितै बरसैं सुख-वारी॥

२२

पाखँड-पूजा छुड़ाय भली विधि, वैदिक-कर्म के मर्म सराहे।
आर्यसमाज की थापना कै 'अखिलेस' स्वराज्य को लोग उमाहे॥
नारिन-सूद्रनि वेदनि को अधिकार दियो भव के दुख दाहे।
ऐसे दयानँद श्रीगुरुदेव की वन्दना नित्य ही कीजै न काहे।

२३

मानव-मंगल के हित वेदनि मैं रत ह्वै स्रम कीन्यो घनेरो
वैदिक-धर्म-प्रचार हितै 'अखिलेस' कियो वसुधा पर फेरो॥
व्यापक-ब्रह्म-निरंजन मैं रहि लीन गिन्यो नहिं साँझ-सवेरो।
ऐसे दयानँद-आनँदकन्द को वन्दन बार हजार है मेरो॥

२४

जुदा 'अखिलेस' सदा को कियो जेहि मातु, पिताहु, कुटुम्ब महान।
बितावन के हित संजमी-जीवन दीन्यो कृपा करि उत्तम-ज्ञान॥
तजे जग के सुख, पुत्र, कलत्र, गिन्यो धन को तिनका के समान।
महर्षि! तिहारी सोई प्रभु-भक्ति करै हमैं न्यारी सुमुक्ति प्रदान॥

२५

रावरे जन्म के पूर्व मुनीस्वर! आई किती सिवरात्रि सुहाई।
जाहित भक्त अनेकनि कै व्रत काढ़ी हिये-सर, पातक-काई॥
पै सिवरात्रि तिहारी अनूपम, अद्भुत 'अखिलेस' महाई।
अन्तर में जेहि ईस्वर-ज्ञान की प्यास बढ़ाय कै आस पुजाई॥

२६

प्रबल-प्रताप मैं पराक्रमी पुरन्दर से, वाद-सिन्धु-मन्थन को मन्दर निहारौं मैं।
दान में दधीचि बलवान हनुमान ऐसे, ज्ञान में बसिष्ठ, व्यास, जैमिनि बिसारौं मैं॥
'अखिलेस' आसुतोष दीननि, अधीननि को, काम तस आरत, अबल को विचारौं मैं।
नामी जोगिराज बिस्ववन्द्य दयानन्द स्वामी, कौन रूप रावरो मही पै निरधारौं मैं॥

नोट—इस कविता के छन्द सं० १ से १२ तक आर्य-कन्या महाविद्यालय बड़ौदा के भूतपूर्व आचार्य एवम् गुरुकुल वृन्दावन के स्नातक, पुण्यारण्याश्रम, नान्दूर येवला (नासिक) निवासी कविरत्न पं० मेधाव्रताचार्य-कृत संस्कृत 'दयानन्दलहरी' और 'दयानन्द-दिग्विजय' महाकाव्य के कुछ श्लोकों के छायानुवाद हैं।—लेखक

संतान होने की औषधि

अब

हर स्त्री को

बच्चा

हो सकता है

यदि किसी स्त्री के विवाह को कई वर्ष बीत गये हों और उसको बालबच्चा न होता हो तो उसे केवल एक शीशी दवा **मुहाफ़िज़ औलाद** खिला देनी चाहिए । इस औषधि के सेवन से अन्दर की वह खराबी ठीक हो जायगी और उसके ही संतान होने लगेगी। दवा **मुहाफ़िज़ औलाद** के सेवन से आज हज़ारों स्त्रियों की गोद में बालक खेल रहे हैं। इस दवा की एक शीशी की क़ीमत दो रुपया आठ आना २॥) है। नीचे के पते पर पत्र लिखकर वी० पी० पारसल द्वारा मँगा लीजिए । पारसल पर केवल ॥-) महसूल लगेगा।

लेडी डाक्टर ज़नाना दवाखाना एम० एम० बी० नं० ३४, देहली।

पैसे की इज़्ज़त

श्रीराम शर्मा 'राम'

सम्भवतः जिस दिन मनुष्य ने अपने क्रमिक विकास को संगठित रूप में चलाना आरम्भ किया, तभी उसने आर्थिक-विकास का बीजारोपण कर दिया था। मनुष्य के वे दिन, जब कि वह चील-कौओं की तरह वनों के बीच में घोंसले बनाकर रहता था, जब कि जंगल के जानवर मारकर लाना और समुद्र के किनारे की मछलियाँ पकड़ना ही जीवन का आदान-प्रदान था, कदाचित् तभी ही, मनुष्य ने अपने आर्थिक प्रश्न को प्रोत्साहित करना आरम्भ कर दिया था। यह जो आज हम उत्तरोत्तर उन्नति और वैभव की दुनिया का चित्र देखते हैं, इसका श्रेय, मनुष्य के उस निरन्तर और अविराम प्रयत्न को प्राप्त है, जो उसने अपने आर्थिक-विकास की उन्नति के लिए किया। मनुष्य के वे लाख-दो-लाख वर्ष पूर्व के पूर्वज, जीवन के जिस भीषण और कठोर घर्ष में से निकले, उसका परिणाम आज का मनुष्य है, उसकी आज की यह सजी-सजाई दुनिया है, जिसे आप देखकर न कभी थके हैं, न ऊबे हैं।

मनुष्य के सामाजिक-विकास में पैसे का सदा से ही उच्च स्थान रहा है। मनुष्य ने जिस उद्देश्य को लेकर पैसे का आविष्कार किया था, उसे मनुष्य ने आज तक भी पाया है, ऐसा हमारा विश्वास नहीं है। जिस पारस्परिक सहयोग की भावना के द्वारा मनुष्य के मस्तिष्क में कंकड़-पत्थरों की तरह पैदा होनेवाले चाँदी-सोने के लिए ममता व्यापी, उसने धीरे-धीरे आगे बढ़ते आये इस मनुष्य को एक ऐसे धरातल पर लाकर पटक दिया है, जहाँ यह अपनी मनुष्यता को छोड़कर पैसे के पीछे भाग चला है। इस पैसे ने मनुष्य की व्यवस्था में, जो युग-युग से चले आये परिवर्द्धित संस्करण पेश किये हैं, यदि फिर से उनके इतिहास की झाँकी देखी जाय, तो पता चले, यह पैसा मानवीय-संस्कृति का पोषक नहीं, अपितु एक महान् शत्रु रहता आया है। समाजवाद के जिन सिद्धान्तों पर इस मानव को केन्द्रित किया गया था, उनको छोड़कर मानव, स्वयं मानव का शत्रु बन गया। जिस सद्भावना की नींव पर मनुष्य-समाज की आधारशिला रक्खी गई थी, उसको इस पैसे ने, जिसे मनुष्य ने अपने बीच में एक आधार बनाया है, किसी समय मजबूत और ठोस नहीं होने दिया।

सभी प्राणी अपनी ज़रूरत के बन्दे हैं। पशु-पक्षी भी जहाँ अपनी इच्छाओं को पूर्ण करने का कोई आधार तलाश करते हैं, वहाँ उसी तरह इस मनुष्य ने अपने बीच में इस पैसे की मध्यस्थता स्वीकार की। जब तक पैसा इसी रूप में बर्ता गया, तब तक मनुष्य उसके प्रति सदा मौन और उपेक्षायुक्त-सा रहा; क्योंकि अपने क्रमिक विकास में फ़िलहाल उसकी ज़रूरतें सीमित थीं। परन्तु जैसे-जैसे मनुष्य का मस्तिष्क अधिक चातुर्य-पूर्ण बनता गया, वह अपने मस्तिष्क की महत्ता को समझता गया, तभी तक उसके व्यावहारिक निर्माण में पैसे की क़ीमत बढ़ती गई। चूँकि मनुष्य आदिकाल से ही नवीनताप्रिय रहा है, कला-कौशल और चित्र-कारी के प्रति उसकी स्वाभाविक रुचि रही है, अतः पैसे के द्वारा उनका निर्माण हुआ और विस्तार किया जा सका। पैसे की मध्यस्थता ने मनुष्य में एक मोहक और जादूभरी टीस पैदा की कि बरबस ही, मनुष्य इस पैसे के पीछे चला। पैसा कहाँ अधिक से अधिक प्राप्त किया जा सकता है, किस तरह से मिल सकता है, आदि बातों ने मनुष्य में स्वभावतः रुचि और प्रतिस्पर्धा की भावना पैदा की कि वह आगे बढ़े और पैसे को प्राप्त करे।

दुनिया में दो ही प्रकार के पैसेवाले हैं, एक लूट-मार करके और दूसरे व्यावसायिक तरीक़े से प्राप्त करने-वाले। किन्तु व्यावसायिक ढंग से पैसे की उपज करनेवाले पैसा तो पैदा करते गये, पर उसकी स्वयं रक्षा नहीं कर सके। पैसे की रक्षा के लिए उन्होंने अपने में से एक राजा नियुक्त किया। यही राजा उन प्रतिस्पर्धियों में सबसे आगे बढ़ गया। राजा ने अपने सीमित क्षेत्र से आगे बढ़कर, दूसरे राजा पर और उसके देशों पर चढ़ाइयाँ कीं और उनको लूटा-मारा। फलस्वरूप पैसे ने मनुष्य के बीच में रक्तपात का बीजा-रोपण किया। इन्हीं में एक और जमात पैदा हुई, जिसका नाम रक्खा गया डाकू। डाकू मनुष्य की उस मनोवृत्ति का इतिहास है, जो पैसे की प्रतिस्पर्धा

के साथ राजा और अमीरों के बीच से निकली ; क्योंकि अमीर चाहता था कि उसके पास जो संचित धन है, वह उसी तक सीमित रहे। पैसे के लिए जो उसमें मोह व्यापा, उसने ऐसी लोमहर्षण और भयप्रद आशंकाएँ पैदा कर दीं कि वह बरबस धनिक लोगों की आँखों में धूल झोंककर जहाँ उन्हें ठगने के लिए तैयार हुआ, वहाँ वह स्वतः भी धन को ताले में बन्द करके रखने लगा। यह दशा उस व्यापक रूप की थी, जो कि मनुष्य को शंकित, सन्देहशील और भ्रमात्मक स्थितियों में से लेकर गुज़रा।

किन्तु राजा इस ओर से शंकित नहीं था। उसके ऊपर जो काम सौंपा गया, उसके लिए उसके पास आप ही धनिकों की ज़ेब से धन आता रहा ; क्योंकि धनिक के धन की रक्षा का अवलम्ब राजा था। राजा के लिए उस धन में से कुछ दे देना उसकी एक मजबूरी थी। पर आज की तरह कभी, राजा और धनिक ही सब कुछ नहीं थे। उनकी संख्या भी अधिक नहीं थी। उनका विकास एक ऐसी दुनिया में हुआ, जहाँ अधिकांश बे-पैसेवाले मज़दूरी पर निर्भर रहकर अपना जीवन व्यतीत करते थे। उनकी मज़दूरी का केन्द्र था राजा और धनिक। वनों में और पहाड़ों में से सोना-चाँदी तथा समुद्र के अथाह तल में से मोती ढूँढकर निकालनेवाले ये मज़दूर ही हुए। ये मज़दूर उन निरन्तर की हुई खोजों में, सदा ही अपने प्राणों को जान-बूझकर झोंकते रहे हैं। वे समुद्र के जीवों की उदर-पूर्ति करते रहे और बाहर के हिंसक पशुओं को भी अपने को पेश करके मुलायम ग्रास देते रहे। किन्तु इसके पुरस्कार में उन्हें जो कुछ मिलता रहा, वह इतना कम होता कि कभी उस मिहनती समुदाय को सन्तोष नहीं मिला। पैसे का अस्तित्व वे भी मानते थे। उसकी मोहक गन्ध उन्हें भी सदा, अपनी ओर खींचती रहती थी। जब वे इसके लिए कोई राह न देख पाते, तो फिर चोरी करते और डाका डालते। यहाँ से पैसे के पतन का प्रारम्भ होता है।

प्रश्न यह है कि अगर पैसा हमारे सामने न होता, तो क्या होता ? क्या आज जो यह मनुष्य उन्नति की चरम सीमा पर आ गया है, तब न आ पाता ? पैसे के अस्तित्व को स्वीकार करनेवाले कदाचित् ऐसा ही मत रखते हैं। परन्तु इस पैसे के द्वारा जो मानवीय संस्कृति पर निरन्तर अत्याचार और पापाचार हुए हैं, वे इतने दारुण हैं, वे इतने वीभत्स हैं कि उनकी याद भर से ही रोंगटे खड़े हो जाते हैं। जो लोग अपनी उन्नति के मार्ग में पैसे के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं, कदाचित् वे मनुष्य के नैतिक और सामाजिक दृष्टिकोण को ध्यान से नहीं देखते। जो पैसा हमारी ज़रूरतों को पूरा करने भर के लिए बनाया गया था, उसने क्या कभी, मानव में, मानव के प्रति सद्भाव और प्रेम की बुनियाद डाली है ? पैसा सदा ही इनका शत्रु रहा है। पैसे ने इस मानव के वंश में एक ऐसी आत्मा का बीज बो दिया है, जो इसे मनुष्य के कर्तव्य से बहुत दूर ले गया है। यह ठीक है कि हमें अपने अस्तित्व को क़ायम रखने के लिए पैसे की महत्ता स्वीकार करनी पड़ी। यह भी मान लीजिए कि यदि पैसे की जगह अन्य कोई साधन आपके सामने होता तो तब भी आप इसी क्रम के साथ चलते। लेकिन हमारा विचार है कि पैसे ने हमारे विवेक को इसलिए भ्रष्ट किया है कि हम पैसे के द्वारा ही अपनी गति-विधि की नाप करने लगे। हमारे पतन का एक यह भी कारण हो गया कि पैसे को हमने धार्मिक रूप भी दे दिया। यह प्रवृत्ति किसने पैदा की ? क्या यह सरमायेदारी का एक ढोंग नहीं है ? आप आश्चर्य करेंगे कि सरमायेदारी की प्रवृत्ति ने मानव को खंड-खंड कर दिया है। ये अदालतें, ये जेलख़ाने, यह पुलिस आख़िर क्यों है ? क्या नियन्त्रण और सुरक्षा के लिए ? कहा ऐसा ही जाता है; पर वास्तव में बात ऐसी नहीं है। मनुष्य की इस स्वेच्छा ने, उसकी इस पैसे की भूख ने, उसे मनुष्य का दुश्मन बना दिया है। आप नित्य अदालतों में होते हुए मुक़द्दमे देखते हैं ? वे कैसे मुक़द्दमे हैं ? अदालत का निर्माण क्यों हुआ है ? चोर और बदमाश को सज़ा देने के लिए मजिस्ट्रेट चोर से पूछता है कि तुमने चोरी की ? वह कहेगा, जी हाँ। क्यों ? क्योंकि मैं भूखा था, मेरे बच्चे मर रहे थे और मेरी स्त्री रो रही थी। तभी उसे सुना दिया जाता है कि तुम्हें इसी जुर्म में दो वर्ष का कारावास। तुमने क़त्ल किया, इसलिए फाँसी। उस राजा ने, जो सरमायेदारी का संरक्षक बना है, उसकी रक्षा के लिए नित नये-नये क़ानून बनाये हैं और बनाता जा रहा है।

अब आप समाज में आइए। ये मनुष्य जो सरमायेदार हैं, इन्होंने पुरातन से ही अपने बीच में धर्म और विवेक की दुहाई देकर एक आड़ बनाई है, जिसका नाम है पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म ! इस धार्मिक

तर्क द्वारा आदि काल से ही नित्य कितने प्राणियों की जीवित आत्मा को नष्ट किया जाता रहा है, इसकी ज़रा कीजिये तो कल्पना। जो धनिक लाखों और करोड़ों की सम्पत्ति बटोरकर उसका स्वामी बना है, वह किस प्रकार ?—स्पष्ट है, लोगों को धोखे में डालकर, लोगों के सामने धूर्तता और लम्पटता का जाल बिछाकर। किन्तु यदि एक भूखा और दरिद्र उसके घर में से एक रोटी चुरा ले, उस धनिक से यह कह दे कि तुम ज़्यादा सूद लेते हो, अथवा उस धनिक के पेट में छुरी भोंक दे, तो उसने पाप किया है ! उसने धर्म और समाज की दृष्टि में अन्याय किया है ! इस धार्मिक तर्क ने दुनिया के अधिकांश मनुष्यों को धोखे में और भय के चंगुल में डाल रक्खा है। जो पाप और पुण्य केवल निर्धन के लिए है, हम कहते हैं, वह धनिक पर क्यों नहीं लागू है ? समाज कहता ऐसा ही है, पर होता ऐसा नहीं।

भारतीय अर्थ-शास्त्र की दृष्टि से हमारा यह मत और भी सुलझ जाता है। यदि इस पैसे के बीच में धर्म की आड़ न ली गई होती, तो निःसन्देह, जो आज निर्धनता है, जो आज दरिद्रता है, जो आज अपवशता है, वह मनुष्य के भाग्य में कभी न दिखाई दी होती। एक राजा राजमहल में रहे, एक धनिक ऊँची अट्टालिकाओं में आराम करे और उन्हीं के महल चुननेवाला, उन्हीं की जेबें भरनेवाला मज़दूर और किसान रोटियों को तरसे। उसे दुनिया में रहने के लिए भी स्थान नहीं। उसका कोई अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करता। हम पूछते हैं, क्या यही मनुष्यता है ? क्या इसी का नाम धर्म है ? क्या यही हमारे विवेकशील समाज का रूप है ? लानत है इस मनुष्य को ! धिक्कार है इसके धर्म पर।

यह मसजिदों, गिरजाघरों और मन्दिरों में पूजा करनेवाली दुनिया जो नित्य ही खुदा के नाम पर अपने दीन और ईमान की इबादत करती है, क्या उसका कहीं खुदा है भी, जो सुनता हो नित्य ही सूरज की खुली धूप के नीचे लाखों व्यक्तियों की, हज़ारों स्त्रियों की तड़पती हुई आहें, जो मनुष्य के ही द्वारा सताई जाकर अपने सिर को धुनती और पछताती हैं।

पैसे की इज़्ज़त का प्रश्न आते ही, एक विवेकपूर्ण व्यक्ति को यह सोचना पड़ता है कि वह निर्णय करे कि वह आदमी बनना चाहता है या राक्षस। आज के आदमी की यह विडम्बना कि पैसा ही उसकी उन्नति का साधक है, कैसा भ्रमपूर्ण और गलत विचार है, जिसे समाज ने हमारे सामने रख दिया है। पैसे ने आदमी को दीन और मोहताज बना दिया है। पैसे ने इस विश्व के सुन्दर आँगन में रौरव नरक के खुले पथ निर्मित किये हैं। आप एक क्षण के लिए इस पैसे को हटा तो दीजिये, देखें फिर आप क्या हो जाते हैं। यह वेश्या, यह भिखमंगा और यह पैसे के लिए जीवन को रौंदता हुआ मानव, आपकी आँखों से दूर हो जायगा। पैसे ने हमें व्यभिचारी, कुटिल और नीच बनाया है। पैसे ने हमारे जीवन को इतना पतित कर दिया है, कि हम रात-दिन इसी का नाम लेते हैं। जो पैसा हमारी ज़रूरतों को पूरा करने के लिए साधक स्वरूप बनाया गया था, उसने आज हमारा रास्ता बन्द कर दिया है। हमें पग-पग पर उसकी गुलामी की दारुण यन्त्रणाएँ सहनी पड़ती हैं। पैसा आज एक ऐसी समस्या बन गया है, जिसे मानव ज़िन्दगी भर भी नहीं सुलझा पाता है। पैसा एक ऐसी शराब है, जिसे आदमी पीकर भी नहीं अघाता।

कहनेवाले कहते हैं, अगर समाज की व्यवस्था बदल दी जाय तो पैसा अपना रूप बदल देगा। किन्तु इसका प्रमाण क्या है ? क्या रूस ? पर हम कहते हैं, रूस भी अपने उस निरन्तर प्रयत्न में सफल नहीं हो पाया है। आप भारत की वर्तमान अवस्था को छोड़कर भी, यदि पुरानी गति-विधि को देखेंगे तो पैसे की भीषणता तब भी देख पड़ेगी। कहावत है, दुनिया में तीन बातों पर झगड़ा चलता है, ज़र, जोरू और ज़मीन। इन तीनों बातों में हम दुनिया का चित्र देखते हैं। महाभारत का युद्ध हुआ पैसे के लिए। भारत गुलाम हुआ पैसे के कारण। आज भी जो युद्ध का दावानल भभक उठा था, वह भी पैसे के ही कारण। यह पैसे की प्रभुता हमारे लिए सदा संहारक रही है। वह मानव जो आदर्श का स्रष्टा बना था, जो वेद और उपनिषदों का पाठक बना था, हाय, उसका जीवन कैसा अनर्थकारी बन गया है। इसने अपना सभी कुछ मिट्टी में मिला दिया है। पैसे के लोभ ने इसे दानव बना दिया है। कहा जाता है कि जीवन का काम ही युद्ध करना है, जीवन का अर्थ ही यह है। मानों मनुष्यता की माप के लिए युद्ध ही सबसे श्रेष्ठ मापदंड है।

हम अनुभव करते हैं, भारत में जो आज दीनावस्था है, वह शासन-व्यवस्था की कृपा है। हमारे

युवक और युवतियाँ जो आज भूखे और नंगे भटक रहे हैं, उसका कारण देश का शोषण है। पर हमारा विचार है, यदि यह शोषण और लूट-मार बन्द भी कर दी जाय तो जो व्यवस्था है, पैसे का जो विभाजन है, उसमें बहुत अन्तर नहीं आ जायगा। आप ब्रिटिश सरकार का ख़र्चा छीनकर अपने मद में मिला लेंगे। लेकिन यह पूँजीपति की मनोवृत्ति का अन्त किस प्रकार होगा? आप मालदारों को दबाकर आर्थिक विकास को अधिक उपजाऊ नहीं बना पावेंगे। वे आपके रहे-सहे स्वार्थ को दबा देंगे। राज्य इतना सब भार अपने ऊपर नहीं लेना चाहता। सच बात तो यह है कि जो व्यवस्था अब तक चली आई है, उसका मौखिक विरोध तो किया जा सकता है, लेकिन कार्यरूप में नहीं किया जा सकता। मार्क्स ने जिस रीति पर आर्थिक विकास की स्थिति निर्धारित की थी, वह दूर से मधुर कल्पना थी, पर पास से सभी ने उसे कटु समझा। आज का मनुष्य ऐसे रास्ते पर आ गया है कि वह प्राण दे सकता है, पैसा नहीं।

इस पैसे ने जहाँ हमें ईश्वर और उसके अस्तित्व को समझने में कभी सहायता नहीं दी, वहाँ यह पैसा हमें अपने भाई का भाई भी नहीं बना सका है। इसने सदा ही हमें भ्रमपूर्ण स्थिति में रक्खा है। इसने कभी हमें अपने जीवन में सन्तोष और शान्ति से नहीं बैठने दिया। इसने हमारे उस आदि सिद्धान्त को कि पुरुष सिपाही है, कभी उसकी असलियत तक नहीं पहुँचने दिया है। आगे भी यह पैसा हमारा किसी प्रकार उपकार कर पावेगा, इसका हमें तो भरोसा नहीं है।

कहानी

सिंदूर की लाली

श्रीमती चन्द्रप्रभा द्विवेदी

(१)

पद्मसिंह ने आँखें खोलकर देखा सुन्दर आवरण में सजी रमा खड़ी है। वह मुस्कराने का प्रयत्न करते हुए उठ बैठे और निकट ही उसे बैठने का संकेत करते हुए बोले—

"बड़ी जल्दी आ गईं।"

"जल्दी न आती तो क्या करती? कपड़े बदल लूँ तब बैठूँ!"

"मत बदलो।"

पद्मसिंह की आँखों में आग्रह के साथ ही वेदना छलक पड़ी—"इन कपड़ों में तुम बड़ी अच्छी लग रही हो। कुछ देर पहने रहो, मैं देखता रहूँ, कौन जाने फिर...."

"क्या कहते हो? ऐसी भावुकता........"

"भावुकता? नहीं रमा, सच कहता हूँ, मुझे ऐसा लगता है कि सिनेटोरियम में जाने के साथ ही जैसे मेरी जीविका-भूमि, जिसे मैंने अपनी स्वस्थता में अथक श्रम से रत्नगर्भा बना दिया था चली गई, वैसे ही कोई अदृश्य शक्ति तुमको भी मुझसे छीने लिये जा रही है।"

"ऐसा क्यों कहते हो? भूमि को तुम्हारे भाई ने यदि बेईमानी से छीन लिया है तो हाकिम भी क्या उन्हीं का पक्ष लेगा?"

"भाई, उनके तीन-तीन वकील, मुहल्ले के सारे प्रतिष्ठित और वृद्ध गवाहों के बीच अकेला मैं और मेरे दो गवाह क्या करेंगे? वकील की पूरी-पूरी फ़ीस भी तो इधर नहीं पहुँचती जान पड़ती। ऐसे समय में मैं क्या आशा करूँ। रुपए की मा पहाड़ चढ़ती है।"

"तुम्हारे वकील क्या कहते हैं?"

"वे तो इसे बड़ा ज़ोरदार कहते हैं, तभी तो तुम्हारे शरीर का छल्ला-छल्ला बेचकर उनकी फ़ीस भरता जा रहा हूँ? नहीं तो क्या ग़रज़ थी, घर की पूँजी गँवाने की। यही रुपया और समय लगाकर कोई रोज़गार न करता, जिसमें यह दाने-दाने की लाचारी दूर होती।"

"ज़ोरदार तो है ही।"

"कल ही पेशी है।"

रमा का मुख उतर गया—"कल ही पेशी है, शायद एकाध और पड़े; फ़ैसला न जाने क्या होगा, किन्तु कमल की मा अभी से मूसलों ढोल बजाने लगी हैं।"

"क्यों, क्या हुआ?"

"हुआ क्या, मुझे फिर न दुःख दीजिये।"

"दुःख दे रहा हूँ! सचमुच, मेरे यहाँ तुमको सिवा दुःख के और मिला ही क्या है।"

"तुम्हारे घर तो मुझे सभी सुख मिला है, तुम्हारी ओर से कभी कोई दुःख न था, पर बाहर जाने पर अवश्य होता है।"

"कब रोज़-रोज़ तुम बाहर जाती हो?"

"रोज़ नहीं, तो भी कभी न कभी तो जाना ही पड़ता है।"

"हाँ, तो बाहर कहाँ गई थीं, वह भी मेरी बहन के घर ही तो गई थीं, भांजे की वर्षगाँठ पर।"

"न जाती तो ठीक था।"

"क्यों? तभी तो पूछता हूँ, कारण मालूम हो जाने पर मैं ही न जाने दूँगा।"

"क्या आप जानते नहीं कि वैभव और मिथ्या आडम्बर की इस प्रदर्शिनी में मुझ जैसे जीवों का क्या स्थान है? फिर जहाँ पर प्रबल प्रतिपक्षी भी प्रस्तुत हो। आज का नाता तो वैभव का है।"

"फिर भी मुख्य बात क्या हुई?"

"कमल की मा भी आई थीं। और सब तो नृत्य-गान में उलझी थीं, पर वह अपनी खँजड़ी अपने ही राग में मिला रही थीं। तुम्हारी बीमारी, उपचार, मेरी परवरिश के विषय में लम्बा-चौड़ा पृष्ठ भरकर अपने विष बुझे कटाक्षों में अपनी सेवा और रुपये ख़र्च होने का ब्योरा देकर कहने लगीं—'मेरे चार हज़ार रुपये ख़र्च हुए वह अलग, इनके श्वशुर मेरे श्वशुर की सारी ज़मीन हड़प किये थे, वह तो परदेश में केवल कमाना जानते थे, और सारी कमाई उड़ाना इनके श्वशुर। न हिस्सा दिया न बाँट, भाई के प्यार से वह भी कुछ नहीं बोले, पर अब मैं नहीं चुप रह सकती। आख़िर मेरे भी तो घर-गृहस्थी है, बाल-बच्चे हैं? इनको क्या, नाँड़े-निगोड़े हैं, आज मरें कल दूसरा दिन,

जहाँ चाहें खा-पीकर छुट्टी। मैं एक जौ भर ज़मीन नहीं दूँगी, पहले मेरे चार हज़ार रुपये वापस करें, तब तो मैं आधा बँटवारा दूँगी नहीं तो नहीं!' इस पर उनकी पड़ोसिन ने कहा—'वह बेचारी तो स्वयं ही विपत्ति में है। दो वर्ष तक पति की बीमारी में तबाह हुई, अब मुकदमे में चूर हैं, न रोज़ी है न रोज़गार। देखो, शरीर पर सिवा एक कील के कुछ भी नहीं है, चार हज़ार कहाँ से देंगी।' वह कड़क उठीं—'तो मुक़दमे के रुपये कहाँ से आ गये? अभी क्या पानी की बूँद-बूँद को तरस कर मरेंगे'।

"इतने में आपके वकील साहब की पत्नी अपनी लड़की को लेकर आ पहुँचीं। वह बड़े तपाक से उनसे मिलीं, उनकी लड़की को चटपट दो रुपये देकर बोलीं—'तुम तो मेरी बेटी की ननँद हो, तुम्हारे मौसेरे भाई से इसका विवाह हुआ है। वकील साहब तो कहते थे कि भाई तुम तो हमारे रिश्तेदार हो। हम तुम्हारे हैं कि उनके। मुझे तो बड़ा दुःख हुआ कि मैं तुम्हारे शत्रु का वकील बन बैठा। कोई बात नहीं है, मैं सब ठीक कर दूँगा। वह तो बड़ा ही कृतघ्न और नीच है, मेरे लिए तो पहले रिश्तेदार, फिर भला आदमी, तब मुवक्किल'।"

"तब उन्होंने क्या कहा?"

"मुस्कुराती थीं, फिर बोलीं—'हाँ, मेरी बहन के लड़के से ही तो तुम्हारी बेटी का विवाह हुआ है।' इतना कह उसके हाथ पर पाँच रुपये मुँह-दिखाई के तौर पर रख दिये। कमल की मा ने तत्काल ही उन पाँच रुपयों में दो अपने रुपये मिलाकर लड़की से उनके पैर पर रखवाकर उत्तर दिया—

'जब आपके घर जायगी तब आप चाहे चाँदी के सिंहासन पर ही बैठा दीजियेगा, है तो आपकी बेटी; मैं कुछ न कहूँगी, पर अभी तो मेरे ही यहाँ है।'

"ख़ैर, भाभी की ज़बान से तो वह भी परिचित होंगी। हमारे वकील साहब बड़े सज्जन आदमी हैं, वह मुद्दई को ऐसे ही दबाते हैं।"

"किन्तु कमल की मा के कहने से तो यही लगता था कि वह उन्हें पक्का आश्वासन दे चुके हैं कि फ़ीस तो हमारी लेंगे और ख़र्च उनका।"

"नहीं जी, यह कल्पना है। भला इन चार रुपयों में वह ऐसे हो जायँगे? यहाँ सात सौ रुपया दे चुका हूँ तो क्या उसका कुछ असर नहीं होगा। मुक़दमा हारने पर उन्हीं की तो बदनामी होगी?"

"सब बदनामी होगी। यदि कमल के पिता ने भी कुछ पूज दिया हो तो?"

पद्मसिंह गम्भीर हो गये। फिर कुछ देर बाद बोले—"यही इच्छा होती है कि गंगा में डूब जाऊँ, किन्तु तुम्हारे कारण वह भी नहीं कर पाता कि तुम्हारी क्या दशा होगी।"

ठीक ऐसे ही वाक्य रमा कौमार्य में अपने वृद्ध पिता के मुख से सुना करती थी, जब वर-निर्वाचन में वह खीझ जाते थे। रमा के चारों ओर यही शब्द मकड़ी के जाले सा फैल गया, जिसमें वह अपने को पंखहीन, तड़पती पा रही थी। सोचने लगी—

क्या मेरा जीवन ही ऐसा है, जिसके कारण मैं अपने आधार की स्वतन्त्रता में, सुख में बाधा बनकर गिरिगर्त्त में आ पड़ती हूँ? आख़िर मुझे बिदा करने के कुछ दिन बाद वह भी चल बसे। अब केवल यही मेरे इतने भीषण भवसागर में निर्बल पर निरुपम अवलम्ब हैं। क्या मैं इनका भी बोझ बन बैठी हूँ?" उसने धीरे से कहा—

"कल ही तो पेशी है........"

"उसकी याद मत दिलाओ।"

"क्या याद न दिलाने से उसकी समस्या हल हो जायगी?"

पद्मसिंह उसकी ओर देखने लगे।

"उठो, रुपयों का प्रबन्ध करो। सज्जन वकील साहब की जेब भरने को।"

"मेरी तो इच्छा अब नहीं होती।"

"तो मैं ही जाऊँ?"

"तुम कहाँ जाओगी?"

"कठिनाई दूर करने।"

"ऐसा मत कहो, रमा! लो मैं स्वयं जा रहा हूँ।"

"ऐसे ही? लीजिये, एक चीज़ लेते जाइये, पन्द्रह क्या बीस मिल जायँगे, इसे केवल दो बार मैंने पहना है।"

"क्या है आख़िर?"

"लाती हूँ।" कहकर वह बक्स में से अपनी कामदानी सारी निकाल लाई।

पद्मसिंह की आँखें अंगारे सी चमक उठीं—"क्या करूँगा इसे?"

"बजाज़ के हाथों बेच देना।"

"कैसी सरलता से विष उगल रही हो रमा! शरीर की खाल तक बेचूँ?"

"यह शरीर की खाल ही नहीं कलेजे का टुकड़ा भी है। यह मेरी सुहाग की सारी है, जिसका मूल्य न शरीर की खाल से चुक सकता है और न प्राण से। सुहाग की क़ीमत दुनिया की बड़ी से बड़ी निधि से भी नहीं आँकी जा सकती। कोई भी नारी इस की रक्षा के लिए अपने प्राणों की भी आहुति सहर्ष दे देने को प्रस्तुत रहती है; क्योंकि इसी में उसके जीवन की लाली है। पर इसका भी मूल्य आप से अधिक नहीं है और मैं भगवती गौरी को फिर इसे अर्पित कर माँग रही हूँ अपने सिंदूर को। मेरे मस्तक के सिंदूर तो आप ही हैं। भाल पर की यह लाल बिंदी विधाता की प्रत्यक्ष लिपि है। क्या उसी लिपि को मैं अपनी खाल, अपनी साँस और प्राण रहते मलिन होने दूँगी। नहीं, आप इसे ले जाइए। यह केवल दो बार पहनी गई है, यदि तिहाई लागत पर भी जायगी तो बीस अवश्य मिल जायँगे। इसे ले जाइए, मेरी प्रार्थना स्वीकार कीजिए।"

"नहीं रमा, यह न जायगी, कौड़ियों के मोल तुम्हारे गहने बिके, जिन्हें मैंने नहीं बनवाया, जो मेरे पिता के दिये न थे, तुम्हारे पिता के दिये हुए तुम्हारे श्रृंगार के लिए थे........"

"श्रृंगार और सुहाग, शरीर और खाल आपसे बढ़कर नहीं है। रोज़ी से रोज़ा है, ले जाइए इसे।"

(२)

प्रातःकाल अपने गवाहों को लेकर पद्मसिंह कचहरी गये और सिंदूर को मीठे तेल में घोलकर रमा हनुमान्‌जी के मन्दिर में। सारा दिन उच्छ्वास की धूप और आँसू के अक्षत चढ़ाती रही। फिर संध्या को लौटने पर पद्मसिंह को खाट पर पड़ा पाया। वह उसे देखते ही बोले—

"रमा! तुम भी स्वतन्त्र होकर घूमने चली गई थीं। यह अच्छा ही था। कौन इस दरिद्र की इज़्ज़त थी, जिसे घर पर लिये बैठी रहतीं!"

रमा कुछ नहीं बोली। उस खिन्नता का कारण समझकर अन्दर जाकर भूखी-प्यासी पड़ रही।

सर्वत्र अन्धकार था, तो भी कौशलसिंह का श्वेत बँगला जगमगा रहा था। मानों ब्रह्मवेला की उज्ज्वलता उस प्रकाश को धोने में असमर्थ थी, जो कालिमा के राज्य में खिला था। झूलनेवाली कुर्सी पर बैठे वह अपनी मेज पर झुके थे। उन्हीं के मस्तक की बराबरी पर टेबिल बल्ब आलोकपुंज उँड़ेल रहा था। उनकी लेखनी अपना मौन नर्तन कर रही थी। जिसकी गंभीर गर्जना से न्यायालय में मुद्दई और मुद्दालह एकसाथ सहम उठते हैं, बड़े-बड़े वकील थर्रा जाते हैं।

सहसा चलती हुई लेखनी रुक गई। उनके प्रशस्त ललाट पर पसीने की बूँदें चमक उठीं। उन्होंने ऊपर की ओर देखा—फैन कालचक्र की तरह घूम रहा था।

"उफ़!" वह कुर्सी से उठकर खड़े हो गये। मस्तिष्क की हलचल में किसी एक शब्द का सुनना भी असम्भव था। घड़ी की ओर देखा—पौने पाँच बजे थे। अब सवेरा हो ही रहा है, वह दबे पैर गेट की ओर गये। शस्त्र ताने द्वारपाल खड़े थे और सींखचों के उस पार झुकी हुई एक काली छाया। न्यायाधीश का मन आशंका से भर उठा—शायद प्रेत होने के पूर्व ही पद्मसिंह की छाया बँगले की परिक्रमा करने लगी है।

"अरे! कैसी आशंका में डूब रहा हूँ।"

आज तक कौशलसिंह के समक्ष ऐसी दुर्बलता ने कभी आने का साहस न किया था। पर आज क्यों बार-बार वह उन्हें परास्त कर रही है? इसीलिए कि पुलीस और सरकारी वकील द्वारा तैयार केस के अनुसार मुक़द्दमे का फ़ैसला देते उनकी अन्तरात्मा काँप रही थी। जूरियों का फ़ैसला और भी अन्याय-पूर्ण जँचता था। तीन बार वह जैसे फाटक की जाँच करने आये और उन्हें बराबर वह काली छाया, उसी प्रकार उसी स्थान पर अटल दिखाई दी। इस बार वह उसका पता लगा ही डालना चाहते थे।

प्रहरी उनके सतेज जूतों की आहट से और भी सतर्क हो गये। वे झुककर उनका अभिवादन करके मार्ग से बगल हो गये। उन्होंने काली छाया की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा।

"यह श्रीमान् की शरण में आना चाहती है, अपने हठ और अनुरोध से।"

उन्होंने उसकी ओर ध्यान से देखा—वह दंड खड़ी प्रणाम कर रही थी। उन्होंने प्रहरियों से उसका अभि-प्राय जानने के लिए संकेत किया और लौट पड़े।

थोड़ी देर बाद एक प्रहरी ने आकर सूचना दी—वह अभियुक्त पद्मसिंह की पत्नी है, जो श्रीमान् से कुछ प्रार्थना करना चाहती है।

"प्रार्थना ?"

वह प्रार्थना से भली भाँति परिचित थे तो भी उपस्थित करने की आज्ञा दे ही दी। रात्रि की कालिमा टेब्रिल बल्ब के प्रकाश के साथ धुली जा रही थी। टिमटिमाते तारों का अन्त हो गया, इतने बड़े अन्तरिक्ष में लुटी हुई अनाथिनी रजनी के बहते आँसू कहीं कहीं सूखकर छाले जैसे झलक रहे थे। उसमें अब रोने की शक्ति भी कहाँ रह गई थी। अनन्त वैभवपूर्ण उषा की विजय पर दिशाएँ केसर घोल रही थीं। अभागी रजनी का अभागा मुख देखने का अब अवकाश भी किसको था। तभी वह म्लान कुमुदिनी रमा आ खड़ी हुई।

अब तक कौशलसिंह टहल रहे थे, जैसे उसके सम्मुख खड़े होने में वह अपने को असमर्थ पा रहे थे। रमा के मुख से एक भी शब्द न निकल रहा था। उन्होंने घड़ी की ओर देखकर कहा—

"दस मिनट का समय है........"

"नहीं प्रभु! इतना समय नहीं नष्ट करना होगा। आज अंतिम फ़ैसले का दिन है, मैं उनकी रक्षा का कोई भी प्रबन्ध नहीं कर सकी हूँ। शायद आपको भी यह अविदित नहीं है कि जिनको सारी दुनिया अपराधी कह रही है वह वास्तव में कैसे हैं। किन्तु अभी आपने कुछ नहीं कहा है, इसी का मुझे अवलम्ब है। न्यायाधीश के मुख में सरस्वती का वास है। मेरी विनय, मेरे हृदय की एक यही प्रार्थना है कि आप न्याय करें। मैं जानती हूँ कि आप अन्याय नहीं करते, किन्तु अन्यायपूर्ण पैरवी करनेवाले के समक्ष कभी कभी........प्रभु! एक लुटी हुई अनाथिनी और भी पिस जायगी। परमेश्वर आपका मंगल करेंगे, यदि आपने सच्चा न्याय किया। यही मेरी फ़ीस होगी; क्योंकि आज से तीन वर्ष पूर्व इसी वकील की फ़ीस में अपनी सुहाग की सारी तक बेचकर दे चुकी हूँ। अब यही मेरी माँग का सिन्दूर शेष है, जिसको उसकी लड़की को अनाथ दशा में बचाने के अपराध में फँसना पड़ा है।"

वह चुप हो गई। न्यायाधीश इसकी ओर देख रहे थे, जैसे वह कुछ और भी सुनने को उत्सुक हों। युवती ने फिर अदब के साथ कहा।

"और तो सारी बातें आपको स्वयं ही ज्ञात हैं—प्रभु मैं शृंगार नहीं, केवल सिंदूर चाहती हूँ, वह भी न्याय से।"

रमा प्रणाम कर फिर उसी पथ से लौट गई। कौशलसिंह मेज के उन काग़ज़ों को देखने लगे, जो फ़ैसला लिखने की प्रतीक्षा कर रहे थे। उन्होंने फिर उसी दिशा की ओर देखा जिधर से रमा गई थी। इस समय उषा अपनी सरल चितवन से प्राची पटल खोलकर झाँक रही थी। उन्हें यह व्यंग्य अच्छा न लगा, इसी से उन्होंने अपना मुख पश्चिम की ओर फेर लिया। फ़ैसला तो लिखना ही होगा, चाहे कोई व्यंग्य करे या विनय। वह बैठ गये। जी में आया स्पष्ट लिख दूँ कि प्रमाण पूरा नहीं मिल रहा है। मुद्दालह की अन्यायपूर्ण पैरवी मुद्दई को फँसाने में व्यर्थ साबित हुई है। किन्तु मोहिनी माया ने अपना मंत्र फूकना आरम्भ किया, मन उसके आनन्द में विभोर हो उठा—पूरे दस हज़ार की थैली कम नहीं है। ओह! चार पैसे के लिए लोग क्या नहीं कर डालते। इन्हीं दस रुपये के प्रलोभन में वकीलों को कितने केस झूठे-सच्चे गढ़ने पड़ते हैं, फिर इन दस हज़ार को दो बूँद आँसू में बहा देना कहाँ की बुद्धिमानी होगी? कौन देखेगा मेरे इस त्याग को! फिर यह दुनिया भी तो मृत्यु की क्रीड़ास्थली है। एक दिन सभी मर जायँगे। और किसी के मरने से किसी को कुछ मिल नहीं जाता है, जब कि मरनेवाले धनिक का कोई वारिस न बिलखता हो। पद्मसिंह भी एक दिन अवश्य मर जायगा, फाँसी से न मरे तो भी मृत्यु उसका कहीं पीछा न छोड़ेगी। आज वह उसके शिर पर मँडरा रही है, फिर क्यों मैं अपना इतना बड़ा घाटा सहकर उसके पंजों को शिथिल करूँ? यही क्यों, पद्मसिंह के साथ न्याय करने में मेरा यश मेरी उन्नति भी तो छिन जायगी। फिर केवल दस हज़ार रुपयों तक ही बात होती तो कदाचित् छोड़ भी देता, पर एक धनकुबेर द्वारा सम्मानित होना क्या कम सौभाग्य की बात है? सम्पत्ति से कितना बड़ा सम्मान होता है। सच पूछो तो उन्नति का अवसर जीवन में एक ही आध बार आता है। फिर जब इससे लाभ उठाकर अचला लक्ष्मी पर अधिकार कर लूँगा, तब यश-मान, सुख-सौभाग्य सभी गुड़ में चींटे की भाँति आ चिपकेंगे। नहीं तो बड़े-बड़े त्यागियों को कौन जानता है। अनाथालयों के नाम पर चन्दा इकट्ठा कर विलासिता में फूँकनेवालों को सभी जानते हैं, किन्तु अन्न-धन दान देकर चलानेवाले गृहस्थों को कोई नहीं। सालों क़लम घिसता रहूँगा, इसका चौथाई भी न जमा कर पाऊँगा। इस

लक्ष्मी के लिए तो भगवान् भी, जो सर्वशक्तिसम्पन्न हैं, आकुल हैं, तब कम से कम मुझ जैसे गृही तो वैराग्य नहीं ले सकते। फिर चन्दा के लिए एक रत्नहार भी तो आवश्यक है। वह किस पूँजी से तैयार होगा। क्या बैंक को ही ख़ाली करना होगा ? जब हाथ में रुपये न होते, तो वह भी सही। जाने दो।"

उन्होंने लिखना आरम्भ किया—"अभियुक्त पद्मसिंह का अपराध साबित हो चुका है, वकील की व्यक्तिगत दुश्मनी का बदला उसने उनकी एकमात्र पुत्री शारदा के ख़ून से चुकाया जो रत्नाभरण से सुसज्जित गंगा के तट पर संध्या को घूमने गई थी, जो रायबहादुर भीखूराम की विधवा पुत्रवधू थी। अभियुक्त के लिए अदालत फ़ैसला देती है 'प्राणदंड'।"

'अदालत !' अब बुद्धि की बारी थी—"अदालत फ़ैसला देती है या स्वार्थ ? चन्दा के गले का हार.... पर उस युवती का, जो सारी रात बँगले के द्वार पर आह और आँसू बिछाती रही, क्या होगा ? क्या उसके जीवन की कालिमा चन्दा के सुख में वृद्धि करेगी ! आख़िर वह भी तो ऐसी उच्चवंश की कुलवधू है ?"

"ऊँह, इसकी क्या चिन्ता।" माया मुस्कुरा उठी—"बुद्धि की यह दुर्बलता क्या मेरे राज्य में भी प्रवेश करेगी ? नहीं, दस हज़ार !"

कौशलसिंह काँप उठे—दस हज़ार। उनकी आँखों के सामने वह रंगीन काग़ज़ का टुकड़ा उड़ने लगा, जिसमें एक की संख्या के निकट चार शून्य एक साथ उभरे थे, जिस पर जार्ज किंग का सुन्दर चित्र खिंचा था। वह स्वप्न देखने लगे—"सम्मान, उच्च पद, सुन्दर विशाल बँगले का नव-निर्माण। दस हज़ार रुपये ! चन्दा की क्लब में चमकनेवाली ज्योति, जो जगमगाते रत्नों के हार से सौगुनी हो उठेगी, वही मंजु मुस्कान। वह प्रसन्नता से झूम उठे, आनन्द से सामने देखा—वही पथ है जिससे वह मलिन वसना आई थी। व्यथित सफ़ेद मुख, कपोलों पर टेढ़ी-मेढ़ी अश्रुधारा कहीं सूखी, कहीं गीली स्पष्ट दिखाई दी। ओह ! सवेरे का समय, हत्या का अभियोग, विचारपूर्ण फ़ैसला, मृत्यु का कठोर दंड, सभी एक से एक भीषण ! नहीं, मुझे न्याय करना होगा, मैं न्यायाधीश हूँ, मेरे मुख में सरस्वती का निवास है, और ? अपनी तृष्णा का ? वह बुद्धि के इस व्यंग्य पर हँस पड़े।

(२)

दोपहरी ढल चली थी। बड़े ज़ोर-शोर से इस समय बहस-मुबाहसे हो रहे थे। पद्मसिंह की ओर से दो-चार दर्शक अवश्य खड़े थे। सामने कटहरे में अभियुक्त मूक अपनी अजामृत्यु की प्रतीक्षा सुनने को खड़ा था। कुछ दूर आँखों में आँसू भरे करुणा की साकार मूर्ति रमी खड़ी थी, आशा और निराशा के अगाध सिंधु में डूबी।

सहसा भैरवी-सा भयानक वेष धारण किये एक प्रौढ़ा ने प्रवेश किया। अदालत चौंक उठी—"तुम कौन हो ?"

"मैं, जिसकी बेटी के ख़ून का मुक़दमा चल रहा है, जिसका आज स्वार्थपूर्ण फ़ैसला होगा, उसकी मैं मा हूँ।"

सरकारी वकील ने कहा—"आपको तकलीफ़ उठाने की क्या ज़रूरत थी ? पापी अभियुक्त अब छूट नहीं सकता। आपकी बेटी के ख़ून का बदला अदालत उसी के ख़ून से चुकावेगी।"

"पहले मेरा बयान ले लिया जाय और मेरी बेटी का भेजा हुआ यह अन्तिम पत्र देख लिया जाय, तब अदालत अपना न्याय दे। मेरे दुश्मन पद्मसिंह इस प्रकार साबित हुए हैं कि मेरी मरी बेटी की, हँसिया से पेट कटी हुई लाश उनके घर में बरामद हुई है, जो मेरे पति के पुराने मुअक्किल थे और अपना मुक़दमा हार जाने पर बदला चुकाने का चैलेंज दे चुके थे। उसी की सत्यता प्रमाणित करने के लिए उस विधवा के शरीर पर रत्नाभरण की सृष्टि की गई। मृत्यु के समय उसका रोना-चिल्लाना भी सुना गया है, यह सब झूठी बात है। मेरे समधीजी जो इतना रुपया फूँककर उसके अभियोग को दृढ़ करा रहे हैं, वह केवल अपनी रायबहादुरी की मानरक्षा के लिए, मेरी बेटी के ख़ून के बदले के लिए नहीं। उसका बदला चुकावेगी मेरी आत्मा और वह ईश्वर जो सबों के सत्कर्मों का रक्षक और पापियों का भक्षक है। हाय मेरी इतनी कोमल बालिका का इतना कठोर अंत !

"मेरी बेटी, जिसके दहेज के लिए उन मुअक्किलों के ख़ून के रुपये एक बड़े परिमाण में इकट्ठे किये गये थे, जिनमें एक पद्मसिंह भी थे, क्या उनसे मेरी बेटी सुखी हो पाई थी। मैं क्या जानती थी कि इसका इतना भयानक विस्फोट होगा ? दो वर्ष भी मेरी बेटी सधवा नहीं रह सकी। समाज में हिन्दू विधवा की जो दशा होती है, वह श्रीमान् को अज्ञात नहीं है। रायबहादुर के दूसरे पुत्र ने उसके दुःख के समय आश्वासन दिया, "फिर शासनभरे स्वर से उसके सर्वस्व का अपहरण कर लिया। फिर उसे गर्भपात के लिए बाध्य करने

लगें। जब उसने उनके आश्वासन को याद कराकर एक अज्ञात जीव की रक्षा करनी चाही, तब शराब के रीते प्याले की भाँति ठुकरा दी गई। वह मेरे घर आई, वही दृढ़ भावना लेकर, किन्तु ज्यों-ज्यों वह प्रलयकाल निकट आता गया त्यों-त्यों पिता की भौंहें टेढ़ी होती गईं और अन्त में प्रसव-व्यथा के आकुल समय में वह रात के अँधेरे में तड़पती हुई गंगा के तट पर चली गई। मेरा मा की ममता नहीं मान रही थी; क्योंकि मैं तो उस अतल नरक को भी देख चुकी थी, जो स्वर्गीय सुख की अल्प झाँकी के बाद नारी को झेलने को रह जाता है। उसके श्वशुर या पिता क्या समझते। मैं उसके पीछे-पीछे चल दी; पर उसके पिता की क्रूर हँसी, जो उसे बाहर जाते देखकर सुनाई दी थी, मेरी ममता के लिए कारा बन गई। उन्होंने मेरी चोटी खींचकर बलात् मुझे एक कोठरी में बन्द कर दिया। तीसरे दिन पोस्टमार्टम के बाद उसकी लाश मिली और अभियुक्त के रूप में पद्मसिंह। यह उसका वह पत्र है, जिसे उसने मृत्यु से पूर्व लिखकर भेजा था, जो मुझे बैरंग डाक द्वारा मिला है।"

लिफ़ाफ़ा खोलकर पढ़ा गया—

"मेरी दयामयी मा,

आज आपकी कलंकिनी पुत्री आपके प्रतिपक्षी पद्मसिंह के यहाँ है, जो अपने दैन्य पर विजयी होकर अब पहले से भी सम्पन्न जीवन बिता रहे हैं; क्योंकि युद्ध ने जहाँ दानव का संहार आरम्भ किया है वहाँ भूखे मानव का उद्धार भी। मा, केवल नारी ही एक ऐसी अबला थी, जो पक्षी और विपक्षी क्षेत्रों में बराबर शोषिता ही रह गई। असह्य पीड़ा और गंगा के कछार की हड़कम्पी ठिठुरन में एक सुन्दरी-सी बालिका की मैं मा बनी थी। वहाँ मैं सर्वथा एकाकिनी थी, कोई पेड़-पल्लव भी मेरे निकट न था कि इस विकट पीड़ा और शीत से मेरी बेटी की रक्षा हो पाती। नीचे ओस से भीगा रेत का मैदान, ऊपर चन्द्रमा की किरणों का वितान। मेरी वह बालिका मीठे रुदन के बाद ही फिर उसी लोक में चली गई। जिसके लिए इतनी अवहेलना और तिरस्कार मैंने सहा, वह भी मुझे छोड़ गई। इस अभागी ने जिसे ही अपनाया, वही छोड़ चला। कितना बड़ा रास्ता पारकर जब गंगा मा के निकट पहुँची, उनकी गोद में चिर-समाधि लेने, तब वहाँ भी न पहुँच पाई। अब सवेरा हो चला था। पद्मसिंह टहलने आये थे और मुझे कूदने से पहले ही पकड़ लिया। नहीं जानती मा कि मैं क्यों रौरव में इस प्रकार रगड़ी जा रही हूँ। वह अनजाने ही मेरी दशा पर करुणा के साथ इक्के में बैठाकर ले गये। रमा ने मुझे पहचान लिया। मेरी कहानी सुनने से पूर्व ही गर्म दूध और उपचारों से मुझे प्यार के साथ स्वस्थ किया। मेरी कोख में वही पीड़ा अब भी लहरें खाकर उठ रही है, पर न अब वह बालिका ही है और न उनके पिता ही। किसका अवलम्ब अवशेष है, इस संसार में, जिसके लिए मेरी रक्षा हो रही है। मेरी बग़ल में रमा सो रही है। बरामदे में पद्मसिंह। मैं चुपके से यह पत्र लिफ़ाफ़े में बन्द कर बाहर फेंके दे रही हूँ। यदि किसी दयावान् की दृष्टि पड़ेगी तो वह अवश्य इसे पोस्टबक्स में डाल देगा। नहीं तो तुम्हारा अंतिम प्रणाम तो मैं कल ही समाप्त कर चुकी हूँ।

अभागी शारदा"

पश्चात्ताप

श्रीरामनरेश पाण्डेय 'पद्मेश'

होती न जीवन की पुनरावृति, वित्त का विस्तृत घेरा न होता;
मृत्यु के लोक में होता निवास न, वासना-श्वास का फेरा न होता।
साम्य का होता अनंत प्रकाश, विनाश का व्यर्थ अँधेरा न होता;
विश्व के सारे प्रपंचों से आज भरा हुआ जीवन मेरा न होता।
ज्ञान-महामणि होती, विकार का सूचिका-भेद्य अँधेरा न होता;
उज्ज्वल चंद्र-सा होता भविष्य, कुकालिमा भूत का डेरा न होता।
भित्ति बनी धन-रूप की होती न, बंधनवाला बसेरा न होता;
स्वार्थ का सूत्र घनेरा न होता तो जीवन का फिर फेरा न होता।

सूखा रूख

श्रीजगनसिंह सेंगर 'शिक्षकबन्धु'-सम्पादक

स्थाणु हूँ मैं, आज अविचल अचल दृढ़ बनकर खड़ा हूँ,
वात के आघात भीषण सहन-हित तनकर खड़ा हूँ।
अस्त मेरा हो चुका सौभाग्य-सूर्य सुपूर्व वाला—
अब कुहू के घोरतम तम में सहम सनकर खड़ा हूँ।

एक दिन दो दल उगे थे भूमितल पर मृदुल मेरे;
हो गये थे अंग बढ़कर सहज सुन्दर पृथुल मेरे।

स्वर्णदी का अमृत पीतीं व्योम में बढ़कर शिखाएँ,
और शोभित हो रही थीं सरल शाखों से दिशाएँ।
पाँव धुलते थे कभी पाताल-गंगा की सुधा में—
ले रहा त्रैलोक्य था सब भाँति तब मेरी बलाएँ।

नील दल, फल रस भरे, लख फूल सुरभित सुभग सुन्दर,
कौन था जन जो न तन-मन वारता बहु वार मुझ पर।

शान्त, शुचि, शीतल, निरातप, सघन, श्यामल छाँह मेरी।
दिग्दिगंत अनन्त तक फैली, उठी लख बाँह मेरी—
दूर से ही दौड़ आते थे श्रमित, स्वेदित बटोही,
भूलकर कोई न आता, आज सूनी राह मेरी!

स्वार्थमय जग तो सदा साथी समृद्धों का रहा है;
आज त्यक्त विरक्त हूँ, सो ठीक ही है, बात क्या है?

विहग जो दिन-रात कोलाहल किया करते यहाँ थे,
छोड़ मुझ पर पोत, चुगते अभय हो, चाहे जहाँ थे।
बाज़, वज्र, बहेलियों को पाल मेरा ढाल-सा था—
डाल नीड़ों पर झुके—मृदु फल सुलभ ऐसे कहाँ थे?

एक दिन झखझोर झंझा के झकोरों ने ज़रा में,
कमर मेरी तोड़—स्वर्गाश्रम उजाड़ दिया धरा में!

मञ्जरी मृदु देख कैसी कूकती थीं कोकिलाएँ,
मौर-मण्डित डालियों पर थे मधुप लेते बलाएँ।
सान्द्र शीतल छाँह में थे बैठ पशु करते जुगाली—
चैन की वंशी बजाते, ग्वाल कर क्रीड़ा-कलाएँ।

आज ऊपर बैठता आ, विरल गृध्र—जटायु जब तब;
देखना है, राम मेरे मुक्ति देने आयँगे कब?

ग्रीष्म वह—नीचे पथिक आ स्वर्ग-सुख भूला न जिसमें,
कौन था पावस कि मैं फल-भार से भूला न जिसमें?

शीत आतप से विपुल खग-मृग-मनुज मैंने बचाये—
कौन-सा था वह बसन्त कि मैं फला-फूला न जिसमें।
बाल तरुओ, तुम हँसो-रोओ न मेरी इस दशा पर;
पा विजय अकड़ा खड़ा हूँ काल की अकरुण कशा पर।

आज भी चारों दिशा से पवन मेरे पास आता,
पर न वह मुझसे त्रिविधता, मैं न उससे प्राण पाता।
घूम ? घिर घन वृष्टि करतीं आज भी पावस-घटाएँ
किन्तु प्रिय पर्जन्य से भी मैं न जीवन-दान पाता।
मित्र वैद्य सहस्रकर से उष्णता पहुँचा रहा है,
सोम का पीयूष रस भी अहितकर अब तो महा है।

छोड़ बैठा आज मेरा और तेरा का झमेला,
जान पड़ता है नहीं, मैं हूँ अखिल अथवा अकेला।
हर्ष-शोक-विहीन बन, क्या देखते भी देखता हूँ—
अमित खग-मृग-पथिक आते और जाते सर्व वेला।
परमहंस-व्रत लिया है—आज जीवन्मुक्त हूँ मैं;
विजन, एकाकी, समाधी, साधु, सद्गुण-युक्त हूँ मैं!

मम समाधि न तोड़ सकते कोटि काम-वसन्त मिलकर।
नाम पा मम कामरिपु भी क्या करेंगे साम्य पल भर?
गेह वर्षों से बना वल्मीक वपु पर लिख रही है—
आदिकवि के काव्य कितने, ख लो प्रतिलोम तल पर!
मृग मिटा कण्डू चुके दृग फोड़ कितनी बार मेरे;
च्यवन सम प्राश-प्रिया कब-कब हुए आधार मेरे?

विरल पत्र वसन्त-वर्षा में निकल आता कभी है।
शान्त मन, एकान्त-प्रिय अवधूत आ जाता कभी है।
लकड़हारे तोड़ मेरी आज सूखी हड्डियाँ भी—
बेच बच्चे पालते—पर-हित मुझे भाता अभी है।
खोदकर मेरी जड़ें भी जायँगे ले जब दुखी जन;
मुक्ति पाऊँगा तभी, निज समझ सार्थक सफल जीवन!

दानकर सर्वस्व जग को बन चुका हूँ निपट सूना,
हूँ श्मशान-स्थित महा त्यागी अवधपति का नमूना।
पत्थरों की मार पर भी थे दिये फल मधुर मैंने—
सर्वदा अपकारियों का था किया उपकार दूना।
स्वार्थमय जग याद यदि रखता कहीं मम पूर्व-कृत हित;
स्वर्ण में मढ़वा, बना मठ, विष्णु-शिव-सम पूजता नित।

तुलसीदास

श्रीदेवेन्द्रनाथ-पाण्डेय शास्त्री, साहित्याचार्य

माता मेदिनी की प्यास शान्त करने को जहाँ, जान घनश्याम घटा घिरी है विपुल सी,
विश्व का विषम तम-तोम हरने के लिए, वरद करों की ज्योति रहती अतुल सी।
जिसके कि नाम के स्मरण मात्र से ही सदा, भव-भय-बन्धन की ग्रन्थि जाती खुल सी,
हिन्दुओं के श्वासों में वसन्त बनी घूमती है, तेरी अभिराम राम नाम कथा तुलसी।

रचना

सूक्तियाँ जड़ी हैं दीपकों के खण्ड सी ही यहाँ, दीपकों की द्युति सी दमक द्विगुणित है,
उपमा में सुषमा रमा की रहती है रमी, मणि-श्रेणियों की यों प्रभा में परिणित है।
प्रति पद झंकृति अलंकृति की व्यक्त हुई, वीणावादिनी की मंजु वीणा-सी रणित है.
तुलसी की कविता प्रसाद गुण गुम्फिता यों, मानवीय श्वास-लहरों में वरणित है।

स्वयम्

राम में रमा था राम नाम में रमा था वह, इससे ही राम का दुलारा हुआ तुलसी,
जो थे अवलम्बहीन भ्रान्त पथ दीनजन, उन सबका ही था सहारा हुआ तुलसी।
जल से कमल-दल तुल्य माया मेदिनी में, पुरुष पुरातन सा न्यारा हुआ तुलसी,
भव-भय-बन्धन की भँवर से तारने को मध्य महाधार में किनारा हुआ तुलसी।

कार्य

पद्न्यास से ही मन हरके विरागियों के, उन पे अनोखा एक जादू कर-सा दिया,
याचक प्रसाद के थे भावि कविवृन्द जो कि, उनपे प्रसाद का पीयूष बरसा दिया।
मानस-पटी पे खींच राम का पवित्र चित्र, पुण्यभूमि माता का हृदय हरषा दिया,
जो कि दूरदर्शिता की सीमा से था अति दूर आपने समीप पल में ही सरसा दिया।

माहात्म्य

शेष ने अशेष फणमणि किरणों से लिखा—
जगती का श्रेष्ठ काव्यकार हुआ तुलसी,
सुरगुरु आज भी ये मन में विचारते हैं,
किस रस का न अवतार हुआ तुलसी।
सरित-तरंगों में समीर लिख जाता मौन,
अनुभूतियों का अनुकार हुआ तुलसी।
मोह के समुद्र में निमग्न हो रही थी तभी,
भक्ति-तरणी का कर्णधार हुआ तुलसी।

भाइयो!...

चर्म-स्वास्थ्य के लिये रैक्सॉना प्रयोग कीजिये

जल्दी में यह धारण मत न बनाइये कि रैक्सॉना केवल स्त्रियों के रंग को निखारने वाला एक नया साबुन है। चर्म स्वास्थ का महत्त्व जाननेवालों सब के लिए रैक्सॉना एक ज़रूरी टॉयलेट साबुन है। यह ऐसा ताज़गी और स्फूर्तिदायक साबुन है जिसे इस्तेमाल कर के पुरुषों को आनंन्द आता है। इस आकर्षक, हरे, और शीघ्र फेन देनेवाले साबुनका ये सबसे बड़ा लाभ है कि यह स्वास्थदायक और चर्म-किटाणुविनाशक 'कैडिल' से बनाया गया है! रैक्सॉना का शीघ्र बननेवाला ज्यादा फेन स्फूर्ति और स्वास्थदायक 'कैडिल' को शरीर के प्रत्येक रुओं में--जहाँसे सब चर्मरोग और दाग प्राय: शुरू होते हैं– पहुँचा देता है ऐसे आपकी सारी त्वचा किटाणुरहित, मुलायम, और साफ़ हो जाती है। अब आप जान सकते हैं कि नियमित रूप से रैक्सॉना का प्रयोग करने से आप निश्चित ही अपने चर्म को स्वास्थ और सुरक्षित रख सकते हैं। इसलिए इस हरे, और शीघ्र फेन देने वाले साबुन को इस्तेमाल करना शुरूकर दीजिए–और करते रहिए।

नोट—यह याद रखिए कि शारीरिक सौन्दर्य का एक मात्र आधार है चर्म-स्वास्थ। और एक पुरुष कोभी चर्म को आकर्षक बनाने का उतना ही अधिकार है जितना कि एक स्त्री को।

रैक्सॉना बच्चे के लिए आदर्श साबुन है। रैक्सॉना का कैडील शरीर के दर्दों को मिटता है और शरीर को सुखेपनसे बचाता है।

★ रैक्सोना में मिलाया गया कैडिल किटाणु-विनाशक, स्वास्थ-दायक और ताजगी देनेवाले तेलों का मिश्रण है जोकि चर्म को स्वास्थरखने में बहुत गुणकारी सिद्ध हुआ है। साइंसदानों ने भी इसके गुणों के कारण इसकी सराहना की है।

रैक्सॉना मरहम प्रयोग कीजिये।

फुन्सी, फोड़े, ऐकजीमा, मुँहासे, आँख की कलौंस, झुर्रियाँ, ददौरे आदि सभी चर्म रोगों मे रैक्सॉना मरहम लगाये। यद्यपि अभी सप्लाई कम है फिरभी बहुत से दुकानदारों के यहाँ यह तिकोने टिन मिल सकते हैं।

OINTMENT

RP. 28-23-40 HI

REXONA PROPRIETARY LIMITED

श्रीशिवसिंह 'सरोज'

कुमारी विद्या श्रीवास्तव, विदुषी, साहित्य-रत्न

श्रीशिवसिंह 'सरोज' हिन्दी-भाषा के प्रसिद्ध होनहार कवि हैं। खेद है कि अभी तक आपकी रचनाएँ पुस्तकाकार प्रकाशित नहीं हुईं, परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि आपकी सुन्दर रचनाएँ साहित्य की स्थायी कृति होकर हिन्दी-भाषा-भाषियों का कण्ठहार बनेंगी। आपकी अनेक कविताएँ विभिन्न उत्तमोत्तम पत्रिकाओं में समयानुसार प्रकाशित होती रही हैं तथा रेडियो एवं अनेक कवि-सम्मेलनों में गौरव प्राप्त कर चुकी हैं।

कवि 'सरोज'जी ने अल्पायु तथा अल्प समय में ही काव्य-क्षेत्र में जितना अधिकार जमाया है, उसे देखकर अत्यन्त आश्चर्य होता है। आप 'हिन्दी-लेखक-संघ-लखनऊ' के प्रधानमन्त्री हैं। "गोधूली" आपकी अप्रकाशित रचनाओं का संग्रह है। इसके अतिरिक्त और भी आपकी अनेकानेक सुन्दर रचनाएँ हैं; जो अपने ढंग की अनूठी, साहित्यिक, राष्ट्र एवं जीवन में क्रान्ति मचानेवाली हैं। इन मधुर राष्ट्रीय गीतों में बन्दीयुग का सूक्ष्म मनोवैज्ञानिक विश्लेषण है। मानव-हृदय के तार-तार को गुञ्जरित करनेवाली गुलामी की ज़ंजीरों की करुण झंकार है। वर्तमान युग की दुःखद विषमता, असमर्थता और परवशता का आकुल-व्याकुल गान है। स्वदेश के प्रति मर मिटने की आकांक्षा है, वीरत्व का आदेश है, और उत्सर्ग और बलिदान का आवाहन है। कवि भी मानव है और मानव की जीर्णता-जर्जरता पर, उनके संघर्षण और पतन पर, उसकी अन्तर्भेदिनी दृष्टि जा पड़ती है और वह प्रकृति के 'नीहार-बिन्दु' को; 'नवल कलिया के अवगुण्ठन' को, एवं 'ऊषा के आलिंगन' को छोड़कर मानव के ही निकट आ जाता है। कवि आशावादी और यथार्थवादी है और साम्यवाद की छिपी चाह उसे पूँजीपतियों, धनपतियों पर धिक्कार देने को विवश करके भूखे एवं कंगाल मज़दूरों के प्रति सहानुभूति, समवेदना करने का आग्रह करती है। साथ-ही-साथ कवि निराशा से भी अछूता नहीं रहा, जो इस युग की मुख्य विशेषता है।

इस प्रसंग-वश आधुनिक युग की कतिपय विशेषताओं पर दृष्टिपात करना असंगत न होगा। हिन्दी-काव्य-साहित्य में आरम्भ से ही विविध धाराओं का संघर्ष प्रतिफलित होता रहा है। सत्य के अन्वेषण में प्राणों का उत्पीड़न, विकलता, परतन्त्रता, जड़ता का अनुशीलन और भूमि के वक्ष पर प्रसारित होनेवाली दुःख और वेदना की काली-काली छाया और इनके बीच सामाजिक और राजनीतिक चक्कर में छटपटाती हुई कवि की आत्मा; जिसने खीझ, जटिलता, दुःख एवं निराशा-जन्य कल्पनाओं में अपने को आक्रान्त पाया है। फलतः कवि-जीवन हाहाकारमय हो गया। परिस्थिति के अनुसार दौर्बल्य एवं विषमता में दुःखवाद और निराशावाद का समीकरण स्वाभाविक ही हो गया, तदनुसार भिन्न-भिन्न वादों का सृष्टिकरण होता गया। जब प्राण चारों ओर के दुःखबाहुल्य से क्षुब्ध और कातर हो उठे तो उनके काव्य में वही रुदन साकार हो गया। कवि कल्पनाभूति के सहारे प्रकृति के प्रांगण में खेलकर कुछ दृश्य, कुछ अदृश्य; कुछ ज्ञात, कुछ अज्ञात; एवं रहस्यमय व्यंजनाएँ अपनी नवीन दार्शनिकता में गूँथने लगे। परम्परागत काव्याधार रस और अलंकार के कठिन नियमों से कविगण प्रायः मुक्त होते गये। किन्तु समय के परिवर्तन के साथ, जनता ज्यों-ज्यों सामाजिक एवं राजनीतिक क्षेत्र में अग्रसर हो रही है, त्यों-त्यों निराशा के स्थान पर आशा का संचार होता जा रहा है। सुप्रसिद्ध युग-प्रवर्तक कवि सुमित्रानन्दन पंत भी निराशा की जगह अपने हृदय में आशा का अंकुर उगा पाते हैं और वे मानव के मुक्त होने की कल्पना करते हैं—

> "युग-युग के बन्दी गृह से,
> मानवता निकली बाहर।"
>
> (ग्राम्या)

कवि 'सरोज' ने इन युगजन्य विशेषताओं के साथ-ही-साथ अपनी काव्यधारा में राष्ट्रीयता की अपूर्व रहस्यमय व्यंजना प्रवाहित की है। कवि की कल्पना की भूमि यह दृश्य जगत् है, जहाँ वह प्रकृति के पंखों पर बैठकर अदृश्य जगत् की सैर करता है। प्रकृति के ही सान्निध्य से प्रतीक बनाता है तथा अमूर्त्त भावना को मूर्त्त आकार देने में समर्थ होता है।

किन्तु सरोजजी का हृदय अधिक समय तक प्रकृति के उपमानों में भटक नहीं सका, युग-युग के जर्जर, क्रान्त मानव के निकट आकर ही ठहर गया। पर यह कूल उसे निराशा में भटकने के उपरान्त ही मिलता है, जहाँ उसे आशा-रेखा मिलती है। जब कवि निराशा में भटकता है तो मानो शोक का सागर उसकी आँखों में उमड़ा आता है। कवि कहता है—

मेरे भरे हुए हैं दृग, जल।
ढुलक रहा आँखों से पानी।

जिसका सम्पूर्ण जीवन अन्धकारमय हो जाता है, कहीं कूल किनारा नहीं—

मेरा पथ सूना अन्धकार,
जिसका न कहीं पर वार-पार ;

कवि का अपनी आँखों के नीरव मोतियों पर भी अधिकार नहीं, चाहने पर भी किसी को दे नहीं सकता। वे भी गुलामी की छाप से मुक्त नहीं, अतः व्यर्थ बहते रहते हैं—

मेरे आँसू की धाराएँ
स्वयं विवशता में बह जाएँ ;
तब कैसे पलकों में भरकर,
पास तुम्हारे हम ले आएँ !

प्रकृति के अंचल में जब उसका औत्सुक्य जाग्रत हो जाता है तो ज्योतिष्पथ में बिखरे अगणित मोती उसे अपनी ओर आकर्षित करने में समर्थ होते हैं। कुछ समय के लिए कवि उस अनुपम सौन्दर्य में अपने को भूल जाता है; उसके नेत्र पूर्ण शान्त एवं वेदनामुक्त होकर अलौकिक माधुर्य का रसपान करते हैं—

ये नील गगन के तारे ;
सूनी आँखों को लगते ये, सूने में प्यारे प्यारे !
ये मंजुल दीप पुजारी के
अथवा संध्या सुकुमारी के—
हैं चमक रहे कुञ्चित-केशों में सलमे और सितारे ?

फिर कुछ क्षण के लिए कवि अपने हृदय और प्रकृति से सामंजस्य स्थापित कर लेता है, अन्तर की अनुभूति एवं तन्मयता उसकी सहायक होती है; उसका हृदय नभ की भाँति मुक्त और निर्मल हो जाता है तो वह कल्पना, सरसता एवं माधुर्य की गंगा बहाने लगता है—

तुम मलयानिल की अँगड़ाई,
मैं झंझा की झंकार प्रिये !
ऊषा सी चुपके से रानी,
तुम पहन स्वर्ण-परिधान, प्रिये !
कर जातीं शान्त हृदय-ज्वाला,
हो जातीं अन्तर्द्धान प्रिये !
नीरव हैं मन के तार-तार !
प्रेयसि नूपुर-शिंजित-पग की
रुनझुन सुन पड़ती बार-बार !

किन्तु कवि अधिक समय तक प्रकृति के सौन्दर्य में उलझा नहीं रह सका। उसका भावुक और कोमल हृदय मानव-पीड़ा से क्षुब्ध होकर, शनैः-शनैः वास्तविकता और यथार्थता का अनुभव करने लगता है। प्रकृति भी तब उसे विकार-युक्त जान पड़ती है और उसकी मोहकता फीकी पड़ जाती है—

आर्थिक असमर्थता में—
सुमन सौरभ से सने हैं,
पर विवश हैं खिल न पाते।
क्या प्रिये ! प्रकृति में भी प्रवेश कर
गया विषमता का विकार ?

कवि-हृदय में अनुभूति और कल्पना का अनुकूल सामंजस्य है और यही काव्य के आधार तत्त्व हैं। यदि कल्पना का अनावश्यक प्राधान्य हुआ तो मिथ्या का प्रदर्शन; और यदि अनुभूति का आधिक्य हुआ तो विद्रूपता आ जाती है। अतः दोनों ही का उचित सम्मिश्रण काव्यगत सौन्दर्य की वृद्धि करता है। यहाँ दोनों का अनुकूल सामंजस्य काव्य के सौन्दर्य का साधक है। मानव के अभाव और विपन्नता की पीड़ा उसके हृदय में यथार्थ और वास्तविक का उद्बोधन करा देती है और कवि उसका सजीव चित्र खींच देता है—

युग के बन्दी बोल न पाते,
ये परवश पिंजड़े के पक्षी—
अपने मन का मोल न पाते।
आहों में अनुराग खो गया,
चाहों में वैराग्य खो गया।

उसका जीवन युग-युग से छाये हुए विषाद और परतन्त्रता से आक्रान्त हो जाता है; हृदय की व्याकुलता उसे खरोच-खरोचकर कविता में 'हाहाकार' बन जाती है। मानव की परतन्त्रता और पतन असह्य हो उठता है तो कवि को मानवोचित मानवता में भी सन्देह होने लगता है—

जब मानव मानव ही न रहा।
अनुराग आर्थिक असफलता—
से टकराकर विष ही बनता।
हथकड़ियों से जकड़े कर से
आलिंगन का पट गिर पड़ता।
गौरव गिरि पर भयभीत चढ़े—
कैसे? बन्दी किस ओर बढ़े?
जब चारों ओर विषमता है।
युग के बन्दी कंकालों के कण्ठों में—
कलरव ही न रहा।

कुछ समय तक कवि इस दुःख-वारिधि में डूबता-उतराता है; यहाँ तक कि आवेश में आकर अत्युक्ति भी कर बैठता है। दासता के बन्धन में सम्पूर्ण विश्व निर्जीव, नीरस और अचेत हो जाता है, तो कवि को 'प्रेम' भी विभिन्न रूपों में दृष्टिगोचर होता है। यहाँ कवि को प्रेम सर्वथा 'पाप' लगता है—

शुष्क पिंजरों का आलिंगन,
पैशाचिक हैं, न कि मानवपन।
भूखे कण्ठों में क्या मृदु रव
असफल जड़ अधरों का चुम्बन,
दासों की दुनिया में प्रेयसि,
पाप प्रेम का करना ही है।

और भी, कवि निराश होकर उसे केवल 'मन की हार' मान लेता है, इससे अधिक महत्त्व देने को तैयार नहीं—

पगले! प्रीति हार है मन की।
हाथ बाँधकर बह जाना है यमुना में यौवन की।
आलिंगन केवल अँगड़ाई है, सोये जीवन की।
फिर जब आँखें खुल जाती हैं,
सुख की घड़ियाँ तुल जाती हैं,
तब गुरुता पहाड़ से मन की लघुता होती कण की।

भाव-व्यंजनाएँ उत्कृष्ट और मार्मिक हैं। कवि वर्तमान अवस्था का सजीव चित्र खींचने में समर्थ है। जब वह देखता है कि अपने परिश्रम पर भी अपना अधिकार नहीं, बल और शक्ति-साधना पर भी अपना अधिकार नहीं, तो उससे बिना कहे भी नहीं रहा जाता—

श्रम भी अपना जहाँ न प्रेयसि!
वहाँ साधना में क्या बल है?
जब मुक्त नहीं है मानवपन,
झूठा ममता का विज्ञापन।
पिघलो! इतना ही ताप प्रचुर,
प्रेयसि! पौरुष पर
युग-बन्धन!

कवि की अन्तर्भेदिनी दृष्टि तीक्ष्ण और सूक्ष्म है, चित्रण हृदय पर प्रभाव डालनेवाला है। अपने हृद्गत भावों का चित्र उतार लेने में कवि सफल है। विचारधारा विकास एवं विस्तार की ओर अग्रसर हो रही है। जीवन तो सदा एक-सा नहीं रहता, विषमता में डूबता-उतराता उसे दूर करने की भी चेष्टा करता है। उसके भीतर सुख और आशा की रेखा छिपी रहती है, जो समय-समय पर उसे उत्साहित करने लगती है। कवि भी उस दिन की कल्पना करता है, जब मानव मुक्त होगा; निराशा में आशा की किरण फूट पड़ती है—

पर पतझड़ ही होगा न अन्त,
तदनन्तर आवेगा वसन्त;
फिर रुक जावेंगे दुःख शूल,
फिर खिल जावेंगे सुखद फूल!

और—

कर युगों की यामिनी बस एक सिहरन में सबेरा।

तब कवि आशापूर्ण होकर वैज्ञानिक की भाँति कारण खोजता है। वह कौन कारण है जो मानव को कराल श्रृंखलाओं से मुक्त कर दे। किस प्रकार वह विषाद-रहित, स्वतन्त्र युग की स्थापना करे? उसकी प्रतिभा एवं अभिरुचि नवीन क्षेत्र की ओर अग्रसर होती है और वह अपनी भूली हुई शक्ति का आवाहन करता है—

शक्ति कहाँ सोई है?
पाकर पावक का आवाहन,
चमक उठेंगे चमत्कार से
गत, हत-प्रभ, जाग्रत हो जनमन।

और भी—

अब अपना साहस, अपना बल
ही होगा भय-पथ का सम्बल!
मुक्त बनेगा स्वर्णिम अंचल।

कवि निराशा को छोड़कर कर्म-क्षेत्र में आने का आदेश देता है और विजय की कामना करता है—

कर्म-क्षेत्र में कूद चलो तुम—
विजय-केतु फहरावेंगे!

मानव को आशा से उत्साहित करता हुआ सुख का सन्देश देता है, जहाँ अन्धकार को फाड़कर

प्रकाश का उदय होता है। कवि पुलकित होकर कह उठता है—

देख युग गिरि पाहनों से,
आज, प्रगति प्रयास फूटा।
प्रबल प्रात प्रहरर से, नत,
निविड़ तम का गात टूटा।
अब न दिन हैं आँसुओं के,
औ' न सोने का समय है।

कवि के हृदय में उत्सर्ग और बलिदान की कामना जाग्रत् हो जाती है और उसे देश के प्रति मर-मिटना भी एक तमाशा लगता है; वीररस में डूबकर कवि कहता है—

जग में तुम मरने आते हो,
नई शक्ति भरने आते हो।
अखिल राष्ट्र की तुम हो आशा,
मर मिटना है एक तमाशा।
प्रलय मचाते अगन, गगन में,
तुम विद्युत् बनकर घहराओ।

साधारण भाषा में भी कवि मार्मिक और कुशल चित्रण करता है। पूँजीपति कृषकों के श्रमसीकर छीन-झपटकर अपना महल उठाते हैं, किन्तु वे मज़दूर-किसान भूखों मरते हैं। कवि खिन्न होकर कहता है—

जिनकी पथराई आँखों में,
युग - जागृति के अरमान भरे।
जिनकी दुर्गति में प्रगति पली,
अवनति में विभव-विहान भरे।
हो गई सुबह नन्हीं सुखिया,
कुटिया के टट्टर खोल चली।
अम्मा बासी दे भूख लगी,
रोकर यह मुँह से बोल चली।

कवि स्वयम् अपनी कला के लिए कहता है—

है कला कालिमा से उलझी—
देखो किस ओर चितेरा है?

किन्तु कवि की सुन्दर भाव-व्यंजनाओं में उसकी कला स्वयं ही सजीव होकर नाच उठी है। कवि दार्शनिक भी है और इसके संसर्ग से उसकी कला चैतन्य ही, सौन्दर्यमय हो गई है—

पंक में पंकज खिलो तुम।
एक सिहरन-सूत्र में शत साधनाओं को सिलो तुम!

कवि दार्शनिक भावों में भरकर 'दुनिया' की एक कहानी से तुलना करता है। उसके भाव सांख्य-मत का समर्थन करने लगते हैं। सांख्यमत के अनुसार सृष्टि की उत्पत्ति प्रकृति और पुरुष से होती है, उसमें पुरुष ही अनन्त चेतन है और वही तदनन्तर भ्रम से कर्ता बनकर भोक्ता होता है। प्रकृति और पुरुष के ही संसर्ग से सूक्ष्म शरीर और शब्द, रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श के द्वारा पृथ्वी, जल, तेज, वायु, तथा आकाश की उत्पत्ति होती है, तत्पश्चात् सब उसी में लय हो जाते हैं, केवल पुरुष—अनन्त चेतन—रह जाता है और प्रकृति से उत्पन्न पदार्थ का नाश होकर केवल शुद्ध प्रकृति रह जाती है। इसे कवि ने एक कविता 'सृष्टि-प्रलय' अथवा 'प्रकृति-पुरुष' नामक में दर्शाने का प्रयत्न किया है—

यह दुनिया एक कहानी है!
यह शब्द, रूप, रस, गन्ध, स्पर्श-
मय, पृथुल-प्रकृति का नवोत्कर्ष,
होता रहता युग-कल्प लिये—
गति विधि जिसकी दिन-मास-वर्ष
यह आदि पुरुष की आकांक्षा की—
मधुर पूर्ति कल्पानी है।
इस प्रकृति-प्रिया के मधुर प्रणय
पर पुरुष पुरातन की है जय।
जिसके अदृश्य अंकस्थल में
हैं खेल रहे शिशु 'सृष्टि' 'प्रलय'।
संसृति न जिसे पहचान सकी,
संसृति जिसकी पहचानी है।

कवि की भावानुभूति गम्भीर है, उसमें चित्रण कुशल और मार्मिक हैं, जो अपने कलाकार का पता स्वतः ही देते हैं। भाषा कहीं-कहीं पर साहित्यिक है और अधिकांश साधारण है, पर रचना-सौष्ठव और पद-योजना सुन्दर है। प्रायः वीर और करुण रस का ही प्राधान्य रहा है; केवल दो-चार ही शृंगार-रस की कविताएँ मिलेंगी। सम्पूर्ण कविताएँ ध्वन्यात्मक तथा भावात्मक ही हैं। रस आदि के तथा मात्रा एवं वर्ण-व्यवस्था के कठिन नियमों से मुक्त हैं। स्वतन्त्र मुक्तक छन्दों ही में सारी रचनाएँ की गई हैं।

किसका दोष ?

श्रीमती कृष्णा मिश्र

(१)

"तुम हो" युवती ने चिहुँककर कहा।

'हाँ, हाँ मैं, क्या इतना शीघ्र भूल गईं।' युवक के चेहरे पर एक कठोर व्यंग का भाव था।

युवती ने म्लानमुख हो सिर झुका लिया।

'चुन्नी, क्या इतना बड़ा परिवार, इतना सुख और इतनी समृद्धि पाकर बचपन के साथी की भी स्मृति भूल गईं।' युवक का स्वर रुँधा जा रहा था।

"वे दिन" युवक कहता ही चला गया—"जब कि हम चन्द्रिका की शुभ्र चाँदनी में प्रेमालाप करते, फूलों के सौरभ से अठखेलियाँ करते, तितली के पीछे दौड़ते तथा........"

युवती और अधिक सहन न कर सकी—"बस करो, बस करो, मेरी सुप्त वेदना को जाग्रत् न करो" और वह धम से कुर्सी पर बैठ गई।

युवक का चेहरा क्रोध से तमतमा उठा—"वे शब्द जो कभी तुझे प्रेमोन्मत्त बना देते थे, आज तुझे विष के समान प्रतीत हो रहे हैं। मुझे न ज्ञात था कि स्त्रियाँ इतनी कुटिल और स्वार्थी होती हैं।" उसके मुख पर वेदना के चिह्न स्पष्टतः झलक रहे थे।

"कभी मैं तुझे अपने हृदय-मन्दिर की आराध्य देवी समझता था, सोचता था, नहीं-नहीं पक्का निश्चय था कि मेरी चुन्नी कभी दूसरे की नहीं हो सकती, मैं सदा उसे हृदय का हार बनाये रक्खूँगा, उसके हँसने पर हँसूँगा और उसके आँसुओं के बदले ख़ून की बूँदें टपका दूँगा, पर वह स्वप्न नष्ट हो गया, वे मधुर आशादायिनी कल्पनाएँ नष्ट हो चुकीं, अब यदि कुछ शेष है तो प्राचीन स्मृति का भग्नावशेष।"

युवती के नेत्रों से झर-झर आँसू बह रहे थे। "चुन्नी मेरी आराध्य देवी, अब और न रो। मैं विकल वेदना के प्रभाव में न जाने क्या-क्या तुम्हें कह गया। क्या तुम मुझे क्षमा कर सकोगी।" उसने वेदनायुक्त आँखों से उसकी ओर देखा।

इसी समय एकाएक रामलाल ने प्रवेश किया।

"चुन्नी" उन्होंने कठोर नेत्रों से उसकी ओर देखा, पर वह बैठी ही रही, वैसी ही शान्त, निश्चल और अनमनी-सी।

युवक के अपराधी नेत्र पृथ्वी की ओर टकटकी लगाये थे, किन्तु किसी अदृश्य शक्ति ने उसके कर श्यामा के चरणों की ओर बढ़ा दिये और वह उसकी पद-धूलि मस्तक पर चढ़ा, तीर-सा कमरे से निकल गया।

(२)

"सदा सत्य बोलना चाहिए, बड़ों का कहना मानना चाहिए।" श्यामा दया को पढ़ा रही थी।

"पर अम्मा, क्या हमेशा बड़ों का कहना मानना चाहिए, चाहे वह बुरा कहें या अच्छा।" दया ने आशंका प्रकट की।

"बेटी भला, कहीं बड़े भी बुरा कह सकते हैं।" किन्तु उसकी आत्मा उसके शब्दों का प्रतिवाद कर रही थी। "फिर अम्मा, कला की अम्मा उसे क्यों नहीं पढ़ने देती, पढ़ना तो अच्छा होता है न ? तुम्हीं तो कहा करती थीं, फिर किताब में भी लिखा है।" दया ने विद्वत्ता से कहा।

"हाँ, कभी-कभी........" श्यामा हृदय के कोने में किसी सोये हुए अतीतकाल के प्रश्न को समझने की चेष्टा कर रही थी। "भूलें तो सभी करते हैं न, बेटी।" सहसा अतीत की स्मृति जाग उठी।

(३)

बाहर शहनाई बज रही थी, चारों ओर व्यस्तता-सी मची थी, पर वह मा की गोद में चिपटी बैठी थी।

"मा, मा मुझे अपनी गोद से विलग न करो।" वह बिलबिलाकर रो दी।

मा के नेत्रों में आँसू भर आये—"बेटी, मैं उन्हें समझाने का प्रयत्न करती हूँ, पर ये पुरुष तो स्त्रियों को कुछ समझते ही नहीं, मानो हम उनकी पैरों की धूल हैं, निर्बुद्धि हैं और अज्ञान सारहीन प्राणी हैं। पर, मेरी लाड़िली मैं तेरी रक्षा करूँगी। देखूँ, वे कहाँ तक नहीं मानते।"

इसी समय रायसाहब ने प्रवेश किया। "अरे अभी तक इसने वस्त्र तक नहीं बदले और तुम बैठी क्या कर रही हो ?" क्रुद्ध नेत्रों से स्त्री की ओर देखते हुए बोले।

"मैं अपनी बच्ची को गढ़े में नहीं ढकेल सकती, मैं अपनी आँखों से अपना विनाश नहीं देख सकती।" श्यामा को अपनी मा के साहस पर आश्चर्य हो रहा था। चींटी भी दबने पर शेर हो जाती है।

"विनाश नहीं देख सकती।" रायसाहब ने व्यंग्य से कहा—"तो आँखों पर पट्टी बाँध लो, इतना ऊँचा कुल प्राप्त हो रहा है, तिस पर लड़का डिप्टी है। तब भी पसन्द नहीं है, तो क्या किसी स्वर्ग के देवता को दान करोगी इसे?"

"हाँ, हाँ स्वर्ग के देवता को ही, मेरा किशोर किसी देवता से कम नहीं है।"

"चुप रह, अधिक ज़बान खोली तो यह लड़की सामने है।" क्रोध से उन्मत्त होकर वे बोले—"ये दोनों न जाने क्यों इस छोकड़े पर मुग्ध हैं, न धन है, न कुल।"

श्यामा को घसीटते हुए वे उसे ले चले। मा ने रोकने की चेष्टा की तो पैर की ठोकर से दूर गिरी, सिर फट गया और ख़ून की धारा बह निकली।

अन्त में, उसी रात को बलपूर्वक वह दो अपरिचित हाथों को सौंप दी गई। वे ही उसके स्वामी, आराध्य और सब कुछ थे।

श्यामा ने दीर्घ श्वास ली और बलपूर्वक दया को गले लगा लिया, मानो वह अपनी झुलसी हुई आत्मा को इससे शान्ति प्रदान करना चाहती हो। मनुष्य अपने हृदय को धोखा देता है, धर्म और कर्तव्य की आड़ लेकर, पर क्या उसकी आत्मा निर्विवाद इसे मानती है?

(४)

"नमस्ते" पाँच छः औरतों ने कमरे में प्रवेश किया।

"आइए, बैठिए" श्यामा ने कुर्सियों की ओर संकेत किया।

कुछ देर तक इधर-उधर की बातें होती रहीं। अन्त में एक प्रौढ़ा ने श्यामा की ओर इशारा करते हुए कहा—

"बेटी, जब से तुम्हारी सास मरी, रामनाथ मुझे ही मा की तरह मानता है। इसी लिए उसने मुझे अनुरोध करके भेजा है। तुम जानती हो कि तुमसे उसने केवल वंश चलाने के निमित्त ही विवाह किया है, नहीं तो तीन पुत्रियाँ वह बेचारी भी छोड़ गई थी।" प्रौढ़ा का गला भर आया। "मैं जानती हूँ कि वह बेचारी मेरा कितना आदर करती थी।"

"अच्छा तो इस भूमिका का अर्थ यही है कि अब उन्हें पुत्र-प्राप्ति की आशा नहीं रही अतः उन्होंने मुझे कोई जन्तर-मन्तर कराने को कहा है।" लज्जा से श्यामा ने मुँह नीचा कर लिया।

"लज्जित होने की कोई बात नहीं है, कल चलकर देवी भैरव के मन्दिर को प्रसाद चढ़ा आना ईश्वर चाहेगा तो शीघ्र ही आनन्द के ढोलक बजेंगे।"

(५)

"अम्मा भैया को मैं लूँगी।" शीला ने मचलते हुए कहा।—"नहीं, नहीं मैं" दया ने शीला को धक्का देकर बच्चे को उठाने का प्रयत्न किया। बच्चा दो कठोर हाथों के स्पर्श से चीख़ उठा।

श्यामा ने उसे स्नेहसिक्त करों से उठाकर छाती से लगा लिया और शीला तथा दया को कहानी कहने का प्रलोभन दिया। वे दोनों सिमटकर उत्सुक नेत्रों से पास बैठ गईं।

"वे दोनों" श्यामा ने कहना प्रारम्भ किया—"एक ही पाठशाला में पढ़ते थे।"

"किन्तु उनका नाम क्या था अम्मा?" शीला ने टोका। "चुन्नी और किशोर। प्रथम बार उनकी मुलाक़ात गाँव के अमरूद के बाग़ में हुई थी। चुन्नी ने किशोर का अमरूद छीनकर खा लिया और भाग गई कि कहीं वह उनको मारे न, किन्तु उसने—" श्यामा ने अपनी स्मृति पर ज़ोर देते हुए कहा—"उसने केवल मुस्कराकर एक अमरूद उसे और दे दिया और चुन्नी निर्वाक्-सी देखती रह गई।"

"तुम बड़े अच्छे हो।" चपलता से उसने कहा था और इसके बदले में दुबारा एक मीठी मुस्कान लाकर वह उसके साथ खेलने लगा।

धीरे-धीरे वर्ष, मास और दिन व्यतीत होने लगे और साथ-ही-साथ दोनों की प्रगाढ़ मित्रता भी।

चुन्नी जो पहले फूलों को सुन्दर कहती थी, अब उनमें मादकता भी बताने लगी। चन्द्र की शीतल चाँदनी जो पहले केवल उसे अच्छी लगती थी, अब उसके स्पर्श से उसे रोमांच भी होने लगा। भौंरों की गुनगुनाहट और पक्षियों के कलरव में उसे किसी वियोगी की दुःखभरी करुण पुकार सुनाई पड़ने लगी। वह अपने इस परिवर्तन को किशोर से कहती, पर वह इसे हँसकर टाल देता।

अब वे जब कभी बातें करते तो कनखियों से एक-दूसरे को निहारा करते। फूलों का हार बनाते

तो इच्छा होते हुए भी देने में संकोच होता। आख़िर उनका यौवन काल ही था न।"

श्यामा ने दीर्घ श्वास ली और दो बूँद आँसू पलकों से झाँकने लगे। ये आँसू दुःख के नहीं, अपितु अतीत काल की सुन्दर स्मृति की याद के थे।

दोनों बालिकाएँ बड़ी उत्सुकता तथा एकाग्रचित्त से कहानी सुन रही थीं। कोई चिन्ता, कोई क्लेश का चिह्न उनके चेहरे पर न था। सचमुच कितना सुन्दर सुखद और चिन्ताहीन होता है बचपन का समय।

"लेकिन एक दिन" श्यामा का मुख भय से निष्प्रभ हो गया—"किशोर जब उसके पास आया था तो उसकी कान्ति किसी अज्ञात हाथों ने छीन ली थी। मुँह पर मानो कोई स्याह रंग पोत गया था और आँखें नहीं, नेत्र कमल रोते-रोते लाल हो गये थे।"

"मैंने चौंककर कहा, क्या हुआ किशोर?" बालिकाएँ चौंक पड़ीं—"तुमने अम्मा!"

"नहीं, नहीं, मैं भूल गई, चुन्नी ने।" श्यामा घबड़ाकर बोली।

"अच्छा तो उसने आते ही कहा, चुन्नी, मैंने आज बड़ा भयानक स्वप्न देखा है।"

"क्या?" चुन्नी भी भयभीत होकर बोली।

"तुम्हारा ब्याह हो रहा है, एक डिप्टी के साथ और मैं मर रहा हूँ।" किशोर ने निस्तेज होकर कहा।

चुन्नी का हृदय एक अज्ञात आशंका से काँप उठा; किन्तु उसने उसे सान्त्वना देने का प्रयत्न किया—"आप भी इतने बड़े हो गये, कालेज में पढ़ते हैं, तब भी स्वप्न की बातों पर विश्वास करते हैं।"

"चुन्नी, मैं करता तो नहीं हूँ, पर हृदय न जाने क्यों धक-धक कर रहा है।"

"अच्छा जाने दीजिए इन बातों को। देखिए मैंने आपके लिए अम्मा से सीखकर यह सोहन हलवा बनाया है।" चुन्नी ने मुस्कराने की चेष्टा करते हुए कहा।

"किन्तु उन्हें न जाने किस अदृश्य शंका ने बेचैन-सा कर दिया। उसके बाद उनके चेहरे पर हँसी की झलक नहीं दिखाई दी। चुन्नी उन्हें प्रसन्न करने की चेष्टा करने लगी; पर वह चन्द्रमुख तो राहु का ग्रास हो चुका था।"

"खाने के बाद ही बोले, चुन्नी जानती हो कि मेरे मुख से अन्तिम वचन क्या निकले?"

"चुन्नी ने दिखावटी क्रोध से अभिभूत होकर उसके एक हलका-सा घूँसा धमक दिया और यह कहते हुए भाग गई कि यदि आगे फिर कभी ऐसे शब्द कहे तो कभी नहीं भूलूँगी।"

"बस, उसके बाद यदि कभी मुस्कराये थे, नहीं, हँसे थे तो चुन्नी का अल्हड़पन देखकर।"

"इसके बाद उन्होंने अनेक बार स्वप्न की बातें चलाने का प्रयत्न किया, परन्तु चुन्नी ने उन्हें कभी सफलता न प्राप्त होने दी।"

"पर आज मेरा मन कैसा-कैसा कर रहा है, ईश्वर करे वे चिरायु हों। ये शब्द तो कभी मुँह पर न लाने की प्रतिज्ञा की थी। आज एकाएक कैसे कह उठी। ईश्वर उनका भला करे।" श्यामा भयभीत हो बोली।

"पर आज मैं उन अन्तिम शब्दों को जानने की क्यों इतनी इच्छुक हो रही हूँ? स्त्री को तो कभी पति के अतिरिक्त परपुरुष के शब्दों पर ध्यान न देना चाहिए।" श्यामा अपने मन में सोचने लगी और बालिकाओं को दिलासा देने का प्रयत्न किया।

"फिर अम्मा, फिर क्या हुआ?" दोनों बालिकाएँ इतनी प्रतीक्षा न सह बोल उठीं।

"फिर अन्त में चुन्नी का विवाह एक डिप्टी से हो गया और किशोर की आशंका सत्य निकली। फिर........।"

"उसके बाद एकबार उसकी उससे भेंट हुई और उसके बाद की कहानी भविष्य के अन्तर में निहित है।" श्यामा ने उठने की चेष्टा की, परन्तु दोनों बालिकाएँ कुछ न समझ फिर बोल उठीं।

"फिर?"

श्यामा ने उनके भोलेपन पर एक प्यार की चपत लगाकर कहा—

"फिर कुछ नहीं।"

(६)

"अम्मा, अम्मा तार आया है। पिताजी कहते हैं कि कोई आपके गाँव में मर गया है।" रोमा ने आकर कहा।

"कौन?" श्यामा का हृदय मानो बाहर निकलना चाहता था। कदाचित् किशोर है।

'किशोर'—वह संज्ञाहीन हुई जा रही थी। रामा

चिल्ला उठी। डिप्टी साहब दौड़कर अन्दर आये। "क्या हुआ! क्या हुआ!!" वे पुत्री की ओर देखकर बोले।

"देखो देखो मा को क्या हो रहा है?"

सारे घर में कोहराम मच गया। श्यामा ने अपने शील स्वभाव के कारण सारे घर के हृदय पर अधिकार जमा रक्खा था। सच है, प्रेम से ही मनुष्य सारे संसार को जीत सकता है।

उसके अन्तिम शब्द क्या थे? श्यामा ने आँखें खोलीं। "चुप होकर सो रहो, तुम्हें बुखार चढ़ आया है।" डिप्टी साहब ने इसे प्रलाप समझकर कहा।

"किन्तु, किन्तु मैं उसके अन्तिम शब्द जानना चाहती हूँ।" श्यामा चीख़ उठी और उठना चाहा।

सबने चेष्टा करके बलपूर्वक उसे लिटा दिया। पर उसके वे दयनीय शब्द किसी से नहीं सुने जाते थे, जब वह आग्रह और विनती के शब्दों में अपने प्रश्न का उत्तर पूछती।

डाक्टर ने आकर बतलाया कि उसे कोई भयंकर मानसिक आघात पहुँचा है। यदि चेष्टापूर्वक दवा न की गई तो मृत्यु में कोई सन्देह नहीं है। सबके हृदय एक अज्ञात शंका से काँप उठे!

(७)

"आज माघी का मेला है न?" श्यामा ने पूछा। "हाँ, हाँ, पर चुपचाप लेटी रहो।" डिप्टी साहब ने दयनीय नेत्रों से उसकी ओर देखा। अपनी पूर्व पत्नी के राज्य में भी कभी उन्होंने इससे अधिक सुख नहीं भोगा था। वे सचमुच श्यामा को हृदय से चाहते थे।

"किन्तु आज ही तो मुझे प्रातःकाल चार बजे देवी भैरव के मन्दिर जाना है, भैया हुआ है।" श्यामा ने मुस्कराकर कहा।

"पर मुझे पुत्र से अधिक तुम्हारी चिन्ता है। मैं तुम्हें कभी इस हालत में वहाँ न जाने दूँगा। फिर कभी पूजा कर आना।" उन्होंने क्रुद्ध होकर कहा।

श्यामा चुप हो रही और डिप्टी साहब भी—"मौनं सम्मतिलक्षणम्" समझकर चुप हो रहे परन्तु उसके गोरे तथा भोले मुख पर दृढ़ता का भाव देखकर सब कुछ न समझे हुए भी डिप्टी साहब काँप उठे और चुपचाप प्यार से उसकी पीठ पर हाथ फेरने तथा बालों को सहलाने लगे।

(८)

दुग्धधवल चाँदनी! नवजीवन में मस्ती भरनेवाली मधुर मदिरा का एक घूँट, पवित्रता की उपमा, सौरभ की अधिष्ठात्री, माधुर्यमयी रजनी का शुभ सन्देश। कितना सुन्दर दृश्य है।" श्यामा मन-ही-मन बुदबुदा रही थी, मानो उसका बचपन फिर से लौट आया हो। प्रेम से उसने पास लेटे हुए बच्चे का मुख-चुम्बन किया और चुपके से उठ खड़ी हुई। भैरव-मन्दिर की ओर उसके पग बढ़ते ही जाते थे।

"पुजारीजी, क्या मैं देवीजी की पूजा कर सकती हूँ?" और द्वार पर शब्द किया—"खट्खट।"

"कौन है? कौन है, जो इस समय रात्रि को मुझे तंग करने आया है।"

"मैं हूँ पुजारीजी।"

"'मैं' कौन है रे?"

"पुजारीजी, देवता के चरणों में एक गिन्नी चढ़ाने आई हूँ।" "अरे तुम हो माताजी, अन्दर आओ।" पुजारी ने लोलुप नेत्रों से अशर्फ़ी की ओर देखकर कहा। श्यामा ने मन-ही-मन न जाने किसके लिए प्रार्थना की और तब चल खड़ी हुई।

पंडितजी बाहर तक दिया लेकर आये और फिर द्वार बन्द कर सुखनिद्रा में शराब और कबाब का स्वप्न देखते हुए पड़ रहे। यह स्त्री कौन है? कहाँ जायगी? कुछ चिन्ता नहीं है। चाहे कोई मुसलमान गुण्डा इसे छेड़े या कुटनियों के फेर में पड़कर वेश्या हो जाय। अपने राम से क्या मतलब? हमारा तो काम है खाना-पीना और गुल-छर्रे उड़ाना।

हा, यदि हमारे समाज के ठेकेदारों के ऐसे विचार हैं तो जितना शीघ्र हो सके ये विनाश के गर्त में गिर जायँ तो अच्छा।

(९)

और श्यामा! वह नदी-तट पर संसार की चिन्ताओं से मुक्त किसी अज्ञात लोक में बैठी विहार कर रही थी। बाल्य-जीवन की मधुर स्मृतियाँ रह-रहकर हृदय में गुदगुदी उत्पन्न कर देती थीं। न पुत्र की, न स्वामी की और न घरबार की चिन्ता थी। ऐसी हो रही थी वह प्रफुल्ल और उन्मत्त-सी। सारा संसार निद्रा की गोद में पड़ा अठखेलियाँ कर रहा था। भयानक काला सन्नाटा लिये रात्रि बैठी थी। कभी-कभी मेढकों की टर्र-टर्र सुनाई दे जाती थी और पपीहा भी 'पिहू-पिहू' पुकार उठता था।

सहसा सन्नाटे को तोड़ती हुई आवाज़ आई "श्यामा!" पर श्यामा वैसी ही तन्मय बैठी थी।

एकाएक झंझावात का बहना आरम्भ हो गया। आकाश जो पहले मूर्तिवान् उदास सा बैठा था, मानो अभी अपनी कसर निकालना चाहता हो। बिजली कड़कने लगी और मूसलधार वर्षा होने लगी। आवाज़ें अब और भी निकट आने लगीं।

श्यामा मानो इस भयानक दुखदायी शोर से बचाने और अपने सुन्दर सुखमय स्वप्न को स्थायी रखने के लिए और भी आगे बढ़ी ही थी कि सहसा डिप्टी साहब ने आकर उसे पकड़ लिया।

"अरे, क्या तुम पागल हो गई हो ? ऐसी भयानक रात में इधर-उधर घूम रही हो।" उनका मुख एक भयानक आशंका से निष्प्रभ हो रहा था।

"मुझे छोड़ दीजिए, मैंने आपके वंश की रक्षा करदी। अब मुझे मेरे निश्चित स्थान पर जाने दीजिए।" श्यामा का मुख एक अलौकिक तेज़ से देदीप्यमान हो रहा था।

किन्तु उन्होंने उसकी बात पर ध्यान न दिया और बलपूर्वक ले चलना चाहा ; पर न मालूम कहाँ से उसमें एक अज्ञात मानुषी बल आ गया और वह छूटकर अलग जा खड़ी हुई।

एकाएक बच्चा चीख़ उठा 'मा, मा।' "मेरा लाल" कहकर उसने उसे छाती से लगा लिया। बच्चा मा के स्तनों की गर्मी पाकर चुप हो गया।

"चलो श्यामा, क्या इसे वर्षा और सर्दी में इसे भी बीमार करने का विचार है।" उन्होंने बच्चे की ओर इशारा किया। "नहीं, अब तो मैं जा रही हूँ। इसका बुरा करके क्यों जाऊँगी।" श्यामा निस्तेज होती जा रही थी। आँखों में दो बूँद आँसू टिमटिमा रहे थे।

डिप्टी साहब ने उसे दौड़कर सँभाला। पर क्या अब भी आप बता सकेंगे कि उसके अन्तिम शब्द क्या थे ? श्यामा का सिर उनके कन्धों पर लुढ़क गया। बच्चा अब भी मा का सहारा पा उसके सूखे स्तनों पर मुँह मार रहा था।

× × ×

दूसरे दिन अख़बार में छपा कि महामान्य डिप्टी साहब की पत्नी और बच्चे का वर्षा में ठण्ड लग जाने से स्वर्गवास हो गया।

और इधर डिप्टी साहब बैठे सोच रहे थे कि "उनकी मृत्यु का कारण मैं हूँ या समाज ?"

नार्वे देश की पौराणिक कहानी

श्रीराजेन्द्रप्रसाद पाण्डेय

पुराण केवल भारतीय साहित्य में ही नहीं हैं। अन्य देशों की भाषाओं में भी पौराणिक साहित्य पाया जाता है। आज हम नार्वे देश की एक पौराणिक कथा सुनावेंगे। यह कथा बहुत ही मनोहर है। नार्वे के पुराणों में बाल्डर को प्रकाश और पवित्रता का देवता कहा गया है। बाल्डर की मूर्ति प्रकाश से समुज्ज्वल है। उनकी हिमशुभ्र भौंहों और केशों से सदैव सूर्य की किरणों की-सी ज्योति विच्छुरित होती है—निकला करती है। सूर्य की जीवनदायिनी किरणें जैसे सृष्टि के सब पदार्थों को, प्राणीमात्र को संजीवित करती हैं, वैसे ही बाल्डर भी वृक्ष, लता, देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी आदि सभी को आनन्द और प्रीति से आप्यायित करते हैं। वास्तव में ऐसा सर्वजनप्रिय देवता नार्वे के सम्पूर्ण पुराणों में दूसरा नहीं देखने को मिलता।

बाल्डर ओडिन (Odin) और फ्रीगा (Frigga) के पुत्र हैं। उनके एक और जुड़वाँ भाई है, उसका नाम होडर (Hodur) है। इन दोनों भाइयों की आकृति और प्रकृति में असाधारण विषमता है। एक माता-पिता की सन्तानों में—ख़ासकर जुड़वाँ भाइयों में ऐसी विषमता कहीं नहीं पाई जाती। होडर अन्धकार के देवता हैं और वह जैसे पाप के आधार का प्रतीक हैं, वैसे ही वह आप भी अन्धे और कम बोलनेवाले हैं। इसके विपरीत बाल्डर हैं साक्षात् सौंदर्य के अवतार। उन्हें Balder the beautiful कहा गया है। ऐसे सुन्दर बाल्डर का ऐसा कुत्सित कुरूप भाई साधारण दृष्टि से ठीक नहीं मालूम होता। किन्तु ग़ौर करने पर यही ठीक मालूम होगा; प्रकाश और अन्धकार, पाप और पुण्य एक ही चीज़ के दो पहलू हैं; अंगांगी भाव से दोनों का परस्पर सम्पर्क है।

तरुण देवता बाल्डर देखते ही देखते सयाने होकर अपेक्षाकृत अल्प अवस्था में ही देवादिदेव ओडिन की मन्त्रणासभा के एक सदस्य बना लिये गये। बाल्डर इसी अवस्था में अनेक प्रकार के ज्ञान-विज्ञान के अधिकारी बन गये थे। ख़ासकर प्रकाश के देवता होने के कारण उनके आगे सब कुछ स्वयं प्रकाशित हो रहा था। किन्तु जैसे चिराग़ के तले अँधेरा होता है, इसी तरह प्रकाश के देवता को अपना ही भविष्य नहीं मालूम था।

बाल्डर के सदा हास्यमंडित मुखमंडल पर एक दिन परिवर्तन की छाप दिखाई पड़ी। उनके नेत्रों की ज्योति मलिन हो गई, मुख पर स्पष्ट रूप से चिन्ता की रेखाएँ खिच गईं। यहाँ तक कि उनकी चाल में भी गम्भीरता का भाव दिखाई पड़ा। सभी देवता, ख़ासकर ओडिन और फ्रीगा अत्यन्त उद्विग्न हो उठे। कोई इसका कारण न समझ सका। अन्त को माता-पिता के बहुत पूछने और आग्रह करने पर बाल्डर ने बतलाया कि आजकल उन्हें अच्छी तरह नींद नहीं आती। आँख लगते ही तरह-तरह के बुरे सपने दिखाई देकर उनकी नींद में विघ्न डालते हैं। आँख खुलने पर उन्हें स्वप्न की कोई बात याद नहीं रहती; किन्तु एक अनिश्चित आशंका का भाव—एक तरह का खटका हर घड़ी उनके हृदय में काँटे की तरह खटका करता है। यह सुनकर ओडिन और फ्रीगा ने भी अपने मन में यह अनुभव किया कि किसी अज्ञात अमंगल की आशंका से जैसे उनका हृदय भी धड़कने लगा है। उन्हें विश्वास हो गया कि यह निश्चय ही बाल्डर के ही किसी भावी अमंगल की पूर्व सूचना है; शायद उसके जीवन को ही कोई ख़तरा है। बस, वे इस विपत्ति को दूर करने के, कोई अनिष्ट न होने देने के उपाय करने में लग गये।

फ्रीगादेवी ने सब दिशाओं में अपने सेवक भेजे। उनको आदेश हुआ कि वे फ्रीगादेवी का नाम लेकर सबसे अनुरोध करें—चेतन-अचेतन, वृक्ष, पत्थर आदि सभी से यह स्वीकार करने के लिए कहें कि उनमें से कोई कभी बाल्डर का किसी प्रकार अनिष्ट नहीं करेगा।

बाल्डर अपने स्वभाव और सौंदर्य के कारण सभी को प्रिय थे, इसीलिए विश्व के सभी प्राणियों ने सहज में ही उनका कभी कोई अनिष्ट न करना अंगीकार कर लिया। फ्रीगादेवी के सेवकों ने आकर ख़बर दी कि विश्व के सभी प्राणियों ने, जड़ और चेतन ने बाल्डर का अनिष्ट न करने की प्रतिज्ञा कर ली है। केवल वाल्हल (Valhalla or Walhalla)

के द्वार पर जो ओक का पेड़ है, उसके ऊपर उगी हुई मिस्लटो नाम की एक क्षुद्र घास बाक़ी रह गई है। किन्तु उससे डरने की कोई बात नहीं है। यह ऐसी क्षुद्र वस्तु है, इतनी दुर्बल और सीधी-सादी है कि उससे किसी का कोई अनिष्ट होने की आशंका नहीं हो सकती। तब फ्रीगादेवी की आशंका दूर हो गई। उन्हें विश्वास हो गया कि अब उनके परम प्रिय पुत्र के अमंगल की कोई सम्भावना नहीं है।

इधर ओडिन ने सोचा कि मृत्यु के राज्य में रहनेवाली वाला (Vala) या भाग्यदेवी से पूछकर बाल्डर का भविष्य मालूम कर लेना चाहिए। वह अपने आठ पैरोंवाले घोड़े स्लाइपनीर (Sleipnir) की पीठ पर चढ़कर ब्रीफ्रोस्ट (Brifrost) पुल के ऊपर होकर निफ्लहाइम (Nifl-heim) में मृत्यु देवी के अन्धकारमय राज्य में उपस्थित हुए। वहाँ जाकर उन्होंने आश्चर्य के साथ देखा कि मृत्युराज्य के अन्धकारमय प्रदेश में एक भोज की तैयारी हो रही है। बड़े-बड़े पलँग सुवर्ण के अलंकारों और दूध के समान सफ़ेद बिछौनों से सजाये जा रहे हैं। जैसे सब लोग किसी बहुत बड़े प्रतिष्ठित और माननीय अतिथि (मेहमान) के आने की राह देख रहे हैं। ओडिन को यह सब देखने या उधर ध्यान देने का अवकाश नहीं था। वह सीधे चलते हुए वहाँ पर पहुँचे, जहाँ भाग्यदेवी वाला न जाने किस युग से बराबर विश्राम कर रही थी। ओडिन वहाँ पहुँचकर ऐसे सब मन्त्र पढ़ने लगे, जिनमें मरे हुए प्राणी को भी जगाने की शक्ति है।

एकाएक समाधिक्षेत्र का फाटक खुल गया और वालादेवी ने उठकर यह जानना चाहा कि ऐसा कौन दुःसाहस करनेवाला जीव है, जिसने उनके इतने दिनों के विश्राम में, सुख की नींद में आकर विघ्न डाला है। ओडिन ने अपना असली परिचय छिपाकर कहा कि वह वाल्टाम (Valtam) के पुत्र वेगटाम (Vegtam) हैं और उन्होंने केवल यह जानने के लिए भाग्यदेवी को जगाया है कि मृत्यु-राज्य में किस अतिथि के लिए यह सजावट और भोज की तैयारी हो रही है। वालादेवी ने तब ओडिन को बतलाया कि यह सब तैयारी बाल्डर के लिए ही है। अपने भाई अन्धकार के देवता अन्धे होडर के हाथ से मरना ही बाल्डर के भाग्य में लिखा है।

ओडिन ने पूछा, इस हत्या का बदला कौन लेगा; क्योंकि इन देवताओं के देश में हत्या का बदला लेना बहुत आवश्यक होता है। वालादेवी और कुछ बतलाना नहीं चाहती थीं; किन्तु ओडिन के बहुत आग्रह करने पर उन्हें कहना पड़ा कि पृथ्वी की देवी रिंडा (Rinda) के गर्भ से ओडिन के एक पुत्र उत्पन्न होगा, जिसका नाम वाली (Vali) होगा। यह वाली जब तक बाल्डर की हत्या का बदला नहीं लेगा, तब तक न अपना मुँह धोवेगा और न बाल सँवारेगा। वालादेवी के यह कहने पर ओडिन एकाएक पूछ बैठे कि बाल्डर की मृत्यु सुनकर कौन व्यक्ति आँसू गिराना अस्वीकार करेगा? इस एक प्रश्न की असावधानी के कारण ओडिन का व्यक्तित्व वालादेवी को मालूम हो गया; क्योंकि इस प्रश्न से ही यह समझा जा सकता था कि प्रश्न करनेवाला भविष्य का सब हाल जानता है, जिसे जानना किसी मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। वाला देवी ने इस सम्बन्ध में और कोई बात बतलाना अस्वीकार किया और उसी घड़ी समाधि में लेटकर विश्राम करने लगीं और यह कह दिया कि जब तक यह पृथ्वी रहेगी तब तक और कोई उन्हें समाधि से जगा नहीं सकेगा।

लाचार होकर ओडिन धीरे-धीरे अपने राज्य की ओर लौट चले। उनका मन चिन्ता से दबा हुआ था। कारण, नियम का विधान अलंघ्य होने के कारण उनका प्रियतम पुत्र और देवराज्य का सर्वजनप्रिय उज्ज्वल-कान्ति तरुण देवता बाल्डर शीघ्र ही सबको छोड़कर मृत्यु के राज्य में चला जायगा। किन्तु स्वर्गराज्य में उनके पहुँचते ही फ्रीगा ने आकर यह बतलाया कि उन्होंने ऐसा प्रबन्ध कर लिया है कि बाल्डर को कोई नहीं मार सकेगा। यह सुनकर ओडिन को धीरज हुआ। कारण, जब सभी यह स्वीकार कर चुके हैं कि बाल्डर का अनिष्ट नहीं करेंगे, तब उसकी मृत्यु कैसे हो सकती है।

फ्रीगादेवी के इस प्रकार प्रबन्ध करने का हाल सुनकर सब देवता आश्वस्त हुए और वे मिलकर आमोद-प्रमोद करने लगे। आसगार्ड (Asgard) में देवताओं की एक क्रीड़ाभूमि थी। उसका नाम था ईडावोल्ड (Ida-Vold) या ईडा (Ida)। देवता लोग वहीं क्रीड़ा और कसरत वग़ैरह किया करते थे। उस दिन नित्य की क्रीड़ा वग़ैरह करके वे थोड़ी देर में ही जैसे थक गये। पुराने खेलों में जब मन नहीं लगा, तब उन्होंने सोचकर एक नया खेल निकाला। जब उन्हें

यह मालूम हुआ कि किसी से बालडर का अनिष्ट नहीं हो सकता, तब उन्होंने बालडर को बीच में खड़ा किया और चारों ओर से उस पर तरह-तरह के अस्त्र-शस्त्र आदि चलाने लगे। सभी फ्रीगादेवी से प्रतिज्ञा कर चुके थे कि कोई बालडर का अनिष्ट नहीं करेगा। अतएव देवता लोग चाहे जितना निशाना साधकर उस पर अस्त्र-शस्त्र चलाते थे, वह बालडर के शरीर को छूकर धरती पर गिर पड़ता था अथवा उसके शरीर में छू भी नहीं जाता था। इस तरह हर दफ़े निशाना चूक जाने से या व्यर्थ हो जाने से देवता लोग ख़ूब उछल-कूदकर हँसकर आनन्द प्रकट करते थे, जिससे सारा ईडावोल्ड गूँज उठता था।

फ्रीगा अपने महल में बैठी हुई अपने अभ्यास के अनुसार ऊन की बुनाई कर रही थीं। देवताओं का आनन्दकोलाहल उनके कानों में भी पहुँच रहा था। महल के नीचे एक बुढ़िया जा रही थी। फ्रीगा ने उसे अपने पास बुलाकर पूछा कि देवता लोग इतना आनन्द क्यों मना रहे हैं? बुढ़िया ने कहा—सब देवता मिलकर बालडर को बीच में खड़ा करके उन पर अस्त्र-शस्त्र फेंक रहे हैं, पर आश्चर्य की बात यह है कि उससे बालडर का कुछ भी अनिष्ट नहीं होता। वह बीच में खड़े हँस रहे हैं, और देवता लोग भी इस खेल से प्रसन्न होकर आनन्द प्रकट करने के लिए शोर-ग़ुल कर रहे हैं। फ्रीगा ने कहा—इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है। बालडर का अनिष्ट किसी तरह नहीं हो सकता, क्योंकि संसार के सभी पदार्थ और जीव बालडर का कोई अनिष्ट न करने की प्रतिज्ञा कर चुके हैं।

यह बुढ़िया और कोई नहीं, छद्मवेषधारी लोकी (Loki) थे। लोकी अग्निदेवता का रूप थे। बालडर सूर्यदेव का रूप थे। अग्निरूप लोकी सूर्यरूप बालडर के आगे निस्तेज थे। बालडर सब लोगों के प्रिय थे और लोकी से सब डरते थे। कारण, सभी जानते थे कि लोकी की स्वाभाविक रुचि सबका अनिष्ट करने की ओर ही विशेष रूप से रहती है। इसी कारण लोकी बालडर से ईर्ष्या रखते थे, जलते थे। इस समय भी बालडर का अनिष्ट करने का कोई उपाय है या नहीं, यह जानने के लिए लोकी छद्मवेष धारण करके फ्रीगा-देवी के पास आये थे। फ्रीगा से उन्होंने पूछा—आप क्या बालडर के बारे में इतना निश्चिन्त हैं? क्या संसार के सभी व्यक्तियों और पदार्थों ने आपसे उनका अनिष्ट न करने का वादा कर लिया है? फ्रीगा ने उत्तर दिया—बेशक सभी ने प्रतिज्ञा की है। मेरे सेवक सारे ब्रह्माण्ड में घूमकर सबसे यह वचन ले आये हैं। केवल एक मिसिल्टो नाम की एक क्षुद्र घास रह गई है, जो कि वालहल्ला के फाटक पर ओक वृक्ष पर पैदा हुई है। पर वह घास इतनी क्षुद्र और सीधी सादी है कि उससे इतना बड़ा वचन लेना एक मख़ौल के सिवा और कुछ न होता। उससे बालडर जैसे बलशाली प्रभावशाली देवता का कोई अनिष्ट होने की सम्भावना करना भी बड़ी भारी मूर्खता होती।

लोकी के लिए इतनी ख़बर ही काफ़ी थी। वह तो छिद्रान्वेषण कर ही रहे थे। जब उन्होंने देखा, फ्रीगा-देवी के इतनी सावधानी रखने पर भी उन्हें मौक़ा देने के लिए ही जैसे वह इस जगह चूक गई हैं, तब वह आनन्द से पुलकित हो उठे। अपने मन का भाव छिपाकर लोकी चटपट वहाँ से चल दिये। कुछ दूर जाकर लोकी ने अपना असल रूप रखकर वालहल्ला में जाकर उस घास को खोज निकाला। इसके बाद मन्त्र के प्रभाव से उस क्षुद्र घास को एक कड़ी लकड़ी बना दिया। इसके बाद उस लकड़ी का एक तीर होशियारी से बनाकर ईडावोल्ड में जाकर पहुँचे। वहाँ उस समय भी बालडर को बीच में खड़ा करके देवता लोग अस्त्र-शस्त्र मारने की क्रीड़ा कर रहे थे। सब देवता खेल रहे थे, केवल अन्धे होडर एक ओर उदास मुँह लटकाये खड़े थे। लोकी चुपके से उनके पास जाकर खड़े हो गये और बातों ही बातों में उनसे पूछा कि वह क्यों नहीं इस खेल में शामिल होते? उदास मुँह लटकाये क्या खड़े हैं? होडर ने कहा—मैं अन्धा हूँ, इसी से इस खेल में शामिल नहीं हो सकता। तब लोकी ने आग्रह करके वही तीर होडर के हाथ में देकर उन्हें ठीक जगह पर ले जाकर खड़ा कर दिया और बालडर के ऊपर तीर चलाने के लिए निशाना भी साध दिया। होडर ने तीर चलाया। हर बार देवताओं का निशाना ठीक न बैठने से या व्यर्थ हो जाने से वह स्थान ज़ोरों की हँसी से गूँज उठता था। होडर भी तीर चलाकर वैसे ही आनन्द-कोलाहल की प्रतीक्षा कर रहा था; किन्तु उसके बदले एक आर्त्तनिनाद सारे आसगार्ड में छा गया; जिसे सुनकर होडर चौंक उठा। उस साधारण घास के तीर से बिंधकर बालडर पृथ्वी पर गिर पड़े। सब देवता घबराकर बालडर के पास दौड़े आये। उन्होंने आश्चर्य और दुःख के साथ देखा, बालडर की

मृत्यु हो गई है। सब देवतों ने क्रोध की दृष्टि से होडर की ओर देखा। देवता लोग निश्चय ही होडर को मार डालते, लेकिन देवताओं में यह नियम था कि आसगार्ड की पवित्र भूमि में किसी प्रकार का अत्याचार जान-बूझकर कोई नहीं कर सकता था।

होडर क्रोधित देवताओं के हाथ से अवश्य छुटकारा पा गया, लेकिन उसका हृदय ग्लानि और पश्चात्ताप से भीतर ही भीतर जला जा रहा था। वह देवताओं को मुँह नहीं दिखा सकता था। वह वहाँ से चलकर फ्रेनसालिर (Fensalir) में फ्रीगादेवी के महल में पहुँचा। वहाँ फ्रीगा देवी को यह दुःखदायक समाचार सुनाकर उसने पूछा—बतलाइए, मेरे इस पाप का क्या प्रायश्चित्त हो सकता है ? बाल्डर को फिर पाने के लिए मैं क्या कर सकता हूँ ? मृत्यु के राज्य में जाकर हेलादेवी (Hela) को बाल्डर के बदले अपने प्राण देने से क्या इसका कुछ प्रतिकार नहीं हो सकता ?

फ्रीगा पुत्र के शोक से व्याकुल हो उठीं। बाल्डर की रक्षा करने के लिए उन्होंने जो इतनी चेष्टा की और सावधानी बरती, वह सब व्यर्थ हो गई। पर उन्होंने होडर को कुछ नहीं कहा। बल्कि उसे सान्त्वना देते हुए कहा—पुत्र, इसमें तुम्हारा अपना कोई विशेष अपराध नहीं है। होनहार ने ही बाल्डर के प्राण लिये हैं, तुम केवल निमित्त के भागी बने हो। ख़ैर, एकदम बाल्डर के जीवन की आशा छोड़ने के पहले एक बार अवश्य ही चेष्टा करके देखना चाहिए। किन्तु तुम्हारे प्राण देने से कोई फल होता नहीं देख पड़ता। कारण, होनहार या नियति अगर बाल्डर के प्राण लेना चाहती है तो बाल्डर के बदले और किसी के प्राण देने से मृत्युदेवी कभी तृप्त या सन्तुष्ट न होगी। अगर ऐसा सम्भव होता तो आसगार्ड के सभी देवता बाल्डर का जीवन बचाने के लिए अपनी इच्छा से अपने प्राण देने को तैयार हो जाते। मुझे जान पड़ता है, एक बार मृत्यु की देवी हेला से अनुनय-विनय करके देखना चाहिए। स्वर्गराज्य में बाल्डर के न रहने से सब देवताओं को कैसा दुःख होगा, यह विचारकर शायद वह बाल्डर को छोड़ देने के लिए राज़ी हो जायँ। किन्तु हेलादेवी के राज्य में जाने का रास्ता क्या तुम जानते हो ? देवता लोग सदा जिस राह से हाइमडाल (Heimdal) पहरेदार से रक्षित ब्रीफ़्रास्ट पुल के ऊपर होकर मिडगर्ड (Mid-gurd) क़िले के किनारे से मनुष्यों के देश पृथ्वी तक जाते-आते हैं—यह वह राह नहीं है। यह राह स्वर्ग और प्रकाश के राज्य से बहुत दूर सुनसान है और इधर देवता लोग कभी नहीं जाते। इस राह में ओडिन के घोड़े स्लाइपनीर पर बैठकर ही जाया जा सकता है। आसगार्ड के उत्तर प्रान्त से इस राह होकर लगातार नव दिन तक घोड़े पर चढ़कर उत्तर देश के बर्फ़ के राज्य की ओर जाना होगा। राह में कितनी ही गहरी उपत्यकाएँ और कितने ही झरने नाँघने होंगे। दसवें दिन निफ़्लूहाइम की सरहद पर गिओ्लि (Gioli) नदी के ऊपर एक पुल देख पड़ेगा। उस पुल का पहरेदार उत्तर दिशा का मार्ग दिखा देगा। यह राह भी बिलकुल अन्धकारमय है। इस राह पर चलकर समुद्र के किनारे जाकर पहुँचोगे। यह समुद्र पृथ्वी को चारों ओर से घेरे है। इसके एक ओर दैत्यों और दानवों का देश है। किन्तु तुम जाकर पहुँचोगे समुद्र के दूसरी ओर उत्तर के किनारे पर, जहाँ लगातार बर्फ़ ही बर्फ़ मिलेगी। इस नये देश को नाँघकर और भी उत्तर ओर जाते-जाते अन्त में देखोगे कि सामने एक बहुत बड़ी दीवार ने राह रोक रक्खी है। यहाँ पर उतरकर स्लाइपनी के एँड़ लगाकर लोहे के फाटक के ऊपर से दीवार के उस पार पहुँच जाओगे। दीवार के उस पार निफ़्लूहाइम का लम्बा चौड़ा मैदान मिलेगा। यही हेला देवी का राज्य है। इस मैदान में छायामूर्त्ति अनेक प्राणी घूमते हैं। बीच में बाल्डर बैठे होंगे। उनके सिर पर मुकुट होगा। उनके बाद हेला देवी का सिंहासन मिलेगा। तुम उन छायामूर्तियों से न डरकर, बाल्डर से न बोलकर पहले हेला देवी को प्रणाम करना।

होडर ने कहा—मैं तो अन्धा हूँ। किस तरह इस राह में जाऊँगा ? यह राह तो आँखवालों के लिए भी दुर्गम है।

फ्रीगा ने कहा—अच्छा, तुम न जाओ। तुम आसगार्ड को लौट जाओ। वहाँ सबसे पहले जो कोई तुमको मिले, उसी से यह काम करने के लिए कहना। वही यह काम करेगा। उससे कह देना कि मैं छिपे-छिपे उसकी सहायता करूँगी।

इसी बीच में देवता लोग बाल्डर के देह को शवाधार में रखकर उनके अपने महल ब्राइडाब्लिक (Breidablic) में रख आये। देवताओं में एक का नाम था हरमड (Hermod)। वह अपनी तेज़ चाल के लिए प्रसिद्ध थे। बाल्डर के शव को उनके

महल में रखकर लौटते समय हरमड सबके पीछे दुःख और चिन्ता में डूबे हुए अपने महल की ओर जा रहे थे। उनका महल था समुद्र के किनारे। समुद्रतट के निकट आते ही कोई जैसे उनके हाथ को छूकर उनके कान में कह गया—हरमड, तुम मृत्युदेवी हेला के राज्य में जाने को तैयार हो जाओ। कल बहुत सवेरे ओडिन के घोड़े स्लाइपनीर पर चढ़कर तुम रवाना होना और वहाँ जाकर बालडर को स्वर्गराज्य में लौटा लाने के लिए हेलादेवी से प्रार्थना करना। माता फ्रीगादेवी अलक्ष्य रहकर तुम्हारी इस काम में सहायता करेंगी।

उस समय सन्ध्या का अन्धकार घना हो आया था, इसलिए हरमड ने किसी को देख नहीं पाया। वह सोचने लगे, कौन इस तरह आज्ञा देकर मेरे उत्तर की राह देखे विना ग़ायब हो गया? मुझे तो होडर की सी आवाज़ जान पड़ी। कुछ भी हो, मैं जाऊँगा; क्योंकि यह काम सभी देवताओं को प्रिय होगा।

एक मत यह भी है कि बालडर के मरकर गिरने पर आर्त्तनाद सुनकर फ्रीगादेवी भी वहाँ दौड़ी आईं। फ्रीगा ने आकर जब देखा कि उनका प्रिय पुत्र मर गया है तब उन्होंने यह इच्छा प्रकट की कि देवताओं में से कोई निफ्लूहाइम में जाकर मृत्युराज्य की अधीश्वरी हेलादेवी से अनुरोध करे कि वह स्वर्गराज्य के लिए बालडर को छोड़ दें। निफ्लूहाइम की राह अत्यन्त दुर्गम और कष्टदायक होने के कारण पहले कोई वहाँ जाने को राज़ी न हुआ। तब फ्रीगादेवी ने कहा—जो कोई यह काम करेगा, वह विशेष रूप से मुझे और ओडिन को प्रिय होगा। यह सुनकर हरमड हेलादेवी के पास जाने को तैयार हो गये। इस कठिन यात्रा के लिए ओडिन ने हरमड की सवारी के लिए अपना आठ पैर का घोड़ा स्लाइपनीर भी दे दिया। इस घोड़े पर ओडिन के सिवा और कोई कभी सवार नहीं हुआ था।

हरमड जब उस दुर्गम मार्ग में घोड़े पर चढ़कर निफ्लूहाइम की ओर जा रहे थे, उसी समय आस्गार्ड में बालडर के शव-संस्कार का आयोजन होने लगा। ओडिन की आज्ञा से सब देवता वनभूमि को मथकर अनेक प्रकार की लकड़ियाँ ले आये। समुद्र के किनारे रिंगहोर्न (Ringhorn) के ऊपर चिता लगाई गई। चिराचरित प्रथा के अनुसार असंख्य पुष्पमाला, अनेक प्रकार के अस्त्र-शस्त्र और अलंकार तथा बहुमूल्य विविध वस्तुओं से चिता सजाई गई। इसके बाद ब्राइडाब्लिक के महल से बालडर के शव को लाकर चिता पर रक्खा गया। सब देवता बालडर से अन्तिम विदा लेने के लिए आकर खड़े हुए। बालडर की प्रियतमा पत्नी नन्ना (Nanna) भी वहाँ आई और इस दुःख को सँभाल नहीं सकी। उसके हृदय की धड़कन बन्द हो गई। वह मर गई।

मैथ्यू आर्नाल्ड ने अपनी "बाल्डर डेड" नाम का कविता में नन्ना की मृत्यु दूसरी तरह से लिखी है। किन्तु नार्वे का कोई पुराण उसका समर्थन नहीं करता। किन्तु मैथ्यू आर्नाल्ड पुराणकार नहीं, कवि ठहरे। उनकी यह स्वतन्त्रता क्षम्य है। उन्होंने इस प्रकार नन्ना की मृत्यु लिखी है—

बालडर की मृत्यु के बाद उनका शव शवाधार में—ब्राइडाब्लिक में रक्खा गया था। उनकी पत्नी नन्ना अधिक रात बीते तक शवाधार के निकट बैठी रहकर ऊपर अपने शयनगृह में जाकर सो रही। माता फ्रीगा ने जैसे स्नेहवश उसकी आँखों पर हाथ फेरकर उसे सुला दिया। रात जब आधी से अधिक बीत गई, चार बज गये, आकाश के नक्षत्र अस्त होने को हुए, उस समय बालडर की विमुक्त आत्मा जीवित अवस्था के अनुरूप रूप रखकर, वैसी ही पोशाक पहनकर नन्ना के पलँग के पास आकर खड़ी हो गई। वहाँ खड़े होकर उसने कुछ देर तक स्नेह की दृष्टि से नन्ना को देखकर उससे कहना शुरू किया—तुम नींद में अपने दुःखकष्ट को भूल गई हो; किन्तु तुम्हारी आँखों में आँसुओं के चिह्न स्पष्ट दिखाई दे रहे हैं। तुम्हारी तकिया तक आँसुओं से भीग गई है। जान पड़ता है, बच्चा जैसे रोते-रोते सो जाता है, वैसे ही तुम भी सो गई हो। मैं तुमको देखने और तुम्हारी सहायता करने यहाँ आया हूँ। जीवित अवस्था में मैं तुमसे दूर कभी नहीं गया; मरने पर भी मैं तुमको नहीं छोड़ जाऊँगा। सवेरे देवता लोग मेरे शरीर का अन्त्येष्टि संस्कार करेंगे। वे समझते हैं कि चिराचरित प्रथा के अनुसार मेरे सभी रत्नालंकारों के साथ तुमको भी मेरी चिता पर जला देंगे। किन्तु यह नहीं होने का। उसके पहले ही माता फ्रीगादेवी तुमको मृत्यु देंगी। वह मृत्यु यन्त्रणाहीन होगी। मृत्यु से तुम्हारी आत्मा जब देह को छोड़ देगी, तब देवता लोग मेरी देह के साथ तुम्हारी देह को भी जला देंगे, तुमको नहीं। मैं जानता हूँ कि तुम मुझे कितना प्यार करती हो। इसीलिए मेरे साथ रहने के लिए, कैसी भी मृत्यु क्यों न हो, तुम्हें नापसंद न

होगी। अगर मैं अपनी इच्छा के अनुसार काम करता तो तुम्हारी मृत्यु को बिलकुल ही दूर करके स्वर्ग-राज्य में तुम्हारे जीवन की अवधि को यथेष्ट बढ़ा देता। किन्तु यह तुम न चाहोगी, इसीलिए नहीं, बल्कि मुझे ऐसा करने का अधिकार भी नहीं है। इसलिए मैं लाचार हूँ। तुम मृत्यु में भी मेरी सहगामिनी होने के लिए प्रस्तुत हो; किन्तु यह जान रक्खो, मृत्युराज्य में हेला-देवी के उस अन्धकारमय प्रदेश में रहना, वहाँ का जीवन सुखदायक नहीं है। वहाँ सब छायारूप प्राणी ही रहते हैं; क्योंकि वे सब मरे हुओं के आत्मा हैं। देवताओं में केवल एक मैं ही वहाँ हूँ, और हेलादेवी हैं। तुम जानती ही हो कि मनुष्यों के जगत् में भी लोग प्रतिष्ठित और विद्वान् हैं, जिन्होंने वीर की तरह युद्धभूमि में जाकर मृत्यु को गले लगाया है, वे वाल-हल्ला में जाकर बसे हैं। फलस्वरूप हेलादेवी के राज्य में सब अज्ञात, अख्यात, अकर्मण्य, कायर, वृद्ध, दुर्बल, रोगी और जराजर्जर होकर मरनेवाले लोगों का निवास है। अवश्य ही तुम आतीं तो हम दोनों जने परस्पर एक दूसरे के साथ रहकर सान्त्वना प्राप्त करते और स्वर्गराज्य की चर्चा करके आनन्द से हमारा समय कटता।

बाल्डर इतना कहकर चुप हो गये। इसी समय उनका दिखाई पड़नेवाला वह शरीर जैसे धुँधला पड़ने लगा। नन्ना सोते-सोते चीख़ उठी और अपना हाथ बाल्डर की ओर बढ़ा दिया। बाल्डर विषाद की मुद्रा से नन्ना की ओर देखकर सिर हिलाते हुए ग़ायब हो गये। नन्ना फिर पलँग पर लेटे-लेटे सो गई। माता फ़्रीगादेवी ने आकर फुरती से नन्ना की आत्मा को शरीर से अलग कर दिया। तब वह नन्ना की मुक्त आत्मा बाल्डर की ओर तेज़ी से बढ़ गई। उसी समय सवेरा हो गया।

चाहे जिस तरह हो, नन्ना की मृत्यु अवश्य हुई। देवताओं ने नन्ना के शव को भी चिता के ऊपर बाल्डर के शव के पास लिटा दिया। ऐसा उन्होंने इस-लिए किया कि वह मरने पर भी अपने पति के साथ रह सकें। देवता लोग सहमरण की प्रथा को बड़ी ही इज़्ज़त की नज़र से देखते हैं। इस विषय में हिंदुओं के साथ उनका पूरा मेल देखा जाता है। किन्तु एक बात में देवता लोग हिन्दुओं से भी आगे बढ़ गये। देवताओं ने बाल्डर के शव के साथ केवल उनकी पत्नी को ही नहीं जलाया, बल्कि उन्होंने बाल्डर के प्रिय घोड़े और कुत्तों को भी मारकर बाल्डर की चिता पर रख दिया। बाल्डर के प्रति अपने स्नेह और प्यार के निदर्शन के लिए सब देवताओं ने अपनी ओर से अनेक प्रकार की बहुमूल्य वस्तुएँ रखकर चिता को अच्छी तरह सजाया। सबके अन्त में ओडिन ने आकर अपनी मन्त्रपूत अँगूठी ड्राइपनीर (Draupnir) चिता के ऊपर रख दी और बाल्डर के शव के कानों में जैसे चुपके से कुछ कह दिया। उन्होंने क्या कहा, यह किसी ने नहीं जाना। किसी-किसी का मत यह है कि बाल्डर कल्प के अन्त में मृत्युराज्य से छुटकारा पाकर देवराज्य में फिर प्रकट होंगे, यही ओडिन ने बाल्डर के कान में चुपके से कह दिया था।

इस तरह चिता की सजावट पूरी होने पर वह जहाज़, जिस पर चिता सजाई गई थी, जल में प्रवा-हित करने के लिए सब देवता उद्योग करने लगे। किन्तु सब देवताओं के ज़ोर लगाने पर भी जहाज़ अपनी जगह से नहीं हटा। इसका कारण चाहे देवताओं का दुखी और चिन्ताकुल होना हो, चाहे और कुछ हो। तब देवताओं ने हीरोकिन (Hyrrokin) नाम की एक दैत्यकन्या को इस काम में अपनी सहायता करने के लिए बुलाया। वह आकर हाज़िर हुई। उसका वाहन एक बहुत बड़ा चीता था। उस वाहन को क़ाबू में रखने के लिए लगाम थी एक बड़ा भारी जीवित साँप। हीरोकिन जब अपने वाहन की पीठ से उतरी तब ओडिन ने चार योद्धाओं को, जो राक्षसों के समान बली और लंबे-तगड़े थे, उस चीते को सँभालने की आज्ञा दी। किन्तु महाबली वे चारों योद्धा भी मिलकर उस चीते को अपने वश में नहीं रख सके। लाचार होकर हीरोकिन ने ख़ुद आकर उस चीते को भूमि पर गिराकर हाथ-पैर बाँध-कर डाल दिया। इसके बाद हीरोकिन ने अकेले ही अपनी विपुल शक्ति का प्रयोग करके उस जहाज़ को सागर के जल में उतार दिया। इस काम में उसने इतनी शक्ति का प्रयोग किया कि समुद्रतट की सारी भूमि ऐसे हिल उठी, जैसे भूकम्प आ गया हो। कुछ देवताओं के भी पैर उखड़ गये। कुछ गिर पड़े और कुछ गिरते-गिरते बचे। इससे थोर (Thor) देवता को क्रोध आ गया। उन्होंने हीरोकिन को मार डालने के विचार से अपनी गदा तानी। तब और सब देवताओं ने आकर उन्हें रोका। देखते ही देखते थोर देवता का क्रोध भी शान्त हो गया।

थोर वज्र और बिजली के देवता थे, इसलिए उन्होंने बालडर की चिता में आग दी। तब जलती हुई चिता को लेकर जहाज़ सागर के जल में बह चला। भारी चिता की आग की जलती हुई लपटें हवा के झोंकों से और अधिक प्रचण्ड हो उठीं, जिससे एक अपूर्व गरिमामय सौंदर्य का दृश्य दिखाई पड़ा। देवता लोग सागर के तट पर खड़े होकर एकटक इस अभिनव दृश्य को देखने लगे। चिता की आग की लपलपाती हुई लपटें सारे जहाज़ को जलाने लगीं। जहाज़ बहते-बहते पश्चिम दिशा की सीमारेखा या क्षितिज के निकट जब पहुँचा, तब आग की लपटों के रंग की छटा से जैसे आकाश और सागर, दोनों रंगीन हो उठे। चिता की आग सब कुछ जलाकर जब कुछ तृप्त हुई, तब उसकी दीप्ति भी मलिन होने लगी। इसके बाद पश्चिम के आकाश में अस्त हो रहे सूर्य की अन्तिम सुनहली किरणों के साथ चिता की आग की अन्तिम दीप्ति भी जैसे एक संग ही समुद्र के जल में डूब गई।

देवता लोग बालडर का अन्तिम संस्कार करने के बाद आसगार्ड में लौट आये। किन्तु उनके मन में जैसे सुख या चैन का लेश भी नहीं रहा। स्वर्गराज्य में पहले की तरह आनन्दकोलाहल नहीं सुन पड़ता था। बालडर गर्मी और प्रकाश का प्रतिरूप थे। अतएव उनके न रहने से स्वर्गराज्य में जैसे एक मलिनता की छाया छा गई। देवता लोग जैसे यह अनुभव करने लगे कि युग के अन्त में जो उनके विनाश का काल निश्चित है, वह तेज़ी के साथ निकट आ रहा है। कल्प के अन्त में जो एक भयावह हिमऋतु प्रकट होने की बात शास्त्रों में लिखी है, उसी की यह जैसे पूर्व-सूचना है। केवल फ्रीगादेवी यह आशा करती थीं कि शायद बालडर के फिर आने की संभावना अभी बाक़ी है। वह व्याकुल हृदय से हरमड के लौटने की राह देख रही थीं।

इधर हरमड स्लाइपनीर की पीठ पर चढ़कर हेलादेवी के राज्य की राह पर आगे बढ़ रहे थे। वह आसगार्ड से बराबर उत्तर की ओर बढ़ने लगे। दिनभर बीता, दिन का प्रकाश बुझ गया, चारों ओर घोर अन्धकार छा गया। मगर वह रुके नहीं। रात बीती, फिर दिन निकला। पर हरमड ने विश्राम नहीं किया। इसी तरह लगातार नौ दिन और नव रातें बीत गईं। वह और भी हिमराज्य की ओर बढ़ते ही गये। राह में कितनी ही गहरी उपत्यकाएँ और उमड़ते हुए झरनों को लाँघकर दसवें दिन तड़के वह निफ़्लहाइम की सीमा पर नदी के किनारे उपस्थित हुए। इस नदी के ऊपर काँच का बना एक पुल था। पुल की डाँट सोने की थी। सारा पुल एक बाल के ऊपर लटका था। इस पुल पर जो पहरेदार था, उसका नाम था मोडगाड (Modgud), और वह एक नरकंकाल या हड्डियों के ढाँचे की शक्ल में था। उसका काम मृत्युमार्ग के यात्रियों से रुधिर का कर लेना था। हरमड जब उस पुल के ऊपर होकर जाने लगे, तब उनके पैर रखने पर बोझ से वह पुल बड़े ज़ोर से हिल उठा। मोडगाड आकर उनकी राह रोककर खड़ा हो गया और बोला— तुम कौन हो ? एक साथ अनेक यात्रियों के जाने पर भी यह पुल जितना नहीं हिलता, उससे कहीं अधिक अकेले तुम्हारे पैर रखने से यह हिल उठा है। तुम कौन हो ? इसके सिवा तुम जीवित अवस्था में ही हेलादेवी के राज्य में घुसने का प्रयास क्यों कर रहे हो ? इधर तो मुर्दे ही आया करते हैं।

तब हरमड ने अपना परिचय दिया और पूछकर जान लिया कि बालडर और नन्ना, दोनों इसी राह से गये हैं। हरमड देवता थे, इसलिए पहरेदार ने हेलादेवी के राज्य में केवल उन्हें जाने ही नहीं दिया, बल्कि राह का सब ब्योरा भी अच्छी तरह बता दिया। हरमड वहाँ से चलकर अन्धकार को नाँघकर समुद्र के किनारे आ पहुँचे। वहाँ से और भी उत्तर ओर जाने पर हिम (बरफ़) का देश मिला। उसे नाँघकर उस दीवार के नीचे पहुँचे, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। वहाँ घोड़े से उतरकर हरमड ने घोड़े की ज़ीन फिर से अच्छी तरह कसी। इसके बाद घोड़े के एँड़ लगाई। घोड़ा हरमड को लेकर दीवार के उस पार निफ़्लहाइम के मैदान में पहुँच गया। यहाँ पर भी हरमड के विश्राम के लिए स्थान नहीं था। वह और भी आगे बढ़कर हेलादेवी के सिंहासन के पास पहुँच गये। वहाँ उन्होंने देखा, हेलादेवी को चारों ओर से घेरे असंख्य छायामूर्तियाँ खड़ी हैं। सिंहासन के पास बालडर बैठे हैं। उनके सिर पर मुकुट है।

हरमड को देखते ही हेलादेवी ने कुछ कठोर स्वर में पूछा—तुम किस तरह इस दुर्गम मार्ग को लाँघकर यहाँ आये हो ? और स्वर्गराज्य को छोड़कर यहाँ किस प्रयोजन से आये हो ? हरमड उसी समय घोड़े

से उतर पड़े और हेलादेवी के पैरों पर सिर रखकर अपने देश की रीति के अनुसार उनको प्रणाम करके कहा—देवी, देवताओं की इच्छा क्या आपसे कहने की आवश्यकता है ? देवता तो सब कुछ जानते हैं। देवताओं की प्रार्थना क्या आपसे छिपी है ? आप जानती हैं, बाल्डर के विना हम देवता स्वर्गराज्य में कितने दुखी हैं। मैं बाल्डर के लिए ही देवताओं की प्रार्थना लेकर आपकी सेवा में उपस्थित हुआ हूँ। आपके इस अंधकारमय राज्य में बाल्डर के लिए स्थान कहाँ है ? यहाँ रहकर यह बाल्डर क्या करेंगे ? बाल्डर का जन्म तो स्वर्गराज्य में प्रकाश और आनन्द देने के लिए हुआ था। आप अनुमति दीजिए, बाल्डर फिर स्वर्गराज्य को सुखी बनावें। वही इनके लिए उपयुक्त स्थान है।

हेलादेवी ने कहा—हरमड, तुम एक असंभव प्रार्थना लेकर आये हो। देवता लोग मुझसे अनुग्रह की प्रार्थना करते हैं। यह तो बड़े आश्चर्य की बात है। क्या तुम जानते नहीं कि देवताओं ने मेरे साथ कैसा सलूक कर रक्खा है। पिता लोकी की हम तीन संतान हैं। प्रथम फ़ेनरिस (Fenris) चीता। उसे तुम देवताओं ने किसी पहाड़ में ज़ंजीरों से बाँधकर रक्खा है। दूसरा अनन्त नाग इयरमंगांडर (Iormungandar) है। उसे तुमने समुद्र में छोड़ दिया है। तीसरी मैं हूँ, जिसे तुम लोगों ने इस अंधकारमय मृत्युराज्य का अधिकार देकर यहाँ रहने को लाचार किया है। मेरे पिता लोकी अवश्य ही स्वर्गराज्य में हैं; लेकिन तुम लोग उन्हें किस दृष्टि से देखते हो और भविष्य में उनकी क्या दशा करोगे, यह मुझसे छिपा नहीं है। अवश्य ही मेरे भी अच्छे दिन आवेंगे। हम लोग उसी दिन की बाट जोह रहे हैं। किन्तु यह कैसी बात है कि मेरे साथ इतना बुरा व्यवहार करके भी देवता लोग मुझसे सहायता चाहते हैं। अच्छा, मैं तुम लोगों की सहायता करने को तैयार हूँ। लेकिन तुम बाल्डर की इतनी प्रशंसा करते हो, बतलाते हो कि वह सारे संसार को प्रिय हैं। तुम्हें इसका प्रमाण देना होगा कि बाल्डर वास्तव में सर्वजनप्रिय हैं। अगर जगत् के जड़ और चेतन सभी पदार्थ, देवता, दानव, पशु-पक्षी, कीट, पतंग, बाल्डर के लिए आँसू गिरावें तो मैं जानूँगी कि वह सचमुच सर्वजनप्रिय हैं। तब मैं स्वर्गराज्य में रहने के लिए बाल्डर को छोड़ दूँगी। किन्तु याद रक्खो, अगर एक भी प्राणी या एक भी पदार्थ उनके लिए न रोया तो बाल्डर को यहीं रहना पड़ेगा।

हेलादेवी के इस प्रस्ताव को सुनकर हरमड को अपने सफल होने का भरोसा हुआ। कारण, संसार में ऐसा कोई न होगा, जो बाल्डर की मृत्यु से शोकाकुल न हो, या उनके लिए आँसू न बहावे। हेलादेवी से बिदा होकर हरमड बाल्डर से मिले और उनसे सब हाल कहा। यह भी बताया कि शीघ्र ही हेलादेवी के राज्य से उनको छुटकारा मिलने की सर्वथा सम्भावना है। हरमड जब लौटने लगे, तब नन्नादेवी ने एक सुन्दर गलीचा फ्रीगादेवी के लिए उपहार उनको दिया। बाल्डर ने अपने पिता ओडिन के लिए उनकी दी हुई मन्त्रपूत अँगूठी ड्राइपनीर ही उपहार के रूप में लौटा दी। सब देवताओं के कुशलसमाचार पूछकर उनके लिए यथायोग्य संभाषण कहला भेजे। हरमड को यह सब व्यर्थ ही मालूम पड़ा; क्योंकि उन्हें पूर्ण विश्वास था कि बाल्डर शीघ्र ही इसी शरीर से आस्गार्ड में लौट आवेंगे। किन्तु हरमड से हेलादेवी की शर्त सुनकर बाल्डर इस पर पूर्ण रूप से विश्वास नहीं कर सके; क्योंकि वह जानते थे कि हेलादेवी उन्हीं लोकी की कन्या है, जो मन-ही-मन उनसे जलते हैं।

ख़ैर, कुछ भी हो, हरमड बाल्डर से बिदा होकर आस्गार्ड की ओर चल दिये। रास्ते में उन्होंने देखा, वह चहारदीवारी से लगा हुआ लोहे का बड़ा फाटक उनके लिए खुला हुआ है और वह दुर्गम सारी राह इस बार उनके लिए इतनी सहज सुन्दर बन गई है कि वह नव दिन की राह उन्होंने दो ही दिनों में पार कर ली। अवश्य ही अगर कोई और एकबार हेलादेवी के राज्य में चला जाय तो वह फिर लौट नहीं सकता।

हरमड बारहवें दिन स्वर्ग-राज्य में लौट आये। किसी-किसी का मत यह है कि ओडिन की आज्ञा से इन बारह दिनों तक बाल्डर का शव जलाया नहीं गया। जब हरमड ने लौटकर हेलादेवी के यहाँ का हाल सुनाया, तब ओडिन ने उसे जलाने की आज्ञा दी। ख़ैर, कुछ भी हो, हरमड से सब हाल सुनकर देवतों की एक सभा हुई। ओडिन ने उसमें कहा—यद्यपि बाल्डर का छुटकारा इस शर्त पर सहज ही जान पड़ता है; क्योंकि उनके लिए जिसे शोक न हो, ऐसा कौन होगा, तथापि मुझे यह काम उतना सहज

नहीं जान पड़ता। कारण, यह प्रस्ताव सदा के विश्वासघातक लोकी की कन्या ने किया है। इस शर्त के भीतर कोई-न-कोई खटके की बात अवश्य है। मुझे तो यह समझ पड़ता है कि इस उपाय पर भरोसा न करके कोई दूसरा ही उपाय करना चाहिए। एक उपाय यह है कि मैं आप समर-सज्जा से सज्जित होकर आठ पैर के घोड़े स्लाइपनीर की पीठ पर बैठकर जाऊँ। मेरे साथ प्रधान साथी थोर वज्र और बिजली की सारी शक्ति लेकर होंगे और सब देवता भी चलेंगे। इस तरह देवभूमि की सारी शक्ति लेकर धूमकेतु की तरह, एक प्रचण्ड तूफ़ान की तरह मैं हेलादेवी के राज्य पर चढ़ाई करके बाल्डर को बलपूर्वक छुड़ा लाऊँगा। मेरी समझ में तो यही हम देवताओं के योग्य काम होगा।

ओडिन के इस प्रस्ताव को सुनकर आस्गार्ड के सब देवता आनन्दध्वनि करते हुए चलने को तैयार हो गये। तब ओडिन ने फ़्रीगादेवी से उनकी राय पूछी। फ़्रीगा को यह उपाय पसन्द न हुआ। उन्होंने ओडिन से कहा—आप सब देवताओं के राजा हैं। आपके मुख से ऐसा अनुचित असंगत प्रस्ताव सुनने की मुझे आशा न थी। यह प्रस्ताव अनुचित ही नहीं, असम्भव भी है। स्वर्ग, मनुष्य-लोक और पाताल में जितने देवता, दानव, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, मनुष्य, पशु-पक्षी, कीट-पतंग आदि हैं, उन सबके आप प्रधान प्रभु हैं। विश्व-राज्य में आप सर्वशक्तिमान् हैं। लेकिन आपकी शक्ति की भी एक सीमा है। आपने जहाँ जो व्यवस्था कर रक्खी है, उसे आप स्वयं भी अन्यथा नहीं कर सकते। आपके ही विधान के अनुसार लोकी की कन्या हेला निफ़्ल्हाइम की पातालपुरी में पड़ी हुई नव अन्धकारमय प्रदेशों के ऊपर राज्य कर रही है। आप ने ही उसको मृत्यु-राज्य की एकमात्र अधीश्वरी बनाया है। अब आप ही उसके राज्य पर आक्रमण करके अपने विधान को उलटना चाहते हैं; उसके अन्धकार-राज्य में प्रकाश का अनधिकार प्रवेश कराने को और उसके राज्य की एक प्रजा को बलपूर्वक छीन लाने को तैयार हैं। म आपके इस काम में सम्मति नहीं दे सकती और मेरी राय को न मानना भी आपके लिए उचित न होगा। कारण, आप अगर सब देवताओं के राजा और प्रधान हैं तो मैं भी कोई साधारण तुच्छ स्त्री नहीं हूँ। मैं भी रानी हूँ। समय के हिसाब से मैं अवश्य आपसे पीछे प्रकट हुई हूँ; किन्तु याद रखिए, मैं भी सब देवियों में प्रधान हूँ और सब देवता माता मानकर मेरा सम्मान करते हैं। अगर आप मेरी राय जानना चाहते हैं तो सुनिए, इस समय बाल्डर के ऊपर हेलादेवी का पूर्ण अधिकार है। हेलादेवी ने जब बाल्डर के छुटकारे का एक उपाय बता दिया है, तब वही उपाय करना चाहिए, उसी शर्त को मान लेना चाहिए। अगर वह शर्त आप लोग पूरी कर सकें तो हेलादेवी कभी अपनी बात से मुकर नहीं सकेगी। वह बाल्डर को छोड़ने के लिए लाचार होगी। इसलिए उसकी शर्त पूरी करने के लिए अपने दूत सारे संसार में भेजिए।

ऐसा हो नहीं सकता था कि ओडिन फ़्रीगादेवी की सलाह को न मानते। उन्होंने उसी समय सब देवताओं को सब दिशाओं में दूत भेजने की आज्ञा दी। तब सब देवता अपने-अपने घोड़े पर सवार होकर विश्व-ब्रह्माण्ड में चारों ओर चल दिये। दूसरा मत यह है कि देवराज ओडिन ने वाल्किर नाम की (Valkyris) देवकन्याओं को भेजा। उनसे कहा गया कि वे सबको यह समाचार दे आवें कि बाल्डर की मृत्यु हो गई। बाल्डर की मृत्यु का संवाद ऐसा भयानक और दुःखदायक था कि पहली बार देवकन्याएँ स्पष्ट रूप से उच्चारण ही नहीं कर सकीं। उनका वह अस्पष्ट क्षीण कथन प्रतिध्वनि के रूप में जैसे आस्गार्ड में लौट आया और चारों ओर गूँज गया। देवता लोग उस ध्वनि को सुनकर जैसे नये सिरे से बाल्डर के लिए शोक से व्याकुल हो उठे। इस तरह शोक का उच्छ्वास स्वर्ग-राज्य से आरम्भ होकर सब दिशाओं में फैल गया। वाल्किर देव-कन्याओं ने पृथ्वीतल पर आकर यह सूचना दी कि बाल्डर की मृत्यु हो गई है। वैसे ही सब पुरुष सारे कामकाज को छोड़कर बाल्डर के लिए शोक करने लगे; स्त्रियाँ जो पानी भरने के लिए जा रही थीं, राह में यह ख़बर सुनकर शोक से व्याकुल हो उठीं, आँसुओं के जल से उनके पात्र भर गये। उनके साथ ही उनके छोटे-छोटे बच्चे भी रोने लगे। देव-कन्याओं ने निर्जन मैदानों में जाकर बाल्डर की मृत्यु का समाचार सुनाया। सुनकर घास-फूस, फूल वग़ैरह आँसू गिराने लगे, पहाड़ों के कठिन पत्थर तक इस शोक में शामिल हो गये। पहाड़ मैदानों

में, जो मम्मथ (Mammoth) और मास्टोडन (Mastodan) आदि प्राचीन युग के अतिकाय जन्तु बहुत दिनों से पृथ्वी पर से लुप्त हो गये हैं, उनके कंकाल और हड्डियाँ भी जैसे महानिद्रा से जागकर इस शोक के विलाप में शामिल हो गईं। तब वाल्किर नाम की देव-कन्याएँ अपने प्रचार की सफलता से उत्फुल्ल होकर नाचती हुई समुद्र की ओर आगे बढ़ीं।

इधर महान् देवता ओडिन ने अपने सिंहासन पर बैठकर एक बार पृथ्वी की ओर देखा। उन्होंने पहले देखा कि पृथ्वी के एक छोर से दूसरे छोर तक पूर्व, पश्चिम, दक्षिण, उत्तर, इन चारों दिशाओं में देवकन्याएँ बाल्डर की मृत्यु का समाचार सब प्राणियों को सुनाती हुई जा रही हैं, और उसके साथ ही लोगों के आँसुओं का प्रवाह भी बढ़ता हुआ महासागर का रूप धारण कर रहा है। देखते-ही-देखते यह आँसुओं का महासागर भाप बनकर आकाश की ओर उठा। एक घने मेघ के पर्दे से ओडिन की दृष्टि रुँध गई। तब उन्होंने दृष्टि को एकाग्र करके उस मेघ के आवरण को विदीर्ण करके नज़र दौड़ाई। इसके बाद उन देवकन्याओं को अपने पास बुलाकर ओडिन ने उनसे पृथ्वी के समाचार पूछे। कन्याओं ने कहा—हाँ स्वामी, सारी पृथ्वी बाल्डर के शोक में आँसू बहा रही है।

फिर सागर के किनारे लौटकर देव-कन्याओं ने सागर-देवता नियार्ड (Niord) की सहायता से समुद्र के भीतर-बाहर चारों ओर घूम-घूमकर यह समाचार कहा, जिसमें कोई बाक़ी न रहे। समुद्र के उस पार दानवों का देश था। उसके एक सिरे पर एक जंगल था। वहाँ के सब पेड़ लोहे के थे। वाल्किर कन्याएँ जब सर्वत्र समाचार का प्रचार करके उस राह से आसगार्ड को लौट रही थीं, तब उस जंगल में एक पहाड़ की खोह के सामने उन्हें एक दानवी बैठी हुई देख पड़ी। उसका नाम था थाक् (Thok)। थाक् ने देव-कन्याओं को देखकर एक ठहाका मारा और उनसे पूछा— तुम्हारे स्वर्ग-राज्य में क्या कोई नवीनता नहीं रही या अब कोई आनन्द-उत्सव नहीं मनाया जाता, जो तुम इतनी दूर मेरे इस देश में घूमने, यहाँ की सैर करने आई हो?

देव-कन्याओं ने कहा—हम तुम्हारे यहाँ आमोद-आह्लाद करने नहीं आई हैं। हम तो एक दुःखदायक समाचार सुनाने आई हैं। बाल्डर की मृत्यु हो गई है, उसके लिए आँसू बहाओ। यह सुनकर थाक् ने फिर एक ठहाका मारा। बोली—बाल्डर मर गया तो अच्छा हुआ। तुमको दुःख हुआ हो तो तुम शोक मनाओ। बाल्डर के मरने से मैं क्यों शोक मनाऊँ?

इतना कहकर अट्टहास करती हुई दानवी थाक् उस खोह के भीतर चली गई। यह थाक् और कोई नहीं, वही लोकी था। दानवी का रूप रखकर यहाँ इसी लिए बैठा था कि हेलादेवी की शर्त पूरी न हो और बाल्डर मृत्यु-राज्य से छूटकर स्वर्ग-राज्य में न जा सके।

देव-कन्याएँ यह समाचार लेकर आसगार्ड में लौट आईं। वहाँ सब देवता हृदय में आशा लिये उन्हीं की प्रतीक्षा में बैठे थे। किन्तु देव-कन्याओं के विषाद-भरे मुखों पर निराशा की स्पष्ट छाया देखकर उनकी आशा पर पानी फिर गया। सारा हाल सुनकर उन्होंने अच्छी तरह समझ लिया कि होनी को देवता लोग भी नहीं टाल सकते।

इस कथा के अन्त में बाल्डर की हत्या के बदले का ज़िक्र है। पहले ही कहा जा चुका है कि ओडिन वालादेवी से जान आये थे कि पृथ्वी की देवी रिंडा के गर्भ से उनके जो पुत्र होगा, वह बाल्डर की हत्या का बदला लेगा। ओडिन यह जानते थे, इसलिए अनेक कष्ट और अपमान सहकर भी उन्होंने रिंडा से ब्याह किया। रिंडा के ब्याह के वर्णन में लिखा है कि रिंडा को पत्नी के रूप में प्राप्त करना शक्तिशाली ओडिन के लिए भी बहुत कठिन हुआ था। यथासमय रिंडा के गर्भ से ओडिन के एक पुत्र हुआ। उसका नाम हुआ वाली (Vali)। यह कभी नष्ट न होनेवाले प्रकाश के देवता हैं। एक हिसाब से इन्हें क्रमशः बढ़नेवाले दिनमान का रूप कहना चाहिए। वाली जन्म लेते ही इतना बढ़ने लगे कि एक दिन में ही उनके सब अंग परिपूर्ण हो गये। तब विधाता के विधान के अनुसार वह विना मुँह धोये और विना बाल सँवारे धनुष-बाण हाथ में लिये आसगार्ड में आकर उपस्थित हुए और होडर की हत्या करके बाल्डर की हत्या का बदला चुकाया और इस प्रकार विधाता के विधान को पूरा किया।

मतान्तर में, मैथ्यू आर्नाल्ड के काव्य में कहा गया है कि, होडर ने फ्रीगा देवी के निकट अपने

हृदय की वेदना का वर्णन करके और फ्रीगादेवी के उपदेश के अनुसार हरमड को हेलादेवी के पास भेजकर अपने घर में आत्महत्या कर ली। बाद को बालडर के अन्तिम संस्कार के समय उनकी चिता पर दाहनी ओर नन्ना के शव को और बाईं ओर होडर के शव को रखकर उसमें आग लगा दी गई। किन्तु होडर की मृत्यु इस तरह मानने पर इसमें यह एक असंपूर्णता रह जाती है कि बालडर की हत्या के लिए होडर के प्रति किसी प्रकार के बदले की व्यवस्था नहीं होती। कोई पुराणकार ऐसी व्यवस्था के लिए शायद राज़ी न होगा। यह केवल कवि की कल्पना है। कवि ने यहाँ पर कविसुलभ कल्पना से काम लिया है, पुराण का अनुसरण नहीं किया।

अन्धा होडर बालडर की मृत्यु का निमित्तमात्र था। उसने जान-बूझकर हत्या नहीं की थी। तथापि वह ग्लानि के मारे मरा जा रहा था। भाई का शोक तो था ही। वाली के हाथ से मरकर वह आत्म-ग्लानि से छुटकारा पा गया और हेलादेवी के राज्य में जाकर भाई से भी मिला।

इस कथा को एक रूपक समझना चाहिए, जैसा कि प्रायः सभी पौराणिक कथाओं में होता है। इसका भावार्थ बिलकुल स्पष्ट है। बालडर प्रकाश और गर्मी के देवता थे और अन्धा होडर था अन्धकार का देवता। होडर के हाथ से बालडर की मृत्यु का अर्थ यह है कि प्रतिदिन दिन के अन्त में सूर्य अस्त होते हैं और अँधेरा छा जाता है। अथवा उत्तर प्रदेश के थोड़े दिन रहनेवाले ग्रीष्म-ऋतु के अन्त में सुदीर्घ शीत-ऋतु का आगमन इस रूपक से व्यक्त किया गया है। होडर के हाथ से बालडर की मृत्यु का अर्थ है अन्धकार के आने से प्रकाश का न रहना, अथवा शीत-ऋतु के आविर्भाव से वसन्त का न रहना। वाली के हाथ से बालडर की हत्या के बदले का अर्थ है रात के अन्त में सूर्य का फिर निकलना अथवा शीत के बाद वसन्त का फिर आगमन। शीत-ऋतु में चारों ओर बरफ़ जम जाती है; शीत के बाद वसन्त के आने पर वह बरफ़ गलने लगती है। तब वृक्ष, पल्लव, यहाँ तक कि पत्थर आदि से भी जल झरने लगता है; केवल कोयला मिट्टी के बहुत नीचे रहता है, जिससे उसे बरफ़ की शीतलता स्पर्श नहीं करती। उसके भीतर नमी नहीं आती। इसी का रूपक यह है कि बालडर के मरने की ख़बर सुनकर सभी ने आँसू बहाये, वृक्ष-पत्थर आदि तक ने, किन्तु दानवी थाक् नहीं रोई। थाक् और कोई नहीं, कोयला है।

नैतिक दृष्टिकोण से भी इस कथा की एक व्याख्या की जा सकती है। बालडर और होडर परस्पर विरुद्ध प्रकृति के थे। दोनों पाप और पुण्य माने जा सकते हैं। लोकी माया या पाप का आकर्षण है। वह सबको बहकाकर पाप में प्रवृत्त करती है।

नार्वे में बालडर के नाम पर कुछ उत्सव भी प्रचलित थे। उनमें प्रधान उत्सव उस दिन होता था, जिस दिन दक्षिणायन में दिनमान सब दिनों से बड़ा होता था। नार्वे के लोग इस दिन को बालडर की मृत्यु और पातालपुरी में प्रवेश करने का दिन मानते थे। प्राकृतिक हिसाब से भी इसी दिन से दिनमान घटने लगता है। उत्सव में सब लोग घर के बाहर एकत्र होकर तरह-तरह के आमोद-प्रमोद करते और आतशबाज़ी छुड़ाते थे। इस उत्सव का नाम था मिड समर्स ईव। आजकल मिड समर्स ईव ही सेन्ट जान्स डे हो गया है।

मास्टर उमादत्त सारस्वत 'दत्त'

साहित्य-रत्न त्रिवेदी पं० अखिलेश शर्मा काव्य-धुरीण

वाणी ममैव सरसा यदि रंजयित्री
न प्रार्थये रसविदामवधानदानम्।
सायन्तनासु मकरन्दवतीषु भृङ्गाः
किं मल्लिकासु परियन्त्रणमारभन्ते ॥

यदि मेरी वाणी सरस और मनोरंजक है तो रसज्ञों से तत्श्रवणार्थ प्रार्थना करने की आवश्यकता नहीं है, वे स्वयं उसका सम्मान करेंगे। भ्रमरों को अपने में आसक्त करने के हेतु मकरन्द-परिपूर्ण सायंकालीन मल्लिकाओं को क्या कोई उद्योग करना पड़ता है? वे तो स्वतः दौड़-दौड़कर उन पर टूटते हैं। गीतगोविन्दकार महाकवि जयदेव का यह कथन अक्षरशः सत्य है। कलात्मक कृति के लिए किसी से प्रार्थना नहीं करनी पड़ती; वह तो हृदय की वस्तु है, हृदयों में ही रहेगी। कविकुल-गुरु कालिदास के शब्दों में—"नहि प्रफुल्लं सहकार-मेत्य वृक्षान्तरं कांक्षति षट्पदालिः" प्रफुल्ल आम्र-वृक्ष का सामीप्य पाकर भ्रमर फिर अन्य वृक्ष की आकांक्षा नहीं करते। उसी प्रकार जहाँ जो चीज़ हृदय से चिपट जायगी; वह चाहे जिस भाषा की हो; प्यारी ही गिनी जायगी। उसी में प्राणों के लिए आनन्द है और वहीं वास्तविक अर्थ में कला है। कविता की कसौटी काव्य-रसिकों के हृदय हैं; ठाकुर बुन्देलखण्डी ने भी इसी की पुष्टि की है—

मोतिन की-सी मनोहर माल गुहै
तुक अच्छर जोरि रिझावै।
प्रेम को पन्थ कथा हरिनाम की
उक्ति अनूठी बनाय सुनावै॥
'ठाकुर' सो कवि भावै हमैं
जोइ भारी सभा में बड़प्पन पावै।
पंडित और प्रवीनन हू को
जो चित्त हरै सो कवित्त कहावै॥

एक उर्दू-कवि की भी सूक्ति है—

कीजिए आख़िर किसी से क्यों तलब दादेसख़ुन।
नग़मासंजी मिस्ले मुरग़ाने ख़ुशइलहाँ कीजिए।

कवियों को चिड़ियों की भाँति स्वगायन की श्लाघा का इच्छुक न होना चाहिए। वे तो शुश्रूषु जनों को स्वीय सरस-स्वरलहरी से आह्लादित करें; क्योंकि गाना तो उनका स्वभाव ही है। किन्तु किया क्या जाय, मौन रहने से काम नहीं चलता। इस प्रचार-युग में जिनका अभी साहित्य-विद्यालय में श्रीगणेश ही हुआ है; वे भी कवि-शिरोमणि काव्याचार्य बनकर प्राचीन कवियों को पछाड़ने की प्रतिज्ञा कर रहे हैं और इस कार्य में सहायक हैं उनके मित्र-गण। ऐसी धाँधली की परिस्थिति में प्रोपेगण्डा-शून्य, शिरसा-वन्द्य, वल्गुवचनावली के प्रशस्य लेखक, वाग्वाणी के सच्चे सेवक अपने न्याय-भोग, कीर्ति-पद से सर्वथा वंचित रह जाते हैं; हमारे इस लेख का यही प्रयोजन है।

हमारे प्रान्त सीतापुर की कवि-वाटिका में अनेक ऐसे सुरभित-सुकवि-सुमन विद्यमान हैं, जिनकी सुगन्धि से हिन्दी-संसार सम्यक् सुवासित है, परन्तु उनकी ओर हिन्दी-इतिहासकारों का ध्यान अब तक आकृष्ट नहीं हुआ है। कारण, हिन्दी-जगत् में दल-बन्दी का प्राधान्य है और है अनुसंधित्सा के प्रति आलस्य। नहीं तो जब 'मिश्रबन्धु-विनोद' के चतुर्थ भाग में ऐसे-ऐसे महाशयों की चर्चा है, जिन्हें कवि मानने में भी संकोच होता है, तब हमारे प्रान्त के प्रसिद्ध कवि एवम् लेखक मास्टर उमादत्तजी सारस्वत 'दत्त' का नाम क्यों नहीं है? इसका एक-मात्र कारण यही है कि हमारे दत्तजी का एकान्त-साहित्य-साधना ही ध्येय है। आप प्रत्येक वाद से पृथक् रहते हैं। आज मैं उन्हीं का परिचय साहित्य-संसार को करा रहा हूँ।

सीतापुर ज़िले में बिसवाँ एक प्राचीन क़सबा है जो सीतापुर से चौकाघाट जानेवाली ओ० टी० आर० लाइन पर बसा हुआ है और तम्बाकू तथा ताज़ियों के व्यापार के हेतु यह बहुत विख्यात है। यहाँ एक शकर-फ़ैक्टरी भी है। शिक्षा-क्षेत्र में भी यह छोटी बस्ती उन्नतिशील है; इसमें दो प्राइमरी स्कूल, एक मिडिल स्कूल, दो कन्या-पाठशालाएँ, एक गवर्नमेंट सेण्ट्रल

ट्रेनिंग और एक सेठ जयदयाल हाई-स्कूल है। कन्या-पाठशालाओं में एक गवर्नमेंट की है, जिसमें अपर मिडिल तक शिक्षा होती है। इन शिक्षा-संस्थाओं के अतिरिक्त एक ब्रह्मचर्याश्रम और एक संस्कृत-पाठशाला भी है।

जब से हिन्दी ने जन्म लिया है, तब से यह क़स्बा किसी-न-किसी कवि को अवश्य उत्पन्न करता रहा है। सं० १८४० वि० में चौधरी उमरावसिंह प्रतिष्ठित ताल्लुक़दार यहीं विद्यमान थे, जो बड़े ही उदार, गुणग्राहक और स्वयं भी कवि थे। उन्होंने स्वयं 'रस-चन्द्रिका' ग्रन्थ की रचना की थी। उनका निम्नांकित छन्द पठनीय है—

सीसा के सदन आय बैठे एक आसन पै,
बाढ़ै लागी हरष मनोरथ के धाम की।
चंचलता सुन्दर तमाल मनिमाल वारौं,
दुति दामिनी की अरु घन अभिराम की॥
सिन्धु-तन रूप की तरंगैं उठैं दोउन के,
भाखै 'उमराव' छबि लाजै रति-काम की।
ईस चित चोभा है, मुनीस मन लोभा लेखि,
को भा कवि कहै देखि सोभा स्यामा स्याम की॥

टेढ़ा बीघापुर ज़िला उन्नाव के ख्यातनामा ब्रज-भाषा के विदग्ध कवि सुबंस शुक्ल इन्हीं उमराव-सिंहजी के आश्रित थे। उन्होंने सं० १८६४ वि० में उमरावसिंह के नाम पर 'उमराव-कोश', 'उमराव-शतक' और 'उमराव-प्रकाश' का निर्माण किया था। भारतेन्दु हरिश्चन्द्र के अभिन्नहृदय मित्र स्व० सेठ सीताराम साहब ताल्लुक़दार (राजा महेश्वरदयाल के प्रपितामह) इसी बिसवाँ के वासी थे। काव्य-सुधाधर के यशस्वी सम्पादक, कवि-मण्डल बिसवाँ के संचालक स्व० पं० देवीदत्त त्रिपाठी 'दत्तद्विजेन्द्र' यहीं के मुहल्ला झझ्झर में रहते थे। अर्वाचीन काल में स्व० रत्नाकरजी के सुशिष्य, ब्रज-भाषा के मधुर कवि ठा० त्रिभुवननाथसिंह 'सरोज' बिसवाँ ही के हैं। दत्त-द्विजेन्द्र के समकालीन पं० रामदुलारे सुकुल 'गुरुसन्त' तथा खड़ी बोली के सुकवि युवक कवि पं० रामसुख त्रिपाठी 'रसाल' यहीं की विभूति हैं। उर्दू के प्रसिद्ध कवि ज़िगर और उनके सुशिष्य बासित का जन्मदाता यही बिसवाँ है।

बिसवाँ में खत्रियों की बस्ती होने के कारण सारस्वत ब्राह्मणों की बहुल संख्या है। इसी बिसवाँ में पं० रामदास नाम के एक साधुस्वभाव सुधी, सदाशय, सारस्वत सज्जन रहते थे। उन्हीं के घर में भाद्रपद सं० १९६२ वि० को दत्तजी का जन्म हुआ था। आपने यहीं के सेठ जयदयाल हाई-स्कूल से सं० १९८४ वि० में इंट्रेंस पास किया था और सं० १९८९ वि० से उसी हाईस्कूल में हिन्दी-अध्यापक हैं। आपको हिन्दी, अँगरेज़ी के अतिरिक्त संस्कृत और उर्दू का भी ज्ञान है। पिता के पांडित्य का प्रभाव आप पर भी पड़ा है। सं० १९८१ वि० से आप काव्य-रचना करते हैं। आपकी रचनाएँ प्रायः खड़ी बोली ही में प्रणीत हुई हैं, जिनकी व्यंजना-प्रणाली प्राचीन ही अर्थात् कवित्त, सवैयों-वाली है। उसमें भी सवैया छन्दों की अधिकता है, जो अपनी सुबोधता और सरसता के कारण लोक-प्रिय हैं तथा पढ़ते ही पाठकों के हृदयों पर चिरस्थायी प्रभाव डालकर मौलाना हसरत मोहानी के निम्नांकित शेर को सार्थक करते हैं—

शेर दरअस्ल है वही 'हसरत'।
सुनते ही दिल में जो उतर आये॥

आपकी कविता में नवीन प्रवाह का प्रभाव होने से विशेष आकर्षण है। अवांछनीय अलंकारों के भार से उसका कलेवर आच्छादित नहीं कर दिया गया है और बलात् माधुर्य तथा अनुप्रास लाने का प्रयत्न कहीं भी लक्षित नहीं होता। उसकी भाषा भी आजकल की बोलचाल की भाषा है जो परिष्कृत और व्याकरण के नियमों से संयत है। वर्णित विषय का चित्र नेत्रों के सामने प्रस्तुत कर देना आपकी विशेषता है। 'बाल-विधवा' पर हिन्दी के अनेक कवियों ने अपनी कल्पना की उड़ानें भरी हैं, जिनमें व्यर्थ आह-ऊह की ही प्रधानता है और कृत्रिमता का अवलम्बन लेकर पाठकों को वास्तविक तथ्य से दूर रखने की चेष्टा की गई है, परन्तु आपकी 'बाल-विधवा' में हृदय उद्वेलित करनेवाली सामग्री प्रस्तुत है और पदे-पदे स्वाभाविकता, सरसता के दर्शन होते हैं। उसमें एक टीस विद्यमान है। देखिए—

चूड़ियाँ सुहाग की पिन्हाईं सखियों ने कब,
जाने घड़ी कौन-सी थी चौक पर आने की।
नाइन ने पैरों में महावर लगाया कब,
नौबत हुई न हाय! फिर जो लगाने की॥
माँग में भरा था कब सेंदुर सुहागिनों ने,
भाँवरें पड़ी थीं कब एक अनजाने की।
हाय! गठ-बन्धन कराया पंडितों ने कब,
लौट के न आई घड़ी दुलहन कहाने की॥

ब्याह के समय कन्या जिन-जिन शृंगारों से शृंगारित करके सोहागिन की जाती है; विधवा होने पर वह उसी का स्मरण करके पश्चात्ताप कर रही है। उपर्युक्त घनाक्षरी में दत्तजी ने बाल-विधवा की मनोवेदना का कितना सजीव चित्रण किया है। भव्य कविता के आगे-आगे थिरकता हुआ चल रहा है; शब्दावली कोमल तथा मनोमोहिनी है; उसके समझने में पाठकों को कोई कष्ट नहीं उठाना पड़ रहा है।

मज़ा कहने का जब है इक कहे और दूसरा समझे।
अगर अपना कहा ख़ुद आप ही समझे तो क्या समझे॥

यह कला हिन्दी-जगत् में ठा० गोपालशरणसिंह के बाद यदि किसी को प्राप्त है तो वह आप ही को। हमारा पाठकों से अनुरोध है कि वे एक बार इसे सुललित गिरा से पढ़ जावँ और तब इसका निर्णय करें कि हमारे कथन में कितनी सत्यता है।

विधवा होने के पूर्व ब्याह के समय उसकी क्या-क्या अभिलाषाएँ थीं; यदि यह जानने की इच्छा हो तो उसी के मुख से सुनिए—

सोचती थी मैं भी कभी सोलहों सिंगार कर,
और सखियों की भाँति ससुराल जाऊँगी।
सास की ससुर की ननँद की दुलारी बन,
मैं भी हृदयेश्वरी किसी की कहलाऊँगी॥
मेरा भी किसी पै अधिकार कुछ होगा कभी,
विश्व में किसी को हाय! मैं भी अपनाऊँगी।
मन की रही है मन ही में छिपी हाय-हाय!
जानती नहीं थी मैं कभी यों दुःख पाऊँगी॥

चतुर्थ चरण में 'मन की मन में रह जाना' कह करके आपने अपनी सूक्ष्मदर्शिता का परिचय दिया है। इसमें कितनी विवशता है जिसको सहृदय ही समझ सकते हैं। विधवा होने पर उसके साथ जो व्यवहार किया जाता है; उसकी जो दशा होती है; उसका मार्मिक चित्रण नीचे के छन्द में चित्रित है—

टूट गया स्नेह, सखियों का साथ छूट गया,
फूट गया भाग्य हाय! लूट गया सारा सुख।
जननी-जनक की थी आँख की जो पुतली-सी,
हाय! उनका भी अब और ही गया है रुख॥
कल ही बनी थी हार जिनके गले का अहो!
पीठ फेरते हैं आज वे ही देख मेरा मुख।
जाने क्यों अभागिनी बताते मुझको हैं लोग,
कोई तो बताओ किसे अपना सुनाऊँ दुख॥

उपर्युक्त छन्द की बारीकियों पर वाचक ध्यान देने की कृपा करें। इसके प्रत्येक चरण में कोई-न-कोई मुहावरा अवश्य विद्यमान है। जैसे 'भाग्य फूटना', 'आँख की पुतली होना', 'रुख़ और होना', 'गले का हार बनना', 'पीठ फेरना', इतने मुहावरों का एकत्र कर देना वस्तुतः कारीगरी है। ये पंक्तियाँ कितने मार्के की हैं। वही माता-पिता जो अपनी कन्या को आँख की पुतली समझते थे; विधवा होते ही उनका रुख़ बदल गया। जो लोग उसका प्यार करते थे; अब मुख देखना भी पाप समझते हैं; प्रत्युत उसकी ओर से पीठ फेर लेते हैं; उसका दुःख सुननेवाला कोई नहीं है; कैसा दयनीय वर्णन है।

सौभाग्यवती स्त्रियाँ प्रायः अपने मस्तकों पर सिन्दूर की बिन्दियाँ लगाती हैं। उनकी बिन्दियों को कौन मनुष्य नहीं देखता? परन्तु लोगों की और हमारे दत्तजी की दृष्टि में अन्तर है। दत्तजी उसके दर्शन से सन्देहालंकार की कितनी सुन्दर सृष्टि करते हैं जो पठनीय है—

इन्द्र के धनुष बीच की है लालिमा सुखद,
दीपक धरा है या कि कंचन के थाल में?
कोई लाल पंकज खिला है रूप-सागर में,
लाल आ फँसा है या तुम्हारे नैन-जाल में?
मंजुल गुलाब पर लाल तितली है 'दत्त',
माणिक जड़ा है या कि आनन विशाल में?
बोलो मौन धारे कौन रूप है अनूप यह,
बाले! जो तुम्हारे लाल बिन्दी लगी भाल में?

× × ×

श्याम-श्वेत पंकज समीप लाल कंज खिला,
प्रतिबिम्ब बाल-रवि का है या निराला यह?
कालिमा मयंक की बदल लालिमा में गई,
विहँस रहा है या कि ऊषा का उजाला यह?
कौस्तुभ सुमणि रूप-सिन्धु का यही है 'दत्त',
चाँद में धरा है या सुधा का भरा प्याला वह?
लोक के विजय का प्रत्यक्ष है तिलक या कि,
भारतीय देवियों का भूषण है आला यह?

दत्तजी एक भावुक, सरस-हृदय एवम् प्रतिभाशाली कवि हैं। आपकी कल्पना-प्रसू लेखनी प्रत्येक विषय पर अच्छे जौहर दिखाती है। आपकी समस्त रचनाओं में प्रसाद है, प्रवाह है, प्रांजलता है, प्रभावोत्पादकता है और है एकरसता। उनमें मुहावरों का

ज़ोर है और प्रसादगुण तो मानो कूट-कूटकर भरा है। ऐसी सरस, सरल, प्रवाहपूर्ण एवम् प्रासादिक रचनाएँ अन्यत्र विरल हैं। आपकी कविताओं को पढ़ते समय संस्कृत की यह सूक्ति हठात् स्मरण हो आती है—

यानेव शब्दान् वयमालपामः
यानेव चार्थान् वयमुल्लिखामः।
तैरेव विन्यासविशेषभव्यैः
सम्मोहयन्ते कवयो जयन्ति॥

सीधे-सादे शब्दों में गम्भीर-से-गम्भीर भावों को आपने बड़े कौशल से व्यक्त किया है। आपने सफल भावाभिव्यक्ति से समीपता स्थापित की है, जिसका प्रमाण आपकी 'शिशु से' शीर्षक एक लम्बी कविता है जो कमनीय-कल्पना और तन्मयता से ओत-प्रोत है तथा स्वच्छन्द धारावाहिकता के कारण हृदय में एक स्पन्दन उत्पन्न कर देती है। उसके दो छन्द देने का लोभ हम संवरण नहीं कर सकते—

यह माधुरी है कहाँ पाई कहो
जो वसुन्धरा पै सुधा घोलते हो?
लग जायगी दृष्टि किसी की अरे!
मन क्यों किसी का यों टटोलते हो?
इतनी शिशु! मंजुलता लिये क्यों
कल-कण्ठ से बोलो किलोलते हो?
मन मोहते हो किसका न अहो!
तुतला-तुतला जब बोलते हो?
कुछ भी तो कहो अरे लाड़िले! यों
महामोहनी डालना सीखा कहाँ?
तुम कोमल हो अनजान बड़े
शुचि-प्रेम का पालना सीखा कहाँ?
कर देते न बेसुध हाय! किसे
सुरा कौन-सी ढालना सीखा कहाँ?
शिशु! यों जननी के छिपे मन के
अरमान निकालना सीखा कहाँ?

आपकी 'रोको मत' शीर्षक एक कविता देखिए; जिसमें आपने अपनी मस्ती उड़ेल दी है—

कहता हूँ कथा जो सुनो उसको
मत रोको अरे! कहने दो मुझे।
मिटता है इसी में मज़ा मुझको
इससे दुख ही सहने दो मुझे॥
पड़ प्रेम के हाय! अथाह-समुद्र में
रोकते क्यों? बहने दो मुझे।
उस रूप की माधुरी पी करके
बस यों ही पड़ा रहने दो मुझे॥
तुम छोड़ दो पागल ही कहके
धुन जो लगी है धुनने दो मुझे।
बस और प्रसंग न छेड़ो यहाँ
उनकी ही कथा सुनने दो मुझे॥
यह प्रेम का तागा निरन्तर ही
मन-मन्दिर में बुनने दो मुझे।
रहने दो इकन्त में नाम सखे!
उनके गुन ही गुनने दो मुझे॥

अब आपका 'पश्चात्ताप' भी देखिए—

हम सोचते थे हा! सदैव समोद
कि मानस-पुष्प खिलेगा कभी?
बरसों का फटा हुआ हाय! उरस्थल
'दत्त' हमारा सिलेगा कभी?
पर भाग्य में है दुख ही जिसके
उसको सुख कैसे मिलेगा कभी?
उफ़ कंटकों का हमें ज्ञान न था
कि यहाँ यों शरीर छिलेगा कभी?

कवि-जगत् में सम्प्रति परिचय देने की धूम मची हुई है। स्यात् ही कोई ऐसा अभागा कवि होगा, जिसने अपना परिचय न दिया हो। तब फिर हमारे 'दत्त'जी इससे विरत कैसे रह सकते थे। आपने जो स्वपरिचय दिया है, उसमें अनिर्वचनीय अनूठापन है। उसे हम पाठकों के मनोविनोदार्थ नीचे दे रहे हैं—

जिसमें भरी मोहकता रहती
उस चंचल-सिन्धु का कूल हूँ मैं।
सुरमा बन जो नयनों में लगी
वह प्रेमियों की पद-धूल हूँ मैं॥
बसता जो वियोगियों के उर में
वह सौख्य-प्रदायक शूल हूँ मैं।
कुछ मोल न जानता हूँ अपना
बन ही में खिला हुआ फूल हूँ मैं॥
बनबासी मयूर का नृत्य हूँ मंजुल
कोयल का मृदु बोल हूँ मैं।
उनमाद हूँ यौवन का मैं अहो!
शिशुओं की अबोध किलोल हूँ मैं॥
मुसकाने में मानव के जो बसी
वह मादकता बिना तोल हूँ मैं।

उर की छिपी बात जो देते बता
वह आँसू महा अनमोल हूँ मैं ॥
रहती जो निरन्तर लोचनों में
उस चाह की भीषण प्यास हूँ मैं ।
अनमोल है जो दुखियों के लिए
उस स्वप्न की सुन्दर श्वास हूँ मैं ॥
निकला करती जो प्रकम्पित हो
वह प्रेम की ठण्डी उसास हूँ मैं ।
दिखलाती अतीत को सामने जो
उस सुस्मृति का इतिहास हूँ मैं ॥

चुपचाप जो आती उरस्थल में
वह व्याकुलता सुकुमार हूँ मैं ।
मधु-प्यालियाँ जो ढलकाता सदा
लघु जीवन का वह प्यार हूँ मैं ॥
जिनमें बँधा मानव-जीवन है
उन बेड़ियों की झनकार हूँ मैं ।
तिमिरावृत-मानस में जो छिपी
उस आह की सच्ची पुकार हूँ मैं ॥

मदिरा छलका करती जिसमें
उस नेत्र की आभा अमन्द हूँ मैं ।
जिससे है प्रकाशित जीवन-व्योम
निराश्रितों का वह चन्द हूँ मैं ॥
विधि ने बिना मोल लुटाया जिसे
अनमोल वही मकरन्द हूँ मैं ।
मन-मानस से जो स्वयं उमड़े
रचता वही मंजुल छन्द हूँ मैं ॥

संसार के प्राणिमात्र माता-प्रकृति की क्रोड में पले हुए हैं; उससे उनको जीवन-यात्रा तथा मनोरंजन की प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है; उसके प्रति प्रेम प्रदर्शित करना सबका प्रमुख कर्तव्य है। हर्ष की बात है कि हमारे दत्तजी ने भी प्रकृति पर प्रेम प्रदर्शित करके उसका यथातथ चित्रण किया है और उसको वास्तविक रूप में देखा है। आपने 'सरिते!' शीर्षक एक लम्बी कविता लिखी है; उसके कुछ छन्द द्रष्टव्य हैं—

जिसका कुछ आदि न अन्त है क्यों
उस द्रौपदी चीर-सी हो रही हो ?
पड़ता पग आगे तुम्हारा सदा
किस हेतु यों वीर-सी हो रही हो ?
चलती अँधाधुन्ध हो दौड़ती क्यों
निकले हुए तीर-सी हो रही हो ?
अपनी अड़ पै ही अड़ी हुई हा !
सरिते! क्यों अधीर-सी हो रही हो ?

कर नर्तन मंजुल अप्सरा-सी
किसका मन यों हरती रहती हो ?
शशि को किस नाते बिठा उर में
अठखेलियाँ यों करती रहती हो ?
नित प्रेम से ऊषा मनोहरा को
अरी ! अंक में यों भरती रहती हो ?
मुड़ के कभी देखती पीछे न क्यों
सरिते ! कहो क्यों डरती रहती हो ?

धर रूप सती का तजे पितु-गेह
तरंगित हो क्यों उमाहती हो ?
किसको बरने के लिए कहो तो
प्रण घोर किया, किसे चाहती हो ?
मग रोकते हैं जो तुम्हारा अड़े
उन पादपों को द्रुत ढाहती हो ?
फुफकारती हो क्यों समीर छुये
क्या पतिव्रत धर्म निबाहती हो ?

लख दूर ही से प्रिय अम्बुधि को
इतनी क्या भुजाएँ बढ़ाने लगीं ?
वह मान-गुमान कहाँ गया जो
अब शान्त स्वरूप दिखाने लगीं ?
उसकी छवि-जाल में आप ही क्यों
सरिते ! अपने को फँसाने लगीं ?
मन चाहा हुआ मनमोहन था,
मन-माणिक क्यों यों लुटाने लगीं ?

इसी प्रकार हमारे इस भावुक कवि ने 'उषा सुन्दरी' 'सन्ध्या' 'चन्द्र-किरण' 'भौंरा प्रभात' 'बिजली' 'बसन्त' और 'मयूर' इत्यादि पर बहुत सुन्दर रचनाएँ की हैं, पर उनमें से स्थानाभाव के कारण हम केवल आपकी कल्पना-जन्य कविता 'बिजली' से दो छन्द नीचे देकर सन्तोष करते हैं—

छिटकाये लटें घन-पंक्तियों के मिस
क्यों इतनी तड़पा करती हो ?
अथवा तुम कोई वियोगिनी हो
विरहानल में जो तपा करती हो ?

घन-गर्जना है डरपाती तुम्हें क्या
निरन्तर जो यों कँपा करती हो ?
हृदयेश्वरी हो या किसी छली की
जिसका बस नाम जपा करती हो ?
घिर जातीं कभी घन-घेरियों में
कभी दूर खदेड़ दिया करती हो।
तिरछी बरछी उर मारती हो
किसका बदला यों लिया करती हो ?
बढ़ता सदा जोश तुम्हारा अरी !
यह कौन-सी हाला पिया करती हो ?
बन चण्डिका-सी घन-दानवों से
क्यों निरन्तर युद्ध किया करती हो ?

जगज्जननी जानकीजी रावण द्वारा लंका की अशोक-वाटिका में वन्दिनी हैं। सन्ध्या होते ही वियोगियों का वैरी चन्द्रमा उदय हुआ ; उस समय भगवान् राम का ध्यान आते ही उनके विरह में उसका जैसा प्रभाव उन पर पड़ा, उसका वर्णन वे त्रिजटा से कर रही हैं—

वह तो बरसाता सुधा था सदा
यह फूँकता देह मचा रहा द्वन्द है।
वह तो सुखदायक शीतल था
सजनी ! इसमें कितना छलछन्द है ?
वह तो था सजाता वसुन्धरा को
इसमें कहाँ ज्योति है ? ये महामन्द है।
इस वाटिका का है मयंक वही
या हलाहल से भरा दूसरा चन्द है ॥

दत्तजी ने हास्य-रस के क्षेत्र में भी कुछ लेखनी संचालित की है और वे उसमें कृतकार्य भी हुए हैं। उनकी 'कानी आँख' 'भँगेड़ी' और 'शराबी' आदि कतिपय कविताएँ हैं। हम आपकी 'शराबी' कविता से केवल एक छन्द नीचे देते हैं, जिससे विज्ञ वाचक उनकी योग्यता का पता लगा सकें—

ज्ञानी सूफ़ियों की मरती है देख-देख मुझे,
जाम और बोतल भी जब चूमता हूँ मैं।
रखता नशे में हूँ न जल-मदिरा में भेद,
देता दाम दोनों के न लाता सूमता हूँ मैं ॥
तन की बदन की न सुध रहती है मुझे,
नालियों, पनालियों में बैठ झूमता हूँ मैं।
एक बार शैशव का सुख मिलता है फिर,
बेसुध-सा होके जब नंगा घूमता हूँ मैं ॥

अब 'भँगेड़ी' की भी एक उक्ति सुनिए—
छानता हूँ दूधिया ही शाम औ सवेरे गो कि,
तन पर मेरे एक केवल लँगोटा है।
लेके करना ही क्या मुझे है और कोई वस्तु,
मेरे लिए काफ़ी बस फूटा हुआ लोटा है ॥
भक्त भंग का हूँ किसी बात की न परवाह,
बन्दा किसी बात में किसी से भी न छोटा है।
विजया भवानी की कृपा है सत्य मानो तुम,
सिल भी नहीं है बस कूँड़ी और सोंटा है ॥

कवि पर देश-काल की परिस्थिति का प्रभाव अवश्य पड़ता है। वह अपने युग का प्रतिनिधि होता है। उसके समय में जैसी विचार-धारा बह रही हो, जैसी घटनाएँ घट रही हों, उनसे वह अपनी आँखें कैसे बन्द कर सकता है। उनका वर्णन उसके लिए अनिवार्य है। वह देश-कालरूपी भूमि में अनुभव-रूपी गम्भीर खान खोदकर कल्पना-मणि निकालता है। पाठकों को स्मरण होगा, सन् १६२४ ई० में केन्द्रीय असेम्बली में डा० देशमुख का 'तलाक़ बिल' प्रस्तुत हुआ था। उस समय उसका देश-व्यापी घोर विरोध होने से वह पास न हो सका था, परन्तु देश के दुर्भाग्य से अब की बार वह पास होकर ही रहा। इस तलाक़-प्रथा के विरुद्ध सबसे प्रथम हमारे दत्तजी ने ही विद्रोह किया था। आपने भारतीय देवियों का कितना सुन्दर चित्र खींचकर इसकी भर्त्सना की थी। आपने इस पर कोई एक दर्जन छन्द लिखे हैं ; पर स्थानाभाव से हम कुछ ही नीचे दे रहे हैं—

जिन भारत देवियों ने न कलंक
चरित्र में नेक लगाने दिया।
द्रुत दे दिये प्राण सहर्ष परन्तु
पतिव्रत धर्म न जाने दिया ॥
इतिहास के पृष्ठ भरे पड़े हैं
कभी धर्म पै धब्बा न आने दिया।
उस जाति में भी हो तलाक़-प्रथा,
उर में क्यों अरे ! ये समाने दिया ॥

यह भारतवर्ष जो आज संसार में सर्वश्रेष्ठ माना जा रहा है, उसका एकमात्र कारण यहाँ की नारियाँ ही हैं। बाल-ब्रह्मचारी और पतिव्रता-स्त्रियाँ यदि किसी देश और जाति में मिल सकती हैं तो वह हिन्दुस्थान और हिन्दू-जाति में ही मिल सकती हैं—

इन भारत-देवियों ही की बदौलत
देश की लाज बची हुई है।

इस भूमि की उज्ज्वलता अब भी
नज़रों में सभी की ऊँची हुई है ॥
उस जाति में कैसी तलाक़-प्रथा
जो सुवर्ण समान तची हुई है ।
करने की नहीं यों अधर्म कभी
परतन्त्रता से गो लची हुई है ॥

तीसरी पंक्ति कितनी सुन्दर है, स्वर्णसमान तची हुई हिन्दू-जाति में भी तलाक़-प्रथा का होना शोचनीय बात है, परन्तु पराधीन होने पर भी यह जाति अधर्म नहीं करेगी और शारदा-ऐक्ट की तरह यह बिल भी किताब में लिखा रह जायगा ।

आगे आप लीडरों को सम्बोधित करके सदुपदेश देते हैं—

उस पश्चिमी सभ्यता में न पड़ो
जहाँ प्रेम का पंथ बजार-सा है ।
नर-नारियों का बिकता जहाँ रूप है
ब्याह वहाँ व्यभिचार-सा है ॥
प्रिय-प्रेमिका को बहकाना फँसाना
जहाँ अख़बारी प्रचार-सा है ।
उस देश की भाँति तलाक़-प्रथा
का रिवाज यहाँ कुविचार-सा है ॥

तलाक़ किन देशों के लिए उचित है, यह भी पढ़िए—

जिस देश में वासना-तृप्ति का साधन
प्रेम कहाता अनूपम है ।
उस देश में ठीक तलाक़-प्रथा
मचता जिसमें सदा ऊधम है ॥
मिलके फिर हो जो वियोग ही तो
वह प्रेम हा ! कैसा महाधम है ।
धनि भारत देश का प्रेम-मिलाप
जो सागर औ सरिता सम है ॥

प्रेम वही है जो सागर और सरिता के समान हो और उसमें फिर वियोग के लिए स्थान ही न हो । भारतीय देवियों का आदर्श सदैव से कैसा रहा है, उसे पढ़कर शिक्षा ग्रहण कीजिए—

जिस भारत देश की देवियाँ मंजुल
चूड़ियाँ चार ही चाहती हैं ।
बस माँग का सेंदुर दूर न हो
इस पै ही सुभाग्य सराहती हैं ॥
जिनका इतना बढ़ा ज्ञान है जो
पति की कहा के ही उमाहती हैं ।
उस जाति में कैसी तलाक़-प्रथा
जहाँ नारियाँ धर्म निबाहती हैं ॥

यदि देश के दुर्भाग्य से कहीं यह बिल पास हो गया तो इसमें क्या अवगुण हैं, इससे हिन्दुत्व का कैसा विनाश होगा, उसे आप ही के शब्दों में सुनिए—

यदि होगा रिवाज वही यहाँ भी
वही फ़ैशन क्या ये चहेंगी नहीं ?
पति ही करेंगे घर के सभी काम
तलाक़ दे ये तो रहेंगी नहीं ॥
पहले पति जाँचने को घर के घर
जाये बिना निबहेंगी नहीं ।
यदि होगी कमी किसी बात में तो
पति दूसरा क्या वे गहेंगी नहीं ?

जिस प्रकार इँगलैंड इत्यादि देशों में ट्रायल मैरिज की प्रथा है, जिसमें स्त्री-पुरुष एक दूसरे को जाँचने के लिए छः-छः महीने तक दम्पति के रूप में रहते हैं और इस तरह से जब तक वे अपने मन का जोड़ा नहीं ढूँढ़ लेते, ऐसा ही जीवन व्यतीत करते रहते हैं, उसी प्रकार यहाँ भी होगा—

पति बीबियों को नहीं रोक सकेंगे
"अरी क्लब में मत जाया करो ।"
बनिता कह देगी महाशय ! यों
हमें आँख न ज़्यादा दिखाया करो ॥
तुमसे बढ़ के यहाँ प्रेमी अनेक
मिलेंगे, न शान जताया करो ।
यदि चाहते हो रखना हमें तो
घर में शिशुओं को खिलाया करो ॥

इस तलाक़-प्रथा से क्या हानि है, तनिक इस पर भी ध्यान दीजिए—

इस देश की देवियों की समता
पुरुषों ने कभी कर पाई नहीं ।
बलिदान जो होता न नारियों का
कहीं चोटियाँ देतीं दिखाई नहीं ॥
बढ़के हा ! घटाना सुधर्म को यों
इस मूर्खता में है भलाई नहीं ।
धँस जायगा देश रसातल में
जो तलाक़-प्रथा यहाँ आई नहीं ॥

आजकल के नेता स्वदेश-सुधार के लिए बहुत व्यग्र हैं ; परन्तु वे उसकी अधोगति के मूल कारण का अनुसन्धान नहीं करते । यदि वे चाहते हैं कि

सचमुच समाज-सुधार हो और भारत का कल्याण हो जाय तो वे दत्तजी की बताई हुई निम्नांकित सम्मति पर चलें—

इस योग्य अयोग्य के ब्याह ही से
उठते हैं भयंकर द्वन्द्व सभी।
फल है ये अविद्या अभागिनी का
जो सिखाती हमें छलछन्द सभी॥
अब ऐसा प्रचार करें जिससे
अनमेल विवाह हों बन्द सभी।
पर नाम न लें यों तलाक़-प्रथा का
करायें हँसी मतिमन्द सभी॥
यदि विद्या-प्रचार सनातन-सा
फिर से इस देश में जारी करें।
बन जाय तो दम्पति-जीवन स्वर्ग
हँसी फिर यों न अनारी करें॥
उड़ जायगी आप तलाक़-प्रथा
इतना कहा जो शिखाधारी करें।
फिर वैदिक धर्म से प्रेम करें
शुभ कर्म सभी नर-नारी करें॥

कैसे शोक की बात है कि शिखाधारी हिन्दू ही ऐसे अनर्थकारी बिल असेम्बली में उपस्थित करके वैदिक धर्म पर कुठाराघात कर रहे हैं। उनको चाहिए कि वे देश को प्राचीन प्राच्य पद्धति पर शिक्षित करें और पाश्चात्य सभ्यता को तिलांजलि दे दें तो भविष्य में ऐसे अनिष्टकारी बिलों की आवश्यकता ही नहीं पड़ेगी।

हमारे दत्तजी ने 'नौजवान' की जो परिभाषा की है; अब ज़रा उसकी भी बानगी लीजिए—

होके वज्र-सा जो मेटता है दुखियों के क्लेश,
देश-द्रोहियों की जड़ खोद के बहाता है।
देख के अनीतियों को खौल उठता है खून,
बैरियों के सामने जो शीश न झुकाता है॥
सिंह-सा दहाड़ता है जाके समराङ्गण में,
क्रान्ति के विचित्र गीत मस्त हो सुनाता है।
धन्य है सपूत जो न माता का लजाता दूध,
ऐसा देश-भक्त नौजवान कहलाता है॥
खोता है न शान, जान देता है समोद सदा,
झेलना महान क्लेश जिसको सुहाता है।
तोड़ परतन्त्रता की बेड़ियाँ स्वतन्त्र होता,
लाज अबलाओं की सबल हो बचाता है॥
लोभ-मोह से विरक्त रहता प्रसन्नमन,
वासना से दूर रहना ही जिसे भाता है।
धन्य नौजवान नौ जवान के बराबर जो,
ऐसा नौजवान ही अमर-पद पाता है॥

पं० केदारनाथ त्रिवेदी 'नवीन' सहायकाध्यापक मिडिल स्कूल बिसवाँ भी सीतापुर प्रान्त के प्रसिद्ध कवियों में हैं। उन्होंने 'काग और कोयल' शीर्षक एक कविता लिखी थी; जिसमें उन्होंने काग की वकालत करके उसको कोयल से श्रेष्ठ सिद्ध किया था। उसके उत्तर में हमारे दत्तजी ने भी 'कोयल और काग' शीर्षक एक कविता लिखकर उसका उत्तर दिया था, जिसमें आपने कोयल का युक्ति-युक्त पक्ष लेकर उसको काग से उत्तम ठहराया था। हम उस कविता के केवल दो छन्द नीचे देते हैं—

गुण कोयल के तुम जानोगे क्या
कटु-कर्कश वाणी उचारा करो।
विधि ने लिखा भाग्य में जो है मसान
वहीं दिन जाके गुज़ारा करो॥
फल क्या करोगे तुम खाकर काग,
कुभोजन का ही सहारा करो।
पिक से क्या तुम्हारी भला समता
मन में कभी तो ये विचारा करो॥
विपिनस्थली की वह सुन्दरी देवी
सुधा-रस है बरसाती सदा।
कल-कण्ठ से कूजती बाटिका में
सुरलोक का दृश्य दिखाती सदा॥
मन मोहती है जगतीतल का
स्वर पंचम गान सुनाती सदा।
तरु-पल्लवों से इठलाती सदा
जहाँ जाती छटा छिटकाती सदा॥

हमारे दत्तजी का विचार-क्षेत्र विस्तृत है। आपने कैसे, गीता, बक, जीवन-धन, कवित्ते, तुम्हारी मुस्कान, एक मछली की अंतिम प्रार्थना, दुखिया, चाह, पनघट, पुजारिन, कामना, मातृभूमि, दीन-बन्धु इत्यादि पर अच्छी कविताएँ लिखी हैं। आपकी ४२ कविताओं का एक संग्रह 'किरण' नाम से प्रकाशित हो चुका है। साहित्यिक रुचि-वाले उसे अवश्य पढ़ने की कृपा करें। उसमें बड़ी ही सुन्दर उद्भावनाएँ हैं। इसके अतिरिक्त आपका 'कोकिल' (काव्य-संग्रह), 'प्रवासी पति' महाकाव्य और 'मिलन' नाटक अभी अप्रकाशित हैं। आपने आलो-

चना-क्षेत्र में भी प्रशंसनीय परिश्रम किया है। आजकल के नवीन कवि सस्ता बाज़ारू भावुकता से भूषित साहित्य जनता को भेंट कर रहे हैं, जिसमें नग्न वासनाओं का वीभत्स नर्तन और छन्द के नाम पर स्वतन्त्रता का पाठ है, जिसे हिन्दी-प्रकाशक प्रकाश में ला रहे हैं। आप उनके विरुद्ध 'जागृति' में बहुत वर्षों तक 'मस्तराम का सोंटा' शीर्षक स्तम्भ में लिखते रहे हैं। वर्तमान समय में कवि-सम्मेलनों की जैसी छीछालेदर हो रही है, उस पर भी आपने लेख लिखे हैं। इसके सिवा आपने मस्तराम का चिट्ठा (व्यंग्य समालोचना) और माधव-कहानी-संग्रह पुस्तकें प्रणीत की हैं। आप कहानी लिखने में भी चतुर हैं। यह पुस्तक उन्हीं कहानियों का संग्रह है, किन्तु आर्थिक कृच्छ्रता के कारण यह सब सामग्री अमुद्रित है। इस प्रकार आप निस्स्वार्थ भाव से साहित्य-सेवा में संलग्न हैं। आप बड़े ही शान्त स्वभाव के मिलनसार सज्जन हैं। सीतापुर के कवियों में आपका प्रमुख स्थान है। हमारी ईश्वर से प्रार्थना है कि वह दत्तजी को चिरायु प्रदान करे, जिससे वे अधिकाधिक हिन्दी-माता की सेवा करने में समर्थ हो सकें। यदि हमारा यह लेख 'माधुरी' के पाठकों को रुचिकर प्रतीत हुआ तो भविष्य में हम "सीतापुर के कुछ कवि" शीर्षक लेख उनकी सेवा में प्रस्तुत करेंगे, जिससे वे सीतापुर की हिन्दी-सेवा से परिचित हो जायँ।

शंकर-स्तवन

श्रीप्रणयेश शुक्ल

(१)

मस्तक पै चन्द्रमा विराजता है चन्दन-सा,
भक्तों के हृदय में उसी का उजियाला है;
देता है अभयदान बात यह मानी हुई
जिस वरदानी का विचित्र बोलबाला है।
'प्रणयेश' महिमा महान उस शंकर की
जिसकी कृपा का कण अमृत का प्याला है;
जिसकी जटा में स्वच्छ गंगा राजती है जैसे
विद्युत् छटा-सी मालती की मंजु माला है।

(२)

तेरे दण्डपाश का सदैव रहता है ध्यान,
ज्ञात भली भाँति है भयानकता वेश की;
क्रूरता की कठिन कहानी सुन के भी काल,
हूँ न तू भयभीत, कब चिन्ता मात्र-क्लेश की।
'प्रणयेश' उस अविनाशी के प्रसाद ही से
क्षमता मिली है मुझे अखिल धनेश की;
कुशल इसी में है अशिव आवरण छोड़
कर ले वरण तू भी शरण महेश की।

और उसने
लाइफ़बॉय की
आदत सीखी है!
LIFEBUOY
SOAP
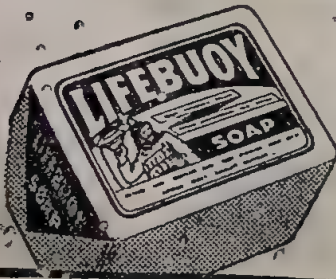
आज के कुछ प्रमुख गद्यकवि

श्रीयुत हरिमोहनलाल श्रीवास्तव, एम्० ए०, एल्० टी०, साहित्य-रत्न

अक्टूबर, ४२ और मार्च, ४६ की 'माधुरी' में लेख लिखकर मैंने अपनी पुस्तक 'हिन्दी-गद्यकाव्य का आलोचनात्मक इतिहास' की ओर एक बार पुनः हिन्दी-संसार का ध्यान आकृष्ट किया है, और मुझे हर्ष है कि पिछली कई वर्षों से भूली हुई इस चर्चा का इस बार अच्छा 'रिस्पांस' हुआ है। यहाँ मैं कतिपय दूसरे प्रमुख गद्यकवियों के जीवन का परिचय एवं उनकी शैली का विवेचन उपस्थित करते हुए अपने पाठकों को पुस्तक के विषय-प्रतिपादन का कुछ परिचय देना चाहूँगा।

१—कुँअर मोहनसिंह सेंगर

कुँअर मोहनसिंहजी सेंगर का जन्म दिसम्बर, सन् १९१२ में जोधपुर के एक प्रतिष्ठित जागीरदार क्षत्रिय-परिवार में हुआ। आप स्वभाव के बड़े सरल, सहृदय और गम्भीर हैं। यद्यपि आप लगभग आधे दर्जन पत्रों के सम्पादकीय विभाग में कार्य कर चुके हैं, तथापि आज के पत्रकार के विपरीत आप आत्म-विज्ञापन से बहुत दूर भागते हैं। सेंगरजी के साहित्यिक जीवन का आरम्भ कहानी-लेखन से हुआ प्रतीत होता है। 'चिता की चिनगारियाँ' नाम से उनका एक उत्कृष्ट कहानी-संग्रह इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ है। अन्तर्राष्ट्रीय राजनीति पर गम्भीर निबन्ध लिखने में आप सिद्धहस्त हैं, और अपनी इस क्षमता के कारण ही इस समय 'विशाल भारत' सम्पादक का गौरवपूर्ण पद सुशोभित कर रहे हैं। गद्यकाव्य आपने बहुत लिखे हैं, पर न जाने क्यों उन सबको संगृहीत करके प्रकाश में लाना आपको प्रिय नहीं। 'ख़ून के धब्बे' नाम से आपका दूसरा कहानी-संग्रह शीघ्र ही प्रकाशित हो रहा है।

कुँअर मोहनसिंहजी सेंगर अपने जो थोड़े गद्य-काव्य प्रकाश में लाये हैं, वे उन्हें एक कुशल शब्द-शिल्पी के रूप में प्रकट करने के लिए तो पर्याप्त हैं ही, साथ ही उनसे उनके भावुक कवि-हृदय का भी परिचय मिल जाता है। उनके गद्यकाव्यों में भावों के सुकुमार सौन्दर्य के अनूठे दर्शन होते हैं। भावना और कल्पना समीन रूप से मिलकर कवि के अन्तर्जगत् का चित्र खींच देती हैं। सेंगरजी की पवित्र और सात्त्विक भावनाएँ जीवन को एक ऊँचे स्तर पर उठाने का सतत प्रयास करती हैं। उनकी भाषा प्राञ्जल है, और उसी के अनुरूप उनके भावों में वेग है। उनके गद्यकाव्यों में अलंकार खिंचे-से चले आते हैं, अनुप्रास के अनोखेपन के साथ उपमाओं की उपयुक्तता उनकी भाषा-शैली की अपनी विशेषता है। "मैंने उन्हें देखा है" उनका एक उत्तम गद्यकाव्य है—

"विभावरी के गाढ़ आलिंगन में—जब कि सारी दुनिया अँधेरे की काली चादर ओढ़कर सो रही थी—मैंने जीवन और जागृति के प्रच्छन्न प्रकाश की एक क्षीण रेखा के रूप में उन्हें देखा है! और देखा है उन्हें टिमटिमाते हुए असंख्य तारों की मुक्त मुग्ध मुस्कराहट में!

मैंने देखा है उन्हें—दिनकर के किरण-जाल में खेलते हुए एक उन्मुक्त ज्योति-पुंज के रूप में। धरित्री के उद्भासित कोने-कोने में! और उच्छ्वसित कण-कण में!

आतप की तपती हुई दोपहरी में मैंने उन्हें शान्त और स्थिर हिम-कण के रूप में देखा है। हाड़ कँपा देनेवाले शीत में उन्हें अंगारे के रूप में देखा है। पतझड़ में उन्हें वसन्त-श्री की प्रतिद्वन्द्विता करते देखा है, और देखा है पावस में क्षुभित पाषाण के हृदय-सा शुष्क रूक्ष!

बहते हुए समीर में मैंने उन्हें एक कम्पित आह के रूप में देखा है! ऊर्ध्वगामी मेघों में मैंने उन्हें पतनोन्मुख जल-बिन्दु के रूप में देखा है! आँखों में चकाचौंध कर देनेवाली सौदामिनी के शुभ्र आँचल में मैंने उन्हें कलंक-कालिमा के रूप में देखा है!

फूलों की मुस्कराहट में, कलियों के यौवन में, सौरभ के अलस उच्छ्वास में, भ्रमरों के गुंजन में, पिकी के कलरव में, सरिता के कल-कल में, सागर की लहरों में—और न जाने कहाँ-कहाँ मैंने उन्हें देखा है।

आज भी भली भाँति याद है—मैंने उन्हें देखा है!"

'याचना' शीर्षक अपने एक दूसरे गद्यकाव्य में

सेंगरजी ने जीवन के प्रति अपने दृष्टिकोण को एक बड़े आकर्षक ढंग से प्रकट किया है—

"ओ मेघ! हमें जीवन दो। हाँ, अपना जीवन दो। वह जीवन नहीं, जिसके लिए कभी देवता तरसते थे और सुरबालाएँ जिसकी चिरवाञ्छना में सिसकारियाँ भरती थीं। वह जीवन भी नहीं, जो पृथ्वी पर 'सर्वश्रेष्ठ योनि' के नाम से प्रसिद्ध है। भ्रमर का वह जीवन भी नहीं, जो रस-लम्पटता के चक्कर में फँसाकर अन्त में उसे ग्रस लेता है। फूलों का वह जीवन भी नहीं, जो क्षण भर के लिए खिलकर विश्व को सौरभमय बनाकर सदा के लिए मिट जाता हो। सरिता का वह जीवन भी नहीं, जो सूखकर काँटा और उमड़कर सागर हो जाय। सूर्य और चन्द्र का वह जीवन भी नहीं, जो नियति की पराधीनता से कभी मुक्त ही न हो सके।

प्यारे मेघ, हमें तुम अपना वह 'जीवन' दो, जो अनन्त से पैदा होकर फिर अनन्त में मिल जाय; जो पाप और परिताप की, कोढ़ और कलंक की, मृत्यु और मतलब की, माया और मोह की, धन और धृष्टता की, दुःख और दरिद्रता की इस दुनिया से सदा दूर, अछूता, एकदम अपरिचित रहे—जो आँसुओं की तरह उमड़कर आहों की तरह बह जाय; जो अरमानों की तरह उठकर अंगारों की तरह गिर पड़े; जो वसन्त की तरह आकर पतझड़ की तरह चला जाय।

प्यारे मेघ, हमें तुम अपना वही जीवन दो—जो चिर-पिपासायुक्त धरित्री की प्यास बुझाकर, उसके अन्तरतम को आनन्द के शीतल रस से आप्लावित कर सुगन्ध की तरह उड़ जाय। जो दूध के अभाव में तड़पते हुए अनाथ बच्चों की भाँति सूखनेवाले छोटे-छोटे पेड़-पौधों को जीवन की एक झाँकी दिखाकर अनन्त में विलीन हो जाय; जिसकी ओर व्याकुल किसानों, चातक और विरहिनियों के आतुर नेत्र तो लगे रहें, पर जिसे पा या पकड़ कोई न सके। दूसरों की प्यास बुझानी ही जिसकी चरम महत्त्वाकांक्षा हो, दूसरे का ताप हरना ही जिसके अस्तित्व की सार्थकता हो, और दूसरे के लिए अपने आपको मिटा देना ही जिसके जीवन की अन्तिम सफलता हो, ओ अलबेले मेघ, हमें अपना वह जीवन दो!"

२—पण्डित नोखेलाल शर्मा

पण्डित नोखेलालजी का जन्म दक्षिण भागलपुर के सुनिहारी नामक ग्राम में सन् १६०५ में हुआ। आपका वंश संस्कृत-विद्या के लिए प्रसिद्ध रहा है। आपके पूजनीय पिता पण्डित तन्त्री ठाकुर ने आपको साथ में अँगरेज़ी की शिक्षा दिलाने का भी आयोजन किया। एफ़० ए० की परीक्षा पास करने के उपरान्त आपने अध्यापन-कार्य को जीवन का व्यवसाय बनाया, और अपने अध्यवसाय से काव्य-तीर्थ, शास्त्री, बी० ए० और साहित्याचार्य की उपाधियाँ क्रमशः प्राप्त कीं। पद्य-रचयिता और निबन्ध-लेखक के रूप में आपने 'माधुरी', 'चाँद', 'गंगा' और सूर्योदय (संस्कृत) की अच्छी सेवा की है। भावों की प्रचुरता में बन्धन से छुटकारा पाना ही अच्छा समझकर आपने 'मणिमाला' नामक अपने सरस संग्रह में एक गद्यकवि का रूप धारण किया है और आशा है कि आपके द्वारा गद्य-काव्य के भांडार में और भी वृद्धि होगी।

किसी अवसरविशेष पर हृदय में उठनेवाले एक ही भाव की सीधी-सच्ची व्याख्या के रूप में नोखेलालजी के गद्य-काव्य विस्तार में प्रायः छोटे होने पर भी प्रभाव में पूर्णतः चोखे होते हैं। उनके गद्य-काव्यों में हृदयानुभूति का एक करुणात्मक और आकर्षक निवेदन पाया जाता है। उनकी आध्यात्मिकता कहीं बोझिल नहीं होने पाई, प्रत्युत उनकी अनुभूति सर्वत्र गंगाजल-जैसी निखर आई है। भावों में इस स्पष्टता का कारण यथार्थ में उनकी भाषा की व्यावहारिकता है। छोटे-छोटे वाक्यों का प्रभावशाली सम्मेलन उनकी भाषा की अपनी विशेषता है। कवि की आलंकारिकता में भी अधिकतर व्यावहारिकता रहती है, जिसके होते हुए उपमानों का अनुमान सरलता से किया जा सकता है। 'देखा!' शीर्षक गद्य-काव्य में नोखेलालजी ने 'सृष्टि-जाल' के सम्बन्ध में अपनी अरुचि एक अत्यन्त आकर्षक ढंग से प्रकट की है—

"देखा, हाँ देखा; तेरा सृष्टि-जाल ही न? उसे अच्छी तरह से देख लिया। क्या तूने इसे देखने के लिए ही मुझे यहाँ भेजा था?

क्या कहा? वह मधुर है? मीठा है? हाँ, है; पर उसमें विष भी घुला हुआ है। सुन्दर है? हाँ, पर केवल आधा। सत्य है? हाँ, पर स्वप्न के जैसा।

क्या कहा? वहाँ प्रेम के लुभावने फूल खिले

हैं ? पर, उनके तीक्ष्ण काँटे ! और उनकी स्पर्श-म्लानता ?

तेरा सृष्टि-जाल ! अरे उसमें आशा और निराशा के तन्तुओं के संयोग से ऐसी-ऐसी जटिल ग्रन्थियाँ पड़ गई हैं, जिन्हें काट डालना जीवों का साध्य नहीं।

देखा, तुझ खिलाड़ी के जाल को देखा ; इसे अब और नहीं देखना चाहता।"

('मणिमाला' से)

'जीवन का आदर्श' उनका एक दूसरा गद्य-काव्य है, जिसके द्वारा उन्होंने अलंकारों की अपनी सुरुचि का अच्छा परिचय दिया है—

"मैं इसलिए यहाँ नहीं आया कि इस सागर के तट पर उजली सीपियों को एकत्र करने में अपना जीवन बिता दूँ।

मैं इसलिये इस हाट में नहीं आया कि अपने हाथ के हीरे के बदले चमकते हुए पत्थर ख़रीद कर चलता बनूँ।

मैं उस निद्रित व्यक्ति के समान, जो स्वप्न में मिले हुए द्रव्य को मुट्ठी में कसकर रखना चाहता है—पर नींद टूटने पर अपने को ख़ाली हाथ पाता है—अपने को ठगा हुआ नहीं देखना चाहता।

मुझे वह अन्तिम स्थान अच्छी तरह विदित है, जिस ओर मैं नित्य प्रति अनायास बहा जा रहा हूँ। फिर मैं राह के दृश्यों को देखने में उस अन्तिम उद्देश्य को किस प्रकार भूल जाऊँ ?"

('मणिमाला' से)

३—श्रीयुत देवीलाल सामर

श्रीयुत देवीलाल सामर का जन्म उदयपुर में सन् १९१२ में हुआ। आपकी बाल्यावस्था में ही आपके पिता अर्जुनसिंहजी का देहान्त हो गया था। जीवन की कठिनाइयों में आप अपने अध्यवसाय के सहारे ही हिन्दू-विश्वविद्यालय में एफ़० ए० की शिक्षा प्राप्त करने के उपरान्त सन् ३४ में प्राइवेट अध्ययन के द्वारा आगरा से बी० ए० के उपाधिधारी हुए हैं। आप इस समय मेवाड़ की आदर्श संस्था 'विद्या-भवन' के अध्यापक हैं। स्काउटिंग के प्रति आपकी अनुराग अनुकरणीय है। नाटक, संगीत, चित्रकारी आदि कलाएँ भी आपकी सहृदयता से मेल खाती हैं। आपका साहित्यिक जीवन सन् ३० से कहानी-लेखन द्वारा प्रारम्भ होता है, किन्तु इधर गद्य-कवि के रूप में आपकी विशेष ख्याति हुई है। अब आप पद्य के क्षेत्र में भी अग्रसर हुए हैं। आत्म-विज्ञापन से दूर रहकर सामरजी अब तक अपनी रचनाओं को पुस्तक-रूप में नहीं लाये हैं।

सामरजी के अनुसार 'गद्य-काव्य' भावों की अत्यन्त स्वाभाविक और स्वतन्त्र अभिव्यक्ति है और अपने गद्य-काव्यों में वर्ण्य-विषय की मौलिकता एवं कथन की मार्मिकता का अनूठा चमत्कार दिखाते हुए वे अपने इस विश्वास को प्रमाणित करने में भी पीछे नहीं रहे। उनके गद्य-काव्यों में प्रायः जगत् की व्यावहारिक सत्ता का आभास विद्यमान रहता है। भावुकता की अनोखी अठखेलियों के साथ कल्पना के रंगीन चित्र उपस्थित करना इन गद्य-काव्यों की अपनी विशेषता है। अपने कथन को प्रभावशाली बनाने के लिए सामरजी एक ही बात को नपे-तुले वाक्यांशों में दुहराते हैं। कहीं-कहीं उन्होंने कुछ सजीव वाक्यांश भी गढ़े हैं, यथा—"जीवन के झुँझलाते हुए क्षणों में।" उनकी भाषा शुद्ध साहित्यिक हिन्दी है, पर कभी-कभी वे शब्दों का जोड़-तोड़ बिठाने में कुछ चूक भी जाते हैं। 'ज्योति' उनका एक उत्कृष्ट गद्य-काव्य है—

"उस अनन्त ज्योति का अंश जब हमारे जीवन-दीप में अलसाने लगता है, तब हम निष्ठुर अन्धकार का आह्वान करते हैं और प्रकाश की कामना को भ्रान्ति समझकर उसी में घुल-मिल जाते हैं।

अन्धकार के उस अपरिचित लोक में जो भी हमारे निकट है, वही हमारी निष्ठा है, वही हमारा विश्वास है और वही हमारा जीवनाधार है—शेष हमारे लिये माया है, भ्रान्ति है और उनींदे नेत्रों के लिए सपनों का झूठा जाल है।

स्नेहयुक्त दीपक से जब हम बत्ती निकाल फेंकते हैं, तब प्रकाश का क्षण-क्षण ही में ह्रास हो जाता है और वह स्नेह-जल के बन्द सोते की तरह मिट्टी के उस क्षुद्र दीपक में विविध उत्पात मचाता है।

पर एक दिन जीवन के झुँझलाते हुए क्षणों में हम एकाएक प्रकाश की कामना करने लगते हैं; किन्तु तब हमारे साधन में ज्योति पुनर्जीवित करने की शक्ति शेष नहीं रहती।

जीवन के इसी एकमात्र पावन क्षण में अनन्त ज्योति की एकमात्र झलक हमारे अतीत को आलोकित कर जाती है, और हम उसकी बीभत्सता को

देखकर सदा के लिए उस ओर से आँखें मूँद लेते हैं।

उस ज्योति का अन्तिम अंश भी हमसे सदा के लिए बिदा हो जाता है।"

अपने एक अन्य गद्य-काव्य 'तुम और मैं' द्वारा सामरजी ने 'प्रेम' की व्यापकता का एक मनोमोहक चित्र उपस्थित किया है—

"मेरे अन्तस्तल की अस्पष्ट स्वरलहरी में तुम अक्षत माधुर्य और विश्वास भरते हो और मेरी हृत्तन्त्री के उच्छृङ्खल तारों से अपनी तान मिलाते हो। मेरे भावुक, चंचल मन को एकनिष्ठ साधना में लीन करते हो। मेरे उद्वेलित भाव प्रौढ़ बनकर जीवन के गूढ़ तत्त्वों को सुलझाने लगते हैं और मैं इस नश्वर जगत् के माया-जाल को सुलझाने लगता हूँ।

मैं मानव के अन्ध-विश्वास और संकीर्ण हृदय से उत्पन्न मिथ्या ज्ञान को त्यागकर प्रशस्त प्रेम-पथ का अनुसरण करता हूँ, जहाँ एक व्यक्ति से नहीं, एक वस्तु से नहीं और एक समूह से नहीं; पर निखिल विश्व-प्रेम की प्रतिमूर्त्ति से महाशान्ति का प्रादुर्भाव होता है।

मेरी इच्छाओं का अन्त होता है, मेरी भावना-स्थली में मेरा ममत्व नष्ट होकर एक व्यापक विश्व-प्रेम का रूप निखरता है। मेरे समस्त धर्म, कर्म, बन्धन, पूजापाठ आदि अब उस निखरे हुए आलोक में केवल उपहास-मात्र दिखाते हैं।

मेरे प्रेमी! तेरा प्रेम निखिल-विश्व में बिखरा हुआ है। तेरे पदलालित पराग-पुंज से सृष्टि के असन्तुष्ट प्राणियों में विश्वास और उल्लास की भावना उत्पन्न होती है। वह सत्य, जो अज्ञान और पाखंड से ढका हुआ था, मैंने अपने ही हृदय में पाया है। मेरे जीवन-मरण के बन्धन टूट गये हैं। अब वे बाह्य-रूप आँखों को चौंधियानेवाले दृश्य और प्रेमियों के प्रेमालाप नहीं हैं, जो उत्पन्न होते ही हमें मोह लेते हैं और अन्त में वियोग की दारुण वेदना छोड़ जाते हैं।

मेरा शान्त सौम्य हृदय अब विश्व-प्रेम की जिज्ञासा और जगदाराध्य का उपासना-गृह है।"

४—श्रीयुत महावीरप्रसाद दाधीच

श्रीयुत महावीरप्रसादजी का जन्म सन् १६०२ में रामगढ़ (जयपुर) में हुआ। आपने बी० ए० तथा एल्० बी० की उपाधियाँ प्राप्त की हैं और गुजराती तथा संस्कृत में भी आपकी अच्छी प्रगति है। सन् १६२० से आपके साहित्यिक जीवन का आरम्भ होता है। आपने हिन्दी में 'इण्डियन इनकमटैक्स' नाम का एक ग्रन्थ अनूदित किया है और 'यौवन-तरंग' के नाम से आपका एक गद्य-काव्य-संग्रह भी प्रकाशित हुआ है। गुजराती में भी 'काव्य-कलियाँ', 'कोकिल-निकुञ्ज', 'काव्य-कला' (प्रहसन) आदि आपकी कुछ पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। आपको कविता से विशेष प्रेम है और पीड़ितों की सेवा को आपने अपने जीवन का लक्ष्य बना रक्खा है। बम्बई के प्रसिद्ध एडवोकेटों में आपकी गणना है।

दाधीचजी ने जिन थोड़े गद्य-काव्यों की सृष्टि की है, वे उन्हें जीवन के मर्मस्पर्शी आलोचक तथा सौन्दर्य के संवेदनशील द्रष्टा के रूप में चित्रित करने में भली प्रकार समर्थ हैं। उन्होंने रूक्ष निराशावाद को प्रोत्साहित नहीं किया। उनके लिए सृष्टि में आशा और उल्लास की कमी नहीं। जहाँ उनके गद्य-काव्यों में परस्पर सम्बद्ध दो वस्तुओं का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत हुआ है, वहाँ एक अनूठा आकर्षण दिखाई देता है। उनके गद्य-काव्यों में कवित्व कहीं कुछ क्षीण हो जाने से गद्यात्मकता अवश्य आ जाती है। दाधीचजी की भाषा सामान्यतः सरल, सौन्दर्यपूर्ण है और उनके वाक्य अधिकतर नपे-तुले होते हैं। शब्द-विशेष पर ज़ोर देने के लिए ही वे उर्दू के कुछ सीधे शब्दों को अपनाते हैं। विराम-चिह्नों के प्रयोग में कुछ कमी से उनके गद्य-काव्यों में थोड़ी-सी अस्पष्टता भी दिखाई देती है। 'सौन्दर्य और यौवन' दाधीचजी का एक उत्तम गद्य-काव्य है—

"सौन्दर्य ईश्वर-प्रदत्त बहुमूल्य अमानत है और यौवन मानव-जीवन की एक मदपूर्ण अवस्था। सौन्दर्य में चन्द्रिका की शीतलता और यौवन में रवि-किरणों की प्रचण्डता है। सौन्दर्य का स्वामी वरुण और यौवन का पति अग्नि है। इसलिए सौन्दर्य को पानीदार और यौवन को ज्वालामय माना गया है।

सौन्दर्य मोह उत्पन्न करता है और यौवन विषय-वासना। सौन्दर्य-उपासक भक्ति-पथ पर चलता है और यौवन-सेवक विषयी बनता है।

सौन्दर्य ढूँढ़ने से मिलता है और यौवन जहाँ-

तहाँ देख पड़ता है। यौवन के विना भी सौन्दर्य सुखमय प्रतीत होता है, और सौन्दर्य के विना यौवन सौन्दर्य की पूर्ति करता है। पर जहाँ सौन्दर्य और यौवन एक साथ मिलते हैं, वहाँ सुवर्ण में सुगन्ध होने का अपूर्व आनन्द प्राप्त होता है।"

अपने एक अन्य गद्य-काव्य 'कवि और चित्रकार' में दाधीचजी ने दोनों महत्त्वपूर्ण कलाओं का पूर्ण विवेचन किया है—

"कवि और चित्रकार विश्व-स्रष्टा की सृष्टि में अद्भुत स्वतन्त्र सृष्टि के सिरजनहार हैं। दोनों सौन्दर्य के उपासक और भावना के पूजक हैं। दोनों कल्पना-प्रदेश के विहारी एवं स्वच्छन्दगामी हैं। दोनों अपने-अपने समय के प्रतीक तथा संरक्षक हैं।

दोनों समाज, सहवास और संयोग की सरसता के आकर्षक एवं अपूर्व रंग एकत्र कर हृदय की भावना को सरिता के सलिल में घोलते हैं। कवि क़लम से और चित्रकार कूँची से मनभाई नवीन सृष्टि की रूप-रेखाएँ अंकित करते हैं।

चित्रकार जगत् का बाह्य सौन्दर्य चित्रित करता है और कवि जगत् का आभ्यंतरिक सौन्दर्य प्रकाश में लाता है। कवि की रचना वाणी-युक्त है, परन्तु वह अनयन है। चित्रकार की कृति सनयन परन्तु मूक है।

चित्रकार का भावना-प्रदर्शन का क्षेत्र संकुचित है, कवि का कार्य-क्षेत्र विशाल है। चित्रकार की कृति रस-भावना की सुन्दर सरसी है, कवि की रचना कलकल ध्वनिमय स्वच्छन्द गति से बहती हुई रस-निर्झरणी है।

कवि थोड़े में ही बहुत कह सकता है, चित्रकार को अधिक कहने के लिए अनेक चित्र खींचने पड़ेंगे। चित्रकार की कला शरीर है और कवि की कला आत्मा।

चित्रकार को कल्पना-जगत् में जाकर चित्र-भावना की खोज में कवि बनना है और कवि को कल्पना-जगत् से प्राप्त भावना को इस जगत् को समझाने के लिए शब्द-चित्र बनाकर चित्रकार बनना पड़ता है। अतः चित्रकार कवि है और कवि चित्रकार है, पर पक्ष दोनों के पृथक् हैं।

कवि होना पुण्योदय है, चित्रकार होना भाग्योदय है और कवि एवं चित्रकार होना तो आत्मोद्धार है!"

५—पं० गोकुलानन्द तैलंग 'निकुञ्ज'

पं० गोकुलानन्द का जन्म वृन्दावन में सन् १९१२ में हुआ। आपका अध्ययन सागर (सी० पी०) में मैट्रिक तक हुआ। आपके पूज्य पिता पं० श्रीमधुसूदन भट्ट ने आपकी धार्मिक और आध्यात्मिक शिक्षा की ओर भी यथेष्ट ध्यान दिया। गोकुलानन्दजी साहित्य-क्षेत्र में भी अच्छी गति रखते हैं। आपकी स्फुट रचनाएँ 'कल्याण', 'सनातन-धर्म' आदि धार्मिक पत्रों में सादर स्थान पाती हैं। आपको 'श्रेय', वृन्दावन के सम्पादन-विभाग में कार्य करने का गौरव प्राप्त है। आपने 'वंशी', 'चयन' आदि काव्य-ग्रन्थ, 'श्रीमानस-सुधा' और 'गीता-सन्देश' आदि विवेचनात्मक ग्रन्थ तथा 'अरुणिमा', 'निकुञ्ज', 'प्रेम-मन्दिर में' आदि गद्य-काव्य-संग्रह लिखे हैं, जो सभी अप्रकाशित हैं। आशा है, आप निकट भविष्य में ही अपनी इन उपयोगी पुस्तकों में से कुछ को प्रकाश में लाने में समर्थ होंगे।

'अनन्त' के अनजान स्वप्नलोक की एकान्त-साधना में लीन होकर तैलंगजी ने जिस गद्य-काव्य का निर्माण किया है, वह दिव्य प्रेम का अस्फुट गुणानुवाद है और अपनी अस्फुटता में ही सर्व-साधारण के लिए एक अपूर्व आकर्षण रखता है। विषय के अनुरूप कल्पना के निदर्शन में तैलंगजी अपनी अलंकृत शैली के द्वारा सब प्रकार सफल हुए हैं। तैलंगजी के ये गद्य-काव्य अतिशय भावुकता के उस गुण से भी सम्पन्न हैं, जो वाक्यांशों के क्रम को व्याकरण के बन्धन में नहीं बाँधती। कदाचित् इसी लिए गद्य-काव्यों में विराम-चिह्नों का अधिक प्रयोग हुआ है। इस प्रणाली के भी अपने गुण हैं, किन्तु बहुत अधिक तोड़-मरोड़ के कारण यह अखरनेवाली बन जाती है। तैलंगजी की भाषा विशुद्ध हिन्दी है और है पाण्डित्यपूर्ण, जिसके कारण वह साधारणतः ग्राह्य नहीं। 'मधु-गुञ्जन' उनका एक सुन्दर गद्य-काव्य है—

"तुम्हारी रूप-सुधा-अनुरंजित आँखों की मदिर लाली में प्यार का पागल संसार खेल रहा है। अन्तर्विश्व का अनन्त स्नेह-कोष लुट रहा है अपने प्रणयियों की उन्मद भावनाओं का स्वागत करने को।

अनन्त वेदनाओं की डाली में कोमल भावना-कलियों को सिंचित कर रहा है, तुम्हारा अधर-

पीयूष ! तुम्हारी जीवन-प्रभात-वेला की अरुणिमा कोमल गुलाबी कपोलों पर दौड़ती हुई, चित्रित कर रही है, तुम्हारे हृद्गत भावों की रेखाओं को—प्रेम की अस्फुट भाषा में, एक मौन संगीत के साथ, अदृश्य 'तूलिका' से !

तुम्हारी सजीली पलकों पर बिखरी अलकों के साथ अठखेलियाँ करता हुआ, नाच रहा है, तुम्हारा मादक अन्तर्नाद ! मूक मधुर पद-ध्वनि के साथ अबाध गति से !!

तुम्हारे रोम-रोम में जीवन की बसन्त-बेला की रूपरेखा बिखर रही है। मुखरित कर रहा है, तुम्हारे जीवन का प्रेम-संगीत मेरी रग-रग को अपनी ओर खींचता हुआ—अनन्त कोकिलाओं का विमल प्रेम-गान, अनन्त भृंगों का स्निग्ध-रंगीला-मधुगुञ्जन !!"

(अप्रकाशित 'अरुणिमा' से)

'हृदय-वीणा' नामक अपने एक दूसरे गद्य-काव्य में भी तैलंगजी ने भाव-व्यंजना का सुन्दर उत्कर्ष दिखाया है—

"भग्न हृदय-वीणा के टूटे तारों पर चला हूँ—अनन्त का अनन्त गान करने !

चाहता हूँ, इन टूटे तारों में एक संगीत भर दूँ और उनसे निःसृत कलरव से विश्व में एक दिव्य उद्वेलन—एक नवल प्रकम्पन मचा दूँ ! उस अनन्त की वह अनन्त रागिनी गूँज उठे, सारे विश्व में और विलीन हो जाय, उसमें उसकी सारी विषम वेदना !!

परन्तु अहह ! वैसी क्षमता कहाँ—कहाँ वैसा प्रभावोत्पादिनी स्वर-लहरी ? कहाँ वह प्रबल वेग कि अनन्त के उस सुदूरवर्ती द्वार से जाकर टकराये, वह सरस स्वर-सरिता और आन्दोलित कर दे उस महासागर को भी !!

उस अचिन्त्य का मधुर चिन्तना में हो जाऊँ, मैं आत्म-विस्मृत ! विश्व का अणु-अणु प्रत्येक कण-परमाणु स्पन्दित हो उठे, उसके कम्पन से !!

परन्तु हाँ ! केवल कल्पना—निरी निराशा !

इन टूटे तारों में बल ही कहाँ है इतना ?

विना उस निपुण गायक के कौन जोड़ेगा वह तार और निस्सरण करेगा, इस वीणा का वेदना-सम्भूत राग !!"

निकट भविष्य में मैं श्रीजैनेन्द्रकुमार, श्रीहरिभाऊ उपाध्याय, श्रीरामनाथ 'सुमन', ठा० रामसिंह, स्वामी आनन्दभिक्षु सरस्वती प्रभृति विद्वानों के सम्बन्ध में भी लिखने का विचार रखता हूँ। यदि कोई महानुभाव इनके तथा अन्यान्य गद्य-कवियों के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें अथवा रचनाएँ बड़ा बाज़ार, दतिया (सी० आई०) के मेरे पते पर शीघ्र भेजने का श्रम उठावेंगे, तो मैं उनका बहुत आभारी हूँगा।

गीत

श्री राजबहादुर सिंह "श्रीपति"

कहो मत प्रिय बिछुड़न की बात ; मिलन की रो देगी यह रात।
दूर दृगों में सोये होंगे, कहीं अश्रु के बूँद ;
इन हँसते होंठों पर जगकर व्यर्थ पड़ेंगे कूद।
सूखकर झड़ जायँगे मौन ; प्रणय-लतिका के पुलकित पात।
हृदय-मलय की मधु-छाया में चीख उठेगा जेठ ;
मचल पड़ेगा सावन मेरी इन आँखों में पैठ।
रिक्तता से होगी परिपूर्ण ; पूर्णता की प्याली अवदात ;
विस्मृति की वेला; जीवन की बाज रही है वीणा ;
टूट जायँगे तार; व्योम से छूट पड़ेगा मीड़।
डूब को जाता पूनम-चाँद ; घटा में होगा लुप्त हठात।

"लक्स टॉयलेट साबुन द्वारा सौन्दर्य का यह मेरा दैनिक कार्यक्रम है."
— रमोला
LUX
TOILET SOAP
मैं लक्स सौंदर्य साबुन का काफ़ी झाग बनाती हूँ और सौम्यता से त्वचा पर थपकती हूँ...
पश्चात मैं साफ़सुथरे और शीतल पानी से धो डालती हूँ...
फिल्मी स्टार्स का सौंदर्य साबुन
अन्त में मैं सौम्यता से अपना मुख नरम तौलिये से पोंछ लेती हूँ
अपनी त्वचा को नवीन सौन्दर्य क्यों नहीं देते? ३० दिन के लिये रमोला का साधा सौन्दर्य-साधन परखो—आप लक्स टॉयलेट साबुन के शुद्धिकारक, उत्तेजक परीणाम से आनन्दित होंगे। उस का सुगंधी, प्रभावी झाग आप की त्वचा को नरम, सुन्दर और मखमल समान मुलायम रखेगा। फिल्मी स्टार्स का यह सौन्दर्य-प्रसाधन-साबुन है—आप के अनमोल त्वचा की भी उसे रक्षा करने दो।
LTS. 138-23-40 HI
LEVER BROTHERS (INDIA) LIMITED
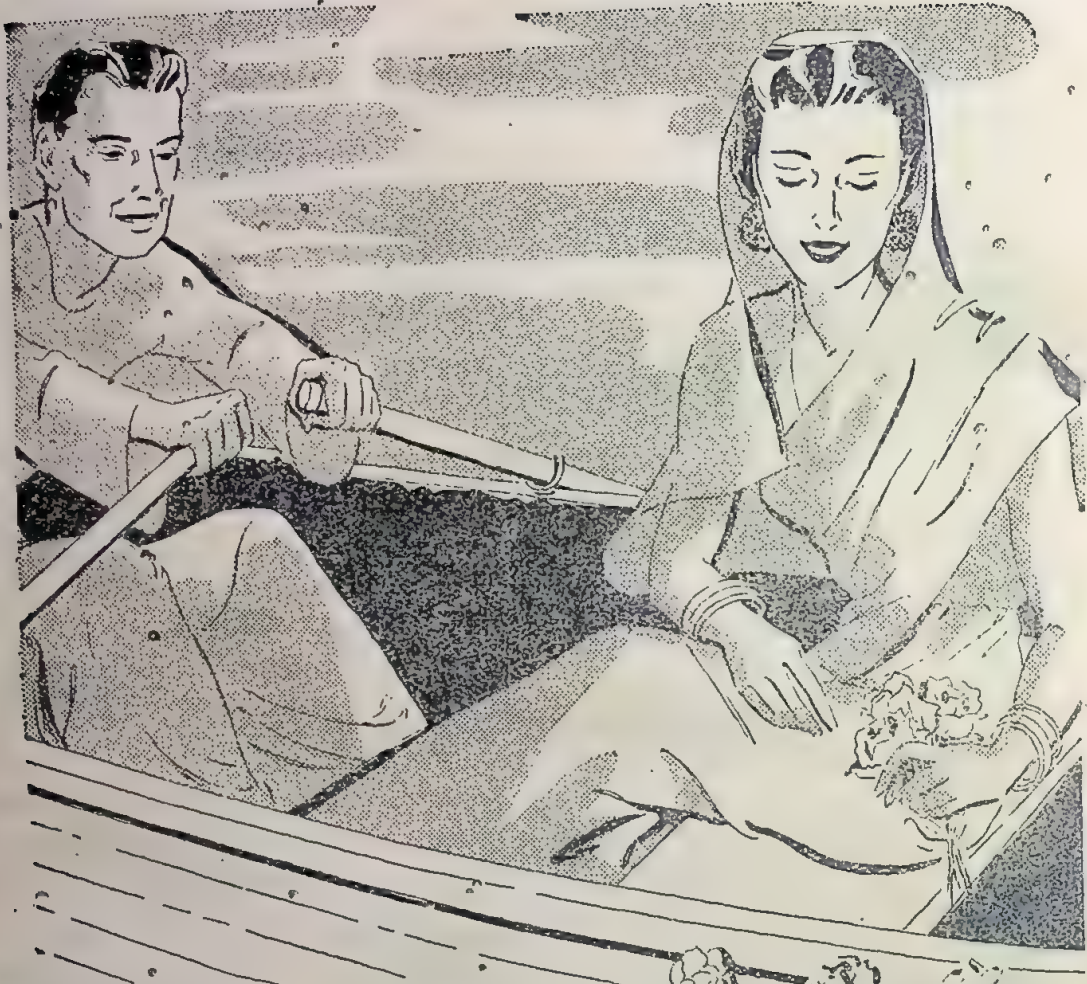
आलोचना की एक नई दृष्टि

श्रीकमल कुलश्रेष्ठ

संसार के किसी भी साहित्य के इतिहास का हम अध्ययन करें तो पता चलेगा कि साहित्य में तीन प्रवृत्तियाँ प्रधान रहती हैं—

१—यथार्थ

२—तर्क

३—कल्पना

साहित्य कभी तो यथार्थ की नीची शिला पर खड़ा होता है, कभी तर्क की मध्यस्थ शिला पर और कभी कल्पना की उच्च अट्टालिका पर। मानव-भावनाओं की दृष्टि से कल्पना का साहित्य सबसे सुंदर प्रतीत होता है। इसी कारण साहित्य के सबसे सुंदर अंग काव्य में कल्पना को एक विशिष्ट स्थान दिया गया है। पर कोरी कल्पना के आधार पर स्थित साहित्य का स्वरूप वह होता है जो हमारे रीतिकालीन साहित्य का था या अँगरेज़ी के कवि शेली या कीट्स के साहित्य का। शेली के सम्बन्ध में अँगरेज़ी के सुप्रसिद्ध आलोचक मैथ्यू आर्नाल्ड का कहना था कि वह एक सुंदर गंधर्व था, जो कि शून्य में अपने पंख फड़फड़ाता रहा। जहाँ तक शेली में कोरी कल्पना का भाग रहा वहाँ तक आर्नाल्ड का यह वाक्य सत्य है। कोरी कल्पना पर आधारित साहित्य जीवन के यथार्थ की नीची शिला के स्वरूप को ठीक नहीं देख पाता। यही कारण है कि रीतिकालीन नायिकाओं का आज साहित्य में इतना उपहास किया जा रहा है। नारी का शरीर जो उनकी उपास्य वस्तु था, उसकी रीतिकालीन या अलंकार-कालीन रूपरेखा का अनुमान मैंने एक दिन किया तो पता चला कि एक ऊपर छोटे से सिर के बाद एक तख्ती (पीठ), जिस पर दो हिमालय पहाड़ के समान कुच, उसके बाद फिर कुछ नहीं। या संभवतः एक तार, उसके बाद फिर दो हिमालय पहाड़ (नितम्ब) और फिर दो साधारण पैर। कितनी भद्दी रूप-रेखावाली नारी बन जाती है। संसार के यथार्थ से यह नारी कितनी दूर है। कल्पना साहित्य को इतना भद्दा बना देती है। उच्च अट्टालिका की नींव जितनी ही गहरी होगी—कल्पना जितनी ही सत्य का आधार लेकर उठेगी—उतनी ही सुंदर होगी। यही कारण है कि अँगरेज़ी का रोमांटिक कालीन साहित्य उतना भद्दा नहीं हुआ जितना कि हमारा साहित्य। वहाँ कल्पना के द्वारा सौन्दर्य वस्तु में खोजा गया और वह सौंदर्य स्थूल न होकर भावात्मक था। कुछ भी हो, सौन्दर्य चाहे स्थूल रहे, चाहे सूक्ष्म, पर पाठक को सुंदर मालूम होता ही है। रीतिकाल की नारी कितनी ही भद्दी हो गई हो, पर पढ़ने पर एक बार तो सुंदर मालूम हो होती है।

कल्पना से कम सुंदर वस्तु तर्क होता है। हमारे साहित्य में तर्कप्रधान काल भक्ति-काल था। ऊपर मैंने तर्क को मध्यस्थ शिला बतलाया है। तर्क सत्य की नीची भूमि के अंदर गड़ी शिला को भली भाँति देखता रहता है। वह मनुष्य को साधारण जीवन में रखता है। यही कारण है कि अँगरेज़ी-साहित्य का तर्कप्रधान काल क्लासिकल काल और हमारे यहाँ का भक्ति-युग साहित्य के इतिहास में कोहेनूर की भाँति चमकता रहता है। मनुष्य-जीवन का जितना सुंदर अध्ययन तर्क कर सकता है, उतना कोई नहीं कर सकता। तर्क में वह भावुकता, जो मनुष्य को पृथ्वी से ऊपर उठाकर आकाश में फिराती है नहीं होती। तर्क में वह भावुकता भी नहीं होती, जो मनुष्य को भूमि से गिराकर नीचे और बिलकुल नीचे ले जाती है। तर्क मनुष्य को इसी पृथ्वी पर रखता है और जीवन का समुचित विश्लेषण करवाता है। यही कारण है कि संसार के इतिहास के बड़े-बड़े साधु-महात्मा, जिन्होंने जीवन का वास्तविक अध्ययन किया है, सर्वदा तर्क द्वारा शासित रहे हैं। अँगरेज़ी, ग्रीक और हिन्दी तीनों साहित्य किसी न किसी समय तर्क द्वारा शासित होकर स्वर्ण-युग देख चुके हैं। मैं यहाँ पर यह बात स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि तर्क, कोरा तर्क मनुष्य को कहीं का नहीं रखता। कोरा तर्क दर्शनशास्त्र का सर्जन करता है। दर्शनशास्त्र के कोरे नियमों और विश्वासों का पालन करता हुआ मनुष्य इस पृथ्वी पर नहीं रह सकता। यही दर्शन शास्त्र जब कविता में आता है तो वह सृष्टि की सबसे सुंदर वस्तु बन जाता है। यही कारण है कि किसी भी कवि के साहित्य को देखकर हम पूछते हैं कि इसके जीवन के सिद्धांत क्या हैं? यदि कवि के पास जीवन के निश्चित

सिद्धांत हैं तो हम उसे महान् कवि स्वीकार करने से प्रायः हिचकिचाते नहीं।

तीसरी और सबसे कम सुंदर वस्तु सत्य या यथार्थ होती है। इससे शासित होकर जो साहित्य बनता है वह यथार्थवादी कहलाता है। हमारी आज की प्रगतिशील कहलानेवाली कविता, नीति के दोहे, अँगरेज़ी के रियलिस्ट युग का आज का साहित्य यथार्थवादी है। समाज की दृष्टि से यथार्थवादी साहित्य सबसे हानिकर होता है। यथार्थ ढूँढ़ने का स्पष्ट अर्थ है कि हम पेड़ को खोदकर उसकी जड़ों का पता लगावें और पेड़ को सुखा दें। हम मेंढक को चीरकर, उसको अंदर से देखें कि इसमें क्या है? और यह देखने के लिए मेंढक के प्राण ले लें। सच पूछिए तो यह अमानुषिकता का एक अध्याय है। सत्य ढूँढ़ने का अर्थ होगा कि हम जिन चरण-चिह्नों को बनाते हुए आगे बढ़े हैं, उन पर ही फिर अपने चरण रखकर लौटें और देखें कि हमारा उद्गम या चलने का स्थान कौन-सा था? यथार्थवाद हमें जीवन में आगे बढ़ने से, सच्ची प्रगतिशीलता से रोकता है। वह कठोर सच्चा क्षण कितना दुःखदायी होता है जब कि यथार्थ का खोजी बारह, पंद्रह, पचीस, या चालीस किसी भी आयु का मनुष्य अपने और किसी नारी के गुप्त अंगों के सम्मिलन की कल्पना कर सोचता है कि ऐसा कामुक सम्मिलन एक दिन उसके माता-पिता ने किया होगा और उसीसे उसका जन्म हुआ है। स्थूल-यथार्थ का खोजी, इस सत्य को बहुत जल्दी और ऊपर कथित शब्दों की परिधि के अंदर ही खोज लेता है। रीतिकालीन कवियों ने कल्पना की किरणें नारी के शरीर पर डालीं और आज के कवियों एवं साहित्यिकों ने नारी को दिग्वसना कर साहित्य में रख दिया है। भक्तिकालीन कवियों ने यदि जीवन की शाश्वत आध्यात्मिक क्षुधा का गान किया, तो हमारे आजकल के यथार्थवादी साहित्य ने जीवन की शाश्वतता का कोई मूल्य न रखकर, राजनीतिक वादों के कटघरे में उसे बंद कर दिया है। केवल यथार्थ पर आधारित साहित्य पूर्ण पतनकारी होता है। हमारी आज की प्रगतिशील कविता, जो कि छायावाद और रीतिवाद की प्रतिक्रिया है, मुझे लिखते हुए दुःख होता है कि क्षय-रोग से ग्रस्त है। केवल क्षणिक आवेगों से ग्रस्त ही सशस्त्र क्रांति का आवाहन प्रगतिमूलक न होकर मेरे समुचित सोचे हुए शब्दों में अगतिमूलक है। हम हिंसा को देख चुके और खूब देख चुके। हमें आवश्यकता है इससे आगे बढ़ने की। तभी हमारी प्रगतिशीलता सार्थक होगी। आज का प्रगतिशील साहित्य, मैं खुले शब्दों में बतला देना चाहता हूँ कि अगतिमूलक है। हिन्दी के नवोदित कवि इस बात को पूरे ध्यान से सुन लें।

नवोदित लेखकों के साथ ही साथ हमारे पाठकों को भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि साहित्य की जो तीन प्रवृत्तियाँ मैंने ऊपर बतलाई हैं, उनका संतुलन साहित्य में सार्वभौमिकता और शाश्वतता लाता है। जो साहित्य कल्पना, तर्क और यथार्थ तीनों को अपने अंदर समुचित रूप से रखता है, वह महान् है। तर्कप्रधान साहित्य उच्च इसलिए होता है कि उसमें कल्पना और यथार्थ का भी भाग होता है। यों तो यथार्थवादी साहित्य में भी तर्क और कल्पना होती है, कल्पनाप्रधान साहित्य में भी यथार्थ और तर्क होता है, पर तर्कप्रधान साहित्य में यह अनुपात अधिक होता है। जब यह अनुपात सम हो जाता है तो वह कवि और लेखक महान् और अमर कलाकार कहलाता है। तुलसी, सूर, शेक्सपियर आदि कलाकारों के पीछे आलोचना का यही बड़ा सत्य निहित है। आलोचना के इसी सत्य को दूसरे शब्दों में आलोचक यहाँ वहाँ कहकर पीटते रहे हैं। वर्ड्सवर्थ ने कहा है—कविता विशेष क्षणों में एकाएक आये हुए भाव हैं, जिन्हें कि हम किसी शांत घड़ी में स्मरण कर लिख देते हैं। शांत घड़ी का अर्थ है कि हम कविता के तर्क को प्रधान स्थान देते हैं। विशेष क्षण से यथार्थ की महत्ता स्वीकार की जा रही है और एकाएक आये हुए से तात्पर्य है कि हमारी सर्जनशक्ति या कल्पना की तीव्रता। इस प्रकार वर्ड्सवर्थ ने कविता की परिभाषा में तीनों तत्त्वों का आदर किया है। अँगरेज़ी के आज के सुप्रसिद्ध आलोचक एबर क्रोमबाई ने लिखा है—'कविता एक मनुष्य का ऐसे शब्दों में व्यक्त अनुभव है, जो कि पढ़ते ही बहुत से लोगों का अनुभव बन जाता है।' काव्य की यह परिभाषा मेरे सिद्धांत की ओर ही संकेत कर रही है। 'बहुत से मनुष्यों' द्वारा लेखक ने तर्क, कल्पना और यथार्थ, तीनों की ओर एक साथ ही संकेत कर दिया है। प्रत्येक मनुष्य के अंदर ये तीनों प्रवृत्तियाँ होती हैं। यदि इन तीन प्रवृत्तियों को तीन पहिये मान लिया जाय तो यह स्पष्ट हो जायगा कि तीनों पहिये बराबर होने पर ही गाड़ी के चलने में सौन्दर्य आवेगा।

पनघट

मास्टर उमादत्त सारस्वत, कविरत्न

(१)

शीश पर कंचन-कलस है विजय-छत्र, मुख पै मयंक-मुखी के ललित-लट हैं;
एक हाथ घूँघट-समीप रहता है, और एक हाथ रज्जु युत कटि के निकट है।
चंचल समीर छेड़ता है रह-रह जब, अंचल इधर से उधर जाता हट है;
ध्यान एक-मात्र पनघट का हृदय में है, अंग-अंग से उमंग हो रही प्रकट है।

(२)

आई भरने हैं जल सुन्दरी-सहेलियाँ ये, कोई 'दत्त' या कि परियों का जमघट है;
कोई खींचती हैं जल, कोई हैं उठाती घट, कितना सुरम्य यह मूक चित्रपट है।
खिल तारिकाओं सी रही हैं कितनी ही खड़ी, मानो अति दीप्तिमान चन्द्र-लोक-तट है;
हास-परिहास के प्रसून झड़ते हैं जहाँ, तुम सम कौन भाग्यशाली पनघट है?

(३)

देखो, उस ओर एक बाँधती घड़े में डोरी सीखती दो प्रेमियों के हृदय मिलाना है;
कूप में है डालती उसे, तो सिखलाती यह, कितना कठिन प्रेम-पथ अपनाना है।
मानती न फिर भी है, जल में डुबोती मानो, हृदय लगा के इसी भाँति मिट जाना है;
लगन-तपस्या में सफल घट तो भी हुआ, क्योंकि वह जानता प्रणय का निभाना है।

(४)

मेल घट-रज्जु का न सुन्दरी से देखा गया, चखने दिया न हाय! मीठे प्रेम-फल को;
खोल प्रीति-ग्रन्थि दी निठुर बनकर और, रज्जु को मरोड़ दिया, धिक इस छल को!
दारुण-वियोग-दृश्य सामने उपस्थित है, देखिये परन्तु घट के तो आत्मबल को;
आया घर छोड़ जो समाया उर में है फिर, कैसे त्याग देता वह वीर उस जल को।

(५)

घट को विलोक सच्चे-प्रेमी पनिहारिन ने, मान-युत उसको बिठाया है बगल में;
रज्जु को चढ़ाया शीश पर हो मुदित मन, आई है हिलोर यह देख मित्र, जल में।
धन्य है प्रणय और धन्य है मिलन यह, जीवन सफल हो गया है एक पल में;
छलक रहा है प्रेम-रस छल-छल कर, झलक रहा है स्नेह वारि-बुन्द-दल में।

इस प्रकार इन तीन तत्वों की ओर समालोचक ध्यान तो देते रहे, पर इतना न सोच पाये कि तीन तत्व, जितनी अधिक मात्रा में होंगे, साहित्य उतना ही ऊँचा होगा। 'इतना न सोच पाये' कहकर मैं दम्भ नहीं करता, वरन् यह स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि आलोचना का जन्म असत्साहित्य से सत्साहित्य की रक्षा के लिए होता है। इस कारण और लोगों ने अधिक नहीं सोचा। और बिना अधिक सोचे यह सत्य मिल भी नहीं सकता। आज के साहित्य में, विशेषकर हिंदी-साहित्य में जब कि साहित्यकार निरंकुश होकर लिखते और अपनी तुकबंदियों के द्वारा अपने को 'विद्रोही कवि' घोषित करते और पत्र-सम्पादकों के द्वारा महाकवि कहलाते हैं, पाठकों को उनके मूल्य की सच्ची तुला मैंने ऊपर दी है। इस तुला के द्वारा ही हमें देखना चाहिए कि किस 'महाकवि' और 'विद्रोही कवि' में कितनी आयु है।

विद्यापति-विरह

(३)

[माघ २००२ की संख्या से आगे]*

श्रीसरस वियोगी बी० ए०

भावात्मक काल्पनिक

समय पाय तरुवर फड़रे
कतवो सिचु नीर।
[गी० ८००]

चाहे कितना जल दो अवसर आने पर तरु फलते हैं।
राधा कितना ही रोओ समय पर ही प्रियतम मिलेंगे।
[विद्यापति]

विरह में जहाँ हृदय साफ़ होते हैं, शरीर तप कर कुंदन सा चमकने लगता है, आत्मा परमात्मा से मिल जाती है, वहाँ कल्पना की बहुत ऊँची-ऊँची उड़ानें भी देखने को मिलती हैं। बेचारी राधा को कृष्ण के पास रहते संयोग का सुख मिला। दूर जाते विरह की व्याधि मिली। सखियों के लांछन मिले। गुरुजनों का तिरस्कार मिला। परन्तु अमर कवि विद्यापति के विश्वास ने 'राधा तुझे हरि मिलेंगे' जीवित रक्खा। वह दिन-दिन भावुक होती गई। अब वह सोचने लगी 'हरि कब मिलेंगे।' 'यदि मिलें तो मैं उनसे कैसे बातें करूँगी'। यह राधा का कल्पना से भरा हुआ वियोग में भावनाप्रधान रूप है। रात में उसे कृष्ण के सपने आते। दिन में काग बोलते सुनाई देते। माधव आये यह भावना रह-रहकर हृदय में उठती।

इसी अवस्था का—प्रभात को टूटते हुए एक स्वप्न का—देखिए, विद्यापति ने कितना सुन्दर चित्रण किया है—

सुतलि[1] छलहु हम घरवारे गरवा मोति हार।
राति जखनि[2] भिनसरवारे, पिअ आएल हमार॥
कर कौशल कर कपइतरे, हरवा डेर टार।
कर पङ्कजे डर थपइतरे, मुख चन्द निहार॥
केहनि अभागलि बैरिनि रे, भागलि मोर निन्द।
भलकए नहि देखि पाओल रे, गुणमय गोविन्द॥
विद्यापति कवि गाओल रे, धनि मन धरु धीर।
समयै पाय तरुवर फड़ रे, कतवो सिचु नीर॥
[गी० ८००]

मैं सोई थी। मेरे गले में मोती का हार पड़ा था। रात बीत चुकी थी। भोर हो रहा था। मेरे प्रिय घर को आये। चतुराई से काँपते हुए हाथों से उन्होंने मेरे गले का हार हटाया। छाती पर हाथ रखकर मुख देखने लगे। मैं कैसी हतभागिनी थी। मेरी नींद खुल गई। अच्छी तरह देख भी न पाई। गोविन्द

---

* लेख के भीतर दिये हुए गीत के अंक तथा उद्धरण श्रीनगेन्द्रनाथ गुप्त द्वारा संकलित तथा संपादित और इंडियन प्रेस, प्रयाग द्वारा मुद्रित विद्यापतिपदावली के हैं।

१ सोई थी। २ जिस समय।

चले गये। विद्यापति कवि कहते हैं—धीरज धरो राधा, समय आने पर ही तरुवर फलते हैं, चाहे कितना ही पानी क्यों न दो।

राधा के आँगन में चंदन का एक पेड़ है। उस पर एक काग बोल रहा है। कवि-परिपाटी विरह में काग के बोलने को शुभ एवं प्रिय के आगमन का संकेत समझती है। राधा भी काग के बोल सुनकर कहती है—"हे काग ! आज यदि प्रिय आये तो मैं सोने से तेरी चोंच मढ़ा दूँगी।" किसी अन्य कवि ने भी कहा है—

'सोने सों चोंच मढ़ैहों तेरी
बलि जैहों पपीहा पिया कहि फेरिकै।'

मोराहि रे अँगना चँदन केरि गछिआ[1]।
ताहि चढ़ि कुरु रए[2] काक रे॥
सोने चन्चु बँधए देव मोए वाअस।
जओं पिआ आओत आज रे॥
[गी० ८०२]

परन्तु इस दिशा में विद्यापति के सर्वश्रेष्ठ गीत वहाँ हैं जहाँ राधा मान करती है। सोचती है, कृष्ण से न बोलूँगी—छलिया थे न। पर फिर दूसरे ही क्षण सोचती है—प्यारे से कैसे न बोलूँगी। कहीं वह लौट गये तो मैं अभागिनी कहाँ जाऊँगी। पर चतुर राधा—नागरी राधा—बीच का पथ निकाल लेती है। सोचती है—यदि वह आये तो बोलूँगी भी और नहीं भी बोलूँगी।

एक उड़ता हुआ चित्र देखिए—

अङ्गने आओब जब रसिया।
पलटि चलब हम ईसत[3] हसिया॥
रस नागरि रमनी।
कत कत जुगुति मनहि अनुमानी॥
आवेशे आँचरे पिया धरबे।
जाओब हम जतन बहु करबे॥
कंचुया[4] धरब जब हठिया।
करे कर बाँधब, कुटिल आध दिठिया॥
रभस माँगब पिया जबहिं।
मुख मोड़ि, विहुसि बोलब नहि नहि।
सहजहि सुपुरुख भमरा।
मुखकमल मधु पीयब हमरा।

तेखने[1] हरब मोर गेयाने।
विद्यापति कह धनि तुय धेयाने॥
[गी० ८०६]

अर्थात् मेरे आँगन में जब रसिक आवेंगे, तब मैं थोड़ा-थोड़ा हँसती हुई पीठ दिखाकर चल दूँगी। वह दौड़कर मेरा अंचल पकड़ने लगेंगे। [कहेंगे—राधा मुझसे भूल हुई। पर नहीं मैं न मानूँगी] वह रोकेंगे पर मैं भागने की चेष्टा करूँगी। तब मेरे प्रियतम हठ कर मेरी चोली पकड़ लेंगे। मैं उनका हाथ कसकर पकड़ लूँगी और तिरछी आधी चितवन से देखूँगी। प्रियतम रसक्रीड़ा माँगेंगे, परन्तु मैं मुख मोड़ कर हँसूँगी। नहीं नहीं कहूँगी। परन्तु हे सखी ! जब सरल स्वभाव से मेरा सुपुरुष मेरा भ्रमर मेरे मुख-कमल का मधु पीने लगेगा तब मैं क्या करूँगी ? मेरा सारा ज्ञान हर जायगा। विद्यापति कवि कहते हैं—राधा तेरा ज्ञान धन्य है।

इस गीत में जो बात देखने की है वह है; 'रस नागरि रमनी। कत कत जुगुति मनहि अनुमानी'। राधा रसनागरी है। प्रिय के आने से पूर्व ही वह न जाने कितनी बातें सोचती है। कहीं मान है, कहीं प्रेम-प्रसंग है, कहीं नोक-झोक है, कहीं सखी को सीख है, कहीं मिलन है, कहीं अभिसार है। भावना की न जाने कितनी ऊँची-ऊँची उड़ानें इस विरह-गगन के नीचे भरी गई हैं। वह विरस हृदय होगा जो रस के इस स्रोत से अपनी प्यास न बुझा सके। मान-भंग का एक चित्र लीजिए—

हमर मन्दिरे जब आओब कान।
दिठि भरि हेरब से चाँदबयान॥
नहि नहि बोलब जब हम नारि।
अधिक पिरीति तब करब मुरारि॥
करे धरि मझु बैसाओब कोर।
चिर दिने साध पुराओब मोर॥
करब अलिङ्गन दूर कए मान।
ओर से पूरब हम मुदब नयान॥
भनइ विद्यापति सुन वर नारि।
तोहर पिरीतिक जाउ बलिहारि॥
[गी० ८०९]

हमारे मन्दिर में जब कृष्ण आवेंगे, तब वह प्रीति-

---

१ वृक्ष। २ बोल रहा है। ३ थोड़ा थोड़ा। ४ चोली।

१ उस समय।

भरी दृष्टि से मुझे देखेंगे । मैं उनसे 'नहीं नहीं' कहूँगी। माधव मुझसे और भी स्नेह करेंगे । वह मेरा हाथ पकड़कर मुझे अपनी गोद में बैठा लेंगे । मेरी युगों की साधना पूरी हो जायगी । मेरा मान दूर कर प्यारे मेरा आलिंगन करेंगे । मैं उन्मुक्त होकर अपने दोनों नेत्र मूँद लूँगी । विद्यापति कवि कहते हैं—हे श्रेष्ठ नारी, तेरी प्रीतिरीति की बलिहारी है ।

अभिसार [शृंगार] के दो अन्य गीत भी इस स्थल पर उल्लेखनीय हैं । इन गीतों में राधा प्रिय के आने से पूर्व ही विरहजनित सारे क्लेश को हटाकर स्वस्थ शरीर एवं शान्त मन से उनसे मिलने के लिए षोडश शृंगार करके बैठती है । इतने दुःखदायी विरह का इतना सुखदायी अन्त जहाँ विद्यापति की विशुद्ध भारतीयता का—जो संसार के संघर्ष में केवल आनन्द की उत्पत्ति देखती है—द्योतक है वहाँ यह भी निश्चित रूप से सिद्ध कर देता है कि राधा 'कुल-ललना' थी, कृष्ण 'सुपुरुष' थे तथा राधा कृष्ण का स्नेह केवल लौकिक न होकर पारलौकिक था । विरह के इस दीर्घ काल में राधा ने एक क्षण के लिए भी अपने प्रियतम प्रभु का विश्वास न खोया और यही सोचती रही कि वह कभी न कभी मिलेंगे । यह विश्वास जहाँ उसे जीवित रखने में सहायक हुआ वहाँ उसने इन अमर गीतों का भी—जो भौतिक मिलन के पूर्व विरह में ही काल्पनिक एकता पर अवलम्बित हैं—निर्माण किया ।

पहला गीत है—

पिया जब आओब इ मझु गेहे ।
मङ्गल जतहुँ करब निज देहे ॥
कनया[1] कुम्भ करि कुच युग राखि ।
दरपण धरब काजर देइ आँखि ॥
वेदि बनाओब हम अपन अङ्गमे[2] ।
झाडु करब ताहे चिकुर बिछाने ॥
कदली रोपब हम गरुय[3] नितम्ब ।
आम्रपल्लव ताहे किङ्किनि सुझम्प ॥
दिशि दिशि आनब कामिनि[4] ठाट ।
चौदिगे पसारब चाँदक हाट ॥
विद्यापति कह पूरब आशा ।
दुइ एक पलके मिलब पाशा ॥

[गी० ८०७]

१ सोने के । २ गोद में । ३ विशाल । ४ लाऊँगी ।

अर्थात् प्रियतम जब मेरे घर में आवेंगे, तब मैं सारा मंगल अपने शरीर में ही करूँगी । [क्यों नहीं ?] जिस शरीर ने इतने बड़े एवं कष्टप्रद विरह को सँभाला हो वह सारा मंगल भी एकत्र कर सकता है । 'इ मझु गेहे' से राधा के शरीररूपी गेह का अर्थ है [उसके मिट्टी के घर से नहीं] । कृष्ण के सम्मुख राधा अपने को उसी प्रकार अर्पित करेगी, जिस प्रकार एक भक्त भगवान् के सम्मुख अपने को न्योछावर करता है । राधा कहती है—मैं अपने दोनों कुचों को मंगल स्वर्णकलश बनाऊँगी । आँखों में कजली लगाकर उन्हें दर्पण-सा स्वच्छ करूँगी, ताकि मेरे प्यारे जब मेरे नेत्रों में देखें तो उन्हें राधा के नयनों में कृष्ण की प्रतिच्छवि दिखाई दे । मैं अपनी गोदी को वेदी बनाऊँगी । केशों को खोलकर उनसे झाडू लगाऊँगी । अपने विशाल केले-सदृश नितम्बों के खंभों में किंकिणी के आम्रपल्लव बाँधूँगी । दिशा-दिशा से सुन्दरियों के समूह लाऊँगी । चारों ओर चन्द्रमुखियों के मुख ही मुख दिखाई देंगे । विद्यापति कवि कहते हैं—प्रिय से मिलकर मैं सारी इच्छाओं की पूर्ति करूँगी ।

ऐसा ही दूसरा पद है—

हरि जब आओब गोकुलपूर ।
घरे घरे नगरे बाजब जयतूर ॥
अलिपन देओब मोतिम हार ।
मङ्गलकलस करब कुच भार ॥
सहकार पल्लव चुम्बन देब ।
माधव सेवि मनोरथ नेब ॥
धूप दीप नैवेद करब पिआ आगे ।
लोचन निरे करब अभिषेके ॥
विद्यापति कह इह रस तन्त ।
मूरुख न बुझए, बुझ गुनमन्त ॥

[गी० ८०८]

अर्थात् जब हरि गोकुल में आवेंगे, घर-घर नगाड़े बजेंगे । राधा कहती हैं—मैं अपने देहरूपी घर में ऐपन दूँगी । कुचों के मंगलकलश रक्खूँगी । चुम्बन के पल्लव दूँगी । माधव की सेवा करके मनोरथ प्राप्त करूँगी । अपने आपको धूप-दीप-नैवेद्य के स्थान प्रिय के सम्मुख रख दूँगी । नेत्रों के जल से अभिषेक करूँगी । विद्यापति कवि कहते हैं—यह रस का सार है । मूर्ख इसे नहीं समझ सकते, गुणवान् ही समझेंगे ।

[क्रमशः]

PEARS

पावस

साहित्य-रत्न त्रिवेदी पं० अखिलेश शर्मा काव्य-धुरीण

(१)

चातक चटुल, मोर, दादुर मचावैं सोर, बीथिन में बक चहुँघा ते बिचरै लगे।
'अखिलेस' छोटे-छोटे तृन अंकुरौहैं सहि, आक औ जवास जूह छिन में जरै लगे॥
कलित कदम्ब पुलकौहैं, उमगौहैं भरि, इन्द्रबधू-वृन्द बसुधा में बिथरै लगे।
घेरि-घेरि घहरि घुमंडि झुंड-झुंड मंडि, बादर बिलासी ब्योम बीच बिहरै लगे॥

(२)

लहरैं ललित ये लवंगनि की लोनी लता, कहरैं कलापी, छबि छहरै अमद की।
धाय-धाय धुरवा धुँवारे नभ छाय रहे, पुरवा बहति मन्द, सीतल, सुघर की॥
'अखिलेस' हेरि-हेरि हौंसनि हरेरे हार, रौसनि में भूली मति-गति चराचर की।
झहरि-झहरि बोलैं बेदरद झिल्ली-गन, घहरि-घहरि गिरै धार जलधर की॥

(३)

कूकै लगे केकीगन, भेकी तन फूकै लगे, भूकै लगी झंझा पौन सुधि बुधि नासी री!
'अखिलेस' जुगनू चमंक अँधियारी रैनि, दामिनी दमंक है बियोगिनि को फाँसी री॥
डोलि-डोलि ललित लतान के बितानानि पै, पी कहाँ? पपीहा बोलि करत सु हासी री!
कादर करन हेत चादर-सी ब्योम तानि, बरसन लागे बिष बादर बिसासी री॥

(४)

तमकि-तमकि तीखी तानि तड़िता की तेग, तोपि तम-तोम अवनी को पथ मूँदै है।
'अखिलेस' नभ में सँवारि बग पंगति को, संग लै पपीहरा करत अति दूँदै है॥
मोरत न नैंकु मुख लाज-गढ़ तोरत है, इन्द्रधनु उदित अकास, दिसि खूँदै है।
पावस महीप साखि बादर बहादर लै, बरसै बियोगिनि पै बान जैसी बूँदै है॥

(५)

आयो सखि, सावन बिदेस मनभावन, न धावन पठायो इत हृदय हिलोरे देत।
'अखिलेस' झूलैं सबै संगिनी हिंडोरे बैठि, जेब अति जेवरै जराऊ गात गोरे देत॥
मेरे मन भावत न भावती तिहारी सौंह, हारी कै जतन जीव धीरज बिथोरे देत।
निकसे परत प्रान मदन-मसोसन सों, राखै कौन हा! बिरह-बारिधर बोरे देत॥

श्रीरत्नगिरीजी का अद्भुत चमत्कार

जिसने समस्त संसार को चकित कर दिया

रक्त, बल, वीर्य, उत्साह तथा उमङ्ग ही जीवन सफल बना सकती है

ध्यान देने योग्य अमूल्य उपहार

अपूर्व कायापलट (रजिस्टर्ड)

निःस्वार्थ संसारसेवी भारतीय महात्माओं ने औषध-विज्ञान को अपनी महान् खोजों और अमूल्य रत्नों से अलंकृत किया है। आधुनिक चिकित्सक मर्ज़ और मरीज़ जब दोनों को लाइलाज घोषित करके शर्मिन्दा नहीं होते, वहाँ इन्हीं महात्माओं की बिना दाम की जड़ी-बूटियाँ मुर्दों को भी जिला सकने में समर्थ हुई हैं। ऐसी सच्ची घटनायें आये दिन एक न एक पढ़ने और सुनने में आया करती हैं।

बीस वर्ष पूर्व कहाती पहाड़ी पर विचरण करनेवाले स्वामी रत्नागिरीजी महाराज की सेवा एक बूढ़ा ग्वाला करने लगा। योगिराज को एक दिन उस वृद्ध की कमज़ोरी पर दया आ ही गई और उन्होंने निम्न लिखित योग की ६ मात्रायें उस बूढ़े को दीं। नासमझी के कारण छहों मात्रायें एक साथ खा जाने से उस वृद्ध ग्वाले में अपूर्व शक्ति आ गई और रत्नागिरीजी के परिश्रम-पूर्वक इलाज करने पर भी बुढ़ापे के बावजूद उसे तीन विवाह करने पड़े। इस पर राजा, रईस, नवाब और रसिकजन महान् योग को जानने के लिए आतुर हो उठे। नवाब बहावलपुर के ससुर हाजी हयात मोहम्मदख़ाँ साहब ने बाबाजी की बहुत सेवा करके इसे प्राप्त कर लिया और लाहौर के पं० ठाकुरदत्त शर्मा को बतलाया। शर्माजी ने इसे प्रथम तथा दो अन्य लिखकर तीनों से उत्तम बाजीकरण बतलानेवाले को एक हज़ार रुपये का नक़द इनाम देने की घोषणा की। इसे आज बीस साल के लगभग हो गये किन्तु अभी तक कोई पुरस्कार विजय नहीं कर सका। मथुरा के ख्यातिप्राप्त बाबू हरिदासजी ने उसे चिकित्सा-चन्द्रोदय में छपवाया और हमने भी स्वयं बनाकर सैकड़ों दुर्बल, नपुंसक, वीर्य-विकारी रोगियों पर बरता। तत्काल लक्षण चमत्कार देख जन-साधारण के लाभार्थ अनेक पत्र-पत्रिकाओं में छपवा दिया। आप भी बनाकर लाभ उठावें।

योग—शुद्ध बुरादा फ़ौलाद २० तोला, शुद्ध श्वेत मल १ तोला, शुद्ध कपूर १॥ माशा, एक घण्टा घृतकुमारी में घोटकर, मिट्टी के कुज्जे में मज़बूत बन्द कर पाँच सेर कण्डों में फूँकें। दुबारा एक तोला हरतालबर्की शुद्ध १॥ माशा कपूर शुद्ध में तीसरी बार गन्धक आमलासार शुद्ध ६ तोला, कपूर १॥ माशा में चौथी बार शुद्ध संस्कारित पारद १ तोला, कपूर १॥ माशा को ऊपर की भाँति १६ आँच दें। फिर उसको कढ़ाई में डालकर बराबर इन्द्रवधू डाल दें और नीचे आग जलावे। जब इन्द्रवधू जलकर राख हो जावे तो हवा देकर उड़ा दे। बस अपूर्व कायापलट तैयार है। चार-चार चावल सायं मक्खन, मलाई के साथ खावें ऊपर मिश्री मिला दूध पीवें।

मथुरा के हरिदासजी लिखते हैं इस योग के सेवन से एक हफ़्ते में एक आदमी का वज़न चार पौंड बढ़ गया, दूसरे का चेहरा लाल सुर्ख़ हो गया। भूपाल के वैद्यराज पं० बालकृष्ण शर्मा ने ३५० रोगियों पर बरता और आशा से अधिक गुणकारी पाया। रत्नाकर सम्पादक श्रीछोटेलाल जैन आयुर्वेदाचार्य ने गृह-चिकित्सा पथ-प्रदर्शक में छापा कि इतना प्रचण्ड गुणकारी योग दूसरा नहीं देखा। श्रीधर्मेन्द्र विद्यावतंस सिद्धान्त-शास्त्री अधिष्ठाता गुरुकुल बरला ज़िला मुज़फ़्फ़रनगर ने लिखा है—"अपूर्व कायापलट" नामक औषध सेवन कर रहा हूँ। जैसी प्रशंसा वैसा ही गुण है। बहुत लाभ हुआ। श्रीचिरञ्जीलाल जैन आयुर्वेदशास्त्री मालिक कल्याण औषधालय बाह (आगरा) का कहना है कि मैंने २२५ रोगी अपूर्व कायापलट द्वारा, जो कि धातु-विकार, नपुंसकता, बवासीर, रक्त-विकार आदि रोगों से ग्रसित थे, पूर्ण स्वस्थ किये।

हमारा दावा है कि केवल सात दिन के सेवन से शरीर में रक्त दौड़ता नज़र आयेगा। २१ दिन में चेहरा लाल काश्मीरी सेब की तरह चमकने लगेगा। ४० दिन में नपुंसकता, मधुमेह, डायबटीज़, निर्बलता दूर हो जाती है। स्त्रियों के प्रदर दूर हो गर्भधारण शक्ति आती है। जिगर व मेदे की शक्ति बढ़ाकर भूख दूनी करता है। कफ, तिल्ली की ख़राबी, खाँसी, नजला, जुकाम, बदन दुखना, ख़ून का पतलापन, आँखों का पीलापन, चिनगारी-सा उड़ते दीखना, बार-बार थूक गिरना, दमा तथा हर तरह की कमज़ोरी तुरन्त दूर कर नव-जीवन का संचार करता है। जाड़ा, गरमी, बरसात सभी मौसमों में एक सा लाभ करता है। योग भली भाँति समझा कर लिखा है। फिर भी यदि आप न बना सकें तो बनी-बनाई १६ आँच दी हुई ४० दिन की ८० मात्रा ६॥=) डाकख़र्च माफ़ पैकिंग ख़र्च मनीआर्डर फ़ीस अलग। कोई बात समझ में न आवे तो जवाबी कार्ड भेजकर उत्तर मँगा लें।

पता—**रूपबिलास कम्पनी,**

(रसायनशाला) नं० ४२ सुधनकुट्टी, कानपुर

हमारे साहित्य के मूलतत्त्व

पं० गोविन्दनारायण शर्मा 'विशारद'

साहित्य एक विचारपरम्परा है। विचार-उद्भावन किसी लक्ष्य व उद्देश्य को लेकर ही हुआ करता है। निरुद्देश्य विचारधारा जिसे कहते हैं, वह भी एक उद्देश्य पर अवलम्बित रहती है, हवाई क़िले बनानेवाली विचार-परम्परा का उद्देश्य है मस्तिष्क को संलग्न रखना—विचारक की अन्तरात्मा को एक अन्तःप्रवाह में तरङ्गित रखना। तब साहित्य नाम से व्यवहृत परिपक्व विचारपरम्परा निरुद्देश्य, निर्लक्ष्य क्योंकर रह सकती है? विचारक पहले एक लक्ष्य बनाता है और तब उसके चारों तरफ़ अपने विचार-तन्तुओं को प्रसारित करता है।

साहित्यकार या कलाकार एक मनुष्य है, इसीलिए उसके मनोभाव मनुष्य और मनुष्य-जीवन से सम्बन्ध रखनेवाली बातों से सम्बन्धित होंगे। और तब जीवन, जो स्वयम् एक बहुत बड़ा, किन्तु अप्रकट लक्ष्य है, उससे सम्बन्धित साहित्य क्योंकर लक्ष्यरहित या निरुद्देश्य हो सकता है?

साहित्य का उद्देश्य जीवन की व्याख्या करना है, इसीलिए उसका लक्ष्य महान् है। अब देखना यह है कि जब साहित्य का लक्ष्य जीवन की व्याख्या करना है, तब किस-किस जाति के साहित्य ने इस लक्ष्य की पूर्ति की है। साहित्य का जातीयता से अभिन्न सम्बन्ध है। प्रत्येक साहित्य में जाति का मस्तिष्क, और प्रत्येक जाति के आचरण में उसके साहित्य का प्रतिबिम्ब रहा करता है। तुलनात्मक अध्ययन के द्वारा ही यह ज्ञात हो सकता है कि कौन-सा साहित्य कहाँ तक साहित्य के मूलतत्त्व के सन्निकट रहा है।

पाश्चात्य साहित्य में जीवन का अर्थ दृश्य-तत्त्व से लिया गया है, जब कि प्राच्यों ने दृश्य-तत्त्व को कुछ न समझकर उसके भीतर रहनेवाले विचारों के मूल में पहुँचना अपने साहित्य का लक्ष्य रक्खा है। दोनों ही दृष्टियों में सत्यता है, परन्तु इन दोनों ही सत्यों में भेद अवश्य है। एक का सत्य आश्रित सत्य है; और दूसरे का सत्य आश्रय। आश्रय सत्य ही मूल सत्य है। पाश्चात्यों ने जिस दृश्य-सत्य की खोज और व्याख्या की है, उसे भारतीयों ने गौण मानकर अपने साहित्य की विचारधारा को दो रूपों में प्रवाहित किया है—

१ सृष्टि-सौंदर्य का आसक्तिरहित आस्वादन और
२ व्यक्तित्व के मोह का परित्याग।

समूचे भारतीय साहित्य में ये ही दो सिद्धान्त परिव्याप्त हैं। साहित्य की परिगणना में आनेवाली भारतीय कृतियों में जीवन की व्याख्या का रूप अनेकत्व में एकत्व की संस्थापना करना ही रहा है।

यही वह भावना है जिसके बल पर भारतीय साहित्य के अरुणोदय से ही भारतीय कलाकार अपनी वृत्ति में अनासक्त रहकर स्वयं उसमें खोया रहता है। उसके नाम के अतिरिक्त और उसका कोई पता नहीं चल सकता। इसीलिए भारतीय साहित्य व्यक्तित्व-रहित और समष्टि-प्रधान होता चला गया है। समष्टि-प्रधान साहित्य जीवन के अधिक निकट होता है, अतः वह जीवन की व्याख्या भी सम्पूर्ण एवं सांग कर सकता है। भारतीय प्राकृतिक तत्त्वों के साथ क्रीड़ा करता है, उनके परिणाम-विपरिणामों के चित्र खींचता है। संसार के द्वन्द्वात्मक जीवन को सुलझाकर उसमें सरल प्रवाह ला देना ही भारतीय साहित्य का मूल लक्ष्य है। सौंदर्य के पार्थिव रूप को हटाकर उसके दृश्य आवरण के भीतर छिपी रहनेवाली दिव्य आत्मा का सौंदर्य निखारकर पाठक के समक्ष रख देना भारतीय साहित्य की अपनी विशेषता है। भारतीय साहित्य की यह मूल वृत्ति परम्परा से हिन्दी-साहित्य को भी पैतृक सम्पत्ति के रूप में प्राप्त होना स्वाभाविक ही था।

हिन्दी-साहित्य के इतिहास का विद्यार्थी स्पष्ट रूप से जानता है कि इसका आरंभ और विकास ऐसे व्यक्तियों के द्वारा हुआ है, जिनका उद्देश्य मनोरंजन के लिए ही साहित्य-निर्माण करना नहीं था, वरन् अपने धार्मिक व साम्प्रदायिक सिद्धान्तों का प्रचार व प्रसार करना भी था।

यद्यपि हिन्दी-साहित्य का श्रीगणेश 'वीरगाथा' काल से होता है, और इस काल की कतिपय वीर रचनाओं द्वारा ही इस काल का मूल्याङ्कन किया जाता है, तब भी इतिहास के कोने देखने से पता चलता है कि हिन्दी-साहित्य के आरंभ के साथ ही हिन्दी-भाषाभाषी प्रान्तों में धार्मिक आन्दोलन आरंभ हो चुका था जिसके मूल में भारतीय साहित्य की दार्श-

निकता का गहरा स्तर जमा हुआ था—आत्मवाद का पक्वापुट चढ़ा हुआ था। इन्हीं आन्दोलनों के फल-स्वरूप हिन्दी भाषा में साहित्य का सर्जन हुआ, जिसका आगे चलकर १५ वीं से १६ वीं शताब्दी पर्यन्त विकास और प्रसार बहुत ही अधिक मात्रा में हुआ। यहाँ तक कि हिन्दी का भावी साहित्य भी चाहे किसी भावना से प्रभावित क्यों न होकर चले, वह भक्ति-कालीन विचारधारा के निसर्गसिद्ध सौंदर्य को दबा नहीं सकता, और आश्चर्य नहीं, वैष्णव साहित्य पीढ़ियों तक अपने प्रभाव से हिन्दी के भावी साहित्य की उच्छृङ्खलता को दबाता रहे।

वीरगाथा-काल के प्रतिनिधि कवि चंद भले ही हिन्दी के आदिकवि कहे जायँ, पर न तो उनके द्वारा व्यवहृत भाषा और न भाव ही हिन्दी साहित्य के विकास में सहायक सिद्ध हो सके। परन्तु, दूसरी ओर एक ऐसा नाम सामने आता है जो स्वयं कहता है—"मसि कागद छूयो नहीं कलम गही नहिं हाथ", लेकिन जिसकी वाणी समस्त हिन्दी क्षेत्र तथा उसके भी बाहर तक गूँज गई, और जिसकी वाणी को सदियों ने दुहराया, और शायद सहस्राब्दियाँ उसकी आवृत्ति करती रहेंगी। वह है कबीर। कबीर की रचना केवल मनोरंजन के लिए न थी और न वह किसी राजदरबार के वातावरण को प्रकम्पित करना चाहती थी। उसे तो केवल अपने धार्मिक तत्वों का अन्वेषण करके आत्म-शान्ति के मार्ग का निर्माण करना था, और करना था मानव जीवन का परीक्षण, जिसकी साहित्य व्याख्या किया करता है।

अमर सत्य के लिए कबीर ने अमर वाणी का प्रयोग किया है, इसी कारण कबीर की वाणी में वह बल है, जिसे काल के थपेड़े शिथिल नहीं बना सकते। कबीर की वाणी सदा वर्तमानकालीन रहती है, क्योंकि उसमें साहित्य के मूलतत्व वर्तमान रहकर अनेकत्व में एकत्व की सृष्टि किया करते हैं, जो भारतीय साहित्य का मुख्य धर्म एवं उद्देश्य है।

हिन्दी भाषा जितनी भी प्रकार की विचारधाराओं की अभिव्यंजना का माध्यम बनी, वे सभी आपस में भिन्न रहने पर भी, यह बात उत्कट सत्य है कि आत्म-सम्बन्ध से धर्मप्रधान ही रही हैं।

कबीर से आगे मलिक महम्मद जायसी का काव्य इस बात का प्रबल प्रमाण है कि उन्होंने भी अपने सूफ़ी धर्म के सिद्धान्तों की ममता से प्रेरित होकर लौकिक कथाओं के द्वारा दिव्य प्रेम की ओर समाज को खींचा, अनेक हृदयों को एक महान् हृदय की ओर आकृष्ट किया। यह वह प्रभाव था, जो जायसी के हृदय पर भारतीय वातावरण के सम्पर्क से पड़ा था और जिसके द्वारा उन्होंने अपने सूफ़ीमत का प्रचार सुगम और स्थायी समझा था।

सूर और तुलसी के काव्य जो चिरजीवी, लोकरंजनकारी एवं समाज के सम्यक् बिम्ब कहे जाते हैं, इसका भी यही कारण है कि उनमें धार्मिक सिद्धान्तों का जीवन के साथ अभिन्न पुट दिया गया है, समाज के प्रत्येक पहलू को उन्होंने अपने सिद्धान्तों की ओर खींचने में अद्वितीय सफलता पाई है। हिन्दी-साहित्य के समूचे भाण्डार में आज भी भक्ति-साहित्य का पलड़ा भारी पड़ता है। इसका श्रेय सूर तथा तुलसी को ही विशेष है।

धर्म और साहित्य का यह अमर गठबन्धन जो परम्परा से भारत की निधि बना चला आता है, हिन्दी में आकर ख़ूब ही पनपा। वैसे संसार की किसी भी भाषा का कोई भी साहित्य ऐसा न होगा, जिसका आदिकाल किसी न किसी प्रकार धर्म से प्रभावित न हुआ हो, पर जो देश व जातियाँ जितनी आध्यात्मिक अधिक रहीं, उन्होंने अपने साहित्य की शिला-भित्ति धर्म के आधार पर उतनी ही अधिक सुदृढ़ बनाई। भारत ऐसे देशों में प्रमुख एवं अग्रसर है।

भारतीय साहित्य की इसीलिए अपनी यह एक मौलिकता है। वह संसार की व्याख्या करते समय संसार के रचयिता को नहीं भुलाता। उसे इन दोनों ही में अभेद रखकर चलना पसंद है। दूसरे भारत कल्याण-भावना का भक्त है, और उत्तेजना से परे रहता है; क्योंकि वह जानता है, उत्तेजना में प्रतिक्रिया निश्चित है। भारतीय साहित्य प्रकृति-विवेक-प्रधान है। उसमें अन्धा जोश नहीं। इसीलिए भारतीय साहित्य में प्रेम जैसी उन्मत्त वृत्ति का वर्णन भी धार्मिक पुट से ख़ाली नहीं रखा जाता। दुष्यन्त और शकुन्तला के वियोग में लोकधर्म की भावना दुर्वासा-शाप के द्वारा चिरजीवित की गई है। अस्तु, कहना न होगा कि लोककल्याण द्वारा समाज में सुख-शान्ति का विकास करना ही हमारे साहित्य का मुख्य ध्येय है। संस्कृत से यह ध्येय हिन्दी को विरासत में प्राप्त हुआ है, और यदि भविष्यत् में हिन्दी के स्थानापन्न कोई दूसरी भाषा होती है तो यह तत्त्व उसे भी निश्चित परम्परा से प्राप्त होगा, क्योंकि भारतीयता की अपनी रक्षा केवल इसी

तत्त्व की अनुपमता में है। जहाँ राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र और विज्ञान जैसे विषयों में लोककल्याण का भाव न छोड़ा गया हो, वहाँ के साहित्य में, जो कि मनुष्य के सांस्कृतिक भावों का व्यक्त रूप है, धार्मिकता का अभाव क्योंकर संभव है ? यद्यपि आजकल का बौद्धिक वर्ग वैष्णव साहित्य के, जिसे हम धर्म का प्रतीक कह सकते हैं, विरुद्ध है, उसे निम्न स्तर की वस्तु बतलाता है, परन्तु यह उस वर्ग की विचारशीलता की दरिद्रता है। वैष्णव साहित्य को विवेक की दृष्टि से देखने पर पता चलता है कि वहाँ जीवन अथवा जीवन के किसी विशेष पहलू की सांगोपाङ्ग व्याख्या की गई है। यथार्थवाद के साथ-साथ उचित आदर्श की मर्यादा का पूरा-पूरा ध्यान रक्खा गया है। यों तो विष जैसी वस्तु को भी लोग जीवनरक्षा के काम में लाते हैं एवं अन्न जैसी जीवनदात्री वस्तु को भी जीवनघातक बनाकर उपयोग कर लेते हैं, पर यह दोष उन पदार्थों का नहीं, उपयोगकर्त्ता की बुद्धि और समझ का है। पाठक की अपनी मनोवृत्ति पर ही तो साहित्य का विचार-समूह झलककर उपयोगी या अनुपयोगी बनता है। अतः वैष्णव साहित्य का अध्ययनकोण बदलना आवश्यक है, तभी उसकी अमूल्यता का अनुभव किया जा सकता है।

अब इतना जानने के पश्चात् यह जानना कोई कठिन बात नहीं कि जातीयता की दृष्टि से साहित्य का अध्ययन करते समय यह जान लेना मार्के की बात है कि किसी देश के साहित्य का लक्ष्य किस ओर, और कितना पूर्ण रहा है; क्योंकि मनुष्य में ही आकर प्रकृति सर्वोच्च विकास का दर्शन कराती है, मनुष्य के द्वारा ही प्राकृतिक मनोवेगों की अभिव्यञ्जना होती है। मनुष्य एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा प्रकृति अपने चेतनातत्त्व की प्रतिक्रियारूप तर्क और मीमांसा की शक्ति को अपने में जाग्रत् करती है। प्रकृति के इस सूक्ष्म भेद को प्राच्यों ने खूब ही समझा है; और यही कारण है कि भारतीय परम्परा की प्रत्येक भाषा का साहित्य कुछ ऐसे मूल तत्त्वों को लक्ष्य में लेकर चला है, जो जीवन की व्याख्या के साथ-साथ प्रतिक्षण उसमें नवोत्साह व कर्त्तव्यपरायणता बढ़ाता चले।

मेरा मधुकर

कुमारी प्रतिभा साहू

सूनी साँझ की बेला, क्षितिज के किनारे-किनारे, कठोर कर में रिक्त प्याली लिये भग्नाश, व्यथित हृदय लेकर ठोकरें खाते कुछ रुकते, कुछ सुनते, अज्ञात दिशा की ओर चले जा रहे थे—तुम।

ठीक इसी क्षण मेरे जीवन की चिर-स्नेह-सिक्त सुकुमार श्याम-लता पर मेरे मदमाते यौवन का नन्हा पंछी फुदक-फुदककर चहक रहा था। लता की कलियाँ महक रही थीं। वह नन्हा-सा परिन्दा एक 'रुदन-गीत' गा रहा था।

मैं तुम्हें देखती ही रही। तब तक तुम क्षितिज के उस पार चले गये थे। तुमने मेरे 'करुण-गीत' का एक स्वर भी न सुना! नन्हा पंछी तड़पता ही रह गया उस दिन।

धीरे-धीरे सन्ध्या-सजनी ने रजनी-रानी का परिधान पहन लिया। मेरे लिए वह जीवन की अन्तिम काल-झंझा की घोर-विभावरी थी।

एकाकी उन्मादी जीवन के कठिन, एकाकी डगर में मैं तुम्हें न पा सकी। तुमने मुझे जीवन का अन्तिम 'करुण-गीत' नहीं गाने दिया। तुमने 'मधु-यामिनी' के समय कहा था—'तुम तो वरदानमयी नारी हो।' फिर यह विराग कैसा?

मेरे अन्तर की क्षणिक, चूड़ान्त-व्यथा साकार कथा बनकर अधिकारपूर्ण स्वरों में तुमसे पूछती है—'मधुकर! आज इन झुकी हुई ख़ामोश पलकों में जो अभिनय हो रहा है, उसका मूल क्या है?'

'अभिशप्त नारी!'

नहीं मुझे विश्वास नहीं हो रहा है। तब तुम्हीं स्वयं गाकर कह दो कि मैं क्या हूँ। या नन्हे पंछी को गा लेने दो। दूसरे दिन प्रभा-प्रदीप्त ऊषाकुमारी ने पायल की रुनझुन रागिनी बिखेरते हुए आकर कहा था—तुम्हारा मधुकर अब नहीं लौटेगा। घर से दूर, मद में चूर, वह क्षितिज के उस पार चला गया है। तब से तुम नहीं आये।

मैं आज भी मदिरा-सिक्त प्याली कोमल करों में लिये अर्ध-उन्मीलित नयनों से दूर क्षितिज के छोर देखती रहती हूँ। शायद तुम कभी लौटोगे उसी राह से।

मैं ख़ामोश हूँ। पर नन्हा पंछी सूनी साँझ की बेला में क्षितिज कूल की ओर देखकर, तुम्हारी स्मृति के सहारे एकाध 'रुदन-गीत' गुनगुना उठता है, मेरी पलक-पँखुड़ियाँ झुक जाती हैं।

हमारा दृष्टिकोण

१—श्रीमध्वाचार्य का समय

वैष्णवों का माध्व सम्प्रदाय भी एक प्रधान सम्प्रदाय है। श्रीमध्वाचार्य ने इस सम्प्रदाय को चलाया था। यह बहुत बड़े महात्मा, विद्वान् और भगवद्भक्त थे। इन्होंने किस समय जन्म लिया, इस विषय में यथेष्ट मतभेद पाया जाता है। कुछ लोगों का मत है कि इनका जन्म ११२१ शाके में हुआ था। कोई लोग इनका जन्म ११३६ शकाब्द, अर्थात् सन् ११६७ ई० को हुआ मानते हैं। कुछ लोग अनुमान से कहते हैं कि इनका आविर्भाव सन् १२३८ ई० में हुआ था। इसी तरह अनेक लोगों के अनेक मत हैं। हम यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि मध्वाचार्य किस समय में वर्त्तमान थे।

बुकानन (Buchanon) साहब ने सन् १७६६ में मैसूर, कन्नड़, मलाबार आदि स्थानों का भ्रमण किया था। बाद को अपना भ्रमणवृत्तान्त एक बड़े ग्रन्थ के आकार में उन्होंने प्रकाशित किया। घूमते-घूमते वह उडीपी में पहुँचे थे। यहाँ उन्होंने स्थानीय श्रेष्ठ पण्डितों को एकत्र करके उनकी सहायता से मध्वाचार्य का जन्मदिन निश्चित करने की चेष्टा की थी। फलस्वरूप यह निर्णय हुआ कि आचार्य का जन्म ११९९ ई० में हुआ था। डिस्ट्रिक्ट मैनुएल आफ़ साउथ कनारा में इस निर्द्धारित समय को ठीक-ठीक माना गया था। श्रीयुत सी० एन्० कृष्णस्वामी ऐयर का भी यही सिद्धान्त है। मगर उन्होंने स्वतन्त्र खोज की थी; बुकानन की खोज का सहारा नहीं लिया।

दक्षिण में माध्व वैष्णवों के कई मठ और मतम् हैं। मतम् भी मठ के ही अनुरूप समझने चाहिए। उत्तर दी मठ और अन्यान्य मतम् में माध्व मठों के आचार्यों की परम्परा एक सूची के रूप में लिखी रक्खी है। उन सूचियों के अनुसार श्रीमध्वाचार्य ने विलम्बी वर्ष में, १०४० शाके में जन्म लिया या संन्यास ग्रहण किया और ११२० शाके में, पिंगल वर्ष में उनकी लीला समाप्त हुई। १०४० शाके=१११८ ई० और ११२० शाके=११९८ ई०।

मतम् में रक्खे हुए श्रीमध्व के समय को किन्हीं-किन्हीं लेखकों ने ग्रहण किया है। ऐसे लेखकों में श्रीरामकृष्ण गोपाल भांडारकर और औफ्रेक्ट (Aufrecht) का नाम उल्लेख के योग्य है। भाण्डारकर को मतम् में रक्खे हुए समय के ऊपर विशेष आस्था है। औफ्रेक्ट ने भी अपने संकलित कोष Catalogus catalagorum में मतम् में रक्खे हुए मत को ग्रहण किया है। सलेम कालेज के श्रीसुब्बाराव मठाधिपतियों के पूर्वोक्त समय-निर्देश पर सन्देह नहीं करते। उन्होंने १०४० शाके और विलम्बी वर्ष में मध्वाचार्य के संन्यासग्रहण को ठीक मान लिया है। उनके मत में उस समय आचार्य की अवस्था १२ या १६ वर्ष की होने पर भी उनका जन्मकाल १०२५ या १०२९ शकाब्द (११०३ या ११०६ सन्) होता है। श्रीसुब्बाराव ने श्रीऐयर के उल्लिखित प्रमाण का उल्लेख नहीं किया। वह कहते हैं कि सन् ११९९ मध्वाचार्य के स्वर्गवास के बाद प्रथम वार्षिक उत्सव के अनुष्ठान का समय होगा।

हाल में प्रत्नतत्त्व की खोज से यह प्रमाणित हो गया है कि मध्वाचार्यजी ११९९ या १२०३ सन् के आदमी हो ही नहीं सकते। मध्वाचार्य के बहुत से शिष्य थे। उनमें प्रधान शिष्य चार ही थे—पद्मनाभतीर्थ, नरहरितीर्थ, माधवतीर्थ और अक्षोभ्यतीर्थ। इन चारों ने आचार्य से विद्याध्ययन किया और दीक्षा ली। अतएव ये चारों आचार्य के समसामयिक थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। पद्मनाभ ७ वर्ष तक, नरहरि ९ व तक, माधव १७ वर्ष तक और अक्षोभ्य भी १७ वर्ष तक मठाधिपति रहे। प्रमाणों से यह मालूम हुआ है कि मध्वाचार्य के तिरोभाव और नरहरि के मठाधिपति होने के बीच सात वर्ष का अन्तर है। आचार्य नरहरितीर्थ का जीवन बहुत सी उल्लेख के योग्य घटनाओं से परिपूर्ण था। वह गंजाम ज़िले के चिकाकोल नामक स्थान के रहनेवाले थे। इनके पिता कलिंग-नरेश के मन्त्री थे। कलिंगदेश के अल्पवयस्क राजकुमार के राज्य की रक्षा के लिए मध्वाचार्य की आज्ञा से संन्यासी नरहरितीर्थ ने बहुत दिनों तक कुमार के प्रतिनिधि बनकर राजकाज चलाया। विज़ीगापट्टम् के अन्तर्गत सिंहाचलम् और चिकाकोल के कई शिलालेख श्रीकूर्मदेव के मन्दिर में रक्खे हैं। ये शिलालेख ११८६

से लेकर १२१५ शाके तक के हैं। इन शिलालेखों में नरहरितीर्थ के राज्यशासन के अनेक स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं। उन्होंने अपने द्वारा शासित राज्य में और अन्य आसपास के प्रदेशों में जो सत्कार्य प्रजा के हित के लिए किये, उन सबका उल्लेख इन शिलालेखों में मिलता है। सन् १२३१ शाके का एक शिलालेख विशेष रूप से ध्यान देने योग्य है। इसमें ९ श्लोक हैं। श्लोकों का भावार्थ यहाँ दिया जाता है—

(१) शुद्धभावापन्न पुरुषोत्तम (मध्वाचार्य) ने ज्ञानी को उपदेश देने के लिए ही जन्म लिया है। वह विष्णु के अनुगृहीत सेवक हैं।

(२) उनकी बात को सब जगत्, सब लोग श्रद्धा के साथ मानते हैं। जैसे अंकुश से हाथी को वश में किया जाता है, वैसे ही वह भी अपनी युक्तियों से विरोधी को हरा देते हैं।

(३) आनन्दतीर्थ ने उन्हीं से प्रव्रज्या की दीक्षा ली थी। वह अपने संन्यास के दण्ड से व्यास के गोसमूह (वाणी=अद्वैतवादी वेदान्त पर आक्षेप है) को गोष्ठ (गउओं के रहने का स्थान) में लौटा देते हैं।

(४) उनका वाक्य विष्णु को प्रिय है और स्वर्ग-लाभ का उपाय है।

(५) उनका पवित्र उपदेश जगत् के लोगों को श्रीहरि के चरणों में पहुँचा देता है।

(६) नरहरितीर्थ ने उन्हीं से उपदेश प्राप्त किया और कलिंगराज्य का शासन वही करते हैं।

(७) नरहरितीर्थ ने शबरों से युद्ध किया और श्रीकूर्मदेव के मन्दिर की रक्षा की।

(८) नरहरितीर्थ बहुत बड़े विक्रमशाली पुरुष थे।

(९) आचार्यदेव के अनुगृहीत योगानन्द नरसिंह नें शुभ शकाब्द अग्नि (३), आकाश (०), युगल (२) और पृथ्वी (१) अर्थात् १२०३ शाके में मेप-मास (वैशाख) शुक्लपक्ष, शुभ बुधवार को भगवान् कूर्मदेव के मन्दिर के पास एक और मन्दिर बनवाया।

प्रो० कीलहार्न (Kielhord) ने इस शिला-लेख की तारीख़ सन् १२८१, २९ मार्च, शनिवार बतलाई है।

नरहरितीर्थ १२०३ शाके में चिकाकोल में थे, यह बात स्वीकार करने पर यह मानना पड़ेगा कि वह कुछ वर्षों के बाद श्रीमध्वाचार्य से मिले थे। श्रीसुब्बाराव के हिसाब से मध्वाचार्य सन् ११२० में और नरहरितीर्थ सन् ११३५ में स्वर्गवासी हुए। श्रीयुत कृष्णशास्त्री ऐयर ने जो समय दिया है, उसके अनुसार नरहरितीर्थ शिलालेख के १२०३, १२१४ और १२१५ शाके में सिंहाचलम् या चिकाकोल में नहीं रह सकते।

सुब्बाराव ने उक्त शिलालेख के यथार्थ होने के बारे में आलोचना करना आवश्यक नहीं समझा। ऐयर साहब निर्णय-ग्रंथ को ही प्रामाणिक मानते हैं। वह शिलालेख के प्रमाण को नहीं मानते। श्रंगेरी मठ के महापुरुष विद्यारण्यजी विजयनगर की स्थापना करनेवाले प्रथम बुक्क राजा के मंत्री थे। श्रंगेरी मठ से १२६८ शाके में विद्यारण्य को एक दानपत्र मिला था। अतएव विद्यारण्य के समय के सम्बन्ध में सन्देह की गुंजाइश नहीं है। महात्मा श्रीवैष्णवाचार्य वेदान्तदेशिकजी विद्यारण्य के समसामयिक व्यक्ति थे, इसका प्रमाण इतिहास में मिलता है। वह सन् १२६८ (११३० शाके) में उत्पन्न हुए थे और १०८ वर्ष तक जीवित रहे। "वेदान्तदेशिकवैभवप्रभावम्" नामक ग्रंथ में लिखा है कि विद्यारण्य और मध्वाचार्य के चौथे शिष्य अक्षोभ्य का "तत्वमसि" इस महावाक्य के ऊपर शास्त्रार्थ हुआ था। विजयनगर के राजा ने इस विषय को श्रीरङ्गम् के वेदान्तदेशिक के पास निर्णय के लिए भेजा और वेदान्तदेशिक ने अक्षोभ्यतीर्थ के पक्ष में मत दिया। ऐसी किम्वदन्ती प्रचलित है। इस किम्वदन्ती से यह प्रमाणित होता है कि वेदान्तदेशिक, अक्षोभ्यमुनि और विद्यारण्य ये तीनों समसामयिक थे। जयतीर्थ-विजयजी प्रसिद्ध भाष्यकार जयतीर्थाचार्य के सम्बन्ध में कहते हैं कि उनके साथ विद्यारण्य की भेंट हुई थी। सुब्बाराव और मतम् में रक्खे हुए समय के अनुसार अक्षोभ्यतीर्थ की मृत्यु ११६९ शाके या सन् १२४७ में हुई थी। किन्तु यह असंभव है, यह बात पूर्वोक्त प्रमाण से सहज में समझ में आ जाती है।

मध्वाचार्य किसी भी विलम्बी वर्ष में संन्यासी हुए थे, इसमें सन्देह नहीं। किसी भी पिंगल वर्ष में उनकी मृत्यु हुई होगी। अब प्रश्न यह है कि विलम्बी और पिंगल नाम के संवत्सर कौन थे। ज्योतिषशास्त्र के अनुसार निम्नलिखित शाकों या सनों में विलम्बी और पिंगल नाम के संवत्सर थे, जिनमें मध्वाचार्य के जन्म और मृत्यु का होना संभव है—

विलम्बी

१०४० शाके=१११८ सन्
११०० शाके=११७८ सन्
११६० शाके=१२३८ सन्

[illegible] के

पिंगल
११५६ शाके=११६७ सन्
११७६ शाके=१२५८ सन्
१२३६ शाके=१३१७ सन्

हम अगर १३१७ सन् के पिंगल संवत्सर को मध्वाचार्य के तिरोभाव का वर्ष मान लें तो नरहरितीर्थ के इतिहास और अक्षोभ्यतीर्थ के विवरण के साथ वह ठीक मिल जाता है और ये दोनों महानुभाव विद्यारण्य और वेदांतदेशिक के समसामयिक हो जाते हैं। सन् १३१७ के सिवा और कोई पिंगल वर्ष मध्वाचार्य के तिरोभाव के प्रमाण से नहीं मेल खाता। इसके पहले के पिंगलवर्ष में अर्थात् सन् १८५२ में नरहरि के पूर्वोक्त समसामयिक लोग न थे। इसलिए सन् १३१७ को ही मध्व के तिरोभाव का समय समझना उचित है। सुब्बाराव कहते हैं—अगर नरहरितीर्थ ने १२०३ शाके या १२८१ सन् में कलिंगराज के प्रतिनिधिपद को छोड़ दिया हो तो अवश्य ही इस घटना के ५३ वर्ष बाद भी वह जीवित थे। कारण, वह आगे के रक्ताक्ष संवत्सर में मठाधिपति हुए थे और श्रीमुख संवत्सर में उनका स्वर्गवास हुआ। परवर्त्ती रक्ताक्ष वर्ष १२२४ ई० में पड़ता है और श्रीमुख वर्ष १३३३ ई० में। किन्तु नरहरि के शिलालेख से ही यह प्रमाणित होता है कि वह कम से कम १२१५ शाके तक राज्य करते रहे। नरहरि ने किस समय कलिंगराज का प्रतिनिधित्व छोड़ा, इसके जानने का कोई उपाय न रहने पर भी यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि सन् १२८१ के बाद वह कदापि ५३ वर्ष तक जीवित नहीं रहे। इन्हीं सब कारणों से १३१७ ई० को ही श्रीमध्वाचार्य के तिरोभाव का समय मानना चाहिए।

× × ×

२—स्व० गोपालराम गहमरी

हिन्दी माता के अनेक अनन्य सेवक थोड़े ही दिनों के बीच स्वर्गवासी हो गये हैं। हिंदी के जो कतिपय वयोवृद्ध विद्वान् रह गये थे, उनमें बा० गोपालरामजी गहमरी का एक विशेष स्थान था। ऐसा कोई बिरला ही हिन्दी का पाठक होगा, जिसने गहमरीजी के विचित्र घटनाचक्र से परिपूर्ण, कौतूहलवर्द्धक जासूसी उपन्यास न पढ़े हों। आपने जासूस नाम का पत्र निकाला और उसे बराबर चलाते रहे। आपने बँगला से अनुवाद भी किये थे और मौलिक उपन्यास भी लिखे थे। आपकी विकट बदलौवल नाम की कहानी अभी हाल में माधुरी में प्रकाशित हो चुकी है। आप बड़े ही सरल स्वभाव, मिलनसार और परोपकारी पुरुष थे। आपके न रहने से हिंदी-साहित्य का एक अंग अभावग्रस्त हो गया। हम गहमरीजी की आत्मा के लिए शान्ति की प्रार्थना करते हुए आपके प्रति श्रद्धा प्रकट करते हैं। ईश्वर आपके परिवार को यह दुःख सहने की शक्ति और धैर्य दें।

× × ×

३—पं० गौरीशंकर भट्ट

पं० गौरीशंकर भट्ट का भी स्वर्गवास हो गया। आप नागरी की सुन्दर सुडौल लिपि की कला के आविष्कारक और विशेषज्ञ थे। अपने इस काम को आप आजीवन एक सी लगन के साथ, यथेष्ट प्रोत्साहन न पाने पर भी बराबर आगे बढ़ाते रहे। इस छापेख़ाने के ज़माने में आपकी कुशलता और आविष्कार पर लोगों का ध्यान न देना स्वाभाविक भी था। फिर भी आप अपनी लगन के कारण हम लोगों के श्रद्धाभाजन थे। हम आपके प्रति आदर प्रकट करते हुए आपके परिवार के प्रति समवेदना प्रकट करते हैं।

× × ×

४—बधाई

नवलकिशोर इस्टेट के स्वत्वाधिपति और सुयोग्य संचालक तथा माधुरी के अध्यक्ष मुंशी रामकुमारजी भार्गव को गवर्नमेंट उनकी योग्यता और सेवाओं के उपलक्ष में पहले रायबहादुर की उपाधि से विभूषित कर चुकी थी। इस बार सम्राट् के जन्मदिवस के उपलक्ष में सरकार ने आपको राजा की उपाधि देकर सम्मानित किया है। वास्तव में मुंशीजी साहब राजा और प्रजा दोनों के प्रिय और हितचिन्तक होने के कारण इस उपाधि के सर्वथा योग्य हैं। हम राजा रामकुमारजी भार्गव को सहर्ष बधाई देते हैं।

× ×

५—स्वागत कर्मयोगी !

श्रीयुत रामरखसिंहजी सहगल एक तेजस्वी तपस्वी और यशस्वी व्यक्ति हैं। आपने "चाँद" निकालकर समाज के क्षेत्र में हलचल मचा दी थी। तदनन्तर आपने लाला सुन्दरलाल (अधुना पं० सुन्दरलाल)

के अन्तंगत "कर्मयोगी" का प्रकाशन किया तो उसके प्रकाशन और सम्पादन में युगान्तर उपस्थित कर दिया। आपने "भविष्य" पत्र भी निकाला था, जो अपने ढंग का एक ही विचारपत्र था। सहगलजी की निर्भीकता ही आपकी विशेषता है और सच पूछिए तो इसी गुण के कारण आपको अनेक बार तरह-तरह के संकटों का सामना करना पड़ा है। पर आप कठिन से कठिन संकट में भी कर्त्तव्य-पथ से विचलित नहीं हुए, यही आपकी सबसे बड़ी विशेषता है। आपने दो बार भिन्न-भिन्न समयों में कर्मयोगी निकाला और दोनों बार आपको उसका प्रकाशन स्थगित करने के लिए विवश होना पड़ा। अब फिर सहगलजी कर्मयोगी मासिक पत्र को लेकर हिंदीक्षेत्र में अवतीर्ण हुए हैं। इस बार काग़ज़ का कोटा अलग न मिलने के कारण कर्मयोगी में ही गुलदस्ता नाम का आपका हास्य-प्रधान पत्र भी सम्मिलित हो गया है। यह जून का अंक हमारे सामने है। अंक की सभी सामग्री उत्तम कोटि की और अच्छे लेखकों की लेखनी से लिखी गई है। पहले "अमर सुभाष" कविता है, जो जोश से भरी हुई और सामयिक है। इसके बाद काशमीर पर संपादकीय लेख है, जिसमें सम्पादक ने स्पष्ट शब्दों में यह मत प्रकट किया है कि काशमीर का आन्दोलन साम्प्रदायिक भावना से उद्भूत है। इसके बाद दो संपादकीय टिप्पणियाँ भी सहगलजी की लेखनी के अनुरूप ही हैं। श्रीमनोरंजनसहाय एम्० ए० की "पोटैशियम साइनाइड" कहानी सचमुच लाइट लिटरेचर है। डा० रसाल का "हिंदी-साहित्य में शकुन-विचार" लेख मनोरंजक और ज्ञानवर्द्धक है। तूफ़ाने ज़राफ़त शीर्षक में जो उर्दू की ग़ज़लें दी गई हैं, वे भी ग़नीमत हैं। "चीन का जनसाहित्य" नामक त्रिविड़ा जोशी का लेख अच्छा संकलन है। इसमें चित्र भी हैं। कुमायूँ कविता चलन सही है। श्रीचक्रवर्ती राजगोपालाचार्य का पश्चात्ताप लेख अँगरेज़ी से अनूदित होने पर भी अपना अलग महत्त्व रखता है। मिश्रबन्धुओं का "पुरु-वंश का प्राचीन इतिहास" क्रमशः चल रहा है। जान पड़ता है, यह लेख अँगरेज़ी में ऋग्वेद और पुराणों के अनुवाद पढ़कर लिखा गया है। यह बात हम इसलिए कह रहे हैं कि लेखकद्वय ने मुद्गल को मुग्दल अनेक बार लिखा है। संवरण को संवर्ण लिखा गया है। त्रिशंकु को तृशंकु लिखा गया है। मूल ऋग्वेद और पुराणों का अध्ययन करनेवाला इन अशुद्ध रूपों का व्यवहार नहीं कर सकता। लेख उपादेय है। श्रीअहमद नदीम क़ासिमी बी० ए० की "गाँव मेरी नज़र में" कविता हमें बहुत अच्छी लगी। इनके अलावा और भी कई लेख हैं। एक उपन्यास भी क्रमशः चल रहा है। सभी सामग्री सुपाठ्य है। इस पत्र का वार्षिक मूल्य १०), छमाही ५॥) और एक कापी का १) है। मिलने का पता—मैनेजर, कर्मयोगी, इलाहाबाद।

× × ×

६—नया हिन्द

नया हिन्द नाम का यह नया मासिक पत्र हिन्दुस्तानी कलचर सोसाइटी, प्रयाग की ओर से निकला है। इसके संपादक हैं—डॉ० ताराचन्द, श्रीभगवानदीन, श्रीमुज़फ़्फ़र-हुसैन, श्रीविश्वंभरनाथ और श्रीसुंदरलाल। इसकी एक विशेषता यह भी है कि एक पृष्ठ के आधे हिस्से में नागरी अक्षरों में जो विषय छपा है, वही दूसरे हिस्से में उर्दू में है। पत्र का उद्देश्य हिन्दू-मुसलमानों में मिल्लत पैदा करना और हिन्दुस्तानी का प्रचार करना है। श्रीयुत ब्रजमोहन दत्तात्रेय कैफ़ी साहब का गीत जिस ज़बान में है, वही अगर हिन्दुस्तानी का रूप हो तो हम हिन्दी-वालों को बड़ी ख़ुशी होगी। देखिए—

> यहाँ मन की कहने में साँसा नहीं है।
> सब अपने हैं कोई पराया नहीं है॥
> तुम्हें धुन है ईश्वर की, माना, तो फिर क्या।
> ये संसार ईश्वर की माया नहीं है॥
> है ये देशभक्ती ही ईश्वर की भक्ती।
> जगत का वही क्या बिधाता नहीं है॥
> तुम्हारे बहाये नहीं बहती गंगा।
> तुम्हारे सहारे हिमाला नहीं है॥
> नहीं कर्म से छूट मिलती किसी को।
> तो फिर ये जगत् भी तो मिथ्या नहीं है॥

इसी भाषा में सारी रचना है। इसे चाहे हिन्दुस्तानी कह लीजिए, पर यह ठेठ हिन्दी है। खेद तो यही है कि हिन्दुस्तानी के हिमायती लोग जान-बूझकर नब्बे फ़ी सदी अरबी फ़ारसी के कठिन शब्दों का प्रयोग करते हैं। संस्कृत का सरल शब्द भी उनकी भाषा में नहीं स्थान पाता। हैदराबाद की उस्मानिया यूनिवर्सिटी के डॉ० ज़ाकिरहुसैन साहब ने "हिन्दुस्तानी के लिए आसान लिखावट" शीर्षक एक लेख लिखा है, जिसमें आपने नागरी और उर्दू लिपि को सहज बनाने के

लिए कुछ व्यर्थ अक्षरों को निकाल देने की सलाह दी है। लेख चित्ताकर्षणीय है। प्रायः सभी लेखक प्रसिद्ध हैं। लेख भी अच्छे हैं। काशी के डॉ० भगवानदासजी उर्फ़ अब्दुलक़ादिर का दुरंगे वरदान (नेमतें) लेख भी पढ़ने लायक है। आपके लेख में गुण के आगे ब्राइकेट में सिफ़ात, सिफ़र्तें नहीं, सेवा के आगे ख़िदमत, पाप के आगे गुनाह आदि शब्द दिये गये हैं, जिससे जान पड़ता है, हिन्दुस्तानी के हामी लोग इन सरल बहुप्रचलित संस्कृतशब्दों को भी नहीं समझते। मगर हिन्दीवालों से आशा की जाती है कि वे कठिन से कठिन फ़ारसी-अरबी के शब्दों को समझ लेंगे और उनका प्रयोग भी करने लगेंगे; क्योंकि वे सरल और प्रचलित हैं। अस्तु, हम इस नवीन सहयोगी की उन्नति चाहते हैं। इसका वार्षिक मूल्य भारत में ६) और विदेशों में १०) है। एक प्रति का मूल्य ॥=) है। मिलने का पता—मैनेजर नया हिन्द; ३३, बाई का बाग़; इलाहाबाद।

× × ×

७—कुछ नई पुस्तकें

१—श्रीबद्रीनाथदर्शन; श्रीअमरनाथ ज्ञानमन्दिर ग्रंथमाला का दूसरा पुष्प; लेखक श्रीप्रभुदत्त ब्रह्मचारी; प्रकाशक महन्त शान्तानन्दजी हरिद्वार; मूल्य २) रु०। पृष्ठ-संख्या डबल क्राउन १६ पेजी ४१० के ऊपर। कई नक़शे और ३ चित्र। इसके प्रथम खण्ड में बदरीनाथ धाम तक के तीर्थों का परिचय और माहात्म्य दिया गया है। द्वितीय परिचयखण्ड है। इसमें केदारखण्ड या गढ़वाल का परिचय, पुराणों में श्रीबदरीनाथ, महाभारत में श्रीबदरीनाथ, श्रीशंकराचार्य और बदरीनाथ, श्रीशंकराचार्य के पश्चात् बदरीनाथ, रावलों का कार्यकाल, श्रीबदरीनाथ मंदिर का वर्तमान प्रबन्ध, श्रीबदरीनाथ-यात्रा का वर्तमान प्रबन्ध—इतने विषय वर्णित हैं। तीसरा यात्राखंड है। इसमें श्रीबदरीनाथ-यात्रा की तैयारियाँ, श्रीबदरीनाथ-यात्रा, श्रीकेदारनाथ होकर बदरीनाथ, श्रीगंगोत्री-यमुनोत्री होकर बदरीनाथ, श्रीबदरीनाथ से लौटकर बिदा—इतने विषय हैं। परिशिष्ट में चट्टियों की दूरी की सूची, तारघर-टेलीफ़ोन-डाकघर की सूची दी है। इसके सिवा आरम्भ में भूमिका, बदरीनाथ की स्तुति आदि हैं। मतलब यह कि यह पुस्तक बदरीनाथ-यात्रियों के लिए सर्वांगपूर्ण और गाइड का काम देनेवाली है। ऐसी काम की पुस्तक प्रकाशित करने के लिए हम आदरणीय महन्त शान्तानन्दजी को साधुवाद देते हैं। आस्तिक हिन्दू बदरीनाथ-यात्रा अब बहुतायत से करने लगे हैं। उन्हें यात्रा से पहले इस पुस्तक की एक प्रति अवश्य अपने पास रख लेनी चाहिए। इसे पढ़ लेने से उन्हें फिर कोई कष्ट न उठाना पड़ेगा।

२—भारत की नदियाँ; लेखक, श्रीब्रजरत्नदास बी० ए०, एल्-एल्० बी०; प्रकाशक, गयाप्रसाद एंड सन्स, आगरा; पृष्ठ-संख्या डबल क्राउन १६ पेजी १६०; मूल्य २) रु०।

यह पुस्तक बहुत ही उपादेय है। इसमें लेखक ने गंगा, यमुना, चंबल, बेतवा, धसान, केन, सरयू, राप्ती, चौका, रामगंगा, काली नदी, गोमती, सई, सोन, गंडक, कोसी, करतोया, कर्मनाशा, दामोदर, सिंधुनद, झेलम, चिनाब, रावी, व्यास, सतलज, सरस्वती, काबुल, ब्रह्मपुत्र, सुरमा, तिष्टा, नर्मदा, ताप्ती, महानदी, गोदावरी, वर्धा, वेणा, कृष्णा, तुंगभद्रा, भीमा, उत्तरपेन्नर, दक्षिणपेन्नर, पालार, कावेरी, ताम्रपर्णी, वेणा, ब्राह्मणी, सुवर्णरेखा आदि समग्र भारत की प्रसिद्ध नदियों के उद्गम, प्रसार, इतिहास और पौराणिक उल्लेख का समावेश करके पुस्तक को रोचक और ज्ञानवर्द्धक बना दिया है। बर्मा की इरावदी, सिटांग, सालवीन, इन तीन नदियों का भी परिचय दिया है। अन्त में नदियों का भौगोलिक अनुक्रम देने से पाठकों को बड़ी सुविधा हो गई है। यथास्थान ४ चित्र भी हैं। निःसन्देह इस पुस्तक से हिन्दी-साहित्य की श्रीवृद्धि हुई है।

३—पत्र और पत्रकार; लेखक, श्रीकमलापति शास्त्री और श्रीपुरुषोत्तमदास टंडन (पत्रकार); प्रकाशक, ज्ञानमण्डल पुस्तकभांडार लिमिटेड, बनारस; पृष्ठ-संख्या डबल क्राउन १६ पेजी ४६० से ऊपर; मूल्य ४) रु०।

पत्रकार का पेशा बड़े महत्त्व का, बड़ा नाज़ुक और ज़िम्मेदारी से भरा होता है। हिंदी की उन्नति के साथ-साथ हिन्दी में पत्रों की संख्या भी बढ़ती जा रही है और उनके लिए अधिकाधिक पत्रकारों की भी आवश्यकता बढ़ रही है। इस लाइन में अनेक शिक्षित युवक आते जा रहे हैं। पर उनके लिए मार्ग दिखानेवाली या उनको पत्रकार के कर्त्तव्य, पत्रकार की योग्यता अथवा पत्रकार की कठिनाइयों का दिग्दर्शन करानेवाली कोई पुस्तक हिन्दी में नहीं थी। श्रीकमलापति शास्त्री ने, जो स्वयं एक सुयोग्य पत्रकार और विद्वान् हैं, यह पुस्तक

लिखकर नवयुवक नवागन्तुक पत्रकारों का बड़ा उपकार किया है, इसमें सन्देह नहीं। इस पुस्तक में जीवन में पत्र का स्थान और प्रभाव, पत्रों की रचना और प्रकाशन, विभिन्न देशों के पत्रों की वर्त्तमान स्थिति, पत्रों का व्यवसायीकरण, भारतीय पत्रकारी का विकास, भारतीय पत्रों की वर्त्तमान स्थिति, भारतीय पत्र और पत्रकारों के गुण-दोष, पत्रकार कैसे बने—कुछ आवश्यक परामर्श, सम्पादक उसके कार्य और आदर्श, सम्पादकीय कार्य, सहायक सम्पादक उपसम्पादक, समाचार-संग्रह (समाचार-एजेंसियाँ), लेखन और लेखक, व्यवस्थापन, पत्र और रेडियो, पत्रकारों की कठिनाइयाँ और समस्याएँ, हमारा भविष्य, इन शीर्षकों में पत्रकारकला से सम्बन्ध रखनेवाली प्रायः सभी बातों पर प्रकाश डाला गया है। बल्कि यह कहना चाहिए कि गागर में सागर भर दिया गया है। अन्त में परिशिष्ट (क) में दो पत्रकारों की सूझ, गान्धी-अर्विन-समझौता, श्रीदुर्गादास की सूझ; परिशिष्ट (ख) में प्रूफ़-संशोधन तथा तत्संबंधी कुछ ज्ञातव्य बातें, प्रूफ़-संशोधन में प्रयुक्त होनेवाले संकेत, प्रूफ़ संशोधन; परिशिष्ट (ग) में प्रेस और मुद्रण—एक विहंगम दृष्टि; परिशिष्ट (घ) में कुछ प्रेस-संबंधी शब्दों का तात्पर्य देकर अन्त में विषयानुक्रमणिका भी दे दी गई है। इस प्रकार पुस्तक को सर्वांगपूर्ण बनाने में कोई कसर नहीं उठा रक्खी गई है। ज्ञानमण्डल के प्रकाशन ठोस और उपयोगी होते हैं, इस ख्याति को इस पुस्तक ने सर्वथा प्रमाणित कर दिया है। हमारा विश्वास है कि प्रत्येक पत्रकार बनने की इच्छा रखनेवाला युवक इसकी एक प्रति अवश्य अपने पास रक्खेगा।

४—बापू और भारत; लेखक, श्रीकमलापति त्रिपाठी शास्त्री (प्रधान सम्पादक संसार काशी); प्रकाशक, सरस्वती, मन्दिर, जतनबर-बनारस; पृष्ठ-संख्या डबल क्राउन १६ पेजी २८०; जिल्ददार पुस्तक का मूल्य ४॥) रु०।

यह पुस्तक न तो भारत का इतिहास है और न बापू की जीवनी। लेखक के निवेदन के अनुसार इसमें "भारतीय राष्ट्र के जीवन की उस गतिविधि का अस्फुट, स्थूल और अति संक्षिप्त रेखांकन करने की चेष्टामात्र की गई है, जिसका अवलंबन अँगरेज़ी सत्ता की स्थापना हो जाने के बाद गत डेढ़ शताब्दी में इस देश ने किया है।" लेखक ने इस पुस्तक में यह दिखाया है कि समयानुसार गांधीजी युगपुरुष या युगावतार के रूप में इतिहास के रंगमंच पर आये हैं। इनमें परिस्थिति की प्रतिच्छाया और युग का प्रतिबिम्ब है। समाज का जीवन उनके द्वारा अनुप्राणित और गतिशील हुआ है। इसी कारण गांधीजी की गति में भारत-राष्ट्र की गति और उनकी वाणी में राष्ट्र के हृदय की आवाज़ सुनाई पड़ती है। लेखक ने तन्मय होकर हार्दिक श्रद्धा से पूर्ण सूक्ष्मदर्शिता के साथ पुस्तक की रचना की है। पुस्तक में १७ अध्याय हैं, जिनके विषय निम्नलिखित हैं—गांधी का व्यक्तित्वदर्शन, भारत का पतन और अँगरेज़ों का आगमन, १८५७ की चेतना और प्रतिक्रिया, नवप्रवृत्ति का उदय, और बंग-विच्छेद, युद्धकाल और विप्लव की चेष्टा, रौलटबिल और गांधी का उदय, युद्धोत्तर भारत की स्थिति, नवजाग्रति का प्रतीक गांधी, असहयोग का स्वरूपदर्शन, असहयोग की गूँज, असहयोग-आन्दोलन के बाद, अहिंसक क्रान्तिशैली का अभिनव प्रयोग, सन् १९३४ की प्रतिक्रिया, वर्त्तमान युद्ध और भारत, क्रिप्सयोजना और गांधी, सन् १९४२ और गांधीजी की अतुलनीय देन। पुस्तक सर्वथा पठनीय और मननीय है।

५—द्वितीय महायुद्ध के पूर्व का संसार (सचित्र), प्रथम भाग; लेखक, श्रीरामरतन गुप्त; प्रकाशक, श्रीरामगोपाल गुप्त, बिहारीनिवास, कानपुर; पृष्ठ-संख्या १६ पेजी ४४० के लगभग; मूल्य २॥) रु०।

लेखक दो बार संसार की परिक्रमा कर आये हैं। एक सन् १९३४ में और दूसरी सन् १९३८ में। अपनी यात्रा के समय लेखक ने जो डायरी लिखी थी, उसी के आधार पर यह पुस्तक लिखी गई है। इसमें लेखक की यात्रा का ही सजीव वर्णन नहीं है, बल्कि उन्होंने अपनी यात्रा में जिन स्थानों की सैर की, उनका ऐतिहासिक, सामाजिक और आर्थिक वर्णन भी रोचक शैली में किया है। इसमें यात्रा का आरंभ, जहाज़ का जीवन, अदन से काहिरा, मिसर, नेपल्स और पंपिआई, जिनोआ बंदरगाह से लंदन, लंदन की प्रगति, लंदन में कठिनाइयाँ और सुविधाएँ, लंदन का सामाजिक तथा राजनीतिक जीवन, लिवरपूल से डबलिन, आयरलैंड, बेलजियम, हालैंड, हंबर्ग (जर्मनी), कोपेनहेगन (डेनमार्क), स्टाकहोम (स्वीडन), फ़िनलैंड, सोवियट रूस, पोलैंड, जर्मनी, ज़ेकोस्लोवाकिया, आस्ट्रिया, बुडापेस्ट, इटली, स्विट्ज़रलैंड, मोंटीकार्लो, स्पेन और फ्रांस का वर्णन है। पुस्तक उपन्यास

समान रोचक और ज्ञानवर्द्धक है। हमें आशा है, इस पुस्तक का दूसरा भाग भी शीघ्र ही प्रकाशित होगा।

६—ख़ैयाम की मधुशाला, तीसरा संस्करण ; लेखक, श्रीहरिवंशराय एम्० ए० "बच्चन" ; प्रकाशक, भारतीभंडार, लीडरप्रेस, प्रयाग ; पृष्ठ-संख्या डबल क्राउन १६ पेजी १६४ के लगभग ; मूल्य २) रु०। उमर ख़ैयाम की रुबाइयों के हिन्दी-अनुवाद हिन्दी के अनेक कवियों ने किये हैं। बा० मैथिलीशरण गुप्त, पं० केशवप्रसाद पाठक, पं० सूर्यनाथ तकरू, पं० गिरिधर शर्मा नवरत्न, पं० जगदम्बाप्रसाद मिश्र "हितैषी", पं० बलदेवप्रसाद मिश्र, स्व० बाबू इक़बाल वर्मा "सेहर", डॉ० गयाप्रसाद गुप्त, पं० व्रजमोहन तिवारी, पं० सुमित्रानन्दन पन्त और बच्चनजी। हिन्दी के कवियों ने किसी और विदेशी भाषा के कवि का इतना आदर नहीं किया।

बच्चनजी का यह अनुवाद निःसन्देह श्रेष्ठतर है। इसमें पहले बच्चनजी का हिन्दी-अनुवाद, फिर फिट्ज़-जेरल्ड का अँगरेज़ी-अनुवाद दिया गया है। हमारी समझ में अगर नागरी अक्षरों में ख़ैयाम की मूल रुबाई भी दे दी जाती तो अच्छा होता। आरंभ में ५६ पृष्ठों में बच्चनजी ने जो भूमिका लिखी है, वह बहुत मार्मिक और पठनीय है। बच्चनजी के अनुवाद में बिलकुल मौलिक रचना का सा आनन्द आता है। देखिए, कैसा स्वच्छन्द प्रवाह है—

समेटा जिन कृपणों ने स्वर्ण,
सुरक्षित रक्खा उसको मूँद,
लुटाया और जिन्होंने ख़ूब,
लुटाते जैसे बादल बूँद,
गड़े दोनों ही एक समान;
हुए मिट्टी दोनों के हाड़,
न कोई हो पाया वह स्वर्ण,
जिसे देखें फिर लोग उखाड़।
जहाँ था जमशेदी दरबार,
शान से होता था मधुपान,
वहाँ स्वच्छन्द घूमते सिंह,
वहाँ निर्भीक भूकते श्वान।
और वह बादशाह बहराम,
अहेरी जो था जगविख्यात,
पड़ा निद्रा में आज अचेत,
गधे की सिर पर खाता लात।

अन्त में कुछ विदेशी महावरों पर टिप्पणी देकर पुस्तक की उपयोगिता बढ़ा दी गई है। रचना की लोकप्रियता इसका तीसरा संस्करण होने से ही जानी जाती है।

× × ×

८—कुछ अपने पाठकों और लेखकों से

माधुरी का चौबीसवाँ वर्ष इस संख्या से समाप्त होता है। आगामी संख्या से माधुरी पचीसवें वर्ष में पदार्पण करेगी। योरप के द्वितीय महायुद्ध के कारण काग़ज़, स्याही आदि प्रेस की सभी सामग्री बहुत महँगी हो गई और यथेष्ट तथा अच्छी नहीं मिल सकी। इस कारण हम विवश होकर पाठकों को सन्तुष्ट करने में असमर्थ रहे। फिर भी पाठकों ने माधुरी के प्रति जैसा स्नेह दिखलाया, उसके लिए हम पाठकों के हृदय से कृतज्ञ हैं। इधर माधुरी में सचित्र लेख नहीं प्रकाशित किये जा सके ; रंगीन चित्र भी नहीं दिये जा सके। अब हम आशा करते हैं कि कुछ समय बाद हम पूर्ववत् सब सामग्री दे सकेंगे। हमें विश्वास है कि हमारे कृपालु ग्राहक पहले से भी अधिक माधुरी पर कृपा करेंगे। माधुरी जैसी निकल रही है, वह हमारे आदरणीय कवियों और लेखकों के ही सहयोग का फल है। अतएव हम उनके भी हृदय से कृतज्ञ हैं। उनसे प्रार्थना है कि वे ऐसी ही कृपा आगे भी बना रक्खेंगे। इस वर्ष हम माधुरी को और भी उन्नत बनाने की चेष्टा करेंगे।

इधर एकाएक डाक-हड़ताल हो जाने के कारण जून व जुलाई के अंक छप जाने पर भी नहीं भेजे जा सके। अब शीघ्र ही सब अंक यथासमय भेजने का प्रबन्ध किया जा रहा है।

Regd. No. A.—318

Printed & Published by B. B. Kapur at the